

बौद्ध-प्रमाणमीमांसा

प्रत्यक्ष के विशेष सन्दर्भ में



हरि शंकर सिंह

(एम.ए., पीएच.डी.)

सेवा-निवृत्त आचार्य

भागलपुर विश्वविद्यालय, बिहार

वेदांशी पब्लिकेशन

ई० सन्-२०११

Bauddha-Pramāṇamīmāṃsā

Pratyakṣa Ke Viśeṣa Sandarbha Men

First Edition

2011

Written & Edited by

Hari Shankar Singh
(M.A., Ph.D.)
(Ex-Professor)

BHAGALPUR UNIVERSITY, BIHAR

Vedanshi Publication (India)

ॐ पराम्बायै नमः

प्राक्कथन

भारतीय दर्शन-सम्प्रदायों का यह भी एक वैशिष्ट्य है कि उसमें तत्त्व, प्रमाण एवं नीति-सम्बन्धी विवेचन परस्पर संगति रखते हुए परिचालित होते हैं। प्रमाणमीमांसा के क्षेत्र में 'मेयाधीनामानसिद्धिः' तथा 'मानाधीनामेयसिद्धिः' ये दोनों प्रकार के सिद्धान्त गान्य हैं। बौद्धों की प्रमाणमीमांसा, विशेषतया दिग्नाग-धर्मकीर्ति सम्प्रदाय की प्रमाणमीमांसा, जिसकी विवेचना हम इस ग्रन्थ में प्रस्तुत करने जा रहे हैं, अपने दार्शनिक अभ्युपगम के कारण अन्य दार्शनिक मतों से निराली तथा अनूठी है। यह सुज्ञात है कि सभी बौद्ध अनात्मवादी हैं। दिग्नाग-धर्मकीर्ति का सम्प्रदाय अनात्मवाद के साथ ही क्षणभंगवाद, अद्रव्यवाद, अस्थिरवाद, अर्थक्रियाकारितावाद एवं विज्ञानवाद का पक्षधर है। यह सम्प्रदाय ज्ञान की वस्तुतंत्रता के स्थान पर उसकी 'स्व, तन्त्रता' का पोषक है और व्यावहारिक निरन्तरता तथा सातत्य का विश्लेषण अनादिवासना के आधार पर करता है। जिन दो सत्तों के समाश्रय से बुद्ध की धर्मदेशना का उद्घोष आचार्य नागार्जुन करते हैं, उन्हें दिग्नाग-धर्मकीर्ति के सम्प्रदाय ने प्रमाणमीमांसा के क्षेत्र में 'दो मेय' के रूप में परिणत कर 'परमार्थ' को स्वलक्षण, तथा संवृति को सामान्यलक्षण की संज्ञा से अभिहित किया। इतना ही नहीं, नागार्जुन की 'निःस्वभावता' को स्वीकार करते हुए भी विज्ञप्तिमात्रतावादी होने से और सांवृतिक दृष्टि से 'यथा तथा' ही सही एक प्रमाणव्यवस्था देने के लिए इस सम्प्रदाय में विपुल प्रयास, सौत्रान्तिक एवं विज्ञानवादी दोनों स्तरों पर, हुआ; और परिणामतः जहाँ दिग्नाग में सौत्रान्तिक एवं विज्ञानवाद में संगति बैठाने अथवा दोनों में समाहार का कतिपय प्रसंगों में प्रयास हम पाते हैं, वही धर्मकीर्ति दोनों दृष्टियों से पृथक्-पृथक् ग्रन्थों में उनकी व्याख्या करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। प्रज्ञाकर में विज्ञानवाद के प्रति ही आग्रह परिलक्षित होता है और विज्ञानसाकारता अर्थात् ज्ञान के आकार की सत्यता के पक्ष को स्पष्टतः अभिव्यक्त करने के कारण ज्ञानश्रीमित्र द्वारा वे 'साकारसिद्धिनयनाटकसूत्रधारः' की उपाधि से विभूषित किये जाते हैं। आचार्य धर्मकीर्ति ने 'मेयं त्वेकं स्वलक्षणम्' कहकर जिस एकत्ववाद को इंगित किया, आचार्य प्रज्ञाकर इतने से ही संतुष्ट नहीं हुए, अपितु 'परमार्थ को अद्वैतरूप होने' की घोषणा करते हैं और अपने पक्ष को अद्वैतवाद कहने से नहीं हिचकिचाते।

स्पष्ट है कि धर्मकीर्ति एवं प्रज्ञाकर की उपर्युक्त घोषणाएँ दिग्नाग के ग्रन्थों में हमें नहीं मिलतीं। यह नवीन बात है जो विज्ञानाद्वैतवाद की ओर प्रमाणमीमांसा को

गतिशील कर रहा है। यहाँ हम माध्यमिकों के अद्वयवाद के स्थान पर अद्वैतवाद शब्द पर आग्रह पाते हैं। आकार के सत्य होने के प्रति प्रज्ञाकराचार्य के आग्रह की तीखी प्रतिक्रिया बौद्ध दर्शन तथा धर्मकीर्ति के अनुयायियों में ठीक उसी प्रकार हुई, जैसे ज्ञान की स्वसंवेदनता के प्रति प्रतिक्रिया माध्यमिकों में हुई थी। यह सुज्ञात तथ्य है कि दिग्नाग-धर्मकीर्ति द्वारा घोषित ज्ञान की स्वसंवेदनता की आलोचना अथवा खण्डन केवल न्याय एवं मीमांसा के आचार्यों के द्वारा नहीं किया गया, इसका प्रबल खण्डन माध्यमिक दार्शनिक चन्द्रकीर्ति एवं प्रज्ञाकरमति ने भी किया था। इसी प्रकार साकारविज्ञान का खण्डन (ज्ञान के आकार की सत्यता का खण्डन), न्यायबिन्दु के सर्वश्रेष्ठ टीकाकार माने जाने वाले धर्मोत्तराचार्य ने किया और निराकारविज्ञानवाद का समर्थन किया, जिसकी आलोचना आचार्य ज्ञानश्री मित्र ने की। साकारवाद एवं निराकारवाद शब्दों का प्रयोग और उस पर विवेचना हम कमलशील की पंजिका में भी पाते हैं। विज्ञानवाद की इस शाखा का चरमोत्कर्ष हमें ज्ञानश्री एवं रत्नकीर्ति के निबन्धों में मिलता है, फलतः यहाँ हमें 'अद्वैतबिन्दु' 'साकारसिद्धिशास्त्रम्' एवं 'चित्राद्वैतप्रकाशवाद' जैसे शीर्षक वाले निबन्ध प्राप्त होते हैं। आज हम इतना कुछ कह पाने की स्थिति में हैं, इसका श्रेय, बीसवीं शती के प्रारंभ से ही विश्व के विविध देशों एवं भारत के भी कतिपय मनीषियों के सत्प्रयासों को, है।

इस ग्रन्थ में जिस कालावधि की प्रमाणमीमांसा का विवेचन हुआ है उसे 'मध्ययुगीन भारतीय न्याय' की मान्य संज्ञा दी गयी है और दिग्नाग को इसका जनक माना जाता है। इस काल के बौद्ध आचार्यों की प्रमाणमीमांसा के कारण बौद्धों को 'प्रमाणपटवः' जैसा विशेषण भी प्रदान किया गया। यहाँ मार्गलिक श्लोक में ही भगवान् बुद्ध 'प्रमाणभूत' रूप में भी अभिनन्दित हो रहे हैं। दिग्नाग ने 'वादविधि' की परीक्षा तो की ही, उन्होंने न्याय, वैशेषिक, सांख्य और मीमांसा के प्रमाणविषयक अभिमत की परीक्षा कर उन्हें असिद्ध ठहराया। प्रत्युत्तर में आस्तिक मतों के आचार्यों ने बौद्धमत का खण्डन किया। पुनः बौद्धों ने इस खण्डन का प्रत्युत्तर दिया और आस्तिक मतों की आलोचना की। प्रत्युत्तर में आस्तिक मतों ने पुनः बौद्धों की आलोचना की। इस प्रकार की गतिविधि 11वीं शताब्दी तक चलती रही। परिणाम यह हुआ कि आस्तिक और बौद्ध दोनों ही मतों में विपुल साहित्य का सृजन हुआ। दोनों ही खेमों में महान दार्शनिक विभूतियों का भी आविर्भाव हुआ। रोचक तथ्य है कि इस दार्शनिक-द्वन्द्व-प्रक्रिया में स्वयं ही द्वन्द्व के तथ्य हमें दोनों ही खेमों में प्राप्त होते हैं। इस प्रकार बौद्धदर्शन ने भारतीय दर्शन के इस 'स्वर्णयुग' के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। एक ओर जहाँ नागार्जुन की प्रसंगपद्धति जयराशि भट्ट के 'तत्त्वोपप्लवसिंह' तथा श्रीहर्ष के 'खण्डनखण्डखाद्य' जैसी अनूठी रचनाओं की प्रेरणास्रोत बनी, वही दूसरी ओर

दिग्नाग-धर्मकीर्ति की रचनाओं ने प्रमाणमीमांसा के क्षेत्र में एक क्रांति का श्रीगणेश किया और इस क्षेत्र में भी सभी दर्शन-सम्प्रदायों को पुनः व्यवस्थित, सुगठित, युक्तिसंगत तथा संशोधित होकर उपस्थित होने के लिए बाध्यकारी प्रेरणा प्रदान की। पाँचवीं शती से 11वीं शती की इस कालावधि में जहाँ बौद्धों में दिग्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, चन्द्रकीर्ति, धर्मोत्तर, शान्तरक्षित, कमलशील, ज्ञानश्रीमित्र और रत्नकीर्ति जैसे दार्शनिक हुए वहीं आस्तिक दर्शनों में प्रशस्तपाद, उदघोतकर, गौडपाद, कुमारिल, प्रभाकर, जयन्तभट्ट, मण्डन मिश्र, आचार्य शंकर, पद्मपाद, वाचस्पति, श्रीधर, उदयन आदि जैसी विभूतियों का आविर्भाव हुआ। दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में यह केवल खण्डन-मण्डन का ही युग नहीं था, अपितु सृजन, विकास, परिष्कार, संशोधन, परिवर्धन एवं नवीन आविष्कारों का युग था। इन सदप्रयासों से जिस विस्मयकारी, समृद्ध और प्रभूत साहित्य का सृजन हुआ आज हम उस पर गर्व करते हैं। बाद को जैनों में भी, मुख्यतः अकलंक से, प्रमाणमीमांसा पर गंभीर चिंतन-मनन प्रारंभ हुआ और वहाँ भी प्रचुर साहित्य का महानविद्वानों द्वारा सृजन हुआ।

बारहवीं शती से बौद्धविद्या का भारत में ह्रास होने लगा। बौद्ध विद्वान तिब्बत चले गये। बारहवीं से चौदहवीं शती के इतिहास की घटनाओं ने भारतीय विद्या-केन्द्रों एवं विश्वविद्यालयों को जिस तरह ध्वस्त किया और पुस्तकालयों को जो नुकसान पहुँचाया गया वह सर्वविदित तथ्य है। इस काल में अधिकांश पुस्तकें नष्ट हो गयीं। भारत की पराधीनता का काल प्रारम्भ हो गया था। इस स्थिति में न्यायदर्शन नव्यन्याय के रूप में, वेदान्त अपने विभिन्न सम्प्रदायों के रूप में एवं जैनधर्म किसी प्रकार अपने को बचाये रखे और वहाँ दार्शनिक-धार्मिक रचनायें भी लिखी जाती रहीं। सर्वाधिक क्षति बौद्धविद्या को हुई। भारत से तो उसका लोप ही होगया।

19वीं शती के अन्त से, पुनर्जागरण काल से, भारतीय विद्याओं के अध्ययन-अध्यापन का कार्य प्रारम्भ हुआ। सौभाग्य से बीसवीं शती के प्रारम्भ से ही बौद्धविद्या के विषय में विदेशी भाषाओं में पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं। प्रमाणशास्त्र एवं तर्कशास्त्र पर दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए — श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण का 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक' तथा श्वेत्स्वात्स्की महोदय का 'दो भागों में बौद्धन्याय'। इसमें बौद्ध प्रमाणशास्त्र की दृष्टि से श्वेत्स्वात्स्की महोदय का कार्य अनुपम है। भारत में विश्वविद्यालयों की स्थापना पहले ही हो गयी थी और उनमें संस्कृत, प्राचीन भारतीय इतिहास, सम्यता और संस्कृति, धर्म एवं दर्शन जैसे विषयों का अध्ययन-अध्यापन हो रहा था, साथ ही स्वतन्त्रताप्राप्ति के लिए आन्दोलन दिनों-दिन गहनतर होता जा रहा था, तो इस सारे प्रेरणादायी परिवेश में वैयक्तिक धरातल पर बहुत ही महत्त्वपूर्ण

कार्य भारतीय विद्वानों द्वारा किये गये। गैरराष्ट्र और अन्यविदेशी विद्वानों के अतिरिक्त, भारतीय विद्वानों में कतिपय प्रमुख नाम हैं — एस.एन. दासगुप्त, एस. राधाकृष्णन्, पी.बी. काणे, महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज आदि।

अभी इस काल में भी बौद्ध प्रमाणशास्त्र पर कार्य करना दुष्कर था। एक तो ग्रन्थ बहुत ही कम सुलभ थे संस्कृत में, और दूसरे उनके अध्ययन-अध्यापन की कोई परम्परा नहीं थी। अतः जो कुछ कार्य हुए भी, वे खण्डशः अथवा शोध-पत्रों के रूप में, अथवा किसी ग्रन्थ के अनुषंगी अंश के रूप में। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ। बहुत सारे ग्रन्थ भी प्रकाश में आये और बौद्ध अध्ययन के अनेक केन्द्र भी स्थापित हुए जिनमें बौद्धग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था प्रारंभ की गयी। तथापि प्रारम्भ में बहुत ही कम विद्वान सुलभ थे, जो प्रमाणवार्तिक, प्रज्ञाकरभाष्य, अथवा ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलि को पढ़ा सकते थे। वाराणसी में प्रारम्भ में दो विद्वान थे, संस्कृत विश्वविद्यालय के बौद्धदर्शन तथा श्रमणविद्यासंकाय के अध्यक्ष, पण्डित जगन्नाथ उपाध्याय जी एवं वाचस्पति जैसे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र स्वामी योगीन्द्रानन्द जी। उस सत्तर के बाद के दशक में पण्डित रामशंकर त्रिपाठी जी भी बौद्धदर्शन विभाग में प्राध्यापक थे और धीरे-धीरे प्रौढ़ विद्वान बन रहे थे। प्रारंभ में दुर्वेक के प्रदीप एवं प्रमाणवार्तिक के प्रारंभिक प्रत्यक्ष परिच्छेद के स्थलों को उनसे समझने का सुयोग मिला और बाद के अनेक वर्षों तक उनसे चर्चाओं के द्वारा बौद्धपक्ष की समझ में सहायता प्राप्त हुई। पण्डित उपाध्याय जी एवं स्वामी योगीन्द्रानन्द जी दोनों ही अपने श्लाघ्य कार्य-क्षेत्र में व्यस्त व्यक्तित्व वाले पुरुष थे, फलतः उनके यहाँ समय कम था और मैं भी केवल दशहरा-अवकाश एवं ग्रीष्मावकाश में अपने अध्यापन कार्य से अवकाश पाकर वाराणसी में उनके सम्पर्क में आ पाता था। अतः मंथर गति से 10, 12 वर्षों तक यह प्रयास करता रहा। उपाध्याय जी से ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलि, प्रज्ञाकरभाष्य के कुछ अंश, तथा दुर्वेक मिश्र के 'प्रदीप' के कतिपय कठिन स्थलों को समझने का लाभ मिला। उपाध्याय जी से सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि मुझे विषयवस्तु सुगमभाषा तथा आधुनिक शब्दावलि में प्रस्तुत करने की विधा प्राप्त हुई। वे इस ग्रन्थ के प्रति रुचि दिखलाते रहे और सौभाग्यवश, जब शोधप्रबन्ध के रूप में 1984 में, भागलपुर विश्वविद्यालय की पी०एच०डी० उपाधि हेतु, प्रोफे० नित्यानन्द मिश्र के निदेशन में यह प्रस्तुत किया गया, तो उपाध्याय जी इसके परीक्षक भी थे और मौखिक परीक्षा में भी उपस्थित थे। उन्होंने उसी समय इसको उसी रूप में प्रकाशित करने की भी अनुमति दी थी। 10-15 वर्षों तक चर्चाओं, अध्यापन, सम्मति आदि के रूप में उन्होंने जो उपकार किये उसको अभिव्यक्त करने और ऋणमुक्त होने का एक

ही मार्ग मुझे दिखाई पड़ता है कि उनके विचार प्रकाशित हो जायें।

स्वामी योगीन्द्रानन्द जी का कम उपकार एवं विद्याऋण मुझ पर नहीं है। प्रज्ञाकरभाष्य के अधिकांश स्थलों, (प्रत्यक्ष परिच्छेद) को उन्होंने ही समझाया, विशेषतया इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, योगिप्रत्यक्ष, तथा कुमारिल द्वारा निरालंबननिराकरणपरिच्छेद का प्रज्ञाकर द्वारा उत्तर से सम्बद्ध स्थलों को। इसके अतिरिक्त रत्नकीर्तिनिबंधावलि भी पढ़ाई। अतः, उनकी पावन स्मृति में मैं श्रद्धापूर्वक नमन करता हूँ। इसके अतिरिक्त स्वर्गीय श्री दलसुखभाई मालवणियाँ की स्मृति में भी सादर नमन करता हूँ, क्योंकि उन्होंने दुर्वैक मिश्र के एक स्थल की व्याख्या अहमदाबाद से विस्तारपूर्वक लिखकर भेजी थी।

जिन तीन अन्य ग्रन्थकारों की रचनाओं से अपने ग्रन्थ के प्रणयन में, शोधकाल के समय, उपकृत हुआ हूँ उनके प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए सादर नमन करता हूँ। ये तीन महानुभाव हैं — श्रद्धेय श्री मुनि जम्बुविजय जी, स्वर्गीय श्री सातकारि मुखर्जी जी एवं श्री एम. हतोरी जी। मुनि जम्बुविजय जी के 'द्वादशारनयचक्रम्' के भोटपरिशिष्ट से बहुत सारी सामग्री प्राप्त हुई। इसी प्रकार सातकारि मुखर्जी महाशय के 'द बुद्धिस्ट फिलोसोफी ऑफ यूनिवर्सल फ्लक्स' में बौद्धप्रत्यक्ष पर उनके समालोचनात्मक अध्ययन एवं टिप्पणियों से दृष्टि को समीक्षात्मक बनाने का मार्ग प्रशस्त हुआ। एम. हतोरी महोदय के ग्रन्थ 'दिग्नाग ऑन परसेप्शन' पर मेरी दृष्टि बाद को गयी। किन्तु उनकी पाद टिप्पणियों से मैं बहुत उपकृत हुआ।

इस अवसर पर मैं हिन्दूविश्वविद्यालय में दो विद्या-गुरुओं, स्वर्गीय डा. चन्द्रधर शर्मा जी एवं स्वर्गीय डा. रमाकान्त त्रिपाठी जी की पावन स्मृति को नमन करता हूँ। इन दोनों गुरुओं का अध्ययन काल में स्नेह एवं शोधकाल में मार्ग निर्देशन एवं सम्मतियाँ सुलभ होती रहीं।

कोई भी रचना पूर्ण नहीं होती और मुझ जैसे अल्पज्ञ जिज्ञासु की बात ही क्या। मुझे अपनी सीमा का एवं अल्पज्ञता का भलीभाँति ज्ञान है। ग्रन्थ मात्र इसलिए प्रकाशित कर रहा हूँ, कि यत्किंचित् भी गुरुओं के प्रसाद को बुद्धिस्थ कर सका हूँ और वह भी जिस रूप में वह विज्ञ सुधी जनों के समक्ष पहुँच जाय। 'सूपसुभाय' वाले विज्ञ जन 'सार' को ग्रहण कर लें और 'थोथा' को उड़ा दें।

अब कुछ ग्रन्थ के विषय में। 'बौद्धन्याय में प्रत्यक्ष प्रमाण—एक समीक्षा' नामक शोध-प्रबन्ध का ही यह प्रकाशित रूप है, नवीन नाम से। थोड़ा-बहुत संशोधन एवं काँट-छाँट तृतीय अध्याय में अवश्य हुआ है। इस ग्रन्थ में सात अध्याय हैं। प्रथम

अध्याय प्रस्तावनामूलक है जिसमें बौद्धन्याय के विकासक्रम को, विशेषतया प्रत्यक्ष के सदर्भ में, प्रदर्शित करने के अभिप्राय से वैभाषिकों एवं सौत्रान्तिकों के तद्विषयक अभिमत को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया गया है और इसमें 'सत्यसिद्धिशास्त्रम्' के रचयिता हरिवर्मन् की तद्विषयक धारणा को इस कारण स्थान दिया गया है, क्योंकि श्री अय्यास्वामी शास्त्री जैसे विद्वान् उन्हें 'प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक होने की घोषणा करने वाले प्रथम दार्शनिक होने का श्रेय' प्रदान करते हैं।

प्रमाण से सम्बद्ध विविध प्रमुख समस्याओं का विवेचक द्वितीय अध्याय चार प्रमुख उपविभागों — प्रमाण का स्वरूप, प्रामाण्यवाद, प्रमाणसंभव एवं प्रमाणव्यवस्था तथा प्रमाण और प्रमाणफल — का समुच्चय है। इन उपविभागों में बौद्धपक्ष को, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा, सांख्य, जैन आदि के तद्विषयक विश्लेषण और खण्डन-मण्डन के साथ, प्रस्तुत कर एक तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। यद्यपि 'प्रमाण और प्रमाणफल' नामक समस्या का विवेचन बौद्ध ग्रन्थों में प्रत्यक्ष की विवेचना के उपरान्त किया गया है, तथापि प्रमाणविषयक सभी प्रश्नों को एक साथ उपस्थित करने के अभिप्राय से इसी अध्याय में उसका समावेश किया गया है।

'प्रमाणसंख्या का निर्धारक सिद्धान्त' नामक तृतीय अध्याय प्रमाणवार्तिक के प्रत्यक्ष परिच्छेद के प्रथम 84 श्लोकों के आधार पर, मुख्यतः प्रज्ञाकरभाष्य तथा मनोरथनन्दिवृत्ति के आलोक में, लिखा गया है। इसमें चार उपविभाग हैं— दो ही मेय एवं दो ही मान की युक्तियों की व्याख्या, सत्यद्वयचिन्ता, अनुमान के प्रमाण होने का प्रतिपादन और प्रमाणान्तर्भावपरीक्षा। द्वितीय उपविभाग में 'मेयं त्वेकं स्वलक्षणम्' की विवेचना की गयी है।

चतुर्थ, पंचम एवं षष्ठ अध्याय प्रत्यक्ष से सम्बद्ध हैं। चतुर्थ अध्याय प्रत्यक्ष के स्वरूप पर है जिसमें 6 प्रमुख उपविभाग हैं— प्रत्यक्ष का लक्षण, कल्पना का स्वरूप, कल्पनापोढत्व पर कुछ विशेष आपत्तियाँ और बौद्धों द्वारा उनका उत्तर, प्रत्यक्ष अभ्रान्तम्, प्रत्यक्ष विषयक केन्द्रीय समस्या तथा उस प्रसंग में बौद्धों एवं नैयायिकों में शास्त्रार्थ तथा क्या अभाव का प्रत्यक्ष होता है ? इसमें तीसरे से लेकर अंतिम अध्याय को तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक रूप में लिखा गया है और एक निष्कर्ष पर पहुँचने का भी प्रयास किया गया है। पंचम अध्याय प्रत्यक्ष के चतुर्विध प्रकारों पर है। पाठक इस अध्याय में, प्रत्येक उपखण्ड में, अपने लिए यथेष्ट सामग्री, जो थोड़ी-बहुत नवीन भी हो सकती है, प्राप्त करेंगे, ऐसी मेरी आशा है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष के तीन सिद्धान्तों पर प्रज्ञाकर एवं ज्ञानश्री के विचारों के अतिरिक्त, मानसप्रत्यक्ष एवं स्वसंवदेनप्रत्यक्ष पर उन्हें पर्याप्त सामग्री मिलेगी और योगिप्रत्यक्ष के प्रसंग में प्रज्ञाकर, शांतरक्षित-कमलशील

तथा दुर्लभ मिश्र के विचारों से वे अवगत हो सकेंगे। छठा अध्याय 'प्रत्यक्ष का विषय' पर है और इसमें भी पर्याप्त सामग्री पाठकों को सुलभ हो सकेगी।

अन्तिम अध्याय विज्ञानवादी ज्ञानमीमांसा के प्रमुख बिन्दुओं की विवेचना से सम्बद्ध है। इसको पढ़ने वाले, मुझे आशा है, निराश नहीं होंगे। साकारता-निराकारता, स्वसंवेदनता-परसंवेदनता तथा सालंबनता-निरालंबनता विषयक यह अध्याय पाठकों की ज्ञानपिपासा के उपशमन में कुछ सहायक अवश्य होगा, ऐसी मेरी आशा है।

ज्ञानयज्ञ के प्रसाद के प्रकाशन के इस सुखद अवसर पर मैं स्वजनों के प्रति भी हार्दिक आभार तथा प्रशंसाभाव अभिव्यक्त करना चाहता हूँ। धर्मपत्नी श्रीमती कमला देवी सिंह, पुत्र डा० अशोक कुमार सिंह, छोटे जामाता श्री मुकुन्द सिंह, दोनों पौत्र श्री० सिन्धु गर्ग एवं शिखर गर्ग तथा मेरे पुत्र के सहकर्मी श्री दीनानाथ पाण्डेय का इस ग्रन्थ को प्रकाशनयोग्य बनाने के कार्य में बराबर सहयोग रहा है। अपनी पत्नी के प्रति आभार अथवा कृतज्ञता भाव को प्रकट करने में मुझ जैसे पुराने लोगों को बहुत ही संकोच होता है। मैं वाचस्पति होने का प्रलाप नहीं कर सकता, परन्तु वे भामती जैसी अवश्य हैं। प्रारंभ से ही आज तक वे मेरी सुख-सुविधाओं एवं देखभाल तक ही सीमित न रहकर परिवार की धुरी रही हैं और मैं या मेरे परिवार के अन्य सदस्य जैसे हैं, उसमें उनका सर्वाधिक योगदान रहा है। मेरे पुत्र एवं छोटे दामाद ने आयुह करके यह प्रकाशन कार्य करवा लिया, अन्यथा मेरे आलस्य के कारण यह वैसे ही पड़ा रह जाता। पुत्र ने मेरे स्वास्थ्य पर निरन्तर जिस तत्परता से ध्यान रखा, उसके लिए मैं उन्हें सारे आशीष प्रदान करता हूँ। इसके प्रकाशन के विविध स्तरों की व्यवस्था में छोटे दामाद श्री मुकुन्द सिंह ने जो श्रम एवं सत्प्रयास किये उसके लिए उन्हें भी बहुत-बहुत आशीर्वाद है। इसके अतिरिक्त मैं पुत्रवधू डा० मंजू सिंह, दोनों पुत्रियों, श्रीमती सरिता सिंह तथा श्रीमती सन्ध्या सिंह तथा बड़े दामाद श्री चन्द्र प्रकाश सिंह को इस कार्य में सहयोग एवं प्रेरणा हेतु आशीष प्रदान करता हूँ। मेरी प्रिय नतिनी सुश्री मानसी सिंह, जो लगातार इसके प्रकाशन के विषय में उत्सुक रही है को, इस अवसर मैं आशीष तो देता ही हूँ, माँ भगवती से उसके मंगलहेतु प्रार्थना भी करता हूँ।

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग में बरिष्ठ प्रोफेसर, अनुज-जैसे, डा० अरविन्द कुमार राय को भी इस अवसर पर अपने आभारभाव से अभिव्यक्त करना चाहता हूँ, जो इसके प्रकाशन में सतत रुचि लेते रहे। डा० राहुल कुमार को भी बहुत-बहुत साधुवाद एवं आशीष है कि अनेक स्थलों की प्रूफ रीडिंग उन्होंने की, और हमेशा व्यवस्था में तत्पर रहे।

इस अवसर पर मैं टंकनकर्ता श्री सुनील सैनी व उमेश कुमार और टंकित प्रति को कम्प्यूटर से छपने योग्य रूप प्रदान करने वाले श्री मनोजीत भट्टाचार्य को मनोयोगपूर्वक कार्य करने एवं श्री नवीन चौधरी द्वारा प्रकाशन कार्य में सहयोग हेतु साधुवाद प्रदान करता हूँ। भगवान सदाशिव उन पर कृपालु रहें।

अन्त में, मैं दीक्षागुरु परमादरणीय स्वामी श्री गुरुशरणानन्द जी 'महाराज' के श्री चरणों में साष्टांग नमन करता हूँ। 1995 ई० से आज तक उनके स्नेह, मान, सदाशयता तथा आशीर्वादरूप कृपा के ही कारण मेरा जीवन सहज रूप से चलता रहा है। वे महान संत, महान आशय वाले तो हैं ही, महान विद्वान और दार्शनिक भी हैं और शिष्यों पर अबाध कृपा की वर्षा करते हैं। मुझ पर उनके इतने उपकार हैं कि विनीतभाव से समर्पित होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता। ग्रन्थरूप यह विद्या-सुमन उनके श्री चरणों में सादर समर्पित है।

एन. 13/209,
वृजङ्गलेव कॉलोनी
सुन्दरपुर, वाराणसी-5
उत्तर प्रदेश

विनयावत
हरि शंकर सिंह
11.3.2011

संक्षेप सूची

क्र. सं.	संक्षेप	ग्रन्थ-नाम	क्र. सं.	संक्षेप	ग्रन्थ-नाम
1	अक० ग०	अकलंकग्रन्थत्रय	24	न्याय० बि०	न्यायबिन्दु
2	अभि० को०	अभिधर्मकोश	25	न्या० बि०टी०	न्यायबिन्दुटीका
3	अभि० को० भा०	अभिधर्मकोशभाष्य	26	न्या०बि०टी०टि०	न्यायबिन्दुटीकाटिप्पणी
4	अभि० को० भा० स्फु०	अभिधर्मकोशभाष्य, स्फुटार्था व्याख्या	27	न्याय० वा०	न्यायवार्तिक
5	अभि० दी०	अभिधर्मदीप	28	न्या० म०	न्यायमंजरी
6	अर्थशा०	अर्थशास्त्र	29	न्याया० वा०	न्यायावतारवार्तिक
7	अभि०सं०	अभिधम्मत्थसंगहो	30	प्र० वा०	प्रमाणवार्तिक
8	आत्म० वि०	आत्मतत्त्वविवेक	31	प्र०वा०भा०	प्रमाणवार्तिकभाष्य
9	आल० प०	आलम्बनपरीक्षा	32	प्र० वा० सू०	प्रमाणवार्तिकवृत्ति
10	तत्त्व सं०	तत्त्वसंग्रह	33	प्र० सं०	प्रमाणसमुच्चय
11	तत्त्व०सं०का०	तत्त्वसंग्रहकारिका	34	प्र० क० मा०	प्रमेयकमलमार्तण्ड
12	तत्त्व० सं०प०	तत्त्वसंग्रहपंजिका	35	वै० सू०	वैदल्यसूत्र
13	ता०नि०टि०	तात्पर्यनिबंधनटिप्पण	36	श्लो० वा०	श्लोकवार्तिक
14	त्रि० नि०	त्रिस्वभावनिर्देश	37	र० नि०	रत्नकीर्त्तिनिबन्धावलि
15	द्वा० न० च०	द्वादशारण्यचक्रम्	38	हे० बि०	हेतुबिन्दु
16	ध० प्र०	धर्मोत्तरप्रदीप	39	हे० बि० टी०	हेतुबिन्दुटीका
17	न्या० कं०	न्यायकंदली	40	ज्ञान० नि०	ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलि
18	न्या० कणि०	न्यायकणिका	41	बौ० न्या०	बौद्धन्याय
19	न्या० कु०	न्यायकुसुमांजलि	42	B. L.	Buddhist Logic
20	न्या० कु०च०	न्यायकुमुदचन्द्र	43	M.D.P.N	Mādhyamika Dialectic And The Philosophy of Nāgārjuna
21	न्या० द०	न्यायदर्शनम्	44	BPUF	The Buddhist Philosophy of Universal Flux
22	न्या० भा०	न्यायभाष्य	45	NAVIT	Nyāya Avatāra-Vārttika-Tippaṇa
23	न्या० भू०	न्यायभूषण			

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय	1-19
(क) प्रस्तावना - बौद्धदर्शन की विशेषता तथा भारतीय न्याय के उद्भव की रूपरेखा एवं बौद्धन्याय के विकासक्रम की रूपरेखा	1-2
(ख) न्यायविद्या का उद्भव एवं विकास - - - - -	2-3
(ग) बौद्धों में न्याय का स्वरूप - - - - -	3-3
(घ) वादविधि या प्रमाणचर्चा - - - - -	3-4
(ङ) दिग्नाग के पूर्व तक महायान दर्शन में प्रमाणविद्या का विकास - -	4-5
(च) वैभाषिकों की प्रमाणमीमांसा—अभिधर्मदीपकार द्वारा वैभाषिक मत की ज्ञानमीमांसा का विश्लेषण तथा कोशकार की आलोचना; वैभाषिक मत की समीक्षा - - - - -	5-14
(छ) हरिवर्मन् की ज्ञानमीमांसा - - - - -	14-17
(ज) दिग्नागोत्तर न्यायसाहित्य का संक्षिप्त पर्यालोकन - - - - -	17-19
द्वितीय अध्याय	20-97
(क) प्रमाण - - - - -	
(1) व्युत्पत्त्यर्थ : बौद्धों के लिए ज्ञान ही प्रमाण है। प्रमाण का लक्षण; ऐतिहासिक दृष्टि से सबसे पहले कणाद में मिलता है; धर्मकीर्ति के ग्रन्थों में प्रमाण के दो लक्षण - - - - -	20-21
(2) प्रमाण का स्वरूप - अविसंवादिज्ञान सम्यग्ज्ञान है - प्रज्ञाकर की व्याख्या; मनोरथनन्दि, धर्मोत्तर एवं दुर्वेकमिश्र की विवेचना; प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों में प्रमाण-लक्षण की प्रयुक्ति और इन दो के ही प्रमाण होने के लिए कारण का निर्देश; प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न ज्ञान का 'अर्थ' विषय नहीं होता; सम्यग्ज्ञान अर्थक्रिया में समर्थ वस्तु का बोधक है; 'वस्तु को यथा रूप में उपदर्शित न करने वाले ज्ञान क्यों प्रमाण नहीं हैं' इस प्रश्न का उत्तर और दुर्वेकमिश्र द्वारा स्वप्नज्ञान के उदाहरण से इसका स्पष्टीकरण; उपर्युक्त बातें धर्मोत्तर ने बाह्यप्रापण की दृष्टि से कही हैं; यह लक्षण सांख्यवहारिक प्रमाण का है - - - - -	21-35
(3) सम्यग्ज्ञान का द्विविधत्व - हेय और उपादेय विषय - - - - -	35-36
(4) काकतालीय अर्थसिद्धि की व्याख्या - विनीतदेव एवं शांतभद्र का पाक्ष; धर्मोत्तर द्वारा उन्का खण्डन और दुर्वेक मिश्र की विवेचना - -	36-38

(5) साकारज्ञान ही प्रमाण है साकारज्ञान का अर्थ है विषयाकार ज्ञान, आकार का अर्थ; साकारज्ञान को प्रमाण मानने के पीछे सौत्रान्तिकों का हेतु; धर्मोत्तर द्वारा न्यायबिन्दुटीका में अभिव्यक्त एतदविषयक अभिमत की विवेचना; दिग्नाग, धर्मकीर्ति आदि 'अर्थाभास' एवं 'स्वाभास' के आधार पर ज्ञान की साकारता प्रतिपादित करते हैं, परन्तु वे बाह्यार्थवादी नहीं हैं -----	38-42
(6) 'अज्ञातार्थ प्रकाशो वा प्रमाणम्' - धर्मकीर्ति के लक्षण की प्रज्ञाकर द्वारा व्याख्या -----	42-44
(7) 'प्रमाणं सम्यग्ज्ञानमपूर्वगोचरम्' - मोक्षाकर गुप्त के इस लक्षण का उनके ग्रन्थ के आधार पर विश्लेषण; सारांश -----	44-47
(ख) प्रामाण्यवाद -----	47-71
(1) प्रस्तावना एवं विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों का इस प्रसंग में अभिमत; प्रामाण्यविषयक सभी मतों का तीन में वर्गीकरण -----	47-52
(2) शांतरथित कमलशील द्वारा प्रामाण्यविषयक परमत का खण्डन-प्रामाण्य के प्रसंग में सभी मतों का चार वर्गों में विभाजन और उनका खण्डन	52-54
(3) स्वतःप्रामाण्यवाद का खण्डन -----	54-59
(4) धर्मकीर्ति के प्रामाण्यविषयक अभिमत का प्रतिपादन -----	59-61
(5) मीमांसकों के आक्षेपों का उत्तर -----	61-62
(6) आचार्य कमलशील का स्वाभिमत 'अनियम पक्ष' -----	62-64
(7) समीक्षा -----	64-71
(ग) प्रमाणसंप्लव एवं प्रमाण्यव्यवस्था -----	71-78
(1) समस्या का प्रस्तुतीकरण; संप्लव एवं व्यवस्था का अभिप्राय तथा ऐतिहासिक दृष्टि से सभी दार्शनिकों का इस प्रसंग में पक्ष। ---	71-76
(2) समीक्षा -----	76-78
(घ) प्रमाण और प्रमाणफल -----	78-97
(1) समस्या का स्वरूप; दिग्नाग का अभिमत; 'न्याय' तथा 'मीमांसा' का अभिमत -----	78-82
(2) सौत्रान्तिक दृष्टि से प्रमाण और प्रमाणफल में सम्बन्ध -----	83-87
(3) विज्ञानवादी व्याख्या -----	88-90
(4) बौद्धपक्ष की विरोधियों द्वारा आलोचना -----	90-94
(5) बौद्धों का उत्तर -----	94-95
(6) समीक्षा -----	96-97

तृतीय अध्याय	98-140
(क) प्रमाणसंख्या का निर्धारक सिद्धान्त - धर्मकीर्ति एवं उनके अनेक टीकाकारों का पक्ष - - - - -	98-101
(1) मेयद्वैविध्य के लिए धर्मकीर्तिप्रदत्त चार युक्तिओं का प्रज्ञाकर एवं मनोरथनन्दि द्वारा स्पष्टीकरण - - - - -	101-104
(2) मानद्वैविध्य की सिद्धि - धर्मकीर्ति के पक्ष का प्रज्ञाकर एवं मनोरथनन्दि द्वारा स्पष्टीकरण - - - - -	104-108
(ख) सत्यद्वयचिन्ता - धर्मकीर्ति की व्याख्या, प्रज्ञाकर एवं मनोरथनन्दि की विवेचना; इस प्रसंग में विज्ञानवादियों का माध्यमिकों से शास्त्रार्थ एवं प्रज्ञाकर का स्पष्टीकरण - - - - -	108-114
(1) 'मेयं त्वेकं स्वलक्षणम्' कहने में धर्मकीर्ति का आशय और प्रज्ञाकर द्वारा उसकी विशद विवेचना - - - - -	114-120
(ग) अनुमान के प्रमाण होने का प्रतिपादन - धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर एवं मनोरथनन्दि का अभिमत - - - - -	120-134
(घ) प्रमाणान्तर्भावपरीक्षा - प्रस्तावना एवं शब्द के प्रमाण होने का खण्डन	134-136
(1) उपमान के प्रमाणत्व का खण्डन, रत्नकीर्ति के आधार पर - - -	136-138
(2) अर्थापत्ति की प्रामाणिकता का खण्डन, रत्नकीर्ति द्वारा - - - -	138-139
(3) अभाव या अनुपलब्धि के प्रमाण होने का खण्डन - - - - -	139-140
चतुर्थ अध्याय	141-238
(क) प्रत्यक्ष का लक्षण - प्रस्तावना; लक्षण के तीन विकास-स्तर; असंग-वसुबन्धु, दिग्नाग एवं धर्मकीर्ति - - - - -	141-143
(ख) कल्पना का स्वरूप - दिग्नाग के अभिमत की विवेचना - - - - -	143-155
शांतरक्षित - कमलशील की व्याख्या; धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, मनोरथनन्दि, धर्मोत्तर, दुर्वेक मिश्र, विनीतदेव एवं मोक्षाकर गुप्त की व्याख्या -	
(1) प्रत्यक्ष के कल्पनापोढत्व की सिद्धि - धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, मनोरथनन्दि, धर्मोत्तर एवं दुर्वेकमिश्र आदि के अभिमत; हेतुबिन्दु में कल्पनापोढत्व की सिद्धि; शांतरक्षित एवं कमलशील द्वारा इसकी सिद्धि - - - - -	155-166
(2) प्रत्यक्ष में जात्यादिकल्पना का निरास - - - - -	166-167
(3) प्रत्यक्ष में जात्यादिसम्बन्धकल्पना का निराकरण - - - - -	167-168
(4) प्रत्यक्ष में शब्दकल्पना का निराकरण; धर्मकीर्ति एवं प्रज्ञाकर का पक्ष	

एवं प्रतिपक्षियों द्वारा उठाये गये आक्षेपों का प्रज्ञाकर द्वारा उत्तर -	168-181
(ग) प्रत्यक्ष के कल्पनापोढत्व पर कुछ विशेष आपत्तियाँ और उनका उत्तर - - - - -	181-191
(1) उद्धोतकर का आक्षेप और कमलशील द्वारा उसका उत्तर - - -	181-182
(2) कुमारिलभट्ट का आक्षेप एवं उसका कमलशील द्वारा उत्तर - - -	182-185
(3) शांतरक्षित, द्वारा कुछ अन्य आक्षेपों का उत्तर - - - - -	185-187
(4) नैयायिकों, विशेषकर जयन्तभट्ट के आक्षेपों का बौद्धों द्वारा उत्तर	187-188
(5) भर्तृहरि एवं हरिवृषभ के आक्षेप एवं उनका उत्तर - - - - -	188-190
(6) जैन दार्शनिक सुमति तथा अकलंक के आरोपों का उत्तर - - - -	190-191
(घ) प्रत्यक्षं अभ्रान्तम् - - - - -	191-216
(1) धर्मोत्तर एवं विनीतदेव की व्याख्या; न्यायबिन्दुटीकाटिप्पणीकार एवं दुर्वेक का अभिमत; सौत्रान्तिकनय की दृष्टि से दुर्वेकमिश्र द्वारा अनेक पूर्वपक्षों के आलोक में 'अभ्रान्त' पद की व्याख्या; 'कल्पनापोढ' एवं 'अभ्रान्त' ये दोनों विप्रतिपत्ति का निराकरण करने के लिए हैं। प्रमाणवार्तिकवृत्ति में 'अभ्रान्त' पद	191-200
(2) प्रत्यक्षाभासविचार - दिग्नाग का अभिमत; प्रमाणवार्तिक में प्रत्यक्षाभास की प्रज्ञाकर द्वारा व्याख्या एवं 'सतैमिर' पद के अर्थ का विश्लेषण	200-202
(3) दिग्नाग ने अपने प्रत्यक्षलक्षण में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण क्यों नहीं किया, इस पर धर्मकीर्ति एवं प्रज्ञाकर का स्पष्टीकरण; शांतरक्षित - कमलशील का स्पष्टीकरण - - - - -	202-211
(4) आधुनिक विद्वानों द्वारा 'अभ्रान्त' पद की उपयोगिता पर आक्षेप और इस प्रसंग में अपना मत - - - - -	211-216
(ङ) प्रत्यक्षविषयक केन्द्रीय समस्या तथा उस प्रसंग में न्याय-वैशेषकों तथा बौद्धों का शास्त्रार्थ - - - - -	217-231
प्रस्तावना	
(1) सविकल्पक प्रत्यक्ष के खण्डन हेतु बौद्धों द्वारा प्रस्तुत तर्कों की व्याख्या - - - - -	217-221
(2) न्याय-वैशेषिकों का उत्तर और उसका मूल्यांकन - - - - -	221-231
(च) क्या अभाव का प्रत्यक्ष होता है? - - - - -	232-238
पंचम अध्याय	
प्रत्यक्ष के प्रकार	
(क) इन्द्रियप्रत्यक्ष - प्रस्तावना - - - - -	239

(1) धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर एवं मनोरथनन्दि के अभिमत की व्याख्या	239-246
(2) इन्द्रियप्रत्यक्ष के प्रसंग में न्याय-वैशेषिक तथा बौद्धों का शास्त्रार्थ	246-256
(3) इन्द्रियप्रत्यक्ष के विभिन्न बौद्ध सिद्धान्त - ग्राह्यग्राहकसम- संख्याकवाद, अर्द्धाण्डाकारवाद और चित्राद्वैत या नानाद्वैतवाद की प्रज्ञाकरभाष्य एवं ज्ञानश्रीमित्र के 'चित्राद्वैतपरिच्छेद' के आधार पर विवेचना - - - - -	256-276
(ख) मानसप्रत्यक्ष - - - - -	276-305
(1) मानसप्रत्यक्ष का लक्षण : - दिग्नागकृत लक्षण, जिनेन्द्रबुद्धि की टीका वस्तुतः दिग्नाग के अभिमत को धर्मकीर्ति के लक्षण के आलोक में अभिव्यक्त करती है; प्रज्ञाकर का अभिमत और उसका स्पष्टीकरण; न्यायबिन्दु में प्रदत्त धर्मकीर्ति के लक्षण की धर्मोत्तर एवं दुर्वेक द्वारा व्याख्या; मानसप्रत्यक्ष के विषय में विभिन्न टीकाकारों के पक्ष; मानसप्रत्यक्ष 'सिद्धान्त प्रसिद्ध' है, धर्मोत्तर के इस पक्ष का स्पष्टीकरण	276-297
(2) प्रो० श्चेरबात्स्की द्वारा तिब्बती स्रोत से प्रदत्त सामग्री का आकलन	297
(3) मानसप्रत्यक्ष का योगप्रत्यक्षसिद्धान्त - - - - -	297-299
(4) मानसप्रत्यक्ष पर उठाये गये आक्षेप - - - - -	299-302
(5) मूल्यांकन - - - - -	302-305
(ग) स्वसंवेदनप्रत्यक्ष - - - - -	305-332
(1) धर्मकीर्ति द्वारा प्रदत्त लक्षण - प्रज्ञाकर की व्याख्या - - - - -	305-308
(2) न्याय-वैशेषिक मत की आलोचना - (क) सुखादि ज्ञानस्वरूप नहीं हैं, न्याय के इस मत की आलोचना; (ख) सुखादि ज्ञान द्वारा वेद्य हैं, उनमें स्वसंवेदनता नहीं है, न्याय के इस मत का खण्डन - - - - -	308-323
(3) सांख्यमत का निरास एवं धर्मोत्तर का स्वसंवेदन के विषय में अभिमत	323-331
(5) समीक्षा - - - - -	331-332
(घ) योगिप्रत्यक्ष - - - - -	332-347
(1) प्रस्तावना - - - - -	332-333
(2) दिग्नाग एवं धर्मकीर्ति द्वारा प्रदत्त लक्षण एवं टीकाकारों द्वारा कृत व्याख्या; टिप्पणीकार एवं दुर्वेकमिश्र द्वारा व्याख्या; श्चेरबात्स्की के अभिमत की आलोचना; विनीतदेव का पक्ष - - - - -	333-339
(3) विज्ञानवादी दृष्टि से योगिप्रत्यक्ष की प्रज्ञाकर द्वारा व्याख्या - - -	339-345
(4) योगिज्ञान प्रमाण है कि नहीं, इस पर शांतिरक्षित एवं कमलशील की	

विवेचना - - - - -	245-347
छठा अध्याय	348-363
प्रत्यक्ष का विषय	
(क) व्याख्या एवं स्वरूप; अध्यवसेय एवं प्रापणीय विषय, दुर्वेक मिश्र की व्याख्या - - - - -	348-353
(ख) स्वलक्षण का स्वरूप - धर्मकीर्ति एवं उनके टीकाकार धर्मोत्तर तथा दुर्वेक द्वारा विवेचना - - - - -	353-357
(ग) प्रत्यक्ष के विषय के प्रसंग में परमतों की समीक्षा - - - - -	357-363
सातवां अध्याय	
वस्तुवाद एवं विज्ञानवाद के विवाद के केन्द्रीय बिन्दु	364-423
विषय स्थापना - - - - -	364-365
(क) ज्ञान की साकारता और निराकारता - - - - -	365-385
(1) व्यापकता; ज्ञान की साकारता और निराकारता का अर्थ और विभिन्न दर्शनों में आकार का अभिप्राय - - - - -	365-367
(2) निराकारविज्ञानवाद— प्रज्ञाकर के भाष्य में उद्धृत निराकारविज्ञानवाद; भदन्त शुभगुप्त का मत और उनके द्वारा प्रस्तुत तर्क; धर्मोत्तर का निराकारविज्ञानवाद ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलि के आधार पर - - - - -	367-372
(3) साकारविज्ञानवाद - शुभगुप्त के अभिमत एवं युक्तिओं का शांतरक्षित—कमलशील द्वारा खण्डन; धर्मोत्तर के निराकारविज्ञानवाद का ज्ञानश्रीमित्र द्वारा खण्डन - - - - -	372-381
(4) वैभाषिकों का निराकारज्ञानवाद - - - - -	381-382
(5) आस्तिक वस्तुवादियों का निराकारज्ञानवाद - न्यायवैशेषिक का अभिमत - - - - -	382-383
(6) जैनों का निराकारज्ञानवाद; मीमांसक भी निराकारज्ञानवादी हैं, किन्तु सांख्य साकारवादी हैं - - - - -	383-385
(ख) ज्ञान की स्वसंवेदनता और परसंवेदनता - - - - -	385-405
(1) विषय—स्थापना और एतद्विषयक विवाद - - - - -	385-387
(2) विज्ञानवादियों द्वारा स्वसंवेदनता की सिद्धि - - - - -	387-389
(3) ज्ञान के आकार—प्रचय का सिद्धान्त - - - - -	389-391
(4) स्मृति के द्वारा स्वसंवेदनता की सिद्धि - - - - -	392-395
(5) धर्मकीर्ति द्वारा 'स्वसंवेदन' की सिद्धि - - - - -	395-401
(6) स्वसंवेदन की सिद्धि के लिए अन्य उपपत्ति - - - - -	401-404

(7) फलितार्थ - - - - -	404-405
(ग) ज्ञान की सालम्बनता और निरालम्बनता - - - - -	405-423
(1) कुमारिल एवं धर्मकीर्ति को प्रतिनिधि मानकर विवाद की स्थापना -	405-408
(2) अर्थसंवेदन-चिन्ता - - - - -	408-412
(3) आचार्य कुमारिल द्वारा ज्ञान की निरालम्बनता के प्रति आक्षेप - -	412-416
(4) प्रज्ञाकर का उत्तर - - - - -	416-420
(घ) समीक्षा - - - - -	420-423
(ङ) टिप्पणियाँ (पाद टिप्पणियाँ) - - - - -	424-477
(च) ग्रन्थ सूची - - - - -	478-482
शुद्धि सूची - - - - -	483-484

(क) - प्रस्तावना

बौद्धदर्शन दर्शन की कोई एक विधा नहीं है, अपितु दर्शनशास्त्र के संभावित जितने प्रकार होते हैं उनमें से प्रमुख प्रकारों का समुच्चय है। इसमें बहुत्ववाद-अद्वैतवाद, यथार्थवाद-विज्ञानवाद, क्षणभंगवाद और अनात्मवाद जैसी दार्शनिक विचारधाराएँ विद्यमान हैं। जिस "तथागत" की शिक्षाओं एवं उनके अनुयायी दार्शनिक विद्वानों के मतों को हम "बौद्धदर्शन" की संज्ञा से अभिहित करते हैं उसे अपने प्रथम उद्घोषक से ही यह चेतावनी वरासतन् मिली है कि किसी के कथन को, बिना उसकी परीक्षा किये, अनुभव की कसौटी पर बिना कसे, योहीं श्रद्धाभाव के चलते मान नहीं लेना चाहिए।¹ सभी बौद्धदार्शनिक एवं दार्शनिक सम्प्रदाय रूढिवादिता के विरोधी हैं और अनात्मवादी हैं। वे किसी स्थिरभाव वाली शाश्वत सत्ता को, जो स्थाणु हो, नित्य एवं अविकारी हो, स्वीकार नहीं करते। क्योंकि, 'श्रुति' जैसी किसी अलौकिक या दैवीयसत्य-प्रकाशन में श्रद्धा रखने की बाध्यता से अपने अनुयायियों को "तथागत" ने मुक्त रखा था, अतएव, प्रारम्भ से ही बौद्धदर्शन की विभिन्न शाखाएँ वैज्ञानिक एवं तार्किक ढंग से समस्याओं पर विचार करने में अपने को लगाती रहीं।

यह बात सर्वमान्य है कि सत्यान्वेषण का प्रयास भारत में ईसा से हजारों वर्ष पूर्व ही प्रारम्भ हो गया था। यह प्रयास दो धाराओं में हुआ - (क) आध्यात्मिक दृष्टि से, (ख) बौद्धिक दृष्टि से। इन दोनों प्रकार की दृष्टियों से तत्त्व का अन्वेषण करने वालों में, जिनके विचार मौलिक थे उनकी ओर लोग आकर्षित हुए और उनमें विश्वास करने लगे। धीरे-धीरे ये विचार वाद का रूप धारण कर गये। चूँकि, इस प्रकार के प्रयास में परस्पर भिन्न समाधान संभव हैं, अतः विविध वादों की स्थिति कालक्रम में हुई। इन विविध वादों में कुछ मुद्दों को लेकर मतैक्य और अनेक बातों में वैमत्य भी होना स्वाभाविक है। विमति दोनों प्रकार की हो सकती है— (क) उपरी अन्तर, (ख) मौलिक अन्तर। मूलतः भिन्न मत रखने के कारण एक वाद दूसरे वाद में दोषोद्भावन कर स्वमत की पुष्टि कर लोक में अपने सिद्धान्त के प्रचार-प्रसार का प्रयास करता है, तो "विवाद" की स्थिति पैदा होती है, अन्वेषण की उतनी नहीं। "विवाद" की इसी स्थिति को प्राचीन साहित्य में "कथा" कहते हैं, जिसके विषय में सत्यान्वेषियों द्वारा अनेक सिद्धान्त स्थापित किये गये हैं।² इसी प्रसंग में ज्ञान के प्रामाण्य और प्रमाणों की संख्या के विषय में प्रश्न भी उठ खड़े हुए जिनके फलस्वरूप प्रमाणविद्या (प्रमाणशास्त्र) का विकास हुआ।³ ये दोनों प्रकार की विद्याएँ आध्यात्मिक और भौतिक दोनों प्रकार के

अन्वेषणों में प्रयुक्त की जाती थीं। अन्वेषण के विषयों की विविधता, एक ही विषय और उसके विविध पहलुओं की व्याख्या में वैमत्य एवं विविधता आदि के चलते प्रमाणविद्या एवं तर्कविद्या के विकास के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया।

यह बात सर्वविदित है कि न्यायविद्या का सुव्यवस्थित शास्त्र के रूप में विकास न्यायदर्शन में हुआ था। यद्यपि संपूर्ण "न्यायसूत्र" नागार्जुन के पहले का नहीं है, तथापि नागार्जुन (ईसापूर्व द्वितीय/प्रथमशती)⁴ के पहले भी 'न्यायसूत्र' था जिसमें चार प्रमाण का निरूपण हुआ था⁵। तार्किक दृष्टि से समस्याओं पर विचार करने की बात यद्यपि बीजरूप में हमें 'श्रुतियों' में मिलती है और 'पालित्रिपिटक' एवं बौद्ध 'अष्टकथाओ' में विद्वानों ने बौद्ध न्यायशास्त्र एवं ज्ञान के विभिन्न साधनों के निरूपण के तथ्य की खोज कर उसका विस्तार से विवेचन किया है⁶, तथापि, यह भी निःसंकोच भाव से स्वीकार करना चाहिए कि पालिग्रन्थों में, जिस प्रमाणशास्त्र को हम खोजते हैं और एक प्रमाणशास्त्र तथा ज्ञानमीमांसा को खड़ा करते हैं, वह प्रमाणशास्त्र के सुव्यवस्थित एवं समीक्षात्मक विचार के रूप में नहीं मिलता, बल्कि ज्ञानमीमांसा के बिखरे हुए अंश मिलते हैं जिनमें मनोवैज्ञानिक पुट अधिक है और वहाँ जो विवेचना हुई भी है वह समीक्षात्मक एवं विश्लेषणात्मक न होकर निरूपणात्मक अधिक है।⁷ चूँकि अब नवीन खोजों एवं अनेक विद्वानों के शोधपूर्ण ग्रन्थों से भारतीय दार्शनिकों का कालक्रम पहले की अपेक्षा दिनों-दिन निश्चित-सा होता जा रहा है, अतः अलग-अलग लेखकों की जीवनी के विषय में अथवा रचनाओं की निश्चयता के विषय में विवेचना को प्रस्तुत करना पुनरावृत्ति मात्र होगी। अतः, इस अध्याय में हम आचार्य 'नागार्जुन' और उनके पूर्ववर्ती तथा अनुवर्ती, किन्तु 'दिग्नाग' के प्राक्कालीन दार्शनिकों के प्रमाण विषयक दृष्टिकोण पर इस दृष्टि से विचार करेंगे कि उनके विचारक्रम में क्रमशः विकास किस तरह हुआ। तदनन्तर, इसी अध्याय में, हम दिग्नाग के प्राक्कालीन बौद्ध दार्शनिकों की ज्ञानमीमांसा तथा प्रत्यक्षविषयक विचारों को कुछ विस्तार से देखते हुए यह दर्शाएंगे कि प्रत्यक्ष की निर्विकल्पकता का श्रेय क्या दिग्नाग के पहले के किसी दार्शनिक को दिया जा सकता है? अन्त में हम बौद्धन्याय के प्रमुख आचार्यों एवं उनकी कृतियों का उल्लेख कर यह अध्याय समाप्त करेंगे।

(ख) - न्यायविद्या का उद्भव एवं विकास

वैदिक वाङ्मय में 'न्यायविद्या' को 'अन्वीक्षिकी' कहा गया है, जिसे आगे चलकर 'हेतुशास्त्र', हेतुविद्या, न्यायविद्या आदि नामों से भी पुकारा गया। बृहदारण्यक, छांदोग्य तथा 'मनुसंहिता' में अन्वीक्षिकी 'आत्मविद्या', की सूचक है और इसका प्रयोग 'दर्शनशास्त्र' (तत्त्वमीमांसा) के अर्थ में हुआ है। 'कौटिल्य' ने भी इस अर्थ में भी इसका

प्रयोग किया है।^१ 'अन्वीक्षिकी' का हेतुपरक भी अर्थ होता है जो विकसित होकर आगे 'न्यायविद्या' कहलायी। प्राचीन शास्त्रों में अन्वीक्षिकी को 'वादविद्या' भी कहते हैं।

(ग) - बौद्धों में न्याय का स्वरूप

बौद्धों में न्याय का विकास पिटककाल से ही दिखलायी पड़ता है।^२ प्राचीन बौद्धसंस्कृत ग्रन्थों का तिब्बती ग्रन्थों में जो उल्लेख मिलता है, उससे यह ज्ञात होता है कि बौद्धों में आस्तिक सम्प्रदायों, विशेषतया 'न्याय' एवं 'वैशेषिक' दर्शनों, के समानान्तर ही न्यायविद्या का विकास हुआ, यद्यपि 'न्यायसूत्र' के प्राचीन अंश एवं उनकी शब्दावली एवं विषयसूची तथा शैली धरोहर के रूप में उसे प्राप्त थी। 'अंगुत्तरनिकाय' में हमें प्रमाण का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त, 'सुत्तपिटक' के 'दीघनिकाय' के भाग 'बह्मजालसुत्त', मज्झिमनिकाय' के भाग 'अनुमानसुत्त' तथा 'खुद्दकनिकाय' के भाग 'उदान' में न्याय सम्बन्धी कुछ शब्दों एवं निर्णय करने के लिए कुछ नियमों का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त वहाँ पर न्याय को 'तक्की', 'विमस्सी' आदि नामों के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। 'विनयपिटक' के 'पालिमोसुत्त' में न्याय के लिए 'अधिकरणसम्बध' शब्द का प्रयोग हुआ है। इतना ही नहीं, 'अभिधर्मपिटक' के 'कथावत्थु' प्रकरण में अनुयोग, आहरण, प्रतिज्ञा, उपनय, आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। संभवतः, प्रथमबार 'कथावत्थु' में ही 'न्याय का 'वादविद्या' और तर्क के अर्थ में प्रयोग हुआ है। 'मिलिन्द प्रश्न' में न्याय (नीति) शब्द का प्रयोग मिलता है। सम्राट मैनेण्डर का समय द्वितीय शती ईसापूर्व है। इस सबसे पता चलता है कि इस समय तक बौद्धदर्शन में न्यायविद्या का कहाँ तक विकास हुआ था।

(घ) - वादविधि या प्रमाणचर्चा

शास्त्रार्थ का अधिक प्रचलन होने से प्राचीन काल में वाद-विवाद से सम्बद्ध विषयों का ही इसमें अधिक समावेश हुआ है। इनमें ज्ञानमीमांसा एवं प्रमाणविचार को गौण स्थान प्राप्त है। स्वमत-स्थापना, अपने अभिमत पर विरोधियों द्वारा उठाये गये आक्षेपों का खण्डन, परमतदूषण और परमतखण्डन इन चतुर्विध उद्देश्यों से 'वादविधि' का प्रयोग होता था। पालिग्रन्थों में 'वादविधि' का प्रयोग, युक्तिओं द्वारा परमत के खण्डन एवं अपने अभिमत के मण्डन के अर्थ में, हुआ है। भगवान तथागत स्वतः परमत के खण्डन में, 'त्रिपिटक' में, वादविधि का प्रयोग करते हुए दिखलाये गये हैं और वहाँ यह भी सूचित किया गया है कि भगवान 'बुद्ध' ने शिष्यों को भी इसके लिए प्रोत्साहित किया है। बाद में 'वाद-विधि' प्रमाणशास्त्र के रूप में विकसित हुई और ज्ञान एवं

प्रमाणविचार उसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषय अथवा एकमात्र विषय हो गया। आचार्य 'नागार्जुन', 'असंग' और 'वसुबन्धु' की रचनाओं से यही इंगित होता है कि 'वादविधि' प्रमाणव्यवस्था में ही प्रयुक्त हुई है।¹⁰

(ड) 'दिग्नाग' के पूर्व तक महायान दर्शन में प्रमाणविद्या का विकास

आचार्य नागार्जुन :- बौद्धदर्शन में द्वितीय बुद्ध कहे जाने की गरिमा से मण्डित इस महामानव के विषय में अनेक विवाद हैं। ईसापूर्व, प्रथम-द्वितीय शती में आविर्भूत हुए 'नागार्जुन' माध्यमिक दर्शन को सुव्यवस्थित करने वाले प्रथम आचार्य होने के साथ ही 'विग्रहव्यावर्तनी' एवं 'वैदल्यसूत्र' के भी प्रणेता हैं।¹¹ यद्यपि 'माध्यमिककारिका' में प्रमाणविषयक उनके अभिमत के दर्शन होते हैं, तथापि 'विग्रहव्यावर्तनी' एवं 'वैदल्यसूत्र' विशुद्धतया न्यायग्रन्थ हैं। प्रथम में उन्होंने प्रामाण्य एवं न्याय के चतुर्विध प्रमाणों का खण्डन कर यह प्रदर्शित किया है कि प्रमाणों में प्रामाण्य नहीं।¹² द्वितीय में उन्होंने 'न्यायसूत्र' का खण्डन किया है और इसमें न्याय के 16 पदार्थों का क्रमशः खण्डन है।¹³ यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि संपूर्ण 'न्यायसूत्र' आचार्य 'नागार्जुन' के समय विद्यमान नहीं था, अपितु उनके सामने 'न्यायसूत्र' के प्रथम अध्याय के 16 पदार्थविषयक सूत्र ही, जिनकी संख्या 61 है और जिसमें 11 प्रकरण हैं, विद्यमान थे। आचार्य 'नागार्जुन' का 'वैदल्यसूत्र' इसे स्पष्टतः इंगित करता है। इन बातों से सतीशचन्द्र विद्याभूषण एवं उन पाश्चात्य विचारकों का मत असिद्ध हो जाता है जो इस बात के लिए प्रयत्नशील रहे हैं कि 'न्याय' के चार प्रमाणों की बात को तथा संपूर्ण 'न्यायसूत्र' को 'नागार्जुन' का परवर्ती सिद्ध किया जाय। आचार्य 'नागार्जुन' वे पहले ज्ञात आचार्य हैं जिनकी प्रमाण पर स्वतंत्र रचना सुलभ है, यद्यपि है वह खण्डनात्मक ही।

आचार्य 'नागार्जुन' के बाद ऐतिहासिक दृष्टि से ज्ञात महायान आचार्यों में 'मैत्रेयनाथ' एवं 'असंग' आते हैं। मैत्रेयनाथ के 'योगचर्याभूमिशास्त्र' एवं असंग के 'अभिधर्मसंगीति' तथा 'स्थिरमति' के 'अभिधर्मसंयुक्तरसंगीति' में जिस प्रमाणमीमांसाविषयक विचारों की प्राप्ति होती है, वे उनकी मौलिक खोजें नहीं हैं। इनमें, उस समय तक पहले के आचार्यों ने जो कुछ खोजें प्रमाणविद्या के क्षेत्र में की थीं उनको संशोधित करने के अभिप्राय से, उन्हें संकलित मात्र कर दिया गया है। अतएव, प्रमाणविद्या के क्षेत्र में उनका कोई मौलिक योगदान नहीं माना जा सकता। इनके दर्शन-ग्रन्थों में हमें न्यायदर्शन द्वारा मान्य न्यायवाक्य के 'पाँच अवयव' अथवा 'दश अवयव' के स्थान पर "तीन ही अवयव" को स्वीकार करने की बात मिलती है। उपर्युक्त स्थिति इस बात का

प्रमाण है कि प्रमाणशास्त्र में उनका कोई मौलिक योगदान नहीं है, अपितु उनके ग्रन्थ अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों को संशोधित करने के अभिप्राय से किये गये संकलन हैं।¹⁴ इसी तरह की स्थिति हमें 'वसुबन्धु' की 'वादविधि' में प्राप्त होती है जिसमें उन्होंने 'मैत्रेयनाथ' एवं 'असंग' द्वारा मान्य तीन अवयव वाले न्यायवाक्य को मानने के साथ ही संशोधन की प्रक्रिया को बढ़ाते हुए न्यायदर्शन के 'पंचरूपहेतु' के स्थान पर 'त्रैरूप्यहेतु' की प्रतिष्ठापना की।¹⁵ यद्यपि 'तर्कशास्त्र' नामक ग्रन्थ में न्यायदर्शन में मान्य 'पंचावयव न्यायवाक्य' की बात कही गयी है, किन्तु उस ग्रन्थ में भी 'जाति' एवं 'निग्रहस्थान' के प्रसंग में परिवर्तन एवं परिवर्धन की बात प्राप्त होती है। 'उपायहृदय' में भी इसी प्रकार के परिवर्तन की बात प्राप्त होती है, यद्यपि एक भिन्न रूप में। 'मैत्रेयनाथ' एवं 'असंग' की भाँति ही 'वसुबन्धु' भी तीन ही प्रमाण-प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम-मानते हैं, किन्तु उनकी व्याख्या अपने पूर्ववर्तियों से भिन्न है। उदाहरणार्थ, वसुबन्धु ने 'आगमप्रमाण' को स्वीकार करते हुए भी उसकी व्याख्या बुद्ध के अभिप्राय के आधार पर की है (बुद्ध भगवान ने कुछ उपदेश सामान्य लोगों को ध्यान में रखकर और कुछ उपदेश श्रेष्ठ शिष्यों को ध्यान में रखकर दिया था जो कि उनका वास्तविक मंतव्य है)। इसे ही बौद्धदर्शन में 'नेयार्थ' एवं 'नीतार्थ' दृष्टि कहा जाता है। यहाँ 'वसुबन्धु' यह भी कहते हैं कि चूँकि 'आगम' प्रत्यक्ष और अनुमान पर निर्भर रहता है, अतएव, उनकी अपेक्षा यह गौण है। स्पष्ट है कि 'वसुबन्धु' नैयायिकों तथा उनके समर्थक आस्तिकों के 'शब्दप्रमाण' विषयक मान्यता से भिन्न मत रखते हैं।¹⁶ आस्तिकों के अनुसार 'शब्द-प्रमाण' की अपेक्षा प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण गौण हैं, क्योंकि वेद ईश्वरीय वचन हैं, उसके निश्वास हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान अनुभवीय प्रमाण हैं और श्रुति अनुभवातीत। इसके अनन्तर आचार्य दिग्नाग ने प्रमाणमीमांसा को एक नया मोड़ प्रदान किया जिसके चलते उन्हें 'मध्ययुगीन न्याय का पिता' कहा जाता है। वस्तुतः प्रमाणमीमांसा अपने शुद्धरूप में उन्हीं से प्रारम्भ होती है। उसके बाद 'नव्यन्याय' के आरम्भ के पहले तक विभिन्न भारतीय दर्शन-सम्प्रदायों में परस्पर खण्डन-मण्डन, संशोधन-परिवर्धन आदि से जो दार्शनिक गतिविधि हुई वह भारतीय दर्शनशास्त्र का स्वर्णयुग है।

(च) - वैभाषिकों की ज्ञानमीमांसा

आचार्य 'नागार्जुन' के बाद बौद्धन्याय एवं दर्शन के क्षेत्र में उसी महत्त्व के दूसरे आचार्य 'असंग' के छोटे भाई 'वसुबन्धु' हैं। इनके दो स्वतंत्र न्यायग्रन्थ हैं (1) 'वादविधि' और (2) 'वादविधान'।¹⁷ इसके अतिरिक्त 'अभिधर्मकोश' तथा उस पर भाष्य भी इनका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।¹⁸ इसका महत्त्व दर्शनशास्त्र की दृष्टि से इसलिए है,

क्योंकि इसमें आचार्य 'वसुबन्धु' ने अपने से पहले के 'वैभाषिक' एवं 'सौत्रान्तिक' आचार्यों के ज्ञानमीमांसाविषयक अभिमत और उनके पारस्परिक विवादों की भी समीक्षा की है। यहाँ हम उन बौद्ध आचार्यों के प्रत्यक्ष विषयक मत का उल्लेख करेंगे, क्योंकि आधुनिक समीक्षकों में से कुछ विद्वान यह मानते हैं कि 'प्रत्यक्ष कल्पनापोढ' या निर्विकल्पक होता है इसको स्पष्टतः कहने वाले प्रथम आचार्य दिग्नाग नहीं, अपितु 'सत्यसिद्धिशास्त्रम्' के प्रणेता आचार्य हरिवर्मन् हैं।¹⁹ इस प्रसंग में पहले हम मात्र यह बतलाना चाहेंगे कि 'अभिधर्मदीपकार'²⁰ ने 'वसुबन्धु' से पृथक् व्याख्या अभिधर्म की प्रस्तुत की है। वे वसुबन्धु पर 'सौत्रान्तिक' दृष्टिकोण के प्रति पक्षपात करने एवं अभिधर्म का ठीक विश्लेषण न करने का दोष लगाते हैं और वैभाषिक मत का प्रतिपादन करते हैं। एक अत्यंत महत्वपूर्ण कथन, टिप्पणी के रूप में, वे 'सौत्रान्तिकों' के लिए कहते हैं कि 'उनके लिए' (द्राष्टान्तिकों के लिए) सभी प्रकार के इन्द्रिय प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष या परोक्ष होते हैं — द्राष्टान्तिकस्य हि.....सर्वमप्रत्यक्षम्।²¹ 'सर्वम्' से दीपकार' को 'सभी इन्द्रियप्रत्यक्ष' अभिप्रेत है।

प्रमाणमीमांसा की दृष्टि से 'वैभाषिकों' और 'सौत्रान्तिकों' में कई भिन्नताएँ हैं। वैभाषिकों के सबसे प्रमुख शास्त्रीय विचारक आचार्य 'वसुबन्धु' एवं 'दीपकार' हैं। अनेक स्थलों पर आगे के अध्यायों में हमने 'कोशकार' के अभिमत की समीक्षा की है। अतः दीपकार के अभिमत को हम यहाँ संक्षेप में देखेंगे।

'दीपकार' का कहना है कि 5 क्लिष्ट एवं 3 अक्लिष्ट दृष्टियों को मिलाकर दृष्टियाँ 8 हैं। चक्षु को तो दृष्टि कहते ही हैं, क्योंकि वह अपने विषय को देखती है। 'दीपकार' यह प्रश्न उठाते हैं कि क्या विज्ञान की परिगणना दृष्टि के अन्दर नहीं की जा सकती है? 'वृत्तिकार' का अभिमत है कि दर्शनक्रिया को, प्रधानतया, विज्ञान से जोड़ा नहीं जा सकता। 'दीपकार' बतलाते हैं कि चार चीजों को देखने की क्रिया करने वाला कहा जा सकता है। वस्तुतः 'भाष्यकार' वसुबन्धु के भी पूर्व इस प्रसंग में बौद्धों में चार पक्ष थे, जिनका ही उल्लेख दीपकार यहाँ कर रहे हैं— (1) 'धर्मत्रात' का मत, जो चक्षु को दर्शनक्रिया करने वाला मानता है, (2) 'घोषक' का मत, जो प्रज्ञा को, रूप का, देखने वाला मानता है, (3) 'द्राष्टान्तिक', जो विज्ञान को देखनेवाला तथा (4) 'वात्सीपुत्रीय', जो आलोकादि सदृश अन्य प्रत्ययों के 'साकल्य' को देखने वाला मानते हैं।²² 'दीपकार' इन चारों पक्षों को अयुक्त मानते हैं। उनका कहना है कि ऐसा नहीं कहा जा सकता कि 'विज्ञान' से स्वतंत्र रूप में केवल चक्षु अकेले 'रूप' को देखता है, क्योंकि, उस समय अन्य इन्द्रियाँ भी अपना-अपना कार्य कर रही होंगी, जैसे, चक्षु द्वारा अपना कार्य जिस समय हो रहा होगा उसी समय घ्राणेन्द्रिय सूघने एवं श्रवणेन्द्रिय

सुनने का कार्य कर रही होगी। फलतः, इस स्थिति में सभी ज्ञानेन्द्रियों के एक ही क्षण में क्रियावान होने की स्थिति पैदा हो जायगी। यदि अकेले केवल चक्षुर्विज्ञान को 'रूप' को देखने वाला मान लिया जाय, तो फिर, आँख की ओट में रहने वाली वस्तुओं का भी 'रूप' विज्ञान को दिखलायी पड़ता है, ऐसा मानना पड़ेगा, क्योंकि विज्ञान चक्षु से स्वतंत्र है। पुनश्च, यदि विज्ञान वस्तु के 'रूप' को देखता है, तो उसको जानता कौन है? प्रज्ञा को भी रूप का देखनेवाला नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह विज्ञान की सभी अवस्थाओं के साथ मानसिक धरातल पर अनिवार्यतः रहती ही है। प्रत्ययसामग्री को भी 'रूप' को देखनेवाला नहीं कहा जा सकता, क्योंकि, प्रत्यक्ष के लिए जितने भी कारण होते हैं, उनसे अन्य प्रत्ययसामग्री की स्थिति नहीं होती।²³

इन पक्षों में असंगति दिखलाने के अनन्तर दीपकार 'काश्मीर वैभाषिकों' के अभिमत को प्रस्तुत करते हैं। इनकी मान्यता है कि चक्षु देखता है और विज्ञान जानता है। अपने-अपने पृथक् व्यापार के चलते इनमें बहुत अन्तर है। प्रथम का कार्य है 'आलोचन' और द्वितीय का कार्य है 'उपलब्धि'। चक्षुद्रव्य द्रष्टृ स्वभाव वाला है। जब चक्षुद्रव्य की शक्ति हेतु—प्रत्यय—सामग्री के परिग्रह से प्रबोधित या उदीप्त होती है, तो, उसमें रूपदर्शन की क्रिया उत्पन्न होती है। द्रव्य अन्य है और क्रिया अन्य। विज्ञान से निरपेक्ष रूप में चक्षु रूपदर्शन नहीं करता है और न तो व्यापारवान चक्षु का बिना आश्रय लिए चक्षुर्विज्ञान विषय को जानता ही है। चक्षु एवं चक्षुर्विज्ञान, प्रदीपादि प्रत्ययान्तर के सहयोग से, किसी विद्यमान विषय का प्रत्यक्ष होने में युगपत् सहक्रिया करते हैं। ये सभी चीजें एक ही क्षण में घटित होती हैं। विषय, चक्षु, चक्षुर्विज्ञान एवं प्रदीपादि (अथवा आलोकादि) सभी अपनी शक्ति को अभिव्यक्त करते हैं, अर्थात् ये सभी युगपत् वृत्तिवान होते हैं।²⁴ 'वृत्तिकार' यह भी बतलाते हैं कि यद्यपि 'रूपदर्शन' के अनेक प्रत्यय हैं, तथापि चक्षुप्रत्यय के प्राधान्य के चलते यह कहा जाता है कि चक्षु देखता है। चक्षु का प्राधान्य इस बात से स्पष्ट है कि चक्षु के प्रकर्ष से देखने में प्रकर्ष की प्राप्ति होती है। अतः यह कथन युक्त है कि—“चक्षुः पश्यति, नयनं पश्यति, मनसि तु भक्त्या प्रज्ञावृत्तिरुपचर्यते मनसा पश्यति इति”।²⁵ इस प्रसंग में यह द्रष्टव्य है कि कोशकार 'वसुबन्धु' ने अपने भाष्य में 'वैभाषिकों' के उपर्युक्त मत की समीक्षा करते हुए बतलाया है कि ऊपर जो संदर्भ विशेष प्रस्तुत किया गया है उसमें 'देखने' और 'जानने' में वास्तविक भेद नहीं है, यद्यपि हम जगत में 'चक्षु देखता है', अथवा 'मनस् जानता है', इस प्रकार का प्रयोग पाते हैं। 'वैभाषिक' अपने पक्ष की पुष्टि में 'चक्षुषा रूपाणि दृष्ट्वा' इस सूत्र को उद्धृत करते हैं। इसके प्रति 'कोशकार' की व्याख्या है कि इस सूत्र को शब्दशः नहीं लेना चाहिए। चक्षुरिन्द्रिय वह द्वार है जिसके माध्यम से विज्ञान विषय को देखता है, यद्यपि हम कहते हैं कि 'चक्षु देखता है'। यह भी द्रष्टव्य है कि

'विज्ञान जानता है' इस कथन को भी अभिधार्थ रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि जानने से विलग विज्ञान और कुछ नहीं। ज्ञान न तो ग्रहण करता है और न चक्षु देखता है और न ही विषय अपने को इनके समक्ष प्रस्तुत करता है। क्षणिक होने से सभी धर्म व्यापार में अक्षम हैं, अतः जिसे हम क्रिया कहते हैं वह प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्तानुसार, प्रवाह रूप में विद्यमान होना मात्र है। धर्मों के प्रवाह या स्फुलिंग मात्र से विलग न तो कोई कर्ता है और न कोई क्रिया।²⁶

'त्रयकालवादी वैभाषिक' कर्तृक्रियाभेद मानते हैं, जिसे 'कोशकार' बौद्धमत-विरोधीसिद्धान्त के नाम से अभिहित करते हैं। 'सौत्रान्तिकों' के मुख से इस मत की आलोचना करते हुए यह कहलाया गया है कि 'आकाश को खाने का क्या अभिप्राय है? चक्षु और विषय रूपी प्रत्ययों की अपेक्षा से चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति होती है। यहाँ कौन देखता है और कौन देखा जाता है? सभी धर्म निर्व्यापार एवं हेतुफलमात्र हैं। फिर भी व्यवहार में हम 'चक्षु देखता है' विज्ञान जानता है' आदि प्रयोग पाते हैं। किन्तु इन प्रयोगों को अधिक महत्त्व देने की जरूरत नहीं है। 'भगवान बुद्ध' ने कहा भी है—जनपदनिरुक्तिं नाभिनिवेशेत, संज्ञा च लोकस्य नाभिधावेदेति।²⁷ किन्तु 'काश्मीर वैभाषिक' यह मानते हैं कि 'चक्षु देखता है' 'कान सुनता है' 'नाक सूंघती है', 'रसना स्वाद लेती है', 'देह महसूस करता है' और 'मनस् जानता है'।²⁸

'कारित्र' के खण्डन में 'कोशकार' की टिप्पणियों पर 'दीपकार' का ध्यान गया है और उन्होंने 'कोशकार' के आक्षेप को 'अभिधर्म के अज्ञान का सूचक' और 'अयोगशून्यता की ओर अभिमुख होने वाला' बतलाया है।²⁹ 'अयोगशून्यता' महायान दर्शन के 'वैनाशिक सम्प्रदाय' का मत-विशेष है जो केवल भूत और भविष्य का ही नहीं, अपितु वर्तमान का भी खण्डन करता है। 'दीपकार' 'वैभाषिकों' के अभिमत को 'इन्द्रियों के आधिपत्य' के विवाद के प्रसंग में भी प्रस्तुत कर 'कोशकार' का खण्डन करते हैं और प्रतिपादित करते हैं कि चक्षुरादि पञ्चज्ञानेन्द्रियों का अपने अर्थ के प्रकाशन की क्रिया में आधिपत्य रहता है, जैसे कि चक्षु, मार्ग समतल है या विषम, इसको देखने में समर्थ है। इस प्रसंग में 'वृत्तिकार' प्राचीन आचार्यों का अभिमत उद्धृत करते हैं जिनके अनुसार— "चक्षुरादीनां पञ्चानां प्रत्येकं चतुर्धर्षाधिपत्यम्"³⁰ अर्थात् पञ्चज्ञानेन्द्रियों में से प्रत्येक का निम्नलिखित चार व्यापार पर आधिपत्य होता है— (1) शरीर को सुन्दर बनाने में, (2) अवांछित विषयों से शरीर को अलग खींच लेने में, (3) विषयानुकारीविज्ञान को उत्पन्न करने में और (4) दर्शन, श्रवणादि जैसे व्यापारों का विशेष कारण (प्रत्यय) होने में। इस प्रसंग में यह ध्यानीय है कि 'कोशकार' 'वसुबन्धु' भी प्राचीन आचार्यों का अभिमत उद्धृत कर 'सौत्रान्तिक' दृष्टि से उसकी आलोचना

करते हैं। 'सौत्रान्तिक' यह मानते हैं कि शरीर को खींचकर अलग कर लेने का व्यापार विज्ञान का है, इन्द्रिय का नहीं। दर्शन, श्रवण आदि जैसे व्यापार का, 'सौत्रान्तिकों' के लिए, तादात्म्य है। अतः, इन व्यापारों को इन्द्रियों से सम्बद्ध करना गलत है। 'सौत्रान्तिकों' के अनुसार इन्द्रियों का आधिपत्य अपने-अपने अर्थ की उपलब्धि मात्र में है। यहाँ जो अभिमत सौत्रान्तिकों का कोशकार ने प्रस्तुत किया है, वैभाषिक दीपकार का पक्ष उससे भिन्न नहीं है। 'सौत्रान्तिक' इसे 'स्वार्थोपलब्धि' कहते हैं, जबकि 'वैभाषिक' इसे 'स्वार्थव्यक्ति' कहते हैं।³¹ यही कारण है कि दीपकार, 'कोशकार वसुबन्धु' के अभिमत को (जिसे दीपकार 'सौत्रान्तिक' पक्ष ही मानते हैं) वैभाषिक पक्ष से उधार लिया गया बतलाते हैं और 'कोशकार' को 'पण्डितमानी' की संज्ञा से विभूषित करते हुए लिखते हैं—'कोशकारादयः पुनराहुः :- "स्वार्थोपलब्धावेव चक्षुरादीनां पञ्चचानामाधिपत्यम्। तदेतद् वैभाषिकीयमेव किञ्चिद् गृहीतम्। नात्र किञ्चित् कोशकारकस्य स्वकं दर्शनम्। वैभाषिकैरेव स्वार्थोपलब्धिरुक्तेति।"

बौद्धों के प्रत्यक्षसिद्धान्त के सामने विषय और विज्ञान के मध्य हेतुफल—रूप सम्बन्ध के होने का प्रश्न सर्वाधिक दुष्कर समस्याओं में से एक है। बौद्ध जड़ और चेतन दोनों ही क्षेत्रों में क्षणभंगवादी हैं। उनके लिए सभी धर्मविशेष, स्वलक्षण एवं क्षणिक होते हैं। प्रत्यक्ष में कम से कम तीन चीजें अन्तर्भावित रहती हैं— विषय, इन्द्रिय एवं विज्ञान। सूत्रों में यह कहा गया है कि रूप, विषय और चक्षुप्रत्यय की अपेक्षा से चाक्षुषप्रत्यक्ष का जन्म होता है। चूँकि ये सभी क्षणिक हैं, अतः उनके मध्य किसी सम्बन्ध की स्थापना नहीं की जा सकती। कारणकार्यसम्बन्ध के लिए कालिक क्रम की अपेक्षा होती है, क्योंकि कारण को कार्य का अवश्य ही पूर्ववर्ती होना चाहिए। विषय और विषयज्ञान एक ही समय में उत्पन्न होने वाले नहीं हो सकते, फिर भी, उनमें कारण और कार्य का सम्बन्ध माना जाता है। किन्तु, क्षणिक होने के कारण विषय की सत्ता विषय का ज्ञान होने के पूर्व ही समाप्त हो जाती है। अतः, क्षणिक वस्तु का (बाह्य) प्रत्यक्षीकरण असंभव है, ऐसा आक्षेप किया जाता है। 'द्राष्टान्तिक' इसी कारण, 'वैभाषिकों' के बाह्यप्रत्यक्षवाद पर आक्षेप लगाते हुए कहते हैं - "पञ्चचानां विज्ञानकायानामतीतविषयत्वाद्यदा खलु चक्षुरूपे विद्यते तदा विज्ञानमसत्। यदा विज्ञानं सत्, चक्षुरूपे तदासती, विज्ञानक्षणस्थित्यभावे स्वार्थोपलब्ध्यनुपपत्तेश्च"³²। इन्हीं आक्षेपों के चलते 'सौत्रान्तिकों' ने 'बाह्यप्रत्यक्षवाद' के स्थान पर 'बाह्यानुमेयवाद' को स्वीकार किया।

विषय अपने ज्ञान के लिए सुलभ रहे इसके लिए यह आवश्यक है कि विषय ज्ञान का पूर्ववर्ती होने के साथ ही वह विषयज्ञान के समय भी विद्यमान रहे। किन्तु,

यह स्थिति क्षणभंगवाद के विरुद्ध है। थेरवादी दार्शनिक इस समस्या का समाधान क्षणभंग को आंशिकरूप से स्थगित करके करते हैं। उनके अनुसार उत्पाद, स्थिति और भंग इन तीन क्षणों से एक चित्तक्षण बनता है। ऐसे 17 चित्तक्षणों को 'चित्तवीथि' कहते हैं। किसी विषय का ज्ञान 'चित्तक्षण' के बराबर होता है, अर्थात् एक 'रूपक्षण' 17 चित्तक्षणों के बराबर होता है। अपने प्रथमक्षण (उत्पत्ति क्षण) में ही यह विषय नहीं होता, अपितु द्वितीय चित्तक्षण से ही विषय हो पाता है। इस प्रकार थेरवादी दार्शनिक विषय को ज्ञान का पूर्ववर्ती होने के साथ ही विषयज्ञान तक विषय को बना रहने वाला प्रतिपादित करते हैं, जो कि एक विचक्षण व्याख्या है।¹⁴ थेरवादी विषय और ज्ञान दोनों को क्षणिक कहते हैं, किन्तु विषय के नष्ट होने की गति को सत्रह गुणा कम कर देते हैं और अपनी सहूलियत के लिए सार्वभौम क्षणभंगता की उपेक्षा करके, अतार्किक ढंग से क्षण की दो तरह की व्याख्या करते हैं।¹⁵ 'सम्मितीय' भी थेरवादियों के इस अभिमत के पक्षधर हैं और यह मानते हैं कि चित्त और चैत दोनों ही क्षणिक हैं, किन्तु जड़ पदार्थ कालान्तरस्थायी होता है।¹⁶

'कथावत्थु' में हमें उपर्युक्त दो प्रकार की अनित्यताओं की मान्यता से सम्बन्धित विवाद की प्राप्ति होती है।¹⁷ 'पूर्वसेलिय' और 'अपरसेलिय' मत वाले यह मानते हैं कि चूँकि सभी संस्कृत धर्म अनित्य हैं, अतः उनकी आयु एक चित्तक्षण तक ही होनी चाहिए। सार्वभौम क्षणभंगवाद को स्वीकार कर लेने पर यह मानना तार्किक दृष्टि से असंगत है कि एक चीज नान्तरीयत्वेन नष्ट होती है, जबकि दूसरी कुछ अन्तराल के बाद नष्ट होती है। थेरवादियों का कहना है कि यदि हमारी बात न मानी जाय, तो चक्षुरिन्द्रिय (चक्षु आयतन) और चक्षुर्विज्ञान सहजात हो जायेंगे। साथ ही यह आगम के कथन के विरुद्ध होगा।¹⁸ थेरवादियों का पक्ष निश्चय ही, कारण को कार्य का पूर्ववर्ती सिद्ध करने के चक्कर में, सार्वभौम क्षणभंगवाद के प्रति अन्याय कर बैठता है, जो कि क्षणभंगवाद को समाप्त कर देने जैसा ही कदम है। 'वैभाषिक' इसके विपरीत मार्ग का अनुसरण करते हुए क्षणभंगवाद के प्रति वफादार तो रहता है, किन्तु विषय और उसके ज्ञान को सहभावी मानते हुए भी उनके मध्य कालिक-क्रम (अनुक्रम) को अस्वीकार करता है और मानता है कि रूप, आयतन और विज्ञान के मध्य 'सहभूहेतु' नामक सम्बन्ध होता है। रूप (विषय), आयतन (इन्द्रिय) और विज्ञान तीनों एक साथ ही उदित होते हुए भी उसी प्रकार कारण और कार्य के रूप में क्रिया करते हैं, जैसे कि प्रदीप और उसकी प्रभा।¹⁹ कारण-कार्य-सम्बन्ध के लिए कालिक अनुक्रम अपेक्षित है, इस आक्षेप से 'वैभाषिक' विचलित नहीं होते, क्योंकि उनके अनुसार कारण सम्बन्ध दो के मध्य व्याप्तिसम्बन्ध होने में निहित है। चूँकि रूप (और इन्द्रिय) तथा इसके ज्ञान के मध्य व्याप्तिसम्बन्ध होता है, अतः ये कारण-कार्य के रूप में सम्बन्धित

हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि रूप, आयतन और विज्ञान एक साथ क्रिया करते हैं, तो फिर, विषय के द्वारा ही विज्ञान क्यों रूपायित होता है, चक्षु के द्वारा क्यों नहीं? ज्ञान का स्वरूप 'रूप' के बिना भी रूपायित हो सकता है। इसके उत्तर में 'वैभाषिक' 'सारूप्य' को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि इस सिद्धान्त के अनुसार विषय और विज्ञान के मध्य सारूप्यनामक एक खास प्रकार का सम्बन्ध होता है, जिसके चलते फलरूप ज्ञान नामक जटिल घटना, रंग के ज्ञान के रूप में, न कि चक्षुरिन्द्रिय के रूप में, संभव हो पाती है।⁴⁰

'सौत्रान्तिक' ग्राहक और ग्राह्य के मध्य 'सारूप्यसम्बन्ध' को स्वीकार करते हुए भी प्रदीप और प्रभा के दृष्टान्त की समीक्षा कर यह इंगित करते हुए कि प्रदीप प्रभा का कारण नहीं होता, 'वैभाषिकों' के 'सहभागहेतु' का खंडन करते हैं। उनके लिए प्रदीप और प्रभा दोनों ही भूतक्षण से सम्बद्ध विलग कारण के परिणाम हैं। इस प्रकार, क्षणभंगवाद एवं प्रतीत्यसमुत्पादवाद के असमझौतावादी स्वरूप के चलते यह प्रत्यक्ष विषयक विवाद सुलझ नहीं पाता।

प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रसंग में 'आलम्बन' के स्वरूप को लेकर भी दार्शनिकों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विवाद पाया जाता है। यह वस्तुवाद और विज्ञानवाद के मध्य का विवाद तो है ही, स्वतः यथार्थवाद में भी इसके चलते कई प्रकार हो गये।⁴¹ 'वैभाषिक' और 'सौत्रान्तिकों' में भी इस प्रसंग में विवाद था। आगे चलकर विज्ञानवादियों ने अपने निरालम्बनवाद के लिए 'वैभाषिक' और 'सौत्रान्तिकों' का भी खंडन किया। यहाँ हम 'आलम्बन' को लेकर 'वैभाषिकों' और 'सौत्रान्तिकों' के मध्य हुए विवाद को देखेंगे।

'दीपकार' अपने ग्रंथ में सर्वास्तिवाद के प्रसंग में 'धर्मत्रात', 'घोषक', 'वसुमित्र' एवं 'बुद्धदेव' के क्रमशः भावान्यथात्व, लक्षणान्यथात्व, अवरथान्यथात्व एवं अन्यथान्यथात्व नामक वादों में 'वसुमित्र' के मत को प्रामाणिक बतलाने के बाद त्रिकाल के समर्थन में परम्परया आ रही चार युक्तियों को प्रस्तुत करते हैं - (1) भूत और भविष्यत् धर्मों की सत्यता आगम में कही गयी है, (2) एक अस्तित्ववान् भूतकर्म के बिना कर्मफल की उत्पत्ति नहीं हो सकती, (3) प्रत्यक्ष दो चीजों पर निर्भर है—रूप और आश्रय या आधार, (4) विषय के बिना कोई ज्ञान नहीं हो सकता।⁴² तृतीय तर्क इस सिद्धान्त पर आधारित है कि ज्ञान विषय और आश्रय इन दो पर निर्भर करता है। 'दीपकार' का कहना है कि भूत और भविष्यत् विषयों को अवश्य ही सत्य होना चाहिए, अन्यथा उनसे सम्बन्धित विषयों का ज्ञान नहीं हो सकता। 'सौत्रान्तिकों' का इस पर आक्षेप है कि यदि ज्ञान के सभी विषय सत्य हों, तो, पुद्गल एवं शशशृंगादि जैसी अवास्तविक चीजें भी सत्य हो जायेंगी, क्योंकि वे भी हमारे ज्ञान की विषय बनती हैं।

‘दीपकार’ का इस आक्षेप पर प्रत्युत्तर है कि हमें स्कन्ध आयतन अथवा धातु जैसे परमार्थसत् और पुद्गल जैसे संवृतिसत् के मध्य अवश्य भेद करना चाहिए। जब हम ‘वैभाषिक’ यह मानते हैं कि सभी वस्तुएं सत्य हैं और अस्तित्ववान भी, तो हमारे मनस् में परमार्थसत् और संवृतिसत् का भेद रहता है।⁴³ ‘दीपकार’ अपने को बुद्ध के मध्यमार्ग का अनुयायी कहते हैं और पुद्गलशून्यता को दो अतियों के बीच का मार्ग बतलाते हैं। ‘दीपकार’ धर्मों को शून्य बतलाने के प्रसंग में यह भी इंगित करते हैं कि वे पुद्गल, आलयविज्ञान और ‘अभूतपरिकल्प’ से शून्य हैं। इस बात से स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में विज्ञानवाद ही सर्वास्तिवाद का वास्तविक प्रतिद्वन्दी है, भले ही ‘सौत्रान्तिक कोशकार’ ने ही सर्वास्तिवाद के सिद्धान्तों पर प्रबल आक्रमण किया था। ‘योगाचार विज्ञानवाद’ केवल भूत और भविष्यत् विषयों की सत्यता का ही खण्डन नहीं करता, अपितु ग्राहक और ग्राह्य के मध्य होने वाले विभेद का भी खण्डन करता है। सौत्रान्तिकों के साथ ‘वैभाषिकों’ का विवाद आलंबन को भी लेकर है। वस्तुतः, सौत्रान्तिक असदालंबन नामक अपनी युक्ति का प्रयोग निरालंबन विज्ञान नामक सिद्धान्त की प्रस्तावना के रूप में करते हैं। पंचस्कन्ध और द्वादश आयतन जैसे विषय सत्य हैं और पुद्गल जो एक आरोपण है, संवृतिसत् है। किन्तु, ‘सौत्रान्तिकों’ के विषयों का अखिल विश्व इनके अन्तर्गत सम्मिलित नहीं हो सकता है। हमें छठे स्कन्ध और तेरहवें आयतन अथवा शशश्रृंग के अभाव या प्रतिषेध का भी ज्ञान हो सकता है। इसका अर्थ हुआ कि भाव और अभाव दोनों ज्ञान के विषय हो सकते हैं। चूँकि, अभाव कोई वस्तु नहीं, अतः यह फलित होता है कि आलंबन के बिना भी ज्ञान हो सकता है। अतएव, ‘सौत्रान्तिक’ यह निष्कर्ष निकालते हैं कि भूत और भविष्यत् विषयों की व्याख्या ऐसे ही ज्ञान के रूप में की जानी चाहिए जिनसे संबन्धित आलंबन बाह्य जगत् में नहीं हैं। ‘दीपकार’ ने ‘सौत्रान्तिकों’ की इस युक्ति पर ध्यान दिया है और अभाव के स्वरूप को भी स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि अभाव सत्य अथवा असत्य वस्तुओं का प्रतिषेध नहीं करता। अभाव केवल ज्ञात सम्बन्ध का ही निषेध करता है। अतएव, ‘दीपकार’ के अनुसार यह कहना गलत है कि प्रतिषेध का आलंबन अभाव होता है। अतः, भाव ही ज्ञान का आलंबन है।⁴⁴

प्रत्ययों के प्रसंग में ‘दीपकार’ का अभिमत है कि धर्म पारमार्थिक दृष्टि से सत् हैं और भूत, वर्तमान और भविष्य जैसे प्रत्यय ‘प्रज्ञप्तिरात्’ हैं। अपने इस मत की पुष्टि के लिए ‘दीपकार’ ‘भदन्त कुमारलात’ का भी मत उद्धृत करते हैं—“वातायनप्रविष्टस्यान्तः पार्श्वद्वयेऽपि त्रुटयः सन्ति। रश्मिगतस्य तु दर्शनमस्य त्रुटे रश्मिपार्श्वगास्त्यनुमेयाः। एतेन व्याख्यातं धर्माणामध्वयोर्द्वयोरस्तित्वम्।⁴⁵ ‘कुमारलात’ के इस उद्धरण के चलते ‘सौत्रान्तिक’ अपने पक्ष को संशोधित कर कहते हैं कि वे अतीत और भविष्यत् धर्मों को

पूरी तरह अस्तित्ववान नहीं कहते। भूत और भविष्यत् धर्म द्रव्यात्मना विद्यमान नहीं हैं, हाँ प्रज्ञात्मना तो वे सत् हैं ही। 'दीपकार' 'सौत्रान्तिकों' के इस संशोधित पक्ष का भी खण्डन करते हैं और कहते हैं कि यह पक्ष तभी युक्त हो सकता है यदि यह प्रमाणित किया जा सके कि केवल वर्तमान ही सत्य है और भूत तथा भविष्यत् इसी की अपेक्षा से अस्तित्ववान हैं। प्रज्ञप्तिधर्म परमार्थ धर्म की अपेक्षा के बिना विद्यमान नहीं रहता। वर्तमान की सत्यता के बिना भूत की सत्यता प्रतिपादित नहीं की जा सकती, क्योंकि उस स्थिति में हमें 'असत् से वस्तुओं की उत्पत्ति' को मानना पड़ेगा।⁴⁶

'कोशकार वसुबन्धु' 'वैभाषिकों' की उपर्युक्त मान्यता में यह दोष दिखलाते हैं कि धर्म का अस्तित्व तीन काल में तो होता है, किन्तु इसमें कारित्र, प्रत्ययसामग्री की स्थिति में ही आ पाता है। 'वसुबन्धु' कहते हैं कि यद्यपि प्रत्यय भी धर्म हैं और उन्हें सर्वदा विद्यमान रहने वाला समझना चाहिए, किन्तु इसके चलते यह कहना गलत है कि जब धर्म सक्रिय नहीं रह जाता, वह निष्क्रिय हो जाता है, तो वह भूतकालिक हो जाता है, सक्रिय स्थिति में वर्तमान कालिक और जब कारित्रयुक्त नहीं रहता है, तो भविष्यत्कालिक हो जाता है।⁴⁷ इसके अतिरिक्त 'वसुबन्धु' प्रश्न पूछते हैं कि 'कारित्र' से आपको क्या अभिप्रेत है? क्या 'कारित्र' धर्म से भिन्न है या अभिन्न? यदि, यह अभिन्न है, तो इसकी सर्वदा विद्यमानता होगी और परिणामतः भूत, वर्तमान आदि जैसे कालिक भेद संभव नहीं हो सकेंगे। यदि, 'कारित्र' धर्म से भिन्न हो, तो, यह एक पृथक् धर्म हो जायगा और फलतः, इसके भी विश्लेषण की अपेक्षा होगी। यदि, अपने विश्लेषण के लिए इसे अन्य 'कारित्र' की अपेक्षा हो, तो, इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी। अतः, 'वैभाषिकों' का मत न तो आगम के आधार पर और न तो युक्ति के आधार पर ही स्वीकार्य हो सकता है।⁴⁸ 'दीपकार' 'कोशकार' की उपर्युक्त आलोचना के प्रत्युत्तर में कहते हैं कि 'बुद्ध' के बचन को केवल वैचारिक कल्पना से नहीं समझा जा सकता। कारित्र का लक्षण करते हुए वे लिखते हैं —

वर्तमानाध्वसंपातात् सामग्र्यङ्गपरिग्रहात् ।

लब्धशक्तेः फलाक्षेपः कारित्रमभिधीयते ॥⁴⁹

अर्थात्, "अन्तरंग एवं बहिरंग सामग्रियों की समग्रता से लब्ध शक्ति से सम्पन्न हुए धर्म द्वारा फल के प्रक्षेप को कारित्र या क्रिया कहते हैं।" वैभाषिकों के अनुसार जब कोई भविष्यत् धर्म वर्तमानता की स्थिति को प्राप्त होता है, तो आन्तरिक एवं बाह्य कारणसामग्रियों की समग्रता का परिग्रह होने से उस धर्म में एक शक्ति आ जाती है जो फलरूप में प्रक्षिप्त होती है। इसी फलप्रक्षेप को क्रिया या कारित्र कहते हैं।

यद्यपि, 'दीपकार' कारित्र की परिभाषा देते हैं, तथापि वे 'कोशकार' द्वारा

उठाये गये प्रश्न का उत्तर नहीं देते। 'कोशकार' के आक्षेपों का उत्तर 'संघभद्र' द्वारा दिया गया है।⁵⁰ इस वाद-प्रतिवाद से यह प्रतीत होता है कि कोशकार की आलोचना से 'नव्यवैभाषिकों' ने कारित्र विषयक अपने सिद्धान्त को पर्याप्त मात्रा में संशोधित किया। कोशकार पहले के बौद्ध आचार्यों द्वारा इन्द्रियप्रत्यक्ष के विषय में प्रतिपादित विविध सिद्धान्तों की विवेचना करते हुए बतलाते हैं कि इनमें सबसे प्राचीन सर्वास्तिवादी विचारक 'वसुमित्र' हैं। उनके बाद आते हैं सौत्रान्तिक विचारक 'धर्मत्रात'। इन दोनों के दृष्टिकोणों को 'अभिधर्मकोश' में मुख्य और महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

(छ) - हरिवर्मन् की ज्ञानमीमांसा

'वसुबन्धु' के पहले 'हरिवर्मन्' नाम के आचार्य थे और उन्होंने 'सत्यसिद्धिशारत्र' नामक ग्रन्थ लिखा था। अब यह ग्रन्थ तिब्बती से संस्कृत में अनूदित होकर उपलब्ध है। 'हरिवर्मन्' भूत और भौतिक के मध्य विभेद को अस्वीकार करते हैं एवं रंचमात्र भी विभेद या पृथक्ता के विरोधी हैं। 'अभिधर्मकोशभाष्य' तथा 'विभाषा' में इसे 'बुद्धदेव' का सिद्धान्त बतलाया गया है और 'हेतुबिन्दुटीका' में भी इसे 'सौत्रान्तिकों' का मूलसिद्धान्त बतलाया गया है।⁵¹ 'हरिवर्मन्' पंच इन्द्रियों को मात्र प्रज्ञप्तिस्वत् मानते हैं, वैभाषिकों के समान विलग परमाणु के भौतिक संघात नहीं। 'हरिवर्मन्' के अनुसार इन्द्रियाँ चार भूत तत्त्वों जैसी ही हैं और ये भूत ही चक्षु आदि के आकार वाले हो जाते हैं।⁵²

आचार्य 'हरिवर्मन्' विज्ञानदर्शन (विज्ञान ही दर्शन का एकमात्र ग्राहक है इस) सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं और इस प्रकार इस दृष्टि से आचार्य 'वसुबन्धु' के पहले इस सिद्धान्त का बीजवपन करने वाले माने जा सकते हैं। आचार्य 'हरिवर्मन्' में वे सभी तर्क मिलते हैं जिनका प्रयोग बाद में 'वसुबन्धु' ने किया और दोनों की तुलना से यह स्पष्ट होता है कि 'हरिवर्मन्' की विवेचना और उनके तर्क 'वसुबन्धु' की अपेक्षा अधिक व्यापक और विचक्षण हैं।⁵³ चूँकि, वे 'सौत्रान्तिक' तथा 'युक्त्यनुयायीविज्ञानवाद' की प्रत्यक्षविषयक प्रमाणमीमांसा के प्रथम ज्ञात आचार्य हैं, अतः यहाँ उनके अभिमत पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

सत्यसिद्धिशारत्र (प्रकरण 48) में 'विज्ञानदर्शन' की प्रस्थापना को प्रारम्भ करते हुए वे प्रश्न पूछते हैं—प्रत्यक्ष या दर्शन पर कौन प्रभावकारी होता है, इन्द्रियाँ अथवा उनमें रहने वाला विज्ञान? इस संदर्भ में 'हरिवर्मन्' के समक्ष विरोधी के रूप में 'सर्वास्तिवादी वैभाषिक' हैं, जो इन्द्रियों को प्रभावकारी मानते हैं। 'हरिवर्मन्' का पक्ष है कि यदि, इन्द्रिय ही द्रष्टा हो, तो, सभी वस्तुओं के युगपत् ज्ञान का प्रसंग उपरिस्थित

होगा। इस समस्या से बचने के लिए सर्वास्तिवादी कहते हैं कि इन्द्रिय का कार्य है विषय को प्रकाशित करना और विज्ञान का कार्य है उनको ज्ञात करा देना। इस पर 'हरिवर्मन्' का कहना है कि, तब तो, श्रोतादि इन्द्रियाँ प्रकाश स्वरूप न होने के कारण विषय को प्रकाशित नहीं कर सकेंगी। यह मान भी लें कि इन्द्रियाँ विषय को प्रकाशित करती हैं, तो भी, विषय को ज्ञात करने की शक्ति वाली उन्हें नहीं माना जा सकता। उदाहरणार्थ, प्रदीप समीपस्थ विषयों को प्रकाशित करता है, किन्तु उन्हें कभी जानता नहीं। अतः, हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि वास्तव में ज्ञान करने वाला विज्ञान है और इन्द्रियों का कार्य है विज्ञान की सहायता एवं समर्थन करना।¹⁴ इस पर विरोधी पुनः तर्क करता है कि आगम के 'चक्षुषा रूपाणि दृष्ट्वा' आदि ऐसे अंश हैं जो इन्द्रिय को ही ज्ञाता मानने को आवश्यक बना देते हैं। 'हरिवर्मन्' की इस पर टिप्पणी है कि आगम में इससे अधिक प्रामाणिक "चक्षु करणं द्वारं यावदेव रूपाणां दर्शनाय" इत्यादि अंश हैं जो यह दर्शाते हैं कि इन्द्रियाँ केवल करण के रूप में व्यापार करती हैं, जबकि इनमें रहने वाला विज्ञान ज्ञान की उत्पत्ति में कर्ता का कार्य करता है। अतः, इस सुस्पष्ट अंश के आलोक में 'चक्षुषा रूपाणि दृष्ट्वा' जैसे कथन को अलंकारिक रूप में इस अर्थ का सूचक समझना चाहिए कि चक्षु आश्रय या साधन है और विज्ञान द्रष्टा है। "चक्षुषा प्रियरूपाणि कामयति" जैसे कुछ ऐसे भी कथन हैं जो चक्षु को इच्छावाला बतलाते हैं। किन्तु, तथ्य यह है कि कामना चक्षु की विशेषता नहीं है। इसी प्रकार, लोक में मनुष्य चक्षु को देखने एवं कान को सुनने वाला आदि कहते हैं। 'भगवान् बुद्ध', इन लोगों की परंपरा का अनुसरण करते हुए उसी प्रकार का कथन करते हैं। भगवान् लोकप्रचलन से कभी नहीं झगड़ते। लोक में विशाखा की मृगारवधू को मृगारमाता कहा जाता है। 'भगवान्' भी उसे 'मृगारमाता' कहते हैं।¹⁵ 'हरिवर्मन्' ने लोक व्यवहार में से इस प्रकार के अनेक लाक्षणिक कथनों के दृष्टान्तों को संकलित किया है। इस सारी चर्चा से 'हरिवर्मन्' यह निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं कि एक मात्र विज्ञान ही द्रष्टा है। इन्द्रिय को भी द्रष्टा इसलिए कह दिया जाता है, क्योंकि इन्द्रियाँ विज्ञान से आश्रय-रूप में सम्बद्ध हैं।

विरोधियों द्वारा यह प्रश्न उठाये जाने पर कि यदि इन्द्रिय ज्ञाता न हो, तो, 'चक्षुर्विज्ञानम्' जैसे कथन की व्याख्या कैसे होगी, 'हरिवर्मन्' उत्तर देते हैं कि यद्यपि, इन्द्रिय और विषय अपने-अपने ज्ञानोदय में समान रूप से महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, किन्तु आश्रय होने के रूप में इन्द्रियों का, ग्राहक विज्ञान के लिए, विषय की अपेक्षा अधिक महत्त्व है। इन्द्रियाँ 'आश्रयहेतु' हैं, जबकि विषय 'आलम्बनप्रत्यय', अतः विषय और इन्द्रिय को एक स्तर पर नहीं रखा जा सकता। चूँकि, ज्ञानोदय में इन्द्रियाँ अधिक सक्रिय भूमिका अदा करती हैं, इसी कारण लोक में लोग इन्द्रियों से ज्ञान को सम्बन्धित

कर 'चक्षुर्विज्ञानम्' आदि कहते हैं। 'हरिवर्मन्' एक अन्य दृष्टान्त द्वारा उपर्युक्त स्थिति को और स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि छड़ी द्वारा प्रताड़ित होने पर ढोल से होने वाली ध्वनि केवल ढोल का ही परिणाम, फल या कार्य नहीं, अपितु छड़ी और उसके प्रताड़ित करने की क्रिया का भी फल है। फिर भी, लोक में इसे 'भेरीशब्द' कहा जाता है। इसी प्रकार की स्थिति 'यवांकुर' की भी है।⁵⁶

उपर्युक्त विवेचनोपरान्त 'हरिवर्मन्' इस बात की विवेचना करते हैं कि क्या विज्ञान अति सन्निकटता की स्थिति में ज्ञान करता है या अन्य स्थिति में? उनका अपना पक्ष है कि चाक्षुष, श्रोत एवं मनस्सुनिर्मित विज्ञान विषय के साथ अतिसन्निकटता वाले नहीं हैं, जबकि अन्य तीन घ्राण, गन्ध एवं स्पर्श के लिए सन्निकट विषय अपेक्षित है।⁵⁷ इस प्रसंग में यह द्रष्टव्य है कि 'वैशेषिक' यह मानते हैं कि जब चक्षु के साथ विषय का सन्निकर्ष होता है, तो चाक्षुषज्ञान होता है। 'न्याय-वैशेषिक' का पक्ष है कि चक्षु से रश्मि निकल कर ज्ञेय विषय तक जाती है और उसे प्राप्त कर लौट आती है। इसी लिए, चक्षु को 'प्राप्यकारी' कहा गया है। चक्षुर्विज्ञान सन्निकट विषय का ही होता है ऐसा मानने वालों की युक्ति है कि यदि, दूरवर्ती विषयों का भी चाक्षुषज्ञान माना जाय, तो, एक ही निपात में चक्षु को जगत् की संपूर्ण वस्तुओं का ज्ञान होने लगेगा। 'हरिवर्मन्' इन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए कहते हैं कि उनके पक्ष में उपर्युक्त दोष को दिखलाया नहीं जा सकता, क्योंकि, आगम में यह नियम निर्धारित किया गया है कि निम्नलिखित तीन अवस्थाओं का भाव होने पर ही चाक्षुष ज्ञान होता है—(क) चक्षु दोषरहित हो, (ख) विषय आभासगत हो (देखने की सीमा के अन्तर्गत हो), (ग) ध्यान विषय की ओर हो। इन तीन अवस्थाओं में से किसी एक का भाव न होने की स्थिति में 'चाक्षुषज्ञान' उत्पन्न नहीं हो सकता।⁵⁸

'हरिवर्मन्' आगमवचन के आधार पर यह स्थापित करते हैं कि विचार अनुक्रमव्यवस्था का अनुसरण करता है और कभी युगपत् रूप में व्यापार नहीं करता। इससे यह प्रतिफलित होता है कि सर्वास्तिवादियों का सम्प्रयोग-सिद्धान्त समर्थनीय नहीं है। अन्ततः, 'हरिवर्मन्' प्रत्यक्ष के प्रसंग में सबसे महत्वपूर्ण बात यह बतलाते हैं कि प्रत्येक इन्द्रियविज्ञान अपने प्रथमक्षण में पूर्णतया शुद्ध और हर एक प्रकार के विकल्प से रहित होता है। इसके विपरीत, सर्वास्तिवादी यह मानते हैं कि विज्ञान के प्रत्येक क्षण में 'वितर्क' सर्वदा विद्यमान रहता है, अतः, निर्विकल्पक ज्ञान का अर्थ है 'वितर्क' से अन्य विकल्पों से स्वतन्त्र या रहित ज्ञान। इसे 'स्वभावविकल्प' भी कहा गया है। बाद में 'वसुबन्धु' ने भी 'सर्वास्तिवादियों' के इस अभिमत की आलोचना की। इस प्रकार 'हरिवर्मन्' का महत्त्व इस दृष्टि से अत्यन्त बढ़ जाता है, क्योंकि, बौद्ध

आचार्यों में प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक ही होने के सिद्धान्त की घोषणा करने वाले वे सबसे पहले व्यक्ति हैं।⁵⁹ बाद में 'दिग्नाग' और उनके सम्प्रदाय में इसकी विस्तार से विवेचना हुई।

(ज) - दिग्नागोत्तर न्याय-साहित्य का संक्षिप्त पर्यालोकन

यह सुज्ञात तथ्य है कि दिग्नाग के पूर्व न्यायसूत्र, न्यायभाष्य, वैशेषिक-सूत्र, रावणभाष्य, भारद्वाजवृत्ति, मीमांसासूत्र एवं भाष्य, वेदान्तसूत्र आदि विद्यमान थे। दिग्नाग के ही समकालिक आचार्य प्रशस्तपाद का ग्रन्थ है। हम यह भी देख चुके हैं कि आचार्य 'हरिवर्मन्' भी प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक मानते हैं। इसी प्रकार आस्तिकों में भी 'वार्षगण्य' एवं आचार्य 'विन्ध्यवासिन्' हैं जो 'श्रोत्रादि वृत्तिः प्रत्यक्षम्' का सिद्धान्त मानते थे, किन्तु, इसका शास्त्रीय रूप से व्यवस्थित विवेचन 'दिग्नाग' में ही मिलता है।

दिग्नाग (345-425):— कांची के समीप सिंहवक्त्र के ब्राह्मण कुल में जन्मे, तथा वात्सीपुत्रीय नागदत्त से हीनयान में दीक्षित और बाद में महायान को अपना लेने वाले वसुबन्धु के शिष्य दिग्नाग के 8 ग्रन्थ माने जाते हैं। (1) प्रमाणसमुच्चय, (2) प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, (3) हेतुचक्रसमर्थन, (4) न्यायद्वार (5) न्यायमुख, (6) आलंबनपरीक्षा, (7) आलंबनपरीक्षावृत्ति और (8) त्रिकालपरीक्षा। इनमें से कोई भी ग्रन्थ संस्कृत में सुलभ नहीं है। (प्रमाणसमुच्चय के प्रत्यक्ष खण्ड को वृत्ति के साथ तथा आलंबनपरीक्षा को तिब्बती से संस्कृत में अय्यास्वामी ने पुनरुद्धार करके मैसूर से प्रकाशित किया है)। जैन ग्रन्थ 'द्वादशारनयचक्र' के 'भोटपरिशिष्ट' में मुनि जम्बुविजय ने प्रत्यक्ष परिच्छेद, तथा अनुमान परिच्छेद की विभिन्न कारिकाएँ एवं वृत्ति को विभिन्न स्रोतों से उपस्थित किया है और यथावसर तिब्बती से संस्कृत में अनुवाद किया है। उस स्थल पर जो टिप्पणियाँ हैं वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इस ग्रन्थ से बहुत अधिक सहायता लेकर एम० हतोरी महोदय ने दो तिब्बती टीकाओं का सम्पादन कर 'दिग्नाग ऑन परसेप्शन' नामक ग्रन्थ लिखा है जो 'हावर्ड' से प्रकाशित हुआ है। यह भी दिग्नाग के प्रमाणसमुच्चय के प्रथम परिच्छेद का अंग्रेजी अनुवाद है। इस पर उनकी विस्तृत एवं गवेषणा पूर्ण पादटिप्पणियाँ, जो बड़े श्रम से लिखी गयी हैं, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। प्रमाणसमुच्चय पर 'जिनेन्द्रबुद्धि' की टीका भी थी, जो अब तिब्बती में है।

'शंकर स्वामिन्' (5वीं 6वीं शती) का एक ग्रन्थ है 'न्यायप्रवेश'। डाक्टर, ए० बी० ध्रुव ने जी, ओ० सी० (सं० 38) में इसे संपादित किया है और प्रस्तावना भी लिखी है। इस ग्रन्थ में 'हरिभद्र' की 'न्यायप्रवेशवृत्ति' एवं 'पार्श्वदेव' की 'पंजिका' भी संस्कृत में प्रकाशित है।

‘प्रमाणसमुच्चय’ में ‘दिग्नाग’ ने, वसुबन्धु की ‘वादविधि’ की परीक्षा के अनन्तर ‘वैशेषिक’, ‘न्याय’, ‘सांख्य’ एवं ‘मीमांसा’ के प्रत्यक्षविषयक मत का खण्डन किया है। उसका उत्तर ‘न्याय’ की ओर से 6ठी शताब्दी में ‘उदद्योतकर’ ने अपने ‘न्यायवार्तिक’ में दिया और ‘दिग्नाग’ के मत का खण्डन कर स्वमत की पुष्टि की। 7वीं शती में एक अन्य महान् आस्तिक आचार्य ‘कुमारिल’ ने भी बड़े विस्तार से बौद्धमत का खण्डन किया। इनके थोड़े समय बाद ‘प्रभाकर’ ने अपनी ‘वृहती’ की रचना की। इन आस्तिक प्रहारों से बौद्ध दर्शन रूपी सूर्य पर आक्षेप रूपी बादलों की छाया को अपनी आश्चर्यकारी विद्वता से दूर करने हेतु ‘धर्मकीर्ति’ का (620-690) आविर्भाव हुआ। इनके ग्रन्थ हैं — (1) ‘प्रमाणवार्तिक’, स्वार्थानुमान पर स्ववृत्ति सहित, (2) प्रमाणविनिश्चय, (3) न्यायबिन्दु, (4) हेतुबिन्दु, (5) वादन्याय, (6) संतानान्तरसिद्धि (7) सम्बन्धपरीक्षा। प्रमाणविनिश्चय एवं संतानान्तरसिद्धि को छोड़कर अन्य ग्रन्थ संस्कृत में उपलब्ध हो गये हैं। ‘प्रमाणविनिश्चय’ एवं संतानान्तरसिद्धि तिब्बती में सुलभ हैं।

‘प्रमाणवार्तिक’ धर्मकीर्ति का सबसे महत्त्वपूर्ण एवं बड़ा ग्रन्थ है। इस पर टीकाओं की बड़ी लम्बी पीढ़ी है।⁶⁰ इसके स्वार्थानुमान की स्ववृत्ति पर ‘कर्णगोमिन्’ की टीका है, जो संस्कृत में उपलब्ध है।

‘प्रमाणवार्तिक’ के स्वार्थानुमान परिच्छेद को छोड़कर शेष तीन परिच्छेदों पर आचार्य ‘प्रज्ञाकर’ का ‘अलंकारभाष्य’ संस्कृत में राहुल जी द्वारा संपादित होकर 1953 में पटना से प्रकाशित हुआ।

‘प्रमाणवार्तिक’ के चारो परिच्छेदों पर ‘मनोरथनन्दि’ की वृत्ति भी सुलभ है। पहले राहुल जी ने इसे प्रकाशित किया था, बाद में ‘बौद्ध भारती, वाराणसी’, से यह प्रकाशित हुआ। ‘प्रमाणविनिश्चय’ पर ‘धर्मोत्तर’ की टीका केवल तिब्बती में है।

‘न्यायबिन्दु’ पर दो टीकायें सुलभ हैं— (1) ‘विनीतदेव’ की टीका— यह तिब्बती से संस्कृत में अनुवादित होकर कलकत्ता से 1971 में प्रकाशित हुई है। (2) ‘धर्मोत्तर’ की टीका— यह सुलभ टीकाओं में सबसे विस्तृत और महत्त्वपूर्ण है। अब यह ‘दुर्वेक मिश्र’ जी के ‘प्रदीप’ सहित मालवणिया द्वारा संपादित होकर पटना से प्रकाशित हुई है। ‘धर्मोत्तर’ की टीका पर ‘टिप्पणी’ नामक एक उपटीका को श्वेदरत्नस्की महोदय ने भी संस्कृत में प्रकाशित किया था।

‘हेतुबिन्दु’ पर ‘अर्चट’ की टीका और उस पर ‘दुर्वेक’ का ‘आलोक’ पण्डित सुखलाल संधवी द्वारा जी०ओ०एस० से संस्कृत में प्रकाशित है।

'शांतिरक्षित' एवं 'कमलशील', जो निराकारविज्ञानवादी हैं, का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं, 'तत्त्वसंग्रहपंजिका'। पहले जी०ओ०एस० से एवं बाद में बौद्धभारती से इसका प्रकाशन हुआ है।

'जितारि' का 'हेतुतत्त्वोपदेश' भी तिब्बती से अनूदित होकर संस्कृत में उपलब्ध है।

10वीं-11वीं शती में दो महान बौद्ध आचार्य हुए - (1) 'ज्ञानश्रीमित्र' एवं 'रत्नकीर्ति'। इनकी रचनाएं जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पटना से 'ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलि' एवं 'रत्नकीर्तिनिबन्धावलि' के नाम से प्रकाशित हैं। सबसे अन्तिम लघुकाय रचना 'मोक्षाकर गुप्त' की 'तर्कभाषा' है।

दिग्नाग-सम्प्रदाय का जिन आस्तिक आचार्यों से शास्त्रार्थ हुआ उनमें 'उद्घोतकर', 'कुमारिलभट्ट', प्रभाकर, 'वाचस्पति मिश्र', 'जयन्त भट्ट', 'भासर्वज्ञ', 'उदयन', 'श्रीधर', 'व्योमशिव' आदि प्रमुख हैं। जैन दार्शनिक भी बाद को इस शास्त्रार्थ में सम्मिलित हुए जिनमें 'मल्लवादि', 'अकलंक', 'विद्यानन्द', 'माणिक्यनन्दी', 'वादिराज', 'प्रभाचन्द्र', 'अनन्तवीर्य', 'वादिदेवसूरि' एवं 'हेमचन्द्र' प्रमुख हैं।

प्रमाण

'प्रमाण', शब्द 'मा' धातु से बना है जिसका अर्थ है जानना या मापना। अतः, 'प्र' उपसर्ग के साथ 'मा' धातु से बना 'प्रमा' शब्द 'प्रकृष्ट ज्ञान' का बोधक है। इसलिए 'प्रमा' को यथार्थ ज्ञान कहा जाता है। 'ल्युट्' प्रत्यय के कारण 'प्रमा' के करण दो प्रमाण कहते हैं, यह विवेचना की जाती है और 'भावे ल्युट्', इस सूत्र के कारण सम्यग्ज्ञान के अर्थ में भी 'प्रमाण' शब्द की व्युत्पत्ति उपपन्न होती है।¹ इसी कारण, बौद्धों में प्रमाण को ज्ञान माना जाता है।

प्रमा के करण को 'प्रमाण' कहते हैं, यह बात सभी दार्शनिक सम्प्रदायों को मान्य है, किन्तु दार्शनिक सम्प्रदायों में मतभेद इस बात को लेकर है कि यथार्थज्ञान का करण ज्ञान होता है, अथवा सन्निकर्षादि। बौद्ध दार्शनिक ज्ञान को ही प्रमा का करण मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार जो जिससे स्वरूपतः भिन्न है, वह उसका साधकतम कारण नहीं हो सकता। फलतः, प्रमा का करण ज्ञानभिन्न सन्निकर्षादि नहीं हो सकते। प्रमाण का कार्य है अज्ञाननिवृत्ति और यह ज्ञान के ही द्वारा संभव है, अज्ञानरूप सन्निकर्ष, इन्द्रियवृत्ति, कारकसाकल्यादि के द्वारा नहीं; जैसे, अन्धकार की निवृत्ति प्रकाश के द्वारा ही हो सकती है, अप्रकाशरूप घटादि के द्वारा नहीं।²

ऐतिहासिक दृष्टि से दार्शनिक परंपरा में सर्वप्रथम 'कणाद' ने 'निर्दोषज्ञान को विद्या' या प्रमाण कहकर प्रमाण का सामान्य लक्षण दिया।³ उसके बाद 'वात्स्यायन' और अन्य लोगों का स्थान आता है।⁴ बौद्धों में दिग्नाग ने सर्वप्रथम इसकी चर्चा की है और विषयाकार अर्थनिश्चय और स्वसंवित्ति को प्रमाणफल कहकर उन्हें ही प्रमाण माना है।⁵ किन्तु, बौद्ध दर्शन में इसे शास्त्रीय रूप 'धर्मकीर्ति' ने प्रदान किया और उनके टीकाकारों ने इसकी विशद विवेचना की। 'शांतरक्षित' 'सारूप्य और योग्यता' को प्रमाण कहते हैं, जो कि 'धर्मकीर्ति' के ही लक्षण का पर्यवसितार्थ है।⁶ सबसे अर्वाचीन बौद्ध नैयायिक 'मोक्षाकरगुप्त' सभी लक्षणों का समाहार करते हुए 'प्रमाणं सम्यग्ज्ञानमपूर्वगोचरम्' ऐसा कहते हैं। यथासमय इसी अध्याय में आगे हम इन सबकी विवेचना करेंगे।

यह भी द्रष्टव्य है कि प्रमाण का लक्षण विधिरूप हो या निषेधरूप, इस प्रसंग में बौद्ध प्रमाण का निषेधात्मक लक्षण देते हैं, क्योंकि वे व्यावृत्तिनिबन्धनवादी हैं।⁷ यही कारण है कि 'धर्मकीर्ति' के ग्रन्थों में प्रमाण का जो सर्वाधिक मान्य लक्षण है — 'प्रमाणं

अविसंवादिज्ञानम्—वह भी निषेधरूप है।

प्रमाण के दो लक्षण 'धर्मकीर्ति' के ग्रन्थों में मिलते हैं— (1) 'प्रमाणं अविसंवादिज्ञानम्' तथा (2) 'अज्ञातार्थप्रकाशो वा'। 'प्रज्ञाकर' प्रथम को 'व्यावहारिक प्रमाण' का लक्षण तथा द्वितीय को 'पारमार्थिक प्रमाण' का लक्षण कहते हैं।⁸ परन्तु 'धर्मोत्तरादि' ऐसा नहीं करते और 'अज्ञातार्थप्रकाशो' को 'अनधिगतविषयं प्रमाणम्'⁹ के अर्थ में लेकर 'व्यावहारिक प्रमाण' के लक्षण में — अर्थात् 'अविसंवादकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्' की विवेचना में — ही इसका निरूपण करते हैं और 'मनोरथनन्दि' 'अज्ञातार्थप्रकाश', और 'अविसंवादकत्व' के समुदित रूप को प्रमाण का लक्षण मानना वांछनीय समझते हैं।¹⁰

प्रमाण का स्वरूप

आचार्य धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक में कहते हैं — 'अविसंवादिज्ञान प्रमाण है। अर्थ (दाहपाकादिरूप प्रयोजन) की क्रिया (निष्पत्ति) की स्थिति (अविचलता या व्यवस्था) को अविसंवादन कहते हैं। शब्दज्ञान में भी प्रमाणता इसलिए मानी जाती है कि उसमें वक्ता के अभिप्राय का प्रकाशन होता है। वक्ता की विवक्षा के विषयीभूत जो अर्थ (पदार्थ) श्रोता की बुद्धि में प्रकाशित होते हैं, शब्द को उन्हीं का प्रमाण माना जाता है; शब्द अर्थतत्त्व का प्रतिपादक नहीं होता। 'स एवायम्' रूप ज्ञान प्रमाण नहीं, क्योंकि वह पूर्वगृहीत का ग्राहक है और (वह एकत्वग्राही ज्ञान) सांवृत है। हमें केवल धी (ज्ञान) की प्रमाणता अभीष्ट है (इन्द्रिय सन्निकर्षादि की नहीं), क्योंकि उपादेय विषय के प्रवर्तन एवं हेय विषय के निवर्तन में ज्ञान की ही प्रधानता रहती है। ज्ञान में जो विषयाकार उद्भूत होते हैं उसके कारण ही अर्थप्रतीति या सम्यक्त्व का भेद तथा उसके भावाभाव पर सम्यक्त्व का भावाभाव निर्भर होता है। प्रत्येक ज्ञान को केवल अपने स्वरूप का ही प्रत्यक्ष होता है, (प्रामाण्य का नहीं)। प्रामाण्य का ज्ञान व्यवहार के द्वारा (व्यवहार की कसौटी पर खरा उतरने के आधार पर) होता है। अथवा, अज्ञात अर्थ का प्रकाश (ज्ञान) प्रमाण है। तब सामान्य ग्राहक अनुमान (एवं शुक्तिरज्जतादि ज्ञानों) में भी प्रमाणता आ जायेगी। ऐसा नहीं है, क्योंकि 'अगृहीत अर्थ का ग्राहक ज्ञान प्रमाण है' मात्र इतना ही प्रमाण का लक्षण नहीं। प्रमाण का पूरा लक्षण है — 'अगृहीत स्वलक्षणविषयक ज्ञान प्रमाण है'। हम बौद्धों के प्रमाणशास्त्र में स्वलक्षण पर विशेष रूप से विचार किया जाता है, क्योंकि अर्थक्रियाकारिता की स्थिति स्वलक्षण में ही होती है। (प्र०वा०, प्रमाणपरिच्छेद, 3-8)।

यदि हम प्रमाणवार्तिक के कथनों पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जायेगा कि प्रमाण-लक्षण से सीधे तौर से सम्बन्धित 6 वाक्य निम्नप्रकार से हैं — (1) "अविसंवादी

ज्ञान प्रमाण है"। "अर्थक्रियास्थिति को अविसंवादन कहते हैं"। (2) "गृहीत का ग्राही होने से 'स एवायं' रूप ज्ञान) प्रमाण नहीं (और साथ ही वह) सांवृत है"। (3) 'ज्ञान की ही प्रमाणता है, क्योंकि उपादेय विषय में प्रवर्तन तथा हेय विषय से निवर्तन में उसी की प्रधानता है, साथ ही (4) "ज्ञान में जो विषयाकार उद्भूत होते हैं उसके कारण अर्थप्रतीति या सम्यक्त्व का भेद तथा उसके भावाभाव पर सम्यक्त्व, या प्रमात्व का भावाभाव निर्भर करता है"। (5) "प्रत्येक ज्ञान को केवल स्वरूप का ही प्रत्यक्ष होता है" (प्रामाण्य का नहीं), (6) अथवा "अज्ञात अर्थ का ज्ञान प्रमाण है"।

प्रथम कथन के संदर्भ में ध्यातव्य है कि भावव्युत्पत्ति के अनुसार विसंवाद का अर्थ है वंचन। इस अर्थ में अविसंवादी का अर्थ होगा अपने प्रतीयमान विषय का अन्य काल में भी त्याग न करने वाला। इसी अर्थ को ध्यान में रखकर बौद्ध 'अर्थक्रियास्थिति' को अविसंवादन कहते हैं। अर्थ, क्रिया एवं स्थिति के सम्मिलित रूप अर्थक्रियास्थिति का अर्थ होगा दाह, पाक आदि का अव्यभिचार; अर्थात् जिसकी इच्छा कर व्यक्ति अग्नि आदि विषयों या वस्तुओं (अर्थों) को लेता है, उन दाह, पाकादि प्रयोजनों (फलों) का उस अर्थ (अग्नि) से व्यभिचरित न होना। अतः अर्थक्रियास्थिति का तात्पर्य है अग्नि आदि से उद्भूत होने वाले दाहपाकादि प्रयोजन का अविघ्न या अविचल होना, अथवा प्रमाणान्तर से व्यभिचरित न होना।

'अविसंवादिज्ञान प्रमाण है। अर्थक्रियास्थिति को अविसंवादन कहते हैं।" आचार्य 'प्रज्ञाकर' इसकी विवेचना करते हुए लिखते हैं—'प्रमाण के अधीन ही प्रमेयाधिगम होता है। जिसके द्वारा प्रमा होती है उसे प्रमाण कहते हैं। ज्ञान ही प्रमाण है, क्योंकि ज्ञान के द्वारा ही प्रमिति की सिद्धि होती है। किन्तु सभी ज्ञान प्रमाण नहीं हैं। प्रमाण अविसंवादी ज्ञान को कहते हैं। अविसंवाद का अर्थ है विसंवाद से विविक्त ज्ञान'। विसंवाद विपर्यय (मिथ्या प्रत्यय) को कहते हैं जो इन्द्रिय, अर्थ तथा उनके संयोगादि में होता है। विपर्यय या विसंवाद दो प्रकार का होता है—विषयविपर्यय एवं ज्ञानविपर्यय। प्रमाण के लक्षण में जिस विसंवाद के न होने की बात की जाती है वह विषयगत विपर्यय की है। यह द्रष्टव्य है कि उपलब्धिसाधनभूत जिस ज्ञान को प्रमाण कहा जाता है, 'अविसंवादित्व' उसका स्वरूप नहीं है, क्योंकि वैसा होने पर प्रमाण की परीक्षा की कोई आवश्यकता नहीं रहती। इसी कारण, बौद्ध यह मानते हैं कि ज्ञान का जो स्वरूप है वही ज्ञान का प्रामाण्य नहीं है, अथवा उसका संवादित्व नहीं है। अतः ज्ञान के स्वरूप मात्र से अवगत हो जाने पर 'यह प्रमाण है' ऐसा नहीं होता, अपितु अर्थक्रियास्थिति को अविसंवादन कहते हैं। ज्ञान प्रमाण है, इसका अर्थ हुआ कि वह ज्ञान दाहपाकादि रूप अर्थ की निष्पत्ति की अविचलता, अविसंवादिता, अथवा व्यवस्था है। ऐसी



अर्थक्रिया, ज्ञान में तात्कालिक नहीं होती, अपितु भाविनी होती है। अतएव, ज्ञान और उसकी अर्थक्रिया का सम्बन्ध ज्ञान के स्वरूप के ज्ञान से ज्ञात नहीं होता, क्योंकि, द्विष्टसम्बन्ध की संवित्ति एक के रूप का वेदन कर लेने पर नहीं होती, अपितु, दोनों के स्वरूप का ग्रहण होने पर ही सम्बन्ध की वेदना होती है।¹²

प्रश्न है कि यदि अर्थक्रियाधिगमपूर्वक ज्ञान प्रमाण होता है, तो अर्थक्रिया प्रमाण है या अप्रमाण? यदि वह अप्रमाण है, तो इसका अर्थ हुआ कि वह अप्रमाणेन प्रमाण है। फलतः, उसके—उसके बाद की व्यवस्था में 'अर्थक्रियाधिगम' को खोजना होगा, और इस प्रकार अनवस्था की प्राप्ति होगी। 'प्रज्ञाकर' का उत्तर है कि अर्थक्रियारिथिति को अविस्वादन कहते हैं, ऐसा कथन सामान्य रूप से किया गया है। मीमांसकादि विरोधियों का आग्रह है कि दाहपाकादि की यह अर्थक्रिया तो स्वप्न में भी होती है और पीतशंखादि ज्ञान में भी। शब्द विषयक ज्ञान में तो दाहपाकादि की यह अर्थक्रिया न स्वतः होती है और न परतः, क्योंकि, उसमें अर्थक्रिया का अभाव रहता है। अतः अबाधितबोध को प्रमाण मानना युक्त है। 'प्रज्ञाकर' इस पक्ष को उचित नहीं मानते, क्योंकि अबाधितबोध के कारण यदि प्रमाण की बात की जाय, तब तो स्वप्नादिज्ञान को भी प्रमाण मानना पड़ेगा। यदि कहा जाय कि, चूँकि, स्वप्नज्ञान जाग्रत ज्ञान से बाधित हो जाता है, अतएव उपर्युक्त आक्षेप मीमांसकादि पर नहीं लग सकता, तो 'प्रज्ञाकर' का प्रश्न है कि बाध्यमानता से आपको क्या अभीष्ट है? यदि आपको यह अभीष्ट हो कि अन्य ज्ञानद्वारा विषयभाव का ज्ञापन बाध है, तो अपने अर्थ में प्रवृत्त होने के अज्ञान के अभाव को आप कैसे ज्ञापित कर सकेंगे? स्वप्नज्ञान अथवा अन्यज्ञान का अभाव, किसी अन्य ज्ञान के द्वारा नहीं किया जाता, क्योंकि, ज्ञानकाल में उसका स्वयं ही नाश हो जाता है। पुनश्च, अक्षनिमीलन के कारण नष्ट ज्ञान में बाध्यता की प्रतीति नहीं होती है। यदि कहा जाय कि ज्ञान के द्वारा नहीं, अपितु अन्य के द्वारा उसके विषय का अपहार अथवा विषय की असत्ता का ज्ञापन बाध का लक्षण है, तो हम उसका निषेध करते हैं। जो अपने विषय में प्रवृत्त है वह अन्यविषय का अपहार नहीं कर सकता। अपने विषय का साधन होना ज्ञान का धर्म है, पर विषय का अपहरण ज्ञान का धर्म नहीं है। अतः, जहाँ पर अपने द्वारा, अथवा अन्य के द्वारा अर्थक्रियोदय ज्ञात नहीं होता है वह अप्रमाण है।¹³ स्वप्नास्वप्न का भेद तत्त्वतः नहीं है, अपितु मात्र व्यावहारिक है। हम बौद्ध प्रमाणाप्रमाण के भेद को भी व्यावहारिक मानते हैं। प्रमाण में अविस्वादन रूप जिस अर्थक्रिया को हम कहते हैं वह अविचल व्यवस्था के अभाव में नहीं होती। स्वप्न में जो अर्थक्रिया होती है वह भावनामात्रक होती है और उसमें परितोष नहीं होता।¹⁴

विरोधियों का तर्क है कि प्रमाण में स्वरूपसंवेदन से अन्य अर्थक्रियाज्ञान की प्राप्ति कहीं पर भी नहीं होती। रूपादि भी स्वरूपसंवेदनपरक ही हैं। तद्विषयक प्रत्यय अन्य स्थान पर प्रमाण नहीं होता। वह स्वरूपसंवेदनमात्रक होता है और यह बात ज्ञान में सभी जगह समानरूप से पायी जाती है। ऐसी स्थिति में 'सांख्यवहारिक प्रमाण' का अवतार नहीं हो पाता। प्रज्ञाकर का उत्तर है कि प्रमाण और अप्रमाण का अन्वेषण करने वाले भाव्यर्थ विषय (विषयान्तर गोचर) को ही चाहते हैं। हम व्यवहार का अवबोध करने वालों के अध्यारोप से उनके प्रमाण की बात करते हैं। जिस प्रकार स्पर्शादि जैसे विषय अपने से भिन्न रूपादिविषय के अन्तर्गत नहीं आते, उसी प्रकार, परमार्थतः भाव्यर्थ की भी स्थिति है। अध्यारोप के द्वारा भावीरूप और विषयान्तर की भी एकता को हम मानते हैं और उसी के द्वारा ज्ञान में संवादन की बात कही गयी है।¹⁵

द्वितीय कथन, प्रत्यभिज्ञाज्ञान की अप्रमाणता तथा व्यावहारिकतया प्रमाणता के प्रतिपादनार्थ है। प्रज्ञाकर कहते हैं कि यह आशंका की जा सकती है कि यदि अर्थक्रियास्थिति अविसंवादन है, तो चूँकि 'स एवायम्' रूप ज्ञान से प्रवर्तित पुरुष भी स्वप्रवृत्तिसाफल्य का लाभ करता है अतः प्रमाण होगा। साथ ही वह ज्ञान भी अगृहीतार्थविषयक, बाधवर्जित एवं अदुष्टकारणजन्य होता है, फलतः लोक उसे प्रमाण मानता है। प्रज्ञाकर समाधान रूप में कहते हैं कि 'स एवायम्' रूप प्रत्यभिज्ञा में एक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। वहाँ दो ज्ञान रहते हैं — 'अयंघटः' रूप प्रत्यक्ष ज्ञान और 'सः' रूप स्मृतिज्ञान। पुनश्च, प्रत्यभिज्ञाज्ञान में पूर्व एवं बाद को गृहीत पदार्थ की एकता के प्रतीत होने की बात मानना अयुक्त है, क्योंकि प्रत्यक्ष के पहले के काल में पश्चात्भावी ज्ञान अनुत्पन्न रहता है और बाद में होने वाले ज्ञान के काल में पूर्वोत्पन्न पदार्थ नष्ट हो चुका रहता है, अतएव, अप्रतीत के साथ प्रतीत हो रहे पदार्थ की एकता की घोषणा करना दुस्साहस मात्र है। अतः पूर्व-पूर्व विकल्पतः होने वाली अथवा घोषित की जाने वाली एकता सांवृत है और संवृतिमात्र-कल्पित प्रत्यय का प्रामाण्य नहीं होता। अतः प्रज्ञाकर कहते हैं कि जैसे घटादि नामक कोई अवयवी पदार्थ नहीं होता, मात्र रूप, रस आदि विशेषताओं और कपाल आदि अवयवों के संघात को 'घट' नाम से अभिहित कर दिया जाता है, वही स्थिति यहाँ भी है। वस्तुतः एकत्व रूप प्रतीतिविषयक पदार्थ वास्तविक नहीं हैं। अनादि वासनाओं के आधार पर कल्पित घटादि आकार और उनमें एकत्व की सत्ता सांवृतिक है जो बाह्यार्थ को मानने वालों के आग्रह को समाप्त करने हेतु मानी जाती है।¹⁶

तृतीय वाक्य ज्ञान की प्रमाणता का प्रतिपादक है। पूर्वगृहीत की एकता बाद में गृहीत अर्थ के साथ धी में गृहीत नहीं होती तो धी की प्रमाणता क्यों मानी जाती

है? प्रज्ञाकर कहते हैं कि हेयोपादेय विषय में प्रवर्तक ज्ञान ही प्रमाण कहलाता है। हेयोपादेय विषय के प्रवर्तन में ज्ञान का ही प्राधान्य होता है। जैसे अनुमान को, अग्नि का प्रवर्तक होने मात्र से, ग्राहक न होने पर भी, प्रमाण कहा जाता है, तद्वत् ज्ञानकाल में प्रतिपन्न न होने पर भी प्रवर्तक होने के कारण भाव्यर्थ में अभीष्टसाधकज्ञान को प्रमाण माना जाता है। यह आशंका हो सकती है कि चक्षुरादि से प्रवर्तन होने की स्थिति में तो मात्र बुद्ध्याभास के आधार पर प्रवृत्ति हो जाती है, वहाँ न तो किसी प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है और न ही एकत्वादि विकल्प। तो धी की प्रधानता क्यों? प्रज्ञाकर का उत्तर है कि जहाँ पूर्वाभ्यास नहीं होता वहाँ अनुमान और प्रत्यभिज्ञा आदि से विकल्पोत्पत्ति को प्रवर्तक माना जाता है।

चतुर्थ वाक्य में प्रमाण एवं प्रमाणफल में भेद के आधार पर प्रमाणता एवं 'विषयाकार अथवा साकारज्ञान ही प्रमाण होता है' इस तथ्य का प्रतिपादन किया गया है। इसी अध्याय में हमने 'साकारज्ञान ही प्रमाण होता है' तथा 'प्रमाण एवं प्रमाणफल' पर अलग से विचार किया है, अतः यहाँ इस पर चर्चा नहीं करेंगे। ज्ञान की साकारता पर इस ग्रन्थ में, विज्ञानवाद की दृष्टि से अलग विचार हुआ है, अन्तिम अध्याय में।

पंचम वाक्य इस तथ्य की घोषणा करता है कि प्रत्येक ज्ञान को केवल स्वरूप का ही साक्षात्कार या प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, प्रामाण्य का नहीं। प्रज्ञाकर बतलाते हैं कि जब 'स्वरूप का ही' ऐसा कहा जाता है तो वह पररूप का व्यावर्तक होता है। तात्पर्य यह है कि इस पररूप प्रामाण्य का ग्रहण विषयवस्तु की प्राप्ति के समय होता है, पहले नहीं। प्रामाण्य का अर्थ है प्राप्यपदार्थ की अव्यभिचारिता। प्राप्य पदार्थ के अग्रहण में उसके अव्यभिचारिता रूप सम्बन्ध का ग्रहण नहीं हो सकता और ज्ञान में प्राप्यपदार्थ का अव्यभिचार गृहीत हुए बिना ज्ञान को प्रमाण नहीं कहा जा सकता। पुरोवर्ती पदार्थ का सम्बन्ध तो समस्त ज्ञानों (प्रमा-अप्रमा) में समान है। न तो प्राप्यपदार्थाव्यभिचारिता पहले गृहीत हो सकती है और न ही भाविनी अर्थक्रिया के ज्ञान से पूर्वावभासित पदार्थ के साथ अर्थक्रिया का सम्बन्ध ही ज्ञात हो सकता है। अतः उपर्युक्त दोनों रूपों में से न तो प्रत्येक के सम्बन्ध का परिग्रह स्वरूप के संवेदन के समय हो सकता है और न दोनों के समुदाय का, क्योंकि प्रामाण्य का जो साधन रूप 'व्यभिचारित्व' है उसका और अर्थक्रिया का ग्रहण क्रमेण होता है, युगपत् नहीं। तद्वत् स्मृति और अनुमान की भी स्थिति है। इसी की घोषणा आचार्य धर्मकीर्ति ने 'स्वरूपस्य स्वतो गतिः, 'प्रामाण्यं व्यवहारेण' के द्वारा किया है।"

छठा वाक्य 'अज्ञात प्रकाशो वा' है। इसी प्रकरण में आगे इस पर अलग से विवेचना की गयी है।



प्रमाणवार्तिक' के टीकाकार 'मनोरथनन्दि' बतलाते हैं कि जिसमें विसंवाद, विवाद, या वचना न हो उसे अविसंवादक ज्ञान कहते हैं। वस्तुतः, अर्थक्रियास्थिति को अविसंवाद कहते हैं। प्रत्येक अर्थ में एक निश्चित क्रिया पायी जाती है, जैसे घट में जलाधानरूप क्रिया, तथा, पट में आच्छादनरूप क्रिया। इस अर्थक्रियास्थिति—अर्थात्, प्रमाणयोग्यता—का नाम अविसंवाद है। इसका तात्पर्य यह है कि कोई पुरुष किसी ज्ञान से अर्थ को जानकर भी उसमें प्रवृत्ति नहीं करता है, अथवा प्रवृत्त होने पर भी किसी प्रतिबन्धक के कारण अर्थक्रिया को प्राप्त नहीं कर पाता है, तो भी वह ज्ञान प्रमाण है, क्योंकि उस ज्ञान में प्रमाणयोग्यतारूप अविसंवाद है।¹⁸ भावात्मक रूप में अविसंवादक का अर्थ है संवादक। ज्ञान ने यह बतला दिया कि 'यह जल है,' अब यदि ज्ञान के द्वारा प्रदर्शित जलरूप अर्थ से तृष्णाशान्ति आदि अर्थक्रिया संपादित हो जाती है, तो उस ज्ञान के अविसंवादक होने में कोई संदेह नहीं रहता है। ज्ञान को प्रापक कहा जाता है, तब उसका तात्पर्य इतना ही है कि ज्ञान अर्थ में पुरुष की प्रवृत्ति कराता है, अर्थात् वह प्रवर्तक होता है, और प्रवर्तक होने का भी मंतव्य मात्र यह है कि वह प्रवृत्ति के विषय का प्रदर्शक होता है¹⁹, क्योंकि ज्ञान बलपूर्वक अर्थ में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं करा सकता।²⁰

न्यायबिन्दुटीकाकार 'धर्मोत्तर' तथा उनके व्याख्याकारों ने विशेषतया सौत्रान्तिक दृष्टि से प्रमाण की विवेचना की है। 'धर्मोत्तर' कहते हैं कि अनुभव से न बाधित होने वाला (अविसंवादक) ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। यथा लोक में पूर्वप्रदर्शितवस्तु को प्राप्त करा देने वाला व्यक्ति संवादक (अविसंवादक)²¹ कहलाता है, तद्वत् ज्ञान भी अपने द्वारा बोधित वस्तु को प्राप्त करा देने के कारण संवादक कहलाता है। वस्तुतः, बोधित अर्थ में प्रवृत्ति करा देना ही ज्ञान की प्रापकता (प्राप्त कराने का सामर्थ्य) है।²² 'दुर्वेक मिश्र' इसे स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि अविसंवादक ज्ञान का अर्थ है 'प्रवृत्ति के विषयरूप वस्तु का प्रापक ज्ञान'।²³ 'बोधित अर्थ में प्रवृत्ति करा देना ही ज्ञान की प्रापकता है। इस पर पूर्वपक्ष से यह आक्षेप उठाया जाता है कि 'उपदर्शित अर्थ का प्रापक संवादक है' यह कहते हुए आप बौद्धों ने यह स्वीकार कर लिया कि ज्ञान एक है और उसमें दो विशेषतायें हैं— उपदर्शकत्व और प्रापकत्व। प्रवृत्ति से प्राप्ति सिद्ध नहीं होती, अतः निहितार्थतः ज्ञान का प्रापकत्व भी अनुपपन्न हुआ। एक ही ज्ञान के प्रदर्शकत्व, प्रवर्तकत्व तथा प्रापकत्व रूप व्यापार हों, यह संभव नहीं है, क्योंकि अन्य ज्ञान प्रदर्शित करता है जिससे कोई जानता है, अन्य प्रवृत्ति कराता है जिसके अनन्तर व्यक्ति प्रवृत्त होता है और अन्य प्राप्त कराता है जिससे पुरुष प्राप्ति से अभिसम्बद्ध होता है। 'दुर्वेक मिश्र' इसका उत्तर देते हुए, 'धर्मोत्तराचार्य के आशय को अभिव्यक्त करते

हुए लिखते हैं— 'यद्यपि ज्ञान अर्थ का साक्षात्कार करके तदनुरूप निश्चय को उत्पन्न करता हुआ कहीं प्रदर्शक, अन्य को प्रदर्शित करते हुए अथवा बाह्यप्रवृत्ति का कारण होते हुए प्रवर्तक तथा इतरप्रवर्तन के द्वारा बाह्यवस्तु की प्राप्ति का निमित्त होते हुए प्रापक, कहा जाता है, तथापि वह बाह्यप्रवृत्तिकारणभाव ही ज्ञान का प्रयोजक व्यापार है अथवा ज्ञान का प्रवर्तयितृत्व है। चूँकि यह हमारे द्वारा दिखला दिया गया है कि पुरुष को शारीरिक प्रेरणा देने के द्वारा और अर्थ को उत्पन्न करने के द्वारा प्रवर्तन—प्रापण असंभव है अतः, वस्तुतः जितने भी ज्ञान हैं उनका निश्चयानुगत के अधिगम से अन्य दूसरा प्रवर्तन—प्रापण व्यापार नहीं है। अतएव, इनमें प्रथमज्ञान को ही प्रमाण कहा जाता है। फलतः, प्रदर्शकत्वादि में वस्तुतः अभेद है, हाँ व्यावृत्तिनिबन्धनतया भेद है। इसी कारण, प्रदर्शक, प्रवर्तक और प्रापक शब्द कृतकत्व और अनित्यत्व के समान पर्यायवाची नहीं हैं।¹⁴

प्रश्न उठता है किस प्रयोजन से बौद्ध प्रयत्नपूर्वक सिद्ध करना चाह रहे हैं कि प्रवर्तन से अन्य ज्ञान का कोई प्रापण व्यापार नहीं है तथा अधिगम से अन्य कोई प्रवर्तन नहीं है? यदि बाद के ज्ञान के प्रामाण्य के निषेध के लिए आप यह प्रयत्न कर रहे हैं, तो वह व्यर्थ है, क्योंकि वह कार्य तो 'धर्मकीर्ति' के 'गृहीतग्रहणान्नेष्टं' इस कारिका से ही साधित हो जाता है और आपको 'गृहीतग्राही प्रमाण होता है' इसका निषेध करना चाहिए। 'दुर्वेक मिश्र' का उत्तर है कि यदि प्रवर्तयितृत्व और प्रापयितृत्व परमार्थतः प्रदर्शकत्व से अन्य होता, तो, गृहीतग्राहिता के सिद्ध न होने के कारण प्रामाण्य का निषेध किससे होता? जैसे—ज्ञान गृहीत को ग्रहण नहीं करता, अपितु गृहीतवस्तु में प्रवृत्त कराता है और अन्य ज्ञान गृहीतवस्तु को प्राप्त कराता है, ऐसा कहने वालों की, चूँकि भिन्न उपयोगिता होती है, अतः उनके प्रामाण्य का निराकरण कैसे होता? जब प्रवर्तन से अन्य ज्ञान का प्रापण व्यापार नहीं है, तथा प्रदर्शन से प्रवर्तन अन्य नहीं है एवं प्रथम ही प्रत्यक्ष—अनुमानक्षण के द्वारा अर्थक्रियासमर्थ वस्तुसंतान को प्रवृत्ति का विषय, निश्चित रूप से, किया जा सकता है, तभी बाद के ज्ञानों और उनके संतान में होनेवाले ज्ञानों (धारावाहीज्ञान) के प्रामाण्य का निराकरण हो सकता है।¹⁵ 'दुर्वेक मिश्र' यह भी बतलाते हैं कि उपर्युक्त कथन से पूर्वपक्ष द्वारा 'धर्मोत्तर' के पक्ष में लगाये गये इस आरोप का भी खण्डन हो जाता है कि—'यदि उपदर्शकत्व ही प्रापकत्व हो, तो, आपने जो यह कहा है कि 'उपदर्शित अर्थ को प्राप्त करा देने के कारण ज्ञान संवादक कहलाता है' उसका अर्थ होगा— 'उपदर्शितमुपदर्शयति'। किन्तु, अर्थाभेद न होने के कारण यह युक्त नहीं है।¹⁶ 'दुर्वेक मिश्र' का कहना है कि हमने पहले ही कहा है कि व्यावृत्तिनिबन्धनतया प्रदर्शकत्वादि में भेद है, अतः, शब्दप्रवृत्ति की अपेक्षा से अर्थाभेद

की बात करना असिद्ध है। अतएव, 'धर्मोत्तराचार्य' के उद्धृत कथनों का आशय यह है कि उपदर्शित का साक्षात्कार करके उससे उत्पन्न तदनुरूप निश्चय वाले अर्थ का, प्रवर्तन द्वारा अथवा बाह्य की प्राप्ति की साक्षात् योग्यता के द्वारा निमित्त होता हुआ ज्ञान संवादक कहलाता है। वस्तुतः प्रमेयाधिगतिरूप प्रदर्शन-व्यापार से अन्य व्यापार प्रवर्तक और प्रापक का नहीं है। अतः 'दुर्वेक मिश्र' निष्कर्षतः कहते हैं— 'न प्रवर्तयितृत्वं न प्रापयितृत्वं च प्रयोजकव्यापारोऽनयोर्भिन्न इति'।²⁷

चूँकि 'वस्तु' का बोध हो जाने पर पुरुष की प्रवृत्ति हो जाती है तथा वस्तु की प्राप्ति हो जाती है, फलतः, अर्थ का बोध कराने से ही प्रमाण का कार्य समाप्त हो जाता है।²⁸ अतः, जिस ज्ञान का विषय अज्ञात है, वही प्रमाण है। कारण यह है कि जिस ज्ञान के द्वारा प्रथमतः अर्थ का बोध होता है, उसके द्वारा ही पुरुष की प्रवृत्ति तथा अर्थ की प्राप्ति करा दी जाती है। फिर उस अर्थ में अन्य ज्ञान को इस प्राप्ति से अधिक और कुछ करना नहीं है। इसलिए ज्ञात अर्थ को जानने वाला ज्ञान प्रमाण नहीं होता।²⁹ 'दुर्वेक', 'धर्मोत्तर' के आशय को और स्पष्ट करते हुए, बतलाते हैं कि अर्थ का बोध हो जाने पर पुरुष प्रवर्तित हो और अर्थ प्राप्त न हो, तब भी वह ज्ञान प्रमाण है और वहाँ भी अर्थ प्राप्त हो गया (प्रापितः) ऐसा माना जाता है, क्योंकि 'प्रापितः' शब्द से 'धर्मोत्तर' यह दिखला रहे हैं कि अर्थ 'शक्यप्राप्तिक' है। अतः, 'प्रापणशक्ति' ही ज्ञान का प्रामाण्य है। वह प्रापणशक्ति प्राप्त होने वाले अर्थ के कारण आत्मलाभ का निमित्त होती है, क्योंकि जिसके द्वारा प्रवर्तन होता है वह भी प्रापणयोग्य ही है। अर्थक्रिया को निर्भासित करने वाले सभी अनुमानों का शक्तिनिश्चय स्वतः हो जाता है। प्रवर्तक-प्रत्यक्ष में जो विभ्रम की आशंका चारों तरफ से, अभ्यास के द्वारा, समाप्त रहती है वहाँ प्रापणशक्ति का निश्चय स्वतः हो जाता है, और साथ ही निद्रा से अनुपप्लुत पास वाले स्थान में रहने वाली वस्तु का ग्रहण, जिसमें किसी अन्यव्यंजक के कारण किसी अन्य प्रकार की अभिव्यक्ति की आशंका न हो, स्वतः हो जाता है। उसके स्वरूप की संवेदना से ही उसके वास्तविक अर्थ का निश्चय हो जाता है। कहीं पर प्रापण शक्ति का निश्चय परतः होता है। परतः का अर्थ है अर्थक्रियानिर्भासात्मक स्वतः प्रमाण से अन्य किसी स्रोत से, जैसे कि दूरस्थ किसी अर्थ को देखने से बीच के काल में होने वाली शंका को हटाकर होनेवाला निश्चय।³⁰ अनधिगत का अर्थ है अन्य ज्ञान के द्वारा अपरिच्छिन्न। जिस ज्ञान का विषय ऐसा होता है, वही ज्ञान प्रमाण है। यह भी स्मरणीय है कि मात्र विषय-भेद के ही कारण प्रमाण-भेद नहीं होता, अपितु उपयोग-भेद के कारण भी प्रमाणभेद होता है, ऐसी आशंका का समाधान करने के लिए ही यह कहा गया है कि जिस ज्ञान के द्वारा प्रथमतः अर्थ का बोध होता है उसके द्वारा पुरुष की

प्रवृत्ति तथा अर्थ की प्राप्ति करा दी जाती है। अतः ज्ञात अर्थ को जाननेवाला कोई भी ज्ञान—चाहे वह सजातीय हो, अथवा विजातीय—प्रमाण नहीं होता। इससे फलित होता है कि 'प्रमाणसम्प्लव' नहीं है।³¹

यह आशंका हो सकती है कि आप बौद्धों ने यह बतलाया है कि सम्यग्ज्ञान प्रवृत्तिविषय का उपदर्शक होता है। आप दो ही प्रमाण—प्रत्यक्ष और अनुमान—मानते हैं। अतः, यदि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों का प्रवृत्तिविषयोपदर्शन समान हो, तब यह प्रत्यक्ष प्रमाण है, और यह अनुमान प्रमाण है, ऐसा भेद नहीं हो सकेगा। अतः, इन दोनों के असमान विषय को अवश्य बतलाना चाहिए।³² इसी कारण 'धर्मोत्तर' लिखते हैं— 'प्रत्यक्ष और अनुमान में जो दृष्टरूप में, अर्थात् साक्षात्, जाना जाता है³³ वह प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा प्रवृत्ति का विषय होता है, क्योंकि जिस वस्तु में प्रत्यक्ष प्रमाण के साक्षात्कारीव्यापार का बाद को होने वाले विकल्प के द्वारा अध्यवसाय किया जाता है, उस वस्तु का प्रदर्शक प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। अतः साक्षात् रूप से जाना गया पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा प्रदर्शित होता है। अनुमान तो धूमादिलिंग के ज्ञान से अर्थ का निश्चय कराता हुआ प्रवृत्ति के विषय का बोध कराता है। जिस प्रकार, प्रत्यक्षप्रमाण स्वरूप से भासित होनेवाले नियत अर्थ को दिखलाता है उसी प्रकार, अनुमान भी लिंग से सम्बद्ध नियतार्थ को दिखलाता है। फलतः नियतार्थ का अवबोधक होने से दोनों ही प्रमाण हैं। इनसे भिन्न ज्ञान प्रमाण नहीं, क्योंकि ज्ञान प्राप्त किये जाने योग्य वस्तु का बोध कराने से ही प्रापक और प्रापक होने से ही प्रमाण होता है।³⁴ प्रश्न है कि निश्चय के कारण प्रत्यक्ष का ग्रहण नहीं होता, अपितु प्रतिभास के कारण होता है। ऐसी स्थिति में 'ज्ञात' का अर्थ 'निश्चित' क्यों किया जाता है? इसी का उत्तर धर्मोत्तर ने यह कह कर दिया है कि, क्योंकि जिस वस्तु में प्रत्यक्ष प्रमाण के साक्षात्कारी व्यापार का, 'मैं देखता हूँ' इस आकार से, बाद को होने वाले विकल्प के द्वारा अध्यवसाय होता है, उस वस्तु का प्रदर्शक प्रत्यक्ष प्रमाण होता है, अतएव 'दृष्टत्वेन ज्ञातः' ऐसा कहा जाता है। 'दुर्वेक मिश्र' इस स्थल के अपने 'प्रदीप' में यह बतलाते हैं कि 'विकल्प' का यहाँ अर्थ है प्रत्यक्षपृष्ठभावीअनुरूपविकल्प, क्योंकि अननुरूपविकल्पानुगत व्यापार का वहाँ पर प्रामाण्य नहीं होता। इस कथन का अभिप्राय यह है कि यह जो लक्षण कहा गया है वह सांख्यव्यवहारिक प्रमाण का लक्षण है। यथार्थ दृष्ट्या प्रकाशमान होने पर भी अनुरूपविकल्प का विषय न होने पर वह अप्रतिभासमान होता हुआ किसी विशेषता वाला नहीं रह जायगा, क्योंकि वह व्यवहारयोग्य नहीं होता है। इसी प्रकार उसका ग्राहक ज्ञान भी उस प्रकार के विकल्प से अननुगम्यमान व्यापार वाला होता हुआ व्यवहार कराने में अपर्याप्त होने से तृण को भी टेढ़ा करने में असमर्थ है।³⁵ अतः 'दुर्वेक

मिश्र' लिखते भी हैं — 'तेन यदुक्तं प्रदर्शकत्वमेव प्रवर्तकत्वादिति, यच्चोक्तम्—अधिगतिरेव फलमिति तदनुरूपनिश्चयानुगतव्यापारमनुरूपनिश्चयानुगताविति द्रष्टव्यम्। एवं यत्र यत्रोच्यते प्रत्यक्षं वस्तुपददर्शकं वस्तुग्राहकमित्यादिना शब्देन तत्र सर्वत्रानुरूपनिश्चयानुगत-व्यापारमेव बोधव्यम्।'³⁶

यद्यपि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही प्रवृत्ति के विषय को दिखलाते हैं, तथापि उनके इस व्यापार में भिन्नता है। प्रत्यक्ष स्वयं निश्चय करता हुआ प्रवृत्ति के विषय को नहीं दिखलाता, अपितु निश्चित कराया जाता हुआ (निश्चाययत्) प्रवृत्ति के विषय को दिखलाता है, जबकि विषय का निश्चयात्मक बोध अनुमान कराता है और इस प्रकार स्वयं ही निश्चय करता हुआ प्रवृत्ति के विषय को दिखलाता है।³⁷ अनुमान साध्य के अविनाभूत धूमादिलिंग के दर्शन से निश्चय करता है।³⁸

प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण हैं, शब्दादि प्रमाण नहीं हैं, इसका कारण यह है कि प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही नियतार्थ के प्रदर्शक हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान स्वरूपेण प्रकाशमान अर्थक्रिया में समर्थ भावरूप जो अर्थ है उसमें नियत अर्थ को दिखलाता है। 'नियत' शब्द के प्रयोग से संशय और भ्रान्ति के विषय की निवृत्ति हो जाती है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्यक्ष न तो अनर्थ को दिखलाता है और न अनियत अर्थ को।³⁹ अनर्थ शब्द से भ्रान्ति की और अनियत शब्द से संशय की निवृत्ति हो जाती है। अनुमान भी नियतार्थ को दिखलाता है। चूँकि लिंग विजातीयव्यावृत्त जो अर्थक्रियासमर्थ अर्थ है उसके साथ तादात्म्य अथवा तदुत्पत्ति के द्वारा सम्बद्ध हो जाता है, अतएव, उससे होनेवाला अनुमान भी नियत अर्थ को दिखलाता है, अर्थात् नियत अर्थ का अध्यवसाय करता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अनुमान भी न तो अनर्थ को दिखलाता है और न तो अनियत अर्थ को ही। अनुमान की विशेषता यह है कि सम्बन्ध-काल में दृष्ट साधारण रूप का आश्रय लेकर उदित होता हुआ और स्वलक्षण का अध्यवसाय करता हुआ भी वह सन्तानान्तर में जो असाधारण है उसका अध्यवसाय नहीं करता, अतः प्रवृत्तिविषय की अपेक्षा से भी वह सामान्यविषयक ही है। किन्तु, प्रत्यक्ष, प्रवृत्तिविषय की अपेक्षा से भी, असाधारण विषय वाला ही है, क्योंकि सन्तानान्तर में जो असाधारण रूप है उसके ही द्वारा विषय का निश्चायन होता है।⁴⁰ पूर्वपक्षी पुनः आक्षेप करता है कि अर्थ का साक्षात्कार करने के कारण प्रत्यक्ष तो नियतार्थदर्शक है, किन्तु अनुमान नियतार्थदर्शक नहीं है, क्योंकि परोक्षार्थ का वह साक्षात्कार नहीं करता। अतः दोनों का नियतार्थप्रदर्शकत्व नहीं है, केवल एक का ही, अर्थात् प्रत्यक्ष का ही है। दुर्वेक, धर्मोत्तरपक्ष से, अनुमान में भी नियतार्थप्रदर्शकत्व को

दिखलाते हुए लिखते हैं कि जैसे वस्तु का प्रकाश करने से प्रत्यक्ष नियत अर्थ को दिखलाता है, वैसे ही — 'परोक्षस्यान्तरा साक्षादनवभासेऽपि तत्सम्बद्धतया चानुमानं कार्यस्वभावजमेकान्तनियतं भावम्, अनुपलंभजमेकान्तनियतं भावं तथाभूतं दर्शयति'।⁴¹ यहाँ यह द्रष्टव्य है कि अविश्ववादक (संवादक) शब्द के ही दो फलितार्थ हैं— (1) नियत अर्थ की बोधकता, तथा (2) अर्थप्रापकता। प्रमाण के ये दोनों स्वतन्त्रलक्षण नहीं हैं। नियत अर्थ को प्रदर्शित करने वाला तथा प्रदर्शित अर्थ को प्राप्त कराने वाला ज्ञान अविश्ववादक या सम्यग्ज्ञान कहलाता है, वही प्रमाण है।

प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न ज्ञान के द्वारा बोधित अर्थ द्विविध हैं — (1) अशक्यप्रापण, या अत्यन्तविपरीत तथा (2) भावाभावानियत। प्रथम प्रकार के अर्थ का उदाहरण है 'मरुमरीचिका में जल', जो विद्यमान नहीं होता, अतः अशक्यप्रापण है। यद्यपि विपर्ययज्ञान नियतोपदर्शक होता है, तथापि अनर्थ का उपदर्शक होने के कारण, अपने द्वारा प्रदर्शित अर्थ को प्राप्त नहीं कराता, अतः प्रमाण नहीं होता।⁴² संशयार्थ भावाभावानियत होते हैं। उदाहरणार्थ, जब स्थाणु में 'यह स्थाणु है या पुरुष' इस प्रकार का ज्ञान होता है तो वहाँ 'यह स्थाणु है' इसमें स्थाणु के भाव का बोध होता है, 'या पुरुष है' इस ज्ञान में स्थाणु के अज्ञान का बोध होता है। अतएव, स्थाणु का होना (भाव) या न होना (अभाव) नियत नहीं। पुनश्च, संशय नामक ज्ञान भी प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि वह नियत अर्थ का उपदर्शक नहीं होता।⁴³ इसके अतिरिक्त, जो विकल्प किसी 'अविनाभाविलिंग' से उत्पन्न नहीं होते तथा नियतार्थ का ग्रहण करने वाले अर्थ को न देख कर ही उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसे सभी विकल्पों के द्वारा भावाभाव में अनियत अर्थ का ही बोध कराया जाता है; और वह ऐसा अर्थ है कि उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतः अशक्यप्रापण एवं भावाभावानियत अर्थ की प्रतीति कराने वाले ज्ञान, जो कि प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न हैं, प्रमाण नहीं हैं।⁴⁴ इस सारी विवेचना से यह फलित होता है कि बौद्धों के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का होता है— सम्यक् (प्रमा) और असम्यक् (अप्रमा)। जो ज्ञान नियतार्थप्रदर्शक होने से प्रदर्शित वस्तु को प्राप्त करा देता है वही सम्यक् ज्ञान है। यह नियत अर्थ पहले से ज्ञात नहीं रहता, इसीलिए प्रमाण को 'अनधिगतविषयम्' कहा जाता है। ऐसा प्रमाण प्रत्यक्ष-अनुमान भेद से द्विविध है। इनमें प्रत्यक्ष साक्षात्कारी, अतः निर्विकल्पक सम्यग्ज्ञान है और अनुमान विकल्पात्मक सम्यग्ज्ञान है। असम्यग्ज्ञान कई प्रकार के होते हैं; जैसे—भ्रम, संशय, स्वप्न, स्मृति तथा प्रत्यक्ष के बाद होनेवाले नाम-जाति आदि के विविध विकल्प। दूसरी दृष्टि से ज्ञान को साक्षात्कारी और विकल्प इन दो प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है। ये दोनों द्विविध हैं— सम्यक् और असम्यक्। ऐसी व्यवस्था में साक्षात्कारी

सम्यग्ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है, जबकि साक्षात्कारी असम्यग्ज्ञान इन्द्रियज्ञ भ्रान्ति के स्थल में होता है। विकल्प ज्ञानों में अनुमान एवं प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्प ये दोनों सम्यग्ज्ञान हैं, क्योंकि ये स्वप्रदर्शित अर्थ को प्राप्त कराने वाले हैं। परन्तु, इनमें अनुमान ही प्रमाण है। प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्प को बौद्धन्याय में प्रमाण नहीं माना जाता। शेष सभी विकल्प असम्यक् ज्ञान तथा अप्रमाण हैं।⁴⁵ प्रमाण या सम्यग्ज्ञान अर्थक्रिया में समर्थ वस्तु का बोधक है। प्रमाण द्वारा दिखलायी गयी वस्तु ही प्रापणीय होती है। चूँकि अर्थक्रियार्थी के द्वारा अर्थक्रिया में समर्थ वस्तु की प्राप्ति के लिए ही ज्ञान की खोज की जाती है, अतः शास्त्र में ऐसे ही ज्ञान का विचार किया जाता है।⁴⁶ व्यसनपूर्वक ज्ञान की खोज नहीं की जाती। अतः अर्थक्रिया में समर्थ वस्तु का जो प्रदर्शक होता है वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, उससे अन्य ज्ञान प्रमाण नहीं है। यह प्रश्न हो सकता है कि उपर्युक्त स्वरूपवाला ज्ञान अन्य को दिखलाकर अन्य को प्राप्त कराता हुआ भी सम्यग्ज्ञान क्यों नहीं माना जाता? उत्तर है कि चूँकि प्रमाण द्वारा दिखलायी गयी वस्तु ही प्रापणीय होती है। इस कथन का यह भी निहितार्थ है कि जिन लोगों को पीतशंखादिज्ञान में अंशतः संवाद के कारण उसका प्रमाण होना अभीष्ट है, उस बात का भी निषेध हो जाता है। 'दुर्वैक मिश्र' यह सूचित करते हैं कि आचार्य 'धर्मोत्तर' ने 'प्रामाण्यपरीक्षा' नामक अपने ग्रन्थ में विस्तार से निम्नलिखित पूर्वपक्ष का निरास किया है कि 'तब पीतशंखादि ज्ञान से अनुपदर्शित भी शुक्ल शंख का तथा जलज्ञान से अनुपदर्शित भी मरीचिकानिचय का प्रामाण्य मानना पड़ेगा, क्योंकि उनकी प्राप्ति दिखलायी पड़ती है। 'धर्मोत्तर' का उत्तर है कि ऐसा नहीं है, क्योंकि शुक्लशंख तथा मरीचिकानिचय की प्राप्ति तज्ज्ञानपूर्वक नहीं होती और क्योंकि मरीचिकानिचय आदि की प्राप्ति अज्ञातवस्तुविषयक होती है। जिस ज्ञान से इनकी प्राप्ति होती है उस ज्ञान के द्वारा शुक्ल शंखवस्तु या मरीचिवस्तु ज्ञात नहीं होती, अपितु ज्ञानान्तर के कारण ही उस प्रकार की प्राप्ति होती है।⁴⁷

प्रश्न उठता है कि उपदर्शितार्थप्रापकत्व ही सम्यग्ज्ञान हो, परन्तु वह ज्ञान, जो उसी शंखादिक प्राप्य वस्तु को पीतरूपतया दिखलाता है, सम्यग्ज्ञान क्यों नहीं है? उत्तर है कि उन जानी गयी वस्तुओं में वह प्रदर्शित वस्तु से भिन्न ही है जिसका आकार भिन्न है, या देश भिन्न है अथवा काल भिन्न है, क्योंकि विरुद्ध धर्म के संसर्ग से वस्तु अन्य (भिन्न) हो जाती है और देश, काल तथा आकार का भेद विरुद्ध धर्म का संसर्ग है।⁴⁸ भावार्थ यह है कि विरोध तथा भेद के सिद्धान्त को मानते हुए धर्मोत्तर यह दिखला रहे हैं कि आकारादि के भेद से वस्तु में भी भेद हो जाता है। फलतः, यदि कोई ज्ञान किसी वस्तु का एक आकार में अवबोध कराता है, परन्तु वहाँ प्राप्ति दूसरे आकार की वस्तु की होती है, तो, वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं होगा। अतएव, अन्याकार

का ग्राही ज्ञान अन्य आकार वाली वस्तु में प्रमाण नहीं, जैसे— पीतशंख का ग्राहीज्ञान शुक्लशंख के विषय में प्रमाण नहीं होता। इसी प्रकार, अन्यदेश में स्थित वस्तु का ग्राहीज्ञान दूसरे देश में स्थित वस्तु के विषय में प्रमाण नहीं होता, जैसे— घना ढके स्थान के द्वारदेश में स्थित मणिप्रभा में मणि का बोध कराने वाला ज्ञान उसके भीतरी प्रदेश में स्थित मणि के विषय में प्रमाण नहीं होता। तद्वत् अन्यकाल विशिष्ट वस्तु का ग्राहीज्ञान दूसरे कालवाली वस्तु के विषय में प्रमाण नहीं होता, जैसे— अर्द्धरात्रि के समय मध्याह्न काल की वस्तु का ग्राही स्वप्नज्ञान, अर्द्धरात्रिकाल में स्थित वस्तु के विषय में प्रमाण नहीं होता।⁴⁹ आचार्य 'दुर्वेक मिश्र' उपर्युक्त स्थल की व्याख्या के प्रसंग में भिन्नकालग्राहीज्ञान की विशद विवेचना करते हैं और 'धर्मोत्तर' के एतद्विषयक उदाहरण को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि 'अर्द्धरात्रि में निद्राग्रस्त व्यक्ति स्वप्न में देखता है कि मध्याह्नकाल में उसका पुत्र अपनी वस्तुओं के साथ व्यापार से आया हुआ है। इससे पुलकितरोम होकर वह तुरत जाग जाता है और उसी समय पुत्र को अकस्मात् पा लेता है। तथापि, इस ज्ञान को प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि पिता का ज्ञान तो मध्याह्नकाल में आये हुए पुत्र के विषय में था। उसे तो काकतालीय न्याय से पुत्र की प्राप्ति होती है। पिता का ज्ञान तो वस्तुतः अर्द्धरात्रिकाल से सम्बद्ध था।⁵⁰

'दुर्वेक मिश्र' इसे एक अन्य स्वप्नज्ञान का उदाहरण देते हुए स्पष्ट करते हैं। एक व्यक्ति अर्द्धरात्रि में सोया और स्वप्न में देखा कि उसका पुत्र मध्याह्नकाल में दूसरे दिन आया है। रात्रि के बीत जाने पर दूसरे दिन जागने पर मध्याह्नकाल में उसी स्थान पर वह पुत्र को देखता है। 'दुर्वेक मिश्र' का कहना है कि यह ज्ञान यद्यपि संवादक है अंशतः, तथापि यह प्रमाण नहीं है, क्योंकि, उस ज्ञान को अर्द्धरात्रि में ही मध्याह्न काल तथा उस काल में न आये हुए भी पुत्र का आये हुए के रूप में ज्ञान हुआ था। पुनश्च, अर्द्धरात्रि में देश और काल से नियत पुत्रवस्तु का और उस काल का सद्भाव नहीं है।⁵¹ उपर्युक्त कथन से यह भी विश्लेषित हो जाता है कि 'यदि कोई सोया हुआ पुरुष किसी के द्वारा पढ़े जाते हुए ग्रन्थ को सुनता हुआ ज्ञान प्राप्त करता है तो उसका वह ज्ञान असत्यार्थ ही है, क्योंकि निद्रा से उपहत श्रोता अपने से भिन्न देश और काल वाले ग्रन्थ को स्वप्न में सुनता हुआ देखता है। उपर्युक्त प्रकार से ही वाजिस्वप्न की भी व्याख्या की जा सकती है। ऐसे स्वप्न में जिस काल के दर्शनविषयक भाव देखे जाते हैं वे वैसे नहीं होते, और वे जिस काल के हैं, उस काल वाले नहीं देखे जाते। स्वप्नदर्शन अर्द्धरात्रि आदि में होता है, और वस्तुएँ (भावाः) सूर्योदयादि से सम्बद्ध देखी जाती हैं। इस कारण, किसी के भी द्वारा अनुभूत स्वप्नों में अर्थक्रिया नहीं होती है, क्योंकि स्वप्नदृष्ट अर्थ का स्वप्नकाल में अत्यन्त अभाव रहता है।⁵² प्रश्न है कि उपर्युक्त विशिष्ट प्रकार के स्वप्नज्ञान के उदाहरणों को प्रस्तुत करने का आशय क्या

है? उत्तर है कि कुछ ऐसे सत्यस्वप्नज्ञानवादी हैं जो उपर्युक्त प्रकार के स्वप्नज्ञानों का सदर्थत्व मानते हैं। उन्हीं के अभिमान का शमन करने के लिए ऐसे उदाहरण दिये गये हैं। सभी स्वप्नज्ञान निरालम्बन होते हैं और वे मिथ्याज्ञान हैं।⁵³

इस प्रसंग में यह आशंका उठायी जाती है कि 'नियत देश में स्थित तथा नियताकार वस्तु की प्राप्ति तो ज्ञान द्वारा करायी जा सकती है, परन्तु जिस काल में वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया जाता है उसी काल में वस्तु की प्राप्ति नहीं करायी जा सकती। आशय यह है कि जिस क्षण में वस्तु का ज्ञान होता है उसी क्षण में उसकी प्राप्ति संभव नहीं है और चूँकि पदार्थ क्षणिक है, अतः अग्रिमक्षण में वही वस्तु नहीं रह सकती। क्योंकि कालभेद से वस्तुभेद हो जाता है, अतएव, बौद्धों का यह कथन युक्तियुक्त नहीं है कि अन्यकालविशिष्ट का ग्राहक ज्ञान अन्यकाल वाली वस्तु के विषय में प्रमाण नहीं है।⁵⁴ बौद्धपक्ष से इसका समाधान यह है कि हमने यह नहीं कहा है कि जिस काल में वस्तु का परिच्छेद होता है उसी काल में ही वह प्राप्त करनी होती है, क्योंकि, वस्तु का दर्शनकाल अन्य होता है और उसकी प्राप्ति का काल अन्य। हमारे कहने का भाव मात्र इतना है कि ज्ञान में विद्यमान जिस वस्तु को जाना जाता है वही वस्तु उस ज्ञान द्वारा प्रापणीय है। अतः यहाँ वस्तु के पूर्व तथा अपर क्षण में अभेद का अध्यवसाय होने से क्षणों के संतान में होनेवाली एकता समझनी चाहिए।⁵⁵ 'दुर्वेक मिश्र' इसे स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि 'यत्कालं परिच्छिन्नं तदेव तेन प्रापणीयम्' ऐसा कहने में आचार्य 'धर्मोत्तर' का मतव्य यह है कि जो वस्तु जिस काल से सम्बद्ध होकर परिच्छिन्न होती है, वही वस्तु उस समय अथवा अन्य समय में उस काल से सम्बद्ध होने के रूप में प्रापणीय है। परिच्छेद का जिस तरह का काल होता है और उस काल में जो वस्तु विद्यमान है वही प्रापणीय है। अतः 'दुर्वेक' लिखते हैं— "ततश्च परिच्छेदकालाऽसतो यद् ग्राहकं तन्न प्रमाणमित्यवतिष्ठते"।⁵⁶ 'दुर्वेक मिश्र' यहाँ टिप्पणी करते हैं कि आचार्य 'धर्मोत्तर' ने उपर्युक्त बातें बाह्यप्रापण के अभिप्राय से कही हैं, क्योंकि परमार्थतः प्रदर्शन से अन्य प्रापणव्यापार ज्ञान का नहीं है, फलतः जिस काल में अर्थ का परिच्छेद होता है उसी ही काल में प्राप्त किया जाता है।⁵⁷

यहाँ पूर्वपक्ष की ओर से यह आशंका की जाती है कि ऐसी व्यवस्था में भी परिच्छेदकाल में प्रापण संभव नहीं हो सकता, क्योंकि सभी विषय क्षणिक हैं। ऐसी स्थिति में किसी भी ज्ञान में उपदर्शितार्थप्रापकत्व नहीं होता, फलस्वरूप सम्यग्ज्ञान का जो लक्षण है वह असंभव हो जायगा। 'दुर्वेक' समाधान करते हुए लिखते हैं कि 'धर्मोत्तराचार्य' ने ऊपर जो लक्षण दिया है वह सांख्यव्यवहारिक प्रमाण का लक्षण है। क्षण की अपेक्षा से यह प्रमाण का लक्षण नहीं किया गया है, अपितु उपदानोपादेयक-

तक्षणप्रबन्ध या क्षणसंतान की दृष्टि से किया गया है। व्यावहारिक दृष्टि से क्षणसंतान को एक समझा जाता है, अतः नीलज्ञान के द्वारा जो नीलसंतान जाना जाता है, वही प्राप्त करा दिया जाता है। फलतः, नीलज्ञान प्रमाण है। यद्यपि वस्तुस्थिति यह है कि परिच्छिन्न और प्राप्य में नानात्व है, किन्तु व्यवहार करने वाले लोग अविद्या के कारण हेतुफलरूप जो अव्यवहित क्षणसंतान में पूर्वापररूपतया उत्पत्ति होती है उसे 'तदेवमिति' इस प्रकार के एकत्व के साथ समझते हैं। अतः, परिच्छेदकाल में होनेवाला प्रापण संभव होजाता है।⁵⁸

सम्यग्ज्ञान का द्विविधत्व

सम्यग्ज्ञान दो प्रकार का है— (1) अर्थक्रिया (अथवा अर्थक्रिया के साधन) की प्रतीति कराने वाला और (2) अर्थक्रिया—समर्थ वस्तु में प्रवृत्ति कराने वाला। इन दोनों में द्वितीय की ही यहाँ परीक्षा की जाती है। वह पुरुषार्थसिद्धि के केवल पहले होता है, उसका साक्षात् कारण नहीं होता, क्योंकि सम्यग्ज्ञान होने पर पूर्वदृष्ट का स्मरण होता है। स्मरण होने से उसकी प्राप्ति की अभिलाषा होती है और अभिलाषा से किसी वस्तु के ग्रहण या त्याग के लिए प्रवृत्ति होती है। तब प्रवृत्ति से वस्तु की प्राप्ति होती है, और यही पुरुषार्थसिद्धि है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान पुरुषार्थसिद्धि का साक्षात्कारण नहीं है।⁵⁹

अर्थक्रिया (अथवा अर्थक्रियासाधन) का सम्यग्ज्ञान हो जाने पर तो साक्षात् ही अर्थ की (या पुरुषार्थसिद्धि की) प्राप्ति हो जाती है, तथापि उसकी यहाँ परीक्षा नहीं करनी है, क्योंकि जिस ज्ञान के विषय में अर्थाभिलाषी बुद्धिमान लोगों को शंका होती है, उसी की परीक्षा वांछनीय है। अर्थक्रिया के ज्ञात हो जाने पर तो पुरुषार्थ सिद्ध हो जाता है, फलतः उसके विषय में अर्थाभिलाषी को संदेह नहीं होता। अतः उसकी परीक्षा नहीं की जाती। इसी कारण पुरुषार्थसिद्धि का परंपरया कारण होने से सम्यग्ज्ञान को परीक्षार्ह दिखलाने के लिए यहाँ — 'कारण' शब्द को छोड़कर 'पूर्व' शब्द का ग्रहण किया गया है।⁶⁰ स्मरणीय है कि 'अर्थक्रियानिर्भासम्' के दो अर्थ किये गये हैं टीकाकारों द्वारा—(1) अर्थक्रियायाः निर्भासोऽस्मिन् इति, तथा (2) अर्थक्रियायाः निर्भासो यस्मात्। प्रथम अर्थ में यह दाहादि अर्थक्रियाविषयक सम्यग्ज्ञान है। इस दृष्टि से हेयोपादेय अनुष्ठान (व्यवहार) ही फल है और यह ज्ञान उस फल का साक्षात् कारण है। यहाँ दाहादि का साधनविषयक सम्यग्ज्ञान प्रवर्तकज्ञान है और वह अर्थक्रिया विषयक ज्ञान से व्यवहित है, अतः फल का साक्षात् कारण नहीं। दूसरे अर्थ को 'दुर्वैक मिश्र' इस प्रकार बतलाते हैं—'अर्थक्रियायाः निर्भासो यस्मात् तत् तथा। यतः साधनज्ञानादनन्तरं दाहादिप्रतिभासज्ञानमुत्पद्यते तदेवमुच्यते'।⁶¹ इस दृष्टि से अर्थक्रिया

का ज्ञान ही फलज्ञान है। उसका साक्षात् कारण है साधनज्ञान। प्रवर्तकज्ञान पुरुषार्थसिद्धि का व्यवहित कारण है और यह प्रवर्तकज्ञान दाह, पाक आदि अर्थक्रिया 'मेरी प्रवृत्ति का विषय है' इस रूप में होता है।

आचार्य 'धर्मोत्तर' के अनुसार अर्थ केवल दो प्रकार का होता है—(1) हेय और (2) उपादेय। जिसे उपेक्षणीय कहते हैं वह कोई अलग राशि नहीं, अपितु हेय ही है, क्योंकि ग्राह्य न होने के कारण वह भी हेय ही है।⁶² सिद्धि भी, निमित्त भेद से द्विविध है—(1) उत्पत्ति और (2) अनुष्ठान। प्रथम हेतुनिमित्तक है, जबकि द्वितीय ज्ञान के निमित्त से होने वाली सिद्धि है। हेय वस्तु का त्याग तथा उपादेय का ग्रहण ही अनुष्ठान है। जब आचार्य 'धर्मकीर्ति' प्रथम सूत्र में यह कहते हैं कि 'सभी पुरुषार्थों की सिद्धि सम्यग्ज्ञानपूर्वक होती है' तो इसका यह अर्थ नहीं है कि हान और उपादान इन दोनों की ही सिद्धि सम्यग्ज्ञानपूर्वक होती है, अपितु उसका अर्थ यह है कि जो कोई भी पुरुष के अर्थ की सिद्धि है वह (ज्ञान के निमित्त से होने वाली सिद्धि) सम्यग्ज्ञानपूर्वक होती है, क्योंकि मिथ्याज्ञान से तो अकरमात् भी अर्थ की सिद्धि नहीं होती। वस्तुतः, जब कोई ज्ञान प्रदर्शित अर्थ को प्राप्त कराता है तब उससे अर्थसिद्धि होती है, और प्रदर्शित अर्थ को प्राप्त करा सकने वाला ज्ञान तो सम्यग्ज्ञान ही है। इसके विपरीत जो प्रदर्शित अर्थ को प्राप्त नहीं कराता वह मिथ्याज्ञान होता है। अतः, जो ज्ञान अर्थ का प्रापक नहीं है, भला वह अर्थसिद्धि का निमित्त कैसे हो सकता है?⁶³

काकतालीय अर्थसिद्धि की व्याख्या

'विनीतदेव' और 'शान्तभद्र' ने 'सर्वपुरुषार्थसिद्धि' में 'सर्व' शब्द को प्रकारवाची माना था। 'धर्मोत्तर' ने उसका विरोध कर यह प्रदर्शित किया कि 'सर्व' शब्द वस्तु की पूर्णता (द्रव्यस्य कात्स्न्य) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, प्रकार की पूर्णता (प्रकार कात्स्न्य) के अर्थ में नहीं। अतः, उन्होंने 'सर्वपुरुषार्थसिद्धि' का अर्थ किया कि जो भी पुरुषार्थसिद्धि होती है वह सम्यग्ज्ञानपूर्वक होती है। सम्यग्ज्ञान के बिना कभी भी पुरुषार्थसिद्धि नहीं होती। इसी प्रसंग में काकतालीय अर्थसिद्धि की भी व्याख्या 'धर्मोत्तर' ने 'विनीतदेव-शान्तभद्र' से भिन्न रूप में की है। 'काकतालीय अर्थसिद्धि' का विश्लेषण पूर्वपक्ष की एक आशंका के कारण करना पड़ता है। शंका यह है— 'यह कथन ठीक नहीं कि सभी पुरुषार्थ की सिद्धि सम्यग्ज्ञान से ही होती है, क्योंकि कभी-कभी अकरमात् मिथ्याज्ञान से भी अर्थसिद्धि देखी जाती है', जैसे किसी ने अग्नि के ऊपर भाप आदि को देखकर धूम समझ लिया और उससे अग्नि का अनुमान करके प्रवृत्त हुआ तथा अग्नि को प्राप्त कर लिया। 'विनीतदेव' आदि ने इसका समाधान करते हुए बतलाया कि ठीक है, कभी-कभी मिथ्याज्ञान से भी अर्थसिद्धि देखी जाती है। फिर भी

इससे कोई दोष नहीं है, क्योंकि 'सर्व' शब्द के प्रकारवाची होने से 'सर्वपुरुषार्थसिद्धि' का अर्थ होगा कि हान तथा उपादान, अथवा लौकिक एवं अलौकिक दोनों प्रकार की अर्थसिद्धि प्रायः सम्यग्ज्ञान से ही होती है।¹⁵⁴ 'धर्मोत्तर' इस व्याख्या के प्रबल विरोधी हैं और कहते हैं कि 'दहनोपरवर्ती' मशकवर्ती को धूम के रूप में निश्चय करके अग्नि का अनुमान कर प्रवृत्त होने पर अग्नि के प्राप्त हो जाने के उदाहरण जैसे स्थलों में भी मिथ्याज्ञान को अर्थ का प्रापक नहीं कहा जा सकता। वहाँ अन्य ज्ञान से ही अर्थ की प्राप्ति होती है। मिथ्याज्ञान से तो काकतालीय भी अर्थसिद्धि नहीं होती। चूँकि, मिथ्याज्ञान उपदर्शितार्थ का अप्रापक ही होता है, इस कारण जो भी मिथ्याज्ञान होता है उससे सर्वतः ही अर्थसिद्धि नहीं होती। जो व्यक्ति उपर्युक्त ढंग से अग्नि का ज्ञान प्राप्त करता है और उड़ते हुए मच्छरों अथवा भापादि को नियत धूम समझता है, वह उस समय नियतहेतु का अनुसरण नहीं करता, अर्थात् वह कार्य की प्राप्ति के पहले तो व्यक्ति ऐसा मानता है कि उसको नियतहेतु (धूम) के द्वारा अर्थसिद्धि होती है, किन्तु अनुमान काल में नियतहेतु द्वारा कार्य की प्राप्ति (अग्नि की प्राप्ति) की बात का अनुसरण नहीं करता। नियतहेतु के द्वारा कार्य को प्राप्त करने में भ्रान्ति नहीं होती है। भ्रान्ति तो अनियतहेतु द्वारा कार्य को प्राप्त करने में होती है। यहाँ जिस उदाहरण को पूर्वपक्ष की ओर से रखा गया है, उसमें अनियतहेतु ही कार्य कर रहा है। अतः, यहाँ संशय या भ्रान्ति के कारण का निवर्तन नहीं हुआ है। मच्छरों का परिवेष्टन अथवा भापादि अग्नि का नियतहेतु नहीं है, अपितु अनियतहेतु है, क्योंकि, कभी तो उसके साथ अग्नि की स्थिति रहती है और कभी नहीं भी रहती। अतः, यह संशय की स्थिति का हेतु है। जबतक इस हेतु का निवर्तन नहीं होता— यह 'धूम' नहीं है जिससे कि अग्नि का अनुमान किया जा रहा है, यह ज्ञात नहीं हो जाता— तब तक मच्छरों के आवेष्टन या भापादि का दिखलायी पड़ना बना रहता है। इसी कारण, निश्चित या नियत रूप वाले धूम से ही वहि का निश्चय होता है। अन्य प्रकार (रूप) वाले धूम से यद्यपि एकांश का अवग्रह होता है, तथापि शंका के हेतु का निवर्तन नहीं हुआ रहता, अतः संशय की ही स्थिति बनी रहती है। संशय, भावाभावानियत अर्थ का ही, जो कि अशक्यप्रापण होता है, दर्शक होता है, अतः, अर्थसिद्धि का निबन्धन वह नहीं होता। अभिप्राय यह है कि वह प्राप्ति ज्ञानान्तर के ही कारण होती है। अतः, मिथ्याज्ञान कहीं पर भी प्रमाण नहीं होता। मिथ्याज्ञान से कहीं भी अर्थसिद्धि वा अर्थप्राप्ति नहीं होती, अपितु, मिथ्याज्ञान से जिस कादाचित्कअर्थप्राप्ति की बात 'दिनीतदेवादि' स्वीकार करते हैं, वह भी ज्ञानान्तर के ही कारण होती है।¹⁵⁵ अतः, आचार्य धर्मकीर्ति सम्यग्ज्ञान की ही विवेचना करते हैं। यदि, आचार्य का ऐसा अभिप्राय होता कि मिथ्याज्ञान से भी अर्थसिद्धि होती है, तो वे सम्यग्ज्ञान का ही विस्तार से विवेचन न करते। चूँकि, वे

(धर्मकीर्ति) सम्यग्ज्ञान के ही व्युत्पादन की घोषणा करते हैं, अतः इससे स्पष्ट होता है कि आचार्य को यह अभिप्रेत नहीं है कि मिथ्याज्ञान से भी कभी-कभी अर्थसिद्धि होती है।⁶⁶

साकारज्ञान ही प्रमाण है

'सौत्रान्तिक' और 'योगाचार' मत के नैयायिक साकारज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं। बौद्ध नैयायिकों में ज्ञान की साकारता-निराकारता के प्रसंग में स्वयूथकलह भी था जिस पर हम आगे विचार करेंगे। हमें यहाँ देखना यह है कि साकारज्ञान से बौद्ध नैयायिक क्या समझते हैं और साकारज्ञान को ही वे क्यों प्रमाण मानते हैं ? साकारज्ञान का अभिप्रेत है विषयाकारज्ञान। बौद्धदर्शन में 'आकार' शब्द के दो अर्थ हैं— (क) वर्ण और (ख) संस्थान। 'अभिधर्मकोश' की 'स्फुटार्था' नामक व्याख्या के अनुसार सौत्रान्तिक आकार शब्द से 'वर्ण' को ही लेते हैं, संस्थान को नहीं।⁶⁷ 'न्यायबिन्दुटीका' में 'धर्मोत्तर' अन्य आकार वाली वस्तु का ग्राहक ज्ञान दूसरे आकार वाली वस्तु में प्रमाण नहीं होता जैसे, पीतशंख को ग्रहण करने वाला ज्ञान शुक्लशंख के विषय में प्रमाण नहीं होता⁶⁸ ऐसा कहते हैं, जो स्फुटार्थाकार के कथन को पुष्ट करता है, क्योंकि 'धर्मात्तर' ने आकार के प्रसंग में जो उदाहरण दिया है वह केवल वर्ण का ही है, संस्थान का नहीं। किन्तु, आचार्य 'धर्मकीर्ति' 'प्रज्ञाकर' एवं 'मनोरथनन्दि' आकार से 'वर्ण' एवं 'संस्थान' दोनों को समझते हैं। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न स्वाभाविक है कि आचार्य धर्मकीर्ति का आकार के प्रसंग में क्या दृष्टिकोण है? यहाँ इतना ही कहना उचित है कि आचार्य 'धर्मकीर्ति' के दर्शन में ज्ञान के प्रसंग में 'आकार' शब्द व्यापक अर्थ में आया है, मात्र 'वर्ण' के अर्थ में नहीं और उसकी कुक्षि में 'वर्ण' के साथ 'संस्थान' का भी समावेश हो जाता है। ऐसा क्यों है, इस पर ज्ञान की साकारता-निराकारता के प्रसंग में विचार होगा। यहाँ सौत्रान्तिक दृष्टि से ही साकारज्ञान पर विचार करेंगे।

'सौत्रान्तिक' बाह्यार्थवादी है, किन्तु 'वैभाषिकों' से, 'विषयज्ञान कैसे होता है और किस तरह का ज्ञान प्रमाण है', इस बात में उनका मतवैभिन्न्य है। 'सौत्रान्तिक' ज्ञान में द्योतित आकार का विषय से सारूप्य को फलरूप विषयाधिगति का प्रमाण मानते हैं। साकारज्ञान ही प्रमाण है, इसका कारण यह है कि यदि ज्ञान निराकार हो, जबकि विषय साकार, तो अनुभवमात्र, मात्र अनुभव ही रह जायेगा, नील विषय का ज्ञान मात्र ज्ञान या अनुभव रहेगा, नीलज्ञान नहीं होगा। अतएव, विषयाधिगति के रूप में ज्ञान को अवश्य ही साकार मानना चाहिए। इसी कारण साकारज्ञान को विषयाकारज्ञान

कहा जाता है। पुनश्च, चूँकि ज्ञान ही प्रमाण है और फल की निष्पत्ति में सबसे अन्त में होनेवाला कारण ही साधकतम होने से 'करण' कहलाता है, और किसी विषय के फलज्ञान का साधकतम कारण है ज्ञान द्वारा विषय के आकार को धारण करना, अतः साकारज्ञान ही प्रमाण है। इसीलिए, साकार ज्ञान को विषयाकार को धारण करने वाला व्यापार समझा जाता है। सौत्रान्तिकों का कहना है कि आकारतया ही अर्थनिश्चय (व्यवस्थापन) होता है, अतः आकार ही प्रमाण है। ग्राहकाकार या स्वाभास प्रमाण नहीं है, क्योंकि, बाह्यार्थ, ग्राहकाकार का, प्रमेय नहीं होता। चूँकि, बाह्यार्थ का ज्ञान, विषयाकारता के माध्यम से होता है और चूँकि इसकी स्वसंवित्ति होती है, अतः विषयाकारता, या साकारज्ञान ही प्रमाण है। ज्ञान द्वारा विषय के आकार को धारण करने को ही 'अर्थसारूप्य' भी कहते हैं। प्रमाणवार्तिक तथा 'न्यायबिन्दु' दोनों में ही उसके टीकाकार—'प्रज्ञाकर', 'मनोरथनन्दि' तथा 'धर्मोत्तर'—अधिगम रूप फल के प्रसंग में साकारज्ञान के प्रमाण होने का विवेचन करते हैं। आचार्य 'प्रज्ञाकर' कहते हैं—'विषयाकार ज्ञान का आत्मभूत होता है और आकार का भाव होने पर ही अधिगम का भाव होता है। आकार और अधिगम में अव्यतिरेकता होने से आकार को अधिगम का प्रमाण कहा जाता है। आकार अधिगम का कारण है, क्योंकि वह उसका अव्यवहित कारण है।'⁶⁹

न्यायबिन्दुटीकाकार 'धर्मोत्तर' 'अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्'⁷⁰ सूत्र की व्याख्या में बतलाते हैं कि ज्ञान उस विषय के सदृश ही होता है जिस विषय से वह उत्पन्न होता है, जैसे नील अर्थ से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान नीलसदृश ही होता है। इसी सारूप्य को सादृश्य या आकार अथवा आभास आदि के नाम से भी अभिहित किया जाता है। स्पष्ट है कि केवल विशुद्ध (निराकार) ज्ञान के होने से ही 'यह नील है' इस प्रकार से अर्थ-प्रतीति होना संभव नहीं, क्योंकि वह ज्ञान तो सभी अर्थों में समानरूप से होता है, किन्तु वस्तु का सारूप्य उस ज्ञान में और उस ज्ञान को हो जाता है, ज्ञान को वस्तु के आकार वाला बना देता है। अतः, वस्तु को ज्ञान का विषय मानने का कारण यह नहीं है कि ज्ञान वस्तु को ग्रहण करता है, अपितु जो ज्ञान जिस अर्थ से पैदा होता है तथा जिसके सदृश होता है, वही वस्तु उस ज्ञान का विषय कहलाती है। सौत्रान्तिकों की यह भी मान्यता है कि अर्थ ज्ञान में अपने आकार को अर्पित करता है।⁷¹ दूसरे शब्दों में किसी अर्थ से जो ज्ञान पैदा होता है वह उस अर्थ के आकार में ही उत्पन्न होता है। चूँकि, हेतुता ही ग्राह्यता है अतः, उन हेतुओं में बुद्धि जिस आकार वाली होती है उसका वही ग्राह्यविषय कहा जाता है।⁷² बुद्धि आकार का ही अनुकरण करती है, अतः, साकारज्ञान ही प्रमाण है। पुनश्च, रूपादि कर्म में ज्ञान अनुभव रूप से

सर्वत्र तुल्य है। अतः, ज्ञान को प्रतिविषय में व्यतिरेकी होना चाहिए, जिसके द्वारा 'यह नील का ज्ञान है', 'यह पीत का ज्ञान है' इत्यादि रूप से प्रतिविषय में ज्ञान की व्यवस्था हो। यह व्यवस्था आकार के ही माध्यम से होती है, क्योंकि इन्द्रियादि किसी प्रकार से ज्ञान का भेदक होकर भी अर्थाकारता के अतिरिक्त, ज्ञान की ज्ञेय के साथ 'यह नील की अधिगति है' 'यह पीत की अधिगति है' इत्यादि रूप से योजना नहीं करती हैं। यद्यपि, प्रति अर्थ और प्रति इन्द्रिय ज्ञानों से भेद होता है, तो भी, विषयसारूप्य के अभाव में उस विशेष का निर्देश शक्य नहीं है। अतएव, फलभूत तथा व्यवस्थाप्य अधिगति का प्रमाण अर्थाकारता ही है। यदि सारूप्य या साकारता को छोड़कर और किसी को प्रमाण माना जाय, तो, अधिगतिक्रिया की, 'यह नील की अधिगति है' 'यह पीत की अधिगति है' के रूप में, प्रतिकर्मव्यवस्था सिद्ध नहीं हो सकती। इसी अभिप्राय को 'न्यायबिन्दु' में 'तद्वशाद् अर्थप्रतीतिसिद्धेरिति'⁷³ के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। 'टिप्पणीकार'⁷⁴ एवं 'प्रदीपकार'⁷⁵ इसे और स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि सारूप्य या साकारता से भिन्न ज्ञान की व्यवस्था का कोई अन्य हेतु नहीं हो सकता और सारूप्य या साकारता भी ज्ञानभिन्न नहीं हो सकती। इसीलिए, साकारज्ञान को ही प्रमाण माना जाता है। जब प्रत्यक्ष के पृष्ठभावी विकल्प के द्वारा यह ज्ञान हो जाता है कि अमुक प्रत्यक्षज्ञान नीलाकार है, तभी यह निश्चय होता है कि यह नील का ज्ञान है। यही नीलप्रतीति की सिद्धि है। यह सिद्धि ज्ञान के अर्थाकार होने से ही संभव होती है, फलतः ज्ञान का व्यवस्थापक होने के कारण ही अर्थाकारता या अर्थसादृश्य को प्रमाण कहा जाता है। पुनश्च, चाक्षुषज्ञान में अर्थ, चक्षु, प्रकाश और विज्ञान रूप जो चतुर्विध कारण होते हैं, उनमें से इन्द्रिय और प्रकाश के द्वारा यह व्यवस्था नहीं हो सकती कि 'यह पीत की प्रतीति है, नील की नहीं', क्योंकि, इन दोनों की, सभी चाक्षुष ज्ञानों में, समानरूप से प्राप्ति होती है। इसी प्रकार, नीलादि अर्थ भी, ज्ञान में किसी विशेषता को बिना उत्पन्न किये, उपर्युक्त व्यवस्था को नहीं कर सकता। अतः, स्पष्ट है कि ज्ञान में जब तक विषय-कृत विशेषता नहीं होगी, तबतक इस प्रकार की व्यवस्था असंभव है कि 'यह नील का ज्ञान है, पीत का नहीं'। अतः, सिद्ध हुआ कि इस प्रकार की व्यवस्था का हेतु सारूप्य या साकारता है। वह साधकतम है, अतः प्रमाण है। यदि ज्ञान निराकार होगा, तो विज्ञान की प्रतिकर्मव्यवस्था नहीं हो सकेगी। पुनश्च, यद्यपि ज्ञान अनेक प्राग्भावी स्थितियों में उत्पन्न होता है, तथापि ज्ञान अर्थ के आकार को धारण करता है, किसी अन्य के आकार को वह धारण नहीं करता, क्योंकि, सादृश्य का जो निश्चय है उसकी ताद्रूप्येण सतत उत्पत्ति होती रहती है। यदि विषय उससे अन्य आकार वाला होता, तो कभी न कभी वह उस इतर आकार के अनुकूल ज्ञान को पैदा करता। किन्तु यथार्थ नीलज्ञान का कभी भी अन्याकारत्व

नहीं होता, फलतः, 'अर्थ भी इसी आकार का है', ऐसा निश्चय किया जाता है।⁷⁶

इस प्रसंग में यह भी ध्यानीय है कि स्वलक्षण रूप परमार्थसत् से उत्पन्न होनेवाला प्रत्यक्षज्ञान भी तदाकार ही हुआ करता है। 'पीत स्वलक्षण' से उत्पन्न होने वाला ज्ञान पीतसदृश ही हुआ करता है। अतः, सौत्रान्तिकों का आशय यह है कि सभी परमार्थसत् वस्तुएँ प्रत्यक्षज्ञान में स्वाकार को समर्पित करती हैं। यही कारण है कि बौद्धों ने अवयवी के प्रत्यक्ष के खण्डन के प्रसंग में विरोधियों की खिल्ली उड़ाई है। 'सौत्रान्तिक' जब साकारज्ञान को प्रमाण कहते हैं, तो, उनका भाव यह है कि जब पीत आदि अर्थ से चाक्षुषज्ञान उत्पन्न होता है, तो वह पीताकार हुआ करता है। इस ज्ञान के दो रूप होते हैं — (क) पीतसारूप्य अर्थात् पीताकारता और (ख) पीतबोध। इनमें से प्रथम के द्वारा अपीताकारता की व्यावृत्ति हो जाती है और 'यह पीत का बोध है, अन्य का नहीं यह व्यवस्थित करा दिया जाता है। इस प्रकार, ज्ञानगत पीतसारूप्य ही, 'यह पीत का ज्ञान है' नील का नहीं, इस प्रकार की व्यवस्था का साधन होता है, अतः प्रमाण है।⁷⁷

स्पष्ट है कि 'सौत्रान्तिक' मतानुसार आकार, मेयरूपता, अर्थरूपता, सारूप्य, ताद्रूप्य, सादृश्य⁷⁸, ज्ञानात्मभूतविशेष, अनाकारव्यावृत्ति इत्यादि शब्दों से प्रतिपाद्य ज्ञानांश प्रमाण है। ज्ञान यद्यपि अनेक कारणों से पैदा होता है, तथापि उसका सारूप्य चक्षुरादि से न होकर अर्थ से ही है। उदाहरणार्थ, जिसप्रकार पुत्र, माता—पितादि अनेक कारणों से जात होने पर भी, माता—पिता के ही आकार को धारण करता है, तद्वत् अनेक कारणों से यद्यपि ज्ञान पैदा होता है, तथापि, वह 'आलम्बन प्रत्यय' के आकार का होता है। यही आकार विषयव्यवस्थापक होता है, अर्थात् प्रतीति को किसी एक विषय में नियत करने के लिए यही आकार साधकतम होता है और इसी कारण आकार ही प्रमाण है।⁷⁹ आकार प्रमाण है, यह बात तभी सिद्ध होगी, यदि यह सिद्ध हो कि ज्ञान साकार होता है। बौद्ध नैयायिक "दिग्नाग" तथा 'धर्मकीर्ति' एवं 'प्रज्ञाकर' 'विषयज्ञान' तथा 'विषयज्ञान—ज्ञान' अर्थात् अर्थाभास एवं स्वाभास के आधार पर ज्ञान की साकारता को प्रतिपादित करते हैं।⁸⁰ अतः साकारज्ञान ही प्रमाण है।

यहाँ हम यह कह देना चाहते हैं कि 'दिग्नाग', 'धर्मकीर्ति', 'प्रज्ञाकर' तथा अन्य साकारविज्ञानवादी विज्ञान की साकारता मानते हुए भी बाह्यार्थवादी नहीं हैं। इसी कारण आचार्य 'धर्मकीर्ति' ने 'अर्थसंवेदनचिन्ता' के प्रसंग में 'सौत्रान्तिकों' की आलोचना की और प्रतिपादित किया कि अर्थ ज्ञान में अपने आकार को अर्पित नहीं करता, अपितु ज्ञान ही 'द्विरूप' होता है, ज्ञान में 'अर्थाभास एवं स्वाभास' दोनों होता है। यद्यपि

आचार्य 'दिग्नाग' ने बाह्य अर्थ में भी ज्ञान की द्विरूपता को कहा है, किन्तु वहाँ पर 'सौत्रान्तिकों' का अभ्युपगम करके आचार्य ने ऐसा कहा है। अतः, सौत्रान्तिकों एवं 'विज्ञानवादियों' में ज्ञान की साकारता को लेकर भूमिकाभेद है। इसी प्रसंग में 'आकारप्रचय' की भी समस्या उठती है। इस पर हम आगे विचार करेंगे। हाँ, प्रमाणपरिच्छेद में आचार्य प्रज्ञाकर ने 'ज्ञान साकार होता है और वह प्रमाण है' इस प्रसंग में, दो बातें कही हैं। प्रथमतः, ज्ञानगत विषयाकाररूप साधन के भेद से विषयाधिगमरूप फल का भेद होता है, फलतः विषयज्ञान रूप प्रमा का करण होने से ज्ञान या धी को प्रमाण कहा जाता है। प्रवर्तक होने के कारण नहीं, अपितु प्रतिपत्ति का करण होने से वह प्रमाण है। प्रतिपत्ति (प्रमा ज्ञान) हो जाने के अनन्तर वह व्यक्ति प्रवर्तित हो या न हो, तथापि बुद्धि में अर्थताभाव का व्यवस्थापन (अर्थतथात्व की व्यवस्थापकता) हो जाने पर प्रमाणता दृढ़ हो जाती है। अर्थ (विषय वस्तु) के व्यवस्थापित हो जाने पर यदि पुरुष प्रवर्तित नहीं होता तो इसमें प्रमाण का कोई दोष नहीं। अतः प्रापकत्व के कारण धी प्रमाण है, ऐसा नहीं, अपितु प्रापणयोग्यता के कारण वह प्रमाण है। द्वितीयतः, जैसा स्वामी योगीन्द्रानन्दजी अलंकारभाष्य की अपनी हिन्दी व्याख्या (पृ० 52) में लिखते हैं – "ज्ञानगत प्रमाणता का प्रयोजक ज्ञानगत विषयाकार है। वह विषय का प्रतिबिम्ब नहीं, अपितु विषयाकार के समान वह आकार है, जो अनादि वासनाओं द्वारा प्रादुर्भूत होता है। 'आकार' शब्द का अर्थ आकरण या उल्लेख है। ज्ञान का विषयाकार में परिणत या विषय के सदृश होना।" यह साकारता ज्ञान का अपना स्वरूप है, अतः ज्ञान (साकार ज्ञान) प्रमाण है।

अज्ञातार्थप्रकाशो वा, (प्रमाणम्)

आचार्य 'धर्मकीर्ति' प्रमाणवार्तिक में 'अज्ञातार्थप्रकाश' को भी प्रमाण का लक्षण मानते हैं। 'वा' शब्द से यह ध्वनित होता है कि अथवा 'अज्ञातार्थ का प्रकाश' प्रमाण है। फलतः 'धर्मकीर्ति' को प्रमाण के दो लक्षण अभीष्ट हैं। भाष्यकार 'प्रज्ञाकर' इस द्वितीय लक्षण को 'पारमार्थिक प्रमाण' का लक्षण मानते हैं।⁶¹ 'प्रमाणवार्तिक' पर 'वृत्ति' नामक टीका के रचयिता 'मनोरथनन्दि' 'अज्ञातार्थप्रकाशो वा' में 'वा' शब्द की कुछ भी व्याख्या न कर 'अविसंवादित्व' और 'अज्ञातार्थप्रकाश' इन दोनों को परस्पर सापेक्ष रूप में प्रमाण का लक्षण मानते हैं।⁶²

'अज्ञात' अर्थ के ज्ञान को प्रमाण कहते हैं, इससे यह भी फलित होता है कि अगृहीतग्राही ज्ञान प्रमाण है, गृहीतग्राही नहीं। हम जानते हैं कि नैयायिकादि गृहीतग्राही धारावाहिक ज्ञान को भी प्रमाण मानते हैं। इस मत का निराकरण करने के

लिए ही प्रमाण को 'अज्ञातार्थप्रकाश' कहा गया है। गृहीतग्राही को इसलिए प्रमाण नहीं माना जाता कि जिस प्रथम ज्ञान ने अर्थ को जान लिया, तो, उसके द्वारा प्रमाण का कार्य समाप्त हो गया, फिर उसी अर्थ में दूसरे, तीसरे आदि ज्ञानों का कोई कार्य शेष नहीं रह जाता।

'अज्ञातार्थप्रकाश' शब्द में 'अर्थ' के ग्रहण से द्विचन्द्रादि के ज्ञान का निरास हो जाता है। 'अज्ञात' शब्द के ग्रहण से 'अवयविन्' आदि को विषय करने वाले सांवृतज्ञान का निरास हो जाता है, क्योंकि, पृथक्-पृथक् गृहीत रूपादि की अवयवीरूप से कल्पना की जाती है। इसी प्रकार, स्मरण भी पूर्वगृहीत अर्थ का विकल्परूप होने से प्रमाण नहीं है। 'मनोरथनन्दि' का पक्ष है कि अविसंवाद होने पर भी अज्ञातार्थ-प्रकाश की अपेक्षा होती है। यदि ऐसा न हो, तो, सांवृतज्ञान का निरास नहीं हो सकता है।¹³ इसी प्रकार, अज्ञातार्थप्रकाश होने पर भी अविसंवाद की अपेक्षा होती है, अन्यथा पीतशंखादिज्ञान भी प्रमाण हो जायगा।

'आचार्य प्रज्ञाकर' इसकी व्याख्या में बतलाते हैं कि अज्ञातार्थ का जो प्रकाशक ज्ञान है, वह प्रमाण है। सांवृत दृष्टि से ज्ञान अज्ञात अर्थ का प्रकाशक नहीं होता है। व्यवहार में ज्ञान के द्वारा कोई अज्ञात अर्थ प्रकाशित नहीं होता, क्योंकि व्यवहार में ज्ञान के द्वारा गृहीत रूपादि का ही पृथक् विकल्पात्मक ज्ञान होता है। यद्यपि, अर्थत्वज्ञापन में अविसंवादित्व उपयोगी है, तथापि, प्रमाण के लक्षण को 'अज्ञातार्थप्रकाश' रूप मानने से ही गृहीतग्राही प्रत्यय को 'प्रमाण' की कुक्षि से बाहर रखा जा सकता है। अविसंवादित्व मात्र से ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि गृहीतग्राही प्रत्यय अविसंवादी हो सकता है। पुनश्च, अविसंवादन के द्वारा अर्थत्व की गति (अर्थत्व का ज्ञान) नहीं होती। अविसंवाद होने पर भी संवृतिदृष्टि से जो सत् हैं उनके अर्थत्व की सिद्धि नहीं होती।¹⁴

अथवा, अर्थ शब्द यहाँ पर 'परमार्थ' के अर्थ में आया है। अतः 'अज्ञातार्थप्रकाश' का अर्थ हुआ परमार्थ को प्रकाशित करने वाला ज्ञान। परमार्थ, अद्वैतरूपता को कहते हैं। अतः जो ज्ञान अद्वैतरूपता का प्रकाशन करे वही प्रमाण है। प्रज्ञाकर के शब्दों में यह पारमार्थिक प्रमाण का लक्षण है, और इसके पहले 'अविसंवादिज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्' रूप जो लक्षण दिया गया था वह सांव्यवहारिक प्रमाण का लक्षण है।¹⁵

अज्ञातार्थप्रकाश के प्रसंग में ऐसी आशंका हो सकती है कि 'स्वलक्षण' की प्रतीति के अनन्तर जो सामान्यविषयक ज्ञान होता है वह अज्ञातार्थ प्रकाशक होने से प्रमाण हो जायगा। इस शंका का निराकरण करने के लिए आचार्य कहते हैं कि 'अज्ञात

स्वलक्षण' को विषय करने वाला जो ज्ञान है वह प्रमाण है। अनुमान भी, यथार्थ में, स्वलक्षण को ही विषय बनाता है। स्पष्ट है कि बौद्धों को अनधिगतस्वलक्षण विषयक ज्ञान ही प्रमाणरूप में अभीष्ट है, सामान्यविषयक (अनधिगत सामान्यविषयक) नहीं, क्योंकि, स्वलक्षण ही अर्थक्रिया करने में समर्थ होता है और इसी कारण अर्थक्रियार्थी प्रमाण से 'स्वलक्षण' की ही खोज करते हैं। पुनश्च, जैसा 'प्रज्ञाकराचार्य' कहते भी हैं, — 'प्रेक्षावान लोगों के द्वारा प्रमाण की अपेक्षा 'अस्ति' अथवा 'नास्ति' के व्यवस्थापनार्थ की जाती है। 'अस्ति' एवं 'नास्ति' का विचार 'स्वलक्षण' का ही है, सामान्यलक्षण का नहीं।⁸⁶

यह आशंका उठ सकती है कि यदि उपर्युक्त स्थिति को माना जाय, तब 'वही यह है' ऐसा जानकर, सामान्यलक्षण का अवबोध न होने पर भी कोई कैसे उसमें प्रवर्तित होता है? 'प्रज्ञाकर' का समाधान है कि सामान्य का बोध न होने पर भी अत्यन्त अभ्यास के कारण प्रवर्तन होता है। यदि पूर्वपक्षी कहे कि वहाँ पर भी सामान्य ही प्रवर्तक है, तो 'प्रज्ञाकर' का उत्तर है कि उसका ज्ञान होने पर भी यदि 'स्वलक्षण' ज्ञान नहीं रहता है तो , कोई वहाँ प्रवर्तित नहीं होता है। 'स्वलक्षण' का ज्ञान होने पर, सामान्य का परिच्छेद न होने पर भी अभ्यास के कारण व्यक्ति प्रवर्तित होता है। अतएव, अप्रवर्तकत्व के कारण, तथा तदुन्मुखत्व के अभाव के कारण अगृहीतग्राही होने पर भी सामान्यलक्षण-विषयक ज्ञान प्रमाण नहीं है। अथवा प्रवर्तकत्व मान भी लें तो भी, तदुन्मुखत्व के अभाव के कारण अगृहीतग्राही होने पर भी सामान्यलक्षणविषयक ज्ञान प्रमाण नहीं। पुनश्च, स्वसंवेदन के द्वारा ग्रहण होने पर वह स्वलक्षण ही है। इसके अतिरिक्त अद्वैतरूप परमार्थ सामान्यलक्षणरूप नहीं होता, अपितु स्वलक्षण रूप होता है।⁸⁷

प्रमाणं सम्यग्ज्ञानमपूर्वगोचरम्

'मोक्षाकरगुप्त' के अनुसार अर्थ विषयक सम्यग्ज्ञान (वह यथार्थज्ञान जिसका विषय पूर्व में ज्ञात न हो) प्रमाण कहलाता है।⁸⁸ व्युत्पत्ति: प्रमाण वह है जिसके द्वारा किसी विषय को भली-भाँति जाना जाय। इसे ही, संदेह और विपर्यासदोष से रहित होने के कारण सम्यग्ज्ञान कहते हैं और लोक में अविश्ववादक ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। संशय और विपर्यास विश्ववाद रूप हैं, उनमें अविश्ववादकत्व नहीं रहता। स्पष्ट है कि 'मोक्षाकरगुप्त' भी अविश्ववादक ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कह रहे हैं। अपूर्वगोचर का अर्थ है ऐसा ज्ञान जिसका विषय पहले ज्ञात न हो। गोचर से तात्पर्य है, घट इत्यादि विषय। उस घटादि विषय से उत्पन्न और उस अर्थ को प्राप्त कराने योग्य ज्ञान प्रमाण है।⁸⁹

यह आशंका उत्पन्न हो सकती है कि ज्ञानरूप कर्ता प्रयोज्यरूप पुरुष को यदि कर्मभूत विषय को कदाचित् प्राप्त न कराये, तो अप्रापक होने के कारण ज्ञान प्रमाण कैसे हो सकेगा? अन्य आचार्यों की ही भाँति 'मोक्षाकरगुप्त' भी कहते हैं कि ज्ञान मनुष्य को हठात् किसी विषय की ओर प्रवृत्त नहीं कराता है। ज्ञान 'इस वस्तु का स्वरूप इस प्रकार का है, इससे अन्य प्रकार का नहीं' ऐसा निश्चय उत्पन्न करता है। इतना करना ही ज्ञान की प्रामाणिकता है। प्रयोजन रहने पर पुरुष उसमें प्रवृत्त हो सकता है, प्रयोजन नहीं रहने पर प्रवृत्त नहीं भी हो सकता। किसी के द्वारा अर्थ का अपहरण कर लिए जाने पर भी ज्ञान का कुछ बनता — बिगड़ता नहीं। पुनश्च, यह आशंका उठायी जा सकती है कि अविसंवादिकता के कारण ही ज्ञान की प्रामाणिकता है। अविसंवादिकता का अर्थ है दृष्टवस्तु को प्राप्त करना। किन्तु विषय के क्षणिक होने के कारण जो वस्तु दृष्ट होती है, वही प्राप्त नहीं होती है। हमको दिखलायी पड़ता है रूप और प्राप्त होती है स्पष्टव्य वस्तु। ऐसी स्थिति में यह फलित हुआ कि देखी जाती है अन्य वस्तु और प्राप्त होती है अन्य, अतएव, अप्रतीत को प्राप्त कराने के कारण ज्ञान की प्रामाणिकता का निर्वाह कैसे किया जा सकता है? 'मोक्षाकर गुप्त' का उत्तर है कि ऐसी आशंका ठीक नहीं, क्योंकि, यद्यपि वस्तुतः प्राप्ति होती है देखी गयी वस्तु से अन्य वस्तु की ही, तथापि, निश्चय यही होता है कि मैं ने दृष्टवस्तु को ही प्राप्त किया है। इसी कारण एकत्व का अध्यवसाय करने के कारण ज्ञान को दृष्ट को (प्रतीत को) प्राप्त कराने वाला कहा जाता है। मरुमरीचिका में जलज्ञान की स्थिति ऐसी है कि वह ज्ञान विषय को प्राप्त कराने में अयोग्य है, फलतः वह अप्रामाणिक ही है।^{१०}

'प्रश्न है कि क्या प्राप्त करने योग्य है और क्या प्राप्त करने योग्य नहीं है? क्रिया द्वारा, अर्थ की प्राप्ति किये बिना, यह निश्चय करना संभव नहीं है। ज्ञान की उत्पत्ति मात्र से भ्रान्त और अभ्रान्त के विभेद का निश्चय नहीं हो जाता। तब कोई ज्ञान सम्यग्ज्ञान कैसे है, यह प्रश्न बना ही रह जाता है।' 'मोक्षाकर गुप्त' का उत्तर है कि यह कोई दोष नहीं है। यद्यपि, ज्ञान मात्र के उदय से उक्त दोनों प्रकार के ज्ञान की विशेषताओं का निश्चय करना संभव नहीं है, तथापि, ज्ञानविशेष के उत्पन्न होने से एक ही विशेषता का निश्चय इस प्रकार होता है :— जैसे कि, कोई एक मन्दबुद्धि व्यक्ति है, वह ज्ञान में उत्पत्तिवशात् अविसंवादिकता का निश्चय करने में असमर्थ है। फिर भी, वह जलना, पकाना, जल में प्रवेश करना, स्नान करना, पीना, पानी में डुबकी लगाकर निकलना आदि क्रियाओं का अनुभव करने वाले व्यक्ति को दूर से देखकर तथा उड़ते हुए धूमादि को देखकर उक्त अविसंवादिकता का निश्चय कर लेता है। बुद्धिमान मनुष्य चातुरी से, प्रत्यक्षमात्र से ही, उक्त संगति का निश्चय कर लेता है, इसके लिए उसे अर्थक्रिया की प्राप्ति तक जाने की आवश्यकता नहीं होती। पूर्वपक्षी

आक्षेप करता है कि यदि अविश्ववाद प्रमाण का लक्षण है तब श्रोत्रज्ञान का प्रामाण्य कैसे हो सकेगा, क्योंकि वह अधिगत अर्थ का प्रापक नहीं होता है। 'मोक्षाकरगुप्त' का कहना है कि यह आक्षेप उचित नहीं है, क्योंकि, प्रामाणिकता का अर्थ है 'अर्थस्वरूप' की प्रतीति।⁹¹ अर्थस्वरूप की प्रतीति, क्रिया द्वारा बाह्यार्थ के प्राप्त न होने पर भी संभव होती है। इसी कारण 'धर्मकीर्ति' ने प्रमाणवार्तिक में कहा है कि 'अविश्ववादिज्ञान को प्रमाण कहते हैं और अर्थक्रिया की स्थिति (अविचल व्यवस्था) को अविश्ववादन कहते हैं। श्रोत्रज्ञान में अविश्ववादित्व शब्द के श्रवणमात्र से चरितार्थ हो जाता है, अतः वह श्रवणमात्र ही अर्थक्रिया की स्थिति या सिद्धि है। जैसे—सूर्य, चन्द्र, मेघ, चित्र आदि का दर्शनमात्र ही उनकी अर्थक्रियास्थिति है। कहा भी गया है — 'वहाँ पर ज्ञेयस्वरूप की संविधि ही अर्थक्रियास्थिति के रूप में दृष्ट है।' पहले प्रेक्षावान अर्थक्रिया की चाह से, वस्तु प्राप्ति के संदेह से जल, अग्नि आदि के लिए प्रवृत्त होता है। यदि प्रेक्षावान को संदेह न हो और मुझे हो, तो भी साधक और बाधक प्रमाण का अभाव होने के कारण जो उचित संदेह है उसका निवारण कौन कर सकता है? अतः, यह स्थापित हुआ कि बुद्धिमान पुरुष किसी अर्थ की ओर, दो कारणों से प्रवृत्त होता है — प्रथमतः, व्यवहार से निरन्तर अर्थक्रिया को प्राप्त करने के कारण और द्वितीयतः, पटुतर प्रत्यक्ष के उदय होने के कारण। परन्तु मन्दबुद्धि व्यक्ति उस प्रकार के अनुमान से प्रवर्तित होता है। इससे, 'मोक्षाकरगुप्त' के अनुसार यह भी फलित होता है कि जो विज्ञान पहले से ही विषय में प्रवृत्त है वही प्रमाण है। यह आवश्यक नहीं कि पश्चाद्भावी दूसरा ज्ञान भी वही प्रवृत्त हो। ज्ञात का ग्रहण कराने के कारण द्वितीय ज्ञान अप्रामाणिक ही होता है। पुनश्च, सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहने के कारण इसके सामर्थ्य से जड़स्वभाववाली इन्द्रियों की प्रामाणिकता का निरास हो जाता है। कारण यह है कि इन्द्रियाँ विषय की परिच्छेदक नहीं हो सकतीं, उनमें उस सामर्थ्य का अभाव रहता है जिससे विषय का परिच्छेद होता है, क्योंकि, परिच्छेदक होने का अर्थ है ज्ञाता होना। यह ज्ञातृत्व ज्ञान का ही अपना स्वरूप है। यह अज्ञानात्मक इन्द्रियों का स्वरूप कैसे हो सकता है?⁹²

ऊपर किये गये अब तक के संपूर्ण विवेचन को समेटें तो हम कह सकते हैं कि बौद्धों के लिए सम्यग्ज्ञान की द्विविध स्थितियाँ होती हैं — प्रमाण एवं प्रमाणफल। प्रथम, स्वयं ज्ञानस्वरूप है; द्वितीय प्रथम के बल से होनेवाला अर्थनिश्चय अथवा 'विषय की प्रमाणजन्यप्राप्ति'। प्रमाण साकारज्ञान है। सौत्रान्तिकों के लिए इसका अर्थ यह है कि अर्थग्रहण साकारज्ञान के उदय से होता है और साकारज्ञान ही प्रमाण है, क्योंकि, आकारवान होता हुआ ही ज्ञान हमें यह निश्चय कराता है कि 'यह नील का ज्ञान है' पीत का नहीं। इस गृहीत आकार या आकृति को ही 'धर्मकीर्ति' 'सारूप्य' कहते हैं जो विज्ञान के विषय का प्रदर्शन करने वाली, स्थिति है और जिसके बल से विषय

का निश्चय होता है। यह भी ध्यानीय है कि 'विषय के प्रदर्शन में जो ध्यान का आकर्षण होता है और जो निश्चय तक पहुँचाता है, वही प्रवर्तन है। अध्यवसाय या निश्चय विषय का ग्रहण करने वाले विज्ञान और उसके ग्राह्य आकार को विषय के रूप में व्यवस्थित कराता है। विषय द्विविध हैं — ग्राह्य और अध्यवसेय। इनमें ग्राह्यविषय भी, वस्तुभूतक्षण और अवस्तुविकल्प रूप से द्विविध हो सकता है। अध्यवसेय विषय संतानरूप (विज्ञानप्रवाह रूप) विकल्पित नीलविज्ञान विषय होता है। ग्रहण में, बोध में, मात्र आभास में 'नीलविज्ञान' ही रहता है, किन्तु यह ज्ञान नहीं रहता कि 'यह नील का विज्ञान है। यह अध्यवसाय का कार्य है। इसीलिए 'प्रत्यक्ष' और 'प्रत्यक्ष प्रमाण' में भेद करना चाहिए। विज्ञान का उदय, नीलाकार, पीताकार रूप में ही होता है; नील, पीत आदि के प्रतिभास अथवा आकार के बिना भी विज्ञान का उन्मेष हो, ऐसा संभव नहीं। इससे फलित होता है कि विज्ञान के उदय में विषयोत्प्लेख की स्थिति तो प्राप्त होती है, परन्तु उस में स्फुटाभत्व नहीं रहता, सारूप्य के रहते हुए भी उसमें परिच्छिन्नता एवं व्यवस्था नहीं रहती, अर्थात् 'नील का यह विज्ञान पीत रूप विषयान्तर से पृथक् है' इस रूप में वह पृथक्त्व नहीं रहता। कोई चीज व्यवस्थित तब कही जाती है जब ज्ञानचक्र में यह ग्राहकविज्ञान है, इस रूप में सम्बन्ध नियत हो जाता है। बोध या ग्रहण में इसकी प्राप्ति नहीं होती, अपितु, यह सारा कार्य अध्यवसाय दशा में होता है। परिच्छेदात्मक ज्ञान हो इसके लिए दो चीजें चाहिए—विकल्प और अध्यवसाय। इनके बिना परिच्छेद नहीं हो सकता। इसी प्रकार, किसी ज्ञान के व्यवस्थापन हेतु भी दो चीजें अनिवार्य हैं— 'प्रतिभास एवं स्वसंवेदन के आधार पर अध्यवसाय'। प्रत्यक्षबलोत्पन्न तत्पृष्ठभावी विकल्प में दोनों चीजें अन्तर्भावित रहती हैं, परिणामस्वरूप विषय का अधिग्रहण और प्रमाण का व्यवस्थापन दोनों ही हो जाता है।

स्पष्ट है कि अविश्ववाद रूप प्रमाण का लक्षण और कुछ नहीं, अपितु बोध, प्रतिभास, आभास और निश्चय या अध्यवसाय की सामंजस्यात्मक संज्ञा है। अतः, प्रदर्शन और प्राप्ति की यह अविश्ववादकता ही ग्राहकविज्ञान की प्रमाणता है।⁸³

प्रामाण्यवाद

'प्रामाण्य के प्रसंग में उत्पत्ति, ज्ञप्ति और फल तीनों की दृष्टि से विचार किया जाता है। व्युत्पत्ति: प्रामाणिकता, सम्यक्त्व, प्रमात्व, प्रमाणत्वादिसंज्ञक प्रामाण्य यथार्थ अनुभव में रहने वाला धर्मविशेष है और तद्विपरीत में, अर्थात् अयथार्थानुभव में, रहनेवाला धर्मविशेष अप्रामाण्य, अप्रमाणत्व या अप्रमात्व है। ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ दोनों होता है। अतः प्रामाण्यवाद के प्रसंग में कई तरह के प्रश्न उठते हैं जिन्हें एक दूसरे से पृथक् करके देखना चाहिए। जैसे, उत्पत्ति की दृष्टि से — ज्ञान में प्रामाण्य

और अप्रामाण्य स्वतः है अथवा उनमें एक स्वतः है और दूसरा परतः? ज्ञान जिन कारण सामग्रियों से उत्पन्न होता है अथवा जब हमें ज्ञान होता है तो क्या वह प्रामाण्य को अपने साथ निसर्गतः लिए रहता है? प्रामाण्य स्वतोभवी है, ज्ञान का स्वोपज्ञ है या परतः उत्पन्न है? यही प्रश्न उपर्युक्त रीति से अप्रामाण्य के प्रसंग में भी उठता है। ज्ञप्ति की दृष्टि से प्रश्न उठता है कि क्या ज्ञान अपने प्रामाण्य को स्वतः जानता है, अथवा परतः जानता है, अथवा किसी अन्य प्रकार से? अमुक ज्ञान यथार्थ है, अथवा अयथार्थ इसकी कसौटी क्या है? किस बात के आधार पर हमें ज्ञान के प्रामाण्य अथवा उसके अप्रामाण्य का निश्चय करना चाहिए। फल की दृष्टि से प्रश्न उठता है कि क्या प्रमाण और प्रमाणफल में भेद है या अभेद और अभेद है, तो दोनों की तार्किकसंगति प्रमाणमीमांसा में कैसे बैठायी जायेगी? अर्थात् प्रमाण और प्रमिति में किस तरह का सम्बन्ध है? इस प्रकरण में हम उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति की दृष्टि से प्रामाण्य के प्रसंग में उठने वाले प्रमुख प्रश्नों की, उनकी शाखाओं के आलोक में, विवेचना करेंगे और ज्ञान के सत्यता-सम्बन्धी, सिद्धान्तों को भी देखेंगे।

‘भारतीय शास्त्रीय परंपरा में प्रामाण्यवाद द्विविध बतालाया गया है’ — (1) जनककारण विषयक, और (2) ज्ञापककारण विषयक।⁸⁴ प्रामाण्य का कारण ‘स्व’ है अथवा ‘पर’ इस प्रकार का जो सन्देह होता है वही प्रामाण्यवाद का बीज है। यह भी ध्यानीय है कि इस प्रसंग में ‘स्व’ शब्द से प्रामाण्य, प्रामाण्य का आश्रयज्ञान और ज्ञानकारण की सामग्री इन तीनों का ग्रहण किया जाता है और ‘पर’ शब्द से इन तीनों से भिन्न का ग्रहण किया जाता है। इसी तरह से अप्रामाण्य के विषय में भी ‘स्व’ और ‘पर’ शब्द का प्रयोग होता है। कौन दार्शनिक सम्प्रदाय स्वतः प्रामाण्य मानता है और कौन परतः प्रामाण्य इस प्रसंग में परंपरया ‘सर्वदर्शनसंग्रह’ का यह श्लोक उद्धृत किया जाता है —

प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्येय समाश्रिताः। नैयायिकारस्ते परतः सौगताश्चरमं स्वतः।
प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं वेदवादिनः। प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम्।।पृ० 279

ऊपर के श्लोकों में ‘सौगतपक्ष’ के प्रसंग में जो मत अभिव्यक्त किया गया है वह अंशतः ही सत्य है, समग्रतः नहीं। ‘न्याय’ और ‘मीमांसा’ सम्प्रदाय के विषय में अभिव्यक्त मत बिल्कुल ठीक है। ‘सांख्य’ के विषय में अभिव्यक्त मत की भी प्राप्ति किसी सांख्य-ग्रन्थ में नहीं होती और साथ ही यह ऐसा पक्ष है जो यदि असंभव नहीं तो विचित्र प्रकार का अवश्य है।⁸⁵

जैनों के अनुसार प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों की उत्पत्ति परतः होती है,

किन्तु इन दोनों का ज्ञान अभ्यासस्थल में स्वतः और अनभ्यास स्थल में परतः होता है। जैन दार्शनिक मानते हैं कि ज्ञान होने का भाव एक सामान्य धर्म है जिसकी स्थिति प्रमाणज्ञान में भी होती है और अप्रमाणज्ञान में भी। किन्तु विशेष धर्म होने के कारण प्रामाण्य और अप्रामाण्य ज्ञानमात्र में नहीं रहते। जब कोई ज्ञान उत्पन्न होता है तब उसके प्रामाण्याप्रामाण्य का निश्चय किया जाता है। प्रतिदिन की वस्तुओं के ज्ञान के सत्य होने अथवा असत्य होने का निश्चय तो स्वतः ही तत्क्षण हो जाता है, किन्तु अनभ्यास स्थल में होनेवाले वस्तुज्ञान का निश्चय अन्य कारणों से करना पड़ता है। प्रामाण्य का निश्चय होते ही आवश्यकतानुसार उसमें प्रवृत्ति की जाती है। आचार्य देवसूरी स्पष्टतः कहते भी हैं कि 'प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति परतः ही होती है, किन्तु ज्ञप्ति स्वतः और परतः होती है'।⁹⁶ 'नैयायिक मानते हैं कि ज्ञान में स्वतः न तो प्रामाणिकता होती है और न अप्रामाणिकता ही। ज्ञान स्वतः इन दोनों से तटस्थ या अनुभयरूप होता है। अतः, प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों की उत्पत्ति और ज्ञप्ति भी परतः होती है'।⁹⁷ वेद की अपौरुषेयता को सर्वप्रमुख स्थान देकर उसकी सिद्धि के इच्छुक भीमांसक प्रामाण्य को ज्ञान का खोपड़ा मानते हैं। अप्रामाण्य ज्ञान में परतः होता है, जैसे कि इन्द्रियादि में दोष आ जाने से प्रत्यक्षज्ञान में अप्रामाण्य आ जाता है।⁹⁸ 'प्रभाकर' के लिए ज्ञान कभी भी स्वरूपतः गलत नहीं होता। 'भाट्टों' के अनुसार 'कारणदोषरहित, बाधकज्ञानरहित, अगृहीतग्राही यथार्थज्ञान ही प्रामाणिक होता है'।

बौद्ध प्रमाण और प्रामाण्यनिश्चय में, ज्ञान और प्रामाण्यनिश्चय में भेद करते हैं। सभी ज्ञानों को अपना ज्ञान स्वतः होता है, ऐसा मानते हुए भी बौद्ध नैयायिक यह मानते हैं कि जिस क्षण में ज्ञान को स्वसंवेदन होता है उसका अपने स्वरूप का संवेदन ही प्रामाण्य नहीं है। ज्ञान के उत्पत्तिक्षण में प्रामाण्य का संवेदन नहीं होता। 'व्यवहारेण प्रामाण्य का निश्चय होता है'⁹⁹ — 'धर्मकीर्ति' के इस कथन से यह स्पष्ट है कि उनके अनुसार प्रामाण्य का निश्चय परतः — व्यवहारेण, अर्थक्रियाकारिता के द्वारा—होता है। इस दृष्टि से 'धर्मकीर्ति' परतःप्रामाण्यवादी सिद्ध होते हैं। कहीं भी 'धर्मकीर्ति' यह नहीं बतलाते कि अप्रामाण्य स्वतः होता है या परतः। यही स्थिति 'मनोरथनन्दि' की भी है। हाँ, 'मनोरथनन्दि' अवश्य बतलाते हैं कि अभ्यास स्थल में प्रामाण्य स्वतः होता है, किन्तु अनभ्यासस्थल में प्रामाण्य का निश्चय अर्थक्रियाज्ञान के द्वारा होता है।¹⁰⁰ पंजिकाकार 'कमलशील' रचमत को 'अनियमपक्ष'¹⁰¹ कहते हैं, जिसके अनुसार अभ्यासस्थल में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः स्पष्ट रहते हैं, किन्तु प्रथमपरिचय के समय प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों का ही निश्चय परतः अर्थात् प्रवृत्तिसाफल्यरूप अर्थक्रियाज्ञान के द्वारा, होता है।¹⁰² 'धर्मकीर्ति' सहित सभी बौद्धनैयायिक ज्ञान के स्वतःप्रामाण्य की

आलोचना करते हैं और परतः प्रामाण्य को भी मानते हैं, तथापि नैयायिकों के पक्ष की भी आलोचना करते हैं। बात यह है कि बौद्ध प्रामाण्यनिश्चय को भाविनी मानते हैं, अतः प्रामाण्य की ज्ञप्ति मात्र को वे परतः मानते हैं। ज्ञान की ज्ञप्ति स्वतः, किन्तु प्रामाण्य की ज्ञप्ति परतः होती है। ज्ञान प्रमाण है, किन्तु प्रामाण्य नहीं है।

इस प्रकार बौद्धों के प्रामाण्यविषयक अभिमत के प्रसंग में तीन तरह के पक्ष सामने उभर कर आते हैं — (क) प्रामाण्य परतः होता है, (ख) अभ्यासस्थल में प्रामाण्य स्वतः और अनभ्यासस्थल में परतः होता है, (ग) अभ्यास स्थल में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः स्पष्ट रहते हैं, किन्तु प्रथम परिचय के स्थल में दोनों परतः, अर्थात्, प्रवृत्तिसाफल्यरूप अर्थक्रियाज्ञान के द्वारा दोनों का ज्ञान, होता है। प्रथम पक्ष स्पष्टतः, 'धर्मकीर्ति' के ग्रन्थों में है। द्वितीय पक्ष 'मनोरथनन्दि' का तथा तृतीय पक्ष 'कमलशीलादि' का है। चूँकि प्रामाण्य का परतस्त्व किसी न किसी रूप में अथवा किसी न किसी स्थल में सभी बौद्ध मानते हैं, फिर भी वे 'नैयायिकों' के परतःप्रामाण्य की भी आलोचना करते हैं, अतः हमें पहले यह देख लेना चाहिए कि 'धर्मकीर्ति' तथा न्यायदर्शन के परतःप्रामाण्यवाद में भूमिका भेद क्या है।

नैयायिक बौद्धों के ही समान ज्ञान और प्रमा में भेद करते हैं और मानते हैं कि कुछ खास कारणों (जैसे, इन्द्रियादि सहकारियों के पाटव) के विद्यमान रहने पर ज्ञान अपने विषय का यथार्थरूप में आकलन करता है और उसमें प्रमाकरणता आती है। अतः, ज्ञान एक परिस्थितिविशेष में ही प्रामाण्य का उत्पादक होता है। ज्ञान स्वतः न प्रमारूप है, न अप्रमारूप, अपितु दोनों से तटस्थ है। कारणपाटव जैसे गुण और तत्प्रतिकूल जो दोष हैं उनकी ज्ञान के पूर्वकाल में विद्यमानता ही ज्ञान को क्रमशः प्रमा या अप्रमा रूप बनाती है। ये गुण-दोष ज्ञान से बाह्य चीजें हैं, अतः, प्रामाण्य और अप्रामाण्य इन दोनों का परतः अवतरण ज्ञान में होता है। पुनश्च, नैयायिक ज्ञान को बुद्धि कहते हैं और उसे 'अर्थप्रकाशो' मानते हैं। उनके अनुसार ज्ञान को अपना ज्ञान स्वतः नहीं होता, अपितु 'अनुव्यवसाय' के द्वारा होता है। अतः, इस सिद्धान्त से तर्कतः यही मानना पड़ेगा कि प्रामाण्य का ज्ञान भी परतः होता है। 'प्रवृत्तिसाफल्य' अथवा 'संवादिप्रवृत्ति' के द्वारा ही यह निश्चित होता है कि ज्ञान में प्रामाण्य है या नहीं। प्रामाण्य और अप्रामाण्य की प्रस्थापना के पूर्व ज्ञान अपने विषय का प्रकाशन मात्र करता है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि की तरह ज्ञान एक गुण है जिसका अपने आधारभूत आध्यात्मिकद्रव्य आत्मा में निष्क्रिय ढंग से उदय होता है। इससे भिन्न रूप में बौद्ध अनात्मवादी और क्षणभंगवादी हैं, और 'अर्थक्रियासामर्थ्य' को सत्यता की कसौटी मानते हैं। अतः, प्रत्येक ज्ञान की अपनी अर्थक्रिया होनी चाहिए, जिसे बौद्ध ज्ञान द्वारा अपने

विषय का यथावत् आकलन या प्रापण कहते हैं। अर्थक्रिया भाविनी होती है, ज्ञान के उत्पन्न होने के समय वह नहीं रहती, अतः प्रामाण्य, ज्ञान में, परतः होता है। जब तक अर्थक्रिया घटित न हो, तब तक यह संशय बना ही रहेगा कि उत्पन्न हुआ ज्ञान सत्य है या मिथ्या। इसी कारण 'धर्मकीर्ति' 'अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्' ऐसा कहते हैं, जिसका अभिप्रेतार्थ यह है कि यदि क्षणिक वस्तुसंतान और क्षणिकविज्ञानधारा ये दोनों साथ-साथ और एक दूसरे के समानान्तर रूप में घटित हों, तो उनमें विषयविषयीभाव नहीं हो सकता। ज्ञान की उत्पत्ति जिन कारणों (प्रत्ययों) से होती है उनमें विषय (आलंबन) भी एक है, फलतः, अपने ज्ञान की उत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में उस विषय का विद्यमान रहना आवश्यक है, अन्यथा ज्ञान किसका आकलन करेगा? फलतः, साकारवाद को मानकर 'सौत्रान्तिक' यह आग्रह करते हैं कि ज्ञानगत विषयसारूप्य से ही ज्ञान के प्रामाण्य को निर्धारित करना चाहिए। ज्ञानगत आकार पहले से सिद्ध नहीं होता, सौत्रान्तिकों के अनुसार। इस प्रकार, 'सौत्रान्तिक' मानते हैं कि अर्थसंतान के अन्तर्गत प्रत्येक क्षणिक विषय अपने परवर्तीक्षण में उत्पन्न होकर विनष्ट होने वाले ज्ञान को स्वाकारयुक्तरूप में ही उत्पन्न करता है।

पुनश्च, परतःप्रामाण्यवाद के प्रति 'सौत्रान्तिकों' के आग्रह का यह भी कारण है कि उनके अनुसार प्रत्येक व्यावहारिकज्ञान सामान्यलक्षण, अर्थात् क्षणिकवस्तुसंतान, का एक वस्तु के रूप में ग्रहण करने वाला ही हुआ करता है, यद्यपि, अन्ततः व्यावहारिकज्ञान के द्वारा भी 'स्वलक्षण' की ही प्राप्ति होती है। ऐसा न मानने पर ज्ञान में प्रामाण्य आयेगा ही नहीं। अतः व्यावहारिकता का दामन पकड़े हुए बौद्ध प्रवृत्तिसाफल्य या अर्थक्रिया को भाविनी मानकर परतःप्रामाण्यवादी हैं।¹⁰³ सत्य ज्ञान, सम्यग्ज्ञान अविश्ववादक अर्थात् संवादकज्ञान है, और ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय अर्थक्रियाज्ञान द्वारा होता है, ऐसा कहकर बौद्ध सत्यज्ञान को 'संसक्त' (कोहरेन्ट) और कसौटी को व्यवहारपरक अर्थक्रियाज्ञानरूप मानते हैं। यह भी द्रष्टव्य है कि बौद्ध नैयायिक ज्ञान की स्वसंवेदनता को स्वीकार करते हैं, फलतः प्रामाण्य के प्रसंग में उनकी स्थिति नैयायिकों से भिन्न है। ऐसा मानने के कारण अर्थक्रियाज्ञान द्वारा पूर्ववर्तीज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय मानते हुए परतः प्रामाण्यवादी होकर भी बौद्ध नैयायिक अनवस्थादोष से बच जाते हैं, जबकि नैयायिकों के लिए वह संभव नहीं है। पुनश्च, यद्यपि परतः प्रामाण्यवाद को मानने और प्रवृत्तिसाफल्यरूप अर्थक्रियानिर्भास (या 'संवादिप्रवृत्ति') को ज्ञान की सत्यता का निकष मानने में 'नैयायिकों' और 'बौद्धों' में बहुत साम्य है, तथापि उन लोगों से सहमत हो पाना कठिन है जो निरपेक्षतया यह घोषित करते हैं कि 'बौद्ध' और 'नैयायिक' दोनों ही प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को परतः मानते हैं।¹⁰⁴ क्योंकि

‘मनोरथनन्दि’ और ‘कमलशील’ को हम इसके विरुद्ध अभिमत की घोषणा करते हुए पाते हैं। हाँ ‘धर्मकीर्ति’ और ‘सौत्रान्तिक’ उस दृष्टि से परतःप्रामाण्यवादी हैं। ‘कमलशील’ प्रथम परिचय वाले स्थल में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों का ज्ञान परतः मानते हैं। इस प्रकार प्रथम परिचय वाले स्थल में ‘कमलशील’ एवं ‘नैयायिक’ दोनों परतः— प्रामाण्य और परतः अप्रामाण्य को भी मानते हैं।¹⁰⁵ किन्तु, जहाँ ‘नैयायिक’ अभ्यासस्थल में भी प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को परतः मानेंगे, आचार्य ‘कमलशील’ प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को स्वतः मानते हैं। पुनश्च, ‘मनोरथनन्दि’ द्वारा अभ्यासस्थल में प्रामाण्य का स्वतस्त्व तथा ‘कमलशील’ द्वारा वहाँ प्रामाण्य के साथ अप्रामाण्य का भी स्वतस्त्व मानना ‘नैयायिकों’ के अभिमत से भिन्न है और ‘मीमांसकों’ के अधिक पास है, किन्तु ‘मीमांसकों’ से भी भिन्न, क्योंकि ‘मीमांसक’ अप्रामाण्य को परतः मानते हैं। केवल प्रामाण्य का स्वतस्त्व वे स्वीकार करते हैं।

‘बौद्ध, इसीकारण’ नैयायिकों और ‘मीमांसकों’ के प्रामाण्य विषयक अभिमत की प्रमुखरूप से आलोचना करते हैं।

‘शांतरक्षित - कमलशील’ द्वारा प्रामाण्यविषयक

परमत का खण्डन

आचार्य ‘शांतरक्षित’ के ‘तत्त्वसंग्रह’ में प्रामाण्यवाद की विवेचना हुई है और ‘कमलशील’ ने अपनी ‘पंजिका’ से इसे और शोभामण्डित कर दिया है। ‘स्वतःप्रामाण्यपरीक्षा’ नामक प्रकरण में अपनी ‘पंजिका’ में आचार्य ‘कमलशील’ प्रामाण्य के विषय में चार विकल्पों को प्रस्तुत कर उनकी आलोचना करने के बाद अपने ‘अनियमपक्ष’ को प्रस्तुत करते हैं।¹⁰⁶ यहाँ हम संक्षेप में ही उसका सारांश प्रस्तुत करेंगे।

प्रामाण्य के विषय में चार पक्ष संभव हैं — (1) प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों का स्वतस्त्व है, (2) ज्ञान स्वतः न तो प्रामाणिक होता है और न अप्रामाणिक, (3) ज्ञान में प्रामाण्य परतः होता है, जबकि अप्रामाण्य स्वतः, और (4) ज्ञान में प्रामाण्य स्वतः होता है और अप्रामाण्य परतः।¹⁰⁷ प्रथम पक्ष पर, जोकि ‘जैनों’ का है, ‘कमलशील’ की आलोचना उचित नहीं मानी जा सकती, क्योंकि स्याद्वादी जैन दार्शनिक प्रामाण्य और अप्रामाण्यरूप अत्यन्त विपरीत धर्मों की एक ज्ञान में युगपत्स्थिति नहीं मानते।¹⁰⁸ उनके द्वारा मान्य प्रामाण्यविषयक मत ऐसा है कि स्थूलदृष्ट्या वह बौद्धों को भी मान्य होगा,¹⁰⁹ हाँ, सूक्ष्मदृष्टि से ‘बौद्धों’ और ‘जैनों’ के प्रामाण्यविषयक अभिमत में मतभेद

है ही। 'कमलशील' का आक्षेप है कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य जैसे परस्पर बहिष्कारक धर्मों को एक ही समय में युगपत् किसी में स्वीकार करना विरोधात्मक स्थिति है। यदि प्रामाण्य और अप्रामाण्य को व्यक्तिभेद के आधार पर माना जाय (प्रामाण्य और अप्रामाण्य को दो पृथक् विज्ञानों से सम्बद्ध माना जाय) तो, यह भी उचित नहीं, क्योंकि जैनमत में यह निर्धारित करने का कोई उपाय नहीं है कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य में से कौन किससे सम्बद्ध है, फलतः इसके विषय में निश्चय नहीं हो सकता। इसका अर्थ होगा कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य में विवेक नहीं रहेगा और दोनों व्यामिश्रण की स्थिति में रहेंगे, क्योंकि, दोनों में समानरूप से अनपेक्षत्व होने से यह नियम नहीं हो सकेगा कि 'यह ज्ञान केवल प्रमाण ही है, वह अप्रमाण नहीं'। पुनश्च, जैसा 'कमलशील' स्वतः लिखते भी हैं — 'बाधसामान्येन च द्वयोरपि तिरोहितभेदत्वात् अन्यस्य चावधारणकारणस्यानभ्युपगमाद् विभागेनापरिज्ञानाद् — इदं प्रमाणमप्रमाणमिति व्यवस्था न स्यात्।'¹¹⁰

द्वितीय पक्ष भी मान्य नहीं हो सकता, जो कि नैयायिकों का अभिमत है। कारण यह है कि जो ज्ञान प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों से विरहित है, वह निर्विशेष या निःस्वभाव होता है, फलतः धर्मशून्य भी। पुनश्च, चूँकि प्रामाण्य और अप्रामाण्य परस्पर परिहार लक्षण वाले होते हैं, अतः ज्ञान, यदि दोनों से विरहित है, तो वह निःसंदिग्ध रूप से निरुपाख्य हो जाएगा और उसमें इन दोनों से इतर किसी अन्य धर्म को इससे सम्बद्ध माना नहीं जा सकता। कुमारिल इसे ही, श्लो०वा० चो०सू० 35,37 के द्वारा निम्न प्रकार से अभिव्यक्त करते हैं :-

स्वतस्तावद् द्वयं नास्ति विरोधात् परतो न च।
निःस्वभावत्वमेकं हि ज्ञानरूपे प्रसज्यते॥
विज्ञानव्यक्तिभेदेन भेदच्चेदविरुद्धता।
तथाप्यन्यानपेक्षत्वे किं क्व नेति निरूप्यते॥

इस प्रकार न्यायपक्ष में सबसे बड़ा दोष यह है कि यह सिद्धान्त ठीक ढंग से इस बात को समझा नहीं सकता कि बाह्य कारणों से अधिगत प्रामाण्य और अप्रामाण्य से विरहित ज्ञान का अपना स्वरूप क्या होगा? यदि नैयायिक यह कहें कि ज्ञान की उत्पत्ति के पहले गुण और दोष अवश्य ही उत्पन्न होते हैं, फलतः प्रत्येक ज्ञान उदित होते ही प्रमात्मक या अप्रमात्मक हुए बिना नहीं रहेगा, तो इससे यह फलित होगा कि ज्ञान स्वतः या तो प्रमाण होता है या अप्रमाण और इससे न्यायपक्ष खण्डित हो जायगा। यदि नैयायिक ऐसा न मानें तो प्रामाण्य और अप्रामाण्यविरहित उत्पन्न सभी ज्ञानों को संदेहात्मक समझने का प्रसंग उपस्थित होगा।¹¹¹

तृतीय पक्ष भी मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें अनवस्थादोष आ जायेगा। उदाहरणार्थ, जो स्वतः अप्रमाणभूत है उससे प्रामाण्य आशंसनीय (अपेक्षणीय) नहीं, क्योंकि वह स्वतः अप्रामाणिक है। पुनश्च, जो प्रमाणभूत है उससे भी यह संभव नहीं, क्योंकि दोनों तुल्य पर्यनुयोगवाले हैं और यदि प्रामाण्य का आशंसन परतः (बाहर से प्रविष्ट होनेवाला) माना जाये, तो उस प्रमाण के लिए हमें एक अन्य प्रमाण को मानना पड़ेगा और फिर इसके लिए एक अन्य को और इस प्रकार अनवस्था की प्राप्ति होगी। साथ ही एक ज्ञान के प्रामाण्य को व्यवस्थापित करने के लिए अन्य प्रमाण की परंपरा का अनुसरण करना पड़ेगा और उसी में पुरुष की सारी उन्न खप जायगी।¹¹²

चतुर्थ पक्ष मीमांसकों का स्वतः प्रामाण्यवाद है। मीमांसकों का कहना है कि उपर्युक्त ढंग से तीनों विकल्पों के असिद्ध हो जाने से यह सिद्ध हो जाता है कि हमें स्वतः प्रामाण्य और परतः अप्रामाण्य के सिद्धान्त को स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि और कोई विकल्प शेष नहीं रहा।¹¹³

स्वतः प्रामाण्यवाद का खण्डन

आचार्य शांतरक्षित और कमलशील बड़े विस्तार से इस वाद की चर्चा कर उसका खण्डन करते हैं। कुमारिल और उनके अनुयायी ही उनके समक्ष मीमांसकों के रूप में मान्य हैं। शांतरक्षित-कमलशील का कहना है कि कुमारिल का पक्ष मानने पर तो सभी पदार्थों की शक्ति अपने से अभिन्न (अव्यतिरिक्त) रहेगी। वस्तुतः, इष्ट कार्य को करने में जो समर्थस्वरूप है, उसे शक्ति कहते हैं, अतः, यदि वह भावरूप नहीं होगी, तो वह कारकशक्ति (निमित्त कारण) नहीं हो सकती।¹¹⁴

‘कमलशील’ प्रश्न करते हैं कि जब आप मेय का बोध करनेवाली शक्ति को ‘स्वाभाविक’ कहते हैं, तो इससे आपको क्या अभीष्ट है? क्या नित्यरूप से स्वयं निहंतुक होने के कारण इस शक्ति को आप ‘स्वाभाविक’ कहते हैं, अथवा अनित्य मानते हुए भी किसी बाह्यकारण पर अपने अस्तित्व के लिए आश्रित न होने तथा उनसे प्रामाणिकता की अपेक्षा न रखने के कारण ‘स्वाभाविक’ मानते हैं? प्रथम विकल्प मान्य नहीं, क्योंकि, उस स्थिति में चार दोषदुष्ट विकल्प संभव हैं—(1) शक्ति व्यतिरिक्त होगी, (2) अव्यतिरिक्त होगी, (3) व्यतिरिक्त और अव्यतिरिक्त दोनों होगी, तथा (4) अनुभयरूप होगी। प्रथम पक्ष में दोनों में सम्बन्ध के सिद्ध न होने से शक्ति पदार्थों का कारक नहीं हो सकेगी। द्वितीय स्थिति में (प्रमाण से अव्यतिरिक्त होने की स्थिति में) वह स्वाभाविकी नहीं हो सकेगी, क्योंकि, अपने कारणों के बल से अस्तित्व को प्राप्त होने वाली वस्तुएँ अनित्य होती हैं, अतः, अव्यतिरिक्त होने के कारण शक्ति भी अनित्य

हो जायगी, क्योंकि वह भी हेतुबलभावी है। अन्यथा रूप से, भिन्नयोगक्षेम वाला होने से, वे दोनों अव्यतिरिक्त नहीं हो सकेंगी। ऐसी स्थिति में स्वहेतुबल से अस्तित्व में आनेवाली होने से अनित्यस्वरूपा प्रमाणशक्ति को आप 'स्वाभाविक' कैसे मानते हैं? यदि प्रमाणों की शक्ति स्वाभाविक है, तो, प्रमाणों को भी नित्य और निहेतुक मानना पड़ेगा। परिमाणस्वरूप, प्रमाणों के निहेतुक होने पर उनका या तो सर्वदा भाव रहेगा या सर्वदा अभाव, क्योंकि उन्हें किन्हीं अन्य की अपेक्षा नहीं रहेगी। ऐसी स्थिति में उन प्रमाणों से कादाचित्क रूप में प्राप्त होनेवाले कार्य कादाचित्क स्वरूप वाले नहीं होंगे, यद्यपि, वस्तुस्थिति यह है कि प्रमाणों के स्वरूप और कार्य दोनों की ही प्राप्ति कादाचित्क रूप में होती है। अतः, आप मीमांसक जिस प्रमाणशक्ति की बात कर रहे हैं वह स्वाभाविक नहीं हो सकती।¹¹⁵

जब व्यंजक के द्वारा प्रमाण का स्वरूप व्यंजित होता है, केवल तभी वह उपलब्ध होता है, अन्य तरह से नहीं, अतएव, प्रमाणशक्ति के नित्य होने पर भी, उसके सर्वदाग्रहण की संभावना नहीं रहेगी। न तो इसके कार्य के सर्वदासद्भाव की ही बात संभव है, क्योंकि, प्रमाणशक्ति अन्य प्रत्ययों की अपेक्षा से कार्यारम्भ करती है, मात्र अपने से नहीं। अतएव, कारणान्तर के सन्निधान और असन्निधान के कारण कार्यों की केवल कादाचित्कता ही होती है।¹¹⁶ शांतरक्षित कहते हैं कि 'श्रुतिपरीक्षा' के प्रसंग में हमने विस्तारपूर्वक यह प्रतिपादित किया है कि नित्य वस्तु की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती और यह भी बतलाया है कि नित्य वस्तुओं का अन्य हेतुओं की अपेक्षा वाला होना भी अयुक्त है। अतएव, प्रमाणों से स्वतः उत्पन्न हो सकने वाले कार्यों का उपलम्भन नित्य मानना पड़ेगा, अर्थात् सर्वदा ही उनका उपलम्भन मानना पड़ेगा। पुनश्च, प्रमाणशक्ति को चाहे पृथक् माना जाय अथवा पृथक् और अपृथक् दोनों, हर एक स्थिति में प्रामाण्य अवश्य ही नित्य होगा, क्योंकि वह नित्यशक्ति से सम्बद्ध है। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो, प्रमाणशक्ति नित्य नहीं हो सकेगी, क्योंकि वह शक्ति एक ही रूप में समन्वित नहीं रहेगी, कभी वह ज्ञान से सम्बद्ध रहेगी और कभी नहीं रहेगी।¹¹⁷

मीमांसक ऐसा कह सकते हैं कि 'प्रमाणों के स्वहेतुओं से ही शक्ति उत्पन्न होती है, अपने हेतुओं से पैदा होने के बाद उन पर (प्रमाणों पर) अन्य कारणों द्वारा आरोपित नहीं होती। यदि ऐसा है, तो, हमारा आपसे विवाद नहीं है। ऐसा कौन होगा जो यह प्रकल्पना करे कि अनंश वस्तुओं की शक्ति का हम, उनके स्वहेतुओं से उत्पन्न होने के पश्चात् अनुमान करते हैं? क्योंकि अन्य कारणों के द्वारा कार्य में, बाद को, जिन रूपों का आरोपण होता है वे अन्य तरह के भाव (वरतुएँ) हैं।'¹¹⁸ पूर्वपक्ष से कहा

जा सकता है कि अनंश वस्तुओं पर किसी शक्ति का आरोपण बाद में नहीं हो सकता। हमारा प्रश्न यह है कि आप यह बतलावें कि अंशवान वस्तुओं पर शक्ति का आरोपण क्यों नहीं हो सकता? शांतरक्षित का उत्तर है कि वस्तुओं की भिन्नता का अर्थ है विरुद्ध धर्मों वाली होना, अतएव, ज्ञान के उदित होने पर शक्ति का उदय न हो, तो स्पष्ट है कि प्रमाणशक्ति में विरुद्ध धर्म विद्यमान हैं। हम बौद्ध यह प्रतिपादित कर चुके हैं कि सभी अर्थ क्षणभंगवाद से शासित हैं, फलतः, किसी भी शक्तिमान कारण के द्वारा वस्तुओं में शक्ति का आरोपण नहीं किया जा सकता। ऐसी किसी भी वस्तु का पश्चात्भावी अस्तित्व नहीं हो सकता जिसके द्वारा कार्योत्पाद के लिए प्रत्ययान्तरों से वे शक्ति को प्राप्त कर सकें।¹⁹

मीमांसक यह पूछ सकते हैं कि यदि आप बौद्धों का हमसे कोई विवाद नहीं है, तो फिर आप परतः प्रामाण्य को क्यों मानते हैं? शांतरक्षित का उत्तर है कि बौद्ध मात्र यह स्वीकार करते हैं कि प्रामाण्य यद्यपि कुछ ज्ञानों में स्थित रहता है, तथापि उसका निश्चय स्वतः नहीं होता, अर्थात् ज्ञान का स्वसंवेदन तो होता है, किन्तु उन ज्ञानों में विद्यमान रहनेवाले प्रामाण्य का निश्चय उन ज्ञानों के स्वरूप के संवेदन के द्वारा नहीं होता। इस पर यह पूछा जा सकता है कि चूँकि शक्ति विज्ञानाव्यतिरिक्त है, अतएव विज्ञान के ग्रहण के साथ वह भी ग्रहीत हो जाती है, तो फिर उसका निश्चय नहीं होता, यह कैसे हो सकता है? शांतरक्षित का उत्तर है कि मात्र विज्ञान के स्वरूप के ज्ञात होने से यह निश्चय नहीं होता कि कौन उस रूप में, विज्ञेय वस्तु को निश्चित करने में समर्थ हो सकता है, जिस रूप में वह अपने बोध और अवाप्ति की अवस्था में अवस्थित रहता है। अतः, शांतरक्षित यह निष्कर्ष निकालते हैं कि निश्चय के लिए, न कि शक्ति के आधान के लिए, अर्थक्रियाज्ञान अथवा अन्य कारणों की अपेक्षा होती है, जैसे कि विष आदि के उदाहरण में हमें इसकी प्राप्ति होती है।²⁰

इसके अतिरिक्त शक्तिलक्षणरूप निःसंदिग्ध प्रामाण्य का निश्चय अन्य प्रमाणों के द्वारा अर्थात् अर्थापत्ति के द्वारा हो सकता है, ऐसा आप मीमांसक स्वतः मानते हैं। ऐसी स्थिति में यदि शक्ति की सिद्धि अर्थापत्ति से होती है, तो फिर वह परतः सिद्ध क्यों नहीं मानी जा सकती? पुनश्च, चूँकि प्रामाण्य की अपने हेतुओं के द्वारा निष्पत्ति होती है और चूँकि प्रामाण्य अनंशरूप होता है, अतः, यदि यह अन्य पर निर्भर करे, तो भी, इसका नाश नहीं हो सकता, क्योंकि, यह निर्भरता केवल प्रामाण्यविषयक निश्चयता के उदय के लिए आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, यह भी ध्यानीय है कि प्रामाण्य की निष्पत्ति के लिए प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं होती, इसकी अपेक्षा प्रमाण के वास्तविक स्वरूप के निश्चय हेतु होती है।

आचार्य कमलशील अपनी पंजिका में इसे और विश्लेषित करते हुए लिखते हैं कि मीमांसकों की ओर से यह कहा जा सकता है कि यदि आप बौद्ध ज्ञान की अपेक्षा से परतः प्रामाण्य को सिद्ध कर रहे हैं, तो हम भी, इसे स्वीकार करते हैं, फलतः आपके सारे तर्क व्यर्थ हैं, क्योंकि, अर्थापत्ति के द्वारा ज्ञान के अस्तित्व के सिद्ध होने की बात को हम मानते हैं, इसके प्रामाण्य की बात ही क्या, जो कि इसके सामर्थ्य में ही निवसित है। विषय के निश्चयात्मक ज्ञान के रूप में इसके कार्य की उत्पत्ति के लिए ज्ञान को किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती। यही कारण है कि हम प्रामाण्य को स्वतः मानते हैं। कमलशील का कहना है कि मीमांसकों का यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि, प्रामाण्य के निश्चय के बिना अपने अर्थ का निश्चय नहीं हो सकता— प्रामाण्यनिश्चयमन्तेरण स्वार्थनिश्चयस्यैवासम्भवात्। संशयादिविषयीकृतस्य च कथं कार्ये निरपेक्षता, प्रमाणान्तरग्रहणापेक्षायां वा कथं स्वपक्षे अनवस्था न स्यादिति यत्किंचिदेतत्।¹²¹ स्पष्ट है कि मीमांसकों द्वारा उठायी गयी उपर्युक्त आपत्तियाँ 'वैधज्ञान के प्रमाणीकरण' और 'वैधज्ञान की उत्पत्ति' के मध्य भेद को न समझने के ही कारण पैदा होती हैं। अतः प्रामाण्य के प्रसंग में इनके भेद को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए।

पुनश्च, आप मीमांसकों ने जिस युक्ति का अवलम्बन लिया है उस तर्कसारिणी से तो आपको अप्रामाण्य को भी स्वतः मानना पड़ेगा, क्योंकि (क) यदि अप्रामाण्य ज्ञान में नहीं है, तो, किसी भी के द्वारा यह ज्ञान में संभव नहीं हो सकेगा, (ख) अनपेक्षत्व ही अप्रामाण्य का एकमात्र आधार है, इत्यादि रूप से जो आपने स्वतः प्रामाण्य के लिए कहा है वह स्वतः अप्रामाण्य के लिए भी कहा जा सकता है। आप मीमांसक यह मानते हैं कि वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप के साथ विसंवादन तथा निश्चितज्ञान का सामर्थ्य अन्यतः (परतः) होता है, उसी प्रकार आपके विरोधियों के लिए अर्थसंवाद तथा निश्चितज्ञान का सामर्थ्य भी परतः होगा और इस प्रकार इन सभी के प्रसंग में इन दोनों की समान स्थिति है। अतः, शांतिरक्षित लिखते हैं :-

ततः कोऽतिशयो दृष्टः प्रामाण्यस्य विपर्ययात्।

येन स्वतस्तदेवेष्टं परतस्त्वप्रमाणता ।।

तत्त्वसं० 2845

मीमांसक परतःप्रामाण्यपक्ष में अनवस्थादोष के अतिरिक्त यह भी विसंगति दर्शाते हैं कि बौद्धों का यह पक्ष मान्य नहीं हो सकता कि प्रथमज्ञान की प्रामाणिकता परवर्तीज्ञान द्वारा निश्चित हो जाती है, जब प्रथमज्ञान और परवर्तीज्ञान के फल में संगति हो। परवर्तीज्ञान स्वतः अप्रामाणिक रहता है, क्योंकि वह पूर्वगृहीत अर्थ को ही ग्रहण करता है, अतः, वह प्रथमज्ञान के प्रामाण्य का निश्चायक कैसे हो सकता है?¹²² पुनश्च, यदि प्रमाणान्तर से संगति होने के द्वारा ज्ञान में प्रामाण्य को स्वीकार किया

जाय तो, सकृत्ज्ञात और विनष्ट विषयों के ज्ञान तथा श्रौतज्ञान (ऐसे श्रौतज्ञान जो एक बार सुने जाने के बाद फिर कभी नहीं सुने जाते) के प्रामाण्य की व्याख्या नहीं हो सकेगी, क्योंकि एतादृश उदाहरणों में नेत्र अथवा ज्ञान के अन्य साधनों के द्वारा संगति की बात संभव नहीं है।¹²³

शांतरक्षित स्वतःप्रामाण्यपक्ष में दोषोद्भावन करते हुए बतलाते हैं कि यदि ज्ञान नित्य है और वह स्वयं ही प्रामाण्यनिश्चय को उत्पन्न करता है, तो फिर प्रमाण के विषय में विपर्यास, विपर्यासपूर्वकविरोध, विपरीतप्रवृत्ति तथा विसंवादादि का ग्रहण नहीं होना चाहिए। किन्तु हमें इसका अनुभव होता है, अतः स्वतःप्रामाण्यपक्ष में प्रत्यक्षबाधा भी है, जैसा कि कमलशील लिखते भी हैं— 'ततश्च संशयादेः प्रमाणान्तरं निश्चयविपरीताकारस्य संवेदनात् प्रत्यक्षत एव निश्चयाभावः सिद्धः, घटामाव इव तद्विविक्तप्रदेशोपलम्भात्'।¹²⁴ पुनश्च, स्वतःप्रामाण्य मानने पर मीमांसकों को स्वतः अप्रामाण्य भी मानना चाहिए, क्योंकि, जहाँ भी वस्तु में जिसके कारण जिस रूप में निश्चय उत्पन्न होता है, तद्विपरीत आशंका का निवर्तन भी उसी के द्वारा होता है, जैसे कि घूमादि लिंग के द्वारा हमें अग्नि की अस्तित्व का ज्ञान यदि होता है, तो अग्नि के नास्तित्व का व्यवच्छेद भी उसी के द्वारा (धूम के ही द्वारा) होना उपयुक्त समझा जाता है।¹²⁵ यदि परतः प्रामाण्य को न माना जाये, अर्थात्, यह न माना जाये कि बाद के अर्थक्रियासंवाद के द्वारा ज्ञान का प्रामाण्य निश्चित होता है, तो, हमें कोई निश्चित ज्ञान नहीं हो सकेगा और हम सम्यग्ज्ञान और असम्यग्ज्ञान में विभेद करने में समर्थ नहीं हो सकेंगे।¹²⁶ इसके अतिरिक्त यह तथ्य भी द्रष्टव्य है कि यदि सभी प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः ही निश्चित हो, तो, वादियों में प्रामाण्य के विषय में मतभेद नहीं होता। किन्तु हम पाते हैं कि जहाँ मीमांसक स्वतःप्रामाण्य मानते हैं, वहाँ बौद्ध यह मानते हैं कि कुछ ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः और कुछ का परतः होता है। आचार्य कमलशील इस स्थल की विस्तार से विवेचना करते हुए बतलाते हैं कि बौद्ध—अर्थात् शांतरक्षित और वे स्वयं—स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, योगिज्ञान, अर्थक्रियाज्ञान, अनुमान तथा अभ्यासवत् प्रत्यक्ष का प्रामाण्य स्वतः (स्वतः उन्हीं के द्वारा निश्चित होना) मानते हैं, क्योंकि अभ्यासबल से भ्रान्ति के सारे कारण समाप्त हो चुके रहते हैं। विवादास्पदीभूत चोदनाज्ञान, जिनमें भ्रान्ति के निमित्त समाप्त नहीं हुए हैं ऐसे प्रत्यक्ष का प्रामाण्य परतः होता है। यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि, तो फिर अनुमान के लक्षण का प्रणयन और लोकायत मत के विरुद्ध अनुमान के प्रामाण्य का प्रतिपादन बौद्धों को नहीं करना चाहिए। कमलशील का उत्तर है कि ऐसा करने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि 'तादात्म्य और तदुत्पत्ति से प्रतिबद्ध लिंग का निश्चय होने से उत्पत्ति के बिना भी अर्थक्रियासंवाद का निश्चय

पारम्पर्येण (उस प्रकार की वस्तु से प्रतिबद्ध जन्म के द्वारा उस अर्थ के अव्यभिचारित्व का निश्चय पारम्पर्येण) हो जाता है, अतः, उसका स्वतःप्रामाण्य कहा जाता है और वादियों में परस्पर विप्रवाद, लिंग के स्वरूप का परिज्ञान न होने के कारण, अनुत्पन्न अनुमान के विषय में होता है, उत्पन्न अनुमान में नहीं। इसी प्रकार, हमलोग जब चार्वाकों से शास्त्रार्थ करते हैं अनुमान को लेकर, तो वहाँ हम अनुमान के प्रामाण्य को सिद्ध नहीं करते, अपितु व्यवहार को साधते हैं। सांख्य के ही समान मिथ्यार्थशास्त्र के श्रवण से व्यामूढ लोकायत, अनुमान के प्रामाण्य के सिद्ध होने पर भी, उस प्रकार के व्यवहार में प्रवृत्त नहीं होते।¹²⁷ इसके अतिरिक्त स्वतःप्रामाण्य पक्ष में 'अनुमानविरोधिता' भी है, जिसे स्पष्ट करते हुए शांतरक्षित लिखते हैं—

विवादो भ्रान्तितो यस्मात् सा च निश्चयबाधिता।

निश्चिन्दन्तस्ततस्तत्त्वं विवदेरन्न वादिनः।।

तत्त्वसं, 2945

इसके अतिरिक्त स्वतःप्रामाण्यपक्ष में निश्चयविरुद्ध कार्य का उपलंभ भी होगा। अतः, वह मान्य नहीं है। मीमांसकों का आग्रह है कि अप्रमाण के चलते जो ज्ञान प्रवृत्त होता है, उसी का विसंवाद होता है और हम इसे स्वीकार करते ही हैं कि अप्रामाण्य का निश्चय परतः होता है। जो प्रमाण होता है उससे प्रवृत्त ज्ञान का विसंवाद नहीं होता। इसी का ही स्वतः प्रामाण्य हमें अभीष्ट है। ऐसी स्थिति में हम मीमांसकों के पक्ष में प्रमाण बाधा कैसे होगी? कमलशील कहते हैं कि यदि आप सभी ज्ञानों का स्वतः प्रामाण्य मानेंगे, तो इससे यह भी अभ्युपगत होगा कि प्रामाण्यनिश्चय की उत्पत्ति से प्रामाण्य व्याप्त है। अतः, जहाँ प्रमाणव्यापक प्रामाण्यनिश्चय उदित नहीं होता है वहाँ सामर्थ्य के चलते प्रामाण्य की स्थिति होती है, क्योंकि, प्रमाण और अप्रमाण स्वरूपतः परस्पर व्यवच्छेदक होते हैं। इससे यह भी फलित होता है कि सामर्थ्यात् अप्रामाण्य भी स्वतः होगा, क्योंकि (क) विसंवाद के कारण और अधिक दोष के परिज्ञान की अपेक्षा नहीं होती एवं (ख) प्रामाण्यनिश्चय की अनुत्पत्ति ही अप्रामाण्य की निश्चयता है।¹²⁸

धर्मकीर्ति के प्रामाण्यविषयक अभिमत का प्रतिपादन

स्वतःप्रामाण्य का खण्डन कर शांतरक्षित—कमलशील, धर्मकीर्ति के प्रामाण्यविषयक अभिमत की विवेचना कर अपने पक्ष को भी प्रस्तुत करते हैं। शांतरक्षित—कमलशील बतलाते हैं कि वस्तुसंवाद होने पर ज्ञान का प्रामाण्य कहा जाता है और अर्थक्रियाभ्यासज्ञान ही उसका लक्षण है। अर्थक्रियाज्ञान का स्वसंवेदनप्रत्यक्ष द्वारा स्वतः आविर्भाव होता है। उदाहरणार्थ, जब अग्नि को हम दाह—पाकादि क्रिया में समर्थ पा जाते हैं, तो हम उसके

यथार्थ अग्नि होने के विषय में निश्चित हो जाते हैं। इस अर्थक्रियाज्ञान की प्रामाणिकता के लिए हमें किसी अन्यविज्ञान की अपेक्षा नहीं होती। उस दाहपाकादि रूप अर्थक्रिया से, अन्य किसी फलान्तर की पुरुष आकांक्षा भी नहीं किये रहता, अतः अनवरथादोष का अवकाश नहीं है, क्योंकि अर्थक्रियाज्ञान का प्रामाण्य स्वतः ही स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा सम्यक् रूप से विनिश्चित हो जाता है, अतः उसकी प्राप्ति के लिए उत्तरार्थक्रियाज्ञान की अपेक्षा नहीं होती। संसार में भी हम पाते हैं कि लोग वृद्धि एवं छेद आदि की आकांक्षा करते हैं और आह्लाद तथा परितापादि रूप ज्ञान के आविर्भाव से ही इस विषय में परितोष प्राप्त कर आगे अन्वेषण करने से निवर्तित हो जाते हैं। यहाँ उपर्युक्त अर्थक्रियासिद्धि को लोक में स्वतः माना जाता है। अतः, अर्थक्रियाज्ञान स्वतः प्रामाणिक है; प्रापणशक्ति ही प्रामाण्य नहीं है। प्रापणशक्ति का निश्चय उत्तरकार्यज्ञान की प्रवृत्ति के द्वारा, अर्थात् परतः होता है।¹²⁹ यही कारण है कि बौद्ध प्रमाण को परतः, परन्तु अर्थक्रियाज्ञान रूप प्रामाण्य के निकष को स्वतः मानते हैं। हर एक ज्ञान अपने को स्वतः जानता है, फलतः, अर्थक्रियाज्ञान रूप प्रामाण्य के निकष के लिए अर्थक्रियाज्ञानरूप, ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं होगी। चूँकि अर्थक्रियाज्ञान प्रमाण (सम्यग्ज्ञान) की उत्पत्ति के क्षण में नहीं, अपितु भावीक्षण में होता है और द्विष्टसम्बन्धसम्बित्ति रूप है, अतः, प्रामाण्य को परतः (प्रमाण के अनन्तर होने वाले अर्थक्रियाज्ञान के द्वारा) माना गया है। इसके अतिरिक्त अनवरथा न होने के प्रसंग में यह भी द्रष्टव्य है कि यदि प्रथम ज्ञान अवस्तु में प्रवृत्त नहीं होगा, तब उत्तरकालभावी फलज्ञान भी उत्पन्न नहीं होगा, क्योंकि, उसकी उत्पत्ति के लिए जिन कारणों का होना अनिवार्य है, उनका वहाँ अभाव है और चूँकि अर्थक्रियाज्ञान वस्तुप्रतिबद्ध होता है। जो अग्नि का ग्राही नहीं है ऐसे ज्ञान से अशोकरतवकादि में अग्नि का अध्यवसाय करने से जो प्रवृत्त होता है, उसे दाह, पाक आदि का निर्मासीज्ञान नहीं होता। यदि हो भी, तो 'यह अग्नि है' ऐसा निश्चय कहाँ से होगा, क्योंकि, अग्नि का मात्र यह लक्षण है कि वह दाहपाकादि रूप उत्पत्ति का हेतु है।¹³⁰ इसी कारण इस प्रसंग के उपसंहार रूप में शांतरक्षित कहते हैं —

तस्मादर्थक्रियाभासं ज्ञानं यावन्न जायते ।
तावदाद्येऽप्रमाशंका जायते भ्रान्तिहेतुतः ।। 2965

बौद्धों का अभिमत यह है कि हममें किसी ज्ञान के सम्यक्त्व के विषय में आशंका तभी तक उठती है जब तक उससे अभीप्सित फलप्राप्ति के विषय में संदेह रहता है। अभीप्सित फल की प्राप्ति होते ही आशंका की समाप्ति हो जाती है और ज्ञान की प्रामाणिकता का हमें स्फुटरूपेण परिज्ञान हो जाता है। यह प्रश्न उठ सकता है कि

अर्थक्रियाज्ञान की तरह ही प्रथमज्ञान भी अग्नि आदि विषय से साक्षादजनित है, तो फिर प्रथमज्ञान के प्रामाण्य के विषय में आशंका और अर्थक्रियाज्ञान के प्रामाण्य में आशंका नहीं होने का क्या कारण है? उत्तर है, आदि या प्रथमज्ञान में भ्रान्ति के कारण— जैसे दाहादिलक्षण रूप फल की अनुत्पत्ति, भ्रान्तज्ञानसाधर्म्य, बुद्धि की अपटुता आदि—दूर नहीं हुए रहते, अपितु प्रथम ज्ञान में विद्यमान रहते हैं, किन्तु फलज्ञान में भ्रान्ति का कोई भी कारण विद्यमान नहीं रहता, इसी कारण प्रथमज्ञान के प्रामाण्य में आशंका की जाती है, जबकि अर्थक्रियाज्ञान में नहीं।¹³¹

मीमांसकों के आक्षेपों का उत्तर

मीमांसक बौद्धों के परतः प्रामाण्य पक्ष में 'अन्योन्याश्रयदोष' लगाते हैं, क्योंकि उनके अनुसार बौद्धपक्ष में प्रामाण्य के निश्चय पर प्रवृत्ति को तथा प्रवृत्ति के होने पर प्रामाण्य के निश्चय की बात मानी गयी है। कमलशील उत्तर देते हैं कि प्रवृत्ति द्विविध होती है — (1) अर्थक्रिया के लिए प्रवृत्ति (2) प्रामाण्यनिश्चय के लिए प्रवृत्ति। प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति संशय होने पर भी होती है, क्योंकि प्रत्यक्ष की प्रवर्तकता प्रतिभासमान अर्थ के अवसायमात्र से होती है। लोक में भी हम यह पाते हैं कि धन की क्षति की आशंका रहने पर भी कृषक खेती करने में प्रवृत्त होता है।¹³² इसी प्रकार प्रामाण्य में संशय होने पर भी प्रामाण्य के निश्चयार्थ प्रवृत्ति का होना बिल्कुल युक्तियुक्त है, क्योंकि, प्रामाण्य के विषय में संशय होने पर ही उसके द्वारा प्रवृत्त होकर पुरुष प्रामाण्य के विषय में निश्चयता की स्थिति को प्राप्त करता है। अतः उपाय के विषय में संशय नहीं रहने के कारण प्रवृत्ति का होना युक्तियुक्त ही है।¹³³ मीमांसकों का कहना है कि अर्थक्रियाज्ञान तो स्वप्न में भी होता है, अतः उसके आधार पर प्रामाण्यनिश्चय की बात करने में 'अनैकान्तिक हेत्वाभास' है। अतः, अर्थक्रियाज्ञान में स्वतः प्रामाण्य नहीं माना जा सकता। परिणामस्वरूप अनावस्था की प्राप्ति होगी।¹³⁴ कमलशील बाह्यार्थवादी सौत्रान्तिकों के पक्ष में तथा योगाचार पक्ष में भी बौद्धपक्ष की उपयुक्तता दर्शाते हैं और कहते हैं कि बाह्यार्थवादियों के यहाँ प्रामाण्य अर्थसंवाद के आधार पर माना जाता है, अर्थक्रियाज्ञान में संवाद से नहीं। स्वप्न में अर्थसंवाद नहीं होता। स्वप्न में उत्पन्न होनेवाले सभी ज्ञान अर्थ के बिना ही होते हैं, अतः वे निर्विषयक होते हैं। अतः, प्रामाण्यलक्षणवाला ज्ञान जाग्रतावस्था में ही होता है। अतः, मीमांसकों का आक्षेप उचित नहीं। योगाचारपक्ष में 'प्रमाणं अविसंवादिज्ञानम्' को सांख्यवहारिक प्रमाण का लक्षण माना जाता है और अर्थक्रिया का निर्भास करने वाले ज्ञान के संवेदन को ही अविसंवाद कहा गया है। यह सांख्यवहारिक ज्ञान जाग्रतावस्था में ही होनेवाला होता है, क्योंकि, लोक में जाग्रतावस्था में ही सभी प्रकार के व्यवहार की पारमार्थिकता का अभिनिवेश

किया जाता है, स्वप्नावस्था में नहीं।¹³⁵ अतः मीमांसकों का आक्षेप निर्मूल है, क्योंकि उस ज्ञान के द्वारा जो ग्राह्यवस्तु होती है उसकी अपेक्षा से वह ज्ञान प्रमाण ही होता है। पुनश्च, प्रमाणत्व और प्रमेयत्व की व्यवस्था अपेक्षाभेद से की जाती है, जैसे कि कार्यकारण की व्यवस्था की जाती है।¹³⁶

मीमांसकों द्वारा बौद्धों के पक्ष पर लगाये गये अनवस्था दोष¹³⁷ का अन्यतरह से भी परिहार करते हुए शांतिरक्षित-कमलशील बतलाते हैं कि ज्ञान द्विविध होता है— (1) सन्निकृष्ट विषयवाला ज्ञान, (2) विप्रकृष्ट विषयवाला ज्ञान। प्रथम प्रकार के ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय ज्ञान के कारणों के 'गुण के अवधारण' के द्वारा नहीं, अपितु अर्थक्रिया के अविसंवादिज्ञान के द्वारा होता है। जबतक अर्थक्रियासंवाद के द्वारा ज्ञान में सम्यक्त्व का निश्चय नहीं हो जाता, तब तक उसमें गुण का अवधारण संभव नहीं है, और जब सम्यक्त्व ज्ञान में अवस्थित हो, तो परवर्तीकाल में होने वाले कारण के गुण का अवधारण अकिञ्चितकर ही है। जहाँ ज्ञान विप्रकृष्ट विषय वाला होता है, जैसे कि सुवर्णशंखग्राहीज्ञान, तो उसके प्रामाण्य का निश्चय विशुद्धकारणजन्यता के आधार पर हो जाता है, क्योंकि जो ज्ञान विशुद्धकारणजनित होता है, वह प्रमाण होता है — 'यद्विशुद्धकारणजनितं तत् प्रमाणम्'।¹³⁸

आचार्य कमलशील का स्वाभिमत 'अनियम पक्ष'

आचार्य धर्मकीर्ति के अभिमत का समर्थन करते हुए तदनन्तर इन्होंने अपना अभिमत भी स्पष्ट किया है। प्रकारान्तर से यह संशोधन या परिष्कार धर्मकीर्ति से उनकी असहमति का भी सूचक है और धर्मकीर्ति के मत की समालोचना भी। कमलशील का कहना है कि जहाँ अभ्यास आदि के द्वारा भ्रान्ति के कारण निरस्त हो जाते हैं ऐसे, प्रथमज्ञान का भी स्वतः प्रामाण्य होता है। जिस प्रकार अभ्यासबल से योगियों को मणिरूप्यादि में स्फुटप्रतिभास वाला विज्ञान उत्पन्न होता है, उसी प्रकार अन्यत्र भी अभ्यासबल से विभ्रम की आशंका निरस्त हो जाने से अव्यवहित रूप में जायमान स्फुटतर प्रतिभास उत्पन्न होता है जो सजातीयसाधारण का अध्यवसाय करने वाले परामर्श को उत्पन्न करता हुआ उसका, विजातीयतः अतद्विषय से व्यावृत्त होने के रूप में, अध्यवसाय करता है, अतः उसके स्वतःप्रामाण्य की बात हम करते हैं।¹³⁹

परतः प्रामाण्यपक्ष से यह आशंका की जाती है कि अभ्यासरथल में भी प्रवृत्त होने पर ताद्रूप्यलक्षणरूप लिंग के दर्शन से अनुमानतः ही अर्थप्रापण शक्तिरूप प्रामाण्य का निश्चय होता है, अतः सर्वत्र प्रामाण्य का निश्चय परतः ही होता है, कहीं पर भी प्रामाण्य का निश्चय स्वतः नहीं होता। आचार्य कमलशील पूर्वपक्षी से कहते हैं कि आप

यह बतलाइए कि असंकीर्ण तादृष्यलक्षणलिंग का निर्णय कैसे होता है? यदि अभ्यास के द्वारा आप उसका निश्चय मानें, तो यदि विजातीय आकार के व्यवच्छेद के द्वारा सजातीयसाधारण असंकीर्ण सारूप्य का अध्यवसाय होता है, तो फिर प्रामाण्य में आपका वह कौन सा द्वेष है जिसके चलते भ्रान्ति के कारणों के न रहने पर भी, प्रामाण्य का अध्यवसाय आपको नहीं होता।¹⁴⁰

पुनश्च, सारूप्यता क्या है? यदि बोधरूपता सारूप्य है, तब तो वह (बोधरूपता) मिथ्याज्ञान में रहती ही है, फलतः आपके पक्ष में अनैकान्तिक हेत्वाभास आ जायगा। यदि आप आकारनिर्मासिता, जैसे, लोहिताकारनिर्मासिता, को सारूप्य कहिएगा, तो अशोकस्तम्भादि के ग्राही ज्ञान में भी उसकी विद्यमानता के कारण आपका हेतु व्यभिचारी हो जायगा। यदि अग्न्यादिपदार्थकार्यता सारूप्य है, तो, आप यह बतलाएँ कि वह निश्चित कैसे होती है? क्योंकि उसकी सिद्धि के लिए एक अन्यलिंग का अनुसरण और इसके लिए भी अपरलिंग का अनुसरण करने की अपेक्षा होगी और इस प्रकार अनवरथा की प्राप्ति होगी। यदि पूर्वपक्ष से कहा जाय कि अभ्यासबल से ही उसकी स्वतः सिद्धि होती है, उसे लिंगानुसरण की अपेक्षा नहीं होती, तो कमलशील का कहना है कि यदि अभ्यास में आप इस प्रकार का सामर्थ्य मानते हैं, तब तो, लिंगानुसरण के बिना भी, मात्र अभ्यास बल से शक्तिनिश्चय हो जाता है, ऐसा क्यों नहीं मानते? इसके अतिरिक्त, यदि ज्ञान की तत्कार्यता को आप सिद्ध मानें, तो व्याप्ति का अनुसरण करना व्यर्थ है, क्योंकि तत्कार्यता के अध्यवसाय से ही, अनुमानज्ञान की तरह उसके अर्थ की प्रापणशक्ति भी सिद्ध हो जायगी। जिस प्रकार वस्तु से प्रतिबद्ध लिंग के दर्शनबल से उत्पन्न होने के कारण अनुमानज्ञान का प्रामाण्य, बिना सारूप्यबल के ही, वस्तुकार्यता के अध्यवसाय से ही, स्वतः माना जाता है, उसी प्रकार यहाँ पर भी स्वतः प्रामाण्य मानना चाहिए।¹⁴¹ अतः कमलशील इस प्रसंग का उपसंहार करते हुए लिखते हैं — 'यदि सारूप्यात् सर्वत्र प्रामाण्यं निश्चीयते, तदान्यत्रानुभूतविषम्य इति प्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात्। तस्मादभ्यासबलात् प्रोत्सारितभ्रान्तिनिमित्तमुपजायते यत् तत्स्वत एव प्रामाणमिति स्थितम्।'¹⁴²

अपने 'अनियमपक्ष' की प्रत्यक्ष और अनुमान इन द्विविध प्रमाणों के प्रसंग में उपयुक्तता दिखलाते हुए आचार्य कमलशील बतलाते हैं कि हम यह नहीं कहते हैं कि अनुमान की भाँति, नान्तरीयक अर्थ को उपदर्शित करते हुए, प्रत्यक्ष भी प्रमाण होता है, अपितु हमें अभीष्ट यह है कि प्रतिभासमान अर्थ का अवसाय करता हुआ प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। इसी कारण, यह कहा जाता है कि अर्थक्रियार्थी के अभिमत को प्राप्त कराता हुआ ज्ञान प्रमाण कहा जाता है। पुरुष को अर्थदेश के पास पहुँचाता हुआ अथवा

पुरुष के पास अर्थ को ले जाता हुआ ज्ञान अर्थ का प्रापक होता है, ऐसा हम नहीं मानते, अपितु उसमें पुरुष की प्रवृत्ति कराता हुआ ज्ञान प्रापक कहलाता है। ज्ञान पुरुष का हाथ पकड़कर प्रवृत्ति नहीं कराता, अपितु प्रवृत्ति-विषय को दिखलाता हुआ प्रवृत्ति कराता है। यह उपदर्शन प्रतिभासमान अर्थ का अवसाय ही है, उससे भिन्न और कुछ भी नहीं। जहाँ ज्ञान में संशय की स्थिति है, वहाँ अवश्य ही प्रतिभासमान आकार का अवसाय है, क्योंकि उसका अवसाय नहीं रहने पर उस प्रकार का विमर्श नहीं हो सकता।¹⁴³ जो ज्ञान प्रतिभासमानपदार्थ से विरुद्ध आकार के अवसाय से आक्रान्त होकर उदित होता है वह प्रमाण नहीं होता, जैसे कि मरीचिग्राहीज्ञान जलावसाय से आक्रान्त होने से प्रमाण नहीं होता, क्योंकि उसमें प्रमाण-व्यापार का अभाव होता है। इसी प्रकार (शुक्ल) शंख में पीतज्ञान तथा मणिप्रभा में मणिज्ञान में, वस्तु वस्तुतः जिस स्वभाव, देश और काल में अवसित होती है, उस तरह का प्रतिभास नहीं होता और न तो वह देशकाल ही होता है, जबकि देश और काल भी वस्तुस्वभाव के भेदक होते हैं।¹⁴⁴

अनुमान विकल्पात्मक होता है, अतएव उसका विषय सामान्यलक्षण होता है। इसी कारण उसकी वस्तुविषयकव्यवस्था प्रतिभास के आधार पर नहीं, अपितु निश्चय के आधार पर होती है। अनुमान में यथार्थप्रतिभास नहीं होता, तथापि चूँकि अनुमान की उत्पत्ति नान्तरीयक अर्थदर्शन के बल से होती है और परंपरया वस्तु के साथ उसका प्रतिबन्ध माना जाता है, अतः यथार्थ प्रतिभास से शून्य भी अनुमान में प्रामाण्य का अविनाभाविरूप निश्चय ही अपेक्षणीय है, अन्यथा अनुमान की उत्पत्ति ही असंभव हो जायगी। अतः, प्रत्यक्ष अनुमान के तुल्य नहीं है। दोनों का प्रामाण्य एक तरह से नहीं होता।¹⁴⁵

‘स्वतःप्रामाण्यपरीक्षा’ नामक परिच्छेद में कुमारिल द्वारा लगाये गये आरोपों का सूक्ष्मता से परिहार करते हुए आचार्य शांतरक्षित-कमलशील यह प्रतिपादित करते हैं कि जिस तरह अभ्यासबल से कहीं ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः निश्चित हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान के कुछ स्थलों पर उसका अप्रामाण्य भी स्वतः ही निश्चित हो जाता है।¹⁴⁶ इसी कारण अपने ‘अनियमपक्ष’ को कमलशील ‘पंचमपक्ष’ भी कहते हैं।¹⁴⁷

समीक्षा

अभी तक हमने अपने विवेचन में जैनों के प्रामाण्यविषयक मत का अतिसंक्षेप में निर्देश किया है और प्रभाकर के मत का तो संकेत मात्र। जैनों ने प्रामाण्य की चर्चा इस ढंग से की है मानो स्वतः प्रामाण्य और अप्रामाण्य इन उभयपक्षों में उन्हें कुछ

संरक्षणीय तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं। अतः, उन्होंने इस तथ्य पर बल दिया है कि अभ्यासावस्था में ज्ञान में प्रामाण्य स्वतः होता है जबकि अनभ्यास स्थल में (वस्तु के साथ प्रथम परिचय वाले ज्ञान में) ज्ञान में प्रामाण्य परतः होता है। स्पष्ट है कि जैन दार्शनिक ज्ञान के प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य की किसी कसौटी को प्रयुक्त करने की बात का खण्डन नहीं करते, परन्तु, इस तथ्य पर बल देते हैं कि ज्ञान के एक प्रकार विशेष को एक से अधिक बार उसी निकष पर चढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु यह पक्ष कोई वांछनीय तथा सराहनीय पक्ष नहीं है। बाद में चलकर जैन नैयायिकों ने भी अपने स्याद्वाद सिद्धान्त के निहितार्थ को प्रामाण्य के प्रसंग में विश्लेषित किया और फलस्वरूप आचार्य प्रभाचन्द्र¹⁴⁸, देवसूरि और हेमचन्द्रादि¹⁴⁹ की इस आलोक में जो विवेचना हम पाते हैं वह तथ्य के बहुत पास है, किन्तु इसका भी महत्त्व इसलिए नहीं है, क्योंकि बौद्धों से वे बातें उधार ली गयी हैं। यह बात, हेमचन्द्र की विवेचना को सामने रखने पर, एकदम स्पष्ट हो जाती है।

प्रभाकर 'अनुभूतिः प्रमाणं सा स्मृतेरन्या' कहकर अनुभूति को प्रमाण और स्मृति को प्रमाण से अन्य मानते हैं। उनके लिए प्रमा और अनुभूति पर्यायवाची हैं। कोई भी ज्ञान अप्रामाणिक नहीं होता। उनके लिए स्थिति या तो ज्ञान की होगी जिसे प्रामाणिकज्ञान (अनुभव) कह सकते हैं, अथवा ज्ञानाभाव की। मिथ्याज्ञान नामक कोई ज्ञानात्मक स्थिति नहीं होती। प्रश्न है कि तब रज्जुसर्प, शुक्तिकारजतादि की व्याख्या कैसे होगी? प्रभाकर का कहना है कि इस तरह के ज्ञान तब होते हैं जब विषयान्तरसदृश विषय का अवलंबन लेकर विवेक को बिना गृहीत किये ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है जो 'मुझे स्मरण हो रहा है'— इस ज्ञान से शून्य व्यक्ति में तत्सदृशविषयान्तर की स्मृति का हेतु बनता है।¹⁵⁰ आचार्य शालिकनाथ इस पर अपनी टिप्पणी में बतलाते हैं कि 'शुक्तिकारजतादि विज्ञानद्वय का उदाहरण है, प्रत्यक्ष और स्मृति इन दो विज्ञानों का उदाहरण है। 'इदं रजतम्' रूप जो शुक्तिकारजत का ज्ञान होता है उसमें 'इदम्' प्रत्यक्ष ज्ञान है और 'रजतम्' स्मरण है। इन दोनों के भेद का ग्रहण नहीं होना ही भ्रान्ति है। 'रजतमिति' इन्द्रियज नहीं है, क्योंकि शुक्तिकारजत की भ्रान्ति में रजत का इन्द्रिय से कभी सम्प्रयोग नहीं होता। अपने से असंयुक्त विषय का ज्ञान इन्द्रियाँ नहीं करतीं, जैसे कि अन्धे को रूपरंगादि का ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार स्मृतिरूप से शुक्तिका में रजतज्ञान की उपपन्नता है।¹⁵¹ स्पष्ट है कि प्राभाकरों के अनुसार अनुभूति (दृष्ट) तथा स्मृति (स्मृत) एवं तत्सम्बद्ध विषयों में भेदाग्रह के कारण भ्रान्ति होती है। प्राभाकरों की विवेचना अधिक से अधिक ज्ञान के स्वतःप्रामाण्य सिद्धान्त की तार्किक परिणति मानी जा सकती है, परन्तु उसे समस्या का उचित समाधान नहीं माना जा सकता, क्योंकि, बौद्धप्रत्यक्षज्ञान और भ्रान्तप्रत्यक्ष में विभाजक

तथ्य यह है कि बौद्धप्रत्यक्ष दृष्ट या अनुभूत विषय का यथावत् प्रकाशन करता है, जबकि भ्रान्तप्रत्यक्ष उसका प्रकाशन अन्यथारूप में। इसके अतिरिक्त वे अपने अख्यातिवाद के द्वारा भ्रान्ति की तथा ज्ञान में अप्रामाण्य की समस्या का समाधान नहीं कर पाते। भ्रम निश्चयरूपेण ही मिथ्याग्रहण है, भेदाग्रहमात्र नहीं। प्रभाकर इस तथ्य की अवहेलना कर रहे हैं कि जबतक भ्रम बना रहता है, उसका निरास जबतक नहीं होता, वह सत्य के रूप में मान्य रहता है और वह व्यक्ति को तदनुकूल व्यापार में प्रवृत्त भी कराता है, भले ही उसकी परिणति असफलता में हो। जब हमें शुक्तिकारजत की भ्रान्ति होती है, तो उसमें 'रजत' की, ज्ञाता की चेतना में, वस्तुतः स्थिति रहती है। चेतना में उपस्थित रजत मात्रस्मृतिरूप नहीं होता। पुनश्च, यदि अनुभूत एवं स्मृत तथ्य वस्तुतः असम्बद्ध हों और भ्रम मात्र असंसर्गग्रह रूप हो, जैसा प्रभाकर मानते हैं, तो यह प्रश्न स्वभावतः उठेगा कि क्या ये दोनों ज्ञान चेतना में प्रकट होते हैं या नहीं? यदि प्रकट होते हैं, तो इन दोनों ज्ञानों के भेद का ग्रहण भी ज्ञाता को अवश्य होना चाहिए, और यदि नहीं तो वे असत्य हैं।¹⁵² पुनश्च, प्रभाकर को कोई अधिकार नहीं कि वे भेदाग्रह को स्वीकार कर भ्रान्ति की व्याख्या करें, क्योंकि वे न तो 'अनुपलब्धि' को प्रमाण मानते हैं और न तो अभाव को स्वतन्त्र पदार्थ ही।

'न्याय का 'परतः प्रामाण्य' का पक्ष भी बिल्कुल दोषरहित नहीं है, यद्यपि वह उचित रूप में ही प्रमा के प्रसंग में संवादिता को तथा ज्ञान की सत्यता के निकष के रूप में व्यावहारिक परिणाम—सह संसक्तता को स्वीकार करता है और इस प्रकार पाश्चात्य दर्शन के प्रामाण्यविषयक संवादिता सिद्धान्त के विभिन्न प्रकारों¹⁵³ में निहित दोषों से मुक्त है और आजकल पाश्चात्य विद्वानों द्वारा और उनसे सहमत भारतीय विद्वानों के अनुसार प्रामाण्यविषयक समस्या के समाधान का सबसे नजदीकी सिद्धान्त है।¹⁵⁴ 'संवादिप्रवृत्ति' या अर्थक्रियाज्ञान को सही ज्ञान की कसौटी माननेवाले अस्वसंवेदनवादी नैयायिकों की तर्कसारिणी में अधिक संगत पक्ष यह होता कि प्रामाणिक ज्ञान तभी परिणमित होता है यदि प्रमा के साधन ठीक रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं। परन्तु नैयायिकों ने यह माना कि प्रामाणिक ज्ञान की उत्पत्ति तब होती है जब उसको उत्पन्न करने वाले 'करण' गुणवान् होते हैं, अर्थात् वे 'गुण' विशेष से युक्त होते हैं। जब 'करण' दोषवान् होता है, तो अप्रामाणिक ज्ञान उत्पन्न होता है। उदयनाचार्य कुमारिल के पक्ष की आलोचना कर न्यायपक्ष का जिस रूप में मण्डन करते हैं, उससे उपर्युक्त बात स्पष्ट हो जाती है। उदयनाचार्य का कहना है कि रागविषय के प्रति द्वेषभाव तथा हेयविषय के प्रति हमारा रागाभाव होता है, तथापि यह कोई नहीं कहता कि विषय के प्रति राग का कारण द्वेषभाव, या विषय के प्रति द्वेष का कारण रागाभाव है, क्योंकि वस्तुस्थिति यह है कि विषय के प्रति प्रवृत्ति का कारण है उसके प्रति राग का होना

और निवृत्ति का कारण है द्वेष का होना। यथार्थज्ञान—स्थल में ज्ञान की उत्पादक अवस्थाओं में 'गुण' का दोषभाव के रूप में, तथा अप्रमा की उत्पादक अवस्थाओं में (कारण सामग्री में) 'दोष' की, गुण के अभाव के रूप में स्थिति होती है। तथापि, इससे यह कहना उपयुक्त नहीं होगा कि प्रमा की कारण—सामग्री में 'दोषभाव' तथा अप्रमा के कारण में 'दोषभाव' भी एक कारण सामग्री है, क्योंकि यथार्थस्थिति यह है कि प्रमा की उत्पत्ति 'गुण की विद्यमानता' से और अप्रमा की उत्पत्ति 'दोष की विद्यमानता' से होती है¹⁵⁶। परन्तु उदयनाचार्य का यह सारा प्रयास गलत है। किसी वस्तु के प्रति राग होने से प्रवृत्त होने के रूप में और द्वेष होने पर निवृत्त होने के रूप में ही उस वस्तु के प्रति हमारी सक्रियता का कोई अर्थ होता है। वस्तु के प्रति न प्रवृत्त होने और न निवृत्त होने की स्थिति में उस वस्तुविशेष के प्रति सक्रिय होने की बात नहीं की जा सकती। इसी प्रकार यथार्थज्ञान की कारणसामग्री अथवा अप्रमा की कारणसामग्री की बात समझ में आती है, परन्तु यह मानना अर्थहीन है कि ज्ञान की ऐसी भी स्थिति होती है जब वह न तो प्रमा रूप हो और न अप्रमारूप, किन्तु 'गुणयुक्त' होने पर प्रमा रूप एवं दोषयुक्त होने पर अप्रमारूप हो जाती है। पुनश्च, यदि अर्थसंवाद के चलते कोई ज्ञान यथार्थ कहा जाता है और यदि इस संवादिता का हमें अपरोक्षतया ज्ञान नहीं होता, तो उस स्थिति में प्रत्येक ज्ञान की सत्यता की जाँच, उस ज्ञान की अन्य ज्ञानों के साथ संसक्तता के आलोक में ही, करनी होगी। इसका अर्थ होगा ज्ञान की सत्यता को प्रमाणित करने की क्रिया का कोई अन्त नहीं होगा और फलतः किसी भी ज्ञान के प्रामाण्य का कोई भी अन्तिम निकष प्राप्त नहीं हो सकेगा। इस समस्या का एकमात्र समाधान यह है कि न्यायदर्शन को ज्ञान की स्वसंवेदनता को अवश्य स्वीकार करना चाहिए। स्वसंवेदनता अथवा स्वयंप्रकाशता के अधिष्ठान पर ज्ञान का प्रामाण्य निर्भर हो सकता है, क्योंकि वह अस्तित्ववान् तथ्य के साथ ही हमारी चेतना का वस्तु तथ्य भी है। ज्ञेय तथा ज्ञान की स्थिति में वस्तुतः अविभाग है, अतएव एक का अन्य के साथ संवाद की बात इस रूप में ही करनी होगी कि इसका ज्ञान साक्षात् रूप में या अपरोक्षतया होता है, अतः अन्य के द्वारा इसकी जाँच की कोई अपेक्षा नहीं होती।

कुमारिल के स्वतः प्रामाण्यवाद की विस्तृत आलोचना ऊपर की गयी है। यह द्रष्टव्य है कि भाट्ट मीमांसकों ने प्रभाकर के मत को संशोधित कर यह स्वीकार किया कि जबतक ज्ञान का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो जाता, सभी ज्ञान स्वतः प्रामाणिक होते हैं। प्रमा और अप्रमा की उत्पत्ति में न्याय से भिन्न स्थिति को स्वीकार करते हुए वे बतलाते हैं कि दोष के चलते ज्ञान में अप्रामाण्य आता है और 'दोषभाव' रहने पर ज्ञान प्रमारूप होता है। चूँकि 'दोषभाव' भावरूप नहीं है, अतः मीमांसकों के अनुसार जिन

सामग्रियों से विज्ञान उत्पन्न होता है, उस विज्ञान में रहने वाला प्रामाण्य भी उसी से पैदा होता है; परन्तु चूँकि, दोष भावरूप हैं, अतः जब विज्ञान के उत्पादक हेतु सदोष हो जाते हैं तो अप्रमा उत्पन्न होती है। दोष तो प्रमा का प्रतिबन्ध मात्र है। भाट्टमीमांसकों का यह पक्ष सारतः नैयायिकों जैसा ही है। अतः नैयायिकों के ही समान 'अभाव' को स्वतन्त्र पदार्थ मानने के कारण मीमांसक भी नैयायिकों पर प्रयुक्त उपर्युक्त आक्षेप से, मात्र यह कहकर, छुटकारा नहीं पा सकते कि वह 'विशेष' या अतिशयता जो विज्ञान को उत्पन्न करनेवाली कारण-सामग्रियों को प्रमा की उत्पत्ति में समर्थ बनाती है, भावरूप न होकर, अभावरूप है। कुमारिलाचार्य ने स्वतः बाध्य होकर यह माना भी है कि ऐसे उदाहरण संभव हैं जहाँ यथार्थज्ञान केवल ज्ञान-सामान्य-सामग्रीजन्य नहीं होता, अपितु भावरूप गुणसहसामान्य-सामग्रीजन्य होता है। कुमारिल के समक्ष जो कठिनाईयाँ उपस्थित हो रही हैं उसका कारण यह है कि वे वास्तव में यह पक्ष स्वीकार करना नहीं चाहते थे कि प्रमा दोषाभावयुक्त ज्ञानसामग्रीजन्य है, क्योंकि उनका अपना वास्तविक पक्ष यह है कि दोषानुगत रूप में ज्ञात न होनेवाली ज्ञानसामग्री से यथार्थज्ञान पैदा होता है। किन्तु इस मत में तो द्विगुणित दोष है, क्योंकि 'सभी ज्ञान प्रमारूप हैं' प्रभाकर के इस गलत मत पर वे अपने उपर्युक्त कथन से एक छद्म आवरण डालने का प्रयास कर रहे हैं। वास्तव में 'सभी ज्ञान प्रमारूप हैं' प्रभाकर के इस अभिमत की रक्षा करते हुए स्वतः प्रामाण्य की पुष्टि में जो तर्क आचार्य कुमारिल देते हैं¹⁵⁶ वह सारा का सारा 'दोषभाव' और 'दोषाग्रहण' को एक समझ बैठने की मिथ्यादृष्टि पर आधारित है।¹⁵⁷ उनका यह कथन उचित है कि ऐसा ज्ञान असंभव है जो न तो प्रमारूप हो और न अप्रमारूप, किन्तु उनका यह सुझाव असंगत है कि जबतक गलत सिद्ध न हो जाय ज्ञान यथार्थ होता है! यह इंगित करने में भी कुमारिल सत्य को ही उदघाटित कर रहे हैं कि प्रवृत्त होने अथवा क्रियारत होने के लिए ज्ञान के प्रामाण्य को निश्चित करने की कोई आवश्यकता नहीं, परन्तु इस आधार पर यह निष्कर्ष निकालना गलत है कि सभी ज्ञान स्वरूपतः प्रमारूप होते हैं, अथवा, जबतक वे गलत सिद्ध न हो जाँय, स्वरूपतः प्रमारूप होते हैं।

पुनश्च, अप्रामाण्य के विनिश्चय के विषय में भी कुमारिल का पक्ष अनुचित है। भाट्टमीमांसक मानते हैं कि जब हम किसी ज्ञान को जानते हैं तो हम उसे यथार्थज्ञान के रूप में जानते हैं, किन्तु जब किसी ज्ञान को अप्रमा के रूप में जानते हैं, तो हम इस प्रकार की अनुमानप्रक्रिया की स्थिति में रहते हैं कि — 'यह ज्ञान अप्रमा रूप है, क्योंकि यह अर्थक्रियाकारी नहीं है'। परन्तु यह पक्ष मिथ्यादृष्टिकोण का सूचक है, क्योंकि यदि उपर्युक्त प्रक्रिया से हम किसी ज्ञान के अप्रमारूप होने का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, तो हम किसी ज्ञान के प्रमारूप होने के विषय में यह भी तर्क कर सकते हैं

कि 'यह ज्ञान प्रमा रूप है, क्योंकि यह अर्थक्रियासमर्थ है'।

बौद्ध दार्शनिक प्रामाण्य के प्रसंग में तत्क्षण उत्पन्न हो रहे ज्ञान की ही प्रमुखतया विवेचना करते हैं और वह भी लोकव्यवहार के ज्ञान की। सभी भारतीय न्यायविदों की भाँति बौद्ध इस मान्यता से प्रमाणमीमांसा का प्रारंभ करते हैं कि सभी पुरुषार्थों की सिद्धि सम्यग्ज्ञानपूर्वक होती है।¹⁵⁸ ऐसी आधारभूत मान्यता का तार्किक परिणाम प्रामाण्य के प्रसंग में यही होगा कि ज्ञान के सम्यक्त्व की पूर्णतया निश्चित कसौटी अर्थक्रियाकारित्व ही है। यह आक्षेप उठाया गया है कि बौद्ध यह बतलायें कि अर्थक्रियाज्ञान स्वतः प्रामाणिक है, अथवा अप्रामाणिक। प्रथम स्थिति में स्वतःप्रामाण्यवाद मानना पड़ेगा और द्वितीय स्थिति में अनवस्थादोष की प्रसक्ति होगी। बौद्धों का स्पष्ट उत्तर है कि 'अर्थक्रियाज्ञान' स्वतःप्रामाणिक है। आचार्य प्रज्ञाकर गुप्त उपर्युक्त प्रश्न को ही¹⁵⁹ उठाकर उत्तर देते हुए स्पष्टतः घोषित करते हैं कि विरोधियों का आक्षेप गलत है। वे लिखते हैं — "विरोधियों द्वारा प्रक्षिप्त अनवस्था दोष अयुक्त है, क्योंकि उत्तरकालीन ज्ञान में अवभासित अर्थक्रिया की सत्ता से पहले उत्पन्न वहि आदि ज्ञानों में प्रमाणता मानी जाती है, तब अर्थक्रिया के ज्ञान—काल में ही अर्थक्रिया का भाव होने से उस उत्तरभावी प्रथम अर्थक्रिया के ज्ञान में प्रामाण्य क्यों नहीं माना जा सकता? तात्पर्य यह है कि जहाँ प्रथम ज्ञान में केवल वहि आदि का ज्ञान, द्वितीय ज्ञान में दाहादिरूप अर्थक्रिया और तृतीयादि ज्ञानों में उत्तरोत्तर अर्थक्रिया का भान होता है, वहाँ अवश्य ही पूर्व-पूर्व ज्ञान को उत्तरोत्तर ज्ञान की अपेक्षा होने से अनवस्था दोष होता है: किन्तु जहाँ एक ही ज्ञान में विषय और उसकी अर्थक्रिया का भान हो जाता है, वहाँ अनवस्था दोष क्यों होगा? वह तो सुतरामेव प्रमाण है।" नेदं साधीयः।

"उत्तरार्थक्रियाभावात् पूर्वस्य यदि मानता।

तदैवार्थक्रियाभावादुत्तरस्य कथं न सा।।

यत्रार्थक्रियास्थितिरपरोपकल्पिता तद् यावत् प्रमाणम्,

यत्र तु स्वतस्तदैवार्थक्रियानुभवः तत्सुतरामेव प्रमाणम्।

अलंकार भाष्य, पृ० 4

इस विवेचन का स्पष्ट अर्थ यह है कि लोकव्यवहार, में जाग्रत जीवन में, मनुष्य को बाह्यविषयों के सम्बन्ध में जो इन्द्रियानुभव होता है उसके अपलपित एवं बाधित होने का कोई खतरा नहीं रहता, अतएव वह वस्तुविषयक अपने ज्ञान के प्रामाण्य को निश्चित करने में पूरी तरह समर्थ है कि वह प्रमारूप है या अयथार्थ। उदाहरणार्थ, जब एक प्रेक्षवान व्यक्ति जाग्रत जीवन में एक वस्तु को स्पर्श करता है और उसे उष्ण पाता है तो उसका यह ज्ञान कि 'इस वस्तु में उष्मा है,' समर्थित एवं

प्रमाणित हो जाता है। उसे इसके लिए किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती।

प्रामाण्यविषयक किसी भी सिद्धान्त को उचित एवं यथार्थ तभी माना जा सकता है जब वह व्यावहारिक अर्थात् लौकिकज्ञान की स्थिति की सत्यता को स्वीकर करे, अन्यथा प्रामाण्य और अप्रामाण्य में विभेद के लिए कोई आधार ही नहीं रहेगा। पुनश्च, हमारी ऊपर की सारी विवेचना से यह बात साफ हो जाती है कि सत्यता का स्वरूप तथ्यों के साथ संवाद में निहित है, यद्यपि भौतिक वस्तुओं एवं अन्य लोगों के विषय में इसका ज्ञान साक्षात् रीति से नहीं होता। इसके ज्ञान हेतु हमें किसी ज्ञान विशेष की, अन्य के साथ अथवा संपूर्ण मानवीयज्ञान के साथ, संसक्तता¹⁶⁰ का आलंबन ग्रहण करना पड़ेगा और साथ ही उसकी व्यावहारिकता को भी ध्यान में रखना होगा। दूसरे शब्दों में संसक्तता-सह-व्यावहारिकता ही उपर्युक्त स्थितियों में हमारा पथप्रदर्शक हो सकती है। परन्तु ध्यानीय है कि जो सत्य है वह अर्थक्रियाकारी होता है, किन्तु जो अर्थक्रियाकारी होता है वह सभी सत्य नहीं होता है। अतः वस्तु तथ्यों के साथ ज्ञान के संवाद की जानकारी हमें इसकी संसक्तता एवं व्यावहारिक¹⁶¹ मूल्य के द्वारा होती है। किन्तु यह जानना कि वस्तुतथ्य के साथ किसी ज्ञान विशेष का संवाद है, उस ज्ञान की सत्यता की ही जानकारी है, यह स्थिति प्रामाण्य का निर्माण नहीं करती। ज्ञान केवल तभी सत्य नहीं होता है जब वह अर्थसंवादी हो। ज्ञान के प्रामाण्य का निकष इस बात में निहित है कि उस ज्ञान विशेष की अन्य ज्ञानों के साथ संसक्तता हो और वह अर्थक्रियाकारी हो। इस प्रकार स्पष्ट है कि सत्यता का स्वरूप संवादिता में और निकष संसक्तता और अर्थक्रियाकारिता में निहित है। किन्तु इन सारी बातों को एक स्वप्रकाशक अथवा स्वसंवेदन रूप अधिष्ठान में केन्द्रित होना होगा, अन्यथा हम चेतना में उपस्थित वस्तु और अर्थ में संवाद की बात नहीं कर सकते। स्वसंवेदन वह स्थिति है जो अन्य से अगोचर होने पर भी अपना प्रकाशन स्वयं करती है— 'एतदेव स्वसंवेदनं यदन्यागोचरत्वे सति प्रकाशनन्नाम'।¹⁶² अतः स्वसंवेदन के अधिष्ठान पर अर्थसंवाद रूप ज्ञान की कसौटी संसक्तता-सह-अर्थक्रियाकारिता में ही निहित है, जिसके द्वारा हम व्यावहारिक ज्ञान के प्रामाण्य की सारी बातें विश्लेषित कर सकते हैं। ऐसा मानकर ही हम सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों और विचार के मूलभूतनियमों तथा तर्कशास्त्र एवं गणित के प्रागनुभविक सिद्धान्तों की व्याख्या कर सकते हैं।

प्रामाण्य विषयक सारे भारतीय सिद्धान्तों में बौद्धों में, विशेषकर धर्मकीर्ति के सम्प्रदाय में, अविश्ववाद, अर्थक्रियाकारिता एवं उसके स्वरूप को स्वसंवेदन के साथ, प्रामाण्य चर्चा में यथावत् स्थान मिला है। शांतरक्षित-कमलशील के स्वपक्ष के विवेचन तथा उनके द्वारा धर्मकीर्ति के पक्ष के मण्डन के प्ररांग में इसे हम देख चुके हैं। उनकी

अर्थक्रियाकारिता व्यावहारिक उपयोगिता का ही दूसरा नाम है। अतः हम कह सकते हैं कि बौद्धों का प्रामाण्य सिद्धान्त ही सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ है।

प्रमाणसंप्लव एवं प्रमाणव्यवस्था

प्रमाणशास्त्र में प्रमाणों के प्रसंग में यह भी प्रश्न उठता है कि क्या एक प्रमाण अनेक प्रमेयों को जानता है अथवा एक प्रमाण एक ही तरह के प्रमेय को जानता है? इस प्रश्न का दूसरा पहलू यह भी है कि क्या अनेक प्रमाण एक प्रमेय को जानते हैं अथवा अलग-अलग प्रमाणों के अलग-अलग प्रमेय होते हैं। किसी भी प्रमाण विशेष, जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण, का व्यापार क्या एक ही प्रकार के प्रमेय तक ही सीमित है, अथवा नहीं? क्या प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा जाना गया प्रमेय अन्य प्रमाण का प्रमेय नहीं बन सकता? इस प्रश्न को और विशिष्ट करें तो कह सकते हैं कि क्या प्रत्यक्ष प्रमाण के जो चाक्षुष, रासन आदि, एवं मानस एवं स्वसंवेदन आदि अवान्तर भेद हैं उनमें एक द्वारा जाना गया प्रमेय दूसरे का भी प्रमेय बन सकता है अथवा नहीं। हम आगे देखेंगे कि इस प्रकार के प्रश्नों का निरूपण प्रमाणों के विषय में सामान्यप्रकार से, जैसे, क्या प्रत्यक्ष का प्रमेय अनुमान, शब्द, उपमानादि द्वारा भी जाना जाता है, अनुमान प्रमाण का प्रमेयभूत प्रत्यक्ष, शब्दादि का विषय बनता है, इत्यादि, और विशेष धरातल पर भी किया जाता है, जैसे क्या चाक्षुषप्रत्यक्ष का विषय, रासन-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमानादि से ज्ञात होता है अथवा नहीं? क्या प्रमाण के व्यापार में प्रमेय को जानने को लेकर सांकर्य है अथवा व्यवस्था? ये सभी प्रश्न तत्त्वमीमांसात्मक मान्यता के आलोक में विवेचित हुए हैं और उसके कई आयाम भी हैं।

एक प्रमेय में अनेकों प्रमाणों के अवतार को प्रमाणसंप्लव कहते हैं और एक प्रमेय में एक ही प्रमाण के अवतार को प्रमाणव्यवस्था कहते हैं। प्रथम को प्रमाणसांकर्य तथा द्वितीय को प्रमाणासांकर्य और कभी-कभी प्रमाणविप्लव भी कहते हैं। न्यायसूत्र एवं न्यायभाष्य की व्याख्या कर विद्वान 'प्रमाणतश्च अर्थप्रतिपत्तेः' में आये 'प्रमाणतः' पद द्वारा 'प्रमाणसंप्लव' की, उनके द्वारा मान्य होने की, संभावना अभिव्यक्त करते हैं।⁶³ आचार्य दिग्नाग ने न्यायसूत्र में उल्लिखित चार प्रमाणों के स्थान पर दो प्रमाणों की, दो प्रमेयों के कारण, घोषणा के साथ उनमें असांकर्य को प्रस्थापित किया, तब से अन्य प्रश्नों की तरह इस पर भी गंभीर शास्त्रार्थ हुए। उद्धोतकर, कुमारिल, जयन्तभट्ट, वाचस्पतिमिश्र, भास्वरवज्र आदि न्याय एवं मीमांसा के आचार्यों ने बौद्धपक्ष की आलोचना की और बौद्धों की ओर से दिग्नाग के समर्थन में धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर, शान्तरक्षित, कमलशील एवं ज्ञानश्रीमित्र आदि ने स्वमत को स्पष्ट कर प्रमाणसंप्लव का

खण्डन किया। प्रमाण दो ही वषों हैं और इन दो प्रमेयों की सिद्धि कैसे होती है, परतुतः मेय एक ही है 'स्वलक्षण' और उसी का 'स्वपररूपतया ज्ञान होने से मेय दो कहा गया है, इत्यादि बातों पर विस्तार से विवेचन आगे किया गया है।

हम प्रमाणसंप्लव एवं प्रमाणव्यवस्था के प्रसंग में दर्शनसम्प्रदायों में देखते हैं कि बौद्धतार्किक केवल व्यवस्थावादी हैं। नैयायिक और मीमांसक वैसे तो संप्लववादी हैं, किन्तु प्रमाणों के खास अवान्तरभेद अथवा किसी ज्ञान विशेष के प्रसंग में वे प्रमाणव्यवस्था को भी मानते हैं। जैन संप्लव और व्यवस्था दोनों को मानते हैं। इस प्रकार तीन विकल्प, इस समस्या के प्रसंग में, संभव हैं — (क) केवल संप्लव, (ख) संप्लव और व्यवस्था दोनों तथा (ग) केवल व्यवस्था। हम तीनों पक्षों को प्रस्तुत कर यह देखेंगे कि न्यायोचित पक्ष कौन है?

ऐतिहासिक क्रम से बढ़ें तो सबसे पहले वात्स्यायन के अभिमत में हमें प्रमाणसंप्लव एवं प्रमाणव्यवस्था दोनों ही तरह की बातें मिलती हैं। आचार्य वात्स्यायन स्पष्ट शब्दों में यह बतलाते हैं कि कुछ ऐसे प्रमेय हैं जिनका ग्रहण सभी प्रमाणों से हो सकता है और कुछ ऐसे भी प्रमेय हैं जिनका ग्रहण केवल किसी खास प्रमाण से ही हो सकता है। उदाहरणार्थ, वात्स्यायन के अनुसार आत्मा और अग्नि ऐसे प्रमेय हैं, जिनका ग्रहण आप्तवचन या शब्द प्रमाण, अनुमान तथा प्रत्यक्ष से भी हो सकता है। इसी प्रकार ऐसे भी प्रमेय हैं जिनका ग्रहण केवल किसी प्रमाण विशेष से ही हो सकता है, जैसे कि, स्वर्ग का ज्ञान केवल शब्दप्रमाण के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है; बादलगर्जना की ध्वनि को सुनने के बाद, बादल का ज्ञान केवल अनुमान के द्वारा हो सकता है और स्वकर का ज्ञान केवल प्रत्यक्ष के द्वारा हो सकता है।¹⁶⁴ आचार्य उद्धोतकर भी प्रमाणसंप्लव और प्रमाणव्यवस्था दोनों ही मानते हैं। न्यायदर्शन तथा स्वपक्ष को स्पष्ट करते हुए वे बतलाते हैं कि न तो प्रमाण दो हैं और न तो प्रमेय भी दो ही हैं, क्योंकि प्रमाण चार हैं, चूँकि एक ही प्रमेय का अनेक प्रमाणों से ज्ञान हो सकता है। इन्द्रिय प्रमाण है और यह अर्थ को प्रकाशित करती है, उसे जानती है। इन्द्रियों में व्यवस्था भी है और संप्लव भी। उदाहरणार्थ, गन्धज्ञान केवल घ्राणेन्द्रिय से हो सकता है, शब्दज्ञान केवल श्रोतेन्द्रिय से तथा रूपज्ञान केवल चक्षुरिन्द्रिय से हो सकता है, किन्तु 'सत्ता' एवं 'गुण' का ग्रहण सभी इन्द्रियों से होता है, अथवा सप्रतिघावयविन् या द्रव्यों का ज्ञान चक्षु और स्पर्श दोनों इन्द्रियों से होता है।¹⁶⁵ यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि यदि सभी प्रमाण उस एक ही प्रमेय को जानते हैं तो उसको जानने के लिए एक ही प्रमाण अपेक्षित और पर्याप्त है, तदन्यप्रमाण की वहाँ न तो कोई आवश्यकता है और न कोई उपयोगिता ही। उद्धोतकर का उत्तर है कि

यद्यपि एक उसी प्रमेय को सभी प्रमाण जानते हैं, तथापि इस प्रमेय को वे पृथक्-पृथक् ढंग से जानते हैं, अर्थात् विलग-विलग प्रमाणों का एक ही प्रमेय को जानने का तरीका अलग-अलग है और प्रतीति का प्रकार भी हर एक प्रमाण का दूसरे से भिन्न होता है, प्रत्येक का प्रतीतिप्रकार अपने निजी ढंग का होता है। आचार्य उद्धृतकर इस तथ्य को स्मरण रखने का आग्रह करते हैं कि यद्यपि सभी प्रमाण एक ही प्रमेय को जानते हैं तो भी कोई भी प्रमाण उस प्रमेय को सर्वात्मतः या समग्रतः नहीं जानता।¹⁶⁶

आचार्य कुमारिलभट्ट भी प्रमाणसंप्लव का समर्थन करते हैं और कुछ धर्मत्व का ज्ञान केवल वेद द्वारा (आगम या श्रुतिप्रमाण) मानते हैं। उनके अनुसार धर्मत्व इन्द्रियागोचर हैं। 'अग्निहोत्रसमाख्येन होमेन स्वर्गभावयेद्' आदि कथन में विधीयमान होम किसी अन्य प्रमाण के द्वारा गृहीत नहीं किया जाता, अतः वह एकमेव आगमप्रमाण द्वारा वेद्य है, इस प्रकार यहाँ प्रमाणव्यवस्था है। मीमांसक द्रव्यादिकी धर्मता, श्रेय का साधन होने से, मानते हैं और उस रूप में वे इन्द्रियग्राह्य नहीं हैं।¹⁶⁷ आचार्य कुमारिल विषय की प्रत्यक्षता का अक्षविषयत्व मानने रूप पक्ष के विषय में कहते हैं कि 'शब्द श्रोतप्रत्यक्ष का विषय है, इसका साक्षात् रूप से, अपरोक्षतया, अवगम नहीं होता। जब मैं किसी शब्द को सुनता हूँ, तो हमें 'शब्दोऽयम्' इस रूप में ज्ञान होता है, इस रूप में नहीं कि 'यह श्रवण का विषय है'। शब्द हमें सुनायी पड़ा है, यह ज्ञान हमें परोक्षतया, अन्वय-व्यतिरेक की सम्मिलित विधि (अन्वय-व्यतिरेक समधिगम्यमेव) के द्वारा होता है। किसी बधिर को शब्द नहीं सुनायी पड़ सकता, अपितु जिसमें शब्द सुनने की सामान्य क्षमता होती है, उसे ही शब्द सुनायी पड़ता है। अतः, मनुष्य के कर्ण द्वारा शब्द सुनायी पड़ता है' यह अनुमान का उदाहरण है।¹⁶⁸

आचार्य जयन्तभट्ट इस प्रसंग की काफी विस्तार से विवेचना करते हैं। वे बौद्धपक्ष का खण्डन एवं स्वपक्ष का मण्डन करते हैं। बौद्ध यह कह सकते हैं कि विषय की प्रत्यक्षता का हमें अक्षजज्ञानकर्मत्व अभीष्ट है। जयन्तभट्ट का कहना है कि आपका यह कथन ठीक नहीं है कि ज्ञाता को विषय के ज्ञान का ज्ञान रहता है। जब किसी विषय का प्रत्यक्ष होता है तब व्यक्ति को अपने प्रत्यक्ष की चेतना नहीं रहती है, क्योंकि उसी समय में प्रत्यक्ष का स्ववेदन नहीं होता। जहाँ तक प्रत्यक्ष का प्रश्न है, हमें इस प्रकार के भेद का कभी अनुभव नहीं होता कि यह प्रत्यक्ष है और यह प्रत्यक्ष का विषय है।¹⁶⁹ अतः, विषयज्ञान के समय प्रत्यक्ष का ज्ञान नहीं होता। नैयायिक होने से तदनुकूल ही जयन्तभट्ट यह भी प्रस्थापित करते हैं कि विषय का प्रत्यक्ष होने के समय हमें उस प्रत्यक्षज्ञान का ज्ञान नहीं रहता, तथापि विषयप्रतिभास युक्तियुक्त है और इससे ये यह अर्थ निकालते हैं कि विषय की प्रत्यक्षता का अक्षजज्ञानकर्मत्व मानना

अनुचित है। चूँकि प्रत्यक्ष स्वसदित्यात्मक (स्वयंप्रकाश) नहीं है, क्योंकि ज्ञान का ज्ञान अनुव्यवसाय द्वारा होता है, अतः परोक्षज्ञान से इसकी भिन्नता नहीं स्थापित हो सकती है और न तो प्रत्यक्षज्ञान अपरोक्ष एवं परोक्षज्ञान से अन्य तृतीयज्ञान के अभाव को ही सूचित कर सकता है। अतः प्रत्यक्ष द्वारा प्रमेयद्वैविध्य की सिद्धि नहीं होती।¹⁷⁰

अनुमान भी 'मेयद्वैविध्य' को सिद्ध नहीं कर सकता है। मेयद्वैविध्यसाधक अनुमान प्रत्यक्ष के इस सबूत पर आधारित है कि अपरोक्षविषय और अनुमेय विषय परस्पर बहिष्कारक हैं। किन्तु प्रत्यक्ष इस प्रकार की परस्पर बहिष्कारकता का बोध कराने में समर्थ नहीं है कि प्रत्यक्षविषय का अनुमेय विषय के साथ विरोध है। अतः, विषय द्वैविध्य का प्रत्यक्षतः बोध न होने से, उस पर आधारित अनुमान सिद्ध नहीं होता है। विषयद्वैविध्य के सिद्ध न होने से मानद्वैविध्य भी सिद्ध नहीं होता।¹⁷¹ पुनश्च, यह मान भी ले कि विषय द्वैविध्य है, तो भी सामग्रीभेद और फलभेद के भी कारण प्रमाण दो से अधिक हो सकता है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान में प्रमाणत्व विषयक विशेषता के न होने पर भी सामग्री और फलभेद के कारण भेद होता है, उसी प्रकार शब्द और उपमान भी सामग्री और फलभेद के कारण प्रत्यक्ष और अनुमान से विलग (भिन्न) प्रमाण माने जाते हैं। अतः, प्रमाण दो ही हैं, यह सिद्ध नहीं होता।¹⁷² अतः विषयद्वैविध्य मानद्वैविध्य का नियामक नहीं है।

आचार्य जयन्तभट्ट का उद्घोष है कि प्रमाणसंप्लव न मानने पर अनुमान के प्रामाण्य की प्रतिष्ठापना अनुपपन्न होगी— 'असतिसंप्लवे अनुमानप्रामाण्य-प्रतिष्ठापनानुपपत्तेः।'¹⁷³ यदि लिंग और लिंगी के बीच व्याप्तिसम्बन्ध अविज्ञात रहे, तो लिंग लिंगी का गमक नहीं हो सकता। इन दोनों के बीच व्याप्तिसम्बन्ध होने का ज्ञान इन दोनों में सम्बन्ध को द्योतित करता है, अर्थात् व्याप्तिसम्बन्ध लिंग और लिंगी इन दो के सम्बन्ध होने में स्थित (द्विनिष्ठ) होता है। इनमें से सम्बन्धिन् सामान्यात्मक होता है और इसका ग्रहण अनुमानतः होता है। अतएव, यदि बौद्ध अपनी मान्यता पर डटे रहें, तो अनुमान अन्योन्याश्रय रूप हो जायगा, क्योंकि यदि हम सम्बन्धिन् को नहीं जानते तो व्याप्तिग्रहण नहीं हो सकता, और यदि हम व्याप्तिसम्बन्ध को नहीं जानते तो हमें सम्बन्धिन् का ग्रहण नहीं हो सकता। यदि बौद्ध कहें कि सम्बन्धिन् का ग्रहण अनुमानान्तर से होता है, तो सैकड़ों मन्वन्तरों में भी, सम्बन्ध का ज्ञान नहीं हो सकता, अर्थात् अनवस्था की प्राप्ति होगी। इस अनवस्था से बचने का मार्ग है कि प्रत्यक्ष को लिंग और लिंगिन् के सम्बन्ध का ग्राहक स्वीकार कर लिया जाय और ऐसा होने पर प्रमाणसंप्लव होगा।¹⁷⁴ अनवस्थादोष और प्रमाणसंप्लव के प्रसंग को अपने पक्ष में अप्रयुज्य बतलाते हुए बौद्ध जो कुछ कहते हैं¹⁷⁵ उसे 'वचनमात्र' कहते हुए आचार्य

जयन्तभट्ट पूछते हैं कि बौद्धों ने व्याप्तिसम्बन्ध को जो तादात्म्यतदुत्पत्तिस्वभाव वाला माना है, तो क्या यह वस्तुधर्म है, अथवा विकल्पापरोपित आकारधर्म है? व्याप्तिसम्बन्ध आरोपितधर्म नहीं हो सकता। वस्तु वस्तु से पैदा होती है और वस्तु वस्तुस्वभाव ही होती है, अतः व्याप्तिसम्बन्ध वस्तुधर्म है। विकल्प वस्तु का स्पर्श नहीं करते, तथापि उनके द्वारा व्याप्तिसम्बन्ध का निश्चय किया जाता है, बौद्धों का यह विचित्र पक्ष है।¹⁷⁶ पुनश्च, यदि बौद्ध व्यक्तिसम्बन्ध को तात्त्विक नहीं मानते, अपितु कल्पनाजन्य मानते हैं, तो फिर क्यों इसके प्रामाण्य को वे सिद्ध करने का खतरा उठा रहे हैं? यदि सामान्य की प्रत्यक्षता स्वीकार न की जाय, तो व्याप्ति को प्राप्त नहीं किया जा सकता और अनुमान के प्रमाण होने का पक्ष अत्यन्त दुर्बल पड़ जायगा। इसके अतिरिक्त जो व्याप्तिसम्बन्ध से अवगत है (जिसने व्याप्तिसम्बन्ध को जान लिया है, या खोज लिया है) उसे लिंग का दर्शन दूसरी बार नहीं हो सकता। अतएव, जो प्रमाणसंप्लव के विरोधी हैं वे अनुमान की प्रामाणिकता को सिद्ध नहीं कर सकते। पुनश्च, असाधारण अंश लिंग के रूप में कार्य नहीं कर सकता और यदि सामान्य को लिंग माना जाय, तो इसका ज्ञान अनुमान के द्वारा होगा। अतः, यदि अनुमान को अनुमानान्तर पर आधारित माना जाय, तो अन्योन्याश्रयत्वं अथवा अनवस्था का प्रसंग सभी अनुमानों की प्रामाणिकता का निराकरण कर देगा। फलतः, अनुमान की प्रामाणिकता को मानने पर प्रमाणसंप्लव मानना ही पड़ेगा।¹⁷⁷

जयन्तभट्ट का कहना है कि विषयद्वैविध्य मानने पर प्रमाणव्यवस्था को ही मानना और प्रत्यक्ष-अनुमान का संप्लव न मानना, तार्किक अनिवार्यता नहीं है। प्रमेयद्वैविध्य मानते हुए भी यह मानना संभव है कि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों एक ही प्रमेय में भी गति करते हैं। प्रत्यक्ष का, एक काल एवं देश विशेष में, जो प्रमेय है, वह देश और काल-भेद होने पर प्रत्यक्ष की परिधि के बाहर हो जाता है और अनुमान द्वारा जाना जाता है। इसी प्रकार इस स्थान से इसकाल में जो अनुमेय है वही अन्य स्थान से तथा कालान्तर में प्रत्यक्ष द्वारा जाना जाता है।¹⁷⁸ आचार्य अनधिगताधिगन्तृत्व को प्रमाण का लक्षण मानना आवश्यक नहीं समझते। उनके अनुसार धर्मी अनेकधर्मात्मक होता है और उत्तरज्ञान पूर्वज्ञान का उपमर्दन नहीं करता, अतः, प्रमाणविशेष एक समय में उसी धर्मी के एक धर्म का और अन्य समय में अन्य विशेष का विनिश्चय करता है। अतः, विरोध कहाँ है? यदि बौद्धों की ओर से यह आशंका उठायी जाय कि प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्दादि का समानविषय होने पर उनसे समानप्रतीति उत्पन्न होगी, और प्रमाणभेद नहीं रह जायगा, तो इसका दो तरह से उत्तर दिया जा सकता है। प्रथमतः, यह कि विषय साम्य होने पर भी, उपायभेद के चलते प्रतीतिभेद होता है। द्वितीयतः, उपायभेद के कारण नहीं, अपितु, विषयभेद के ही कारण प्रतीतिभेद होता है।¹⁷⁹ प्रश्न

है कि जब नैयायिक यह मानते हैं कि हर एक प्रमाण में विषयभेद होता है, तो फिर 'प्रमाणसंप्लव' कैसे संभव है? जयन्तभट्ट का उत्तर है कि धर्मों के अभिप्राय से हम ऐसा कहते हैं, अर्थात् भिन्न-भिन्न धर्मों का आश्रयभूत जो धर्म है वह चूँकि एक ही है, अतः प्रमाणसंप्लव संभव हो जाता है। आचार्य जयन्तभट्ट भाष्यकार के 'प्रमाणसंप्लव तथा प्रमाणव्यवस्था' दोनों के समर्थक दृष्टान्तों को प्रस्तुत कर अपना यह अभिमत प्रस्तुत करते हैं — "तस्मात् स्थितमेतत्-प्रायेण प्रमाणानि प्रमेयमभिसंप्लवन्ते, वचित्तुप्रमेयेव्यवतिष्ठन्तेऽपीति"।¹⁰⁰ यदि यह प्रश्न किया जाये कि एक प्रमाण के द्वारा उपलब्ध अर्थ में दूसरे प्रमाण की प्रवृत्ति मानना व्यर्थ है, तो, भासर्वज्ञ का उत्तर है — 'न सुखदुःखविशेषजनकत्वात् संस्कारातिशयजनकत्वाच्च । न सर्वत्र पुरुषार्थयत्ता प्रमाणानां प्रवृत्तिः निष्प्रयोजनेऽपि तृष्णादावनिष्ठेऽपि च बन्धनादौ प्रमाणप्रवृत्त्युपलम्भादिति'।¹⁰¹

बौद्ध क्षणभंगवाद के समर्थक हैं। हर क्षण अतदव्यावृत्त, असाधारण, विलक्षण एवं अनुपम होता है, जिसका न तो देश में विस्तार होता है और न काल में स्थायित्व। उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश का एक ही बिन्दु पर मिलना क्षण है। यही कारण है कि बौद्ध अवयविन् का निषेध करते हैं, सामान्य को अनर्थ कहते हैं और सांकर्य को स्वीकार नहीं करते।¹⁰² वस्तु क्षण रूप है। इसे ही स्वलक्षण कहा जाता है। यह स्वलक्षण स्वपररूपतया ज्ञात होने से दो प्रमेय के रूप में — स्वलक्षण और सामान्यलक्षण—कहा जाता है। स्व एवं पर परस्पर व्याघातक एवं मध्यवर्ती के निषेधक होते हैं, फलतः मेयानुसार प्रमाण को मानने वाले बौद्ध उसे 'अनधिगतविषयम्' कहते हुए तर्कतः एक द्वारा ज्ञातविषय में दूसरे प्रमाण की गति मानकर स्ववचनविरोध की ही स्थिति पैदा करते। हम बौद्ध पक्ष को विस्तार से विवेचना मानसंख्या का निर्धारिक सिद्धान्त, सत्यद्वयचिन्ता, तथा 'प्रत्यक्ष का विषय' आदि प्रकरणों में करेंगे ही, अतः यहाँ केवल यह देखेंगे कि अबौद्ध पक्ष संगत है या बौद्धपक्ष। यहाँ द्रष्टव्य है कि जैन द्रव्य की दृष्टि से प्रमाणसंप्लव और पर्याय की दृष्टि से प्रमाणव्यवस्था मानते हैं और इस प्रकार उभयवादी हैं।¹⁰³

समीक्षा

न्यायपक्ष, और उसी प्रकार अन्य वस्तुवादियों का मत, उचित नहीं प्रतीत होता। जयन्तभट्ट को नमूने के तौर पर स्वीकार कर हम कह सकते हैं कि स्वसंवेदन का निषेध कर उसके निहितार्थ के रूप में प्रत्यक्ष द्वारा विषयद्वैविध्य के न सिद्ध होने और प्रत्यक्षाधारित होने से अनुमान की असिद्धि से प्रमेयद्वैविध्य की अनुमान द्वारा भी असिद्धि की जो वकालत की जा रही है, वह ठीक नहीं है। ज्ञान को स्वयंप्रकाश न मानने पर अनवस्था दोष आना अनिवार्य है। इस पर आगे काफी विस्तार से विचार

किया गया है। जयन्तभट्ट का व्याप्ति के विषय में भी मूलतः दृष्टिकोण है। अब यह सर्वमान्य—सा हो गया है कि व्याप्तिसम्बन्ध वस्तुधर्म नहीं, अपितु आरोपित धर्म है, कल्पनाजन्यज्ञान है। धर्मों में अनेक धर्मों को मानना और देश तथा कालभेद के कारण उसमें विभिन्न प्रमाणों की गति मानना, ऊपर से ही ठीक है। यह 'अविचारितरमणीय' पक्ष है। अग्नि का ज्ञान प्रत्यक्ष भी से होता है और अनुमान से भी, मात्र इतना कहने से काम नहीं चल सकता। क्या न्याय को यह अभीष्ट है कि चाक्षुष और स्पर्शजप्रत्यक्ष अग्नि के जिस रूप, रंग, उष्णता आदि को विषय बनाता है वही अनुमान का भी विषय बनता है? संभवतः कोई भी हों के रूप में इसका उत्तर नहीं देगा। फिर प्रमाणसंप्लव कैसे? नैयायिकों के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय एवं अभाव का भी हमें प्रत्यक्ष से ज्ञान हो सकता है, केवल व्यष्टि का ही नहीं। इसी प्रकार, वे यह भी मानते हैं कि अनुमान केवल व्यष्टि और सामान्य का ही नहीं, अपितु आत्मा, ईश्वरादि का भी ज्ञापक है और प्रत्यक्ष के प्रामाण्य के परीक्षण में सहायक होकर कभी-कभी प्रत्यक्ष से भी अधिक बल वाला लगता है। इससे यह ध्वनित होता है कि न्याय के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमानादि प्रमाणों की पृथक्ता केवल उनके स्वरूप के ही कारण है, यद्यपि जयन्त ने यह भी विकल्प प्रस्तुत किया है कि विषयभेद के कारण प्रतीतिभेद होता है। न्याय, जाति और व्यक्ति, द्रव्य और गुण दोनों का प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान होना स्वीकार करता है और परिणमस्वरूप यह मानता है कि जो टेबुल दृष्ट है वह स्पष्ट भी है। दूसरे शब्दों में, वे तादात्म्य का प्रत्यक्ष मानते हैं। किन्तु तथ्य यह है कि तादात्म्य प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, अपितु प्रागनुभविक है, अविद्या या वासनाजन्य है, प्रतीति का विषयमात्र है।

प्रश्न है, अनुमान वास्तव में किसको जान सकता है और प्रत्यक्ष किसको जान सकता है? अनुमान कभी भी अग्नि के विशेष रूप, उसके अपने निजी रूप को नहीं जान सकता। रूप—रंग, तापक्रम आदि को प्रत्यक्ष ही जानता है। नैयायिक संप्लव मानते हुए जिस विषयसाम्य की बात करते हैं वह अस्पष्ट एवं भ्रामक है। वस्तुतः प्रत्यक्ष हमें वस्तु के अस्तित्व का बोध कराता है, जबकि अनुमान वस्तु के अस्तित्व का बोध कराने में अशक्य है। अनुमान तो केवल अस्तित्व की संभावना मात्र प्रदर्शित कर सकता है।⁸⁴ समसामयिक पाश्चात्य दर्शन में भी यह स्थापित सत्य माना जाने लगा है कि 'अस्तित्व' विषयक वाक्य विशेष होते हैं, सार्वभौम और अनिवार्य नहीं। जो वाक्य सार्वभौम और अनिवार्य हैं उनमें आकारिकसत्यता तो होती है, वास्तविक नहीं। अतः, सभी सत्तात्मक संबन्ध आनुषंगिक होते हैं। व्यावहारिक क्षेत्र, खासकर विशिष्ट तथ्यों के विषय में अनुमान से केवल संभाव्यता की प्राप्ति होती है, अस्तित्व की नहीं।

एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि प्रत्यक्ष से अन्य प्रमाण क्यों अपेक्षित हैं?

इस प्रश्न से यह भी प्रश्न जुड़ा है कि प्रत्यक्ष से अन्य प्रमाणों का प्रयोग क्यों अनिवार्य हो जाता है और एक प्रमाण अन्य प्रमाणों को व्यर्थ क्यों नहीं बना देता? किसी प्रमाण की अलग स्थिति की क्या सार्थकता है, अथवा क्या बिना सार्थक हुए भी, प्रमाण की एक और संख्या बढ़ायी जा सकती है? इस आलोक में हम प्रमाणों पर दृष्टिपात करें तो ऐसा स्पष्टतः प्रतीत होता है कि प्रत्यक्ष और अनुमान का मात्र क्षेत्रगत ही भेद नहीं है, अपितु उनमें गुणात्मक भेद भी है। यह गुणात्मकभेद ठीक उसी प्रकार का है जैसी भिन्नता अग्नि के 'रूपसंवेदन' और 'स्पर्शसंवेदन' (उष्णता) में है। अतः, प्रत्येक प्रमाण की अपनी विषयगत खासियत है, अहमियत है, जो केवल उसी की है। इसी विलक्षणता के कारण एक प्रमाण अन्य को व्यर्थ बना सकने में समर्थ नहीं हो पाता। अतः, सम्यग्ज्ञान की अपनी विषयगत पहचान, विषयगत व्यवच्छेकता अनिवार्य है, अन्यथा उसकी व्यर्थता ही सिद्ध होगी। इससे स्पष्ट है कि 'प्रमाणव्यवस्था' ही उचित पक्ष है।

पुनश्च, प्रमाणसंप्लव मानकर ज्ञानलक्षण प्रत्यक्ष द्वारा भ्रम को अन्यथाख्याति के रूप में विश्लेषित करने में नैयायिकों को जो सहूलियत प्रतीत हो रही है वह भी भ्रामक है, क्योंकि चक्षु द्वारा ज्ञात हिम की शीतलता तथा स्पर्श द्वारा ज्ञात शीतलता एक नहीं है। पुनश्च, सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण प्रत्यक्ष आदि मान्यतायें हैं, वस्तुतः प्रत्यक्ष नहीं। भ्रम की व्याख्या सत्यानृत के मिथुनीकरण के रूप में ही हो सकती है। यह मिथुनीकरण क्रियात्मिका एवं सर्जनशील अविद्या अथवा वासना द्वारा ही संभव है, और बिना इसे माने अन्यथाख्याति भी असंभव हो जायगी।

प्रमाणसंप्लव एवं प्रमाणव्यवस्था के मध्य विवाद का बिन्दु तत्त्वमीमांसात्मक (मेटाफिजिकल) है। बौद्ध परमार्थ एवं संवृति का भेद करते हैं और इसे ही क्रमशः स्वलक्षण और सामान्यलक्षण कहते हैं।¹⁸⁵ इन दो प्रमेयों में गुणात्मक भेद है और इसीलिए तद्ग्राही प्रत्यक्ष और अनुमान भी परस्पर व्यावर्त्तक हैं, स्वनियत हैं। इस प्रकार के भेद को नैयायिक नहीं मानते। किन्तु, विशुद्ध लौकिक दृष्टि से भी सर्वसाधारण लोगों के ज्ञान और वस्तुस्थिति के ज्ञान में भेद आवश्यक है। अतः, इस धरातल पर भी नैयायिकादि का मत उचित नहीं लगता।

प्रमाण और प्रमाणफल¹⁸⁶

दिग्नाग-सम्प्रदायवादियों का प्रमाण और प्रमाणफल के प्रसंग में भी निराले ङ्ग का अभिमत है। 'मेयाधीनामानसिद्धिः' को घोषित करते हुए भी दिग्नाग प्रमाण और प्रमेय को पदार्थ न मानकर उन्हें स्वरूपतः प्रत्ययात्मक मानते हैं। विज्ञानवादी होने से वे इस बात पर जोर देते हैं कि लोकोत्तर निर्विकल्पक ज्ञान लौकिक सविकल्पक ज्ञान

में प्रतिभासित होता है और प्रमाण तथा प्रमेय दोनों ही स्वतः ज्ञान में अन्तर्भूत घटक हैं। दिग्नाग के सम्प्रदाय के तार्किक, न्याय से भिन्न रूप में, प्रमाण और प्रमिति में व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापकभाव एवं अभेद को मानते हैं। 'प्रमाणसमुच्चय' में दिग्नाग इसको घोषित करते हैं— 'सव्यापार प्रतीतत्वाद् प्रमाणं फलमेवतत्', अर्थात् प्रमाणफल के रूप में विज्ञान विषय का ग्रहण है। ज्ञान साकार होता है और साकारज्ञान को, विषय के आकार को धारण करने वाला, व्यापार समझा जाता है। इसी कारण दिग्नाग इसे प्रमाण समझते हैं, यद्यपि विषयाधिगति के रूप में, मुख्यरूप से यह 'फल' है।

अपने 'प्रमाणसमुच्चय' में आचार्य दिग्नाग ने प्रमाण और प्रमाणफल में अभेद प्रदर्शित करते हुए ढाई श्लोकों और उस पर अपनी टीका में जो कुछ कहा है उसका आधार योगाचार का अभिमत है, यद्यपि उनके अनुसार वे बातें सौत्रान्तिकों को भी स्वीकार्य हो सकती हैं।¹⁸⁷ यहाँ हम देखें कि दिग्नाग की इस प्रसंग में क्या विवेचना है। आचार्य दिग्नाग लिखते हैं—(ज्ञान) प्रमाण (प्रमाकरण) है, क्योंकि इसे ज्ञान करने की क्रिया का अपने में अन्तर्भाव करनेवाला समझा जाता है, यद्यपि मुख्यरूप से यह प्रमाणफल है।¹⁸⁸ अथवा यहाँ स्वसंवित्ति ही स्वतः ज्ञान करने की क्रिया का, फल है, क्योंकि अर्थनिश्चय ज्ञान के विषय के आकार (स्वसंवेदन) के द्वारा होता है और जब बाह्य वस्तु को अर्थ समझा जाता है तो विषयाभासता ही इसका प्रमाण है, क्योंकि यह केवल विषय के आकार को धारण करने वाले ज्ञान के द्वारा जाना जाता है।¹⁸⁹ वे पुनः कहते हैं, जिस भी आकार में ज्ञान आभासित हो, वह आकार प्रमेय के रूप में माना जाता है। प्रमाण और प्रमाणफल, क्रमशः ज्ञान में ग्राहक के आकार और स्वसंवित्ति हैं। अतः, ज्ञान के ये तीन घटक (ग्राहक, ग्राह्य एवं संवित्ति) एक दूसरे से पृथक् और भिन्न नहीं हैं।¹⁹⁰ वे अपनी वृत्ति में लिखते हैं कि वस्तुवादियों की तरह वे यह स्वीकार नहीं करते कि प्रमिति प्रमाण से भिन्न है। प्रमाणफल अपने में ज्ञातविषय के आकार को धारण करते हुए उत्पन्न होता है और इस प्रकार उसे ज्ञान करने की क्रिया का अपने में अन्तर्भाव करने वाला समझा जाता है। इसी कारण, अलंकारिक ढंग से उसे प्रमाण (प्रमा का करण) कहा जाता है, यद्यपि वस्तुतः इसमें व्यापाराभाव होता है। उदाहरणार्थ, हेतु के अनुरूप उत्पद्यमान फल को अपने हेतुरूप को धारण कर लेने वाला कहा जाता है, यद्यपि वस्तुतः इसमें हेतु के रूप को धारण करने के व्यापार का अभाव होता है। यही स्थिति प्रमाणफल की है।¹⁹¹

यह भी द्रष्टव्य है कि दिग्नाग के लिए प्रत्येक ज्ञान, स्वाभास और विषयाभास, इन दो आभासों के साथ उत्पन्न होता है। इन दो आभासों अथवा स्वसंवित्ति को धारण करने के रूप में स्वसंवेदन ज्ञानात्मक क्रिया का फल है, क्योंकि जब विषय के आकार

को धारण करते हुए ज्ञान (सविषयज्ञान) स्वतः ज्ञात किया जानेवाला विषय है, तब स्वसंविधि की प्रकृति के अनुरूप अर्थ के इष्ट या अनिष्ट होने की बात को कोई समझता है।¹⁹² जब बाह्य ही अर्थ प्रमेय हो, तो विषयाभासता ही इसका प्रमाण है, क्योंकि इस प्रसंग में हम ज्ञान के यथार्थ स्वरूप की उपेक्षा कर देते हैं कि वह स्वसंवेद्य भी है और (घोषणा करते हैं कि) ज्ञान का विषय के आकार को धारण करना उस वस्तु का प्रमाण (ज्ञान के साधन) है। ऐसा हम इसलिए कहते हैं, क्योंकि ज्ञान में किसी भी वस्तु का, चाहे जो भी आकार आभासित हो, जैसे शुभ या अशुभ, उस-उस आकार में विषय का ही ज्ञान होता है।¹⁹³ इस प्रकार प्रत्येक संदर्भ में उन-उन ज्ञानों के आकार के नानात्व के अनुकूल ही प्रमाण और प्रमेय उपचारतया कहे जाते हैं, क्योंकि, वस्तुतः सभी धर्म, क्षणिक होने के कारण, निर्व्यापार हैं।¹⁹⁴

आचार्य दिग्नाग 'प्रमाणसमुच्चय' में ही नैयायिकों के प्रमाण-प्रमिति में भेद मानने के पक्ष पर प्रहार करते हुए बतलाते हैं कि नैयायिक व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमा का करण मानते हैं। जब इस प्रकार के करण क्रियारत होते हैं, तो ये स्वभावतः अर्थ का व्यवसायात्मक रूप में ग्रहण करते हैं। फलतः, प्रतीति, प्रमा के करण से अन्य नहीं हो सकती, क्योंकि विषय, करण लक्षण वाले ज्ञान से, निश्चित किया जाता है।¹⁹⁵ नैयायिक स्वपक्ष की रक्षा में यह भी तर्क प्रस्तुत करते हैं कि 'विशेषणज्ञान विज्ञान का साधन है'।¹⁹⁶ आचार्य दिग्नाग का कहना है कि यदि विशेषणज्ञान, जैसे कि सामान्यादि, को प्रमाण और विशेष्यज्ञान, जैसे द्रव्यादि, को प्रमिति (प्रमाणफल) माना जाय, तो विशेषण के सम्बन्ध में प्रमिति की संख्या एक नहीं हो सकेगी, क्योंकि प्रमाण से गृहीत विशेषण प्रमिति में द्योतित विशेष्य से भिन्न है। आशय यह है कि विशेषण और विशेष्य परस्पर अलग हैं, अतः यह युक्तिसंगत पक्ष नहीं होगा कि प्रमा के करण का विषय कुछ और हो और प्रमिति का कुछ और। हम ऐसा नहीं देखते कि खदिरवृक्ष को काटने में प्रवृत्त कुल्हाड़ी से फल रूप में पलाश वृक्ष कट कर गिर जाय।¹⁹⁷ नैयायिक यह तर्क कर सकते हैं कि चूँकि विशेषणज्ञान विशेष्यज्ञान का कारण है, अतः वह विशेष्य को अपना प्रमेय बनाता है। आचार्य दिग्नाग इस तर्क-प्रक्रिया को गलत बतलाते हैं, क्योंकि उनके अनुसार वहाँ पर अतिप्रसंग दोष होगा। उपर्युक्त स्थिति में ज्ञान के साधन के रूप में मान्य सभी कारक भेद-रहित हो जायेंगे, क्योंकि ये कारक विशेषणज्ञान की भाँति विशेष्यज्ञान के भी करण हैं, अतः ये उसके कारण होंगे। फलतः, यह सोचना उचित ही है कि जिसे अर्थ के प्रसंग में उसे ज्ञानरूपी व्यापार वाला कहा जाता है वह स्वतः ही ज्ञान करने की क्रिया का फल है।¹⁹⁸

नैयायिक मानते हैं कि विशेषण और विशेष्य क्रमशः प्रमाण और प्रमिति

(प्रमाणफल) के द्वारा गृहीत होते हैं। इसके प्रति आचार्य का कहना है कि ऐसे दृष्टान्त हैं जहाँ विशेषणज्ञान के रहने पर भी प्रमिति नहीं होती, जैसे कि धूमिल चाँदनी में जब हम किसी गाय को देखते हैं तो गाय के 'सामान्य' अर्थात् विशेषण, का ज्ञान करते हैं, तथापि जब हमें इसके विशेष्य का ज्ञान नहीं होता, हमें गाय की प्रमिति नहीं हो सकती और जब तक प्रमिति नहीं है, कोई ज्ञान का साधन (प्रमाण) भी नहीं होगा। अतः, विशेषण के ज्ञान को प्रमा का करण मानना अनुचित है।¹⁹⁹ नैयायिक यह कह सकते हैं कि विशेषण ज्ञान द्विविध है, अर्थात् इसके दो पहलू हैं — प्रमाण और प्रमेय। उदहरणार्थ, जब (जैसे योगी) केवल अपनी आत्मा का ज्ञान करता है, तो वहाँ आत्मा ही प्रमेय और ग्राहक है। आचार्य दिग्नाग इस पक्ष को ठीक नहीं समझते, क्योंकि इसका अर्थ होगा कि विशेष्यज्ञान के भी प्रमाण और प्रमेयरूप दो पहलू होंगे। यदि नैयायिक ज्ञान और ज्ञेय में भेद मानने के स्थान पर विशेष्यज्ञान को ही प्रमाण और प्रमेय दोनों मानें तो, वे स्वसंवित्ति को स्वीकर कर रहे होंगे, जो कि बौद्धों का पक्ष है।²⁰⁰ नैयायिक यहाँ उत्तर दे सकते हैं कि उस स्थिति में हम प्रमाण और प्रमाणफल की पृथक्ता को अन्य दृष्टिकोण से सिद्ध करेंगे। हमारा पक्ष यह है कि जब कोई अर्थज्ञान होता है, तो, अज्ञान, संशय और विपर्यय का उसी प्रकार निषेध हो जाता है, जिस प्रकार दीपक का प्रकाश अन्धकार को नष्ट कर देता है। अर्थ का ज्ञान होने पर अज्ञान, संशय तथा विपर्यय की जो निवृत्ति होती है, वही प्रमाणफल है। इसी प्रमाणफल को हम प्रमाण से भिन्न मानते हैं।²⁰¹ आचार्य को नैयायिकों का यह विवेचन भी स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि अज्ञानादि सर्वत्र प्राप्त नहीं हैं, अर्थात् अज्ञानादि, निश्चयात्मक रूप से, सर्वत्र नहीं रहते हैं। अनेक ऐसे उदाहरण हैं जहाँ ज्ञान की उत्पत्ति संकल्प मात्र से (आभोगमात्र से) होती है। पुनश्च, अज्ञानादि का अस्तित्व मान लेने पर भी अज्ञाननिवृत्ति को प्रमाणफल कहना सिद्ध नहीं है, क्योंकि अज्ञाननिवृत्ति अभाव का एक प्रकार है और अज्ञाननिवृत्ति का अर्थ है अज्ञानाभाव। जिसका अभाव है, वह फल नहीं हो सकता, क्योंकि वह प्रमेय नहीं हो सकता।²⁰²

मीमांसक भी प्रमाण और प्रमाणफल में भेद मानते हैं। शाबरभाष्य तथा उसमें उद्धृत वृत्तिकार एवं उपवर्षादि के मतों²⁰³ में भी हमें इसकी प्राप्ति होती है। बाद को तो कुमारिलभट्ट ने इसे और आगे बढ़ाया। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि यद्यपि आचार्य वात्स्यायन ज्ञान के चार घटकों को विलग करने के साथ ही प्रत्यक्ष को, प्रत्येक इन्द्रिय की अपने स्वविषय पर, वृत्ति कहते हैं और मानते हैं कि वृत्ति के सन्निकर्ष अथवा ज्ञान होने के तदनुकूल ही प्रमिति हानोपादानोपेक्षा रूप होती है।²⁰⁴ स्पष्ट है, वात्स्यायन ने भी प्रमाण को प्रमाणफल से विलग समझा। किन्तु आचार्य दिग्नाग ने न्यायभाष्य के एतदसम्बन्धी अभिमत की जो आलोचना की उसका कोई उत्तर आचार्य उद्धोतकर,

न्यायवार्तिक में नहीं देते, किन्तु आचार्य कुमारिल दिग्नाग पर प्रत्याक्रमण करते हैं। इस तथ्य के आलोक में यह माना जाता है कि प्रमाण और प्रमाणफल में भेद की परिकल्पना मूलतः मीमांसकों ने की थी।²⁰⁶ वृत्तिकार का अभिमत है कि ज्ञान के कारणों के समुदाय से अतिरिक्त अन्य कोई प्रमा का करण नहीं होता। फल के रूप में ज्ञान प्रमाण से भिन्न है। चूँकि, ज्ञानोत्पत्ति से भिन्न कोई फल नहीं होता, अतः जिससे ज्ञान का जन्म होता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। वृत्तिकार यह भी मानते हैं कि 'संस्कार' द्वारा अनुगम्यमान आत्मा तथा मनस् ज्ञानेन्द्रिय और अर्थ आदि कारणों के सम्प्रयोग से अन्य कोई ज्ञान का कारण नहीं है जिसे प्रत्यक्ष कहा जा सके।²⁰⁶ आचार्य दिग्नाग का कहना है कि मीमांसकों का पक्ष भी अयुक्त और अग्राह्य है, क्योंकि यदि ज्ञान के कारणों के समुच्चय या संकलन को ही प्रत्यक्ष कहा जाय, तो मीमांसासूत्र में 'बुद्धिजन्म' शब्द का कोई उपयोग नहीं रह जायगा और वैसी स्थिति में सूत्रकार द्वारा मात्र यह कहा जाना चाहिए था कि मनुष्य की इन्द्रियाँ और मनस् तथा आत्मा आदि अन्य कारण, जो विद्यमान वस्तुओं के सन्निकर्ष में हैं, प्रत्यक्ष है।²⁰⁷ अतः, आचार्य दिग्नाग प्रमाण और प्रमाणफल में अभेद मानते हैं।

दिग्नाग के बाद भारतीय दार्शनिकों में इस समस्या पर काफी विस्तार और गहराई से विचार हुआ। दिग्नाग के पक्ष की आलोचना मीमांसा एवं न्यायदर्शनादि ने किया और बौद्धों ने उसका उत्तर देकर स्वपक्ष के मण्डन के साथ परमत में दोष भी दिखलाया। हम देख चुके हैं कि आचार्य दिग्नाग इस प्रसंग में योगाचार एवं सौत्रान्तिक दोनों नयों की दृष्टि से विवेचना करते हैं। इसकी आलोचना हुई और हम आचार्य धर्मकीर्ति में इस प्रसंग में सौत्रान्तिक तथा योगाचार दृष्टि से विलग-विलग विवेचना पाते हैं। वे सौत्रान्तिक मत का अन्ततः खण्डन कर विज्ञानवाद का समर्थन करते हैं और विज्ञप्तिमात्रता के प्रसंग में भी प्रमाणफलव्यवस्था की विवेचना करते हैं। न्यायबिन्दु एवं उसके टीकाकार प्रमाण एवं प्रमाणफल का विवेचन विशुद्ध सौत्रान्तिक दृष्टि से करते हैं, जबकि प्रमाणवार्तिक एवं उसकी टीकाओं में सौत्रान्तिक दृष्टि के साथ ही योगाचारदृष्टि से भी विवेचन हुआ है और वही मुख्य दृष्टि है। यह भी द्रष्टव्य है कि इस प्रसंग में दिग्नाग ने प्रमाण की चर्चा के प्रसंग में ज्ञानातिरिक्त, सन्निकर्षादि के प्रमाण न होने को भी प्रतिपादित किया है, अतः धर्मकीर्ति एवं उनके टीकाकार इस प्रसंग में प्रमा का करण क्या होगा, इसकी विवेचना के प्रसंग में विरोधियों के एतद्विषयक अभिमत की भी आलोचना करते हैं। हमारी आगे की विवेचना पहले सौत्रान्तिक दृष्टि से और बाद को विज्ञानवादी दृष्टि से होगी।

‘सौत्रान्तिक दृष्टि से प्रमाण और प्रमाणफल में सम्बन्ध’

बाह्यार्थवादी सौत्रान्तिक मानते हैं कि ज्ञान में द्योतित आकार का अर्थ के साथ सारूप्य फलरूप विषयाधिगति का प्रमाण है। इनके अनुसार बाह्य अर्थ प्रमेय है, विज्ञान की विषयाकारता प्रमाण है और अर्थसंवेदन फल है। बाह्यार्थ जब बुद्ध्यारूढ होता है और ज्ञान विषय के आकार के सारूप्य को धारण करता है, तो इस ज्ञान की चेतना होती है। सौत्रान्तिक ग्राहकाकार (स्वाभास) के ज्ञान की क्षमता को नहीं मानते और स्वाभास तथा स्वसंवित्ति को एकार्थक मानते हैं।

आचार्य धर्मकीर्ति न्यायबिन्दु में फलविषयक विप्रतिपत्ति का निराकरण करने के लिए लिखते हैं—‘तदेव च प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाणफलम्’ (1.18) और ऐसा मानने के लिए युक्ति यह देते हैं कि ‘अर्थप्रतीति के रूप में होने के कारण (1.19) प्रत्यक्षज्ञान ही प्रमाण का फल है’। आशय यह है कि अर्थ का अविनाभावी होने मात्र से ज्ञान में अर्थ को प्राप्त करा देने की शक्ति नहीं होती। इसके लिए ज्ञान को निश्चय ही ऐसा व्यापार करना होता है, जिससे अर्थ की प्राप्ति हो जाती है। यही प्रतीतिक्रिया रूप व्यापार प्रमाण का फल है। चूँकि प्रत्यक्ष ज्ञान अर्थबोधरूप होता है, अतः यह प्रमाण का फल है।²⁰⁶ तात्पर्य यह है कि इन्द्रियादि से अर्थ के विषय में उत्पन्न होनेवाला साक्षात्कारात्मक ज्ञान ही अर्थप्रतीति है, प्रत्यक्षज्ञान है। क्योंकि वह ज्ञान अर्थ का प्रदर्शक है, अर्थप्रतीति रूप है, अतः प्रमाण का फल है।

साकारवादी सौत्रान्तिक अर्थ के साथ ज्ञान के सारूप्य को प्रमाण मानते हैं। सारूप्य या सादृश्य ज्ञान से भिन्न होता नहीं। अतः, प्रश्न उठता है कि यदि अर्थप्रतीति रूप प्रत्यक्षज्ञान ही प्रमाण का फल है तथा ज्ञान में अर्थ का सारूप्य या सादृश्य ही प्रमाण है, तो वही ज्ञान प्रमाण भी होगा और प्रमाणफल भी। किन्तु, एक ही वस्तु साध्य और साधन दोनों नहीं हो सकती। हम प्रमाण लक्षण के विवेचन में यह देख चुके हैं कि किस कारण बौद्ध अर्थसारूप्य को प्रमाण कहते हैं। यहाँ हम यह देखेंगे कि प्रमाणफल की व्यवस्था बौद्ध कैसे करते हैं? आचार्य धर्मोत्तर बतलाते हैं कि प्रमाणफल की चिन्ता के प्रसंग में फल और प्रमाण का साध्यसाधनभाव व्यवस्थाप्यव्यवस्थापक रूप में है। उत्पाद्य और उत्पादक होने के कारण नहीं। इस प्रकार एक ही ज्ञान का कोई रूप प्रमाण है और कोई रूप फल। ज्ञानविशेष के प्रसंग में उस ज्ञान का सारूप्य ‘यह नील का ज्ञान है पीत का नहीं’ इस व्यवस्था का हेतु है और नील की प्रतीति ही व्यवस्थाप्य है।²⁰⁹ स्पष्ट है कि बौद्धों के लिए प्रमाण, फल की व्यवस्था का हेतु है। एक ही प्रत्यक्षज्ञान में जो अर्थाकारता है वह प्रमाण है, क्योंकि वह ज्ञान की व्यवस्था (यह

नील का ज्ञान है, पीत का नहीं, इस प्रकार के ज्ञान की व्यवस्था का हेतु है। उसमें जो अर्थप्रतीतिरूपता है, वही प्रमाण का फल है। अतः दुर्वेक मिश्र लिखते हैं— 'ग्राह्याकारोऽर्थसारूप्याख्य आत्मनः संविदमर्थसंविदमादर्शयन्नर्थे प्रमाणम् ।.... वस्तुतः स्वविदपीयमर्थसंबन्धिनी व्यवसीयमानाऽर्थसंवित्तिः फलमिति ।²¹⁰ यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि यद्यपि ज्ञान एक ही वस्तु है, उसमें प्रमाण और फल रूप दो अंश वस्तुतः नहीं हैं, तथापि विकल्पों द्वारा एक ही वस्तु की भिन्न-भिन्न रूप में कल्पना कर ली जाती है। दूसरे शब्दों में एक ही ज्ञान के, व्यावृत्तिकृत भेद का आश्रय लेकर व्यवस्थाप्य और व्यवस्थापनभाव की बात की जाती है। प्रमाण और फल में अभेद की बात को वास्तविक दृष्टि से कहा जाता है।²¹¹

प्रश्न है कि एक ही ज्ञान में व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापकभाव कैसे संभव है? धर्मोत्तराचार्य का उत्तर है कि चूँकि निश्चयात्मक ज्ञान के द्वारा उस विज्ञान को नील के सदृश अनुभव करके उसे नील का ग्राहक निश्चित किया जाता है (अवस्थाप्यते), अतएव नीलज्ञान में नीलज्ञान का अनुभव किया गया सादृश्य ही, 'यह नील का ज्ञान है', इस प्रकार की व्यवस्था का हेतु है। निश्चयात्मक ज्ञान के द्वार ही 'वह ज्ञान नील का संवेदन है' यह व्यवस्था की जाती है, अतः वह नील-प्रतीति व्यवस्थाप्य है।²¹² इससे यह फलित होता है कि नीलज्ञान में नील अर्थ के सारूप्य के न होने, अर्थात् असारूप्य, की व्यावृत्ति करने के कारण ज्ञान में अर्थ का सारूप्य ही, 'यह नील का ज्ञान है' इस ज्ञान की व्यवस्था का हेतु है। नीलज्ञान अनील वस्तु का बोध नहीं है, इस प्रकार के अनील बोध की व्यावृत्ति के द्वारा उस ज्ञान में नीलबोधरूपता की व्यवस्था की जाती है। अतः, नीलबोध व्यवस्थाप्य है। यहाँ द्रष्टव्य है कि जब धर्मोत्तर 'नीलसदृशमनुभूय' ऐसा कहते हैं तो वे वस्तुस्थिति को निरूपित कर रहे हैं, अनुभव के रूप को नहीं दिखला रहे हैं, क्योंकि अनुभव इस रूप में होता है कि 'मैं नील को देख रहा हूँ', यह अनुभव नहीं होता कि 'मैं नीलसदृश को देखता हूँ'।²¹³ यह भी ध्यानीय है, जैसा दुर्वेक मिश्र कहते भी हैं कि यदि निश्चयात्मकज्ञान प्रत्यक्षज्ञान के अनुरूप होता है, तभी ज्ञान की व्यवस्था का हेतु होता है, अन्यथा नहीं। उदाहरणार्थ, मरुमरीचिका में जलज्ञान हो जाने के पश्चात्भावी विकल्प 'मैं जल को देखता हूँ' के द्वारा ज्ञान की व्यवस्था नहीं की जा सकती।²¹⁴ नीलज्ञान में दो व्यावृत्तियों के चलते उस एक ही ज्ञान के प्रमाण और फलरूप दो भेद मान लिए जाते हैं। एक व्यावृत्ति है, नीलज्ञान में नील के असारूप्य की व्यावृत्ति और दूसरी है अनीलबोध की व्यावृत्ति। इस प्रकार धर्मोत्तराचार्य दिग्नाग के इस पक्ष की ही व्याख्या यहाँ विस्तार से कर रहे हैं कि 'एक ही ज्ञान के दो रूप होते हैं जो प्रमाण और प्रमाणफल कहलाते हैं'।²¹⁵

प्रश्न है कि 'यह नील है' पीतादि नहीं, इस प्रकार की व्यवस्था का हेतु कौन है, निर्विकल्पक ज्ञान अथवा सविकल्पक प्रत्यय? धर्मोत्तराचार्य का उत्तर है कि प्रत्यक्ष ज्ञान को 'यह नील का ज्ञान है' इत्यादि का व्यवस्थापक नहीं समझना चाहिए, अपितु प्रत्यक्षबलोत्पन्न विकल्प प्रत्यय को ही व्यवस्थापक समझना चाहिए। कारण यह है कि निर्विकल्पक होने से प्रत्यक्षज्ञान नीलबोध के रूप में अपने स्वरूप को निश्चित नहीं करा सकता। निश्चयात्मक ज्ञान के द्वारा नीलबोध के रूप में अव्यवस्थापित नीलबोध रूप ज्ञान तो विद्यमान होते हुए भी असत्कल्प (अविद्यमान के समान) ही है। अतएव, निश्चयात्मक ज्ञान के द्वारा नीलबोधरूप में व्यवस्थापित विज्ञान ही नीलबोध के रूप में सिद्ध होता है।²¹⁶ उपर्युक्त व्याख्या से यह फलित होता है कि ज्ञान की इस व्यवस्था में निर्विकल्पप्रत्यक्षपृष्ठभावी अनुरूपविकल्प व्यवस्थापक है, सारूप्यव्यवस्थापन हेतु है और नीलप्रतीति व्यवस्थाप्य है। आचार्य धर्मोत्तर इस प्रकरण को और स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि प्रत्यक्षज्ञान अनुरूप निश्चय को उत्पन्न करके ही प्रमाण होता है। अध्यवसाय (निश्चयात्मक ज्ञान) को उत्पन्न न करने पर तो विज्ञान नीलबोध के रूप में अव्यवस्थापित रहता है तथा अर्थसंवेदन रूप जो प्रमाण का फल है वह सिद्ध नहीं होता। अतएव, साधकतम न होने के कारण वह ज्ञान प्रमाण ही नहीं होगा। किन्तु, जब प्रत्यक्षज्ञान—जनित अध्यवसाय, सारूप्य के द्वारा, ज्ञान की नीलबोधरूपता को व्यवस्थापित कर देता है, तब ज्ञान की व्यवस्था का साधन होने से सारूप्य प्रमाण है, यह सिद्ध हो जाता है।²¹⁷

सौत्रान्तिकों के अनुसार अर्थसंवेदन या अर्थप्रतीति ही प्रमा है। इस प्रमा का करण (प्रष्टोपकारक या साधकतम) होने पर ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण हो सकता है। किन्तु यह प्रमा केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होती, अपितु प्रत्यक्षबलोत्पन्न तत्पृष्ठभावी निश्चयप्रत्यय (अध्यवसाय) से सिद्ध होती है। अतः, अनुरूप अध्यवसाय को उत्पन्न करके ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अर्थसंवेदन रूप प्रमा का करण कहा जा सकता है। अतः, सौत्रान्तिकों के आधार पर चाक्षुष प्रत्यक्ष की प्रक्रिया को अभिव्यक्त करें, तो कह सकते हैं कि 'प्रकाशयुक्त स्थल में नीलादि अर्थ चक्षुरादि इन्द्रिय के सामने उपस्थित है और विज्ञानक्षण का नीलक्षण के साथ समवधान हो जाता है, तब नील का साक्षात्कारी चाक्षुषज्ञान उत्पन्न होता है।'²¹⁸ इन्द्रिय प्रत्यक्ष की संज्ञा से अभिहित यह ज्ञान निर्विकल्पक और नाम, जात्यादिकल्पनापोद होता है। इसमें स्वलक्षण का प्रतिभास हुआ करता है, अतः यह नीलज्ञान नीलसदृश या नीलाकार होता है, इसमें नील का सारूप्य होता है। इसमें यह निश्चय नहीं होता कि हम नीलवस्तु को जानते हैं। इसका निश्चय पृष्ठभावी विकल्प द्वारा होता है। पुनश्च, चूँकि प्रत्यक्ष स्वतः इसका

निश्चायक नहीं होता कि यह 'नील प्रतीति है' इस निश्चय के न होने तक उस ज्ञान में अर्थप्रदर्शकता नहीं हो सकती और अर्थप्रदर्शकता (अर्थप्रापण) के अभाव में वह प्रमाण नहीं कहला सकता। प्रत्यक्ष के बल से अव्यवहित क्षण में उत्पन्न विकल्प के द्वारा 'यह नील का ज्ञान है', यह व्यवस्थापित करा दिया जाता है, फलतः अर्थप्रदर्शक (अर्थप्रापक) होता हुआ यह प्रत्यक्ष प्रमाण की कोटि को प्राप्त करता है। अतः, प्रत्यक्ष के बल से तदनन्तर अव्यवहितक्षण में होने वाले विकल्प के द्वारा अध्यवसाय रूप व्यापार को करके ही प्रत्यक्षज्ञान प्रमाण बनता है।²¹⁹

यदि अध्यवसाय करके ही प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण की पदवी को प्राप्त होता है, तो केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्षज्ञान को प्रमाण नहीं मानना चाहिए, अपितु अध्यवसाय सहित प्रत्यक्षज्ञान को प्रमाण मानना चाहिए, क्योंकि अकेला प्रत्यक्षज्ञान प्रवृत्ति कराने में असमर्थ है और उसे अनिवार्यतः अध्यवसाय की अपेक्षा रहती है। धर्मोत्तराचार्य का कहना है कि इस प्रकार का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षबलतोत्पन्न अध्यवसाय अर्थ का निश्चय (नील को देखा है इस) दृष्ट रूप से करता है, उत्प्रेक्षणत्वेन नहीं (इस नील की कल्पना की है, इस रूप से नहीं)। प्रत्यक्ष का व्यापार है दर्शन जिसे अर्थसाक्षात्कार कहा जाता है। विकल्प का व्यापार है उत्प्रेक्षण, क्योंकि परोक्ष अर्थ की कल्पना करते हुए 'हम कल्पना कर रहे हैं', देख नहीं रहे हैं, इस प्रकार के उत्प्रेक्षात्मक विकल्पव्यापार को लोग अनुभव से निश्चित करते हैं। अतः, प्रत्यक्षपूर्वक अध्यवसाय जिस अर्थ के विषय में स्वव्यापार का तिरस्कार या उपेक्षा करके प्रत्यक्ष के साक्षात्काररूप दर्शनव्यापार को दिखलाता है, उस अर्थ के विषय में केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है।²²⁰ आशय यह है, जैसा आचार्य दुर्वेक मिश्र भी बतलाते हैं, कि यदि प्रत्यक्षपूर्वक विकल्प उत्प्रेक्षण रूप स्वव्यापार से ही युक्त रहकर, प्रत्यक्ष के व्यापार को न दिखलाता हुआ, प्रत्यक्ष का सहायक होता, तो, उसका भी प्रामाण्य माना जाता। किन्तु, विकल्पजन्य अध्यवसाय उपर्युक्त ढंग से व्यापारवान नहीं रहता, अपितु अपने व्यापार का तिरस्कार कर यह प्रत्यक्षज्ञान के ही साक्षात्कारीरूप दर्शनव्यापार को दिखलाता हुआ प्रत्यक्ष का सहायक होता है। किन्तु प्रत्यक्ष के अर्थप्रदर्शनरूप व्यापार से ही व्यक्ति की प्रवृत्ति हो जाती है। उसी कार्य का पिष्टपेषण करने वाले विकल्पजन्य अध्यवसाय को भला उसमें प्रामाण्य कैसे माना जा सकता है।²²¹

सौत्रान्तिकों के एतद्विषयक सिद्धान्त का सारांश यह है कि (क) वही ज्ञान प्रमाण होता है और वही प्रमाणफल। ज्ञान में जो अर्थासारूप्य है वह प्रमाण है और जो अर्थसंवेदन है, वह प्रमाणफल है, प्रमा है। वास्तविक दृष्टि से ज्ञान अभेदात्मक है, तथापि प्रमाण और फल रूप भेद की, व्यावृत्तिभेदतया, कल्पना कर ली जाती है। (ख)

प्रमाण और फल का व्यवस्थापक विकल्पप्रत्यय होता है, अतः अध्यवसाय करके ही निर्विकल्पक प्रत्यक्षज्ञान प्रमाण के पद को प्राप्त करता है। (ग) यद्यपि, अध्यवसाय करके ही, प्रत्यक्ष अर्थप्रापक होता है, तथापि प्रत्यक्षज्ञान का विषय वही अर्थ होता है जिसका साक्षात्कार प्रत्यक्षज्ञान में होता है और यह विषय प्रत्यक्षबलोत्पन्न विकल्प में 'मैंने इसका साक्षात्कार किया है' के रूप में भासित हुआ करता है।

यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्यों बौद्ध इस बात को प्रतिपादित करने में अथक प्रयास कर रहे हैं कि वही ज्ञान प्रमाण है और वही फल है? यदि ऐसा वे न मानें तो क्या हानि होती? यदि प्रमाण से अन्य ज्ञान को प्रमाणफल माना जाय तो क्या बिगड़ रहा है? आचार्य दुर्वेक मिश्र का कहना है कि आचार्य धर्मकीर्ति ने 'धी प्रमाणता, प्रवृत्तेस्तत्प्रधानत्वात्'²²² ऐसा कहकर इसका उत्तर दिया है कि जो अज्ञानात्मक होता है वह प्रमाण नहीं होता (ज्ञान ही प्रमाण है)। ज्ञानस्वरूप प्रमाण से प्रमिति रूप फल को यदि भिन्न भी मानें, तो भी प्रमिति को अर्थपरिच्छेदात्मक अवश्य स्वीकार करना होगा, अन्यथा उसका ज्ञानत्व ही नहीं होगा और प्रमा का जनक होने से चक्षुरादि इन्द्रिय को भी ज्ञानात्मक मानने का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। ज्ञान या बोधरूपता, बिना अपना संवेदन करने के द्वारा (अस्वसंवेदनतया) किसी का नियामक नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में यदि उसकी स्वसंवेदनता को मानें, तो हमारी व्यवस्था में चूँकि, ग्राह्याकार का संवेदन ही अर्थसंवेदन है अतः, प्रमाणफल प्रमाण से भिन्न कैसे हुआ? ज्ञान को निराकार मानने पर प्रतिकर्मव्यवस्था नहीं हो सकती, अतः ज्ञान को साकार मानना पड़ेगा। ज्ञान ही अर्थसंवेदन (अर्थस्यप्रकाशःसंवेदन) है, अतः ज्ञान की अर्थाधिगमरूपता में संदेह का अवकाश नहीं। ऐसी स्थिति में वही ज्ञान प्रमाण है और वही फल है, यह मानना युक्त है।²²³

पुनश्च, यदि ज्ञान के अर्थपरिच्छेदकत्व को, स्वयं अर्थरूपपरिच्छेदरूपता के द्वारा न माना जाय, अपितु उसे भिन्नपरिच्छिन्तिजनकता के द्वारा माना जाय, तो अर्थ की परिच्छिन्ति की अपरोक्षता को व्यवस्थापित नहीं किया जा सकता। जैसे कि यदि ज्ञानसंतान में प्रथमज्ञान को अर्थ का परिच्छेद अर्थात् अर्थ को साक्षात्कार करने वाला माना जाय, तो प्रश्न उठेगा कि अर्थविषयक परिच्छिन्ति को कौन अर्थ उत्पन्न करता है? यदि यह कहा जाय कि अन्य प्रतीति को उत्पन्न करता हुआ वह अर्थ का साक्षात्कार करता है, तो उसे भी उत्तरवर्ती की अपेक्षा होगी और फलतः अनवरथा की प्राप्ति होगी।²²⁴

योगाचारमत यह मानता है कि अर्थ ज्ञान में, विषय का आभासमात्र है, अतः विषयाधिगति या अर्थसंवेदन स्वसंवित्ति से अन्य कुछ नहीं है। अपने को जानने की ज्ञान की इस योग्यता को फलरूप स्वसंवेदन का प्रमाण समझा गया है, क्योंकि यह फल का साधकतम कारण है। अतः, साकारज्ञान प्रमाण और प्रमाणफल दोनों हैं। प्रमाण और फल में व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक-भाव है। साकार विज्ञान प्रमाण, विज्ञान की विषयाकारता प्रमेय (ग्राह्यविज्ञान व्यवस्थापित, ग्राहक विज्ञान व्यवस्थापक) और स्वसंवित्ति फल है। इनमें वस्तुतः अभेद है। विपर्यासित दर्शन वालों को ही ये तीनों भेदवान जैसे प्रतीत होते हैं। विज्ञान ही विषयी और विषय के रूप में आभासित होता है। अतः, ज्ञान का विषय, ज्ञान में अर्थाभास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।²²⁹ इस मत के अनुसार विषय या अर्थ के प्रसंग में जिसे इन्द्रिय कहते हैं वह भौतिक इन्द्रिय नहीं, अपितु ज्ञानोत्पादन की शक्ति है, अथवा विषयाभास का ज्ञान करने की शक्ति है। विषयाभास के प्रसंग में इस शक्ति को ज्ञान का स्वाभास समझा जाता है। अतः जब स्वसंवित्ति को प्रमाणफल के रूप में माना जाता है, तो प्रमाण (ज्ञान ही जिसका प्रमेय होता है) का कार्य अवश्य ही ज्ञान के स्वाभास से विशिष्ट होना चाहिए। योगाचारनय, वस्तुवादियों से भिन्न दृष्टि रखते हुए, यह मानता है कि स्वसंवित्ति के 'क' या 'ख' होने के अनुकूल ही अर्थ का 'क' या 'ख' के रूप में नियमन होता है।

प्रमाणवार्तिक (2.354-367) में धर्मकीर्ति प्रमाण, प्रमेय एवं फल के भेद की समस्या का निरूपण योगाचार दृष्टि से करते हैं। वे लिखते हैं — यद्यपि ज्ञान का स्वरूप भेदरहित है, किन्तु जिनका दर्शन ग्राह्यग्राहक की वासना से विपर्यासित हो गया है ऐसे अतत्त्वदर्शी पुरुषों को वह ग्राह्य, ग्राहक और संवित्ति (फल) के भेद से भेदयुक्त दीखता है। जैसे, जिनका चक्षु मंत्रादि से उपप्लुत हो गया है उसको सुवर्ण आदि के रूप से रहित भी मिट्टी के टुकड़े आदि सुवर्णादिरूपतया ही प्रतीत होते हैं। मंत्रादि के सामर्थ्य से मृत्खण्ड सुवर्णादिरूप में परिणत हो गये हैं, ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि जिनका चक्षु मंत्रादि से उपप्लुत नहीं है उनको वे मृत्खण्डादि मिट्टीरूप से ही दीख पड़ते हैं, सुवर्णादि रूप से नहीं। यदि वे मंत्रादि द्वारा सुवर्णादि रूप में परिणत हो गये होते, तो, अन्य लोगों को भी सुवर्णादि रूप वाले दीखने चाहिए। इस प्रसंग में दूसरा उदाहरण यह है कि मरुप्रदेश में दूर से अल्प पदार्थ भी बड़ा दीखता है। तात्पर्य यह है कि भ्रान्ति वालों को ही ग्राह्यग्राहक आदि का भेद प्रतीत होता है, परमार्थतः, प्रमेय, प्रमाण और फल का भेद नहीं होने पर भी दर्शन के अनुरूपविकल्प के अनुसार ग्राह्य, ग्राहक और संवित्ति में प्रमेय, प्रमाण और फल की व्यवस्था की जाती है, अर्थात्

ग्राह्याकार प्रमेय है, ग्राहकाकार प्रमाण है और संवित्ति फल है।²²⁶

आचार्य धर्मकीर्ति आगे लिखते हैं — 'यदि ग्राह्य-ग्राहक का भेद वास्तविक हो, तो ज्ञानरूप एक पदार्थ के नाना प्रकार के प्रतिभास वाले ग्राह्यादि आकार सत्य कैसे हो सकते हैं? अन्यथा, एकज्ञानात्मक पदार्थ में एकत्व की हानि हो जायगी, क्योंकि ज्ञानात्मक एक पदार्थ प्रतिभासमान अनेक आकाररूप नहीं हो सकता है। उस स्थिति में तो ज्ञान अनेक रूप ही सिद्ध होगा, इस पर धर्मकीर्ति कहते हैं कि अनेक ज्ञानों को एक नहीं माना जा सकता है। जो वास्तव में भिन्न हैं उनमें अभेद मानने पर परस्पर में भिन्न ग्राह्यादि में अन्यत्व (भिन्नत्व) की हानि हो जायगी। जब भेदप्रतिभास में भी एकत्व इष्ट है, तब भेद की ही व्यवस्था नहीं हो सकती, और इसीलिए सुख-दुःखादि और नील-पीतादि का भी परस्पर में भेद नहीं होगा, क्योंकि प्रतिभासभेद भेद का साधन है तथा अन्य कोई भेद का साधन नहीं है। इसके अतिरिक्त एक ज्ञान नानाकार भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि ज्ञान के रूपों में अभेददर्शन न होने से अभेद नहीं हो सकता। रूप के अभेद को देखने वाली बुद्धि अभेद की व्यवस्था करती है। भिन्न प्रतिभासवाले ग्राह्यग्राहकादि में अभेदप्रतिभास नहीं होता है। इसलिए ग्राह्यादि पदार्थ जिस रूप से निरूपित होते हैं, वास्तव में यह रूप उनमें नहीं है, क्योंकि उनका न तो कोई एक रूप है और न अनेक रूप ही। जो वस्तु है, वह एक या अनेक होगी, किन्तु ग्राह्यादि न तो एक है और न अनेक, अतः वह भ्रान्ति ही है।'²²⁷

प्रश्न उठता है कि लोक में साधर्म्य के दर्शन से अतद्गुण वस्तु में तद्गुण का निश्चय करके भ्रान्ति उत्पन्न होती है, जैसे मरीचिका में जलभ्रान्ति। किन्तु संसार में एक भी तद्गुण (भूताकार) पदार्थ का दर्शन न होने से विज्ञानवाद में साधर्म्य-दर्शन नहीं है, तब भ्रान्ति कैसे होगी? आचार्य धर्मकीर्ति का उत्तर है कि साधर्म्यदर्शन से मानसीभ्रान्ति होती है। किन्तु एकमात्र यही भ्रान्ति है ऐसा कोई नियम नहीं है। अतः, अन्तरंगकारण अविद्या से होनेवाली जो भ्रान्ति है वह प्रकृति से दोषजन्य है तथा वितथप्रतिभासवाली उसमें एकार्थदर्शन की अपेक्षा नहीं होती है, जैसे तैमिरिक ज्ञान। जैसे इन्द्रियदोष से होनेवाला तिमिरज्ञान साधर्म्यदर्शन की अपेक्षा के बिना ही हो जाता है, उसी प्रकार ग्राह्यादि की भ्रान्ति को भी जानना चाहिए। जायमान ज्ञान बासना के सामर्थ्य से सुखादि एवं नीलादि को अन्तरंग एवं बहिर्देशत्वेन दिखाता है। ज्ञान को बाह्य अर्थ के दर्शन में समर्थ नहीं माना जा सकता है, क्योंकि स्वप्नादि में असद्ग्राह्याकार के दर्शन में अविद्या का सामर्थ्य देखा जाता है, आकार के अतिरिक्त बाह्य अर्थ के न दिखलायी पड़ने से ज्ञान में बाह्य अर्थ के दर्शन का सामर्थ्य नहीं माना जा सकता।²²⁸

‘विज्ञप्तिमात्रता’ में प्रमाणफल व्युत्पत्ति को प्रतिपादित करते हुए आचार्य धर्मकीर्ति लिखते हैं — ‘विज्ञप्तिमात्रता में ग्राहकरूप से माना गया बुद्ध्याकार फलभूत स्वसंवित्ति का साधन होने से प्रमाण है और तादात्म्यरूप होने से स्वसंवित्ति उस ग्राहकाकार का फल है। ग्राहकाकार परिच्छेदरूप है और वही आत्मवेदन (स्ववेदन, स्वसंवित्ति) है। चूँकि स्वसंवित्ति की व्यवस्था परिच्छेदाधीनतया होती है, अतः ग्राहकाकारसंमतपरिच्छेद स्वसंवित्ति (आत्मसंवित्ति) का साधन है। जिस प्रकार स्वसंवेदनरूप प्रमाण में रागादि का वेदन प्रमाणप्रमेय और फलरूप होता है, उसी प्रकार सर्वत्र प्रमाण, प्रमेय और फल की स्थिति की योजना करनी चाहिए।’²²⁹ तात्पर्य यह है कि रागादि के वेदन में वे रागादि अनुभवरूप होने से आत्मसंवित्ति के योग्य हैं। अतः रागादि में जो स्वसंवेदन-योग्यता है वह प्रमाण है, आत्माप्रमेय है और स्वसंवित्ति फल है।²³⁰ धर्मकीर्ति के उपर्युक्त कथन और आचार्य दिग्नाग के कथन में भिन्नता प्रदर्शित करते हुए आलोचक इस पर आपत्ति करते हैं। आपत्ति का आशय यह है कि आचार्य दिग्नाग ने तो ‘ग्राहकाकार को प्रमाण कहा है,²³¹ किन्तु यहाँ धर्मकीर्ति योग्यता को प्रमाण कह रहे हैं, ऐसा क्यों? और यदि ऐसा कहकर दिग्नाग के कथन का विरोध नहीं हो रहा है, तो कैसे? बौद्धपक्ष से उत्तर दिया जाता है कि ग्राहकाकार की जो परिच्छेदात्मकता है वही संवेदन में योग्यता है, इसलिए रागादि में स्वात्मवेदन को प्रमाण कहा गया है। यहाँ फलभूत स्वसंवेदन विवक्षित नहीं है, किन्तु योग्यता विवक्षित है, इसलिए दोनों में अभिन्नार्थता है।²³²

बौद्धपक्ष की विपक्षियों द्वारा आलोचना

मीमांसक, नैयायिक, जैन आदि बौद्ध पक्ष की आलोचना करते हैं। मीमांसकाचार्य कुमारिल भट्ट का आक्षेप है कि प्रमाण और प्रमाणफल में अभेद का सिद्धान्त लौकिक मत को बाधित करने वाला है, जो कि साध्य और साधन में भेद मानता है। पुनश्च, जब कुल्हाड़ी के द्वारा खदिर वृक्ष काटा जाता है, तो छेदनक्रिया पलाश में नहीं होती, वैसे ही लोक में कहीं भी परशु को ही छेदनक्रिया नहीं कहा जाता।²³³ तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार साधन-परशु छेदन-रूप फल से भिन्न है, उसी प्रकार ज्ञान के करण (प्रमाण) को अपने द्वारा फलरूप में उत्पन्न ज्ञान से अवश्य ही विलग मानना चाहिए। दोनों में अभेद मानना ठीक नहीं है। इसी प्रकार ‘सौत्रान्तिकों के मत में भी स्वसंवित्ति प्रमाणफल मानी जा सकती है और बाह्य प्रमेय को मानते हुए भी स्वानुभव को फल मानना युक्तिसंगत है’,²³⁴ दिग्नाग की इस तर्कप्रक्रिया का विरोध करते हुए आचार्य कुमारिल कहते हैं कि यदि यह माना जाय कि विषयाकार प्रमाण है, जबकि स्वसंवित्ति फल है, तो इससे यह फलित होगा कि प्रमाण और फल के विलग-विलग विषय या

अर्थ हैं। प्रमाण का विषय बाह्य अर्थ है, जबकि फल का विषय ज्ञान है। हम देख चुके हैं कि आचार्य दिग्नाग ने स्वतः न्यायमत की प्रमाण और प्रमिति में भेद के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा है कि खदिरवृक्ष के लिए प्रयुक्त कुल्हाड़ी फल-रूप में पलाश वृक्ष का छेदन नहीं करती। आचार्य कुमारिल वही आलोचना दिग्नाग द्वारा सौत्रान्तिक के सिद्धान्त के औचित्यप्रतिपादन के प्रति भी प्रयुक्त करते हैं।²³⁵ आचार्य कुमारिल के अनुसार इन्द्रिय, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष, मन-इन्द्रिय-सन्निकर्ष तथा आत्मा-मनस्सन्निकर्ष सभी प्रमाण हैं और अर्थावबोध फल है। जब ज्ञान फल है, तो वहाँ व्यापार की प्रमाणता है। यह भी कहा गया है कि पूर्व-पूर्व प्रमाण और उत्तर-उत्तर ज्ञान फल है। फलतः, यदि ज्ञान को प्रमाण माना जाय, तो फल को उससे अन्य मानना होगा। स्वसंवित्ति को प्रमाणफल मानना युक्त नहीं है और न तो प्रमाण को विषयाकार समझना ही उचित है, क्योंकि वैसी स्थिति में भिन्नार्थत्व की प्रसक्ति होगी।²³⁶

प्रमाण और प्रमाणफल के विषय में प्रभाकर का मत है कि यदि प्रमाण को प्रमा या सत्यज्ञान के अर्थ में समझा जाय, तो यथार्थज्ञान या प्रमा ही प्रमाण है और उस स्थिति में प्रमाता द्वारा विषय की स्वीकृति, उसका निषेध अथवा उसके प्रति उपेक्षाभाव फल है। किन्तु यदि प्रमा को प्रमा के करण (जिसके द्वारा किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है) के अर्थ में लिया जाय तो आत्मा का मन के साथ सन्निकर्ष प्रमाण कहलायेगा और ज्ञान ही 'फल' होगा।²³⁷

प्रमाण और फल में अभेद की बात के प्रति जैनाचार्य अकलंक का भी कुमारिल जैसा ही आक्षेप है। वे लिखते हैं — 'लोके प्रमाणात् फलमर्थान्तरभूतमुपलभ्यते। तद्यथा छेतुच्छेदव्यवच्छेदनसन्निधाने द्वैधीभावः फलम्। न च तथा स्वसंवेदनमर्थान्तरभूतमस्ति। तस्मादस्य फलत्वं नोपपद्यते'।²³⁸

नैयायिक भी बौद्ध पक्ष के प्रबल विरोधी हैं। आचार्य जयन्तभट्ट दिग्नाग के पक्ष पर आक्षेप करते हैं कि उसे मानने पर प्रमाण की स्वरूपहानि का प्रसंग उपस्थित होगा। 'प्रमीयते चानेनेति प्रमाणम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रमाण करण है। कहीं पर भी क्रिया ही करण नहीं होती है, अपितु साध्यक्रिया का जो कारक होता है वह करण होता है और यह कारक क्रिया से अन्य होता है। उदाहरणार्थ, जब हम कहते हैं कि 'चैत्र' हसिये द्वारा धान को काटता है, तो वहाँ पर कर्ता, कर्म और करण तीनों क्रिया से भिन्न रूप में उपलभ्य होते हैं, उसी प्रकार 'चक्षु' के द्वारा कोई घट को देखता है, जब हम ऐसा कहते हैं तो वहाँ भी द्रष्टा, घट और चक्षु का, देखने की क्रिया से, पृथक् भाव मानना युक्त है। अतः दर्शन-क्रिया ही करण नहीं है।²³⁹ जयन्तभट्ट कहते हैं कि

कभी-कभी प्रमा और प्रमाण शब्द का समान अर्थ में प्रयोग होता है और प्रमाण शब्द का फल के अर्थ में प्रयोग असाधु नहीं है, क्योंकि कभी-कभी शब्द का असामान्य अर्थ में प्रयोग हम पाते हैं। 'करण' शब्द का प्रयोग 'कृति' के भी अर्थ में हम पाते हैं।²⁴⁰

दिग्नाग का यह पक्ष है कि यदि प्रमाण और फल में अभेद न हो, तो उनके दो भिन्न अधिकरण नहीं होने चाहिए। जयन्त टिप्पणी करते हैं कि यह तो अपूर्ववाचोयुक्ति है। दिग्नाग को 'अधिकरण' शब्द से क्या अभिप्रेत है? यदि विषय अभिप्रेत हो, तो दोनों की एक विषयता ही है। दर्शन-क्रिया द्वारा गृहीत विषय ही चक्षुरादि (देखने रूपी करण) का भी विषय होता है। यदि अधिकरण शब्द 'आश्रय' का वाचक माना जाय, तो उसकी प्राप्ति बौद्ध वाङ्मय में नहीं होगी, क्योंकि क्षणिक होने से किसी भी कार्य को आश्रय की आवश्यकता नहीं है। किन्तु हम नैयायिक यह मानते हैं कि करण और फल, जैसे कि काष्ठ और पाक का, भिन्न आश्रय होता है। इसी प्रकार की कारण-कार्यभावरूप व्यवस्था चक्षु और ज्ञान में होगी, यद्यपि दोनों का समान आश्रय नहीं है। इसके अतिरिक्त कहीं पर करण और फल रूप से स्थित दो ज्ञानों का एक ही आश्रय होता है, जैसे कि लिंग और लिंगिन् के ज्ञान तथा विशेषण और विशेष्य के ज्ञान का आश्रय एक ही है, आत्मा। समानाश्रयता का कोई उपयोग नहीं, क्योंकि चक्षुओं को अपने व्यापार की फलोत्पत्ति हेतु इस प्रकार की समानाश्रयता की अपेक्षा नहीं होती।²⁴¹

यह कहा जा सकता है कि यदि करण और फल एक ही प्रकार के हों, तो, उनमें व्यापारसमानाश्रयत्व की बात कही जाती है। जयन्त भट्ट का कहना है कि तो भी यह समानाश्रयताभाव यह इंगित करता है कि पूर्ववर्ती कारक अनुवर्ती कारक को अपने व्यापार के द्वारा निर्धारित करता है और इस प्रकार वस्तुतः उसका करण होता है।²⁴² दिग्नाग के 'सव्यापारप्रतीत्वात्' की आलोचना करते हुए जयन्तभट्ट बतलाते हैं कि सव्यापारता भी प्रमाण और फल के मध्य भिन्नता के तथ्य को ही सूचित करती है। स्वरूप की निष्पत्ति हो जाने पर सव्यापारता की प्राप्ति नहीं हो जाती, क्योंकि स्वतः फल रूप होने के कारण ज्ञान को सजातीय फलोत्पत्ति के लिए, सव्यापारता की अपेक्षा नहीं होती, अपितु पृथक्भूतफलोत्पत्ति हेतु ही उसकी अपेक्षा होती है। बौद्ध कह सकते हैं कि विषयानुभव के प्रति व्यापारवान होता हुआ ही कोई फल होता है, अतः वस्तुस्थित्या ज्ञान ही फल है। जयन्त की कटुक्ति है 'ये मुग्ध वृद्ध, विषयानुभव को ही ज्ञान कहते हैं। विषयानुभव को अन्य विषयानुभव को उत्पन्न करने हेतु सव्यापारता के सहयोग की अपेक्षा नहीं होती।'²⁴³ यहाँ विरोधी यह कह सकता है कि विषयाधिगम अन्य अनुभव या ज्ञान को उत्पन्न करे इसके लिए उसके द्वारा स्ववेदन पूर्वमान्य रहना

चाहिए। आशय यह है कि जब किसी व्यक्ति को किसी वस्तु का अनुभव होता है, तो वह इस तथ्य से अवगत होता है कि वह विषय को जानता है। बाद में इस विषयानुभव से हम अन्य अनुभव की ओर जाते हैं। इस प्रकार स्वसंवेदन दो अनुभवों में व्यापारवान कहा जाता है, क्योंकि वह दोनों के मध्य हस्तक्षेप-सा करता है। इस प्रकार ज्ञान करण भी हो सकता है, और फल भी। जयन्तभट्ट इस पर बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि अभिमान (स्ववेदन) से आप क्या समझते हैं? यह अनुभव से अभिन्न है अथवा भिन्न? यदि आप इसे एक भिन्न क्रिया नहीं मानते हैं, तो यह मानने का कोई तुक नहीं है कि विषयानुभव के होने पर स्ववेदन (अभिमान, स्वसंवेदन) होता है और यदि आप विषयानुभव को स्वाभास से पृथक् मानते हैं, तो आप हमारे ही पक्ष का समर्थन करेंगे।²⁴⁴ पुनश्च, प्रश्न है कि क्या ज्ञान विषयाधिगम में 'व्यापृतमिति कृत्वा' विषयाधिगम के अभिमान को उत्पन्न करता है, अथवा विषयाधिगमस्वभाव के ही कारण? इस प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ज्ञान स्वरूपतः विषयाधिगमस्वभाववाला है, क्योंकि व्याप्रियमाण ज्ञान की, जो विषयाधिगम से पृथक् होता है और विषयाधिगम की ओर हमें ले जाता है, वहाँ पर प्राप्ति नहीं होती। विषयाधिगम से अभिमान (स्वभास) साक्षात् रूपेण उत्पन्न होता है। इस प्रकार, पहले-पहल ज्ञान सर्वदा फल ही होता है, करण नहीं। संसार में भी लोग चक्षु के द्वारा देखता हूँ, लिंग के द्वारा जानता हूँ, ऐसा कहते हैं, कहीं भी कोई यह कहते नहीं देखा जाता कि ज्ञान के द्वारा जानता हूँ।²⁴⁵

बौद्ध उपर्युक्त आलोचना के आलोक में अपने सिद्धान्त को संशोधित कर यह कहते हैं कि चक्षुरादि को लोक में करण तभी कहा जाता है जब वे विषयज्ञान को उत्पन्न करते हैं। जब वे विषयज्ञान को उत्पन्न नहीं करते, तब उन्हें करण नहीं कहा जाता। अतः, करण के उत्पादक होने से ही लोक में चक्षुरादि को करण कहा जाता है। वे (इन्द्रियाँ) विषयबोध की साक्षात् करण नहीं होतीं। आचार्य जयन्त का कथन है कि बौद्धों का यह पक्ष अयुक्त है, क्योंकि चक्षुरादि ही करण हैं, किन्तु विषयाधिगम के करण की उनसे उत्पत्ति नहीं होती। यदि चक्षुरादि किसी करण को उत्पन्न भी करते हैं, तो प्रश्न है कि वह अन्य करण क्या है? यदि बौद्ध उत्तर दें कि वह ज्ञान है, तो इस बात की परीक्षा होनी चाहिए कि वह ज्ञान किस प्रकार की क्रिया का करण है? कोई भी अपने को ही पैदा करता हुआ करण नहीं कहलाता। आशय यह है कि ज्ञान यदि अपने में ही अपने को कारण के रूप में प्रयुक्त करता है, तो उसे करण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। जहाँ तक लोक द्वारा ज्ञान को न उत्पन्न करने वाली चक्षुरादि इन्द्रियों को करण मानने या कहने की बात है, तो वह युक्त ही है।

यदि कोई कारक क्रिया को उत्पन्न करने में व्यापारवान नहीं होता, तो उसे करण नहीं कहा जा सकता। फलतः, ज्ञानक्रिया को उत्पन्न करते हुए चक्षुरादि को करण कहा जाता है और ज्ञान तो केवल फल रूप है।²⁴⁶

बौद्धों का उत्तर

बौद्ध, मीमांसक तथा नैयायिकादि की उपर्युक्त आपत्तियों का उत्तर यह देते हैं कि पारमार्थिक दृष्टि से कहें, तो, चूँकि सभी धर्म क्षणिक हैं, अतएव दो धर्मों में उत्पाद्योत्पादकभाव की स्थापना नहीं की जा सकती। फलतः, ज्ञान के साधन अथवा करण को एक अलग एवं भिन्न धर्म तथा प्रमितिज्ञान (फलज्ञान) को उत्पन्न करने वाला समझना ठीक नहीं है। प्रमाण एवं फल में व्यवस्थापक-व्यवस्थाप्यभाव समझना चाहिए। जब हमें किसी का 'यह नीला है' ऐसा ज्ञान होता है, तो वह 'यह नील का ज्ञान है पीत का नहीं', के रूप में होता है (नीलस्येदं संवेदनं न पीतस्येति) और यह नियमन स्वतः ज्ञानान्तर्गत नील के आकार के द्वारा किया जाता है। बौद्धों के अनुसार फल की निष्पत्ति में योगदान करने वाले अनेक कारणों में जो अतिसन्निहित या अव्यवहित होता है, वही साधकतम होने से करण कहलाता है। इस कसौटी पर केवल साकारज्ञान ही प्रमाण सिद्ध हो पाता है, इन्द्रिय, इन्द्रियसन्निकर्ष अथवा विषयालोचनादि नहीं।²⁴⁷ पुनश्च, परमार्थतः यद्यपि सभी धर्म निर्व्यापार हैं, किन्तु जहाँ तक ज्ञान विषयाकार के रूप में उत्पन्न होता है, उसे गौणरूप से, स्वविषयाकार को ग्रहण करने तथा अन्याकार का परित्याग करने के व्यापार से विशिष्ट किया जा सकता है। इस व्यापार द्वारा ही ज्ञान की प्रतिकर्मव्यवस्था, 'यह नील का ज्ञान है, पीत का नहीं' आदि के रूप में होती है। पुनश्च, जैसा मनोरथनान्द भी कहते हैं, यद्यपि प्रति अर्थ और प्रति इन्द्रिय ज्ञानों में भेद है, तो भी विषयसारूप्य के अभाव में उस विशेष का निर्देश शक्य नहीं है। अधिगति से विशेष की व्यवस्था नहीं हो सकती है, क्योंकि अधिगति रूप व्यवस्थापक अव्यवस्थित होता है, और जब व्यवस्थापक ही अव्यवस्थित है, तब व्यवस्थाप्य (विशेष) की सिद्धि कैसे हो सकती है।²⁴⁸ मीमांसा और न्याय द्वारा परशु एवं छिदिक्रिया के दृष्टान्त के माध्यम से अधिगतिपूर्वक प्रमाण की व्यवस्था को दोष रहित मानने और बौद्धव्यवस्था को सदोष मानने का जो प्रयास हुआ है उसके प्रति यह द्रष्टव्य है कि परशु और छेदन क्रिया में जहाँ कारणकार्यभाव है, वहाँ अधिगति और सारूप्य में व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापकभाव है, क्योंकि दोनों ही ज्ञान स्वरूप हैं। इसके अतिरिक्त परशु और छिदा में कारण अज्ञात होने पर भी अपना कार्य सम्पन्न कर देता है, फलतः कार्यदर्शन से भी कारण की व्यवस्था उचित है; परन्तु व्यवस्थापक अनुपलक्षित होकर व्यवस्थाप्य की व्यवस्था में समर्थ नहीं होता। व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभाव

बौद्ध इसलिए मानते हैं, क्योंकि तादात्म्यस्वरूप वालों में भी इसकी स्थिति उपपन्न एवं अविरुद्ध रहती है। पुनश्च, सभी क्रिया और कारक की व्यवस्था कल्पित है। भिन्न माने गये दारु और परशु आदि में भी क्रियाकरणभाव की आरोप से ही वृत्ति है। वहाँ भी कार्यकारणरूप वस्तुद्वय से व्यतिरिक्त क्रिया नहीं है। द्विधाभूत काष्ठ ही अतद्व्यावृत्ति से भेदान्तर का प्रतिकेप करके छिदा कहलाता है। पुरुष, पुरुष का कर और परशु आदि जो अनेक कारण हैं उनमें कर (हाथ) के द्वारा छिदा की उत्पत्ति न होने के कारण परशु में असाधारण सहकारित्व दिखलाने के लिए, अतद्व्यावृत्ति के द्वारा परशु को 'करण' संज्ञा दी जाती है। क्रिया और करण से कार्य और करण अन्य नहीं हैं। अधिगम और आकार में व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक रूप क्रिया-करणभाव है।²⁴⁹

आचार्य शान्तरक्षित-कमलशील कुमारिल के आक्षेपों के उत्तर में बतलाते हैं कि साध्य और साधन का भेद उस भेद के आश्रय पर निर्भर नहीं होता है और निराकार ज्ञान पक्ष में उपर्युक्त भेद संभव भी नहीं होता है। 'नीलास्पद संवेदन पीत का संवेदन नहीं है, इस प्रकार की विषयावगति की व्यवस्था का निबन्धन अर्थसारूप्य ही है, कोई अन्य नहीं। अतः, साध्यसाधनव्यवस्था व्यवस्थाप्यव्यवस्थापक रूप से होती है, उत्पाद्यउत्पादक रूप से नहीं, क्योंकि पारमार्थिक दृष्टि से सभी धर्म क्षणिक होने से निर्व्यापार वाले हैं, अतः, वस्तुतः कर्तृकरणभाव भी नहीं है। ज्ञान जब विषय के आकार में उत्पन्न होता है, तो ऐसा लगता है मानो वह विषय का परिच्छेद कर रहा हो। ऐसा करता हुआ ज्ञान व्यापारवान जैसी स्थिति में होता है। यही ज्ञान का अर्थप्रापण रूप व्यापार है। मात्र अविनाभावित्व ज्ञान का अर्थप्रापणरूप व्यापार नहीं है। अतः, साकार ज्ञान ही प्रमाण है, निराकार ज्ञान नहीं।'²⁵⁰

बौद्धपक्ष लोकानुभव से भी बाधित नहीं होता है, इसे प्रदर्शित करते हुए शान्तरक्षित कहते हैं कि प्रमाण और फल को भिन्न मानने की जो लोकमान्यता है वह ठीक उसी प्रकार उत्प्रेक्षित है, जैसे कि धनुष के ही प्रसंग में हम लोक में 'धनुष बेधता है' 'धनुष के द्वारा बेधता है' 'धनुष से निकल कर शर बेधता है', 'इत्यादि कथन पाते हैं', तथापि इसके कारण विरोध नहीं होता। अतः, करण और फल में उत्पाद्य-उत्पादक रूप भेद नहीं है। पुनश्च, जब हम परशु द्वारा वृक्ष के छेदन की परीक्षा करते हैं, तो पाते हैं कि छेदन का अभिप्राय है काष्ठ में परशु का अनुप्रवेश। यह अनुप्रवेश परशु का आत्मगत ही धर्म है, फलतः परमार्थतः परशु और छिति में अभेद है और ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं है।²⁵¹

समीक्षा

प्रमाण और फल विषयक उपर्युक्त आलोचना-प्रत्यालोचना एवं आपत्तियों के उत्तर आदि से इस विवाद के कई बिन्दु स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आते हैं। प्रथमतः, मीमांसक-नैयायिकादि ज्ञान को निराकार, एक ही रूपवाला तथा परसंवेद्य मानने के कारण करण और फल में भेद करते हैं, जबकि बौद्ध ज्ञान को साकार, दो रूपवाला और स्वसंवेदनरूप या स्वयंप्रकाश मानने के कारण प्रमाण और प्रमाणफल में अभेद मानते हैं। द्वितीयतः, मीमांसक-नैयायिक प्रमाण और फल में उत्पाद्य-उत्पादकभाव मानते हैं, जबकि बौद्ध व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव। तृतीयतः, बौद्ध परमार्थ एवं व्यवहार का भेद मानने से, प्रमाण और फल में परमार्थतः अभेद मानते हुए भी, व्यावृत्ति उपकल्पित भेद से उनमें भेद की व्यवस्था करते हैं। बौद्धों में प्रमाणफलव्यवस्था, इसी कारण सौत्रान्तिक और योगाचार दोनों की दृष्टि से करनी पड़ी, किन्तु संवृत्ति एवं परमार्थ का भेद न मानने के कारण वस्तुवाद लोक व्यवहार की सर्वसाधारण मान्यता से ही चिपका रहकर प्रमाण, प्रमेय एवं फल को परस्पर विलग मानता है। चतुर्थतः, नैयायिक मीमांसकादि जानने की क्रिया को इन्द्रियों द्वारा बाह्य अर्थ को 'ग्रहण करने' (अपने अधिष्ठान से बाहर जाकर विषय को प्राप्त करने) और इस प्रकार 'ग्रहीत आकार' को मन के माध्यम से आत्मा तक 'पहुँचाने' के रूप में मानते हैं, किन्तु बौद्ध क्षणभंगवादी होने से परमार्थतः सभी धर्मों को व्यापारशून्य मानते हैं, फलतः वहाँ इन्द्रियों द्वारा बाह्यविषयों को पकड़ने (प्राप्त करने, ग्रहण करने) की क्रिया (व्यापार) जैसी कोई वास्तविक बात नहीं है और न तो कोई आत्मा ही है।²⁵² विज्ञानवादियों के लिए तो बाह्यार्थ भी नहीं है। जो अन्तर्ज्ञेय रूप है वही बहिर्वत् आभासित होता है।²⁵³ ज्ञान अपने स्वरूप में अभेदात्मक है। व्यावृत्तिउपकल्पिक भेद से उसे ही प्रमाण और फल कहते हैं। स्वयंप्रकाश ज्ञान द्विरूप होता है। अर्थाभास और स्वाभास उसके दो रूप हैं। अतः, ज्ञान का अर्थाभास प्रमेय और स्वाभास या स्वसंवृत्ति फल है।

समसामयिक पाश्चात्य मनोविज्ञान एवं ज्ञानमीमांसा में भी हम उपर्युक्त विवाद जैसी बातें पाते हैं। उदाहरणार्थ, रसेल महोदय 'एनलिसिस ऑफ माइण्ड' नामक ग्रन्थ में दिग्नाग-धर्मकीर्ति के ही समान प्रमाण और फल में भेद को स्वीकार नहीं करते। ब्रेन्टानो के मत के संशोधक और अनुयायी मिनींग के अनुसार किसी वस्तु के विषय में जब हममें विचार होता है, तो उसमें तीन तत्त्व या तथ्य होते हैं :- (1) क्रिया या व्यापार (ऐक्ट) (2) आन्तरज्ञेय या मानसिक ज्ञेयरूप (मेन्टल कन्टेन्ट) तथा (3) अर्थ या विषय (ऑब्जेक्ट)। मानस ज्ञेयरूप और वास्तविक अर्थ को विलग मानने के वे प्रबल आग्रही हैं, क्योंकि विचार करने के समक्ष मानसिक ज्ञेयरूप का अस्तित्व अनिवार्य है,

जबकि अर्थ के लिए यह बाध्यता नहीं है।²⁵⁴ रसेल महोदय अपने को इन्द्रियसंवेदन के संदर्भ में यथार्थवादी कहते हुए भी मिनींग के मत की आलोचना करते हैं।²⁵⁵ धर्मकीर्ति रसेल के समान यह मानते हैं कि अर्थप्रतीति रूप प्रत्यक्ष और स्वाभास रूप प्रत्यक्ष में कोई भेद नहीं है। दृष्टिकोण-भेद से उसी प्रत्यक्षज्ञान को प्रमाण और उसे ही फल भी कहा जा सकता है। इन्द्रियादि के आश्रय से होनेवाला साक्षात्कारात्मक ज्ञान ही अर्थप्रतीति है और प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है। इसे ही अर्थ का प्रदर्शक होने से प्रमाणफल कहते हैं।

प्रमाण और फल के प्रसंग में बौद्धों की विवेचना से स्पष्ट है कि इस प्रसंग में प्रत्यक्ष ज्ञान को उसके अन्तिमस्वरूप में लिया गया है, आकलित क्षणभेद के रूप में लिया गया है, अनाकलित क्षणभेद के रूप में नहीं।²⁵⁶ बौद्ध इस स्थल पर सत्ता के क्षण-स्वभाव का परित्याग कर क्षणप्रबन्ध के एकत्व का अध्यवसाय कर विचार कर रहे हैं। स्पष्ट है कि धर्मकीर्ति-सम्प्रदाय हमसे यह अपेक्षा रखता है कि हम इस प्रसंग में दो क्षण, या दो भावों या धर्मों को स्वीकार करें और बौद्ध कारणता के अर्थ में (अलग-अलग एवं स्वतन्त्र क्षणरातानों की अविच्छिन्न धारा के रूप में) प्रथम को कारण, उसका कारण, समझें जो कि दूसरे को उत्पन्न करता है। इस प्रकार बौद्धों के अनुसार करण के रूप में प्रत्यक्षप्रतीति और फल के रूप में प्रत्यक्षप्रतीति कारणकार्यरूप में सम्बद्ध नहीं हैं और दोनों ही स्फुटप्रत्यक्ष ही हैं। इस तथ्य की गलत समझ के कारण ही विरोधी के लिए सरलविजय का अवसर सुलभ हो जाता है।²⁵⁷

किन्तु बौद्धों के, खासकर दिग्नाग के उस पक्ष में कोई दम नहीं है जब वे सौत्रान्तिकों के पक्ष से भी स्वसंवित्ति को प्रमाणफल मानने के औचित्य की बात करते हैं। इस स्थल पर आचार्य कुमारिल उचित रूप में ही दिग्नाग में 'स्ववचन विरोध' को प्रदर्शित कर उनकी आलोचना करते हैं।²⁵⁸

प्रमाणसंख्या का निर्धारक सिद्धान्त

दिग्नाग और उनके अनुयायियों की प्रमाणमीमांसा विज्ञानवाद की इस मान्यता पर आधारित है कि लोकोत्तर निर्विकल्पक ज्ञान सविकल्पक ज्ञान में प्रतिभासित होता है, अतः जगत् की वस्तुओं के इस प्रकार के ज्ञान में, प्रमाण और प्रमेय का अवश्य ही विधान होना चाहिए। इसीलिए दिग्नाग और उनके अनुयायी यह प्रतिपादित करते हैं कि प्रमाण और प्रमेय दोनों ही स्वतः ज्ञान में अन्तर्भूत घटक हैं। भारतीय प्रमाणमीमांसा में जिस क्रान्ति का श्रीगणेश दिग्नाग से प्रारम्भ हुआ उसके मूल में "मेयाधीनामानसिद्धिः" का सिद्धान्त है, जो विस्तृत होकर प्रमाण के स्वरूप, इसकी संख्या, उसके विषय और फल आदि के संदर्भ में अन्य दार्शनिक मतों से अपनी विशिष्टता रखता है। जिस 'द्वैसत्ये' का आश्रय लेकर भगवान् बुद्ध की धर्मदेशना हुई थी और जिस भगवान् बुद्ध की दिग्नाग 'प्रमाणभूताय' कहकर वन्दना करते हैं, उन दो सत्त्यों को दिग्नाग ने प्रमाणमीमांसा के दो मेयों में परिणत किया और घोषणा की— 'लक्षणद्वयं प्रमेयं' अर्थात् प्रमेय दो लक्षणों वाला है, अतः तदनुकूल प्रमाण भी दो हैं। दोनों प्रमेय और दोनों प्रमाण परस्पर अत्यन्त विलग हैं, एक का सांकर्य दूसरे में नहीं है। इस घोषणा को प्रमाणव्यवस्था या प्रमाण-असांकर्यवाद कहा जाता है।

आचार्य धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में दो ही प्रमेय क्यों हैं? इसे स्पष्ट किया और उनके टीकाकारों ने, विशेषतया आचार्य प्रज्ञाकर ने इसकी सूक्ष्म विवेचना की। आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं— 'विषय द्वैविध्य के कारण ज्ञान या प्रमाण दो हैं। इस कथन के द्वारा धर्मकीर्ति प्रमाण की संख्या से सम्बद्ध विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हैं, अर्थात् प्रमाण की 1, 3, 4, 5, 6 आदि संख्याओं का निराकरण करते हैं। अविश्ववादी और अज्ञातार्थ का प्रकाशक ज्ञान द्विविध ही है, इसका निश्चय कैसे हो ? धर्मकीर्ति का उत्तर है, क्योंकि विषय दो प्रकार का है। चूँकि इससे अतिरिक्त और किसी तरह के मेय नहीं हैं, अतः प्रमाण भी दो हैं। चूँकि प्रमेय का यथार्थ ग्रहण ही प्रमाण है, अर्थात् प्रमेय का अन्यथाग्रहण नहीं होना ही ज्ञान का प्रामाण्य है, और प्रमेय के बिना प्रमाण का अव्यभिचार नहीं होता, अतएव मेयानुसार ही प्रमाण की भी संख्या होती है। इस प्रकार दिग्नाग और इनके अनुयायी मेय और मान दोनों में ही व्यवस्था और असांकर्य की बात मानते हैं।

मेय दो ही क्यों हैं, इसकी सिद्धि और असिद्धि पर सारी बौद्ध प्रमाण-व्यवस्था ठहरी हुई है। बौद्ध इसकी सिद्धि के लिए जितना आग्रह दर्शाते हैं, अन्य दार्शनिक मत

इसके खण्डन में उसी तरह चेष्टारत हैं। उदाहरणार्थ, विरोधी यह कहते हैं कि विषय के द्वैविध्य की सिद्धि कैसे है? न तो प्रत्यक्ष और न तो अनुमान से ही विषय के द्वैविध्य की सिद्धि हो सकती है, क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय 'स्वलक्षण' है और अनुमान का विषय 'सामान्यलक्षण' है। प्रत्यक्ष अपने विषय 'स्वलक्षण' को तथा अनुमान अपने विषय 'सामान्यलक्षण' को तो सिद्ध कर सकता है, परन्तु प्रमाण के विषय का द्वैविध्य किस प्रमाण से सिद्ध होगा? प्रत्यक्ष भी एक ही विषय को और अनुमान भी एक ही विषय को, अपने विषय के रूप में सिद्ध कर सकता है। इनमें से कोई भी विषय-द्वैविध्य को सिद्ध नहीं करता। ऐसी स्थिति में विषय-द्वैविध्य कैसे सिद्ध हुआ? यदि कोई बौद्ध ऐसा कहे कि प्रत्यक्ष से भी दोनों प्रमेयों की और अनुमान से भी दोनों प्रमेयों की सिद्धि होती है, तो, यह प्रश्न उठता है कि प्रमाणव्यवस्थावादी और प्रमाणअसांकर्यवादी होने से आप बौद्ध प्रत्यक्ष का विषय सामान्य को नहीं मानते, अतएव, ऐसी स्थिति में साध्यसाधनसम्बन्ध, अर्थात् व्याप्ति, का ग्रहण न होने के कारण अनुमान ही नहीं होगा और तब प्रमाण केवल प्रत्यक्षमात्र रह जायेगा, तथा 'प्रमाण दो हैं' आपका यह पक्ष खण्डित हो जायगा। यदि आप बौद्ध यह कहें कि सामान्य प्रत्यक्ष का विषय है, तब तो, प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ही विषय-द्वैविध्य की सिद्धि हो जायेगी। फलतः अनुमान को प्रमाण मानना व्यर्थ होगा।²

बौद्धों के पक्ष से उपर्युक्त आलोचना का यह उत्तर दिया जाता है, कि प्रत्यक्ष स्वलक्षण को विषय बनाता हुआ भी, विजातीय व्यावृत्ति से उपकल्पित सामान्य का, अपने पृष्ठभावी विकल्प के द्वारा निश्चय करवाता हुआ, सामान्य विषयक भी कहा जाता है और जो निश्चय का विषय होता है, वही प्रत्यक्ष का विषय होता है। यद्यपि प्रत्यक्ष का मुख्यतः विषय स्वलक्षण ही है, फिर भी, प्रत्यक्ष स्वलक्षण को अपना विषय बनाता हुआ, सम्भावित विजातीय विषय की व्यावृत्ति करता हुआ पश्चात्तविकल्प के द्वारा सामान्य का भी निश्चय करता हुआ उसे अपना विषय बनाता है, और विषय के निश्चयाधीन ही प्रमाण की भी व्यवस्था होती है।³ प्रत्यक्ष विषय का ग्रहणमात्र करता है और ग्रहणक्षण के बाद नष्ट हो जाता है, वह विषय का निश्चय नहीं करता। विषय का निश्चय तो तत्पृष्ठभावी विकल्प या कल्पना के द्वारा होता है। प्रथम क्षण में प्रत्यक्ष विषय या अर्थ का ग्रहण कर नष्ट हो गया, किन्तु, उसके अपने सामर्थ्य से तत्पृष्ठभावी अव्यवहित क्षण में विकल्प का उदय होता है, जो 'इदंरूप, से अर्थ का निश्चय कराता है। अतः, बौद्ध व्यवस्था में प्रत्यक्ष दो कहे जा सकते हैं— एक तो मात्र प्रत्यक्ष और एक प्रत्यक्षप्रमाण। जो प्रत्यक्ष ग्रहणमात्र करता है, अपने बल से उत्पन्न विकल्प के द्वारा अर्थ का निश्चय नहीं करवाता, वह प्रत्यक्ष तो है किन्तु प्रत्यक्षप्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष

प्रमाण वही है जो कि अर्थ का ग्रहण करता है और जिसके अपने सामर्थ्य से द्वितीय अव्यवहित क्षण में विकल्प का उदय होता है, जो कि 'इदम्' के रूप में अर्थ का निश्चय करवाता है, क्योंकि वह अर्थ को प्राप्त करा देता है। उपर्युक्त प्रकार का प्रत्यक्ष प्रमाण सामान्य का निश्चय अपने पृष्ठविकल्प के द्वारा करवाता है, स्वतः नहीं करता। सामान्य विजातीय व्यावृत्ति (जैसे घट की विजातीय व्यावृत्ति हुई घटेतरयावत् पदार्थ का निराकरण) से उपकल्पित होता है अर्थात् 'घटोऽयं रूप निश्चय जब होगा तो, वह घटेतर यावत् पदार्थों के निराकरण के द्वारा होगा और एतादृश निराकरण में 'यह पट नहीं है', 'यह पुस्तक नहीं है' इत्यादि की कल्पना करनी होगी, फलतः वह अर्थ 'स्वलक्षण' न होकर 'सामान्यलक्षण' हो जायेगा। इस प्रकार परम्परया सामर्थ्य के द्वारा प्रत्यक्ष सामान्यविषयक भी कहा जाता है। चूँकि प्रत्यक्ष का विषय वही अर्थ होता है जो निश्चय का विषय होता है, अतः प्रत्यक्ष को सामान्य विषयक भी कहा जाता है।¹

इस उत्तर पर यह आशंका उठ सकती है कि तब तो प्रत्यक्ष की स्वलक्षण-विषयता नहीं रही, क्योंकि आप बौद्धों की प्रमाण-व्यवस्था में प्रत्यक्ष का विषय 'स्वलक्षण' और अनुमान का विषय 'सामान्यलक्षण' होता है, किन्तु यहाँ आप प्रत्यक्ष को सामान्य विषयक भी कह रहे हैं। यदि प्रत्यक्ष का विषय सामान्य हो गया तब, चूँकि आपकी प्रमाणव्यवस्था के अनुसार एक प्रमाण का एक ही विषय हो सकता है और सामान्य प्रत्यक्ष का विषय हो गया, अतः 'स्वलक्षण' प्रत्यक्ष का विषय नहीं होगा। स्वलक्षण को अनुमान का विषय आप बौद्ध मानते नहीं, फलतः 'स्वलक्षण' कोई विषय ही नहीं रहा और इस प्रकार प्रमेय-द्वैविध्य खण्डित हो गया। बौद्ध पक्ष का उत्तर है कि ऐसा नहीं है, क्योंकि सजातीय व्यावृत्ति के द्वारा भी स्वलक्षण का निश्चय होता है। स्वलक्षण में दो व्यावृत्तियाँ—सजातीय एवं विजातीय होती हैं और दोनों का निश्चय प्रत्यक्ष के सामर्थ्य से होता है।² इस कथन का आशय यह है कि प्रत्यक्ष के सामर्थ्य के द्वारा ही दोनों व्यावृत्तियाँ निश्चित होती हैं। व्यावृत्ति का निश्चय प्रत्यक्ष प्रमाण के ही सामर्थ्य से होता है। इसे हम एक दृष्टान्त से समझें— शिक्षक ने एक चपरासी के माध्यम से छात्र को यह कहलवाया कि वह ठीक से रहे, अन्यथा उसे विद्यालय से निष्कासित कर दिया जायेगा। छात्र इस संदेश को शिक्षक का संदेश मानेगा, चपरासी का नहीं। गहाँ पर चपरासी द्वारा दिया गया संदेश छात्र को यह निश्चय करवायेगा कि उपर्युक्त कथन शिक्षक का है, चपरासी का नहीं, जो कि इस बात को उससे कह रहा है। घट—विशेष का, अन्य घट के निराकरण के द्वारा 'अयमेव घटः' रूप जो निश्चय होता है वह सजातीय व्यावृत्ति है, जबकि 'अयं घटः' का घटेतर पदार्थ के निराकरण के द्वारा होने वाला निश्चय विजातीय व्यावृत्ति है। प्रत्यक्ष के द्वारा ही इन

दोनों का निश्चय होता है। विजातीय व्यावृत्ति का निश्चय प्रत्यक्ष अपने सामर्थ्य से होने वाले पृष्ठविकल्प से करवाता है और सजातीय व्यावृत्ति से उपकल्पित विशेष का निश्चय पृष्ठभावी विकल्प के द्वारा करवाता है।

यदि यह आक्षेप उठाया जाय कि उपर्युक्त स्थिति में, तो अनुमान व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि आप बौद्ध यह कह रहे हैं कि स्वलक्षणविषयक प्रत्यक्ष सामान्यविषयक भी कहा जाता है। जब सामान्य को भी प्रत्यक्ष ने ही अपना विषय बना लिया, तो कोई अन्य विषय तो बचा नहीं जिसके निश्चय के लिए अनुमानप्रमाण की उपयोगिता मानी जाय। इस पर बौद्ध कहते हैं कि इस प्रकार की स्थिति में भी अनुमान का वैयर्थ्य नहीं है। सामान्य ही प्रत्यक्ष का विषय है, ऐसी बात नहीं है, अर्थात् जो सामान्य है वही प्रत्यक्ष का विषय है, ऐसी बात नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष की परोक्ष में वृत्ति नहीं होती। पुनश्च, ऐसा भी कोई नियम है नहीं कि जो एक बार अपरोक्ष हो गया वह सर्वदा अपरोक्ष ही रहता है। 'स्वलक्षण' कभी अपरोक्ष होता है और कभी परोक्ष। ऐसी ही स्थिति सामान्य की भी है, अर्थात् सामान्य भी कभी अपरोक्ष और कभी परोक्ष होता है। इसलिए, अपरोक्ष सामान्य और परोक्ष सामान्य इन दोनों में व्याप्ति के गृहीत होने पर सामान्य में अनुमान की वृत्ति है। हम बौद्धों के इस पक्ष में कोई विरोध नहीं है। अतः, उपर्युक्त सारी विवेचनाएँ यह सिद्ध करती हैं कि प्रत्यक्ष के द्वारा अथवा प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों से ही विषय-द्वैविध्य की सिद्धि होती है।^{१६}

मेयद्वैविध्य के लिए युक्ति

आचार्य धर्मकीर्ति, विषय दो ही क्यों हैं, इसके लिये चार तर्क देते हैं— (1) अर्थक्रिया में शक्तत्व एवं अशक्तत्व के कारण विषय-द्वैविध्य है।^{१७} (2) सदृशत्व और असदृशत्व के कारण विषय द्वैविध्य है। (3) शब्द के विषयत्व और शब्द के अविषयत्व के कारण, एवं (4) अन्य निमित्तों के होने पर ग्राहिकाबुद्धि के होने के कारण तथा अन्य निमित्तों के होने पर ग्राहिकाबुद्धि के न होने के कारण विषय-द्वैविध्य है।^{१८} इन तर्कों की हम अलग-अलग व्याख्या करेंगे।

प्रथम तर्क का आशय यह है, कि अर्थक्रिया में सामर्थ्य का होना अथवा अर्थक्रिया में सामर्थ्य का न होना, इन दो ही प्रकारों के विषय हो सकते हैं, अर्थात् विषय या तो अर्थक्रिया में समर्थ हो सकता है या अर्थक्रिया में असमर्थ। इससे भिन्न विषय की कोई अन्य स्थिति नहीं हो सकती, अतः विषय के दो ही विकल्प हैं— अर्थक्रिया में समर्थ विषय 'स्वलक्षण' है और अर्थक्रिया में असमर्थ विषय सामान्यलक्षण है।^{१९} इस प्रकार विषय का द्वैविध्य स्पष्ट है। शक्तत्व और अशक्तत्व रूप ये दो विरुद्ध

धर्म एक विषय में नियोज्य नहीं हैं अतएव दो विषय होंगे और वे विरुद्ध धर्मवाले होंगे। आचार्य प्रज्ञाकर की इस पर व्याख्या है कि प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही वास्तविक रूप से प्रमेय के ज्ञान हैं, क्योंकि ये दोनों विशेष एवं सामान्य रूपवाले हैं और चूँकि विशेष और सामान्य से भिन्न प्रतिपत्ति का और कोई प्रकार नहीं होता। प्रज्ञाकर की एक और महत्वपूर्ण टिप्पणी यह है कि विषय का द्वैविध्य प्रतिपत्ति के प्रकार का द्वैविध्य है। इसका आशय यह है कि एक ही विषय की दो प्रकार से प्रतिपत्ति के कारण हम विषय-द्वैविध्य मानते हैं। इसकी विशद चर्चा हम 'मेयं त्वेकं स्वलक्षणम्' की विवेचना के प्रसंग में करेंगे। प्रज्ञाकर के लिये प्रतिपत्ति-भेद ही प्रमाण-भेद है और यही विषय-भेद भी है।⁹ यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि प्रतिपत्ति-भेद ही विषय भेद है, यह कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि, किसी अन्य में भिन्नता होने पर अन्य की भिन्नता नहीं होती। प्रज्ञाकर कहते हैं कि विरोधी का कथन सत्य है। हम भी मानते हैं कि अश्व के भेद से गाय आदि की रूपभिन्नता नहीं होती है। किन्तु ऐसा नहीं होने का कारण यह है कि अश्व और गाय में संगति का अभाव है। किन्तु यही बात ज्ञान और ज्ञेय के विषय में नहीं मानी जा सकती, क्योंकि, यहाँ पर दोनों में संगति है। पदार्थों के बोध की स्थिति सर्वदा ज्ञानाश्रित होती है। ज्ञानान्तर के कारण वही अर्थ अन्य अर्थ के रूप में जाना जाता है। अतः, जब कोई वस्तु ज्ञान को साक्षात् उत्पन्न करने की शक्ति के रूप में प्रतीत होती है, तब चूँकि वह अपने रूप के द्वारा लक्षित होती है, अतः वह 'स्वलक्षण' है, और जब पारम्पर्य सामर्थ्य के द्वारा उसी की प्रतीति होती है, तो चूँकि सामान्य रूप के द्वारा उसका लक्षण होता है, अतः वह 'सामान्यलक्षण' है।¹⁰ यह भी ध्यानीय है कि प्रज्ञाकर परम्परा शक्ति को पर्युदासवृत्ति के द्वारा 'अशक्ति' कहते हैं। 'अशक्ति' प्रसज्यवृत्तिरूप अभाव का द्योतक नहीं है।

यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि, सामान्य यदि अर्थक्रियाकारी नहीं है, तब तो केशोण्डुक ज्ञान में प्रतिभासित होने वाला केशादि भी सामान्य होगा। प्रज्ञाकर का उत्तर है कि ऐसा नहीं है, अर्थात् केशोण्डुक ज्ञान में प्रतिभासित होने वाला केशादि सामान्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि केशादि सामान्यरूप अर्थ नहीं हैं। इसका कारण यह है कि यहाँ केशादि का अर्थ के रूप में निश्चय नहीं होता। जहाँ व्यवहार करने वाले को अर्थ का अध्यवसाय होता है, तो उसे अर्थ (स्वलक्षण या सामान्यलक्षण) कहा जाता है। किन्तु, जहाँ अर्थबुद्धि ही नहीं है (जैसे केशोण्डुक ज्ञान में प्रतिभासित होने वाले केशादि में) वह सामान्य कैसे कहा जायेगा?"

द्वितीय तर्क का आशय यह है कि सदृशत्व और असदृशत्व इन दो ही विकल्पों में विषय अथवा अर्थ को सोचा जा सकता है। विषय या तो सदृश होंगे या

असदृश। जो कुछ भी सदृश रूप के द्वारा प्रतीत होता है वह 'सामान्यलक्षण' है और जो असदृश रूप से प्रतीत होता है वह विशेषलक्षण या 'स्वलक्षण' है। सर्वव्यक्तिसाधारणत्व (सभी व्यक्तियों में सामान्यत्व के कारण, जैसे, घटेतर व्यावृत्ति की जाती है) के कारण जो सदृश है वह हुआ सामान्य और जो असदृश है वह हुआ 'स्वलक्षण', क्योंकि जो असदृश है वह सब तरह से व्याकृत होता है।¹² चूँकि असदृशत्व और सदृशत्व एक दूसरे का व्यवच्छेद करते हैं, अन्योन्यव्यवच्छेदात्मक हैं, अतः उन दोनों के बीच कोई तीसरी कोटि या स्थिति नहीं हो सकती। इस कारण, जिसकी कल्पना की जा रही है, यदि वह सदृश है तो सामान्य है और यदि असदृश है तो 'स्वलक्षण' है। आचार्य प्रज्ञाकर इस तर्क की विवेचना में यह बतलाते हैं कि 'गोसदृश गवय होता है', इस प्रकार के उपमान के द्वारा ज्ञात होने वाला 'गवय' 'सामान्यलक्षणरूप' नहीं, क्योंकि 'गवय' के ज्ञान में तो स्वरूप की वेदना होती है और हम जिस सदृशत्व की बात कह रहे हैं उसका अर्थ यह है कि सदृशरूप के द्वारा ही जिस संवेदन का उदय होता है, वह सामान्यलक्षण होता है। 'गवय' की प्रतीति में तो विशेष प्रतिपत्ति होती है। यदि उपमानवादियों की ओर से कहा जाय कि वहाँ पर सदृशरूपता की प्रतीति होती है, तो हम बौद्ध उसका निषेध करेंगे, क्योंकि तदरूप की प्रतीति व्यतिरेक के द्वारा नहीं होती। यह सदृश है, ऐसा निश्चय कैसे होता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अध्यवसाय के होने पर भी पृथक् रूप में सादृश्यज्ञान नहीं होता। पृथक् प्रतीति का अभाव होने पर जो रिश्ति होती है वही अद्वयवेदन है।¹³

तृतीय तर्क में भी विचार के व्याघातक नियम और मध्यवर्ती निषेध नियम के आधार पर शब्द के विषयत्व और शब्द के अविषयत्व हेतु से धर्मकीर्ति विषयद्वैविध्य की सिद्धि करते हैं। शब्द का विषय और शब्द का अविषय, इससे अन्य कुछ है नहीं, क्योंकि जो शब्द का विषय है और जो शब्द का विषय नहीं है, इसमें सब कुछ आ जाता है, सभी का संग्रह हो जाता है, अतएव इनसे अन्य होने के लिए कुछ शेष नहीं रह जाता। संसार में जो भी विषय हैं, वे या तो शब्द के विषय होंगे या अविषय। अतएव विषय-द्वैविध्य है। शब्द का विषय 'सामान्यलक्षण' है और जो शब्द का विषय नहीं है, वह 'स्वलक्षण' है।¹⁴ आचार्य प्रज्ञाकर इसे स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि हमारे पक्ष में यह अनुपपत्ति दिखलाने का प्रयास किया जा सकता है कि 'यदि शब्द का विषय सामान्यलक्षण है, तब तौ, शब्द का भी प्रामाण्य मानना चाहिए, क्योंकि, आप बौद्ध शब्द का सामान्यविषयत्व मान रहे हैं। प्रज्ञाकर कहेंगे कि उपयुक्त आक्षेप हमारे पक्ष के गलत ज्ञान पर आधारित है, क्योंकि हम यह मानते हैं कि जो परार्थानुमान है, 'सामान्यलक्षण' उसका विषय है। हमारा यह पक्ष नहीं है कि शब्द का सामान्य ही विषय है, अपितु

हम यह कहते हैं कि सामान्यलक्षण शब्द का अविषय नहीं है। सामान्यलक्षण ही शब्द का विषय होता है, 'स्वलक्षण' शब्द का विषय नहीं होता। आशय यह है कि हम बौद्धों के अनुसार शब्द का ही विषय सामान्य है। 'शब्द का जो विषय है वह सामान्य ही है' हम ऐसा नहीं कहते। इसी प्रकार हमारा यह भी पक्ष है कि अनुमान का अविषय ही स्वलक्षण है। हम यह नहीं कहते कि 'अविषय भी स्वलक्षण ही है।' अतः हमारे पक्ष में दोष नहीं है। जैसे शब्द का विषय बनने वाले कुछ सामान्य पदार्थ अनर्थ होते हैं, वैसे ही शब्द का विषय न बनने वाले कुछ स्वलक्षण भी अनर्थ होते हैं।¹⁵

चतुर्थ तर्क में धर्मकीर्ति यह इंगित करते हैं कि विषय के अतिरिक्त अन्य कारणों, जैसे मनस्कार, सादगुण्य, संकेत का ग्रहण आदि कारणों के होने पर ग्राहिका बुद्धि सामान्य में होती है और स्वलक्षण में वह ग्राहिकाबुद्धि नहीं होती, इस कारण विषय-द्वैविध्य है। बौद्ध दार्शनिक इन्द्रियविज्ञान की उत्पत्ति में चार, निमित्त मानते हैं—विषय, इन्द्रिय, मनस्कार और आलोकादि। इनमें विषय आलम्बन प्रत्यय, इन्द्रिय अधिपति प्रत्यय, मनस्कार समनन्तर प्रत्यय और आलोकादि हेतुप्रत्यय हैं। जब विषय के अतिरिक्त अन्य निमित्त हों, अर्थात् मनस्कार, इन्द्रिय और आलोकादि हों, किन्तु विषय वहाँ न हो तो, ग्राहिका बुद्धि का सामान्य में सत्त्व होता है। किन्तु, उपर्युक्त स्थिति में, स्वलक्षण में ग्राहिकाबुद्धि का अभाव होता है। इस प्रकार विषय के न रहने पर तथा शेष तीन निमित्तों के रहने पर ग्राहिकाबुद्धि का सामान्य में भाव और स्वलक्षण में अभाव यह सिद्ध करता है कि मेय-द्वैविध्य है। जहाँ विषय के रहने पर और अन्य निमित्तों का सद्भाव होने पर बुद्धि होती है वह सामान्य है और जहाँ विषय का सद्भाव न होने पर और अन्यनिमित्तों का सद्भाव होने पर बुद्धि नहीं होती, वह स्वलक्षण है। इससे अतिरिक्त कोई अन्य प्रकार संभव है नहीं। इस प्रकार ग्राहिकाबुद्धि का विषय होना अथवा ग्राहिकाबुद्धि का विषय न होना, यही संभव है। इस प्रकार स्वलक्षण और सामान्यलक्षण ही, अतएव विषय-द्वैविध्य ही, संभव है।¹⁶

जो स्वरूप के द्वारा लक्ष्यमाण है वह स्वलक्षण है तथा इससे गिन्न रूप में जो लक्ष्यमाण है वह सामान्यलक्षण है एवं परोक्ष है। अन्यनिमित्तों के होने पर जहाँ ज्ञान या सत्त्व नहीं है, वह सामान्यलक्षण है, क्योंकि, जो उपलभ्यमान नहीं है उसको स्वरूप के द्वारा लक्षित करना शक्य नहीं है।¹⁷

मान-द्वैविध्य की सिद्धि

प्रमेय-द्वैविध्य न तो प्रत्यक्ष के द्वारा, न अनुमान के द्वारा, अथवा, न तो, इनसे अन्य प्रमाण के द्वारा सिद्ध हो सकता है, अतएव, उसके आधार पर होने वाला दो

प्रमाण का सिद्धान्त भी सिद्ध नहीं हो सकता है। पुनश्च, यदि प्रमेय-द्वैविध्य मान भी लें, तो भी, प्रमाण को भी द्विविध ही होना चाहिए, ऐसा कैसे कहा जाता है?¹⁸ आचार्य प्रज्ञाकर बौद्धपक्ष को स्पष्ट करते हैं कि मेयद्वैविध्य प्रत्यक्ष के द्वारा ही सिद्ध है। सदृश और असदृश प्रतीति प्रतीति का ही धर्म है और वह स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष-सिद्ध है। प्रतीति की अपने स्वरूप में, भ्रान्ति से संगति नहीं होती है। यदि प्रतीति के स्वरूप में भ्रान्ति की शंका की जाय, तो व्यवहार ही नहीं हो सकेगा अथवा वादी-प्रतिवादी के प्राश्निक वचन के हेतु की अवतारणा ही नहीं होगी, जैसे कि संवेदन के बिना किसका वचन कहाँ पर प्रवर्तित होगा? पुनश्च, भावों का प्रतीति-भेद होने पर अन्य भावों की भी भिन्नता होती है, अतएव, ऐसी स्थिति में क्या तदरूप प्रमाण की भिन्नता नहीं होगी?¹⁹

प्रवृत्ति एवं निवृत्ति लक्षण के कारण व्यवहारतः प्रामाण्य की बात होती है, अर्थात् जब कोई ज्ञान व्यवहारतः प्रवृत्ति या निवृत्ति लक्षणवाला होता है तब उसका प्रामाण्य माना जाता है, ऐसी प्रमाण के सामान्यलक्षण के प्रसंग में, प्रथम परिच्छेद में विवेचना कर इस प्रसंग में (प्रत्यक्ष परिच्छेद) धर्मकीर्ति एक सविकल्पक ज्ञान को ही प्रत्यक्ष मानने वालों के लिए 'स्वलक्षण' और 'सामान्यलक्षण' इन दोनों की प्रमेयता को सिद्ध कर रहे हैं। प्रज्ञाकर कहते हैं कि 'इदं रूपम्' इस प्रकार का स्वलक्षण तो प्रत्यक्षतः ही सिद्ध है, केवल पूर्वार्थक्रियाकारी पदार्थ का समानाकारतारूप साधर्म्य, चूँकि वह परोक्ष है, अतः उसे प्रत्यक्ष से अन्य प्रमाण अर्थात् अनुमान के द्वारा हम सिद्ध कर रहे हैं।²⁰ विरोधी की आशंका है कि प्रत्यक्ष ही प्रवर्तक होने के कारण प्रमाण है, अनुमान प्रतीत्यन्तर होने पर भी प्रवर्तक नहीं होने के कारण प्रमाण नहीं है। प्रज्ञाकर उत्तर देते हैं कि प्रत्यक्ष से अन्य जो परोक्ष प्रतीति है वह भी प्रवर्तक होती है। हम पाते हैं कि धूमादि के आधार पर लोग अग्नि आदि के ग्रहण में प्रवृत्त होते हैं। यहाँ प्रवृत्ति तो प्रत्यक्ष के बिना भी होती है। अनुमान भी अन्वय और व्यतिरेक के लिए उपयोगी है। केवल प्रत्यक्ष प्रतीति ही प्रथम प्रवर्तक रूप में देखी जाती है, ऐसा भी नहीं है।²¹ ऐसा कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष तो अनुमान के बिना भी प्रवर्तक होकर स्वार्थ की सिद्धि कर लेता है, परन्तु अनुमान स्वार्थ की सिद्धि बिना प्रत्यक्ष के नहीं कर पाता। अतः यह प्रमाणित होता है कि अनुमान प्रमाण नहीं है, प्रमाण प्रत्यक्ष ही है।²² प्रज्ञाकर कहते हैं, यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि अभ्यास के बिना, तो प्रत्यक्ष में हमें प्रवर्तकत्व का दर्शन नहीं होता, किन्तु अनुमान के प्रसंग में ऐसा नहीं है, फलतः अनुमान की वरीयता सिद्ध होती है। पुनश्च, ऐसा भी कोई नियम नहीं है कि जो चीज (वस्तु) एक बार अनुपयोगी हो गयी, तो बाद में भी वह अनुपयोगी ही रहे। अनुमान अनुपयोगी नहीं है, क्योंकि हम लोगों की उसमें प्रवृत्ति पाते हैं और जो वस्तु अनुपयोगी होती है उसमें लोगों की प्रवृत्ति नहीं होती।²³ पुनश्च, यह कहना अत्यन्त अयुक्त है कि

जो वस्तु अर्थित्व का विषय है वह अनुपयोगी है! इससे यह फलित होता है कि अपने क्षेत्र में प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों का ही प्रामाण्य है। लोक में भी लोग ऐसा ही मानते हैं। जब प्रत्यक्ष की भाँति अनुमान भी प्रवर्तक होता है तो प्रत्यक्ष को प्रमाण मानना और अनुमान को प्रमाण नहीं मानना अयुक्त है। पुनश्च, इस बात का विवेचक कौन है कि प्रत्यक्ष ही प्रवर्तक है, अनुमान प्रवर्तक नहीं? अतः या तो दोनों का प्रामाण्य है, अन्यथा किसी का नहीं।²⁴

पूर्वपक्ष से यह कहा जा सकता है कि जहाँ पर अनुमान होता है वहाँ पर भी प्रत्यक्ष ही प्रवर्तक होता है, अनुमान तो सत्तामात्रतः उपयोगी है। प्रवर्तन में वह कोई सहयोग नहीं करता। अतः प्रत्यक्ष की ही प्रमाणता मानी जानी चाहिए। प्रज्ञाकर का कहना है कि ऐसी प्रतीति का अभाव होने के कारण किसी का भी यह निश्चय नहीं होता कि केवल अकेला प्रत्यक्ष ही प्रवर्तक होता है। साथ ही हम ऐसा निश्चय किसी का भी नहीं पाते कि प्रत्यक्ष में सत्तामात्रतः प्रवर्तकत्व है। वस्तुतः अन्य और व्यतिरेक के द्वारा ही सभी का उपयोग सिद्ध होता है और इस दृष्टि से दोनों का उपयोग सिद्ध है। पुनश्च, हम बौद्धों में सारा कुछ प्रतीत्यसमुत्पादमात्रक है। प्रमाणव्यापार भी प्रतीत्यसमुत्पादमात्रक है। परमार्थतः किसी की भी कहीं पर भी सव्यापारता नहीं है। संवृति की दृष्टि से सव्यापारता है, परमार्थतः नहीं।²⁵ प्रज्ञाकर कहते हैं कि एक अन्य कारण भी है अनुमान को प्रमाण मानने का। वह कारण यह है कि परलोकादि जैसे अप्रत्यक्ष या परोक्ष विषय की सिद्धि अनुमान से ही होती है, प्रत्यक्ष से नहीं। यदि अनुमान को प्रमाण नहीं मानेंगे, तो परलोकादि तो असिद्ध रहेगा ही, हम में नास्तिकता की भी प्रसक्ति होगी। प्रत्यक्ष से परलोकादि की सिद्धि हो नहीं पाती। यदि हो पाती, तो आयासबहुल अनुमान की शरण ही क्यों ली जाती? हम बौद्ध, अनुमान को प्रमाण न मानने वाले चार्वाक मत का इसी अभिप्राय से खण्डन करते हैं, किसी अन्य अभिप्राय से नहीं। पुनश्च, यदि परलोकादि अर्थ की सिद्धि प्रत्यक्ष से ही मान ली जाय, तो जितने भी पदार्थ हैं वे सभी कार्य के कारण बन जायेंगे और तब पुरुष सर्वज्ञ हो जायगा।²⁶ कोई भी अनुमानवादी, विषयसम्बन्ध के बिना अनुमान नहीं मानता। अतः 'यह घट के समान है' इस प्रकार सदृशरूपेण जो प्रतीत होता है, वह सामान्यलक्षण है और स्वसंवेदनप्रत्यक्ष का विषय होता है।

ऊपर अनुमान के सम्बन्ध में 'कार्यहेतु' के विषय को प्रदर्शित करने के अनन्तर प्रज्ञाकर शब्द के सम्बन्ध में भी कार्यहेतु के विषय को प्रदर्शित करते हैं कि शब्द की विषयता भी इसी प्रकार सिद्ध होती है। वे कहते हैं कि लोग शाब्दिक ज्ञान से जानने योग्य पदार्थ को भी 'शब्द' कहते हैं। हम जानते हैं कि शाब्दविषय के रूप में उसी

को माना जाता है जो पदार्थ वक्ता की बुद्धि में उपस्थित रहता है और जिसे वक्ता शब्द के द्वारा अन्य को ज्ञात कराता है। इसी प्रसंग में उपमान की स्थिति को स्पष्ट करते हुए प्रज्ञाकराचार्य कहते हैं कि 'गाय के सदृश गवय (नीलगाय) होता है, इस तरह के सादृश्य ज्ञान का साधन उपमान प्रमाण कहलाता है। किन्तु गवय (नील गाय) का स्वरूप केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात होता है; केवल सादृश्य का अवगम शाब्दप्रत्यय से होता है। आशय यह है कि उपमान 'गवय' के स्वरूप को ज्ञात नहीं कराता, स्वरूप का ज्ञान तो केवल प्रत्यक्ष से होता है, जब हम जंगल या चिड़ियाघर आदि में जाकर गवय का साक्षात्कार करें। 'नीलगाय गाय के सदृश होती है' वक्ता द्वारा कहे गये इन शब्दों को सुनकर उसे केवल सादृश्य का ज्ञान होता है। प्रज्ञाकर कहते हैं कि ऐसे स्थल में 'अनेन सदृशोऽसौ', 'तेन सदृशोऽयम्' इन दो वाक्यों द्वारा एक ही अर्थ का कथन किया जाता है और तदनु रूप ही हम 'गवय' आदि शब्दों का व्यवहार करते हैं। किन्तु जब 'गो के सदृश गवय है' इस वाक्य का प्रयोग किया जाता है उस समय 'गो' एवं 'गवय' दोनों का प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान शक्य नहीं। कारण यह है कि उस समय गाय तो गोशाला में है, किन्तु वहाँ 'गवय' नहीं और 'गवय' तो वन में है, वहाँ गाय नहीं। अतः शाब्दसादृश्य से केवल व्यवहार ही होता है, अर्थ, स्वलक्षण का प्रत्यक्ष नहीं। स्पष्ट है कि शब्द केवल सादृश्य रूपी विकल्प का ही बोधक है। प्रज्ञाकर यहाँ पर यह भी बतलाते हैं कि सादृश्य तथा असादृश्य आदि सबकुछ परोक्ष (अनुमान) एवं परोक्षेतर (प्रत्यक्ष) के विषय हैं तथा अर्थक्रिया में सामर्थ्यासामर्थ्य के द्वारा ज्ञात होते हैं।"

विरोधपक्ष से कहा जाता है कि परोक्ष अर्थ में प्रत्यक्ष की गति नहीं होती, तो आप बौद्ध उपर्युक्त बात कैसे कर रहे हैं? प्रज्ञाकर का उत्तर है कि आपका कथन युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि ज्ञान तथा ज्ञानरूपधर्मी का ग्रहण स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से होता है, अतः ज्ञान का धर्मीभूत जो परोक्ष अर्थ है उसका भी ग्रहण प्रत्यक्ष से होगा। आशय यह है कि ज्ञान और उसके धर्मभूत आकार दोनों का ही ज्ञान स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से होता है, हाँ उससे जो भिन्न है उसे हम परोक्ष मानते हैं। पुनश्च, यदि यह संदेह हो कि जो प्रत्यक्ष के द्वारा अज्ञात है उसमें प्रत्यक्षता कैसे स्वीकार की जाती है, तो हमारा उत्तर है कि ज्ञानरूप धर्मी का प्रत्यक्ष होने के कारण उसके धर्म-धर्मी का प्रत्यक्ष माना जाता है और यह सुज्ञात तथ्य है कि धर्म-धर्मी के मध्य तादात्म्यभाव होता है। यहाँ विरोधपक्ष से यह शंका की जाती है कि यह ठीक है कि धर्म धर्मी का स्वभाव है, अतः यदि प्रत्यक्ष के द्वारा परोक्ष अर्थ की प्रतीति हुई रहती, तो प्रत्यक्ष से ही उसके धर्म-धर्मी का ज्ञान हो जाता। किन्तु जो प्रत्यक्ष से गृहीत अर्थ है वही अनुमान का विषय नहीं होता। अतः अनुमानावतार का अवकाश नहीं। प्रज्ञाकर का उत्तर है कि हमारे यहाँ पदार्थ का प्रत्यक्ष इन्द्रियों के द्वारा और ज्ञान का प्रत्यक्ष स्वसंवेदन के द्वारा माना जाता है। फलतः धर्म

के आश्रयभूत का ज्ञान भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से माना जाता है तथा उस धर्म के विषयीभूत पदार्थ का ज्ञान इन्द्रियप्रत्यक्ष के द्वारा माना जाता है। हम यह मानते हैं कि प्रत्यक्ष के द्वारा परोक्षता का ज्ञान होने पर भी वस्तु का ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है। पुनश्च, धर्म द्विविध होता है— विधिरूप एवं निषेध रूप। विधि रूप धर्म वस्तु से अव्यतिरिक्त (अभिन्न) होता है और इनका ग्रहण एक प्रमाण से होता है, जबकि निषेध रूप धर्म ग्रहणसापेक्ष नहीं होता और वह परोक्षत्वरूप धर्म प्रतीति है। उसका ग्रहण अन्य द्वारा होता है। अतः अनुमान का अवतरण संभव है।²⁶

विरोधी पुनः प्रश्न करता है कि परोक्ष विषय में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं होने पर अनुमान भी वहाँ व्यापारवान कैसे होगा? प्रज्ञाकर का उत्तर है कि हमारे यहाँ स्वसंवेदनप्रत्यक्ष के द्वारा वस्तु की परोक्षता की सिद्धि की जाती है, अनुमान के द्वारा नहीं। इस प्रकार प्रत्यक्षप्रसिद्ध परोक्षता के होते हुए भी अर्थक्रियासमर्थ अग्नि आदि के अर्थ की सिद्धि हम अनुमान से करते हैं, परिणामतः वहाँ पर पहले प्रत्यक्ष प्रवृत्त हो जाता है, फिर बाद में उसमें अनुमान का प्रवर्तन मानने में कोई व्याघात नहीं है।²⁷ आशय यह है कि वस्तुरूप की प्रतिपत्ति में अनुमान का सामर्थ्य हम नहीं मानते, अनुमान से पहले ही उसमें प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति हो जाती है। पुनश्च, कोई भी अर्थी परोक्ष विषय में प्रत्यक्ष के प्रवर्तन की अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि अनभीष्ट में भी प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति हो जाती है। परोक्षवस्तु के सिद्ध होने पर ही उसका प्रामाण्य सिद्ध होता है और इससे तत्सम्बन्ध की प्रसिद्धि हो पाती है। ज्ञान में वस्तुसम्बन्धिता मात्र को प्रामाण्य कहा जाता है और प्रामाण्य में वस्तु के सम्बन्ध के होने पर ही साध्य (अग्नि) लिंग (धूम) का विषय माना जाता है।³⁰

सत्यद्वयचिन्ता

मेय—द्वैविध्य के लिए चार तर्कों को प्रस्तुत करने के बाद धर्मकीर्ति सत्यद्वय की विवेचना करते हैं और अर्थक्रियासमर्थ को इस प्रसंग में परमार्थसत् और इससे अन्य को संवृति सत् कहकर उन्हें स्वलक्षण और सामान्यलक्षण के साथ योजित करते हैं। आचार्य प्रज्ञाकर इस प्रसंग में माध्यमिकों के समान ही यह प्रदर्शित करते हैं कि अर्थक्रियासमर्थ के विषय में जितनी भी अवधारणाएँ हैं वे विचार करने पर ठहर नहीं पातीं।³¹ वे क्रमशः बौद्ध—धारणा, मीमांसा, न्यायवैशेषिक और सांख्य की एतद्विषयक धारणाओं की, कारणनियम के साथ ही, परीक्षा कर यह प्रदर्शित करते हैं कि अर्थक्रियासमर्थ की वस्तुवादी धारणा किसी भी रूप में, परीक्षा करने पर, ठहर नहीं पाती। इसकी व्यवस्था, अतः, संवृति के स्तर पर ही की जानी चाहिए और तदनुकूल ही प्रमाणमीमांसा भी संवृति के धरातल पर हम कर रहे हैं। संवृति के धरातल पर हम

आस्तिक मतों की व्यवस्था का आत्मम्बन न लेकर अपने ही व्यवस्था के आधार पर प्रमाणमीमांसा करना अधिक युक्तियुक्त समझते हैं और प्रमाणमीमांसा के प्रसंग में परमार्थ से 'स्वलक्षण' तथा संवृति से 'सामान्यलक्षण' को लेकर प्रत्यक्षादि की विवेचना करते हैं।³²

मेयद्वैविध्य के आधार पर प्रमाणों की विवेचना में विज्ञावादियों का अपना जो पक्ष है वह 'अशक्तं सर्वमिति' श्लोक पर प्रज्ञाकर एवं मनोरथनन्दि की विस्तृत व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है।³³ अर्थक्रियाकारित्व से जो कुछ इष्ट है वह सब अशक्त है, ऐसा आक्षेप नहीं किया जा सकता, क्योंकि हम पाते हैं कि बीज के होने पर अंकुर होता है और बीज के नहीं होने पर अंकुर भी नहीं होता। माध्यमिक इस उत्तर पर कहते हैं कि अर्थक्रियासमर्थ की शक्ति सांवृतिक है। कार्यकारणभाव मात्र व्यवहार में सिद्ध है, परमार्थतः नहीं। प्रत्यक्ष, बीज और अंकुर के अन्वय-व्यतिरेक को ग्रहण करने में, समर्थ नहीं है क्योंकि बीज को ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष और अंकुर को ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष केवल अपने-अपने विषय अर्थात् बीज व अंकुर तक ही व्यवस्थित होता है। यदि इस पर उत्तर दिया जाय कि क्रम से अन्वय और व्यतिरेक का ग्रहण होता है, तो, यह प्रश्न उठेगा कि अन्वय और व्यतिरेक को ग्रहण करने वाले दो प्रत्यक्षों से भी अन्वय-व्यतिरेक का ग्रहण किसके द्वारा होता है? मात्र बीज अथवा मात्र अंकुर को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष से इसका ग्रहण तो होता नहीं। क्रम से बीजांकुर के अन्वय और व्यतिरेक को ग्रहण करने वाले दो प्रत्यक्षों से भी अन्वय-व्यतिरेक का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि, दो ज्ञान और दो ज्ञेयों में सहअस्तित्व नहीं होता। अतएव, जब ज्ञान और ज्ञेय में सह-अस्तित्व नहीं है, तो बीजांकुर मात्र का ग्रहण होगा, अन्वय-व्यतिरेक का नहीं। यदि इस पर कहा जाय कि क्रम का ग्रहण ही कारण-कार्य-भाव का ग्रहण माना जाना है, तब तो, घट और कुम्भकार आदि में भी वह बात ही हो। पुनश्च, ऐसी स्थिति में जिस पूर्ववर्ती के साथ घटकार्य का क्रम ग्रहीत होगा उनमें कार्यकारणभाव का ग्रहण मानना चाहिए। इतना ही नहीं, क्रम का भी कोई ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि घट एवं कुम्भार से इतर जिस क्रम की बात प्रतिपक्षी कर रहा है (प्रतिपक्षी से तात्पर्य यहाँ बौद्ध प्रतिपक्षी से है) उसकी वेदना नहीं होती, अतएव, पूर्वापर का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि बीज का प्रत्यक्ष करने वाले ज्ञान को वर्तमानता का ग्रहण होता है। उसे क्रम का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि क्रमग्रहण के लिए पूर्व और अपर का ग्रहण अनिवार्य है, जबकि स्वसंवेदन द्वारा वर्तमान का ग्रहण होता है, पूर्व या अतीत का नहीं। यदि इस पर यह कहा जाय कि बीज जब है तभी उसका अंकुर से पूर्वत्व है, अर्थात् बीज जब बीज के रूप में रहता है, तभी उसका पूर्वत्व रहता है, तो माध्यमिक कहते हैं कि ऐसी स्थिति में तो बाद को इसका पूर्वत्व होगा नहीं। पुनश्च,

यदि विज्ञानवादियों का 'यदैवबीजंतदेवांकुरात्पूर्वम्' यह पक्ष मान लिया जाय तब तो पूर्वतया ही इसका प्रतिभास भी होना चाहिए, किन्तु ऐसा है नहीं।³⁴

विज्ञानवादी यह कह सकते हैं कि अंकुर का राहित्य ही पूर्वत्व है और उसका तो ग्रहण होता ही है, तो माध्यमिकों का इस पर कहना है कि अंकुरराहित्यरूपपूर्वत्व तो बीज से इतर, अन्य सभी के साथ में भी है, फलतः ये भी कारण हो जायेंगे। पुनश्च, वर्तमानकाल से प्राग्भावित्व को पूर्वत्व कहा जाता है और यदि वह वस्तु का रूप है, तब तो, कभी भी वर्तमानता की स्थिति नहीं होगी, क्योंकि, वर्तमानता और वर्तमानता के प्राग्भावित्व में विरोध है। यदि विज्ञानवादियों का यह पक्ष हो कि अंकुर की वर्तमानता या प्राग्भावित्व ही पूर्वत्व है और वह पूर्वत्व बीज के वर्तमानत्व से अविरुद्ध है, अतएव, वर्तमानता का अभाव नहीं है, तब तो बीज के ग्रहण में पूर्वता का ग्रहण प्राप्त हो गया। किन्तु, तथ्य यह है कि जिस प्रकार बीजग्राही ज्ञान में बीज का स्वरूप प्राप्त होता है, उसी प्रकार बीजग्राही ज्ञान में पूर्वता का ग्रहण कहीं भी प्राप्त नहीं होता। विज्ञानवादी यह कह सकते हैं कि पूर्वत्व सापेक्ष है। माध्यमिकों का इस पर आक्षेप है कि सापेक्ष पूर्वत्व के प्रतियोगी की जब प्रतीति ही नहीं होती, तो फिर इसकी प्रतीति कैसे होगी? जो वस्तु है उसमें वस्तुरूप नहीं हो, ऐसा नहीं होता। जो वस्तु होती है उसे वस्तुरूपावभासी ज्ञान में प्रतिभासित होना ही चाहिए, नहीं तो ज्ञान और ज्ञेय में विषय और विषयीभाव ही नहीं होगा। इस कारण, प्रत्यक्ष से कार्य-कारणता का ग्रहण नहीं होता।³⁵ अनुमान से भी कार्य-कारणभाव का ग्रहण नहीं हो सकता। जो सर्वथा परोक्ष अर्थ है उसमें अनुमान की वृत्ति नहीं होती, क्योंकि अनुमान की प्रवृत्ति व्याप्ति-ग्रहणपूर्वक होती है। न तो प्रत्यक्ष के बल से होने वाला स्मरण ही कार्यकारणता के ग्रहण में समर्थ है। स्मरण स्वतंत्र प्रमाण भी नहीं है। स्मरण जब यथानुभव में प्रवर्तित होता है तभी प्रमाणव्यापार का व्यवस्थापक होता है, अन्यथा नहीं। चूँकि, कार्यकारणता का अनुभव हुआ ही नहीं रहता, अतः उसका कारण भी नहीं हो सकता, क्योंकि स्मरण अनुभूत विकल्प का ही होता है। अतएव कार्य-कारणभाव विकल्प मात्र है, उसकी वस्तुव्यवस्था नहीं है। जब तक गंभीर विचार नहीं किया जाता, तभी तक रमणीय लगने वाले इस कार्य-कारणभाव का व्यवहार संवृति की ही अपेक्षा से है, परमार्थतः नहीं।³⁶

आचार्य प्रज्ञाकर अपने द्वारा मान्य माध्यमिकों के पक्ष से अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों की एतद् विषयक मान्यता का उपर्युक्त ढंग से ही निराकरण करते हुए कहते हैं कि यदि यह पक्ष उठाया जाय, कि कारण के अभाव में कार्य नहीं होता, इस अनुपलम्भ के द्वारा कारण-कार्यभाव की प्रतीति होती है तो इसमें इतरेतराश्रयदोष

होगा। उदाहरणार्थ, उपर्युक्त स्थिति में हम प्रश्न पूछेंगे कि अनुपलम्भ प्रत्यक्ष से पर है या अपर? यदि यह प्रत्यक्ष से अपर है तो यह नाममात्र के लिए है और कार्यकारणभाव का साधन नहीं है। यदि अनुमानतः उसकी प्रकल्पना की जाय, तो फिर उसकी अवतारणा ही नहीं हो सकेगी, क्योंकि अनुमान अन्वय और व्यतिरेक से प्रतिबद्ध होता है।³⁷ पुनश्च, यदि प्रत्यक्ष ही अनुपलम्भ है, तो अनुपलम्भ में प्रत्यक्ष के भी उपर्युक्त दोष होंगे और यदि वह अनुमान है, तो वह अन्वय और व्यतिरेक से प्रवर्तित सम्बन्ध ही है, अतः अनुमान का अभाव होने से अन्वय-व्यतिरेक का ग्रहण नहीं होगा और उसका अभाव होने पर अनुमान की अवतारणा नहीं हो सकेगी, फलतः अनुमानों की अनवस्था हो जायेगी। अतः, अनुपलम्भ के द्वारा भी कारणकार्यभाव सिद्ध नहीं होता।³⁸

तर्क या अर्थापत्ति के आधार पर भी कार्यकारणभाव की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि इस समय किसी के अनन्तर होने वाला कार्य सर्वदा उसी के अनन्तर होगा, ऐसा कोई नियम क्यों? उत्तर रूप में यदि कहा जाय कि ऐसा इसलिए क्योंकि जो जिसके तुरत बाद में होता है वह उसका कार्य होता है, तब तो वस्त्रादि के अनन्तर होने वाला घड़ा आदि वस्त्र के कार्य हो जायेंगे। यदि इसे इस कारण न माना जाय, क्योंकि इसमें व्यभिचार है, तो हमारा कहना है कि व्यभिचार या वंचना कहाँ नहीं है? बार-बार के आनन्तर्य दर्शन से भी पूर्णतः आश्वस्त होने की स्थिति को प्राप्त नहीं किया जा सकता; अनाश्वस्तता की स्थिति बनी ही रहेगी। हाँ लोकव्यवहार अवश्य ही इसी प्रकार चलता है। अतः, निष्कर्ष निकला कि कारण में कार्यजननशक्ति का जो सांवृतिक ज्ञान होता है, उसी से लोकव्यवहार चलता है।³⁹

इन सारी विवेचनाओं का तात्पर्य यह है कि कार्यकारणभाव परमार्थतः नहीं है, अपितु, उसका व्यवहार संवृति में ही होता है। आचार्य कुमारिल ने संवृति और परमार्थ के भेद पर आक्षेप किया था और पूछा था कि संवृति सत्य किसे कहते हैं? यदि वह सत्य है, तो इसे संवृति क्यों कहते हैं और यदि वह मिथ्या है, तो, इसकी सत्यता कहाँ से होगी? कोई चीज सत्य भी हो और संवृति भी हो, ऐसा नहीं हो सकता।⁴⁰ उत्तर है कि विकल्प विज्ञान अथवा अधिभुक्ति ही संवृति है। यह अनादि वासना के बल से आया हुआ प्रतिभासमात्र है। स्वप्नप्रतिभास की तरह नीलादि भी असत्य हैं। हमारे इस पक्ष के द्वारा लोक-व्यवहार का उच्छेद नहीं हो रहा है, अतः, संवृति उपयोगितः सत्य है और ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं है।⁴¹ आचार्य प्रज्ञाकर का कहना है कि संवृति का अर्थ है— परमार्थतः असामर्थ्य। उत्पाद का अर्थ है— सामर्थ्य। जिस रूप के द्वारा उत्पाद होता है उसके द्वारा ही सामर्थ्य भी होता है। उत्पाद संवृति के द्वारा होता है,

परमार्थतः नहीं और यह उत्पाद प्रमाणशून्यता के कारण प्रतीति मात्र होता है। प्रमाण से जिसका परिच्छेद नहीं होता उसे ही संवृति कहते हैं।⁴² पुनश्च, विचार के द्वारा जिस अर्थ की प्रतीति नहीं होती वह संवृति अर्थ है। विचार प्रमाण कहा जाता है। संवृति के अर्थ ऐसे अर्थ हैं जिनकी प्रतीति प्रमाण के द्वारा नहीं होती, अतः वे मायार्थ की तरह हैं और तभी तक रमणीय हैं, जब तक उन पर गम्भीर विचार नहीं किया जाता। शास्त्रकारों की प्रतीति व्यावहारिक प्रतीति नहीं होती, जहाँ तक लोकव्यवहार है, वहाँ तक संवृति सत्य है। अतः प्रमाण और अप्रमाण का विभाग भी संवृति ही है। इसी पृष्ठभूमि में आचार्य धर्मकीर्ति ने कहा था कि अविश्ववादी ज्ञान प्रमाण है। चूँकि अविश्ववाद का अर्थ है— उपदर्शित अर्थ में प्राप्ति और प्राप्ति का अर्थ है— संवेद्यमानता। फलतः, यदि अर्थ संविदित हो गया, तो चूँकि वही अर्थ बाद को भी संविदित होगा, तो अर्थप्राप्ति की कामना क्यों? यदि ऐसा मान लिया जायेगा, तो सभी ज्ञान प्रमाण हो जायेंगे। यदि यह कहा जाय कि जो अर्थ संविदित हो चुका है उसे जब हम पुनः जानते हैं, तो यह बाद का जानना पहले से अन्य होता है, जिसको पहले के ज्ञान ने प्रदर्शित नहीं किया था, अतएव, उसकी प्राप्ति से हम उसको प्रमाण क्यों न मान लें, तो ऐसी स्थिति में सभी ज्ञान प्रमाण हो जायेंगे। पुनश्च, यदि यह कहा जाय कि जो प्रथम ज्ञान द्वारा उपदर्शित होता है उसमें भी कुछ अनुपदर्शित रह जाता है, अतएव उस अनुपदर्शित तथ्य की प्राप्ति के कारण हम बाद के ज्ञान को प्रमाण मानते हैं, तो यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि, जो अनुपदर्शित है उसमें प्रमाण का अभाव होता है।⁴³

अंततः, इस सारी लम्बी व्याख्या से प्रज्ञाकर धर्मकीर्ति के मंतव्य की, इन शब्दों में, घोषणा करते हैं कि 'परमार्थतः कुछ भी नहीं है, जो कुछ है वह जैसे-तैसे सांवृतिक दृष्टि से ही है। ऐसा होने पर भी प्रमाण—अप्रमाण की व्यवस्था करने पर हम विज्ञानवादी बौद्धों को कोई क्षति नहीं है। माध्यमिकों का जो पक्ष है वह हमें भी अभिप्रेत है, क्योंकि वस्तुतत्त्व का अतिक्रमण करके कोई रह नहीं सकता।'⁴⁴

धर्मकीर्ति यह मानते हैं कि अर्थक्रिया सामान्यलक्षण में नहीं होती, क्योंकि, सामान्यबुद्धि अन्वय—व्यतिरेक का अनुविधान नहीं करती। घटादिविकल्पबुद्धि का विषय सामान्य है। विकल्पात्मकबुद्धि की उत्पत्ति चूँकि प्राप्त संकेत एवं मनस्कार आदि के द्वारा होती है अतएव, विकल्पात्मकबुद्धि का सामान्य के साथ उस तरह का अन्वय और व्यतिरेक नहीं होता, जैसा कि चक्षु—रूपादि—बुद्धि का होता है। धर्मकीर्ति कहते हैं कि इससे यह भी विश्लेषित हो जाता है कि संकेत एवं मनस्कार आदि आन्तरिक अनुरोध के कारण होता है तथा द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय और संयोग—विभाग आदि में विकल्पात्मकबुद्धि ही है। पुनश्च, तैमिरिकबुद्धि में प्रतिभासित होने वाले केशादि

सामान्यलक्षण नहीं हैं, क्योंकि उनमें व्यवहार करने वालों की विषयबुद्धि नहीं होती। यदि यह पक्ष उठाया जाय कि ज्ञान का विषय होने के रूप में अध्यवसाय न होने के कारण किसी को सामान्य नहीं माना जाय और ऐसी स्थिति में अभाव भी सामान्य नहीं होगा और तब अनुपलब्धि अनुमान भी नहीं होगा, तो, बौद्धों का उत्तर है कि अभाव में यह दोष नहीं है, क्योंकि, उसका ज्ञेयत्वेन ग्रहण होता है। यद्यपि अभाव में अर्थरूपता का अध्यवसाय नहीं है, तथापि लोक का अभाव में ज्ञेयतया अध्यवसाय तो है ही।⁴⁵ स्पष्ट है कि अध्यवसाय दो तरह का होता है (1) अर्थरूपता का अध्यवसाय और ज्ञेयतया अध्यवसाय। वह ज्ञेय जो अर्थक्रियासमर्थ नहीं है, सामान्य ही है। धर्मकीर्ति कहते हैं, कि ज्ञानान्तर के द्वारा ज्ञेय होने की बात मानने पर तैमिरिकगम्य केशादि की समानता को यदि कोई चाहता है, तो हम बौद्धों को यह इष्ट है, क्योंकि इससे हमारे मत का प्रतिषेध नहीं होता। 'केशादि सामान्य नहीं हैं जब ऐसा कहा जाता है, तब बौद्धों का अभिप्रेत यह है कि जिस ज्ञान में केशोण्डुक प्रतिभासित होते हैं, उस ज्ञान में न तो केशादि की अर्थरूपता का अध्यवसाय होता है और न तो केशादि का ज्ञेयतया ही अध्यवसाय होता है।⁴⁶ किन्तु, यहाँ 'उस ज्ञान' शब्द पर ध्यान देना चाहिए। 'उस ज्ञान' के द्वारा, जिसमें केशादि प्रतिभासित होते हैं, केशादि का अध्यवसाय नहीं होता, तो क्या ज्ञानान्तर के भी द्वारा वे ज्ञेय नहीं होते? बौद्धों का कथन है कि ज्ञानान्तर के द्वारा ज्ञेय होने पर यदि किसी को सामान्य कहा जाय, तो, हमें यह इष्ट है। केशादि तैमिरिक ज्ञानगम्य हैं, ऐसा परामर्श जब बाद की विकल्पात्मकबुद्धि के द्वारा किया जाता है, तब केशादि का सामान्य होना बौद्धों को इष्ट है। आशय यह है कि तैमिरिक बुद्धि में प्रतिभासित होने वाले केश बाद के ज्ञान में विकल्पात्मकबुद्धि के द्वारा अध्यवसित होते हैं कि ये तैमिरिक-गम्य केश हैं और इस रूप में अर्थ के न रहने पर एवं अन्य निमित्तों के रहने पर ग्राहिकाबुद्धि उनमें होती है। इसलिए, बौद्धों को उपर्युक्त तरह के केशादि का सामान्य होना इष्ट ही है।

यदि तैमिरिकदृष्ट केशादि वस्तु या अर्थ नहीं हैं, तब तो, उनमें स्फुटाभता नहीं होनी चाहिए। इसके उत्तर में बौद्ध कहते हैं कि क्योंकि केशादि का ज्ञानाकारतया अर्थत्व है, अतएव, स्वलक्षणता के कारण उनमें भी स्फुटाभता है। यदि केशादि ज्ञानाकारतया स्वलक्षण हैं, तो फिर उनका सामान्य होना कैसे इष्ट है? धर्मकीर्ति इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि तैमिरिकोपलब्ध केशादि का अध्यवसाय करने वाली विकल्पिकाबुद्धि सामान्यविषया है। उनका आशय यह है कि तैमिरिक दृष्ट जो केशादि हैं उनका सामान्य रूप से व्यवसाय अथवा निश्चय करती हुई विकल्पिकाबुद्धि अध्यवसायरूप विषय से सामान्यविषया है। तैमिरिकबुद्धि तो स्वलक्षणविषया है, क्योंकि बुद्ध्याकार की स्वलक्षणता होती है। यह अन्य केशादि के समान है, जब यह ज्ञान होता

है, तो, ज्ञानरूप में सदृश व्यवहार ही होता है और चूँकि ऐसी स्थिति में स्वभावहेतुविषयता होती है, अतएव केशादि की भी प्रमेयता है। तैमिरिकज्ञानगम्य केशादिज्ञान की सामान्यरूपता इसलिए है, क्योंकि दूसरे विकल्पज्ञान के द्वारा, पहले के केशादि की समानता से उसे विषय बनाया जाता है। अतएव, वह सामान्यलक्षण है और ज्ञानरूप में चूँकि उसका अर्थत्व है, इसलिए वह स्वलक्षण ही है। इस प्रकार, बौद्धों के लिए तैमिरिक में केश का प्रतिभास अनर्थक है, क्योंकि बाह्य केश का, उस ज्ञान में, अभाव रहता है।⁴⁷

यह प्रश्न उठता है कि यदि ज्ञानरूपतया केशादि का अर्थत्व है, तब तो, विकल्पबुद्धि में प्रतिभासित होने वाले सामान्य में स्वलक्षणता की प्रसक्ति हो जायेगी। धर्मकीर्ति का उत्तर है कि ज्ञान के आकार की दृष्टि से सामान्य की भी स्वलक्षणता उन्हें इष्ट है, अतएव उपर्युक्त प्रसंग में कोई दोष नहीं है। दूसरा प्रश्न यह है कि जब सामान्य की, ज्ञान के आकार की दृष्टि से, स्वलक्षणता इष्ट है, तो, सामान्यरूपता कैसे है? धर्मकीर्ति का कहना है कि अर्थरूपत्वेन सामान्यरूपता उन्हें इष्ट है, अर्थात् ज्ञान में जिस विषय का अध्यवसाय हो रहा है, उसके स्वरूप की दृष्टि से समानता इष्ट है, बुद्धि या ज्ञान के आकार की दृष्टि से नहीं। विपक्षी फिर पूछता है कि अध्यवसीयमान ज्ञेय के आकार की दृष्टि से समानता है? बौद्धों का उत्तर है कि सर्वत्र ही व्यक्तियों में विजातीयव्यावृत्ति के आश्रय के दृश्यविकल्प के एकत्व का अध्यवसाय होने के कारण, उपकल्पित सामान्य की साधारणरूपता के कारण, अध्यवसीयमान ज्ञेय के आकार की दृष्टि से समानता की बात हम बौद्ध कहते हैं।⁴⁸

‘मेयं त्वेकं स्वलक्षणम्’ कहने में धर्मकीर्ति का मूल मंतव्य

यहाँ आकर आचार्य धर्मकीर्ति मेय तो एक ही है की बात करते हैं। यह कथन मन में कई प्रकार की आशंकाओं को उठाता है। एक ओर धर्मकीर्ति कहते हैं कि मेय-द्वैविध्य के कारण मान दो हैं और मेयद्वैविध्य के लिए तर्क भी देते हैं और दूसरी तरफ यहाँ यह कह रहे हैं कि ‘मेय तो एक ही है’। क्या दोनों कथन विरोधात्मक नहीं हैं? ‘मेय दो हैं और मेय तो एक ही है’ इन दोनों कथनों में संगति कैसे हो सकती है? पुनश्च, यदि मेय एक ही है, सामान्य मेय नहीं है, तो इससे आचार्य दिग्नाग के इस कथन का खण्डन होगा कि ‘न स्वसामान्यलक्षणाभ्यामन्यत् प्रमेयमस्ति’। यदि स्वलक्षण ही एकमेव प्रमेय है, तो अनुमान प्रमाण नहीं होना चाहिए, क्योंकि बौद्धों के अनुसार प्रमाण प्रमेयानुसार होता है। अतः एक ही मेय होने पर भी ‘मेयाधीनामानसिद्धिः’ के अनुसार प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान के भी प्रमाण मानने की बात का क्या आधार है? यह भी उत्कण्ठा स्वाभाविक है। पुनश्च, जब सामान्यलक्षण भी एक सत्य है, तो वह

‘अवस्तु’ कैसे होगा? सामान्य अवस्तु होते हुए भी अनुमान प्रमाण का प्रमेय कैसे हो सकता है? इसके अतिरिक्त यह भी एक महत्वपूर्ण आशंका है कि ‘मेयं त्वेकं स्वलक्षणम्’ यह कथन आचार्य ने किस दृष्टि से किया है। धर्मकीर्ति के टीकाकारों में आचार्य प्रज्ञाकर ने इस प्रश्न पर पर्याप्त विस्तार से विवेचन और सूक्ष्म विश्लेषण किया है। अनेक पूर्वपक्षों को उठाकर इस कथन को उन्होंने स्पष्ट किया है और विज्ञानवादी प्रमाणमीमांसा को आगे बढ़ाया है, जिसका उत्कर्ष हमें ज्ञानश्रीमित्र एवं रत्नकीर्ति जैसे 10वीं 11वीं शती के आचार्यों की रचनाओं में मिलता है।

‘मेयं त्वेकं स्वलक्षणम्’ यह कथन आचार्य एक प्रसंग विशेष में कहते हैं। सामान्य के वस्तुसत् होने की वस्तुवादी मान्यता का आचार्य खण्डन करते हैं और यह प्रसंग आने पर कि ‘वस्तु के बिना सामान्यबुद्धि की उत्पत्ति मानने पर सामान्य भावरूप नहीं रह जायेगा’, कहते हैं कि हमारे पक्ष में दोष नहीं है, क्योंकि रूपादिभावों के ग्रहणपूर्वक ही सामान्य का ज्ञान होता है। पुनश्च, सामान्य का ज्ञान ही होता है, उसका ज्ञानस्थल पर, कोई आलम्बन नहीं रहता, क्योंकि सामान्य परोक्षमेय है। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जब सामान्य परोक्ष है और स्वरूपतया वह प्रतीयमान नहीं रहता है, तो फिर, मेय कैसे है? इसी प्रश्न के उत्तर में ‘मेय तो एक ही है और वह है स्वलक्षण’ ऐसा आचार्य कहते हैं। सामान्य नाम का कोई मेय नहीं है। ‘एक ही’ से तात्पर्य है परमार्थतः। सामान्य तो कल्पित होता है, अतएव ज्ञान में आकार प्रदान करने की क्षमता उसमें नहीं रहती है। परमार्थतः स्वलक्षण ही एकमेव प्रमेय है, क्योंकि केवल स्वलक्षण प्रमेय ही ज्ञान में आकारार्पण में क्षम होता है। पुनश्च, स्वलक्षण के ही ज्ञान की ‘सदसदत्वेन’ (सत्त्व और असत्त्व के द्वारा) प्रयोजनता रहती है।⁴⁹ आचार्य प्रज्ञाकर धर्मकीर्ति के आशय की विस्तार से व्याख्या करते हैं।⁵⁰ उपर्युक्त स्थिति कैसे संभव है? अर्थात् सत्त्व और असत्त्व के माध्यम से स्वलक्षण के ही ज्ञान की प्रयोजनता होती है, सामान्य की नहीं, ऐसा कैसे संभव है? इस पर आचार्य धर्मकीर्ति स्वतः कहते हैं कि चूँकि स्वलक्षण के कारण ही अर्थक्रिया की सिद्धि होती है और चूँकि उसकी ही सत्ता एवं असत्ता अथवा सत्त्व एवं असत्त्व का विचार किया जाता है, अतएव, परमार्थतः एकमेव स्वलक्षण ही मेय है। फिर भी, चूँकि उस स्वलक्षण का ‘स्व रूप’ और ‘पर रूप’ के द्वारा ज्ञान होता है, फलतः प्रमेय दो हैं ऐसा हम बौद्धों का मत है।⁵¹ संक्षेप रूप से मंतव्य यह है कि अर्थक्रिया को चाहने वाले सत्त्व और असत्त्व के द्वारा स्वलक्षण का ही विचार करते हैं। असत्त्व भी स्वलक्षण का ही विचारा जाता है, अतः स्वलक्षण एकमेव मेय है। आचार्य प्रज्ञाकर बतलाते हैं— प्रेक्षवान् लोगों को अर्थक्रियाकारी पदार्थ के सत्त्व एवं असत्त्व से प्रयोजन होता है, और इसके ही अवबोध के लिए प्रमाण का अन्वेषण किया जाता है, अन्यथा, प्रमाण का परीक्षण विवेकहीन क्रिया हो जायेगी। इस कारण

प्रमाण अर्थक्रियाकारी पदार्थ के भाव एवं अभाव के विषयीकरण (भाव एवं अभाव को अपना विषय बनाने) में समर्थ होता है तथा विषयवान होता है। फलतः, प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों के द्वारा भी स्वलक्षण को ही विषय बनाया जाना चाहिए, अन्यथा प्रत्यक्ष और अनुमान के साथ प्रमाणता का योग नहीं होगा। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि प्रत्यक्ष और अनुमान ये दोनों ही प्रमाण स्वलक्षण को ही अपना विषय बनाते हैं, तो फिर, एक विषयता के कारण एक ही प्रमाण होना चाहिए, दो नहीं। पुनश्च, यदि यह कहा जाय कि प्रत्यक्ष और अनुमान में एक विषयता होने पर भी दोनों में रहने वाले सामग्री-भेद के कारण प्रमाण-भेद की व्यवस्था की जाती है, तो आपके इस पक्ष में 'मानंद्विविधं मेयद्वैविध्यम्' के सिद्धान्त का खण्डन हो जायेगा। इतना ही नहीं, मूलाचार्य दिग्नाग के वचन का भी विरोध होगा, क्योंकि वे कहते हैं कि 'प्रमेय दो लक्षणवाला होता है, इस कारण प्रमाण दो ही होते हैं'। इतना ही नहीं, यदि सामग्रीभेद के द्वारा प्रमाण-भेद की बात स्वीकार की जाय, तो चक्षुरादि विज्ञानों को भी प्रमाण होना चाहिए, क्योंकि चक्षुरादि विज्ञानों का भी सामग्री-भेद के द्वारा भेद होता है। पुनश्च, प्रमेय-भेद के द्वारा भेद होता है, यदि ऐसा माना जाय, तो अनेक नीलादि प्रमेय होंगे। अतः, अनन्त प्रमाण मानने का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा।⁵²

उपर्युक्त सारी आशंकाओं और विरोधियों द्वारा दर्शायी गयी अनुपपत्तियों का उत्तर देते हुए प्रज्ञाकर कहते हैं कि आपने जो कुछ भी दोष दिखलाया है, वैसा कुछ नहीं है, क्योंकि सभी में (नील, पीतादि सारे प्रमेयों में) स्वलक्षणता का ही भाव होता है। विरोधी जिस अनन्त प्रमाण के मानने का प्रसंग हमारे पक्ष में उठाते हैं वह भी अनुचित है, क्योंकि यदि विषय अनन्त होते, तो निजी या असाधारण रूप के द्वारा लक्ष्यमान होने से स्वलक्षण ही हैं और चूँकि हम मेय के आधार पर मान की व्यवस्था करते हैं, अतएव विषय के एक होने से अनन्त प्रमाण के होने का प्रसंग उपस्थित नहीं होगा। हमारे विरोधी यह कह सकते हैं कि सामग्री-भेद होने पर भी, अथवा हम मान भी लें कि सामग्री-भेद होता है, फिर भी उनमें प्रत्यक्ष से उत्पन्न होने का भाव पाया जाता है, फलतः इसके चलते सभी ज्ञानों को प्रत्यक्ष ही क्यों न मान लिया जाय या प्रत्यक्ष ही क्यों न कह दिया जाय? हमारा उत्तर है कि ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि 'सर्व प्रत्यक्षम्', क्योंकि सभी ज्ञानों में अपरोक्षता का लक्षण नहीं है, फलतः, प्रमेय द्वैविध्य के कारण ही प्रमाण भी द्विविध होता है, नहीं तो, अनन्तप्रमाण मानने का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। हमारे विरोधी यह प्रश्न पूछ सकते हैं कि प्रमेय की अनन्तता नहीं है, यह आप बौद्ध कैसे मानते हैं? हमारा उत्तर है कि प्रमेय की अनन्तता नहीं है, क्योंकि प्रमेय की अनन्तता होने पर भी नीलादिता के द्वारा अन्ततः मेय का द्वैविध्य ही उहरेगा। इसका कारण यह है कि, नीलादि में (नील, पीत, हरित आदि में) अनन्तभेदता होने

पर भी स्वरूप-प्रतिभासन के द्वारा नीलादि स्वलक्षण ही हैं, क्योंकि वे अपने ही असाधारण रूप के द्वारा लक्षित होते हैं, वे असाधारण लक्षण अथवा विशेषता वाले होते हैं तथा उनका यह रूप ही उनका अपना लक्षण होता है।⁵³

यहाँ एक अन्य आशंका उठायी जाती है कि स्वलक्षणरूप प्रतीति के भेद के आधार पर अभेद मानने की स्थिति में स्वलक्षण की पारमार्थिकता नहीं होगी, क्योंकि उस प्रतिपत्ति के अभाव में स्वलक्षण अन्य प्रतिपत्ति से युक्त होगा, और वह सामान्यलक्षण हो जायेगा। स्वलक्षण 'तथैव' 'तदेव' रूप होता है और एक (क्षणसंतान) का स्वलक्षण अन्य का स्वलक्षण नहीं होता, अपितु अन्यथा हो जाता है। पुनश्च, प्रतिपत्तु एवं प्रमेय तत्त्व में भेद नहीं होता। अपेक्षाकृत भेद काल्पनिक होते हैं, उनकी परमार्थता नहीं होती। एक ही वस्तु में स्वलक्षण तथा अस्वलक्षणत्व दोनों रूपों को मानने पर प्रत्यक्ष से इतर प्रमाण की स्थिति माननी होगी।⁵⁴ प्रज्ञाकर उत्तर देते हैं कि उपर्युक्त शंका असत् है, क्योंकि जिस विषय का उपलम्भ स्वरूपतः होता है वह सत् है। जो भाव पदार्थ हैं, उनकी पारमार्थिक सत्ता का लक्षण है उपलम्भ, अर्थात् भाव पदार्थों की पारमार्थिक सत्ता उपलम्भ ही है। स्वरूपेण उपलम्भ्यमानता के प्रस्फुरण के बिना भाव पदार्थ सत्ता का आत्मसात नहीं करते। पुनः शंका की जाती है कि उपलम्भ से सत्ता का ज्ञान होता है, तो उसके विपर्यय अर्थात् अनुपलम्भ की सत्ता होती, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। वस्तुतः पदार्थ के असत् होने की स्थिति में हमें अनुपलम्भ होता है, अनुपलम्भ ही असत्त्व नहीं है। आचार्य प्रज्ञाकर आशंका हटाते हुए पूछते हैं कि जब आप कहते हैं कि अनुपलम्भ के द्वारा जो प्रतीति होता है वह असत् है, तो वहाँ अनुपलम्भ से आपका आशय क्या है? क्या अनुपलम्भ उपलम्भाभाव है, अन्य उपलम्भ है या नोपलम्भ रूप? प्रथम स्थिति में उसकी प्रतीति ही नहीं होगी, क्योंकि उसका अभाव रहेगा और अभाव को प्रतीति नहीं कहा जाता। उपलम्भाभाव का अन्य से उपलम्भ मानने पर अनवस्था होगी। यदि विरोधी कहे कि उपलम्भ का दूसरा उपलम्भ नहीं होता और न तो किसी उपलम्भ की दूसरे उपलम्भ से प्रतीति होती है कि अनवस्था की स्थिति बने। ज्ञान तो स्वयंप्रकाश रूप या अपरोक्ष होता है। प्रज्ञाकर पूछते हैं कि यदि ज्ञान परोक्ष हो तब आप बतावें कि उसका ज्ञान कैसे होगा? क्योंकि आप यदि उत्तर दें कि जिस प्रकार किसी वस्तु के ज्ञान से हम उस वस्तु की सत्ता को जानते हैं उसी प्रकार ज्ञान के उपलम्भ द्वारा सत्ता ज्ञापित होगी, तो इसमें भी अनवस्था दोष की प्रसक्ति होगी। पुनश्च, अर्थापत्ति का आश्रय लेकर भी वस्तु की सत्ता के ज्ञान की बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि अर्थापत्ति का प्रयोग वहाँ किया जाता है जहाँ अन्य पाँच प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं हो पाती। यहाँ तो घटादि पदार्थ प्रत्यक्ष द्वारा ही सिद्ध है। विरोधी इस पर कह सकता है कि अर्थापत्ति भी तो एक ज्ञान है और एक ज्ञान का अन्य ज्ञान से

बोध माना जाता है। वहाँ पर अन्य अर्थापत्ति का भी अभाव है, क्योंकि अन्य पाँच प्रमाणों का अभाव भी नहीं है, अतः आप द्वारा लगाया गया अनवस्था दोष भी नहीं होगा। प्रज्ञाकर कहते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि वहाँ पर प्रमेयप्रतिपत्ति (अन्यथानुपपत्ति) तो आप मान ही रहे हैं, अतः अन्य-अन्य अर्थापत्ति की अपेक्षा होने से अनवस्था की प्रसक्ति होगी ही। यदि विरोधी कहे कि दर्शनानुपपत्ति (प्रत्यक्ष से अन्यथानुपपत्ति) के द्वारा वहाँ पर अर्थापत्ति की उद्भावना होगी, तो हमारा प्रश्न है कि जब प्रत्यक्ष की स्थिति वहाँ है ही तो अर्थापत्ति का वहाँ क्या प्रयोजन? यदि फिर भी आप आग्रह करें कि प्रत्यक्षानुरूप ही वस्तु की सत्ता की व्यवस्था होगी, तो हम पुनः कहेंगे कि प्रत्यक्ष द्वारा जो वस्तु यथारूप में दृष्ट होती है, उसी रूप में स्थिर रहे, अर्थापत्ति रूपी बुद्धि की परिकल्पना क्यों? उसकी कोई आवश्यकता नहीं। इस प्रकार आपका प्रथम विकल्प असिद्ध हुआ।⁶⁶

द्वितीय विकल्प की असिद्धि की उद्भावना करने हेतु आचार्य प्रज्ञाकर पहले विरोधी की शंका को प्रस्तुत करते हैं, तदनन्तर उसका समाधान कर विरोधी के पक्ष को असिद्ध ठहराते हैं। शंका है— वस्तु का अनुपलंभ होना ही उसके उपलंभ का अनुपलंभ है, यदि ऐसा मान्य हो, तो उस स्थिति में अनुपलम्बमान उपलंभ को सत् मानना होगा। पुनश्च, यदि अनुपलंभ को अभाव कहा जाय तो उपलंभ को भाव रूप में मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में अन्य उपलंभ को अनुपलंभ रूप मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। आचार्य प्रज्ञाकर उत्तर रूप में कहते हैं आप विरोधी यह बतलावें कि अन्योपलंभ को ही उपलंभ मानने पर उसका बोध कैसे होगा? यदि उत्तर दिया जाय कि अन्योपलंभ को उपलंभ इसीलिए कहा जाता है क्योंकि उसका उपलंभ नहीं होता, तो इस पक्ष का हम पहले ही उत्तर दे चुके हैं कि वह अन्योपलंभ अन्यत्र तो प्रवृत्त हुआ नहीं, फलतः वह अन्य का अनुपलंभ है। ऐसी स्थिति में (अन्यत्र प्रवृत्त नहीं होने की स्थिति में) उसका अभाव कैसे होगा? इस प्रश्न के उत्तर में प्रज्ञाकर कहते हैं कि उसमें उपलब्धिलक्षण की योग्यता का अभाव है, नहीं तो वह भी अन्यत्र प्रवृत्त होता, ठीक वैसे ही जैसे प्रथम उपलंभ में प्रवृत्त होने की योग्यता होती है। किन्तु वह तो उपलब्ध ही नहीं होता। यदि विरोधी अन्य गमक की बात कहें, तो उसके लिए अन्य-अन्य की अपेक्षा होने से अनवस्था की स्थिति प्राप्त होगी, क्योंकि उपलब्धि उसी की होती है जिसका आकार प्रतिनियत होता है। यदि विरोधी इस उपलब्धि को अर्थापत्ति नाम से अभिहित करे, तो पुनः अनवस्था दोष आयेगा, यह हम पहले भी प्रदर्शित कर चुके हैं। विरोधी यहाँ कह सकता है कि प्रतिनियत आकार का उपलंभ ही अन्य के उपलंभ का अभाव है, तो प्रज्ञाकर के शब्दों में “एवन्तर्हि नाभावो नाम कश्चिदन्यत्रापरभावादतोऽपरो योऽभावोऽन्यापेक्षया स्वापेक्षमभाव इति” ऐसी स्थिति में अभाव अपर (अन्य) भाव से

अन्यथा (भिन्न) नहीं होगा, अतः अन्य की अपेक्षा से जो अपर अभाव है वह स्व की अपेक्षा से भाव ही होगा और उपर्युक्त स्थिति प्रतिनियत उपलभ्यमानता की अवस्था की ही है। अतः सिद्ध हुआ कि उपलम्भ ही सत्ता है। प्रतिनियतत्व उपलभ्यमानता का प्रतिनियम (प्रयोजन) होता है, वह ही प्रतिनियम नहीं, यदि इस पर, जिज्ञासा की जाय कि अनुपलभ्यमानता में प्रतिनियम (व्यवस्था) कैसे? तो हमारा उत्तर है कि यह व्यवस्था बुद्धि (ज्ञान) के प्रसाद के चलते ही है। अतः उपलभ्यमानता ही सत्ता है।⁵⁶

तीसरे विकल्प की असिद्धि भी उपर्युक्त प्रकार से प्रज्ञाकर करते हैं। पहले वे प्रश्नोत्तर विधि से पूर्वपक्ष को प्रस्तुत कर बाद में अपने पक्ष को रखते हैं। प्रज्ञाकर कहते हैं कि यदि विरोधी नोपलम्भ को ही अनुपलम्भ माने, तो 'नानोपलम्भे' (भिन्न उपलम्भ) यह स्थिति बनेगी, और वह विकल्प भी अनुपलब्धि रूप होगा, अनुपलब्ध्यनुकारी होगा, जिस पर पहले ही चर्चा हो चुकी है। अतः उपलब्धि ही सत्ता है। उपलभ्यमानता ही प्रमेयतत्त्व है। विरोधी प्रश्न करता है कि यदि ऐसा है तो वह ही (उपलभ्यमानविषय ही) परमार्थसत् होगा और उसका अन्यथा अपलाप नहीं होना चाहिए। उत्तर है कि परमार्थ तत्त्व कभी अन्यथा नहीं होता। अन्य पुरुष की अपेक्षा से भी वह नीलादि के समान वही बना रहता है। पुनः प्रश्न किया जा सकता है कि तो फिर उसी (परमार्थतत्त्व) की परोक्षतया प्रतीति कैसे होती है? उत्तर यह है कि परोक्षतया भी वह (परमार्थ तत्त्व) उसी ही रूप में प्रतीयमान होता है। यदि वह (परमार्थतत्त्व) न तो वर्तमान में किसी प्रकार प्रतीत होता और न भविष्य में प्रतीत किये जाने योग्य होगा, तो वह अनुमान व्यर्थ होगा। प्रज्ञाकर यहाँ यह इंगित कर रहे हैं कि अनुमान व्यर्थ नहीं है, क्योंकि उसकी व्यर्थता तब होती जब उसकी प्रतीति न वर्तमान में होती और न भविष्यत् में। जो अर्थ तथा रूप में प्रतीयमान नहीं, उसे 'तथा' कैसे कह सकते हैं? पुनश्च, कोई भी विषय 'तथा' और 'अन्यथा' दोनों कैसे हो सकता है? यदि कहा जाय कि उपलब्धि का अभाव होने से अन्यथा होना संभव है, तो यह पक्ष युक्तिसंगत अथवा वस्तुपरक नहीं, क्योंकि अनुपलब्धि की स्थिति में वस्तु का अभाव रहता है, वस्तु अन्यथा नहीं हो जाती। द्रष्टव्य है कि यह बात प्रभाकर के अख्यातिवाद पर बौद्धों की सटीक आलोचना है। प्रश्न किया जा सकता है कि बौद्धों का पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि अभाव होने पर भी अनुपलब्धिज्ञान तो रहता ही है, फिर अभाव कैसे? प्रज्ञाकर का उत्तर है कि इस प्रश्न की उद्भावना तब हो सकती है जब भाव की सत्ता के लिए प्रमाण हो। विरोधी कह सकता है कि इसमें अनुमान प्रमाण है। प्रज्ञाकर का कहना है कि यह अनुमान भी प्रत्यक्ष (दृष्ट) का ही अनुसरण करने वाला होगा।⁵⁷

आचार्य प्रज्ञाकर उपर्युक्त उदाहरण के अनन्तर स्वपक्ष को प्रस्तुत करते हुए

कहते हैं कि भाव्यर्थ की विद्यमानता या सत्ता में अनुमान प्रमाण होता है। यदि विरोधी कहे कि आप बौद्ध तो स्वलक्षण की ही सामान्यरूपेण प्रतीति को अनुमान का विषय मानते हैं, तो फिर, सामान्यलक्षण अन्य मेय कैसे हुआ? प्रज्ञाकर का उत्तर है कि यह ठीक है कि अग्नि स्वलक्षण की ही प्रतीति अनुमान प्रमाण में होती है, तथापि जब उसी पदार्थ का 'धर्मिमात्रवृत्तित्वेन' बोध होता है तो वह स्वलक्षण है और जब वह दृष्टान्तसाधारणरूपत्वेन अध्यवसित होता है तो सामान्यलक्षण कहा जाता है। यह भी ठीक है कि सामान्यलक्षण सत् नहीं, आरोपित है और व्याप्ति के सामर्थ्य से गृहीत है, स्वरूपतः नहीं। चूँकि सामान्यलक्षण की सत्ता सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं, अतः उसे परमार्थसत् नहीं कहा जा सकता। हम अनुमान को प्रमाण इसलिए कहते हैं कि उसमें विषयसंवाद होता है और अनुमान का यह प्रामाण्य केवल सांवृत है, व्यवहार जगत् तक ही है। अतः प्रमेय द्वैविध्य को हम व्यवहारसिद्ध भेद के आधार पर मानते हैं। पुनश्च, दो मेयों में भेद प्रतीतिभेदाश्रित है। इसी के कारण कल्पित सामान्यलक्षण परमार्थतर नहीं।

अनुमान के प्रमाण होने का प्रतिपादन

प्रश्न है कि बौद्ध प्रमाणव्यवस्था में अनुमान को प्रमाण किस प्रकार माना जाता है? जब वस्तुतः स्वलक्षण ही एकमेव मेय है और वही स्वलक्षण पररूपतया ज्ञान होने से सामान्यलक्षण नामक अन्य मेय कहलाता है, भले ही वह व्यवहार करने वालों की अपेक्षा से हो, तो अवस्तु रूप सामान्यलक्षण को विषय बनाने वाला अनुमान प्रमाण कैसे है? इन तथा अन्य अनेकविध प्रश्नों का समाधान करने के लिए बौद्ध नैयायिकों ने काफी सावधानी से गंभीर विवेचन किया है, क्योंकि 'मानंद्विविधं मेयद्वैविध्यात्' इस प्रतिज्ञा की चरितार्थता पूरी तरह तभी हो सकती है यदि अनुमान को भी प्रमाण सिद्ध कर दिया जाय। पुनश्च, चार्वाकों की आपत्तियों का उत्तर देकर अनुमान की प्रामाणिकता का भी प्रतिपादन उन्हें करना है। आचार्य धर्मकीर्ति और उनके अनुयायियों तथा अन्य बौद्ध नैयायिकों ने इसका विशद विवेचन किया है।⁹⁸

आचार्य धर्मकीर्ति इस प्रसंग में प्रथमतः, यह स्पष्ट करते हैं कि हमारी व्यवस्था में अनुमान को भ्रान्ति माना जाता है, क्योंकि इसमें अयथाभिनिवेश होता है। जिस प्रकार 'यह' अर्थ (प्रत्यक्ष अथवा साक्षात्कार में आने वाला विषय) 'इदानीं' और 'इह' कारणभेद के चलते भिन्न होता है, उसी प्रकार की स्थिति अध्यवसाय की नहीं होती है, अतः वह 'अयथा' (जो यथार्थ नहीं है) का अभिनिवेश (अध्यवसाय, निश्चय) करने वाला है और भ्रान्ति ही है। चूँकि जो कुछ पहले देखा गया है उससे जनित वासना के प्रबोधबल से होने वाला होने के कारण वस्तु का संस्पर्श न होने पर भी उसका

अध्यवसाय या निश्चय होता है, इस कारण अनुमान प्रमाण है।⁵⁹ इस पर उठने वाली आशंकाओं का उल्लेख कर बौद्ध न्याय के आचार्य उनका उत्तर भी देते हैं। आपत्ति यह है कि यदि वस्तुसंस्पर्श न होने पर भी तदध्यवसाय के कारण बौद्ध अनुमान को प्रमाण मानते हैं, तो, इसका अर्थ होगा कि वस्तुसंस्पर्शाभाव प्रमाण ही है। पुनश्च, यदि कहा जाय कि चूँकि अनुमान में अविसंवाद होता है, अतः वह प्रमाण है, तो हमारा कहना है कि वस्तुसंस्पर्शीज्ञान (प्रत्यक्ष) में होने वाले अविसंवाद को आप द्वारा भ्रान्ति के रूप में मान्य, अनुमान में नहीं होना चाहिए। आशय यह है कि यदि अनुमान पररूपतया होने वाला ज्ञान है तो, वह भ्रान्ति होगा और भ्रान्ति का प्रामाण्य तो होता नहीं।⁶⁰

आचार्य धर्मकीर्ति और उनके अनुयायी इसका उत्तर देते हैं। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान में भी यथाभिनिवेश (वस्तु जैसी है वैसा निश्चय) होता है। यदि प्रश्न उठाया जाय कि इस बात को कैसे जाना जाय, तो उत्तर है कि अभिप्राय के अविसंवाद से ही इस तथ्य को जाना जाता है। अभिप्राय का अविसंवाद अनुमान में है ही, अतएव उसमें अयथार्थाभिनिवेश (जो सत्य नहीं है ऐसे अर्थ का निश्चय) नहीं है। संसार के लोग अथवा व्यवहार करने वाले लोग 'यह वासना के बल से होने वाला ज्ञान है' और 'यह भेद प्रतिभासभेदतः है' इस प्रकार से नहीं जानते। जो अविसंवाद प्रत्यक्ष ज्ञान में होता है वहीं अनुमान में कैसे हो सकता है, क्योंकि अनुमान में तो अन्यदर्शन होता है, ऐसी आशंका नहीं उठानी चाहिए, क्योंकि विकल्पों (कल्पनात्मक ज्ञानों में) वस्तुप्रतिनियम नहीं होता (वस्तु के अपने-अपने नियम हैं, और यह बात प्रत्यक्ष में प्रयुक्त होती है, किन्तु वह स्थिति विकल्पात्मक ज्ञान (अनुमान) की नहीं है, क्योंकि अनुमान सामान्याकारतया होने वाली प्रतीति है)। यह तो अनादिवासना का सामर्थ्य है कि अभिप्राय का अविसंवाद भ्रान्तज्ञान में हो जाता है। अतएव, इस आशंका के लिए भी कोई अवकाश नहीं कि अनुमान में अपरिच्छिन्न तत्त्व कैसे प्रवर्तित होता है? पुनश्च, प्रत्यक्ष होने पर भी अपरिच्छिन्न तत्त्व कैसे, प्रवर्तित हो सकता है? क्योंकि प्रत्यक्ष सन्निहित मात्र का परिच्छेद करता है, अतएव उसमें प्राप्तव्यरूप (भावी वस्तु) का परिच्छेद नहीं होता। वस्तुस्थिति यह है कि प्रत्यक्ष भी अप्रवर्तक है, क्योंकि उसमें सन्निहितमात्र की प्राप्ति होती है। प्रत्यक्ष में भी प्राप्तव्यरूप के एकत्व के अध्यवसाय के कारण ही भावी वस्तु में वृत्ति होती है। फलतः जब अनुमान में भी इसी तरह की वृत्ति होती है, तो फिर, प्रत्यक्ष को प्रमाण और अनुमान को अप्रमाण समझना उचित नहीं।⁶¹

यह कहना भी ठीक नहीं कि अनुमान अवस्तु अर्थात् सामान्यलक्षण को अपना विषय बनाता है जबकि प्रत्यक्ष वस्तुतत्त्व या स्वलक्षण को अपना विषय बनाता है,

क्योंकि परमार्थसत् स्वलक्षण का अवगाही होने मात्र से प्रत्यक्ष का प्रवर्तकत्व नहीं माना जाता। प्रत्यक्ष में प्राप्तव्य वस्तु के एकत्व का अध्यवसाय नहीं होता। अपने निर्विकल्पक होने के रूप में प्रत्यक्ष वस्तु को ग्रहण करता है किन्तु वह इसी रूप में प्रवर्तक नहीं होता, अपितु इष्ट साधनत्वादि विकल्पों को उत्पन्न करने वाला होकर ही वह प्रवर्तक होता है। विरोध पक्ष से आशंका की जाती है कि अनुमान को प्रवर्तक और साथ ही अवस्तु विषयक दोनों नहीं कहा जा सकता। यदि उसमें अवस्तु विषयता है, तो उसमें प्रवर्तकता कैसे होगी? पुनश्च, यदि विकल्प को उत्पन्न करने से प्रत्यक्ष में प्रवर्तकता मानी जाती है, तो विकल्प में भी प्रवर्तकता होगी और फलतः उसमें प्रामाण्य होगा और इस कारण अनुमान की प्रामाण्यता भी सिद्ध होगी। यदि विरोधी कहें कि चूँकि अनुमान सामान्यलक्षण रूप अवस्तु को ग्रहण करता है अतः न तो वह प्रवर्तक है, न प्रमाण ही, तब प्रत्यक्ष के बाद के समय में होने वाले विकल्प में प्रवर्तकता कैसे मान ली गयी। इन सारे ऊहापोहों के उत्तर में प्रज्ञाकर कहते हैं कि प्रत्यक्ष स्वलक्षण रूप वस्तु तत्त्व को ग्रहण करता हुआ भी विकल्प उत्पन्न करने से अध्यवसाय कराता हुआ प्रवर्तक कहलाता है। प्रज्ञाकर विरोधियों से प्रश्न करते हैं कि प्रत्यक्ष का प्रथम क्षण तो अपनी सन्तति रूप नहीं कहलाता, क्योंकि हर क्षण विलग होते हैं। ऐसी स्थिति में जब प्रथम क्षण सन्तान नहीं है, तब उसमें प्रवर्तकता नहीं माननी चाहिए और यदि अन्यत्र व्यापारवान विशेषता को अन्यत्र भी रहने वाला माना जाय, तब अनुमान अपने स्वरूप में प्रवृत्त होने के कारण अपने विकल्परूप विषय में भी प्रवृत्त होगा। प्रज्ञाकर कहते हैं कि हमारा आशय यह है कि हम सामान्यलक्षण में अनुमान की प्रवृत्ति को ठीक उसी तरह का मानते हैं जैसी प्रवृत्ति प्रत्यक्ष की अपने विषय स्वलक्षण में होती है।⁶²

प्रज्ञाकर कहते हैं कि प्रवृत्ति होने या नहीं होने के विषय में प्रत्यक्ष और अनुमान समान हैं। अतः अनुमान भी प्रमाण है। प्राप्यर्थ की समानता प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों में मिलती है। अनुमान जिस सामान्यलक्षण रूप अग्नि को अपना विषय बनाता है उसका आद्यक्षण प्रत्यक्ष का विषय होता है, जबकि बाद के क्षण अनुमान के विषय बनते हैं। इसी प्रकार कार्य—कारण—भाव भी दोनों में समान ही है और यदि यह नियम माना जाय कि सभी जगहों में कार्यों में कारण ही प्रवर्तक होता है, तो प्रत्यक्ष में अप्रामाण्य आ सकता है अनुमान में नहीं। यहाँ विरोध पक्ष से एक शंका की जाती है कि कारण से कार्य का ज्ञान मानने में अनैकान्तिक दोष है। प्रज्ञाकर कहते हैं कि वह उचित नहीं। कारण यह है कि यदि कार्यरूप अनुमान अपने कारणभूत प्रत्यक्ष के स्वरूप में ही प्रवर्तक होता है, तब उसमें अनैकान्तिकता का दोष नहीं होगा, क्योंकि प्रत्यक्ष का जो विषय है वह इन्द्रिय के सन्निकट मात्र होता है। भाव्यर्थ में कोई भी विशेष प्रत्यक्ष प्रवर्तक नहीं होता, अपितु तज्जातीय प्रत्यक्ष प्रवर्तक होता है, ऐसी आपत्ति

भी नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रत्यक्ष-जातीय जो अनुमान के विषय हैं वे भी प्रत्यक्ष के विषय होते हैं। अनुमान स्थल पर प्रत्यक्ष अन्य व्यक्ति में प्रवृत्त होता है और विकल्प स्थल पर उसी व्यक्ति में, बस इतनी ही विशेषता है। इन सारी शंकाओं का समाधान करते हुए प्रज्ञाकर कहते हैं कि हमें प्रत्यक्ष और अनुमान की एकता अभीष्ट नहीं है। हम प्रत्यक्ष से अनुमान को अलग सामान्यविषयक मानते हैं। चूँकि विकल्प भावी होते हैं और उनका विषय अदृष्ट होता है, अतः उसकी सजातीयता प्रत्यक्ष के विषय में नहीं होती, क्योंकि भविष्य में होने वाले विकल्प स्थल से भिन्न वर्तमान विकल्प स्थल पर सजातीयता के दर्शन हो सकते हैं, यदि ऐसा माना जाय, तो फिर प्रत्यक्ष और अनुमान में कोई भेद नहीं रह जाएगा और दोनों का ही विषय सामान्य हो जाएगा। अतः प्रज्ञाकर कहते हैं कि जब प्रवृत्तिहेतु विकल्पविज्ञान अनिवार्य है तब प्रत्यक्ष रूप कारणता के अनन्तर भावी विकल्प निश्चित रूप से अवश्यम्भावी है। अतः अनैकान्तिकदोष नहीं होगा। प्रतीत्यसमुत्पाद रूप कारणता की विशिष्टता यही है कि वह यह मानता है कि कारण के होने पर कार्य होता है अर्थात् जहाँ कारण है वहाँ कार्य है, किन्तु जहाँ कार्य है वहाँ कारण की अनिवार्यतः स्थिति होगी। फलतः कहीं कोई व्यभिचार नहीं होगा। इसलिए अवश्य एवं अनिवार्यतः होने वाले पदार्थों में ही कार्यता एवं कारणता होती है। इस दृष्टि से विचार करने पर अनुमान और प्रत्यक्ष में प्राप्य अंश और प्रवृत्ति अर्थ को लेकर अभेद ही है, कोई भेद नहीं है। पुनश्च, निर्विकल्प पदार्थ को विषय करने के कारण प्रत्यक्ष को प्रमाण और सामान्यात्मक कल्पना को विषय करने के कारण अनुमान को प्रमाण नहीं कहना भी असत् है, क्योंकि प्राप्यविषयक न होने पर ज्ञान के अभ्रान्त या भ्रान्त होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। यद्यपि प्रथम भाव को और द्वितीय अभाव को विषय बनाता है, तथापि संवाद न होने की स्थिति में वस्तु के भाव अथवा अभाव किसी का ज्ञान नहीं हो सकता। वस्तुतः, अभीष्ट अर्थ के अविसंवाद रूप प्रामाण्य से पुरुष की प्रवृत्ति होती है।⁶⁵

प्रश्न है कि बौद्ध तो (दिग्गग सम्प्रदाय) प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों का ही विषय एक ही (स्वलक्षण ही) मानते हैं, तो फिर प्रमाणद्वय का भेद कैसे? प्रज्ञाकर उत्तर देते हैं— “स्पष्टेऽस्पष्टमध्यारोप्यतेऽस्पष्टे च स्पष्टमिति”⁶⁶— स्पष्ट में अस्पष्ट का और अस्पष्ट में स्पष्ट का अध्यारोप करके क्रमशः अनुमान तथा प्रत्यक्ष प्रवृत्त होते हैं, यही भेद दोनों प्रमाणों के मध्य है। प्रथम को अनुमान एवं द्वितीय को प्रत्यक्ष कहा जाता है। अथवा जहाँ भावी प्रवृत्ति (गति) या ज्ञान होता है वहाँ अनुमान और जहाँ वर्तमान वस्तु में ही गति होती है वहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण मान्य है। अनुमान में गृहीतग्राहकता का दोष नहीं है और विकल्पात्मक होने पर भी प्रवृत्ति में उपयोगी होने से वह प्रमाण भी है। पुनश्च, प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों परस्पर सहयोग करते हैं और इस कारण प्रवर्तक माने जाते

हैं, अतः दोनों प्रमाण हैं। दोनों का परस्पर सहयोग अत्यन्त स्पष्ट है। प्रत्यक्ष धूमदर्शन करने में सहयोग करता है। अतः विषय वस्तु का संस्पर्श न करने के कारण यदि टिकित्वात्मक अनुमान को प्रमाण न माना जाय, तो प्रत्यक्ष भी अप्रमाण हो जायेगा, क्योंकि वह भी अपने प्राप्य विषय का स्पर्श नहीं करता। इस प्रकार प्रमाणवार्तिक में अनुमान के प्रामाण्य विषयक प्रथम दो श्लोकों के अपने भाष्य का प्रज्ञाकर समापन करते हैं।⁶⁵

आचार्य धर्मकीर्ति तदनन्तर अनुमान के प्रामाण्य को सोदाहरण समझाते हुए तथा 'भ्रान्त होने पर भी अनुमान प्रमाण माना जाय तो, सभी भ्रान्त ज्ञान प्रमाण हो जायेंगे' इस आशंका का उत्तर देते हुए कहते हैं— "जिस प्रकार मणि की प्रभा में मणिबुद्धि की धारणा और प्रदीपप्रभा में मणिबुद्धि की धारणा के साथ मणि को प्राप्त करने हेतु दौड़ने वाले दोनों व्यक्तियों का ज्ञान मिथ्या होने की दृष्टि से समान है, तथापि अर्थक्रिया की दृष्टि से उनमें भिन्नता होती है, कि प्रथम मणि की प्राप्ति करा देता है, जबकि दूसरा मणि को प्राप्त नहीं कराता, उसी प्रकार अयथार्थ होने पर भी अनुमान एवं अनुमानाभास में अर्थक्रिया के अनुरोध से प्रामाण्य की व्यवस्था की गयी है।⁶⁶ आशय यह है कि अनुमान एवं अनुमानाभास में विशेष रूप से अवस्थित अर्थक्रिया के अनुरोध से अनुमान ही प्रमाण है, अनुमानाभास अप्रमाण है। आचार्य प्रज्ञाकर एवं मनोरथनन्दि दोनों ही कुंजिका विवर से, कमरे के भीतर स्थित मणि एवं दीपक, के गोल प्रकाश के, बाहर आकर दिखायी पड़ने के उदाहरण द्वारा अनुमान एवं अनुमानाभास की व्याख्या करते हुए यह प्रदर्शित करते हैं कि अर्थक्रिया के अनुरोध से मिथ्या ज्ञान होने पर भी, अनुमान प्रमाण है। प्रज्ञाकर यह भी बतलाते हैं कि सभी भ्रान्तियाँ समान नहीं होतीं, सामग्रीभेदतया उनमें भेद होता है। इसी प्रकार सभी ज्ञान न तो प्रमा होते हैं और न भ्रम ही। फलतः, कहीं-कहीं अथवा कोई-कोई भ्रान्त ज्ञान, अविस्वादी होने से प्रमाण भी माना जाता है। कहीं-कहीं भ्रम भी सम्बन्धित अर्थ से उद्भूत होकर अभीष्ट विषय का प्रापक ठीक उसी प्रकार होता है, जैसे प्रत्यक्ष-प्रतीत हेतु के द्वारा उत्पन्न अनुमान प्रमाण। प्रज्ञाकर यह भी बतलाते हैं कि अनुमान की अर्थवत्ता यह भी है कि उसकी सहायता के बिना प्रत्यक्ष से व्यवहार (प्रवृत्ति) नहीं होता, यद्यपि प्रत्यक्ष स्वरूप का प्रकाशक होता है। मात्र स्वप्रकाशत्व से अर्थप्रसिद्धि नहीं होती और न ही अभीष्ट-साधनादि का भेदावभास हो पाता है। अनुमान की सहायता जब तक प्रत्यक्ष के साथ नहीं होती, तब तक प्रत्यक्ष प्रवृत्ति हेतु उपयोगी वस्तुभेद का साधक नहीं होता। किन्तु यह द्रष्टव्य है कि इतना होने पर भी अनुमान केवल देशविशिष्ट सामान्य अग्नि का ज्ञान कराता है, देशविशिष्ट (पर्वतादिदेशविशिष्ट) अग्नि का ज्ञान प्रत्यक्ष के बिना नहीं होता। आशय यह है कि प्रत्यक्ष द्वारा अप्राप्त

दीवार के पीछे स्थित अग्नि का ज्ञान अनुमान द्वारा मात्र इस रूप में हो सकता है कि दीवार के उस पार कहीं आग है। अनुमान द्वारा उस पार देशविशिष्ट विशिष्ट अग्नि का ज्ञान नहीं हो सकता। इसका ज्ञान तो प्रत्यक्ष द्वारा ही होता है। व्यावहारिक और पारमार्थिक प्रमाणलक्षण भेद करने वाले प्रज्ञाकर इसी कारण यहाँ पर यह भी स्पष्ट करते हैं कि 'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्' यह प्रमाणलक्षण भ्रमप्रमासाधारण प्रमाण का लक्षण है, अर्थात् यह लक्षण केवल व्यवहार तक ही सीमित है, जैसे कि अनुमान प्रमाण, अतः पारमार्थिक प्रमाण का यह लक्षण नहीं।⁶⁷

इस प्रसंग को और अधिक स्पष्ट करने हेतु एक अन्य शंका उपस्थित कर उसका समाधान प्रज्ञाकर करते हैं। शंका है— जहाँ भ्रान्ति होती है वहाँ विषयविसंवाद अथवा विषय व्यभिचार होता है, अतः यदि मणि—प्रभा से होने वाले मणिज्ञान में भ्रान्ति मानी जायेगी, तो वहाँ विषयव्यभिचार प्रसक्त होगा। प्रज्ञाकर समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यदि मणिप्रभा से होने वाले मणिज्ञान को अभ्रान्त माना जायेगा, तो वहाँ अन्योन्याश्रयदोष होगा, क्योंकि उस स्थिति में अविसंवादन से अभ्रान्तता एवं अभ्रान्तता से अविसंवादन को स्वीकार करना पड़ेगा।⁶⁸ पुनश्च, यह ज्ञान अभ्रान्त है और 'यह ज्ञान भ्रान्त है' इस प्रकार का भेद—परिग्रह अविसंवादन—विसंवादन के बिना असंभव है। यदि अभ्रान्तता का निकष अबाधितत्व को माना जाय तो भी, वही अन्योन्याश्रयदोष प्रसक्त होगा, क्योंकि यहाँ भी केवल शब्द का अन्तर है। वस्तुतः अबाधितत्व से भी अविसंवादित्व को ही कहा जा रहा है। अतः सिद्ध हुआ कि अविसंवाद होने पर ही अबाधित्व और अविसंवाद होने पर ही अभ्रान्तता की स्थिति बनती है। न तो मीमांसक और न तो लोकायत मत वाले इस सिद्धान्त को मानते हैं कि अविसंवाद होने पर भ्रान्तता की स्थिति बनती है। अनुमान को भ्रान्त होते हुए भी प्रमाण इसलिए माना जाता है कि क्योंकि उसमें अभिप्रेत वस्तु की अर्थक्रियाकारिता में अविसंवादित्व की उपलब्धता है। प्रत्यक्ष और अनुमान में प्रतिभास—भेद के कारण भेद है। यदि यह कहा जाय कि यद्यपि प्रत्यक्ष में अप्रामाण्य का अभिमान नहीं, तथापि उपर्युक्त मणिज्ञान में अप्रामाण्य का आभास है, तो वह उचित नहीं, क्योंकि उस स्थल पर मणि के प्राप्त होने से जन्य अभ्यास से अप्रामाण्य का आभास नहीं होता। आशय मात्र यह है कि मणिप्रभा में मणिज्ञान प्रत्यक्षतः हो अथवा अनुमानतः दोनों स्थितियाँ तत्त्वनिश्चयात्मक ही हैं।⁶⁹

एक अन्य प्रश्न उठाकर उसका उत्तर देते हुए प्रज्ञाकर इस प्रसंग को समाप्त करते हैं। प्रश्न है— "अथमणिरूपस्याग्रहणात् कथमप्रत्यक्षता। स्तम्भादौ तु यदि नाम भाविरूपपाग्रहणान्तत्त्वरूपग्रहणन्तु तत्कालभावि विद्यते एव"⁷⁰ जब वहाँ मणिरूप

का अग्रहण है तो प्रत्यक्षता कैसे? स्तम्भादि प्रतीतियों में यदि भावी विषय के स्वरूप का ग्रहण माना जाय, तो जो तत्काल विद्यमान है उसमें क्यों नहीं? उत्तर है कि मणिप्रभा में मणिज्ञान, और मणिप्रत्यक्ष दोनों स्थलों पर समानरूप से भावी विषय का ग्रहण नहीं होता, अतः इस स्थिति में अन्य आरोपित विशेषता के द्वारा भेदप्रसक्ति नहीं हो सकती। आशय यह है कि भविष्यत् में होने वाले प्राप्यर्थ का भेद तो स्पष्ट है, अतः तदभिन्न अथवा पररूप का परिग्रह होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। मणि का प्रतिभास तो प्रत्यक्ष मणि और मणिप्रभा में समान ही है। हाँ किसी स्थल पर देशभ्रान्ति, कहीं पर स्वरूप भ्रान्ति, कहीं पर दोनों और कहीं पर दोनों ही नहीं (अनुभय) है। मणिप्रभा से होने वाले मणिज्ञान में (1) देशभ्रान्ति (2) प्रत्यक्ष मणि में प्राप्यस्वरूपभ्रान्ति, (3) सामान्यानुमान में उभयभ्रान्ति और स्वसंवेदन में दोनों ही भ्रान्ति नहीं, होती है।⁷¹

स्पष्टास्पष्ट प्रतिभास, जो कि प्रत्यक्ष और अनुमान का भेदक होता है वह स्वतः क्यों होता है (स्पष्टास्पष्ट प्रतिभास भेद ही क्यों होता है) इस प्रश्न को ध्यान में रखकर उसका उत्तर देते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं— “बुद्धि (ज्ञान) जहाँ पर (जिस अर्थ के साथ) अन्य—व्यतिरेक रखती हुई उत्पन्न होती है उसका (अर्थात् स्वलक्षण का) स्वतन्त्र (साक्षात् अथवा स्वरूपतः) ग्रहण होता है। उससे अन्य (अर्थात् सामान्यलक्षण) अतीन्द्रिय होता है, अर्थात् वहाँ पर इन्द्रियव्यापार नहीं होता, अपितु अनुमान होता है। “उस अदृष्टस्वरूपक सामान्यलक्षण की प्रतीति में अन्य लिंगभूत अर्थ यदि सिद्धि का निमित्त हो और धर्म के आश्रय से सम्बन्धवान हो, तब वह गमक होता है, अन्यथा नहीं।”⁷² प्रज्ञाकर ऊपर उद्धृत प्रथम श्लोक का आशय बतलाते हुए कहते हैं कि जिस प्रमाण के विषय का साक्षात् प्रतिभासन होता है वह अर्थ ही अनतीन्द्रिय स्वलक्षण है (प्रत्यक्ष है), क्योंकि जो साक्षात् प्रतिभास है वह ज्ञान अर्थ के साथ अन्य—व्यतिरेक के अनुविधान से तदाकारतया उद्भूत होता है। जो पूर्वदर्शन से उत्थित वासना के प्रबोध से (जैसे रसोईघर आदि में धूम और अग्नि के सहचार दर्शन से) अवमास का विषय होता है ऐसे ज्ञान का निश्चय पूर्वज्ञातरूपाकारतया होता है, और वह परोक्ष या अतीन्द्रिय होता है। उसमें इन्द्रिय—व्यापार नहीं होता। जहाँ पर इन्द्रिय—व्यापार संभव है वहाँ पर विषय का साक्षात्कार होता है और विषयाकारता परिस्फुट होती है, क्योंकि विषयाकारता के अतिरिक्त विषयप्रतीति अन्य कुछ नहीं होती।⁷³ ऊपर उद्धृत द्वितीय श्लोक की व्याख्या में प्रज्ञाकर बतलाते हैं कि “प्राक्कालीन वासना का प्रबोध प्राप्यविषय के सन्निधानतः होता है जिसके परिणामस्वरूप अर्थ की प्राप्ति हो जाती है, इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए धर्मकीर्ति वह श्लोक लिखते हैं। आशय है कि जो अदृष्ट स्वरूप वाले विषय हैं वे अन्य सम्बन्ध से ज्ञात हो जाते हैं, अतः वे विषय परोक्ष होते हैं। इस प्रसंग में न तो मात्र अन्य की प्रतीति और न तो विषय की स्वतः प्रतीति

को माना जा सकता है, क्योंकि प्रथम स्थिति में अतिप्रसंगदोष और द्वितीय में सभी व्यक्तियों के सर्वदर्शी होने का प्रसंग उपस्थित होगा, किन्तु धूमादि जैसी अन्य वस्तु (धूम) यदि विषयवस्तु (अग्नि) का सम्बन्धी है तो वह (धूम) उसका (अग्नि का) गमक हो जाता है।⁷⁴ यह प्रश्न किया जा सकता है कि अन्य के सम्बन्ध से होने वाला अन्य का ज्ञान स्मृति कहलाता है, और स्मृति सम्बन्ध का भी बोध कराने वाली होती है, तो यहाँ अतिप्रसंगदोष क्यों नहीं। प्रज्ञाकर का उत्तर है कि धर्मसाध्य-सम्बद्ध पदार्थ के दर्शन से उद्भूत होनी वाली स्मृति से ही देशकालनियत प्रापणीय अर्थ प्रतीत होता है (ज्ञात होता है), आभोगादि (मानस व्यापार जो 'सदृशोऽयं' इस प्रकार विकल्प मात्र होता है) से नहीं। आभोग छायामात्र होता है और उसका प्रामाण्य नहीं होता। अनुमान प्रमाण है, क्योंकि अनुमान से हमें जो ज्ञान होता है वह ऐसी प्रतीति होती है जो व्याप्ति सम्बन्ध से उद्भूत होती है। यही कारण है कि धूमादि लिंग अर्थ अथवा विषय (अग्नि) का गमक होता है। यह लिंग कहीं पर कार्यहेतु, कहीं पर स्वभावहेतु और कहीं पर सादृश्यहेतु रूप में गमक होता है। हाँ जहाँ साहचर्य दर्शन निर्विषयक और सहचार-स्मरण यथारूप नहीं, अपितु अन्यथारूप होता है, वहाँ अनुमानजनित ज्ञान सम्यग्ज्ञान या यथार्थानुभव नहीं होता। इससे यह फलित हुआ कि जब कार्यहेतु एवं सादृश्यहेतु से विषय के साथ अव्यभिचारी साहचर्य-स्मरण होता है तब अनुमान प्रमाण, अन्यथा विभ्रमरूप होता है।⁷⁵

सम्बन्धी के दर्शन से उत्पन्न होने वाली स्मृति, जो प्रमाण होती है, वह अनुमान ही है, यह दर्शाने के लिए धर्मकीर्ति कहते हैं— 'धूमादिरूप गमक, हेतु अथवा लिंग का जो अनुयायी है (जैसे अग्नि आदि) उसकी गति (ज्ञान) सामान्यरूप से ही होती है, इसी कारण वह परोक्ष अर्थ है और (उपर्युक्त प्रकार से ज्ञात होने वाले) सभी अर्थ विशेषरूपेण नहीं जाने जाते।⁷⁶ प्रज्ञाकर कहते हैं कि गमक, हेतु अथवा लिंग के अधीन ही गम्य, साध्य (ज्ञाप्य विषय) की प्रतीति होती है। धूमादिगमक यहाँ पर सामान्यात्मक गमक होता है, विशेषरूपेण नहीं क्योंकि, व्याप्ति विशेषरूपेण नहीं बनती और वैसे गमक को लक्षित नहीं किया जा सकता। यदि कहा जाय कि अलक्षित रूप से भी गमकता हो सकती है, तो उस स्थिति में सभी आकार-प्रकार की सभी कारण परंपराओं की प्रतीति का प्रसंग उपस्थित होगा, क्योंकि धूमादिसामान्य तो सर्वत्र अग्नि आदि में देखा जाता है। इसलिए अनैकान्तिकता के चलते सामान्य से विशेष की प्रतीति नहीं मानी जा सकती। यदि कोई कहें कि सामान्य से उपलक्षित विशेष की प्रतीति हो सकती है तो, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि, उस स्थिति में जो अवान्तर विशेष (विशिष्टताएँ) होते हैं उन्हें लक्षित नहीं किया जा सकता।⁷⁷

धर्मकीर्ति तदनन्तर यह अभिव्यक्त करते हैं कि “जो अग्नि आदि के सम्बन्धी (पक्ष) के धर्मभूत धूमादि के द्वारा पर्वतादि धर्मी में वह्नि आदि का ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहते हैं, जो कि नियमतः परोक्ष अर्थ का गमक होता है।”⁷⁸ आशय यह है कि चूँकि लिंग, साध्य एवं पक्षधर्मता के साथ अन्वय-व्यतिरेक रूप से सम्बन्धित होता है, इस कारण उसके आश्रय धर्मी में परोक्ष अर्थ की जो प्रतीति होती है, वह अनुमान है, क्योंकि वह त्रिरूपलिंग से जायमान है। ऐसा जो अनुमान है वही परोक्ष अर्थ (सामान्यलक्षण) का एकमेव प्रमाण है, क्योंकि परोक्षार्थ में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं होती।⁷⁹ आचार्य प्रज्ञाकर यहाँ यह भी इंगित करते हैं कि विशेष गमक से विशेष अग्नि का अनुमान होता है, तो भी, साध्य की विशेषावगति नहीं होती, क्योंकि गमक या हेतु से साध्य में स्थित कुछ ही विशेषताओं का ज्ञान हो सकता है, सभी विशेषताओं का उसके द्वारा ज्ञान नहीं हो सकता। जिस किसी भी स्थान में जिस प्रकार की जितनी भी आग है, उस स्थान पर सभी आकार वाली अग्नि का परिस्फुट ज्ञान केवल प्रत्यक्ष द्वारा ही होता है, अनुमान से नहीं। साधारणतः धूमलिंग से जो अग्नि का अनुमानज्ञान होता है वह अव्यक्त (अनभिव्यक्त या अविशद) ही होता है, अर्थात् वह ज्ञान अस्फुट ही होता है। यदि कहा जाय कि विशेष दृष्टि से सरिता का विशिष्ट प्रवाह तो हमको दिखलायी ही पड़ता है, तो हमारा उत्तर है कि ऐसा है अवश्य, किन्तु, विशेष गमक से उस विशेष वस्तु की सापेक्ष एवं सीमित विशेषताओं की ही अधिगति हो पाती है, समस्त विशेषताओं का ज्ञान नहीं हो पाता।⁸⁰ इसी कारण आचार्य धर्मकीर्ति आगे कहते हैं — “प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो प्रकार के प्रमेयों के अतिरिक्त कोई तीसरा प्रमेय नहीं होता, इसलिए प्रमेय की द्विविधता के चलते दो प्रमाण माने जाते हैं।”⁸¹ द्विविध ही प्रमेय हैं, इस सिद्धि से तीसरे प्रमेय का भी निरास हो जाता है और एक का भी, अतः प्रमाण भी दो हैं, न तीन, न एक।⁸² मनोरथनन्दि कहते हैं— प्रमाण दो हैं एक नहीं, सामान्यलक्षण स्वरूप मेय का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं होता और स्वलक्षण का ग्रहण सामान्यग्राहक अनुमान से नहीं होता, क्योंकि सामान्य कल्पनात्मक एवं विकल्पक होता है और प्रत्यक्षगृहीत स्वलक्षण निर्विकल्प एवं कल्पनापोढ होता है।⁸³ आचार्य प्रज्ञाकर अपने भाष्य में स्पष्ट करते हैं कि यह पक्ष हम बौद्धों का नहीं है कि प्रमाणद्वित्व के आधार पर प्रमेयद्विविधत्व को सिद्ध किया जाता है। हम बौद्ध तो मेयाधीनामानसिद्धिः सिद्धान्त को मानते हैं। हमारे यहाँ प्रमेय साधक है और प्रमाण साध्य, न कि प्रमाण साधक है और प्रमेय साध्य। हमारे यहाँ प्रमेयसिद्धि के लिए ही प्रमाण माना जाता है, प्रमाणसिद्धि के लिए प्रमेय नहीं।⁸⁴ प्रमाण अंग है और प्रमेय अंगी है, अतः प्रमेय का द्विविधत्व ही प्रमाण के द्विविध होने का साधक है। प्रमेय की सिद्धि प्रमाण द्वारा प्रमाण की सिद्धि स्वसंवेदन से। हमारे यहाँ विषयाकार को ही प्रमाण कहते हैं और आकार

विषय पर आश्रित होता है। ज्ञान अपने में जब दो आकारों का संवेदन कर रहा है, तो उस स्थिति में प्रमाण की संख्या न एक हो सकती है, और न तीन, चार आदि। अतः सिद्ध हुआ कि द्वितीय प्रमेय होने के कारण दूसरा प्रमाण अनुमान भी सिद्ध हुआ।⁸⁵

अभी तक आचार्य धर्मकीर्ति ने सामान्यरूपेण अनुमान के प्रमाण होने का प्रतिपादन किया। इसके अनन्तर वे विशेष रूप से (अर्थात् त्रिविध हेतुओं — कार्यहेतु, स्वभावहेतु और अनुपलब्धिहेतु के द्वारा) अनुमान के प्रमाण होने को सिद्ध करते हैं। प्रमाणवार्तिक प्रत्यक्ष-परिच्छेद के 65 से 84 श्लोक के द्वारा (श्लोक 72 छोड़कर) कार्यहेतु एवं स्वभावहेतु से अनुमान की सिद्धि के अनन्तर अनुपलब्धिहेतु से भी (श्लोक 85-122) अनुमान की सिद्धि उनके द्वारा की जाती है। इस ग्रन्थ के चतुर्थ अध्याय के अन्त में 'क्या अभाव का प्रत्यक्ष होता है?' इस शीर्षक के अन्तर्गत 'हेतुबिन्दु' के आधार पर इस पर विचार किया गया है। अतः यहाँ केवल कार्यहेतु एवं स्वभावहेतु के द्वारा (श्लोक 2/72 को छोड़कर जहाँ अनुपलब्धिहेतु का भी अव्यभिचार दिखलाया गया है) अनुमान के प्रमाण होने को प्रस्तुत किया जा रहा है। कुछ विद्वान इस स्थल का उपयोग चार्वाकों के अनुमान विषयक अभिमत के निराकरण के रूप में भी करते हैं।

चार्वाक परलोक को असत् मानते हैं, अतः वह उनके लिए अप्रमेय हुआ। तथापि लोक में वह (परलोक) प्रमेय के रूप में माना जाता है। धर्मकीर्ति कहते हैं, "असत्त्व रूप होने से परलोक प्रमेय नहीं है" यह हेतु अनैकान्तिक है, तथापि वह प्रमेय माना जाता है। जिस प्रमाण से 'अनैकान्तिकता और अप्रमेयत्व के होने पर भी असदभावरूप परलोक की सिद्धि का निश्चय होता है, वह अनुमान प्रमाण है। असदभाव रूप वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता।⁸⁶ अभाव का निश्चय प्रत्यक्ष से ही होता है (जैसा नैयायिक मानते हैं) तो व्यवधान के होने पर भी घटादि का मान (ज्ञान) होने लगेगा।⁸⁷ विरोधी कह सकता है कि निवृत्ति के द्वारा (जैसे यहाँ पर घट नहीं है, इससे) अभाव का निश्चय प्रत्यक्ष से भी होता है। धर्मकीर्ति का कहना है कि यह तो विरोधात्मक कथन है, ठीक वैसा ही जैसे कोई कहे कि वह आँख बन्द करके देखता है। अतः, जब अन्वय एवं व्यतिरेक से युक्त प्रत्यक्ष की अप्रवृत्ति को प्रत्यक्ष का गमक माना जाता है, तब उसे अनुमान ही क्यों न माना जाय? पुनश्च, परचैतन्य (परकीय चैतन्य) की प्रतिपत्ति से प्रमाद्वय (प्रत्यक्ष और अनुमान) की सिद्धि हो जाती है। आशय यह है कि स्वकीय चैतन्य का तो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से, व्यवहारादि एवं प्रवृत्ति के आधार पर, ज्ञान हो जाता है। परकीय चैतन्य में ही तद्वत् व्यवहार एवं प्रवृत्ति आदि को पाकर अनुमान प्रमाण से उसका निश्चय हमें हो जाता है। अतः, स्वकीय एवं परकीय चैतन्य की प्रतिपत्ति से प्रत्यक्ष एवं अनुमान इन दोनों प्रमाणों की सिद्धि होती है। विरोधी का कथन

है कि विषय के अव्यभिचार से अविसंवाद होने के कारण प्रत्यक्ष को प्रमाण माना जाता है, किन्तु अनुमान के प्रसंग में ऐसा नहीं है, क्योंकि कहीं-कहीं, जैसे धूमदर्शन आदि में, विषयव्यभिचार की प्राप्ति होती है, अतः, अनुमान के प्रामाण्य के विषय में आश्वस्त नहीं हुआ जा सकता। धर्मकीर्ति कहते हैं कि यह उचित पक्ष नहीं, क्योंकि व्यभिचारदर्शन अलिंग में लिंग की भ्रान्ति के स्थल पर ही होता है, सदहेतु स्थल पर व्यभिचार नहीं होता, अतः, अनुमान के प्रामाण्य में अविश्वास के लिए अवकाश नहीं।⁶⁸ जहाँ भी धूमादि लिंग को देखकर हम अग्नि का अनुमान करते हैं अथवा धूमदर्शन से अग्नि वस्तु को सिद्ध करते हैं, ऐसे सभी स्थलों पर लिंग अथवा हेतु अपने कारणीभूत पदार्थ से अवश्य ही उत्पन्न हुआ रहता है; सदहेतु अपने कारणीभूत विषय का अवश्य ही कार्य अथवा स्वभाव होता है। अतः ऐसे सदहेतुओं से होने वाले ज्ञान में अनाश्वस्त होने का कोई अवसर ही नहीं रहता। कारण यह है कि धूमादि रूप कार्यहेतु एवं शिंशपात्व रूप स्वभावहेतु का क्रमशः अपने कारणीभूत अथवा व्यापकीभूत पदार्थ अग्नित्व एवं वृक्षत्व से कभी भी व्यभिचार संभव नहीं, अर्थात् अग्नि रूपी कारण के बिना कार्यरूप धूम एवं व्यापकीभूत वृक्षत्व के बिना स्वभाव रूप शिंशपात्व संभव ही नहीं, वे उत्पन्न ही नहीं हो सकते कि कहीं पर वे उपलब्ध हो सकें। फलतः, इन सदहेतुओं से आविर्भूत अनुमान प्रमाण में व्यभिचार नहीं होता। धूम एवं शिंशपात्व रूप इन सदहेतुओं का जो रूप हमें दृष्ट होता है (कार्यहेतु धूम एवं अग्नि में कारण-कार्य सम्बन्ध है और शिंशपात्व वृक्षत्व का स्वभाव ही है) वही अन्य हेतुओं का भी लक्षण समझना चाहिए। कार्यहेतु एवं स्वभाव हेतु में व्यभिचाराभाव की प्रसिद्धि के अनन्तर अनुपलब्धिहेतु में भी उस तथ्य की सिद्धि के प्रसंग में आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं— 'उपलब्धियोग्य निमित्त (कारण) अथवा व्यापक (स्वभाव) के होने पर भी उपलम्भ न होना योग्यानुपलम्भ है। उसके भाव में तद्वतः (दृश्यानुपलम्भवान भाव की) भाव या सत्ता क्यों कर होगी। आशय यह है कि उपलब्धि योग्य हेतुओं (कारण या व्यापक) के अनुपस्थित रहने पर उनसे प्रतिबद्ध कार्य एवं स्वभाव की अनुपस्थिति सिद्ध होती है। जहाँ पर कारण एवं व्यापक का अभाव नहीं वहाँ कार्य एवं स्वभाव की भी असत्ता नहीं होती। यही अनुपलब्धिहेतु का अव्यभिचार है। अतः धर्मकीर्ति त्रिविध हेतुओं से होने वाले त्रिविध अनुमान की उपपन्नता प्रदर्शित करते हैं।⁶⁹ आचार्य धर्मकीर्ति अनुमान के प्रमाण होने के लिए यह तथ्य भी उद्घाटित करते हैं कि यदि सामान्यज्ञान के साधन अनुमान को प्रमाण नहीं माना जाय, तो परलोक की भौति यावत् परोक्ष अर्थ के अभाव को मानना पड़ेगा। यदि परलोकभिन्न अन्य अर्थों का अभाव न मानने के लिए कहा जाय कि उनका भाव इसलिए है, क्योंकि आज नहीं तो भविष्य में कभी न कभी वे चक्षु के समक्ष आ ही जाते हैं, किन्तु परलोक की यह स्थिति नहीं, अतः परलोकाभाव मान्य

है। आचार्य धर्मकीर्ति प्रश्न करते हैं कि क्या तब अक्षादि में निहित अर्थ को ग्रहण करने की शक्ति का अभाव मान लिया जाय, क्योंकि उसका भी ग्रहण कभी चक्षु से नहीं होता? यदि इस स्थिति को भी स्वीकार किया जाय तो पुनः प्रश्न है कि उस स्थिति में अक्ष से होने वाले ज्ञान का कारण कौन होगा? तब अक्षज ज्ञान अनिमित्तक हो जायेगा। अतः, सिद्ध हुआ कि सामान्यज्ञान का ग्राहक अनुमान प्रमाण है। आचार्य प्रज्ञाकर यहाँ यह भी इंगित करते हैं कि अतीन्द्रिय अर्थ की अवगति कार्यहेतु अथवा स्वभावहेतु से होती है। अनुमान के अभाव में वह ज्ञान अनिमित्तक हो जायगा। अतः, रूपदर्शनादि ज्ञान का साक्षात् कर उसके योग्य कारण अक्षादि का अनुमान कर लिया जाता है। पुनश्च, स्वलक्षण में प्रत्यक्ष की गति अविकल्पकत्वेन ही होती है, जबकि बिना विकल्प के सामान्य का ग्रहण नहीं होता। अतः, सामान्यलक्षण के ज्ञान में अनुमान का सामर्थ्य माना जाता है।⁹⁰

तदनन्तर आचार्य धर्मकीर्ति आशंकाओं को उपस्थित कर (श्लोक 2/76 से श्लोक 2/79 की प्रथम पंक्ति तक) उसका उत्तर देते हुए (श्लोक 2/79 की द्वितीय पंक्ति से श्लोक 2/84 तक) इस प्रकरण को समाप्त करते हैं। आशंका है कि प्रमेय-नियम मानने पर, अर्थात् यह मानने पर कि केवल स्वलक्षणविषयक प्रतीति प्रत्यक्ष से और केवल सामान्यलक्षणविषयक प्रतीति अनुमान प्रमाण से होती है, नीलादिवर्ण की अनित्यता का ज्ञान न तो प्रत्यक्ष से हो सकेगा और न तो अनुमान से ही, क्योंकि सामान्यलक्षण विषयक होने से प्रत्यक्ष वहाँ प्रवृत्त नहीं होगा, चूँकि लिंग के बिना भी उसका ज्ञान होता है, अतः अनुमान की भी उसमें प्रवृत्ति नहीं होगी। ऐसी स्थिति में अनित्यता रूप सामान्यलक्षण से विशिष्ट स्वलक्षण को विषय करनेवाली प्रतीति के लिए प्रमाणद्वय से इतर तीसरे प्रमाण को मानना पड़ेगा। पुनश्च, रसोईघर जैसे विशेष स्थल पर अग्नि एवं धूम का सहचार देखकर व्याप्तिसम्बन्ध का बोध होता है। किन्तु अनित्य नीलादि के ज्ञान में तो लिंग-सम्बन्ध की कोई प्रतीति नहीं होती। फलतः, एतदर्थ तीसरा प्रमाण मानना ही चाहिए। सामान्य-विशेष के भेदबहुत्व के अनुसार प्रमाणबहुत्व भी मानना असंगत नहीं।⁹¹ पुनश्च, एक ही अग्नि आदि अर्थ में प्रत्यक्ष भी और अनुमान भी प्रवृत्त होते हैं और हम यह भी पाते हैं कि अनेक पदार्थों में प्रवृत्त हुआ एक ही प्रमाण उन विषयों के प्रामाण्य को सिद्ध करने में समर्थ है। अतः, दो ही प्रमेयों का नियम बनाकर एक प्रमाण अथवा तीन प्रमाणों के होने का निराकरण संभव नहीं। अतः, प्रमेयान्तर (दो प्रमेयों के नियम से भिन्न प्रमेय) के संभव होने से फलित हुआ कि प्रमाणबहुत्व को स्वीकार करना चाहिए।⁹²

आचार्य धर्मकीर्ति उत्तर देते हुए लिखते हैं 'योजनाद् वर्णसामान्ये नायं दोषः

प्रसज्यते”¹⁵³ आशय यह है कि विकल्पक ज्ञान के द्वारा अनित्यता की वर्णसामान्य में योजना होती है, इस कारण सामान्यविशेषात्मक प्रमेय के ग्राहक प्रत्यक्ष तथा अनुमान से इतर अन्य प्रमाण को स्वीकार करने के दोष की प्रसक्ति हम बौद्धों के पक्ष में नहीं होती। विशेष को अनित्यता के साथ योजित नहीं किया जाता, क्योंकि विशेष विकल्पों का विषय नहीं होता।¹⁵⁴ प्रज्ञाकर का स्पष्टीकरण है कि विरोधी द्वारा हम पर प्रक्षिप्त दोष ‘सामान्य-विशेष के पृथक्भाव की स्थिति में होता, सामान्यैकत्व की स्थिति में नहीं। यदि अनित्यत्व को वर्णत्वसामान्य के साथ योजित किया जाता है, तो वह नीलादि अर्थ का धर्म नहीं होगा, क्योंकि जो धर्म जिससे युक्त होने के रूप में प्रतीत होता है वह उसी का ही धर्म होता है। अतः अनित्य और सामान्य से सम्बन्धित होने वाला धर्म वस्तु अर्थात् नीलादि का धर्म नहीं हो सकता, वह सामान्य का ही धर्म होगा।¹⁵⁵ धर्मकीर्ति पुनः स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ‘नीलादि अनित्य हैं’ यहाँ पर जो प्रतीयमान अनित्यता है वह अवस्तु धर्म नहीं है, क्योंकि उसकी सिद्धि के पूर्व उसकी उसी रूप में सिद्धि की जाती है।¹⁵⁶ आशय यह है कि अनित्यत्वादि अवस्तु रूप नहीं क्योंकि, अनित्यत्वादि आकारों के द्वारा वस्तु का ही निश्चय होता है। विकल्पों की विषयव्यवस्था अध्यवसाय के ही अनुरोध से की जाती है। यद्यपि ये विकल्प अपने आकार को ग्रहण करने वाले होते हैं, तथापि अनादि अभ्यासविशेष के कारण बाह्य विषय की दृष्टि से उनकी व्यवस्था की जाती है। वस्तुप्रतिबद्धलिंग से उद्भूत होने के कारण अनुमान यथावस्थित ही वस्तु का निश्चय (अध्यवसाय) करता है। इस प्रकार, यह सिद्ध हुआ कि वस्तु ही क्षणस्थितिधर्मक है। अतएव, अनित्यत्वादि अवस्तु रूप नहीं हैं।¹⁵⁷

यदि विरोधी यह आशंका करे कि अवस्तुभूत सामान्य के साथ अनित्यता का सम्बन्ध सिद्ध हो जाने पर अनित्यरूप वस्तु की सिद्धि नहीं होती है, तो हम बौद्धों का उत्तर है कि यह आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि उस ही अनित्यरूप वस्तु की सिद्धि अनुमान के द्वारा व्यवसाय से होती है।¹⁵⁸ आचार्य प्रज्ञाकर भी इस प्रसंग में कहते हैं कि जो अनित्यत्वादिक वर्णत्व विकल्प में प्रतीत होता है वह स्वलक्षण में भी विद्यमान ही रहता है, क्योंकि स्वलक्षण के अनुभव से ही तद्रूपविकल्प की उत्पत्ति होती है। यदि विकल्प स्वलक्षण से प्रतिबद्ध नहीं है, क्योंकि स्वलक्षण में विकल्प प्रतिभासित नहीं होता, तो, उसकी ही वैसी प्रसिद्धि कैसे होगी? परम्परा सम्बन्ध के कारण तो ऐसा होता नहीं है। अतः, साक्षात् रूप से सम्बन्ध नहीं है, फिर भी परंपरया सम्बन्ध होता है, यही उस अविकल्प (स्वलक्षण) का अविशंबादित्व है।¹⁵⁹ विरोधी यहाँ यह पूछ सकता है कि वस्तु का अध्यवसाय होने पर उसमें संवादकता भी आ जाती है यह आपलोग कैसे मान

लेते हैं? यह भी तो संभव है कि अध्यवसाय होने पर भी संवादकता न रहे। आचार्य धर्मकीर्ति का उत्तर है कि जो साध्यधर्म जिस तरह का होता है (जिस कारण या व्यापक स्वभाव वाला होता है) वह उसी तरह के लिंग की चेतना का परम्परया हेतु होता है। उपर्युक्त कारण से लिंग की चेतना से उत्पन्न उस प्रकार की वस्तु में (कारण या व्यापकरूप साध्यधर्म में) लिंगी की बुद्धि होती है। इस कारण, परंपरया साध्य के साथ सम्बन्ध (प्रतिबन्ध) होने से लिंगी की बुद्धि सत्तावान वस्तु में ही (जिसकी सत्ता है उस वस्तु में ही) होती है। अतएव, उसके संवाद के कारण वह प्रमाण ही है।¹⁰⁰

उपर्युक्त प्रसंग में एक अन्य आशंका उठायी जाती है कि लिंग भी लिंगी के समान सामान्य ही है। तद्वत् यह धूम है अथवा यह कृतक है यह स्थिति लिंग की नहीं है। वह्निकार्यतया धूम और अनित्यत्वकार्यतया कृतकत्व गृहीत होता है। जो विशेष है उसमें व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता। सामान्य प्रत्यक्षगम्य है नहीं, अतएव विकल्प मात्र के द्वारा उसकी प्रतीति में आश्वस्त होने की बात नहीं है। बौद्धपक्ष का उत्तर है कि आपने जो कहा है वह दोष नहीं है। प्रत्यक्ष के द्वारा (प्रत्यक्ष हुए धूम के द्वारा) कारण एवं कार्य में व्यावृत्तिद्वयविशिष्ट जिसका ग्रहण होता है उसमें विजातीय व्यावृत्ति के आश्रय से उत्पन्न विकल्प के द्वारा और कहीं अनुमान के द्वारा व्याप्ति को ग्रहण करता हुआ, बाद में 'धूम' एवं कृतकत्व रूप हेतु का दर्शन होने से तादृश्य में कार्य की जो बुद्धि है वही लिंगबुद्धि है और वह लिंगबुद्धि उसके साथ प्रतिबद्ध होती है, इस कारण वह अनुमान ही है। अतएव, उनके साक्षात् स्वरूप के प्रतिभास की शून्यता का भी लिंग-लिंगी वस्तु में संवादन है।¹⁰¹ आचार्य प्रज्ञाकर भी कहते हैं कि प्राप्ति साक्षात्स्वरूप का प्रतिभास होने से ही होती है ऐसा नहीं है, क्योंकि अध्यवसाय से भी वस्तु की प्राप्ति संभव है। प्रवर्तमान पुरुष ही प्रतिभासमात्र के कारण वस्तु को प्राप्त करता है। अध्यवसाय से भी प्रवर्तन देखा गया है, यदि ऐसा नहीं है तो प्रतिभास के कारण भी (केवल प्रतिभास के कारण) प्रवर्तन नहीं होता है। व्यक्ति पहले अभ्यास के कारण अध्यवसाय के द्वारा प्रवर्तित हुआ और बाद में प्रतिभास के कारण प्रवर्तित होने में समर्थ होता है। इस कारण, जिसका अस्तित्व है उसमें प्रवृत्त होने पर उसकी प्राप्ति होती है। जिस प्रकार प्रतिभासमान वस्तु की अस्तित्व है, उसी प्रकार प्रतिभासमान कारण अथवा व्यापक की भी अस्तित्व है। जिस प्रकार प्रतिभास के कारण यह ज्ञात होता है कि 'अमुक वस्तु है' उसी प्रकार प्रतिबद्ध प्रतिभास के कारण भी वह ज्ञान होता है।¹⁰²

चार्वाकों की ओर से यह भी आशंका उठायी जा सकती है कि लिंगबुद्धि का लिंगीबुद्धि से पृथक् उपस्थापन व्यर्थ है। आप बौद्ध यदि कहें कि पृथक् उपस्थापन व्यर्थ नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षोद्भूत विकल्प अथवा उसकी बुद्धि विप्रतिपत्ति का निरास करने

के लिए है, तो हमारा कहना है कि यदि प्रमाण में लिंगलिंगीबुद्धि होती है (यदि लिंगलिंगीबुद्धि प्रमाण है) तो उसे प्रत्यक्ष की तरह अभ्रान्त होना चाहिए। आचार्य धर्मकीर्ति उत्तर देते हैं कि उन दोनों अर्थात् लिंग-लिंगी रूप में अध्यवसाय के कारण प्रवर्तन होने पर वस्तु में परम्परा के चलते और तत्प्रतिबद्धता के चलते लिंगलिंगीरूप के संवादकत्व में भी भ्रान्ति की व्यवस्था हमारे द्वारा की गयी है। कारण यह है कि ये दोनों बुद्धियाँ लिंगलिंगी के स्वरूप में प्रतिभासित होने वाली नहीं हैं, क्योंकि ये अपने प्रतिभास में, जो अर्थ नहीं है उसमें अर्थ के अध्यवसाय के द्वारा प्रवृत्त होती हैं।¹⁰³ आचार्य प्रज्ञाकर इसे स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि स्वभावहेतु से उत्पन्न लिंग की बुद्धि लिंगी की ही बुद्धि है, क्योंकि लिंग और लिंगी में परमार्थतः भेद नहीं होता। लिंगी की बुद्धि कार्य का हेतु है, अतः कारणविषया है। लिंग एवं लिंगी में भेद होता है, इस कारण यह लिंग की बुद्धि है, ऐसा नहीं है। अत्यन्त अभ्यास के कारण इस धूम से अग्नि की बुद्धि, स्वलक्षण का ग्रहण करनेवाली धूमबुद्धि में उत्पन्न नहीं होती, ऐसा नहीं है। धूम का तत्त्वेनग्रहण ही प्रतिबद्धता है और वह प्रत्यभिज्ञान के कारण तथा प्रत्यभिज्ञान तद्रूप के दर्शन के कारण अनुमान ही है। पुनश्च, तद्रूप का दर्शन प्रत्यक्ष है, जो कि अत्यन्ताभास के कारण व्यवहार का कारण है, अतएव अनवस्थादोष भी नहीं है। उपर्युक्त कारण से स्वलक्षण का ग्रहण ही लिंग की प्रतिपत्ति है। जो अग्निप्रतिबद्धधूम है उसका तथा उसके सामान्य का ग्रहण और उसके रूपदर्शन के कारण जो उदित हुआ उसका अध्यवसाय करता हुआ अनुमान ही लिंगीप्रतिपत्तिरूप है, वह कोई अन्य नामवाला प्रमाण नहीं है।¹⁰⁴

प्रमाणान्तर्भावपरीक्षा

बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों को नहीं मानते। उनका सर्वप्रमुख एवं सर्वविदित तर्क यह है कि चूँकि मान की संख्या मेयानुसार होती है, और मेयद्विविध ही हैं, अतः मान (प्रमाण) भी दो प्रकार के होंगे। यहाँ हम दो बातों पर विचार करेंगे— (1) शब्द, उपमान, अर्थापत्ति एवं अभाव को प्रमाण क्यों नहीं माना जाय। (2) यदि शब्दादि प्रमाण नहीं हैं, तो बौद्धेतर दार्शनिक शब्दादि प्रमाणों से जिस प्रकार के ज्ञान की बात करते हैं उनका अन्तर्भाव बौद्ध किस प्रमाण के अन्तर्गत करेंगे।

यद्यपि अन्य प्रमाणों का प्रमाण के रूप में खण्डन तथा उनका प्रत्यक्ष या अनुमान में अन्तर्भाव का सविस्तर विवेचन तत्त्वसंग्रह आदि ग्रन्थों में हुआ है, तथापि चूँकि वह हमारा प्रतिपाद्य विषय नहीं, अतः इस प्रसंग की अपनी विवेचना के लिए हम दो परवर्ती दार्शनिकों की— रत्नकीर्ति एवं मोक्षाकरगुप्त की— रचनाओं को आधार बनायेंगे। आचार्य रत्नकीर्ति प्रामाण्य को 'प्रमाणान्तरागृहीतनिश्चितप्रवृत्तिविषयार्थतया

तत्प्रापणे शक्तिः¹⁰⁵ कहते हैं और यह प्रतिपादित करते हैं कि यह प्रमाणशक्ति प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों में समानरूप से होती है, अतएव दोनों ही प्रमाण हैं। मोक्षाकर गुप्त अपनी तर्कभाषा में शब्द ज्ञान के प्रमाणत्व का खण्डन इस प्रकार करते हैं :-

‘शब्दज्ञान को प्रमाण माना जाना चाहिए, क्योंकि यह बाह्यार्थ का अविसंवादक होता है। मोक्षाकर गुप्त कहते हैं कि बिना किसी सम्बन्ध को माने अविसंवादकता की संगति शब्द के साथ नहीं बैठ सकती और हम पाते हैं कि शब्द का बाह्यार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि शब्द और उसके अर्थ में तादात्म्यसम्बन्ध तथा तदुत्पत्तिसम्बन्ध दोनों ही उपपन्न नहीं हैं। तादात्म्यसम्बन्ध इसलिए मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द और इसका अर्थ (बाह्यार्थ) दोनों ही अत्यन्त भिन्न रूप में प्रतिभासित होते हैं। तादात्म्यसम्बन्ध एकत्व सम्बन्ध है और यदि अत्यन्त भिन्न रूप में प्रतिभासित होने वालों में एकत्व को स्वीकार कर लिया जाय, तो, गाय और अश्व में भी एकत्व मानना होगा। ऐसे ही, अन्वय और व्यतिरेक सम्बन्ध का अभाव होने से उनमें तदुत्पत्तिसम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता। यह भी कहना संभव नहीं कि इन दोनों में से अमुक की अमुक से उत्पत्ति होती है, क्योंकि शब्दव्यापार के बिना भी, मिट्टी, दण्ड, जल, कुम्हार तथा चक्र आदि अपने हेतुओं के सम्बन्ध से ही उत्पन्न होता हुआ घट आदि अर्थ दीख पड़ते हैं। शब्द भी, बिना बाह्यार्थ के ही, पुरुष की इच्छामात्र से तालुआदि के व्यापार से ही उत्पन्न होता है। यदि शाब्दप्रमाणवादी कहें कि तादात्म्य और तदुत्पत्ति से भिन्न वाच्यवाचकरूप शब्द और अर्थ का वास्तविक सम्बन्ध है, तब तो शब्दसंकेत से अनभिज्ञ व्यक्ति को भी, शब्दोच्चारण मात्र से नियत अर्थ की प्रतीति उसी तरह होनी चाहिए, जैसे योग्यतामात्र से दीपक से घटादि अर्थों की प्रतीति होती है। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। उदाहरणार्थ, नालिकेर द्वीप से सद्यः आया हुआ पुरुष अग्नि शब्द को सुनकर उस शब्द से किसी अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं करता। और, यदि फिर शब्दवादियों के द्वारा कहा जाय कि उन-उन संकेतों की अपेक्षा करके ही वे-वे शब्द अपने-अपने अर्थों की प्रतिपत्ति कराने में समर्थ होते हैं, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि वैसी स्थिति में सभी जगह संकेत की योग्यता को स्वीकार करना पड़ेगा और यह भी ज्ञान नहीं होगा कि वक्ता ने किस विवक्षित अर्थ को कहा है, वह अपना विवक्षित अर्थ बतलाना चाहता है, अथवा अन्य कुछ। यदि आप कोई अन्य तरह का सम्बन्ध मानें, तो वह सम्बन्ध इन दोनों के साथ किस सम्बन्ध से सम्बन्धित है। यदि इसके लिए एक अन्य सम्बन्ध की आप परिकल्पना करें, तो वहाँ भी उपर्युक्त प्रश्न उठेगा और फिर एक अन्य सम्बन्ध की परिकल्पना करनी होगी, फलतः अनवस्थादोष अनिवार्य है। अनवस्थादोष के कारण अन्तिम सम्बन्ध के सिद्ध न होने से पहले के सम्बन्ध भी असिद्ध हो जायेंगे।¹⁰⁶

पुनश्च यह भी नहीं कहा जा सकता कि असम्बद्ध होना ही शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है, क्योंकि जो सम्बद्ध ही नहीं है वह सम्बन्ध कैसे हो सकता है। यह भी कहना अयुक्त है कि सम्बन्ध का स्वभाव ही इस तरह का होता है कि अन्य सम्बन्ध की बिना अपेक्षा किये वह एक से दूसरे को सम्बन्धित कर देता है, क्योंकि प्रमाण से सिद्ध स्वभाव के विषय में ही बाद में कुछ कहा नहीं जाता। विचार करने पर भी सम्बन्ध के विषय में वैसी प्रामाणिकता दिखलायी नहीं पड़ती। यह भी कहना संभव नहीं कि शब्दशक्ति का ऐसा स्वभाव ही है कि शब्द नियतार्थ का कभी उल्लंघन नहीं करता, क्योंकि तब संकेतान्तर की अपेक्षा करके प्रयोगकर्ता पुरुष की इच्छा से अश्वदि का निर्देश नहीं हो सकेगा। इतना ही नहीं, आप्तपुरुषों द्वारा प्रणीत शब्दों को भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि यही निश्चित करना संभव नहीं कि आप्त कौन है? अतः, उस-उस प्रकार के संकेत से वक्ता के इच्छानुसार शब्द भिन्न प्रकार के अर्थों का बोध कराते हैं। इसीलिए, कहा जाता है कि शब्द वक्ता के अभिप्राय को सूचित करते हैं। आचार्य रत्नकीर्ति भी विस्तार से अनुमान प्रयोग करते हुए शब्द के प्रमाण न होने का मण्डन करते हैं और निष्कर्षतः कहते हैं कि शब्द का बाह्य अर्थ में प्रमाण नहीं है। जहाँ तक ज्ञानाकार की बात है, तो उस प्रसंग में शब्द की स्थिति अनुमान से भिन्न नहीं है, क्योंकि शब्द तत्कार्यप्रसूत (ज्ञान के आकार से उत्पन्न) होता है।¹⁰⁷ इस प्रकार शब्दज्ञान का अन्तर्भाव अनुमान में ही होना चाहिए।

उपमान

हर एक प्रामाणिक ज्ञान सविषयक होता है, किन्तु मीमांसकों द्वारा कथित उपमान प्रमाण निर्विषयक है, अतः वह ज्ञान ही नहीं है। जिस ज्ञान की सविषयता नहीं होती उसका प्रामाण्य नहीं होता, जैसे कि —केशोण्डुक ज्ञान का प्रामाण्य नहीं है, क्योंकि वह निर्विषयक ज्ञान है। उपमान ज्ञान की भी सविषयता सिद्ध नहीं होती है। सादृश्य से विशिष्ट पिण्ड (वस्तुविशेष) को अथवा पिण्ड से विशिष्ट सादृश्य को मीमांसक उपमान का विषय मानते हैं, किन्तु मीमांसकों द्वारा यह व्यवस्थापित नहीं किया जा सकता कि सादृश्य वस्तु से व्यतिरिक्त है, क्योंकि किसी भी प्रमाण से उनकी प्रतीति नहीं होती है। उदाहरणार्थ, यदि सदृश वस्तुओं से अतिरिक्त सादृश्य को दृश्य (वस्तु) माना जाय, तो यह दृश्यानुपलभग्रस्त होगी और यदि उसे अदृश्य माना जाय तो, तत्प्रतिबद्धहेतु का अभाव होने से अनुमान के कारण भी उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। सादृश्यज्ञान तो अपने हेतुओं से उत्पन्न सदृश वस्तुओं के द्वारा भी संभव है, अतएव सादृश्यज्ञान के द्वारा सादृश्यसम्बन्ध की सिद्धि मानना युक्त नहीं है। यदि मीमांसक कहें कि उपमान प्रमाण के बल के कारण ही सादृश्य की सिद्धि होती है, तो,

हम बौद्ध इसका निषेध करते हैं। कारण यह है कि उपमान से अन्य प्रमाण के द्वारा सिद्ध सादृश्य पिण्ड, जिनमें विशेष्यविशेषणभाव होता है, उपमान के विषय होते हैं। ऐसी स्थिति में उपमान से सादृश्यमात्र की सिद्धि कैसे हो सकती है? फलतः, सादृश्य की सिद्धि न होने पर सादृश्यविशिष्ट पिण्ड अथवा पिण्डविशिष्ट सादृश्य उपमान का विषय नहीं हो सकता। अतः मीमांसकों के उपमान की निर्विषयता सिद्ध है और इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि उपमान प्रमाण नहीं है।¹⁰⁸

नैयायिकों के अनुसार किसी नवीन वस्तु को पहचानकर उसका निश्चित नाम रखना ही उपमान है— 'समाख्या सम्बन्धः प्रतिपत्तिरुपमानार्थः'। अथवा जिस वस्तु से कोई पूर्व परिचय नहीं है, उसको अन्य वस्तु की उपमा से प्रत्यक्ष होने पर पहचानना ही उपमान है, अथवा अज्ञात को ज्ञात के उदाहरण से जानना ही उपमान है। जैसे, किसी नगर निवासी ने कभी किसी नीलगाय को नहीं देखा है। वह वन में जाकर किसी जंगलनिवासी से पूछता है कि नीलगाय कैसी होती है। वह बताता है कि गाय के समान होती है। तदनन्तर नीलगाय को देखकर यह निश्चय करना कि यही 'नीलगाय' होनी चाहिए, इस प्रक्रिया को ही उपमान कहते हैं। आचार्य रत्नकीर्ति कहते हैं कि 'निर्विषयक होने से नैयायिक सम्मत उपमान भी प्रमाण नहीं है। नैयायिक समाख्यासम्बन्ध को उपमान का विषय बतलाते हैं, किन्तु परमार्थतः तो वह है नहीं। पुनश्च, हमारा प्रश्न है कि वह सम्बन्ध सम्बन्धित से भिन्न है अथवा अभिन्न? यदि भिन्न है, तो वह दो के बीच का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? यह तो कहा नहीं जा सकता कि वह अन्य सम्बन्ध के चलते होता है और यदि इसे मान भी लें, तो इससे अनवस्था की स्थिति प्राप्त होगी।'¹⁰⁹ यह भी कहना उचित नहीं होगा कि जिस प्रकार दीपक अन्य दीपक के बिना ही प्रकाशित होता है उसी तरह सम्बन्ध भी अन्य सम्बन्ध के बिना ही सम्बद्ध हो जायेगा। रत्नकीर्ति कहते हैं कि 'वस्तुरूप के प्रमाणसिद्ध होने पर 'यह इसका स्वभाव है' ऐसा वर्णन किया जाता है। दीपक के ही स्वभाव की तरह सम्बन्ध तो प्रमाण से प्रतीत है नहीं, तो फिर कौन यह जाने कि 'इसका वह स्वभाव है अथवा यह इसका स्वभाव नहीं है। यदि यह कहा जाय कि सम्बद्ध-ज्ञान का कारण वह सम्बन्ध है, तो यह भी ठीक नहीं है, 'ये दोनों सम्बद्ध हैं' इस प्रकार का ज्ञान अपने हेतु के बल से दो वस्तुओं से भी संभव हो सकता है, अतएव भिन्न सम्बन्ध की सिद्धि नहीं हो सकती और यदि नैयायिकादि इसे अभिन्न मानें, तो उस स्थिति में सम्बन्ध रखने वाले दो सदस्य ही रहेंगे (केवल दोनों सम्बन्धी ही रहेंगे), समाख्या नामक सम्बन्ध नहीं होगा जो कि उपमान का विषय है। पुनश्च, सम्बन्धबुद्धि की जनकता सम्बद्ध पदार्थ से या तो भिन्न होगी अथवा अभिन्न। यदि भिन्न है, तो वह सम्बन्ध ही है और भेद केवल नाम का है। यदि अभिन्न है, तो जिस प्रकार सम्बद्ध पदार्थ का स्वभाव सर्वपदार्थसाधारण

होता है उसी तरह वह भी रूप उससे व्यतिभिन्न और सभी पदार्थों में सामान्यरूप से है, फलतः, उस पदार्थ को अभिमत पदार्थ के साथ तथा अन्य पदार्थों के साथ भी सम्बद्ध होना चाहिए। अतएव, सम्बन्ध का अभाव होने के कारण पूर्वोक्त न्याय से तथा सारूप्य का भी अभाव होने से नैयायिकों का निर्विषयवान् उपमान प्रमाण के रूप में असिद्ध है।¹⁰

अर्थापत्ति

प्रत्यक्षादि के द्वारा प्रतीत अर्थ की, जिस अर्थ की बिना परिकल्पना किये उपपन्नता नहीं हो सकती, उस अर्थ की परिकल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं। आचार्य रत्नकीर्ति इस लक्षण पर निम्न प्रकार से प्रहार करते हैं, और उसके प्रामाण्य का भी खण्डन करते हैं। जिस अर्थ के दर्शन के कारण जिस अर्थ की परिकल्पना की जाती है यदि उन दोनों के मध्य प्रतिबन्ध (सम्बन्ध, अविनाभावरूप सम्बन्ध) है, तो अर्थापत्ति अनुमान ही है। मीमांसक इस अनुमान की प्रक्रिया को भले ही अन्य नाम से अभिहित करें, उसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। पुनश्च, प्रश्न है कि प्रमाण द्वारा परिदृष्ट अर्थ की किसी (अन्य की परिकल्पना) के बिना संगति नहीं बैठ सकती, इस तथ्य की प्राप्ति कहाँ से होती है, यदि परिदृश्यमान और परिकल्प्यमान अर्थ के बीच अनियत सम्बन्ध है। यदि इससे अन्य स्थिति है तो उसके बिना (प्रत्यक्षादि द्वारा दृष्ट अर्थ से अन्य अर्थात् परिकल्प्यमान अर्थ के बिना) प्रत्यक्षादि से दृष्ट अर्थ की संगति नहीं बैठायी जा सकती, ऐसा निर्लज्ज के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कह सकता। रत्नकीर्ति का आशय यह है कि यदि परिदृश्यमान और परिकल्प्यमान के मध्य किसी तरह का सम्बन्ध है, तो मीमांसक यह कैसे कहते हैं कि प्रमाण से परिदृष्ट अर्थ की संगति एक अन्य अर्थ की परिकल्पना के बिना नहीं बैठायी जा सकती। यदि मीमांसक उन दोनों में नियत सम्बन्ध नहीं माने, तो 'उसके बिना इसकी उपपत्ति नहीं बैठायी जा सकती ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं होगा।'¹¹ वे पुनः कहते हैं कि "स च सम्बन्धः क्वचित् पूर्वमवश्यं प्रत्यक्षानुपलम्भतः, क्वचिददृश्यत्वेऽपि विपर्ययबाधकप्रमाणबलाद्वा निश्चेतव्यः। अन्यथा तेन विनानुपपत्तिज्ञानस्यैवानुपपत्ते" (पृ० 104)। ऐसा होने पर एक सम्बन्धिन् को देखकर जहाँ पर जो स्थित है उसके बिना उससे अन्य स्थान पर स्थित जिस वस्तु की उपपत्ति नहीं बैठायी जा सकती उस द्वितीय सम्बन्धित की परिकल्पना अनुमान ही है। चूँकि तथाकथित अर्थापत्ति में स्वभाव प्रतिबन्ध होता है, अतः अर्थापत्ति स्वभावहेतु से ही उत्पन्न है। यदि उसमें तदुत्पत्ति प्रतिबन्ध हो, तो, वह कार्यलिंग से उत्पन्न अर्थापत्ति है। दूसरी तरह से अनुपपन्नता की स्थिति अन्वय – व्यतिरेक सम्बन्ध में रहने वाले अर्थ में होती है, इस कारण अर्थापत्ति प्रमाणान्तर नहीं है। फलतः, परिदृश्यमान

और परिकल्प्यमान अर्थ में प्रतिबन्ध होने से अर्थापत्ति प्रमाणान्तर नहीं है। यदि इन दोनों में मीमांसक प्रतिबन्ध न मानें, तो, साक्षात् तथा परंपरया भी सम्बन्ध का अभाव होने से मीमांसकों को यह मानना चाहिए कि अर्थापत्ति प्रमाण ही नहीं होती है। जिसका जहाँ पर प्रतिबन्ध नहीं है उसका वहाँ पर प्रामाण्य नहीं होता।¹¹²

अभाव

अभाव भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह भी निर्विषयक ज्ञान है, जबकि प्रमाण होने के लिए ज्ञान को सविषयक होना चाहिए। मीमांसकों के उपमान के प्रामाण्य का निराकरण करने के लिए जिस विषयत्वाभाव रूप अनुपलम्भ का उल्लेख हमने किया है, वही बात यहाँ भी प्रयुक्त की जा सकती है।¹¹³ आचार्य कुमारिल ने वस्तुवादी तर्कसारिणी— 'यथार्थ सर्वविज्ञानम्', सभी ज्ञान अर्थानुकूल होते हैं— के आधार पर यह प्रश्न उठाया कि प्रमाण को, प्रमेय के स्वरूप के अनुकूल होना चाहिए। चूँकि ज्ञेय अभाव पदार्थ है, अतः उसको जानने वाला साधन (प्रमाण) भी अभाव या निषेध रूप होगा। इसी पृष्ठभूमि में रत्नकीर्ति निर्विषयक होने से अभाव न होने की बात कर रहे हैं। 'बौद्ध' अभाव को पदार्थ नहीं मानते। अतः, उनके लिए 'अभाव' नामक कोई अर्थ नहीं होता जिसकी सत्ता होती है। बौद्धों के लिए प्रमाण सर्वदा किसी मेय के अनुसार होगा, जैसे कि, स्वलक्षण मेय का ग्राही प्रमाण प्रत्यक्ष और सामान्यलक्षण का अनुमान है। जब अभाव नामक कोई विषय है ही नहीं, तो उस प्रकार के अर्थ (मेय) को जानने वाले प्रमाण का प्रश्न ही कहाँ उठेगा। आचार्य रत्नकीर्ति की आलोचना का मूल आशय यही है।¹¹⁴

इसके अतिरिक्त अन्य भी आधार हैं जिनके चलते अभाव को प्रमाण नहीं माना जा सकता। आचार्य मोक्षाकर गुप्त लिखते हैं— 'हमें तो अभाव का स्वरूप ही प्राप्त नहीं होता है। फलतः अभाव प्रमाण कैसे हो सकता है? प्रत्यक्षादि प्रमाणों की उत्पत्ति न होने को मीमांसक अभाव प्रमाण मानते हैं। प्रश्न उठता है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अनुत्पत्ति है क्या? क्या यह प्रसज्यवृत्ति से प्रमाण की अनुत्पत्ति मात्र है, अथवा पर्युदासवृत्ति से कोई अन्य वस्तु। यदि वह वस्तुन्तर भी है तो क्या यह जड़रूप है अथवा ज्ञानरूप? यदि ज्ञान है, तो क्या वह ज्ञानमात्र है अथवा किसी ज्ञानविशेष से सम्बन्धित किसी विषय का ज्ञान है? उपर्युक्त विकल्पों में अभाव को प्रसज्यरूप मानना उचित नहीं, क्योंकि प्रसज्यवृत्ति सर्वशक्तिरहित होने के कारण परिच्छेदक अथवा ज्ञानजनक नहीं हो सकती, अतएव उसे कोई भी ज्ञान नहीं पाता है। ऐसी स्थिति में यह प्रतिफलित होता है कि 'अभाव न तो किसी की प्रतिपत्ति है और न किसी प्रतिपत्ति का हेतु, अतः उसका ज्ञान कैसे हो सकता है? अभावज्ञान जड़रूप भी नहीं हो सकता, क्योंकि जड़

परिच्छेदक नहीं होता। वह ज्ञानमात्र भी नहीं हो सकता क्योंकि उस स्थिति में देश काल और स्वभाव से दूरस्थ वस्तुओं, जैसे सुमेरु आदि का भी, ज्ञानमात्र से, अभाव प्रमाण द्वारा अभाव मानना पड़ेगा। पुनश्च, यदि एक ज्ञान से सम्बन्धित भूतलादिवस्तु का ज्ञान ही अभाव कहा जाता है, तब तो प्रत्यक्षविशेष को ही अभाव संज्ञा दे दी जाती और इसमें हम बौद्धों को कोई आपत्ति नहीं है।¹¹⁵ अतः अभाव प्रमाण नहीं है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रमाण केवल दो हैं— प्रत्यक्ष और अनुमान। शब्द, उपमान, अर्थापत्ति एवं अभाव या अनुपलब्धि प्रमाण की कौटि में नहीं आते। वस्तुवादी, तथा वेदान्त आदि के इन प्रमाणों के अन्तर्भाव का जहाँ तक प्रश्न है, तो बौद्ध न्यायानुसार, जैसा श्वेतरवात्स्की, महोदय मानते हैं, 'उन सभी का अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है'।¹¹⁶

प्रत्यक्ष का लक्षण

प्रत्यक्ष ज्ञान की मौलिक विधा है। जो लोग प्रमाण मात्र पर प्रतिक्षेप नहीं करते उनके लिए प्रत्यक्ष की सबसे आदि में गणना होनी चाहिए, क्योंकि वह अन्य प्रमाणों की उपपन्नता के मूल में है। सभी अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक प्रवर्तित होते हैं। पुनश्च, प्रत्यक्ष का सिद्धान्त तत्त्वमीमांसा से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है, और तथ्य यह है कि तत्त्वमीमांसा या सत्ताशास्त्रीय विवेचन प्रत्यक्षसिद्धान्त के निरूपण से प्रारम्भ होता है और यदि तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों की विवेचना अन्य प्रकार से कोई दर्शन करता भी है, तो उसे प्रत्यक्ष की संगत एवं संतोषप्रद व्याख्या करनी पड़ती है। भारतीय दर्शन में तत्त्वविचार प्रमाणशास्त्रीय विवेचन से पहले आता है और दोनों एक दूसरे के स्वरूप का निर्धारण करते हैं। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान प्रो० श्वेदरवात्स्की भी लिखते हैं कि बौद्धों के प्रत्यक्ष के स्वरूप का अन्य लोगों से जो भेद है वह यद्यपि बहुत थोड़ा लगता है, किन्तु है वह मौलिक, क्योंकि सारी बौद्ध दार्शनिक व्यवस्था उसके साथ अडिगरूप में खड़ी रहती है अथवा धराशायी हो जाती है। प्रत्यक्षविचार क्षणभंगवाद से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है, क्योंकि दिग्नाग-धर्मकीर्ति के सम्प्रदाय में प्रत्यक्ष क्षणमात्रस्थायी होता है, साधारणतः उसमें कालगत या देशगत स्थायित्व नहीं होता, अतएव व्यवहारतः वह अनभिलाष्य एवं अविज्ञेय होता है। अनभिलाष्यता (शब्द का अविषय होना) उसका लक्षण है। इसीलिए हमने उसे ज्ञान का पारमार्थिक एवं प्रातिभ तत्त्व कहा है, क्योंकि, यद्यपि अपने में यह व्यावहारिक दृष्टि से अविज्ञेय है, इन्द्रियज्ञान द्वारा गृहीत होने योग्य आकार के रूप में अविज्ञेय है, तथापि सभी सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्षों की तथा सामान्यतः सभी यथार्थ ज्ञानों की अपरिहार्य अवस्था है।^१ क्षणभंगवाद ऐसे सभी ज्ञानों की प्रामाणिकता का निरास करेगा जिसे देश अथवा कालगत स्थायित्व की अपेक्षा होती है। इस व्यवस्था में प्रत्यक्ष विषयक वैसा ही सिद्धान्त युक्तिसंगत हो सकता है, जो इस तथ्य का पोषक, प्रतिपादक और समर्थक हो कि अविकल्पक बोध (विशुद्ध इन्द्रियसंवेदन) में ही सत्य के वास्तविक ज्ञान को प्रदान करने की क्षमता है। इसके विपरीत, जो क्षणभंगवादी नहीं हैं, शाश्वतवाद अथवा किसी प्रकार के द्रव्यवाद (अवयवीवाद) के समर्थक हैं, उनके अनुसार इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला सविकल्पक ज्ञान (कुछ लोगों के अनुसार केवल सविकल्पक ज्ञान) वस्तु का अपरोक्षज्ञान है और अर्थ ज्ञाता के समक्ष, उसके विषय में निर्णय देने के काल में भी बना रहता है। इन लोगों के लिए भी प्रत्यक्ष की, प्रमाण में, एक तरह से निराली एवं अनूठी स्थिति है। जहाँ अन्य प्रमाण स्वरूपतः मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया वाले लगते हैं, प्रत्यक्ष में इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष-रूप दैहिक

(शारीरिक) प्रक्रिया भी होती है। यहाँ पर एक समस्या आती है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से अविकल्पक एवं निष्प्रकारक ज्ञान की प्राप्ति होती है, जो कि विषय का आलोचनमात्र, संवेदन या प्रतीति मात्र होता है, जबकि ज्ञान को अध्यवसाय रूप (व्यवसायात्मक या 'यह इस प्रकार की स्थिति है' इस रूप में) सप्रकारक होना चाहिए। इस प्रकार यदि हम प्रत्यक्षात्मक ज्ञान को इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से अपरोक्षतया उत्पन्न होने वाला मानें, तो पाते हैं कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से जिसकी साक्षात् रूप से प्राप्ति होती है वह संवेदन, अथवा ग्रहण मात्र है, ज्ञान नहीं (सप्रकारक ज्ञान नहीं) और यदि प्रत्यक्ष को हम सप्रकारक, व्यवसायात्मक एवं विकल्पात्मक मानें (यह अमुकप्रकार की स्थिति है ऐसा ज्ञान) तो पाते हैं कि ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से साक्षात् रूप से उत्पन्न नहीं होता है। इस कठिनाई की अनुभूति के चलते भारतीय दर्शन-सम्प्रदायों में प्रत्यक्ष के विषय में तीव्र मतभेद की हमें प्राप्ति होती है।

बौद्ध दार्शनिकों में, विशेषतया विज्ञानवाद में, प्रत्यक्ष के लक्षण के विकास के तीन स्तर हैं। प्रथम सोपान आचार्य असंग एवं वसुबन्धु द्वारा प्रदत्त लक्षणों का है, जिसमें वस्तुवादी आस्तिक मतों, विशेषतया वैशेषिक तथा न्याय, की प्रत्यक्षविषयक धारणा का प्रभाव परिलक्षित होता है। द्वितीय सोपान में आचार्य दिग्नाग का लक्षण है और तृतीय सोपान में आचार्य धर्मकीर्ति एवं उनके अनुयायियों द्वारा प्रदत्त लक्षण आता है। आचार्य असंग 'वस्तु से उत्पन्न अव्यवहित' अव्यवसायात्मक और अभ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं,³ जबकि आचार्य वसुबन्धु 'ततोऽर्थाद् विज्ञानं प्रत्यक्षम्'⁴ कहकर अपने अग्रज का ही अनुसरण करते हुए लगते हैं। आचार्य जिनेन्द्रबुद्धि 'वादविधि' के इस लक्षण की व्याख्या करते हुए बतलाते हैं कि 'यदि ज्ञान विशेष, जो कि वस्तु विशेष के नाम के अनुसार अभिहित हुआ है, केवल उसी वस्तु से उद्भूत है, किसी अन्य से नहीं, तो वह ज्ञान प्रत्यक्ष है, जैसे कि, रूपादि अथवा सुखादि का ज्ञान है। इस लक्षण के द्वारा भ्रान्ति ज्ञान का, जैसे कि शुक्ति में होने वाले रजतज्ञान का, निरास हो जाता है, क्योंकि, 'रजतज्ञान' यह व्यपदेश रजत के अनुसार होता है और यहाँ पर दिये गये दृष्टान्त में होने वाला ज्ञान रजत से उद्भूत नहीं है, अपितु, शुक्ति से वह जन्य है। संवृत्तिज्ञान का भी, इस लक्षण से, प्रत्यक्ष से, व्यावर्तन हो जाता है। उदाहरणार्थ, 'घटज्ञान' ऐसा हम घटादि के व्यापार पर कहते हैं, किन्तु 'घटज्ञान' घटादि से उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि घटादि संवृत्तिसत् है और संवृत्तिसत्य में ज्ञानोत्पत्ति की क्षमता नहीं होती। इस लक्षण के द्वारा प्रत्यक्ष के क्षेत्र से अनुमान ज्ञान का भी व्यावर्तन हो जाता है, क्योंकि, उदाहरणार्थ, अग्नि का अनुमानज्ञान, मात्र अग्नि द्वारा ही नहीं, अपितु, धूम तथा अग्नि और धूमके सम्बन्ध के स्मरण द्वारा भी होता है।⁵

आचार्य दिग्नाग एवं उनके अनुयायी, 'वादविधि' के लक्षण को सदोष मानते हैं। आचार्य दिग्नाग अपने विज्ञानवादी सिद्धान्त के अनुसार उपर्युक्त ग्रन्थ का अर्थ करके उसके दोषों का निवारण करते हैं।⁶ आचार्य दिग्नाग के प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार है "कल्पना से रहित ज्ञान प्रत्यक्ष है।"⁷ आचार्य धर्मकीर्ति न्यायबिन्दु तथा प्रमाणविनिश्चय में दिग्नाग के लक्षण में 'अभ्रान्त' पद जोड़ देते हैं, किन्तु प्रमाणवार्तिक में वे दिग्नाग का ही अनुसरण करते हैं। प्रत्यक्ष के लक्षण की बौद्ध प्रमाणमीमांसा में स्थिति यह है कि 'अभ्रान्त' पद असंग⁸ के लक्षण में था, दिग्नाग ने इसको अपने लक्षण में स्थान नहीं दिया। धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष के लक्षण के साथ इसे पुनः जोड़ा। उनके बाद के कुछ अनुयायियों ने इसे फिर स्थान नहीं दिया और अन्ततः धर्मोत्तर ने इसे बाद की सभी बौद्धतार्किकों की पीढ़ी के लिए स्थापित कर दिया।⁹ हम प्रत्यक्ष के विवेचन में पहले दिग्नाग के लक्षण की व्याख्या करेंगे, तदनन्तर धर्मकीर्ति के 'न्यायबिन्दु' के लक्षण की उसके टीकाकारों के आलोक में विवेचना करेंगे और यह प्रदर्शित करेंगे कि विज्ञानवाद की दृष्टि से कौन सा लक्षण उचित है, तथा आचार्य धर्मकीर्ति ने 'अभ्रान्त' पद का सन्निवेश लक्षण में क्यों किया।

कल्पना का स्वरूप

"प्रत्यक्ष कल्पना से रहित है।" जहाँ पर ज्ञान में कल्पना नहीं है वह ज्ञान प्रत्यक्ष है। प्रश्न है कि कल्पना क्या है? दिग्नाग उत्तर देते हैं कि 'नामजात्यादियोजना' कल्पना है¹⁰, अर्थात् नाम, जाति आदि की दृष्ट वस्तु के साथ योजना कल्पना है, जिसके चलते वस्तु शब्दवाच्य बनती है। इसे विश्लेषित करते हुए आचार्य दिग्नाग पुनः कहते हैं कि 'यदृच्छाशब्दों' के विषय में नाम द्वारा विशिष्ट अर्थ (वस्तु) को 'डिक्थ' शब्द द्वारा कहा जाता है। जातिशब्द (जातिवाचक संज्ञा) के प्रसंग में जाति से विशिष्ट अर्थ को "गो" शब्द द्वारा बतलाया जाता है। गुण शब्द (विशेषण) के प्रसंग में गुण से विशिष्ट हुआ अर्थ "शुक्ल" शब्द द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। क्रिया शब्द के प्रसंग में, क्रिया द्वारा विशिष्ट अर्थ 'पाचक' शब्द द्वारा बतलाया जाता है। द्रव्यशब्द के प्रसंग में द्रव्यशब्द द्वारा विशिष्ट हुई वस्तु 'दण्डिन्' अथवा 'विषाणिन्' शब्द द्वारा कही जाती है।¹¹ आचार्य पुनः आगे कहते हैं कि 'यहाँ, अर्थात् क्रिया शब्द और द्रव्य शब्द के प्रसंग में, कुछ लोगों की यह धारणा है कि 'पाचक' तथा 'दण्डी' आदि शब्दों से जो कुछ कहा जाता है वह वस्तुसम्बन्ध (ऐसा सम्बन्ध जो क्रिया और क्रियावान अथवा द्रव्य और द्रव्य को धारण करने वाले के मध्य होता है) द्वारा विशिष्ट होता है। दूसरी ओर, अन्य कुछ लोग यह मानते हैं कि इन सभी मामलों में जो कुछ कहा जाता है वह है अर्थशून्यशब्द (अर्थ का जो वाचक नहीं है ऐसे शब्द से युक्त या विशिष्ट

होना, वस्तुतथ्य के अवाचक शब्द से विशिष्ट होना, अथवा यथार्थवस्तुवाचकता से रहित शब्दमात्र से विशिष्ट होना)। किसी भी प्रसंग में, 'जो ज्ञान इस प्रकार की कल्पना (बौद्धिक संयोजना या बुद्धिविकल्प) से रहित है, अर्थात् जिस ज्ञान में उपर्युक्त कल्पना नहीं है, वह प्रत्यक्ष है'।¹²

स्पष्ट है कि आचार्य दिग्नाग के अनुसार अर्थ वस्तुतः अनभिलाष्य है और वह शब्द द्वारा तभी अभिव्यक्त होता है जब नाम तथा अन्य निमित्तों से युक्त होता है। अतः कल्पना का अभिप्रेतार्थ है अर्थ से नामादि के संसर्ग की प्रक्रिया। वस्तुशब्दवाच्य होवे, इसके लिए जो निमित्त हैं उन्हें ही आचार्य दिग्नाग ने ऊपर पाँच कोटियों में वर्गीकृत किया है। आचार्य जयन्तभट्ट न्यायमंजरी में इसकी पुष्टि करते हैं।¹³ उनके द्वारा प्रस्तुत दिग्नाग का पक्ष इस प्रकार है — "कल्पना से जायमान आकार अतिरिक्त होता है और कभी भी वस्तु के आकार का यथावत् रूप में उल्लेख उसके द्वारा नहीं होता। ये कल्पनाएँ पाँच हैं, जातिकल्पना, गुणकल्पना, क्रियाकल्पना, नामकल्पना और द्रव्यकल्पना। इन्हें कल्पना इसलिए कहा जाता है कि ये कभी-कभी अभेद में भी भेद का आरोपण अथवा कभी भेद में अभेद का आरोपण कर देती हैं। जाति और व्यक्तिविशेष में परमार्थतः कोई भेद नहीं है? जाति का अन्तर्भाव करने वाला विकल्प कल्पना इसलिए है, क्योंकि यह व्यक्ति से जाति को पृथक् करता है और उनमें भेद की कल्पना कर देता है। किसी को भी ऐसा अनुभव नहीं होता कि यह इस "गो" व्यक्ति का गोत्व है। किसी को भेद दिखलायी नहीं पड़ता है (कोई भेद को नहीं देखता है), किन्तु अभेद में (एक इकाई में) भेद की कल्पना करली जाती है।"¹⁴

"गुणकल्पना भी जातिकल्पना के ही सदृश है (उसी के पदचिह्नों का अनुसरण करने वाली है)। द्रव्य और उसके गुण में भेद नहीं है, किन्तु उसमें भेद की कल्पना कर ली जाती है। गुण को धारण करने वाला द्रव्य और गुण ये दोनों कभी पृथक् रूप में अनुभव में नहीं आते। किन्तु है यह विचित्र स्थिति कि उनमें (द्रव्य और गुण के मध्य) भेद की वांछा की जाती है।"¹⁵

"क्रियाकल्पना में भी अभेद में भेद की परिकल्पना कर ली जाती है। क्रिया, द्रव्य से कभी भी पृथक् नहीं है। 'देवदत्त जाता है' जब हम ऐसा कहते हैं, तो स्थिर या अपने स्थान पर सामने खड़े हुए देवदत्त से गतिमान देवदत्त न्यून या अतिरिक्त नहीं दिखलायी पड़ता।"¹⁶

'दो भिन्न वस्तुओं में अभेद की परिकल्पना को नामकल्पना कहते हैं। उदाहरणार्थ 'यह चैत्र है' इस कथन में नाम और नामिन् में अभेद की परिकल्पना कर

ली जाती है। उपर्युक्त कथन में दो चीजें हैं — 'चैत्र' और 'यह'। 'चैत्र' शब्द नाम का सूचक है और 'यह' अर्थ के लिए आया है। प्रश्न है कि इन दोनों में सामानाधिकरण्य कैसे सम्भव है? इसी प्रकार 'यह दण्डी है' यह कथन द्रव्यकल्पना का उदाहरण है। चूँकि 'दण्डी' 'यह' का विधेय है, अतः 'यह' और 'द्रव्य' के मध्य सामानाधिकरण्य है। 'यह' और 'दण्डी' दो द्रव्य हैं। उदाहरण में जो सामानाधिकरण्य है वह उसके कल्पनात्मक स्वरूप को इंगित करता है। यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि यदि कल्पना अभेद में भेद और भेद में अभेद का आरोपण करती है, तो जैसे शुक्तिरजत का बाधक प्रत्यय उत्पन्न होकर उसका अपलाप कर देता है, वैसे ही उनका बाधक प्रत्यय क्यों नहीं उत्पन्न होकर उनका अपलाप कर देता है? इसका उत्तर यह है कि जब कोई वस्तु हमें अन्य वस्तु के रूप में आभासित होती है, तो वहाँ बाधकज्ञान होता है। उदाहरणार्थ, जब हमें मरीचि में जलज्ञान होता है, तो वहाँ बाधक ज्ञान होता है, किन्तु कल्पना के प्रसंग में सामान्यादि (जाति) वस्तुरूप नहीं है, अपितु अवस्तु है, अतः एक वस्तु को अन्यवस्तु के रूप में ग्रहण करने का अवकाश नहीं है। ये सामान्यादि विकल्प व्यक्ति को विषय बनाते हैं, इस कारण जिनमें एक वस्तु अन्यवस्तु के रूप में अवभासित नहीं होती, उनमें बाधक प्रत्यय उत्पन्न नहीं होता है। फलतः, विकल्प विपर्ययात्मक (भ्रान्तिरूप) नहीं हैं। किन्तु, ये प्रमाण (सत्यज्ञान, सम्यग्ज्ञान) भी नहीं हैं, क्योंकि विकल्पों के द्वारा उल्लिख्यमान ये जात्यादि (सामान्यादि) अपारमार्थिक (परमार्थतः असत्य) हैं। अतः हम बौद्ध यह मानते हैं कि ये न तो प्रमाण हैं और न विपर्यय ही, अपितु इन दोनों से अन्य हैं। इस प्रकार ये पाँच कल्पनाएँ मात्र वासना से निर्मित हैं। ये भेदादि जैसे अलीक और कल्पित विषयों का आभास कराती हैं। इसको देखकर और अनुभव कर कि कल्पना नितान्त असत्यरूप है, प्रत्यक्ष के लक्षण में 'कल्पनापोढ' शब्द को जोड़ा गया है।¹⁷

स्पष्ट है कि कल्पना का विशिष्ट स्वरूप अव्यवहित अनुभव अथवा तात्कालिक बोध को शब्द से सम्बद्ध करने में निहित है। दिग्नाग के अनुसार नाम, जाति आदि धारणात्मक संरचनायें (कल्पना) मात्र हैं जो किसी वस्तु (अर्थ, सत्य वस्तु) का निर्देश नहीं करतीं। उनके लिए जाति शब्द 'गो' के द्वारा जो कुछ भी निर्दिष्ट होता है वह कोई वस्तु या अर्थ "गोत्व" नहीं है, अपितु अगोव्यावृत्ति है (अ-गाय की व्यावृत्ति है)।

आचार्य शान्तरक्षित और उनके टीकाकार कमलशील आचार्य दिग्नाग के प्रत्यक्षलक्षण की विस्तार से विवेचना करते हैं। उनके अनुसार आचार्य दिग्नाग ने नामकल्पना और जातिकल्पना (नामजात्यादियोजना) का उल्लेख क्रमशः स्वमत (स्वप्रसिद्ध अतः उपादेय—उपादेया स्वप्रसिद्ध नामयोजना, कल्पना) और परमत (हेया

जात्यादियोजना परप्रसिद्ध कल्पना) के लिए किया है। इनमें नामयोजना कल्पना हमारा अपना पक्ष है और वह उपादेय है, जबकि जात्यादियोजना कल्पना हमसे अन्य लोगो का मत है जो कि हेय है।¹⁸ प्रश्न उठता है कि आप (हम बौद्ध) इसे कैसे जानते हैं? कमलशील कहते हैं कि चूँकि आचार्य दिग्नाग ने 'नामजात्यादि योजना' इन दोनों को कहा है। यदि आचार्य का अभिप्रेत 'स्वमत' और 'परमत' द्वारा अभिमत कल्पना का निर्देश करना न होता, तब वे नामजात्यादि योजना के स्थान पर 'नामादियोजना' अथवा 'जात्यादियोजना' ऐसा कहते।¹⁹ यहाँ पर यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि कल्पना तो ज्ञान का धर्म है और वर्तमान संदर्भ में विषयवस्तु यह है कि प्रत्यक्ष कल्पनापोढ होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष का ही विचार किया जा रहा है, यहाँ पर अर्थधर्म के न होने का प्रतिपादन अभीष्ट नहीं है। दूसरी तरफ, नाम जात्यादि की जो योजना है वह अर्थगत धर्म है, ज्ञान का धर्म नहीं है। अतः लक्षणकार दिग्नाग का मत अप्रासंगिक है। इस आक्षेप की परिकल्पना करके शांतरक्षित एवं कमलशील दिग्नागपक्ष से यह उत्तर देते हैं कि 'यह नामादि योजना अव्यवहित निमित्त (अव्यवहित कारण *Immediate cause*) को इंगित करके वहाँ वर्तती है, बनी रहती है, फलतः लक्षणकार में अप्रासंगिकता का दोष नहीं है। अव्यवहित कारण शब्दसंसर्गयोग्यप्रतीति के रूप में होता है और इसे ही योजना कहते हैं।²⁰ कमलशील इसे और स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि 'नामादियोजना' का अर्थ है जिससे नामादि की योजना होती है। इसकी दूसरी भी व्याख्या यह मान करके की जा सकती है कि कारण को कार्य के रूप में कहा गया है। इस उपचारतः कथन (*indirect expression*) का प्रयोजन यह है कि यह कारण में निहित सामर्थ्य को प्रकट करने में अथवा अन्य कारणों से भिन्न एक कार्य को उत्पन्न करने में उपयोगी होता है। इस प्रकार 'नामजात्यादि योजना' परोक्ष रूप से अभिलापिनी कल्पना के लिए ही है। नामजात्यादि योजना की अन्य प्रकार से भी, कल्पना (अभिलापिनी कल्पना) के अर्थ में उपपत्ति बैठती है। 'योज्यतेऽनयेति योजना' इस व्युत्पत्ति से नाम, जात्यादि योजना अभिलापिनी कल्पना को ही निर्दिष्ट करती है, अतः दिग्नाग के लक्षण में कोई दोष नहीं है। कारण यह है कि नाम, जाति आदि उपर्युक्त कल्पना के द्वारा ही योजित होते हैं।²¹

आचार्य दिग्नाग के प्रत्यक्षलक्षण पर विरोधियों द्वारा यह भी आक्षेप लगाया गया है कि यदि कल्पना का अर्थ नामादि कल्पना है और 'प्रत्यक्ष को कल्पनापोढ' कहने में जिस कल्पना की बात दिग्नाग करते हैं वह नामादि कल्पना है, तो आचार्य दिग्नाग ने अपनी वृत्ति में जो कुछ कहा है उसके साथ संगति कैसे बैठेगी? उत्तर यह है कि सर्वत्र ही, यहाँ तक कि सामान्यादि को निर्दिष्ट करने वाले शब्दों में भी, दिग्नाग का आशय यह है कि जिस प्रकार व्यक्तिवाचक नामों का उच्चारण जब तक किया

जाता है तो उनसे जो इंगित होता है वह है नामविशिष्ट अर्थ, उसी प्रकार 'जातिवाचक शब्दों', जैसे गाय, का उच्चारण करने से उस नाम से विशिष्ट अर्थ को कहा जाता है।²² इसी प्रकार की बात अन्य के विषय में भी है। किन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि ऐसी स्थिति में जाति, गुण, क्रिया अथवा द्रव्य के साथ तृतीयान्त (करण कारक की विभक्ति) की योजना करके, 'जात्या', 'गुणेन' आदि को कैसे कहा जा सकता है? उत्तर है कि 'गाय' इस प्रकार से जो विशिष्ट अर्थ कहा जाता है वह करणभूतजाति के द्वारा उस नाम से सम्बन्ध है, उसी प्रकार करणभूत गुणादि के द्वारा भी कहा जाता है। इसी अर्थ में जात्यादि सम्बन्ध के करण होते हैं और 'जात्या', 'गुणेन' आदि से तृतीयान्त का साफल्य है।²³ किन्तु, पुनः प्रश्न उठता है कि यदि ऐसा है, तो दिग्नाग के 'नामजात्यादि योजना' का सम्बन्ध यहाँ पर कैसे किया जाय, उसकी प्रासंगिकता कैसे स्थापित की जाय? उत्तर है कि दिग्नाग के समस्त पद (समासयुक्त पद अर्थात् नामजात्यादियोजना) को 'नाम का जात्यादि से सम्बन्ध'²⁴ (नाम्नः जात्यादिभिः योजना) के रूप में विश्लेषित किया जायेगा। 'जात्यादियोजना' का अर्थ है 'जात्यादिभिः योजना', जात्यादि से सम्बन्ध और 'नामजात्यादि योजना' का अर्थ है नाम का जात्यादि से सम्बन्ध। किन्तु पुनः नवीन आक्षेप यह है कि ऐसी स्थिति में, यदृच्छा शब्दों में (व्यक्तिवाचक नामों के प्रसंग में) जात्यादि को निर्दिष्ट करने की कोई बात नहीं रहेगी और इस प्रकार ऊपर जो व्याख्या की गई है वह उसके विषय में लागू नहीं होगी। कमलशील, शान्तरक्षित के उत्तर को स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि व्यक्तिवाचक नाम के रूप में ज्ञात 'डित्थादि' शब्द भी सीमित कालावधि से अवच्छिन्न वस्तु में समवेत जाति को अपने अभिधेयत्व (*denotation*) के रूप में लेते हैं। डित्थादि इस प्रकार की जाति का अभिधान इसलिए करते हैं, क्योंकि प्रतिक्षण भिन्न हो जाना जिसका धर्म हो ऐसी वस्तुओं को वे निर्दिष्ट नहीं कर सकते, जबकि इनमें से प्रत्येक, जन्म से मरणपर्यन्त, एक इकाई से सम्बन्धित रहते हैं। यदि व्यक्तिवाचक नाम इस प्रकार की जाति को इंगित नहीं करते, उनका अभिधान नहीं करते, तो, बाल्यावस्था में जिस नाम का किसी व्यक्ति के लिए प्रयोग किया गया था, कैसे वृद्धावस्था में वही नाम उस व्यक्ति को इंगित कर सकता है, क्योंकि दोनों में अवस्थाभेद होने से अन्य व्यक्तित्व भी सम्भव हो सकता है।²⁵ जो लोग शरीर को क्षणिक नहीं मानते, अपितु कालान्तरस्थायी मानते हैं, वे भी स्वीकार करते हैं कि कालक्रम में अवयव — सम्बन्ध अपचीयमान होते हैं (शरीर के अवयवों में गिरावट आती जाती है) और इसके चलते प्रारम्भिक काल में जैसा शरीर था उससे भिन्न अवस्था शरीर की बाद में हो जाती है, और इस प्रकार अवस्थाभेदों में द्रव्य ही दूसरा रहता है। जो लोग यह मानते हैं कि विकास और परिवर्तन से गुजरता हुआ भी वही शरीर बना रहता है, उनके मत में भी किसी

वस्तुविशेष से उसकी एक विकास की अवस्था से सम्बद्ध नाम, जब वस्तु अन्य अवस्था को प्राप्त होती है, तो उस के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता; जैसे कि 'दूध' नाम से जिस पदार्थ को उसकी एक अवस्थाविशेष में अभिहित किया जाता है, जब अवस्थान्तर की स्थिति, दधि के रूप में, आती है, तो हम उसके लिए 'दूध' नाम का प्रयोग नहीं कर सकते, यद्यपि दही भी दूध के ही विकास क्रम की एक अवस्था है। यही स्थिति शरीर के भी प्रसंग में है कि बाल्यावस्था में जिसका प्रयोग किया गया था वही युवावस्था या वृद्धावस्था के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता है। इस कारण, व्यक्तिवाचक नामों के निर्देश के प्रसंग में भी जाति को भी अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए। अथवा जाति जैसी कोई चीज न भी हो, कोई वस्तुभूत जाति न हो, तो भी, हमारी व्याख्या यदृच्छाशब्दों (व्यक्तिवाचक नामों) के विषय में अव्यापिनी नहीं होगी, क्योंकि विभिन्न विशेषों को ही सामान्य समझ लिया जाता है, जब उनके विशेष या स्वलक्षणता पर आग्रह विवक्षित नहीं होता, अथवा जब 'जाति' शब्द के भीतर उन भेदों को सम्मिलित कर लिया जाता है। इसीलिए दिग्नाग ने वृत्तिग्रन्थ में यदृच्छाशब्द (व्यक्तिवाचक नाम) का जातिवाचक शब्द से अलग उल्लेख किया है। लोक में 'गाय' शब्द जाति शब्द (जातिवाचक या सामान्य बोधक) के रूप में जाना जाता है, जबकि 'चित्रांगद' शब्द को संज्ञावाचक (व्यक्तिवाचक) के रूप में। अतः दोनों का पृथक् निर्देश हुआ है।²⁶

विरोधियों की तरफ से यह भी आशंका उठायी जाती है कि चूँकि अन्य का अपोह ही शब्द की वाच्यता है, अतः सभी शब्दों को केवल 'जातिवाचक' होना चाहिए। अथवा चूँकि शब्द वक्ता की इच्छा पर निर्भर होते हैं, अतः सभी शब्दों को केवल व्यक्तिवाचक होना चाहिए। शांतरक्षित का उत्तर है, यह सत्य बात है कि आचार्य दिग्नाग ने जो कुछ कहा है वह लोक की अनुवृत्ति से कहा है, क्योंकि लोकव्यवहार इसी प्रकार के मार्ग से गति करता है। विरोधी पुनः आशंका उठाते हैं कि यदि आचार्य दिग्नागाभिमत कल्पना का वही तात्पर्य है जो बौद्ध लगाते हैं, तो, पहले 'अन्य लोग यह मानते हैं कि अर्थशून्य शब्दों द्वारा (जिन शब्दों से सम्बन्धित अर्थों का अस्तित्व नहीं है उनके द्वारा) विशिष्ट अर्थ कहा जाता है' ऐसा कहकर बाद में कल्पनाविषयक अपने अभिमत का आचार्य ने कैसे वर्णन किया? कारण यह है कि शाबलेयादि व्यक्ति से विलग जाति आदि की वास्तविक सत्ता नहीं होती, वे केवल सांवृत हैं, इसी तथ्य पर जोर देने के लिए दिग्नाग ने उपर्युक्त बात कही, किसी भिन्न प्रकार की कल्पना को इंगित करना उनको अभीष्ट नहीं है।²⁷

इस प्रकार शांतरक्षित—कमलशील के अनुसार आचार्य दिग्नाग भी कल्पना को

अभिलापिनी मानते थे। उनका तो यह भी आग्रह है कि अन्य लोगों को भी कल्पना को अभिलापिनी प्रतीति के रूप में ही मानना पड़ेगा, अन्यथा जगत् में कोई व्यवहार ही नहीं हो सकेगा।²⁸ इसी को स्पष्ट करते हुए शांतरक्षित कहते हैं कि जो लोग कल्पना को जात्यादिरूपसंसृष्ट मानते हैं उन्हें भी जात्यादियोजना को शब्दयोजनारूप मानना पड़ेगा, क्योंकि जहाँ भी कोई वस्तु जात्यादि के द्वारा विशिष्ट होने के रूप में गृहीत होती है वह नाम के द्वारा ही और यदि ऐसा न हो, तो अनेक विलग-विलग के ग्रहण की तरह, क्योंकि इनमें अपने-अपने प्रकार का सम्बन्ध होगा, कोई योजना नहीं होगी, अतः कल्पना भी कैसे होगी? इसका परिणाम यह होगा कि जगत् मूक की स्थिति को प्राप्त हो जायगा। यही कारण है कि दण्डयुक्त पुरुष को देखते हुए भी 'यह दण्डी है' ऐसी योजना तबतक नहीं हो पाती जबतक कि हम नामभेद का स्मरण नहीं कर लेते। चूँकि इस प्रकार सभी योजनाओं में नामयोजना व्याप्त है, (व्याप्ति सम्बन्ध से रहती है) अतः 'गौ' इस प्रकार के शब्दों के प्रसंग में जाति विशिष्ट अर्थ को कहा जाता है, आचार्य दिग्नाग का यह कथन सार्थक होता है। अन्यथा नाम के बिना 'उच्यते' ऐसा कह पाना कैसे सम्भव होता, क्योंकि बोलने की क्रिया शब्द का धर्म होती है। इस कारण कल्पना ऐसी चीज है जिसे बिना प्रयास के सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि इसको लेकर आचार्यों में विवाद नहीं है।²⁹ शांतरक्षित एवं कमलशील के अनुसार जब आचार्य दिग्नाग ने कल्पना की द्विरूपता को कहा तो उनका अभिप्राय 'स्वमत' और 'परमत' की कल्पना का निर्देश करना था, यद्यपि उन्होंने विभेदपूर्वक यह नहीं कहा कि मेश अपना मत अमुक प्रकार का है। उपर्युक्त अभिप्राय के ही चलते आचार्य ने बाद को वृत्तिग्रन्थ में 'अन्येतु' ऐसा जोड़ा।³⁰

प्रश्न है कि आचार्य ने 'न्यायमुख' ग्रन्थ में जो यह कहा है कि 'विशेषण और अभिधायक के अभेदोपचार के द्वारा वस्तुओं (अर्थों) के आकार का जो ज्ञान, प्रत्येक इन्द्रिय के समक्ष अविकल्पक रूप में वर्तता है, वह प्रत्यक्ष है'³¹, उसकी संगति उपर्युक्त व्याख्या से कैसे बैठेगी? कमलशील कहते हैं कि 'न्यायमुख' के उपर्युक्त उद्धरण में 'विशेषण' शब्द जात्यादि के लिए तथा 'अभिधायक' शब्द नाम के लिए है और 'अभेदोपचार' का अर्थ है जात्यादि को धारण करने वाली तथा नाम वाली इन दो वस्तुओं में अभेदोपचार। यहाँ अभेदोपचार उपलक्षणरूप है, उसका प्रयोग केवल उदाहरण के लिए किया गया है। कुछ उदाहरणों में जहाँ विशेषण का ग्रहण भेदपूर्वक होता है—जैसे 'इसमें गोत्व जाति है' 'इसका अमुक नाम है' — वहाँ पर भी कल्पना का अस्तित्व स्वीकार ही किया जाता है।³² विरोधी इस पर आक्षेप करता है कि कहीं पर यह नहीं कहा गया है कि अनुप्रतीति (बाद को होनेवाली प्रतीति) कल्पना है, तो फिर उपर्युक्त प्रकार की कल्पना की अवधारणा आपको ऊपर के उद्धरण में कहाँ से प्राप्त

होती है? कमलशील उत्तर देते हैं कि उपर्युक्त अंश में कल्पना के विरोध में जब ज्ञान का प्रत्यक्ष रूप में दिग्नाग उल्लेख करते हैं, तो इससे स्पष्टतः इंगित होता है कि कल्पना ज्ञान का धर्म है। इससे उपर्युक्त अंश का अर्थ यह होता है कि नामादि के अभेदोपचार से जो ज्ञान अविकल्पक रूप में प्रतीत होता है वह प्रत्यक्ष है। इसके विपरीत जो ज्ञान सविकल्पक होता है वह कल्पनात्मक होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं है। इसका निहितार्थ यह है कि प्रत्यक्ष की विपरीतस्थिति वाली होने से 'कल्पना' अभिलापिनी प्रतीति है। इस प्रकार परमत का भी संग्रह किया गया है।³³

अथवा यह भी संभव है कि प्रश्नगत उद्धरण में आचार्य दिग्नाग स्वमत का ही वर्णन किये हों। वैसी स्थिति में 'न्यायमुख' के 'विशेषणाभिधायकाभेदोपचार' इस समस्त पद का विग्रह इस प्रकार से किया जायगा – विशेषण का अर्थ है भेद अर्थात् व्यावृत्ति और शब्द इस व्यावृत्ति का अभिधायक होता है, जात्यादि का नहीं, ऐसे अभिधायक का अभेदोपचार विशेषणाभिधायकाभेदोपचार कहलाता है।³⁴

आचार्य शांतरक्षित और कमलशील ने आचार्य दिग्नाग के 'नामजात्यादियोजना कल्पना' की जो व्याख्या की है उसमें उनका आशय यह है कि द्रव्य जैसी कोटियों को अस्वीकार करने वाले बौद्धों के दृष्टिकोण से सभी शब्दों को, या तो, विवक्षा का परिणाम मात्र होने के कारण अपवाद शब्दों (*arbitrary words*) अथवा अनेक व्यक्ति क्षणों में सामान्य होने के कारण जातिवाचक शब्दों के रूप में 'समझा जाना चाहिए'। 'डित्थ' नाम को किसी वस्तु के लिए प्रयुक्त करने में भी वस्तु स्वतः डित्थत्व जाति से सम्बद्ध है, ऐसी डित्थत्व जाति से जो कि व्यक्तिविशेष डित्थ की संतति जिससे बनती है उन असंख्य क्षणों का सामान्यीकरण है। इस प्रकार शांतरक्षित का अभिमत है कि आचार्य दिग्नाग जब शब्दों को पाँच कोटियों में वर्गीकृत करते हैं, तो वे शब्दों के सामान्य प्रयोग का अनुसरणमात्र कर रहे हैं। यह भी ध्यानीय है कि शांतरक्षित और कमलशील प्रमाणसमुच्चयवृत्ति के ऊपर उद्धृत अंश के 'उच्यते' पद को महत्त्व देते हैं और इसे जात्यादि से नहीं, अपितु शब्द से अपरिहार्य रूप से कल्पना के सम्बन्धित होने की, दिग्नाग की कल्पना के स्वरूप की समझ का प्रमाण समझते हैं। उन लोगों के लिए चूँकि जाति को दिग्नाग नहीं मानते, अतः कल्पना से उनका अभिप्राय 'नामयोजना' से है। अथवा, जाति को उपचारात् अर्थ के रूप में मान भी लें तथापि, अर्थ से उसका संसर्ग केवल नाम के ही द्वारा होता है अतः, सारतः उनके लिए नामयोजना (शब्दसंसर्ग) दिग्नागकृत कल्पना के लक्षण की विभेदक विशेषता है। स्पष्ट है कि शांतरक्षित और कमलशील जो अर्थ 'नामजात्यादियोजना' का कर रहे हैं वह यद्यपि अपने निष्कर्ष में गलत नहीं हैं, लेकिन खींच-तान कर लगाया गया अर्थ है,

तथा आचार्य धर्मकीर्ति के प्रभाव के कारण है। इसीलिए डाक्टर सत्कारि मुखर्जी दिग्नाग के लक्षण में 'अभिव्यक्ति शैथिल्य' अथवा 'विचार की अस्पष्टता', अथवा संभवतः दोनों के होने का दोष लगाते हैं।³⁵

कल्पना का लक्षण करने में आचार्य धर्मकीर्ति दिग्नाग की अपेक्षा अधिक सावधान हैं। उनके अनुसार शब्दनिर्देश के संसर्ग के योग्य प्रतिभासा (*representation*) की प्रतीति कल्पना है, अर्थात् वाचक शब्द के संसर्ग के योग्य अभिधेय का आभास जिसमें हो वह प्रतीति कल्पना है।³⁶ आचार्य प्रज्ञाकर कल्पना को 'विशेषणादिसम्बन्धवस्तुप्रतिभासा प्रतीतिः' कहते हैं।³⁷ विनीतदेव ने धर्मकीर्ति के लक्षण में आये 'अभिलाप' शब्द का अर्थ 'वाच्य अर्थ, सामान्य इत्यादि' (अभिलापते इत्यभिलापः वाच्यः सामान्यादिः) किया है। वे आगे पुनः अभिलाप शब्द को 'करणवाच्य' और कर्मवाच्य दोनों ही प्रकार से विश्लेषित करते हैं। प्रथम स्थिति में 'अभिलाप' अर्थनिर्देश कर रहे शब्द के रूप में है और 'अभिलापसंसर्गयोग्य' पद उस अर्थ का वाचक है जिसका किसी शब्द के द्वारा निर्देश किया जा सकता है। दूसरी स्थिति में (कर्मवाच्य के रूप में) 'अभिलाप' का अर्थ है शब्द द्वारा इंगित किया गया अर्थ, और 'अभिलापसंसर्गयोग्य' का अर्थ है वह पद जो किसी अर्थ का निर्देश कर सके। 'अभिलापसंसर्गयोग्यम्' को विनीतदेव 'अभिलापसंसर्गस्य योग्यम्' कह कर शब्द सामान्य कहते हैं और बतलाते हैं कि यह अन्वय एवं व्यतिरेक के सामर्थ्य से अर्थाभिधान (अर्थ के कथन में *in expression of the meaning*) में शक्य है, किन्तु 'शब्द विशेष' अर्थाभिधान में शक्य नहीं, क्योंकि वह सामान्य स्वरूप वाला नहीं है। जो प्रतिभास ज्ञान में अभिलाप के संसर्गयोग्य है वह ही अभिलापसंसर्गयोग्य, अर्थात् 'सामान्यपद' का मात्र शाब्दिक आकार, है।³⁸ स्पष्ट है कि विनीतदेव की व्याख्या में अभिलाप का अर्थ है 'सामान्य' आदि वाच्य जो कि दिग्नाग की 'जात्यादियोजना' के अनुरूप है।

न्यायबिन्दु के वास्तविक आशय के सबसे प्रधान विश्लेषक के रूप में मान्य आचार्य धर्मोत्तर, विनीतदेव की व्याख्या से असहमति अभिव्यक्त करते हैं।³⁹ वे आचार्य धर्मकीर्ति के आशय को अभिव्यक्त करते हुए लिखते हैं कि 'अभिलापसंसर्ग' का अर्थ है एक ज्ञान में वाच्य अर्थ के आकार का वाचक के आकार के साथ ग्राह्य रूप में मिल जाना। इस तरह जब एक ज्ञान में वाच्य और वाचक इन दोनों के आकार रूढ़ हो जाते हैं (प्रतिभासित होते हैं) तब वाच्य और वाचक में संसर्ग होता है।⁴⁰ तात्पर्य यह है, जैसा दुर्वेक कहते भी हैं, कि एक ज्ञान की क्रिया में विशेष्यविशेषणत्व के द्वारा आकार का प्रतिभास ही इनके वाच्यवाचकत्व का ग्रहण है। जिस प्रतीति में अभिलापसंसर्ग के

योग्य वाच्यकार प्रतिभासित होता है उसे ही 'अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा' कहते हैं।⁴¹ स्पष्ट है कि धर्मोत्तर ने अभिलाप शब्द को करणार्थक मानकर 'वाचक' अर्थ किया है जो कि कल्पना को 'नामयोजना' बनाता है, 'जात्यादियोजना' नहीं, यद्यपि टिप्पणीकार के अनुसार इसमें परोक्ष रूप से (सामर्थ्याद) जात्यादि का भी अन्तर्भाव हो जाता है।⁴²

प्रश्न है कि आचार्य धर्मकीर्ति ने कल्पना की परिभाषा में 'योग्य' पद को क्यों जोड़ा? धर्मोत्तर का उत्तर है,— 'योग्य' पद को जोड़ने से 'शब्द' और 'अर्थ' के सम्बन्ध को न जानने वाले नवजात बच्चों और गूंगे व्यक्तियों की कल्पना का भी अन्तर्भाव हो जाता है, यद्यपि बच्चों और गूंगों में अभिव्यक्ति की क्षमता है, फिर भी यथार्थतः वे कोई सार्थक शब्दोच्चार नहीं करते। यदि 'योग्य' पद न रहे, तो संकेत को न जानने वाले शिशुओं 'और गूंगों' की कल्पना छूट जायेगी, क्योंकि उनकी कल्पना में वाचक शब्द का सम्बन्ध नहीं होता।⁴³ यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि अव्युत्पन्न संकेत वाले नवजात शिशु की कल्पना अभिलापसंसृष्टाभासात्मक नहीं होती, तो, व्युत्पन्नसंकेत व्यक्ति की कल्पना का ग्रहण कैसे हो जाता है? दुर्वेक उत्तर देते हैं कि 'योग्य' शब्द जोड़ देने पर उसका भी ग्रहण हो जाता है, क्योंकि यदि अभिलापसंसृष्टप्रतिभासा अभिलापसंसर्गयोग्य नहीं होती, तो उसके संसर्ग का अनुभव ही कैसे होता? इस प्रकार दोनों कल्पनाओं का 'योग्य' पद से ग्रहण हो जाता है।⁴⁴ यदि प्रश्न उठाया जाय कि वाचक शब्द का संसर्ग न होने पर बालक की कल्पना में वाचक की योग्यता का निश्चय कैसे होता है, तो धर्मोत्तर का उत्तर है कि 'इस प्रकार के ज्ञान में अर्थप्रतिभास अनियत रूप से होता है, अतः निश्चय हो जायेगा, क्योंकि आकार के नियामक हेतु का अभाव होने से विकल्प ज्ञान अनियत आकार वाला होता है। यदि ग्राह्यविषय किसी ज्ञान को उत्पन्न करेगा तो वह नियत आकार वाले ज्ञान को ही उत्पन्न करेगा, उदाहरणार्थ, जब नीलादि रूप चाक्षुष ज्ञान को उत्पन्न करता है, तो वह नियताकार ज्ञान को ही उत्पन्न करता है। किन्तु विकल्पात्मक या कल्पना ज्ञान, तो अर्थ से उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार, प्रतिभास का कोई नियामक नहीं होने से वह अनियत आकार वाला होता है।'⁴⁵ आशय यह है कि ज्ञान द्विविध है — निर्विकल्पक और सविकल्पक। इनमें से प्रथम — जैसे इन्द्रियज्ञान — का ग्राह्यविषय स्वलक्षण है जो परमार्थसत् है और इस स्वलक्षण वस्तु के साथ नाम, जाति आदि का ग्रहण इन्द्रियों द्वारा नहीं होता, फलतः इन्द्रियज्ञान नियत आकार वाला होता है। इसके विपरीत परमार्थ सत् अर्थ से उत्पन्न न होने के कारण एवं कल्पना से उत्पन्न होने के कारण सविकल्पक ज्ञान अनियताकार होता है। प्रथम का ग्राह्यविषय 'अर्थ' है जबकि द्वितीय का ग्राह्यविषय 'अनर्थ' है। इस प्रकार धर्मोत्तर 'ग्राह्योऽर्थः' से अनर्थ के भेद को प्रदर्शित कर रहे हैं, न कि ग्राह्य और

अध्यवसेय के भेद को। अतः श्चेरवात्स्की महोदय की इस स्थल की समझा ठीक नहीं है।⁴⁶ अर्थ के स्वलक्षण का जो इन्द्रियज्ञान होता है वह उस क्षण में ही नियत होता है, किन्तु नाम, जाति आदि के साथ होने वाला होने से विकल्पकज्ञान, पूर्व के स्मरण की अपेक्षा के चलते, अनियताकार वाला होता है और बिना अर्थ-सन्निधि के ही विकल्पकज्ञान की उत्पत्ति होती है।

यहाँ एक अन्य शंका उठाकर धर्मोत्तर उसका समाधान भी प्रस्तुत करते हैं। आशंका यह है कि वह विकल्प अर्थ से उत्पन्न क्यों नहीं होता? उत्तर है, 'क्योंकि उसे अर्थसानिध्य की अपेक्षा नहीं होती? बालक भी रोना बन्द करके माँ के स्तन में तब तक मुख को नहीं लगाता, जबतक कि दृश्यमान स्तन को 'यह वही है' इस प्रकार पहले देखे गये रूप में उसे नहीं पहचानता और पहले देखी गयी तथा बाद में देखी गयी वस्तु को एक दिखलाने वाला ज्ञान उपस्थित-वस्तु-विषयक नहीं होता (ऐसे ज्ञान का विषय अनुपस्थित रहता है), क्योंकि पहले देखी गयी वस्तु वहाँ उपस्थित नहीं है। जिस ज्ञान का विषय अनुपस्थित रहता है वह ज्ञान अर्थ पर निर्भर नहीं होता। अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले ज्ञान में चूँकि आभास का नियामक नहीं रहता, अतः वह अनियत आकार वाला होता है। उस प्रकार का ज्ञान शब्दसंसर्ग के योग्य होता है।'⁴⁷ धर्मोत्तर के उपर्युक्त विश्लेषण में अनेक महत्वपूर्ण तथ्य निहित हैं। टिप्पणीकार बतलाते हैं कि 'रोना समाप्त कर' इसके द्वारा धर्मोत्तर यह दिखलाते हैं कि बालक में भी पूर्वापरपरामर्शरूप प्रवृत्ति होती है। जो पूर्वापरपरामर्श है वह अनियत प्रतिभास है, क्योंकि वह विकल्पित होता है।⁴⁸ दुर्वेक भी कहते हैं कि जो ज्ञान अपनी उत्पत्ति में अर्थ-सन्निधिनिरपेक्ष है वह अर्थ से उत्पन्न नहीं होता है, जैसे, संकेत को जानने वाले व्यक्ति का चिरनष्ट वस्तुविषयक ज्ञान।⁴⁹ यहाँ यह भी ध्यानीय है कि 'साधारणतः' यह प्रतिपादन किया गया है कि विकल्पज्ञान अर्थ से उद्भूत नहीं होता, फलतः वह अनियताकार होता है। अतः प्रश्न उठता है कि बालक का विकल्पकज्ञान अर्थनिरपेक्ष कैसे है? बालक भी पूर्वदृष्ट रूप में स्तन को पहचानता है। यहाँ स्तन उसके पूर्वदर्शन का विषय होता है। पूर्वदर्शन तो उसी समय विनष्ट हो गया, फिर इस समय विद्यमान स्तन उसका ग्राह्यविषय कैसे हो सकता है? इसीलिए 'यह वही है' इस ज्ञान में सानिध्य के बिना ही स्तन को पूर्वदर्शन का विषय समझा जाता है। इससे फलित हुआ कि स्मरणादिज्ञान अर्थनिरपेक्ष होते हैं, विद्यमान अर्थ से वे उद्भूत नहीं होते।

ऊपर की व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि आचार्य धर्मोत्तर ने जो 'पूर्वदृष्टापरदृष्ट' आदि कहा है उसमें पूर्वदृष्ट रूप से होने वाले परामर्श को अभिलापसंसर्ग की योग्यता में परम्परया हेतु बतलाया है जिसमें निम्न तथ्य अन्तर्भूत

हैं — (क) पूर्वदृष्ट वस्तु उत्पन्न (सन्निहित) नहीं होती इसीलिए पूर्वदृष्ट और अपरदृष्ट को एक दिखलाने वाला ज्ञान असन्निहितवस्तुविषयक होता है। (ख) ऐसा ज्ञान अर्थ से उत्पन्न नहीं होता। (ग) अर्थनिरपेक्षज्ञान में आकार का नियामक हेतु नहीं होता। (घ) जिस ज्ञान में आकार का नियामक हेतु (अर्थ) नहीं होता वह अनियताकार वाला होता है (ङ) अनियताकार वाला ज्ञान वाचक शब्द के संसर्गयोग्य होता है। इसप्रकार धर्मोत्तर प्रतिपादित करते हैं कि पूर्वदृष्टरूप में ज्ञान होने से नवजात शिशु का ज्ञान भी अनियतप्रतिभास वाला और 'वाचकशब्दसंसर्गयोग्य' होगा, फलतः कल्पनात्मक होगा।⁵⁰ यहाँ पर दुर्वेक मिश्र एक आशंका पूर्वपक्ष की ओर से उठाते हैं कि द्वितीयादि दर्शनकाल में पूर्वदृष्ट और अपरदृष्ट में 'स एवायम्' एवं एकीकरण के द्वारा नवजात शिशु का स्तन में मुखार्पण की बात तो मानी जा सकती है, किन्तु गर्भ से भूपतन के तुरत बाद स्तन में मुखार्पण की बात की व्याख्या कैसे आप बौद्ध करेंगे, क्योंकि नवजात शिशु तो स्तन को पहले नहीं देखे हुए है कि उसे देखने के द्वारा दृश्यमान स्तन को पूर्वदृष्ट स्तन के साथ एककरके स्तन में मुखार्पण कर दे? दुर्वेक उत्तर देते हैं कि ऐसा अन्यजन्म के अनुभव के कारण होता है और उस पूर्वजन्म में भी पहले के पूर्वजन्म के अनुभव के सामर्थ्य के कारण होता है और यह संसार सादि नहीं है।⁵¹ यदि विरोधी इस पर कहें कि पूर्वजन्म के अनुभव में शब्दाकार भी तो है, अतः 'योग्य' पद के ग्रहण के लिए आप जो यह सारा प्रयास कर रहे हैं, उसका कोई उपयोग नहीं है। दुर्वेक निश्च उत्तर देते हैं कि अन्य जन्म में उनका अभ्यास किया गया रहता है, अतएव विद्यमान जन्म में शब्दाकारसंमूर्च्छित हैं, तो हों, तथा बाद को व्युत्पन्न होते हुए विशिष्ट शब्द के द्वारा कभी भी संसृष्टार्थप्रतिभास न हुआ रहे, तो रहे वैसा, किन्तु जन्मान्तर के अनुभव का विकल्पप्रत्यय नहीं होता है, हमारा कहने का यही मूल मंतव्य है। दुर्वेक पुनः आगे कहते हैं कि जो ज्ञान असन्निहितविषय वाला होता है वह अर्थसन्निधिनिरपेक्ष होता है। पूर्वदृष्टत्व तथा प्रत्यभिज्ञान (वह ही यह है इस तरह की पहचान) के कारण सद्यः जात बालक का ज्ञान असन्निहित विषय वाला होता है।⁵²

मोक्षाकर गुप्त अपनी तर्कभाषा में बतलाते हैं कि कल्पना द्विविध होती है — (क) पूर्व और अपर का अनुसंधान करके शब्दसंकीर्णआकार वाली प्रतीति और (ख) आन्तरिक जल्पवाली प्रतीति। विज्ञपुराण की यह प्रतीति कि 'यह वही घड़ा है' प्रथम प्रकार की कल्पना का दृष्टान्त है। बालक, गूँगे तथा पशु आदि में आन्तरिक जल्प के आकार वाली अथवा परामर्शरूप प्रतीति, दूसरे प्रकार की कल्पना का उदाहरण है। इन दोनों कल्पनाओं का अन्तर्भाव करने के लिए ही कल्पना को 'अभिलाषसंसर्गयोग्य-प्रतिभासाप्रतीति' कहा गया है। मोक्षाकर गुप्त बतलाते हैं कि बालकादि की अन्तर्जल्पाकारा कल्पना का निश्चय विकल्प कार्य से तथा दृष्ट के ग्रहण और अनिष्ट के परिहार के

द्वारा होता है। कल्पना ज्ञान का अर्थ के साथ अन्वयव्यतिरेक नहीं है अतः वह (कल्पनाज्ञान) अर्थ का कार्य नहीं है, क्योंकि जिसके बिना भी जो उत्पन्न हो जाता है वह उसका कार्य नहीं हो सकता। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो अतिव्याप्तिदोष होगा। पुनश्च, यदि कल्पनाज्ञान को अर्थोत्पन्न माना जाय, तो, कल्पनाज्ञान से भी घट-पट आदि अर्थ को दिखलायी पड़ना चाहिए, तथा अन्धे को भी रूप दिखलायी पड़ना चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं है, इसीलिए यह कहा जाता है कि शब्द ज्ञान और बौद्धिक ज्ञान में अर्थ का प्रतिभास प्रत्यक्ष के समान नहीं होता है।⁶³

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य धर्मकीर्ति के कल्पनालक्षण में आये 'योग्य' पद के ग्रहण में टीकाकारों का जो आशय है उससे ध्वनित होता है कि बालमूकादि की अन्तर्जल्पाकार कल्पना, अविशेष या निष्प्रकारक (*inarticulate*) तथा मूलप्रवृत्त्यात्मक होती है। किन्तु जो पहले देखा गया है और जो बाद में देखा गया है उनमें ऐक्य, समन्वय तथा ताल-मेल अन्तर्जल्पाकार वाली कल्पना में भी रहता है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। किन्तु यह ध्यानीय है कि उपर्युक्त प्रकार के एकात्मक ज्ञान (वह ज्ञान जिसमें पूर्व तथा अपर दृष्ट में एकीकरण रहता है) में जो अभिलापसंसर्ग की योग्यता है वह ज्ञान में निहित विकल्पात्मक योजना का उपलक्षण मात्र है, उसकी अनिवार्य विशेषता नहीं है, स्वरूप नहीं है, यह कल्पना में सर्वदा नहीं रहती। कल्पना की अनिवार्य विशेषता— वह लक्षण जो सर्वदा कल्पना के अस्तित्व एवं विस्तार के साथ रहता है — है उसकी अस्फुटाभता। कल्पना की अस्फुटाभता का कारण यह है कि इसका विषय अर्थ (बाह्यजगत् में रहने वाला वास्तविक पदार्थ, स्वलक्षण) नहीं होता। जो ज्ञान पूर्व अनुभव को बाद के अनुभव से समन्वित करता है, उसका विषय उसके समक्ष उपस्थित नहीं रहता, क्योंकि पूर्व अनुभव अर्थ के अनुभव के समय अविद्यमान रहता है, वह तो पूर्व में ही उत्पन्न होकर नष्ट हो गया। ऐसा ज्ञान जिसका विषय कोई 'अर्थ' (बाह्यजगत् में स्थित सत्य वस्तु, स्वलक्षण) न हो वह अस्फुट आभा वाला होगा। अतः कल्पनात्मक ज्ञान सर्वदा योजनात्मक एवं अस्फुटाभ होता है।

प्रत्यक्ष के कल्पनापोढत्व की सिद्धि

आचार्य धर्मकीर्ति अपने प्रमाणवार्तिक में पहले, प्रत्यक्ष के कल्पनापोढत्व की सिद्धि करते हैं, तदनन्तर जात्यादियोजना का निरास करते हैं ('सामान्यनिरास' एवं 'अन्यापोहविचार' के प्रसंग में), और तदनन्तर प्रत्यक्ष में शब्दकल्पना का निराकरण कर प्रत्यक्ष लक्षण की परिसमाप्ति करते हैं।⁶⁴ यहाँ हम भी उसी प्रक्रिया का अवलम्बन करेंगे।

'प्रत्यक्ष कल्पना' से रहित होता है यह बात स्वसंवेदन से ही सिद्ध हो जाती है, क्योंकि कल्पनारहित अर्थ (रूप) का संवेदन अपरोक्ष होता है। यदि अर्थ का स्वभाव कल्पनात्मक होता, तो वह उस प्रकार का ही प्रकाशित होता, क्योंकि सभी प्राणियों का शब्दसंसर्गवान विकल्प सबके लिए स्वसंवेद्य होता है। प्रत्यक्ष यदि शब्दसंसर्गवान होता तो उपलब्ध भी होता।¹⁵⁵ इसके लिए, कि ऐसी स्थिति होती है, आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं कि 'जो-जो विकल्पनीय है उन सभी से चिन्ता को खींचकर (सभी विकल्पों की समाप्ति या अनुपस्थिति के कारण) अविक्षिप्त हुई चेतना के साथ स्थिर रहता हुआ भी पुरुष चक्षुर्विज्ञान के द्वारा रूप को देखता है। उपर्युक्त स्थिति निर्विकल्प ज्ञान है, यह सबको सविदित ही है'¹⁵⁶ पुनश्च, 'विकल्पावस्था के ऊपर फिर विकल्प करता हुआ पुरुष' 'मेरी इस प्रकार की कल्पना थी' इस तथ्य को जानता है, इन्द्रिय से उत्पन्न बुद्धि की अवस्था (निर्विकल्पक ज्ञान) की कल्पना को नहीं जानता।¹⁵⁷ प्रो० श्वेत्बात्स्की इसे 'धर्मकीर्ति का प्रयोग' कहते हैं।¹⁵⁸ ऊपर के अंश में धर्मकीर्ति यह स्पष्टीकरण देते हैं कि मनुष्य का मन या मस्तिष्क जब सभी बाह्य विषयों से खिंचा हुआ और निष्क्रिय है, तब भी रूपविषय का प्रत्यक्ष उसे हो सकता है। इस तथ्य से यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष मनस् की कल्पना से स्वतन्त्र है। यह वह स्थिति है जिसमें विज्ञान के पास अपने को छोड़कर अपना कहने के लिए कोई बाह्य चीज नहीं रह जाती। यह साक्षात् या अपरोक्ष की वह स्थिति है जो सप्रकारता, योजना, सम्बन्ध आदि सारी बातों से असंपृक्त रहती रहती हुई भी स्फुटाभ होती है। धर्मकीर्ति यह भी कहते हैं कि 'स्वलक्षण की यह विशेषता होती है कि जिस भेद या विशिष्टता का हम उसमें अनुभव या दर्शन करते हैं वह कहीं अन्यत्र दिखलायी नहीं पड़ती, इसकारण इन्द्रियों से जायमान गति विशेषमात्रविषया होती है। विशेषों में शब्दों की प्रवृत्ति संभव नहीं है, क्योंकि विशेषों का अन्वय नहीं होता, फलतः विशेषों में संकेत की प्रवृत्ति नहीं है। जो शब्द के विषय हैं वे ही शब्दों के द्वारा संयोजित होंगे, स्वलक्षण को विषय बनाने वाला प्रत्यक्ष शब्दों द्वारा संयोजित नहीं हो सकता। इससे प्रमाणित होता है कि प्रत्यक्ष कल्पनापोढ (निर्विकल्पक) होता है।¹⁵⁹

आचार्य प्रज्ञाकर, धर्मकीर्ति के आशय की विवेचना करते हुए, बतलाते हैं कि विकल्पावस्था के ऊपर पुनः विकल्प जब किया जाता है कि 'मेरी इस प्रकार की कल्पना थी', तो यहाँ जिस तरह विकल्प का उदय होता है उस तरह निर्विकल्पावस्था में इन्द्रिय से अर्थ के ज्ञान का विकल्प उत्पन्न नहीं होता कि 'यह निर्विकल्पक है'। ऐसा न मानने पर प्रत्यक्ष को सविकल्पक मानने वाले भी तब तक सविकल्पकत्व का व्यवहार कहाँ से कर सकेंगे, जब तक कि यह निश्चय उत्पन्न नहीं हो जाता कि 'यह सविकल्पक' है।¹⁶⁰ इसके अतिरिक्त सविकल्पकत्व के व्यवहार को मान लेने पर भी

उसके लिए किसी सविकल्पक की अपेक्षा होगी और इसके लिए अन्य सविकल्पक अपेक्षित होगा, इस प्रकार अनवस्था की स्थिति प्राप्त होगी, तथा 'यह सविकल्पक है' ऐसा ज्ञान ही नहीं हो सकेंगा। यदि, यह कहा जाय कि 'यह स्वयं सविकल्पक है, अन्य सविकल्पक को इसके लिए मानने की क्या आवश्यकता', तो हमारा आग्रह है कि निर्विकल्प भी तो प्रतीति रूप है, अतएव, उसके लिए विकल्प को मानने की क्या आवश्यकता?⁶¹

यदि, पूर्वपक्ष से कहा जाय कि 'यह सविकल्पक है' ऐसा व्यवहार विकल्पक अनवस्था के पश्चात् होता है, तो आप पूर्वपक्षी की इस धारणा में भी, बाद को पुनः विकल्प करने वाले पुरुष का ही यह व्यवहार होता है कि इस प्रकार की विकल्प परम्परा पहले भी थी; चारों ओर से अपने विकल्पों का संहरण कर लेने की अवस्था में ऐसा व्यवहार नहीं होता, क्योंकि उस अनवस्था के प्रति लोगों का मानसव्यवहार यह होता है कि मेरी यह अवस्था निर्विकल्पकता की स्थिति थी। यदि, पूर्वपक्षी पुनः यह आशंका उठाये कि विकल्प तो निर्विकल्पकता की अवस्था में अविद्यमान रहता है, अतएव विकल्प के द्वारा व्यवहार कैसे होगा, तो हमारा उसके प्रश्न पर यह प्रतिप्रश्न होगा कि मृत हो जाने पर किसी के प्रति यह व्यवहार कैसे होता है कि वह मृत है। यदि, ऐसा नहीं माना जायेगा तो, यह प्रश्न उपस्थित हो जायेगा कि सविकल्पकत्व के विषय में भी सविकल्पकत्व का व्यवहार कैसे होता है?⁶² यदि, विरोधी उत्तर दे कि तज्जातीय का पुनः दर्शन होने के कारण वैसा व्यवहार होता है, तो हमारा कहना है कि हम बौद्धों के पक्ष में भी चारों तरफ से अपने विकल्पों का संहरण कर लेने की अवस्था में पुनः-पुनः दर्शन तो अनिवारित ही है। अतः, लक्षणभेद के कारण निर्विकल्पक और सविकल्पक एक नहीं हैं।⁶³ इसके एक न होने का एक अन्य कारण यह भी है कि सविकल्पक और निर्विकल्पक की स्थिति एक दूसरे के व्यतिरेक के द्वारा होती है।⁶⁴ यदि, पूर्वपक्षी कहे कि सामग्री का सद्भाव होने के कारण (विकल्प के आरम्भ के कारण) सविकल्पक नवीन रूप में अन्य ही उत्पन्न होता है और उसके अभाव के कारण जो स्थिति है वह निर्विकल्पक है, तो हम इस विश्लेषण को असत् मानते हैं, क्योंकि 'यदि नील और पीत में सामग्री का नानात्व माना जाय तो, अन्य सामग्री के संभव होने के कारण नील-पीतादि समुदाय को नील या पीत से अन्य ही उत्पन्न हुआ मानना पड़ेगा', जो कि वस्तुस्थिति नहीं है। यदि, प्रतिपक्षी कहे कि प्रत्यभिज्ञान के कारण 'यह वही नील है, अपर समुदाय नहीं है' ऐसी प्रतीति होने से नील और पीतादि में नानात्व है, एकत्व नहीं, तो इसका अर्थ हुआ कि इन दोनों की सभी कल्पित रूपों की भेदकल्पना भी उपर्युक्त प्रकार की होगी (नील और पीत इन दोनों के जितने कल्पित रूप हैं उन में भेद की कल्पना भी नानात्व रूप वाली होगी)

अतः, प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है, यह सिद्ध हो गया।⁶⁵

प्रज्ञाकर सविकल्पक को निर्विकल्पक से भिन्न करते हुए बतलाते हैं कि चूँकि इन्द्रिय से अर्थग्रहण में प्रवृत्तता होती है, अतएव, सविकल्पकता में जो स्मरणादि हैं, वे इन्द्रियविज्ञान की सामग्री नहीं हैं। इन्द्रियग्राह्य अर्थ शब्द द्वारा योजित नहीं होते, क्योंकि शब्द उनका वाचक नहीं हो सकता। स्वलक्षण में संकेत की प्रवृत्ति नहीं होती तथा सामान्य इन्द्रियग्राह्य नहीं होता, क्योंकि भेद देशकालअनन्वयी होता है। भेद जिस काल में रहता है उसके अन्यकाल में वर्तनेवाले में 'वह नहीं रहता, अतएव, कालपरिच्छिन्नभाव का अवगम प्रत्यक्षतः (अपरोक्षतः) होता है। फलतः, जो पहले के काल में स्थित है उसका अन्य स्थान पर तथा जो पश्चात्कालीन है उसका पूर्वकाल में 'अन्य स्थान पर प्रत्यक्ष नहीं होता।⁶⁶ यदि पूर्वपक्षी कहे कि प्रत्यभिज्ञान करके व्यक्ति 'जो पहले था वही यह है' इस प्रकार का ग्रहण करता है, तो हमारा कहना है कि ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष नहीं परोक्ष होती है और उसमें इन्द्रियव्यापार का अभाव रहता है।⁶⁷ अतः, प्रज्ञाकर कहते हैं कि योग्यदेश में स्थित होने के कारण ही इन्द्रियवृत्ति होती है, इन्द्रियवृत्ति अतीत में होने वाले विषय में नहीं होती। अतः, इन्द्रियाश्रित विज्ञान भी अन्यकाल में होने वाले (कालान्तरभावी) विषय में नहीं होता।⁶⁸ आचार्य इसे और स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि कालदेशव्याप्ति का ग्रहण इन्द्रियविज्ञान से नहीं होता, क्योंकि, वैसा मानने पर सभी लोग सभी आकार को देखने वाले हो जायेंगे।⁶⁹ यह प्रश्न किया जा सकता है कि, इन्द्रियाँ अतीत में होने वाले विषयों में नहीं वर्ततीं, इस तथ्य का तदाश्रितविज्ञान से क्या विरोध है जो आप यह कहते हैं कि इन्द्रियाश्रित विज्ञान भी कालान्तरभावी विषय में नहीं होता? उत्तर यह है कि इन्द्रियाश्रितविज्ञान की वृत्ति यदि अतीतादि में मानी जाय, तो चक्षु (इन्द्रिय) की भी वृत्ति उसमें माननी पड़ेगी, क्योंकि इन्द्रिय वृत्ति से अन्य नहीं होती। पूर्व और अपर के ग्रहण में चक्षुव्यापार तो दिखलाई नहीं पड़ता, क्योंकि पूर्वापर के ग्रहण में स्मरण तथा अनुमान की वृत्ति होती है।⁷⁰

आचार्य धर्मकीर्ति का ही अनुसरण करते हुए शांतरक्षित और कमलशील भी कहते हैं कि प्रत्यक्ष कल्पनापोढ होता है; यह अत्यन्त परिस्फुट रूप में संविदित होता है, क्योंकि हम पाते हैं कि मनस् के अन्यत्र आसक्त रहने पर भी व्यक्ति को अक्ष के द्वारा नीलादि की वेदना होती है।⁷¹ यह आशंका की जा सकती है कि अन्य विषयों द्वारा व्यासक्त (आकर्षित) कल्पना ही नीलादि का प्रत्यक्षीकरण करती है। शांतरक्षित एवं कमलशील उत्तर देते हैं कि यदि वही विकल्प नीलादि का ग्रहण करता है, तो, 'अतीतादि अर्थ' ऐसा नामकरण छोड़ देना होगा और विकल्प को ही नीलादि के नाम

से अभिहित करना होगा। अतः, वही विकल्प नीलादि वर्ग का ग्रहण नहीं कर सकता। यदि विरोधी कहे कि उपर्युक्त स्थिति में, दूसरी कल्पना की स्थिति हो सकती है जो विषय को ग्रहण करेगी, यह मत आप क्यों नहीं मानते? शांतरक्षित कहते हैं कि इस समय उस वस्तु से संसर्ग रखने वाला कोई अन्य विकल्प नहीं रहता है, ऐसा मानने में दो कारण हैं — (1) विरोधी का पक्ष दृष्ट तथ्यों के विपरीत है और (2) यह उसके अपने मत के भी विपरीत है, क्योंकि यह मत एक ही समय में दो कल्पनाओं की स्थिति की बात कर रहा है।⁷² यह बात ज्ञान को सविकल्पक बनाती है, चूँकि ज्ञान के साथ ही वह प्रतीत होती है ('ज्ञानसहभाव्यनुभूयते' ज्ञान के सहभावी रूप में अनुभूत होती है), अतः, यह स्फुट है (अत्यन्त स्पष्ट है) कि इन्द्रियविज्ञान कल्पनारहित होता है।⁷³

आचार्य धर्मकीर्ति प्रत्यक्ष की कल्पनापोढता को और स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि वाच्यवाचकस्वरूप वाले सम्बन्ध में जो अर्थ प्रतिभासित होते हैं उनमें ही सम्बन्ध की बात की जानी चाहिए। जिस काल में व्यक्ति अर्थ को देखता है और तदनन्तर संकेत को वहाँ प्रवर्तित करता है, तो बाद के काल में इन्द्रियविषय वहाँ नहीं रहता है, क्योंकि इन्द्रियविषय क्षणस्वलक्षण रूप है। जिस व्यक्ति के इन्द्रियव्यापार संहृत हैं उसके संकेतसंकल्प के काल में विशदप्रतिभास वाले अर्थ की प्रतीति नहीं होती। यदि, अर्थ वहाँ प्रतिभासित होता, तो वह इन्द्रियज्ञान के समान स्फुट प्रतीत होता। प्रतिभासभेद की स्थिति रहने पर भी शब्द और इन्द्रियज्ञान में एकविषयता नहीं है, इस कारण विज्ञान का आकारभेद ग्राह्यपदार्थों का भेदक है। यदि, प्रतिभास भेद होने पर भी अर्थ में भेद न माना जाय तो, विश्व एक द्रव्यवाला हो जायेगा।⁷⁴ पुनश्च, चक्षु के द्वारा अर्थ का अवभास होने की स्थिति में भी प्रतिपादक व्यक्ति जिसको 'इस अर्थ का यह वाचक है' इस प्रकार कहता है वही शब्द के द्वारा योजित किया जाता है। जो इन्द्रिय का विषय (स्वलक्षण) है वह शब्द के द्वारा योजित नहीं किया जाता, क्योंकि स्वलक्षण के दर्शन के अनन्तर संकेतसंकल्प के काल में स्वलक्षण का विनाश हो जाता है। इतना ही नहीं, जिसप्रकार प्रत्यक्ष में व्यापृत इन्द्रिय के स्वलक्षण की प्रतीति होती है, उसीप्रकार, अव्यापृत इन्द्रिय के स्वलक्षण की प्रतीति अन्यवाङ्मात्र के द्वारा नहीं होती।⁷⁵ पूर्वपक्षी यहाँ कहता है कि संकेत का विषय न होने पर भी जो शब्द से संसृष्ट है ऐसे स्वलक्षण का ग्रहण प्रत्यक्ष करेगा। यहाँ पूर्वपक्षी का आशय यह है कि यदि स्वलक्षण को वाच्य तथा वाचक मान लिया जाये और कल्पना को 'वाचक शब्द के संसर्ग की योग्यता' के रूप में समझा जाये, तो उपर्युक्त स्थलों पर, जहाँ शब्दस्वलक्षण वाच्य और वाचक दोनों हैं, श्रौत्रज्ञान में वाचकशब्दसंसर्ग होगा, फलतः श्रौत्रज्ञान सविकल्पक हो जायेगा जो बौद्धों को अभीष्ट नहीं है।⁷⁶ धर्मकीर्ति के आशय को उनके टीकाकार स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि यह दोष नहीं होगा, क्योंकि स्वलक्षण में

वाच्यवाचकभाव मानने पर भी श्रौतज्ञान में वाच्यवाचकभाव का आभास नहीं होगा, अपितु शुद्ध शब्दस्वलक्षणों का ही आभास होगा, 'क्योंकि श्रौतज्ञान की उत्पत्ति शब्दों की उपस्थिति से होती है। श्रौतज्ञान में जो शब्द उपस्थित होते हैं उनका वाच्यवाचकसम्बन्ध तब तक जाना नहीं जा सकता, जबतक कि संकेतकाल में जाने गये, (तरप्-तमप् को 'घ' कहते हैं-इस रूप) में शब्दों का स्मरण न हो जाये। श्रौतज्ञान के द्वारा पूर्वदृष्ट रूप में स्मरण हो नहीं सकता, क्योंकि स्मरण मनोजन्म है, इन्द्रिय का कार्य नहीं। अतः, श्रौतज्ञान सविकल्पक नहीं होगा।" दुर्वेक मिश्र, सोदाहरण इसे समझाते हुए लिखते हैं - जिस प्रकार जिस ज्ञान के द्वारा जो अर्थ संकेतकाल में उपलब्ध हुआ और जिस शब्दसंसर्गी रूप के द्वारा (अर्थ का) एकीकरण नहीं किया जाता, उस शब्द से वाच्य होने के रूप में वह उसके द्वारा गृहीत नहीं होता है। जैसे, 'गाय' के ज्ञान के द्वारा संकेतकाल में उपलब्ध 'अश्वशब्द' के संसर्गी 'अश्व' के रूप के साथ एकत्व के द्वारा अप्रतीयमान 'गाय' 'अश्वशब्द' - वाच्य होकर गृहीत नहीं होती है, उसी प्रकार जिस ज्ञान के द्वारा जो शब्द संकेतकाल में दृष्ट जिस अर्थ के संसर्गीरूप के द्वारा एक नहीं किया जाता, उसके द्वारा वह उस अर्थ के वाचक के रूप में गृहीत नहीं होता है। जैसे, 'गाय' शब्द के ज्ञान से, संकेतकाल में उपलब्ध 'अश्वार्थ' के संसर्गी 'अश्वशब्द' के साथ एकत्वरूपेण अप्रतीयमान 'गोशब्द' 'अश्वार्थ' के वाचक के रूप में गृहीत नहीं होता : और जब पूर्वदृष्टत्वं रूप से ग्रहण हुआ है तब वह ज्ञान अभिलाप से संसृष्ट अर्थ का आभास होता हुआ विकल्प रूप ही है।¹⁷

यहाँ विरोधी यह आक्षेप उठाता है कि ज्ञान के साथ विकल्प का सहभावित्व असिद्ध है (यह तथ्य स्वीकार नहीं किया जा सकता कि ज्ञान और विकल्प सहभावी हैं, अर्थात् विकल्प की प्रतीति ज्ञान के साथ-साथ होती है) और यदि ज्ञान और विकल्प क्रमभावी हैं, तो, उनकी युगपत् प्रतीति क्यों होती है? धर्मकीर्ति उत्तर देते हैं कि सविकल्प और अविकल्प में मनस् की युगपत्वृत्ति अथवा लाघव के कारण विमूढव्यक्ति उनमें ऐक्य की स्थापना कर देते हैं।¹⁸ प्रज्ञाकर धर्मकीर्ति के आशय को स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि यदि 'गौ है' इस तरह का अविकल्पक ज्ञान गकारादि वर्ण का अध्यवसाय करने वाला हो और वह स्वलक्षण के ग्रहण में प्रवण होवे, तब तो, युक्त यही पक्ष होता कि प्रत्यक्ष केवल एक ही होता है और वह है सविकल्पक प्रत्यक्ष। किन्तु, जब वर्ण के आकार का ग्रहण, पूर्वदर्शन के बल से आयात वासनाबीज के प्रबोध के चलते अस्पष्टवर्णावभासी होता है, तो सामने उपस्थित वर्ण का अवभासी प्रत्यय उससे अन्य ही है, क्योंकि प्रत्यक्ष में विकल्प असंभव है।¹⁹ प्रतिपक्षी का इस पर पुनः प्रश्न है- तो फिर एकता का अध्यवसाय कैसे होता है? प्रज्ञाकर का उत्तर है कि सविकल्प और अविकल्प में ऐक्य है ही नहीं। 'यह गाय है' यह ज्ञान शाबलेय गकारादि

वर्णों की एकता का अध्यवसाय नहीं करता, क्योंकि, प्रतिभासभेद के द्वारा ही भेद का ज्ञान होता है। 'गकारादि' वर्णों के विकल्पों का उदय क्रम से होता है, अतः उनमें एकता का अभाव है। वर्णावभास का ज्ञान ही शाबलेय का आलम्बन नहीं है, क्योंकि वर्णावभास के ज्ञान के अभाव में भी शाबलेय का अवभासन होता है, इसका कारण यह है कि वर्णावभास का प्रतिभासन चक्षु का निमीलन होने पर भी होता है।⁸¹ यदि पूर्वपक्षी कहें कि 'उसके अभाव में भी तो प्रतिभासन अनिश्चयात्मक होता है, अतएव निश्चय ही विशेष है'। प्रज्ञाकर विरोधी से पूछते हैं कि निश्चय से आप क्या समझते हैं? यदि आप कहें कि स्फुट रूप का प्रतिभासन निश्चय है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि इसका प्रतिभासन तो पूर्वकाल में ही हो चुका रहता है (सविकल्पक के पूर्वक्षण, अर्थात्, अविकल्पक क्षण में हो चुका रहता है)। यदि कहा जाय कि निश्चय का पूर्वत्वेन प्रतिभासन होता है, तो ऐसी स्थिति में वह आकारान्तर ही है और यही अस्पष्ट आकार (कहा जाता) है, फलतः आकारान्तर के प्रतिभास में (उससे) अन्य निश्चित नाम की चीज कैसे संभव हो सकती है? यदि, यह कहा जाय कि अविकल्पक और सविकल्पक की एकता के निश्चय के कारण निश्चय होता है, तो हमारा प्रश्न है कि भेद से प्रतिभासमान अविकल्पक और सविकल्पक के एकत्व का निश्चय कैसे हो सकता है?⁸² यहाँ विरोधी यह प्रश्न पूछ सकता है कि आप ही बतलायें कि एकत्व का व्यवहार कैसे होता है? प्रज्ञाकर धर्मकीर्ति की ओर से उत्तर देते हैं कि प्रवर्तन एक कार्य का होता है। इस कारण एककार्यतया उनकी एकता का अध्यवसाय होता है (अविकल्पावस्था के प्रवर्तन तथा सविकल्पावस्था के कार्य के एक होने से उनमें एकता का अध्यवसाय हो जाता है)। यदि, प्रतिपक्षी यह प्रश्न करें कि अविकल्प और सविकल्प का क्रमेण ग्रहण क्यों नहीं होता, तो उत्तर यह है कि विषय का सन्निधान युगपत् होता है, इस कारण ही क्रमेण ग्रहण नहीं होता। वर्ण के विकल्पकाल में प्रत्यक्षविषय सन्निहित नहीं रहता, ऐसा नहीं है। जिस प्रकार विरोधी के पक्ष में शीघ्रवृत्ति के कारण विषय के सन्निधान से क्रमेण ग्रहण का अध्यवसाय होता है, उसी प्रकार हमारे पक्ष में भी है।⁸³

विरोधियों (नैयायिकादि) की ओर से यह आक्षेप उठाया जाता है कि यदि, प्रत्यक्ष पहले निर्विकल्पक होता है, तदनन्तर विकल्प होता है और फिर उसके बाद दर्शन होता है, तब तो, विकल्प के द्वारा व्यवधानादि होने से दर्शन विच्छिन्न हो जायेगा, धारावाही नहीं होगा। इस आशंका पर धर्मकीर्ति प्रश्न करते हैं कि जब आप (हमारे विरोधी नैयायिकादि) 'गाय' को निर्विकल्पप्रत्यक्ष के द्वारा देखते हैं, तो भिन्न जातीय अश्वादि के विकल्प के उत्पन्न होने पर उनका भी दर्शन कैसे अविच्छिन्न होता है? अश्व के वाचक शब्द से संयुक्त होकर 'गाय' गृहीत नहीं होती, जिससे कि एकमात्र उसे ही प्रत्यक्ष माना जाय जो सविकल्पक होता हो। यदि इन दोनों में एकत्व हो, तो



अश्व की प्रतीति ही नहीं होगी। यहाँ विरोधी कहते हैं कि भ्रम्यमाण अलात भिन्न-भिन्न स्थानों में शीघ्रता से रहता है इस कारण तथा भावपक्ष उसमें बलवान होता है इस कारण टकटकी लगाकर देखने के द्वारा जैसे अलात में चक्रदृष्टि हो जाती है, उसी तरह जिसका विजातीय हट गया है ऐसे दर्शन का अभाव होने पर भी 'दर्शन अविच्छिन्न है' ऐसी बुद्धि होती है। धर्मकीर्ति इस पर टिप्पणी करते हैं कि अभाव पक्ष में भी वह बलवता (सामर्थ्यता) समान होती है, क्योंकि लाघवसामर्थ्य (शीघ्रवृत्तिरूप सामर्थ्य) वहाँ भी होता है, अतएव, दर्शन के विच्छेदरूप शीघ्रवृत्ति के कारण विच्छेदबुद्धि ही रहे। अतः सरः रसः इत्यादि वर्ण की शीघ्रवृत्ति के कारण युगपत्श्रुति हो जाती है।¹⁵⁴

आचार्य धर्मकीर्ति इस अवसर पर न्यायसंमत तथा शंकरस्वामिन् आदि के मत में विसंगति दिखाकर उनका खंडन करते हैं। न्यायमत में दोष बतलाते हुए वे कहते हैं कि एक साथ अपने-अपने विषय से सम्बद्ध इन्द्रियों (मनपर्यन्त इन्द्रियों) के रहते हुए जो बुद्धि (ज्ञान) पाँचों इन्द्रियों से व्यवहित होने पर भी नैयायिकों के पक्ष में समकालिक प्रतीत होती है, वही इन्द्रियबुद्धि (इन्द्रियज्ञान) शब्दवर्ण के क्षणिकज्ञान से मिश्रित होने के कारण अविच्छिन्न रूप में प्राप्त होती है, क्योंकि विजातीय अन्य विज्ञान का व्यवधान नहीं रहता; फिर भी वह क्रमवती होती है, यह महान आश्चर्य है। यदि, युगपत् ग्रहण को लाघवकृत माना जाय, तब तो, वर्ण-ज्ञान होने पर वह (युगपत् ग्रहण) अवश्य ही होगा, क्योंकि विजातीय का व्यवधान नहीं होता। इन्द्रियज्ञानों में तो वह युक्त (उचित) नहीं है, क्योंकि इन्द्रियज्ञान में पाँचों इन्द्रियों से व्यवधान रहता है। इसलिए, युगपत् ज्ञान को ही क्यों न मान लिया जाय।¹⁵⁵ आचार्य प्रज्ञाकर सोदाहरण इस तथ्य का समर्थन करते हैं कि जिस प्रकार सुगंधयुक्त कमनीय कामिनी के मुख से मधुर गीत सुनने वालों को सभी का आस्वादन (रूप, गंध, स्पर्श शब्दादि सभी का रसास्वादन) होता है। वहाँ पर चेतना में पाँचों के द्वारा एक-एक का व्यवधान होता है। वहाँ, आप, युगपत्ग्रहावभास जैसे मानते हैं, वैसे ही वर्णों का भी सकृत् अवभास आप को मानना चाहिए।¹⁵⁶ अतः, यदि युगपत् ज्ञान को नैयायिक नहीं मानेंगे, तो पंचज्ञानेन्द्रियों से व्यवहित होने के कारण, तथा 'सरोरसः' आदि में विजातीय का व्यवधान न होने के कारण दोनों की प्रतीति एक-जैसी होगी। किन्तु, यह बात अनुभव-विरुद्ध है, अतः स्वीकार्य नहीं हो सकती। फिर भी, यदि लघुवृत्ति होने के कारण युगपत्ग्रहण मानोगे, तब तो, विजातीय से अव्यवहित मनोविकल्प में क्रमग्रहण अनुभव से सिद्ध नहीं होगा। धर्मकीर्ति कहते हैं कि हमारा अभिमत यह है कि जहाँ पर आसक्ति होती है वहाँ क्रमग्रहण होता है और अन्य स्थिति में युगपत्ग्रहण होता है। विज्ञानपंचक युगपत् ही गृहीत होते हैं, क्योंकि उनका उपलम्भन सकृत् होता है और

बाधक का भी अभाव रहता है। अतः शीघ्र घूमने वाले अज्ञातादि का अनुगमन करने के कारण उपहत दृष्टि इन्द्रिय से उत्पन्न चक्राकारक भ्रान्ति को धारण करती है। भिन्न-भिन्न देश में अलात देखने वाली दृष्टियों की योजना से मानसीभ्रान्ति नहीं होती, क्योंकि प्रतीति वहाँ स्फुट होती है तथा वहाँ पर मनस् का भी अभाव रहता है। अतः 'अहिरहिः' इसप्रकार का विकल्पसमकालिक जो प्रत्यक्ष है वह वस्तु को स्फुट रूप से प्राप्त करता है। अतः प्रत्यक्ष निर्विकल्पक ही है।⁹⁷

आचार्य धर्मकीर्ति इसी स्थल पर शंकरस्वामी इत्यादि लोगों के मत की आलोचना करते हैं। शंकरस्वामी यह मानते थे कि इन्द्रिय से उत्पन्न तथा अमानसिक अनुभवाकार प्रवृत्ति के कारण प्रत्यक्षज्ञान को कल्पनापोढ कहते हैं और उसे बालक के ज्ञान (सद्यः जात शिशु के ज्ञान) की तरह बतलाते हैं। शंकरस्वामी व्याख्या करते हैं कि बालक में विकल्प का अभाव रहता है, क्योंकि उनमें संकेत का अभाव होता है। इस स्थिति का कारण यह है कि वाच्यवाचक योजना ही, उनके अनुसार, विकल्प है और वाच्यवाचकयोजना का कारण विकल्प होता है, अतएव, संकेत का अभाव होने से बालकों में कल्पना का अभाव होता है। शंकरस्वामी यह भी आग्रह करते हैं कि बालकों को प्रत्यक्षज्ञान ही हो सकता है, विचारज्ञान (सविकल्पक ज्ञान) नहीं हो सकता, क्योंकि उनमें कल्पना का अभाव रहता है।⁹⁸ आचार्य धर्मकीर्ति इस पक्ष का खण्डन करते हैं, जिसकी व्याख्या हम ऊपर कर आये हैं और जिसका आशय धर्मकीर्ति के शब्दों में यह है कि बालक के इन्द्रियज्ञानों में जो भी अव्यभिचारीसाधन (सदहेतु) होगा उसे भी वयस्क के इन्द्रियज्ञान में भी कहना चाहिए। फलतः, जो आप इन्द्रियजत्वादि कह रहे हैं उससे क्या फायदा है? व्युत्पन्न संकेत (वयस्क) तथा अव्युत्पन्न संकेत (बालक) इन दोनों के इन्द्रियज्ञान में मात्र शब्दसंसर्ग के अनुसरण का अभाव होने का साम्य होता है। इस कारण दोष नहीं होगा।⁹⁹

आचार्य धर्मकीर्ति 'हेतुबिन्दु' में भी प्रत्यक्ष की निर्विकल्पकता, और तत्पृष्ठभावी सविकल्पक निर्णय की अप्रामाणिकता की सिद्धि करते हैं। अर्थ के प्रत्यक्ष के तुरत बाद स्मृति का उदय होता है जो कि वस्तु के निजी अर्थक्रियाकारित्व को तथा अन्य से इसकी व्यावृत्ति को अभिलाप से युक्त कर देता है। किन्तु उपर्युक्त स्थिति प्रमाण नहीं मानी जाती, क्योंकि यह गृहीत की ही ग्राहिका है। चूँकि स्मृति पूर्वगृहीत अर्थ के स्वरूप (असाधारण-रूप) को अभिलापसंसृष्ट करती है, अतएव, यह अगृहीतग्राही नहीं है, अज्ञातार्थ का प्रकाश नहीं है; और चूँकि प्रत्यक्ष ही के द्वारा अर्थक्रियासमर्थवस्तु का ग्रहण या साक्षात्कार होता है, अतएव उपर्युक्त स्मृति अर्थक्रियामर्थवस्तु का ज्ञान नहीं है। प्रमाण वही होता है जो 'अज्ञातार्थ का प्रकाश' हो और जो अर्थक्रियासमर्थ हो। लोग

किसी क्रिया को पूरा करने में समर्थ वस्तु की ही प्राप्ति के लिए प्रमाण एवं अप्रमाण का अन्वेषण करते हैं। किन्तु सत् अर्थ के प्रत्यक्ष से उत्थापित विकल्प द्वारा अध्यवसित या ज्ञात 'सामान्य' द्वारा किसी भी प्रकार की क्रिया सम्पादित नहीं होती। उदाहरणार्थ, जब कोई नील को देखता है और फिर यह निर्णय करता है कि 'यहाँ एक नील वस्तु है', तो अर्थक्रिया में समर्थ जो नील है उसका ग्रहण तो चाक्षुषप्रत्यक्ष द्वारा पहले ही हो गया है; और नीलदर्शन के बाद नीलसम्बन्धी जो विकल्प होते हैं उनका विषय ऐसी चीज होती है जो नील वस्तु की क्रिया को संपादित करने में समर्थ नहीं है। अतएव, जब धर्मकीर्ति 'अज्ञातार्थ प्रकाश' को प्रत्यक्ष कहते हैं, तो उनका आशय यह बतलाना है कि यह ज्ञान, अबतक अज्ञात, स्वलक्षण का है।^{89(क)}

जब स्वलक्षण का (परमार्थसत् का) ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा हो गया, तो उसके पीछे पर विकल्प का उदय होता है जो कि व्यावहारिक दृष्टि से प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत वस्तु का ही ज्ञान है, और यह विकल्प प्रत्यक्ष का अनुसरण मात्र है, अतः प्रमाण नहीं है, क्योंकि प्रमाण अज्ञात का ज्ञापक या प्रकाश होता है, जब कि सविकल्पक ज्ञान ऐसा नहीं होता। यदि, प्रमाण का अर्थ है वह वस्तु (ज्ञान) जो लोगों को अभीप्सित अर्थ की प्राप्ति में सहायक होती है और यदि लोग सत् अर्थ की प्राप्ति करने की इच्छा रखते हैं (अभीप्सित क्रिया को करने में समर्थ अर्थ की प्राप्ति का प्रयास करते हैं) तो, प्रमाण को अवश्य ही सत् अर्थ का ज्ञान होना चाहिए, अनर्थ का नहीं। यद्यपि, सविकल्पक ज्ञान—जो कि निर्विकल्पकज्ञान का पृष्ठभावी होता है, तदुत्थापित होता है—अर्थ के अध्यवसाय में व्यक्ति को समर्थ बनाता हुआ अर्थ में प्रवृत्ति कराता है, किन्तु प्रत्यक्ष भी अर्थ का ग्राहक एवं परिस्फुट प्रतिभास वाला है, और हमारी प्रवृत्ति भी उसी में कराता है, अतः, सविकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है।^{89(ख)}

विरोधी ऐसा कह सकते हैं कि यदि, किसी ज्ञान का प्रामाण्य मात्र इसके चलते न माना जाय कि उसका विषय उसके पूर्ववर्ती ज्ञान का विषय रहा था, तब तो जिस क्षण में यह प्रत्यक्ष प्रारम्भ हुआ उसके अतिरिक्त एक ही वस्तु का सतत रूप से होने वाले ज्ञान का प्रामाण्य नहीं मानना चाहिए और यदि ऐसा न माना जाय तो 'प्रमाण अज्ञातार्थ का प्रकाश है' यह नहीं कहना चाहिए। धर्मकीर्ति का इस पर उत्तर है कि यदि, द्रष्टा वस्तुस्थिति को क्षण—क्षण के विवेक से जानने में समर्थ हो, तो उसका प्रत्यक्ष प्रत्येक क्षण में एक नवीन प्रत्यक्ष होगा और यदि, द्रष्टा उपर्युक्त प्रकार का नहीं है, तो वह, दर्शनकाल में अर्थ के सामान्याकार को ही जानेगा और वह अर्थ का ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि एक ही वस्तु का सतत रूप में होने वाले ज्ञान का जो विषय है वह एक ही क्रिया को कई क्षणों तक सम्पादित करता है ऐसा मानना पड़ेगा,

और यह क्रिया ऐसी है जो किसी अर्थ (सत् अर्थ) द्वारा नहीं की जा सकती।⁸⁹⁽⁷⁾

शान्तरक्षित एवं कमलशील द्वारा कल्पनापोढत्व की सिद्धि

प्रत्यक्ष कल्पनापोढ होता है, अतः निर्विकल्पक होता है, इस बात की सिद्धि शान्तरक्षित और कमलशील प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों के द्वारा करते हैं। प्रत्यक्ष द्वारा इसको सिद्ध करते हुए वे 'नर्तकी और लता, ताल 'शब्दों' के लघुवृत्ति के साथ उच्चारण के दृष्टान्त की व्याख्या से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि लघुवृत्ति के कारण क्रमग्रहण नहीं होता, तथापि, वहाँ सकृत्ग्रहण का भास रहता है।⁹⁰ इसी तरह अलातचक्र की भ्रान्ति भी है। यहाँ पर चक्राकारावभास अलात के विभिन्न प्रत्यक्षों के प्रतिसंधान के कारण होता हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि वहाँ अव्यवहित चक्र के आकार का सुस्पष्ट प्रतिभासन होता है। यहाँ वस्तुस्थिति यह है कि प्रतिसंधान (विभिन्न प्रत्यक्षों का सम्बन्ध) स्मृति के द्वारा ही किया जाता है, साक्षात् दर्शन के द्वारा नहीं, क्योंकि जो व्यतीत हो गया है (बीत चुका है, अतः अतीत है) उसका अवग्रह (ग्रहण, प्रत्यक्ष) नहीं हो सकता। पुनश्च, स्मृति का जो विषय है वह परिस्फुट नहीं होता, क्योंकि वह विनष्ट हो चुका रहता है, इस कारण ही चक्राभास भी परिस्फुट नहीं हो सकता। अतः, हमारे विरोधी अपने पक्ष की पुष्टि के लिए जिन दृष्टान्तों को प्रस्तुत करते हैं वह साध्यविकल है (साध्य को सिद्ध करने वाला नहीं है)।⁹¹

प्रत्यक्ष की निर्विकल्पकता को अनुमान के द्वारा प्रतिपादित करते हुए शान्तरक्षित कहते हैं कि जिस वस्तु के किसी खास रूप वाला होने का आधार नहीं होता, प्राज्ञजन उसे उस रूप वाला नहीं मानते। उदाहरणार्थ, श्वेत अश्व को कोई गाय नहीं कहता, क्योंकि अश्व में सास्नादि का अभाव रहता है। इसी प्रकार नीलादि स्वलक्षण (असाधारण) विषय से उत्पद्यमान प्रत्यक्ष भी सविकल्पक भाव से व्यवस्थित होकर, विशेषण से विशिष्ट अर्थ को ग्रहण करने वाला नहीं है, अतः, जब अर्थ को सविकल्पक रूप से ग्रहण करने के निमित्त का अभाव है, तो कल्पनात्मक स्थिति भी प्रत्यक्ष में, कार्य रूप में नहीं हो सकती।⁹² पुनश्च, विरोधी का पक्ष मान लेने पर सभी चीजें सभी रूप वाली हो जायेंगी और ऐसा जो मानता है उसे लोग मूर्ख ही कहेंगे। हमने जात्यादि का प्रतिषेध कर दिया है, अतः हमारे द्वारा दिया गया हेतु असिद्ध भी नहीं माना जा सकता।⁹³ हमारे मत में जात्यादि का विशेषण से अलग परिच्छेद नहीं माना जाता और न तो इस प्रकार के विशेषण ही हैं। हम स्वलक्षण की वाच्यवाचकता नहीं मानते, अतः नामशब्द स्वलक्षण का वाचक नहीं हो सकता। इसी कारण हम वाच्यवाचकभाव को अर्थ पर आरोपित मानते हैं, जबकि प्रत्यक्ष अनारोपित अर्थ को ग्रहण करता है, क्योंकि स्वलक्षण के होने पर प्रत्यक्ष होता है और व्यवधानादि के होने से (देशकाल के विप्रकर्ष

से) स्वलक्षण के नहीं होने पर प्रत्यक्ष भी नहीं होता। अतः, नीलादि विषयों का स्वभाव ऐसा है कि वह संकेत का विषय नहीं है (संकेतशक्य नहीं है) और असाधारण है, फलतः, नीलादि विषयक ग्रहण अभिजल्पसंसृष्ट नहीं होता है, क्योंकि वस्तु जहाँ पर संकेत द्वारा गृहीत नहीं होती वहाँ पर सविकल्पकता नहीं होती।⁹⁴

प्रत्यक्ष में जात्यादि कल्पना का निरास⁹⁵

हम देख चुके हैं कि बौद्ध सामान्य को अनर्थ कहते हैं। प्रत्यक्ष के प्रसंग में इसे योजित करते हुए आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं कि विशेषण, विशेष, इनमें समवायादिसम्बन्ध तथा लोकप्रसिद्ध व्यवस्था इनमें से प्रत्येक को पृथक्-पृथक् स्वरूप से ग्रहण करके और फिर इसका संकलन करके विशिष्टबुद्धि (विशिष्ट ज्ञान) विशेषणविशेष्य रूप से पदार्थ का ज्ञान करती है, विशेषण आदि का ग्रहण होने पर नहीं, जैसे कि दण्डीपुरुष में जो विशिष्टबुद्धि होती है वह 'दण्ड', 'पुरुष' और इनमें सम्बन्ध आदि के ग्रहणपूर्वक होती है। जाति, गुण, कर्म आदि जातिमान पदार्थ से भिन्न उपलब्ध नहीं होते, इस कारण जात्यादि का जातिमान के साथ विशेषणविशेष्यभाव नहीं है। विशेषणविशेष्यभाव न होने पर जात्यादि की कल्पना भी नहीं हो सकती।⁹⁶ यदि यह प्रश्न पूछा जाय कि यदि सामान्य का अभाव है, तो विभिन्न व्यक्तिओं, में अन्वयीप्रत्यय क्यों होता है? धर्मकीर्ति उत्तर देते हैं कि विभिन्न 'गौ' व्यक्तिओं में जो 'गौ' इत्यादि रूप से अन्वयीविज्ञान होता है वह 'गौ' शब्द और 'गौ व्यक्ति' के अभ्यासवाला होता है, सामान्याभासवाला नहीं। अन्वयीविज्ञान सामान्याभास रूप नहीं है, इसका कारण यह है कि सामान्यवादियों (नैयायिकादि) ने गोत्वादि सामान्य को नीलादि वर्ण, आकृति और गवादि शब्दों के आकार से शून्य माना है। गोत्वादि सामान्य का न तो कोई वर्ण होता है, न तो आकृति और न वह शब्दरूप ही होता है। किन्तु अन्वयीविज्ञान में वर्ण, आकृति और शब्द इन तीनों का अभ्यास रहता है। अतः, अन्वयीविज्ञान में जो वर्ण तथा संस्थानादि प्रतिभासित होते हैं, वे सामान्य नहीं हैं। यदि, अन्वयीविज्ञान में प्रतिभासित होने वाले वर्ण और संस्थानादि को ही सामान्य माना जाय तो, नेत्रगोचर अर्थ में उसका (वर्ण, संस्थानादिसामान्य का) दर्शन नहीं होना चाहिए, क्योंकि उसमें स्पष्ट और अस्पष्ट दो प्रतिभास नहीं होते हैं। सामान्य का प्रतिभास अस्पष्ट होता है। यदि, वहाँ सामान्य होता, तो उसका अस्पष्ट प्रतिभास होना चाहिए था। पुनश्च, यदि एकाकार ज्ञान को ही दो आभासवाला माना जाय, तो बुद्धि में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप भेद होना दुर्लभ हो जायेगा तथा जो स्पष्ट प्रतिभास वाला अध्यक्ष (प्रत्यक्ष) है वह अस्पष्ट प्रतिभासवाला होने से अन्निन्द्रियजन्य हो जायेगा और जो इन्द्रियजन्य नहीं है वह स्पष्ट प्रतिभास वाला होने से इन्द्रियजन्य हो जायेगा।

अतः अदृष्ट सामान्यादि की स्वलक्षण में योजना न होने से प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है, सविकल्पक या कल्पना-पोढ नहीं।⁹⁷

प्रत्यक्ष में जात्यादिसम्बन्धकल्पना का निराकरण

शब्द के विषय में धर्मकीर्ति, अतः बौद्धों की धारणा को समझ लेना चाहिए, जिसका विचार धर्मकीर्ति प्रत्यक्ष परिच्छेद में 'अन्यापोहविचार' शीर्षक के अन्तर्गत करते हैं।⁹⁸ प्रसंग को उठाते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं कि भेदवाले अर्थों में अतत्कार्यव्यावृत्ति (जो जिसका कार्य नहीं है उसकी व्यावृत्ति) का अन्वय है, एक सामान्य का नहीं; और वस्तु में व्यावृत्तिविषयक शब्द की प्रवृत्ति होती है। विरोधी यहाँ प्रश्न उठाता है कि अतत्कार्यव्यावृत्ति वस्तु का स्वभावभूत है, अतः व्यावृत्ति को विषय करने पर शब्द में वस्तुविषयता ही होगी। धर्मकीर्ति उत्तर देते हैं कि अन्यव्यावृत्ताकार विकल्प को उत्पन्न करने से तथा अन्यव्यावृत्तों में प्रवृत्ति कराने से शब्द को अन्यापोहविषयक, हम लोगों द्वारा माना गया है।⁹⁹ आशय यह है कि बाह्यवस्तु के स्वरूप को स्पर्श न करने वाले विकल्प का शब्द से उदय होता है। किन्तु विकल्प का प्रतिबिम्ब (आकार) चूँकि बाह्य अर्थ द्वारा उत्पन्न होता है, अतः वह बाह्यनिष्ठ है। बाह्यनिष्ठ होने पर भी, चूँकि वह परंपरा से उत्पन्न होता है, अतः अर्थ का संस्पर्शी नहीं है। वह आकार चूँकि अन्यव्यावृत्त पदार्थों से उत्पन्न होता है, अतः अन्यव्यावृत्त ही मालूम पड़ता है। इसलिए, शब्द से अभिन्न व्यावृत्ति की प्रतीति होती है, बाह्यव्यतिरिक्त नहीं। बाह्य को स्पर्श न करने से व्यवहार करने वाले लोग अन्यव्यावृत्त पदार्थों से प्रवृत्ति करते हैं। इसीकारण व्यावृत्ति को शब्द का विषय कहा गया है।¹⁰⁰ विरोधी पुनः कहता है कि शब्द-ज्ञान में ग्राह्य बाह्य रूप से प्रतीत होता है, ज्ञानाकार रूप से नहीं। धर्मकीर्ति इस पर कहते हैं कि शब्द से उत्पन्न ज्ञान में जो अर्थाकार बाह्य में भिन्न जैसा मालूम पड़ता है वह बाह्यार्थस्वरूप नहीं है; किन्तु वह वासनाजन्य भ्रान्ति है। जिस प्रकार, तैमिरिक दृष्ट-केशादि में बाह्य का भ्रम हो जाता है, उसी प्रकार विकल्प के आकार में अविद्या के द्वारा बाह्यभ्रम होता है।¹⁰¹ विरोधी इस पर कहता है कि, तब तो बाह्यभूत ज्ञानाकार को वाच्य मानना चाहिए। धर्मकीर्ति उत्तर देते हैं कि शब्दों के द्वारा ज्ञानाकार का कथन होने पर अतत्कार्यव्यावृत्त अर्थ के किसी भी अंश का शब्दों से ज्ञान नहीं होता, और शब्दों से अतत्कार्यव्यावृत्त अर्थ का ज्ञान न होने पर संकेत की क्रिया व्यर्थ है, क्योंकि संकेत, अतत्कार्यव्यावृत्त अर्थ के लिए, किया जाता है।¹⁰² विरोधी पुनः धर्मकीर्ति के पक्ष में दोष दिखलाता है कि उपर्युक्त स्थिति में अन्यापोह में संकेत करने पर भी अर्थों में प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि आपके अनुसार अन्यापोह अर्थात्मक नहीं है। धर्मकीर्ति उत्तर देते हैं कि शब्द किस अर्थांश को कहते हैं ऐसा प्रश्न होने पर शब्दविशेषों में पाया जाने

वाला अन्यापोह (अतत्कार्यव्यावृत्ति) वाच्यरूप से कहा जाता है। अतः, अर्थाश रूप अन्यापोह में संकेतग्रहण करने वाला पुरुष, शब्द से उच्चरित अर्थ को जान कर उसमें, प्रवृत्ति करता है, किन्तु बुद्ध्याकार अन्यापोह अर्थ नहीं है। इसलिए, बुद्ध्याकार को कहने वाला शब्द अर्थ का अभिधायक नहीं हो सकता।¹⁰³

प्रश्न उठता है कि यदि अर्थ शब्द का विषय नहीं है, तब अर्थाश रूप अन्यापोह वाच्य कैसे होगा? धर्मकीर्ति स्वपक्ष को स्थापित करते हुए कहते हैं कि बुद्ध्याकार में अर्थाशरूप अपोह के आरोप (एकत्वाध्यवसाय) के ज्ञान द्वारा अन्यव्यावृत्त अर्थ का ज्ञान होने से अर्थाशरूप अपोह शब्दार्थ कहा जाता है। अतः, ज्ञानाकार ही शब्दार्थ है ऐसा कहने वाला उपचार से ही ज्ञानाकार को शब्दार्थ कहता है, और ऐसा कहने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि अनन्वयी बुद्ध्याकार में हमें शब्दार्थत्व अभीष्ट नहीं है।¹⁰⁴ अथवा, शब्दजन्य ये सभी प्रत्यय मिथ्या अवभासवाले हैं। अर्थ शब्द का विषय नहीं है, न तो शब्दज्ञान में अर्थ के स्वरूप का आभास होता है और न उसमें संकेत सम्भव है। बुद्ध्याकार भी शब्दज्ञान का विषय नहीं है। बुद्ध्याकार का वेदन होने पर भी उसका विषयरूप से अध्यवसाय नहीं होता है, स्वलक्षण होने से उसमें संकेत भी संभव नहीं है। न तो बुद्ध्याकार में बाह्यत्व है और न तो बाह्य में बुद्ध्याकारत्व है जिससे कि उस प्रकार का प्रतिभास सत्य प्रतिभास हो। इसलिए, वस्तुतः शाब्दज्ञान वस्तु के प्रतिभास वाला नहीं है। यद्यपि शब्द अर्थ-प्रतिभासी नहीं है, किन्तु अर्थाशरूप अन्यापोह की प्रवृत्ति के विषय के द्वारा हम व्यवस्था करते हैं। अन्यापोह अर्थदर्शन से होता है, इस कारण वह परम्परा से अर्थ के साथ प्रतिबद्ध है। इसलिए शब्द को अन्यापोह विषयक कहा जाता है। जिस प्रकार व्यवहारकाल में शब्द से अन्यव्यवच्छेद की प्रतीति होती है, उसी प्रकार संकेतकाल में भी अपोह शब्द का वाच्य होता है।¹⁰⁵ प्रश्न है कि अर्थ को दिखलाकर संकेत किया जाता है, तब शब्द से अपोह कैसे कहा जाता है? धर्मकीर्ति का उत्तर है कि व्यवहार काल में अपनी प्रतीति है फल जिसका ऐसे अन्यव्यावृत्त अर्थ (स्वलक्षण) के साथ अमेदाध्यवसाय के कारण एकत्व को प्राप्त बुद्ध्याकार रूप अन्यापोह श्रुति (शब्द) में सम्बद्ध हो जाता है, अर्थ सम्बद्ध नहीं होता।¹⁰⁶ अतः धर्मकीर्ति का कहना है कि चूँकि जाति, गुण, क्रियादिविशेषण वस्तुग्राही ज्ञान में प्रतिभासित नहीं होते हैं, इसलिए जाति आदि और उनका सम्बन्ध अर्थ में नहीं है और न जाति आदि में शब्द ही सम्बद्ध होता है। इस कारण, प्रतीतिसिद्ध अन्यव्यावृत्ति में शब्द की योजना होती है।¹⁰⁷

प्रत्यक्ष में शब्दकल्पना का निराकरण

पूर्वगृहीत संकेत के स्मरणपूर्वक संकेत काल में वाचकरूप से दृष्ट शब्द का

वर्तमान अर्थ के साथ जो संकलन (वाच्यवाचकता की योजना) है, उसे शब्दकल्पना कहते हैं। अतः, संकेतकाल में दृष्ट वाचकशब्द की वर्तमान अर्थ के साथ वाच्यवाचकता की योजना से रहित वस्तुस्वरूपग्राही इन्द्रियज्ञान में उपर्युक्त कल्पना कैसे रह सकती है?¹⁰⁸ आचार्य प्रज्ञाकर, धर्मकीर्ति के आशय को स्पष्ट करते हुए, बतलाते हैं कि 'यह गाय है' इसका यह अर्थ नहीं कि 'यह गो' शब्दवाच्य है, अपितु यह अर्थ है कि 'यह गो शब्द' वाच्य है। यहाँ पर, जब एकदेश के प्रयोग के कारण 'यह गाय है' ऐसा संकेतित किया जाता है, तो 'यह गो शब्दवाच्य है' ऐसा कहने में 'गो' शब्द के द्वारा 'अयम्' का ज्ञान कराया जाता है। 'यह वह गाय है' ऐसे कथन में 'गो' शब्द संकेतित होता है। अतः, इस प्रकार की कल्पना का, जो पूर्वापरपरामर्शशून्य है, इन्द्रियज्ञान द्वारा ग्रहण कैसे हो सकता है? और यदि पूर्व और अपर में भी इन्द्रियवृत्ति को माना जाय, तब तो, इन्द्रिय को अतीत और अनागत का भी ज्ञान करना चाहिए।¹⁰⁹ यदि, प्रतिपक्षी इस पर कहे कि अतीत और अनागत सभी का ज्ञान किसी इन्द्रिय से सम्बद्ध और पूर्वगृहीत रूप में होता है, तो, यह ठीक नहीं, क्योंकि ऐसी प्रतीति सर्वदा नहीं होती, वह कभी होती है, कभी नहीं होती। यदि विरोधी कहे कि स्मरण होने पर तो उसका भाव होता है, अतः, सर्वदा अभाव की बात ठीक नहीं, तो हमारा कहना है कि आपके कथन से यह फलित हुआ कि वह स्मरण है, प्रत्यक्ष नहीं। यदि, पुनः विरोधी कहे कि स्मरण किये जाते हुए (अर्थ) के साथ एकत्व प्रत्यक्ष द्वारा प्रतीत होता ही है, तो हम इसका निषेध करेंगे, क्योंकि स्मृति प्रमाण नहीं है। स्मर्यमाण वस्तु उस समय वर्तमान नहीं रहती, अतः प्रत्यक्ष स्मर्यमाण वस्तु के साथ एकता की प्रतीति कैसे कर सकता है? यदि, पूर्वपक्षी कहे कि 'यह वह ही है' क्योंकि यह उस अर्थक्रिया का कारण है, तो हमारी यह शंका होगी कि 'यह अर्थक्रिया' ऐसा भी स्मरण तत् शब्दवाच्य है। पुनश्च, उसके द्वारा अर्थक्रिया की जानी चाहिए, ऐसा भी आप कहाँ से कह सकते हैं? इसकारण यह सब व्यवहारमात्र ही है।¹¹⁰ यदि, प्रतिपक्षी कहे कि व्यवहार के अविसंवाद के कारण ही तो प्रमाण होता है, तो हमारा कहना है कि एकत्व में अविसंवाद नहीं होता, अपितु अर्थक्रिया में अविसंवाद होता है। यदि, पूर्वपक्षी कहे कि हमारे भी पक्ष में तो यही बात है, तो प्रज्ञाकर दोनों में अन्तर बतलाते हुए कहते हैं कि अर्थक्रियाकारित्व के कारण उसकी अर्थता तो है, किन्तु उसकी पूर्व के साथ एकता नहीं है। यदि, प्रतिपक्षी इस पर कहे कि 'वह ही यह है' ऐसा अनुसंधान भविष्यत् में होगा, तो हमारा कहना है कि यदि पूर्व और अपर में एकता नहीं है, तो फिर अनुसंधाता कौन होगा? इस पर यदि, विरोधी कहें कि अनुसंधाता में एकता मानने पर पूर्वापरग्राही प्रत्यक्ष अनुसंधाता के आश्रित होगा, तो उसका कहना युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि स्मरण और दर्शन के बिना पूर्वापर-अनुसंधान नहीं होता।¹¹¹ पुनश्च, यद्यपि प्रत्यक्ष स्वाश्रित है,

तथापि स्मरणकाल तक उसकी प्रमाणता नहीं होती। यदि, विरोधी कहे कि प्रत्यक्ष में जो एक है वह तो होता ही है, तो हम इसका भी निषेध करेंगे क्योंकि एकता में विशेष का अभाव होता है, जबकि प्रत्यक्ष में विशेष का भाव होता है। यहाँ विरोध पक्ष से कहा जा सकता है कि एकत्व स्पष्टतया है, इस पर हमारी आशंका यह है कि स्पष्टतया एकत्व होता है, तो हो, भला अस्पष्टतया एकत्व प्रत्यक्षगम्य कैसे होगा?¹¹² चूँकि पूर्व और अपर का एक ही समय में ग्रहण नहीं होता, अतः पूर्व और अपर का एकत्व प्रत्यक्ष का विषय कैसे हो सकता है? यदि, विरोधी कहें कि एकत्व (पूर्वापरएकत्व) प्रत्यक्षगम्य है, पदार्थ प्रत्यक्षगम्य नहीं, तब तो, इसका अर्थ यह हुआ कि एकत्व पदार्थगत नहीं, स्वतन्त्र नहीं, अपितु आरोपित है: और जो आरोपित होता है, वह वस्तुरूप नहीं होता वह अनुमान होता है, प्रत्यक्ष नहीं। अतः विरोधी का मत त्याज्य है।¹¹³

आचार्य धर्मकीर्ति पुनः कहते हैं कि दृश्ययान अर्थ से अन्यत्र अतीतादि विकल्पनीय विषय में विकल्प वाला चाक्षुर्विज्ञान से रूप को देखता है। उस चाक्षुषज्ञान में दृश्यमान अर्थ के संकेत (वाचकनाम) का अग्रहण स्पष्ट है। अतः, वाचकनाम के स्मरण से होने वाली कल्पना चाक्षुषज्ञान में नहीं है।¹¹⁴ आशय यह है कि यदि विकल्प करते हुए ही द्रष्टा रूप को देखता, तो इन्द्रिय की स्मरणसहकारिता होती, किन्तु ऐसा नहीं है; अतः इन्द्रिय की स्मरणसहकारिता नहीं है, क्योंकि, जो जिसका सहकारी होता है वह उसके बिना स्वकार्य को करने में समर्थ नहीं होता, जैसे, मिट्टी के बिना बीज अंकुर को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है।¹¹⁵ यदि इसपर प्रतिपक्षी प्रश्न करे कि कार्य करने मात्र के द्वारा स्मरण की सहकारिता नहीं होती, अपितु सविकल्पक को उत्पन्न करने में स्मरण की सहकारिता होती है, तो यह कथन सम्यक् नहीं है, क्योंकि यदि व्यतिरिक्तविकल्प अथवा कल्पना के द्वारा वह सविकल्पक होता है तो, सिद्धसाधन का दोष होगा और इससे अन्यत्र तो विरुद्ध अर्थों के अध्यास का प्रसंग उपस्थित होगा।¹¹⁶ क्योंकि यदि अन्य सहविकल्प के द्वारा वह वर्तता है और इस प्रकार की सविकल्पकता में स्मरण सहकारी है, तो वह सिद्ध को ही साधता है और यदि, वह आत्मभूत विकल्प के द्वारा वर्तता है और इस प्रकार की सविकल्पकता में स्मरण सहकारी होता है, तो यह भी अयुक्त स्थिति होगी, क्योंकि 'जिसके होने पर भी जो उसमें नहीं होता और उसके नहीं होने पर भी जो विद्यमान रहता है, ऐसे विरुद्ध का संसर्ग होने पर उसके साथ उसकी एकता कैसे हो सकती है? विरोधी यह कह सकता है कि वह सविकल्पक अन्य ही है और जो पहले अविकल्पक रहा है वह अन्य ही है, तब तो, उसकी प्रत्यभिज्ञा ही छिन्न-भिन्न हो जायेगी'। पुनः इसमें अतिप्रसंगदोष भी है, अतः युक्त स्थिति यही है कि जो एकबार अन्यत्र गतचिन्तावस्था में अविकल्पक है, वह दूसरी बार भी

अविकल्पक रहता है।¹¹⁷ यदि प्रतिपक्षी कहे कि अन्य विकल्प के द्वारा ही वह सविकल्पक है, तब तो, श्रौत्रविज्ञान के द्वारा सविकल्पक को प्राप्त करता है ऐसा आपको मानना चाहिए, क्योंकि चक्षुर्विज्ञान में श्रोत भी सहकारी होता है। इसके अनन्तर लम्बे शास्त्रार्थ के बाद प्रज्ञाकर यह कहते हैं कि संकेत के समय में उपलब्ध शब्द का अग्रहण अन्य के विकल्पन में स्पष्ट ही है; फलतः उससे उत्पन्न कल्पना प्रत्यक्ष में नहीं होती है।¹¹⁸

उपर्युक्त स्थिति में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि यदि प्रत्यक्ष के द्वारा शब्दसम्बन्ध गृहीत नहीं होता, तो 'यह उस शब्द का वाच्य है' इस तरह का व्यवहार कैसे होता है? प्रज्ञाकर उत्तर देते हैं कि प्रत्यक्ष के द्वारा तो शब्दसम्बन्ध गृहीत नहीं होता, किन्तु जहाँ तक व्यवहार की बात है, तो व्यवहार तो भ्रान्ति से भी संभव है और वह वस्तु-सम्बन्ध से प्रमाण भी होता है, इसे हम देख चुके हैं।¹¹⁹ उदाहरणार्थ, वृक्ष में पिण्डादि को ग्रहण करने वाले ज्ञान में। वहाँ पर भी पिण्डता नाम की चीज नहीं है, तथापि वृक्ष का व्यवहार अविश्वस्य है। इसी तरह की स्थिति शब्दसम्बन्ध की भी है। जिस प्रकार वृक्ष में पिण्ड की प्रतिपत्ति का भाव है, अवृक्ष में नहीं, फलतः प्रतिबन्ध (व्याप्तिसम्बन्ध) के कारण यहाँ अविश्वस्य होता है, उसी तरह 'यह गाय है' एक प्रकार की अविश्वस्यप्रतीति है, और उसमें जगत्व्यवहार भी देखा जाता है।¹²⁰ प्रश्न पुनः उठता है कि यदि 'गो' शब्द से स्वलक्षण का ज्ञान नहीं होता, तो फिर गाय के देखे जाने पर 'यह वही है' ऐसी प्रतिपत्ति कैसे होती है? हमारे अनुसार, जो वस्तु पहले ज्ञात थी वह, अभिधान के कारण, 'वह यह है' ऐसी प्रतीति हम लोक में पाते हैं। प्रज्ञाकर प्रतिपक्षी से असहमति प्रकट करते हैं और कहते हैं कि वस्तु जब दृष्ट होती है, तो वहाँ दर्शन होता है, प्रत्यभिज्ञान नहीं; दर्शन का भाव रहता है वहाँ, जबकि प्रत्यभिज्ञान का अभाव रहता है। 'प्रत्यभिज्ञान' 'वह यह' है इस रूप वाला होता है 'वह है' इस रूपवाला नहीं। प्रत्यभिज्ञान की प्रतीति परोक्षाकार वाली होती है, 'वह' इस रूप में होती है, जबकि प्रत्यक्ष की प्रतीति अपरोक्ष या साक्षात्करण आकार वाली होती है। अतएव अन्योन्यविलक्षणता के कारण दो प्रतीतियों की एकविषयता नहीं होती।¹²¹ पुनश्च, चूँकि अर्थक्रिया प्रतिभासभेद के बिना नहीं होती, अतः यह पक्ष भी स्वीकार्य नहीं हो सकता की भेद अर्थक्रिया में भेद के कारण होता है। यदि प्रतिपक्षी कहें कि अर्थक्रियाविशिष्ट प्रतिभासभेद के कारण प्रतीति में भेद होता है, तो हमारा कहना है कि यदि प्रतिभास अर्थक्रियारहित है, तब तो इन्द्रियजन्यज्ञान होने के कारण निरालम्बनविज्ञान अन्य ही होगा। 'वह' इस रूप में होने वाला ज्ञान केवल वासना के चलते होता है, फलतः वस्तुग्राहीविज्ञान ('गाय' वस्तु को 'वही यह है' इस रूप में ग्रहण करने वाला ज्ञान) अर्थक्रियाकारी नहीं होता। चूँकि ऐसे ज्ञान में वस्तु (स्वलक्षण अर्थ)

के संस्पर्श का अभाव रहता है, अतः 'यह वही है' ऐसे दो प्रत्ययों ('यह' और 'वही') में समान अधिकरण नहीं होता। 'यह वह वस्तु है' ऐसा ज्ञान सामने उपस्थित वस्तु के साधारण रूप (सामान्यलक्षण) का अध्यवसाय करने वाला होता है। जिस ज्ञान में साधारणता नहीं रहती है वह निर्विकल्पक ही होता है, और प्रत्यक्ष ही है, क्योंकि उसमें वस्तु के सामान्य रूप का अध्यवसाय नहीं होता, अपितु स्वलक्षण का ग्रहण होता है।¹²²

ऐसा क्यों होता है और इन्द्रियजन्यज्ञान को यदि सविकल्पक या कल्पनात्मक मान लिया जाय तो क्या हर्ज है? धर्मकीर्ति उत्तर देते हैं कि जिस विषय में संकेतकाल में शब्द का निवेश किया गया है उस विषय में शब्दयोजनारूप कल्पना होती है। चूँकि इन्द्रियविषय में रूपादि (स्वलक्षण) में, शब्दसंकेत नहीं होता, अतः इन्द्रियज्ञान शब्दयोजनात्मक नहीं है। यदि इन्द्रिय के विषय में शब्द का निवेश मान लिया जाय, तो शब्द का विषय होने पर बाह्यार्थ के सन्निधान की अपेक्षा उसे नहीं रहेगी, फलतः अक्षजन्य प्रत्ययों को भी विकल्प की ही तरह, बाह्यार्थ की अपेक्षा नहीं रहेगी। पुनश्च, जो ऐसा मानते हैं कि सभी ज्ञान विकल्परूप (सविकल्प) होते हैं, उनके अनुसार रूप में विकल्पबुद्धि वाला द्रष्टा रूप का दर्शन करता है। अतः, हमारा प्रश्न है कि रूपबुद्धि को कल्पनारूप मानने पर द्रष्टा किस का दर्शन करता है? रूप बुद्धि का अनुभव नहीं है, ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि सभी ज्ञान करने वालों को रूपबुद्धि में कल्पना का अनुभव नहीं होता है। ऐसी स्थिति में रूपबुद्धि निर्विकल्पक अनुभव कैसे होगी? और यदि रूपबुद्धि के द्वारा रूप का और रूपबुद्धि का अनुभव माना जाय, तो रूप और रूपबुद्धि ये दो विकल्प एक साथ मानने पड़ेंगे, जो कि अनुभव विरुद्ध है। अतः, एक साथ दो कल्पनाएँ नहीं हो सकतीं। इससे यह भी प्रतिफलित हुआ कि अन्य विकल्पज्ञान के द्वारा भी रूपबुद्धि का अनुभव नहीं हो सकता।¹²³ आचार्य प्रज्ञाकर धर्मकीर्ति के उपर्युक्त विचार पर अपने भाष्य में विशद विवेचन करते हुए बतलाते हैं कि जब शब्द का निवेश परोक्ष अर्थ में कर दिया गया और वहाँ पर कल्पना का भी निवेश हो गया, तो फलतः ऐसी स्थिति में इन्द्रियज्ञान बाह्यार्थदर्शी नहीं होगा और शाब्दज्ञान की तरह वह भी (इन्द्रियज्ञान भी) निरालम्बन (बिना आलम्बन वाला) होगा। परोक्ष अर्थ में जो प्रवर्तमान ज्ञान होता है, चूँकि वह वस्तु के स्वरूप का (असाधारण रूप का) संस्पर्श नहीं करता, अतः सालम्बन नहीं होता। जो ज्ञान वस्तु के स्वरूप को संस्पर्श करता है वह वर्तमानकालिक होता है तथा स्फुटाम होता है, फलतः 'यह ही' के रूप में होता है। 'यह यही वस्तु है' ऐसे ज्ञान स्मृतिरूप होते हैं, इन्हें इन्द्रियज्ञान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्मृति में अर्थ सामान्यरूपतया ज्ञात होता है, स्वरूपतया नहीं।¹²⁴ यदि प्रतिपक्षी इस पर कहे कि बाह्य अर्थ में ही शब्द का निवेश है, तब तो, जिस प्रकार शब्दप्रत्यक्ष इच्छा से प्रवर्तित होता है, उसी प्रकार इन्द्रियज्ञान को भी

प्रवर्तित होना चाहिए, और परिमाणस्वरूप बाह्यार्थ के न रहने पर भी प्रवर्तित होता हुआ ज्ञान निरालम्बन रूप होगा, क्योंकि इसमें अर्थ (स्वलक्षण) का अभाव रहेगा। यदि विरोधी कहे कि जहाँ पर इच्छानुविधान नहीं होता वहाँ पर अर्थानुविधान के चलते ज्ञान की बाह्यार्थालम्बनता होती है, तो हमारा (प्रज्ञाकर का, बौद्धों का) कहना है कि यदि अर्थानुविधान प्रत्यक्ष का लक्षण है, तब तो, इन्द्रियविज्ञान अविकल्पक ही होगा, सविकल्पक नहीं। पुनश्च, शब्दाकारता चूँकि इच्छा के अधीन होती है, अतएव, शब्दाकारता का बाह्यार्थ के साथ अन्वय नहीं है, क्योंकि शब्दाकारता का अन्वय वासना के साथ होता है।¹²⁵

बाह्यार्थवस्तुवादी स्वपक्ष की पुष्टि में कहते हैं कि यद्यपि शब्दाकार का अन्वय वासना के साथ है, तथापि वासनेन्द्रियसामग्री की दृष्टि से एक ही प्रत्यक्ष है और वह है सविकल्पक। हमारा सारा व्यवहार भी इसी तरह से होता है। 'अमुक चीज इसी प्रकार के सुख का साधन है' ऐसा निश्चय करते हुए ही लोक में व्यवहार होता है।¹²⁶ प्रज्ञाकर यथार्थवादियों के इस स्पष्टीकरण को अनुचित समझते हैं। वे कहते हैं कि कारण-भेद के चलते यहाँ भेद तो है नहीं और कारण वासनादि भिन्न है। पुनश्च, शब्दप्रत्यय और इन्द्रियप्रत्यय, तथा शब्दाकार और इन्द्रियाकार इन दो के विषय में एकत्वेन तो व्यवहार होता नहीं, क्योंकि, प्रथमतः, सामग्री मात्र के द्वारा उपर्युक्त दोनों प्रत्ययों का व्यवहार उपपन्न है और द्वितीयतः अन्य विकल्प में भी व्यवहार सम्भव है। अन्य विकल्प के सम्मुख होने पर परामर्श के द्वारा उसको विषय बनाया जाता है, ऐसा नहीं है। शब्दयोजना कर देने मात्र से व्यवहार नहीं होगा, क्योंकि व्यवहार अर्थक्रिया की योजना से चलता है। अर्थक्रिया इन्द्रियज्ञान का विषय नहीं होती, क्योंकि वैसा मानने पर अनुमान का अभाव हो जायेगा।¹²⁷

धर्मकीर्ति पुनः आगे कहते हैं कि यदि बाद के काल में होने वाले विकल्पज्ञान के द्वारा रूपबुद्धि का अनुभव माना जाय, तो उत्तरकालीन विकल्पज्ञान के द्वारा अतीतरूपानुभव (अतीत के रूप के अनुभव) में स्मृति हो सकती है, अनुभव नहीं। ऐसा मानने में कठिनाई यह है कि अगृहीत अनुभव में स्मृति भी कैसे होगी? यदि, अतीतबुद्धि का विकल्प होने की बात मानी जाय, तो स्वबुद्धि का ज्ञान दूसरे पुरुष के विकल्पात्मक परोक्षज्ञान के अनुसार हो जायेगा। किन्तु परबुद्धि की प्रतीति से स्वबुद्धि का अनुभव विलक्षण होता है कि स्वबुद्धि का अनुभव विकल्परहित है। पुनश्च, निर्विकल्प का संवेदन न मानने वाले सविकल्पक प्रत्यक्षवादी के मत में, अतीत अर्थ का ज्ञान प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय वर्तमान होता है, अतीत नहीं। लिंगरहित होने के कारण यह अनुमान से भी सिद्ध नहीं है। ज्ञानरूपधर्मिन् के असिद्ध होने से लिंग

का आश्रय असिद्ध है। अनुमान से ज्ञान की सिद्धि मानने वालों के यहाँ कोई भी ज्ञान प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है; और अनुमान से ज्ञान की सिद्धि मानने पर अनवरथादोष आजाएगा। पुनः, इस प्रसंग में अनुमान दृष्टान्तरहित भी है। दृष्टान्त के अभाव में व्याप्ति की सिद्धि भी नहीं हो सकती है। इस प्रकार अतीत रूपादि के दर्शन की सिद्धि न तो प्रत्यक्ष से होती है और न तो अनुमान से। अतः, वह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है।¹²⁸ प्रज्ञाकर विरोधियों से शास्त्रार्थ की पद्धति में प्रत्यक्ष की सिद्धि करते हुए लिखते हैं कि यदि विरोधी आग्रह करें कि बुद्धि बोधरूप होती है और उसमें जो अर्थ सन्निहित होता है वही स्फटिक तथा दर्पणादि की तरह प्रतिभासित होता है, तो वह ठीक नहीं। यदि रूपग्रहण उस समय (पूर्वकाल में) हुआ था, तब तो वह अतीत है और उस समय उसमें बोधरूपता मान भी ली जाय, तो भी उसका उपयोग कहाँ पर होगा? प्रतिपक्षी इस पर आशंका कर सकता है कि तब तो, 'यह मेरा रूपग्रहण है (यह मेरा रूपज्ञान है)' ऐसा जो कहा जाता है उसे नहीं होना चाहिए। हमारा इस पर उत्तर है कि उसे 'था' के रूप में होना चाहिए। तथापि, प्रत्यक्षवृत्ति उस प्रकार की नहीं होती ('था' आकार वाली नहीं होती)।¹²⁹ यदि, प्रतिपक्षी कहे की रूपग्रहण की अतीतता भी है और वर्तमानता भी, तो इसका तार्किक निहितार्थ यह होगा की सर्वदा अतीतभाव होगा और इसके कारण वर्तमान की स्थिति कभी भी नहीं होगी और ऐसा होने पर रूपग्रहण कभी नहीं हो सकेगा।¹³⁰ यदि, प्रतिपक्षी कहे कि पहले तो उसकी वर्तमानता होती है, अतीतता तो बाद को होती है, तो इसका यह फल होगा कि 'वह एक' ज्ञान है' यह नहीं हो सकेगा (जिस ज्ञान की वर्तमानता और बाद में उनकी अतीतता की बात आपने कही है वे दोनों एक ही हैं दो नहीं, ऐसा नहीं हो सकेगा)।¹³¹ यदि, आप (विरोधी) दोनों में एकता मानें, तो पूर्व में जिसकी वर्तमानता और बाद में अतीतता की बात आप ने कही है उन दोनों का सकृद्ग्रहण होगा। यदि, आप उनमें क्रमग्रहण मानोगे, तो वह 'एक ही' नहीं रह पायेगा, क्योंकि एकत्व और क्रम परस्परविरुद्ध बातें हैं। क्रम का मतलब होता है एक का त्याग होने पर दूसरे का उपादान। अतः, यह फलित हुआ कि अतीत का साक्षात्ग्रहण नहीं होता। यदि संवेदन अतीत है तो, 'यह संवेदन है' ऐसी प्रतीति नहीं होगी। ऐसी स्थिति में यह ज्ञात नहीं हो पाता कि 'यह संवेदन क्या है और किसका है?' पुनः यदि मान लिया जाए कि अतीतबुद्धि का विकल्प होता है तो, अन्यपुरुष की बुद्धि की प्रतिपत्ति से स्वबुद्धि का अनुभव अभिन्न होना चाहिए, क्योंकि तब अतीतता और स्मरण में भेद नहीं रहेगा।¹³²

यहाँ पर प्रतिपक्षी प्रश्न करता है कि यह बात आप को कैसे ज्ञात होती है? यदि अन्यबुद्धि के परिच्छेद से वह बात (अतीतता और स्मरण में भेद नहीं रह जाने की बात) ज्ञात होती है, तो क्या अन्य बुद्धि के द्वारा परिच्छेद से अथवा अन्य पुरुष की

बुद्धि के परिच्छेद से? यदि प्रथम पक्ष मान्य हो तो, यह हम अस्वसंवेदनकादियों का ही पक्ष होगा। यदि आप बौद्धों को दूसरा पक्ष मान्य हो, तो वह असत् है, क्योंकि अन्य की बुद्धि का परिच्छेद असंभव है। यदि आप बौद्ध कहें कि अनुमान के द्वारा अन्य पुरुष की बुद्धि का परिच्छेद होता है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि आत्मबुद्धि (स्वबुद्धि) में अनुमान परिच्छेदक नहीं होता। अतएव, परिच्छेद की (अन्य के बुद्धि के परिच्छेद की) तुल्यता नहीं होगी।¹³³ आचार्य प्रज्ञाकर इसका उत्तर देते हैं कि 'अतीतता की परोक्षता होती है' इसे स्वीकार कर यह कहा गया है कि अन्यबुद्धि के परिच्छेद से स्वबुद्धि के अनुभव को अभिन्न होना चाहिए। यदि अतीत की साक्षात् प्रतीति होती, तो रूपादि की तरह अतीत की न तो परोक्षता होती और न अतीतता ही। जो साक्षात् क्रियमाण होता है उसकी वर्तमानता होती है, इस कारण जो भी परोक्ष है वह सब अनुमानतः प्रत्येय है और वह स्मरण रूप है, फलतः अन्यधी के परिच्छेद से स्वबुद्धि के अनुभव की अभिन्नता हो जायेगी। यदि प्रतिपक्षी कहे कि पक्ष की भी स्वबुद्धि के अनुभव की अभिन्नता अनुमान से अन्य ज्ञान के द्वारा जानी जाती है, तब भी वही समानता की स्थिति रहेगी। यदि प्रतिपक्षी कहे कि परबुद्धि परसम्बन्धित्वेन प्रतीत होती है, स्वबुद्धि नहीं, क्योंकि स्वबुद्धि की प्रतीति स्वसम्बन्धित्वेन होती है। अन्य का अन्य प्रकार से ज्ञान युक्त नहीं होता। प्रज्ञाकर इस पर कहते हैं कि प्रतिपक्षी का उपर्युक्त कथन असत् है, क्योंकि प्रतिपक्षी जो बात कह रहा है वह साक्षात्कार करने वाले ज्ञान (प्रत्यक्षज्ञान) में ही संभव हो सकती है।¹³⁴

यहाँ सौत्रान्तिक अपने पक्ष से प्रश्न करते हैं कि अतीतरूपादिबुद्धि से जन्य और अतीत आदि स्वरूप के प्रतिभास वाली अनन्तरबुद्धि से अतीतरूपादिबुद्धि का ग्रहण होता है, जैसे रूपजन्य और उस आकार का अवभास करने वाली अनन्तरबुद्धि से रूप का ग्रहण होता है, तो इसमें क्या दोष होगा? प्रज्ञाकर कहते हैं कि तब-अन्तिमज्ञान से पूर्व जितनी बुद्धियाँ हैं उनका ग्रहण नहीं हो सकेगा। अतः सौत्रान्तिकों का उपर्युक्त पक्ष समीचीन नहीं है। पुनश्च, अन्त्यबुद्धि के द्वारा उसी का ग्रहण होगा, अन्य का नहीं। किन्तु पूर्वबुद्धियों का (पहले के ज्ञानों का) अनुभव होता है जिसके बलसे द्रष्टा को 'मैंने चिरकाल तक देखा' ऐसा प्रत्यय होता है। इसलिए, जिस प्रकार पूर्वभावी (पहले होने वाले) विज्ञानों का स्वविषयक अनुभव (अपने विषय में होने वाला अनुभव) विकल्प रहित है, उसी प्रकार अन्यज्ञान भी विकल्परहित है, क्योंकि समस्त स्वलक्षण, शब्दशङ्केत का विषय न होने के कारण, विकल्पग्राह्य नहीं हैं।¹³⁵

मीमांसकों के अनुसार शब्द सामान्यविषयक होते हैं और कल्पना का भी वही अर्थ होता है (यस्य सामान्यविषया एव मीमांसकस्य शब्दास्तादेकार्था य कल्पना)।¹³⁶

आचार्य इस मान्यता में अनुपपत्ति दिखलाकर स्वमत की पुष्टि करते हैं। वे कहते हैं कि स्वलक्षण में संकेत न होने के कारण शब्द सामान्यवाची होते हैं और उन शब्दों की सामान्य में योजना कल्पना कहलाती है। जिस वादी के यहाँ निर्विकल्पक ज्ञान नहीं है उसके यहाँ विकल्पज्ञान के अविषयभूत 'विशेष' का ज्ञान कैसे होगा? अब यदि माना जाय कि विशेष का अनुभव होने से निर्विकल्पक ज्ञान की भी सत्ता है, तब तो उस निर्विकल्पक ज्ञान की तरह चक्षु, रूप, मनस्कारादि समान हेतु वाले विशेषविषयक सभी ज्ञान भी अविकल्पक हों और स्वलक्षण विषयक कोई ज्ञान सविकल्पक न हो ऐसा मानने में क्या आपत्ति है? क्योंकि हेतु के भेद से ही फलों में भेद होता है। अतः, हेतु में अभेद होने पर फल में भी अभेद मानना ठीक है, अन्यथा, कहीं भी, एकजातीयता सिद्ध नहीं होगी।¹³⁷ आचार्य प्रज्ञाकर उपर्युक्त पक्ष को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यदि प्रतिपक्षी की कल्पना का वही अर्थ नहीं होता, जो शब्द का होता है, तो उस स्थिति में विशेष में शब्दयोजना नहीं हो सकती। फलतः, 'यह गाय है' ऐसा सविकल्पक प्रत्यय विशेष का ग्राही नहीं होगा। इससे फलित हुआ कि योजनाप्रत्यय विशेषग्राही नहीं होता और जो विशेषग्राही है वह योजनाप्रत्यय नहीं होता, क्योंकि, प्रथमतः परिस्फुट तथा परिस्फुटेतर के स्वभाव में भिन्नता होती है और द्वितीयतः, इन दोनों ज्ञानों के कारण भी भिन्न-भिन्न होते हैं।¹³⁸ शब्दसामान्य के आकार का कारण है स्ववासना, जबकि स्पष्ट रूपादि के प्रतिभास का उदय चक्षुरादि (इन्द्रियों) के कारण होता है। इसका आशय यह है कि शब्दाकारता का उदय संकेत काल में अनुभूत शब्दभावना के बल से ही होता है, चक्षुरादि के कारण नहीं, उसी तरह सामान्याकारता का भी उदय होता है। चक्षुरादि के बिना भी संस्कृतचेतना के कारण पूर्वानुभूतवासना होती है। चक्षुरादि के होने पर भी वासना से जिसका चित्त तदनुरूप नहीं हुआ है उसको पूर्वानुभूतवासना नहीं होती। इस कारण इस प्रसंग में चक्षुरादि की कारणता नहीं है।¹³⁹

प्रतिपक्षी इस प्रसंग में समान अधिकरण का प्रश्न उठाता है और कहता है कि चक्षुरादि रूप से प्रतिबद्ध प्रतिभास के पदार्थ की 'समान अधिकरणता' चक्षुरादि के बिना होती ही नहीं है।¹⁴⁰ प्रज्ञाकर उत्तर देते हैं कि ऐसा होने पर भी अनुमान से प्रतीत रूप के द्वारा 'सोऽयमग्नि' ऐसा जो ज्ञान देखा जाता है (पाया जाता है) वह सामानाधिकरण्यतः होता है। अतएव विरोधी का यह पक्ष उचित नहीं है कि केवल सामानाधिकरण्य के कारण तद्ग्राही प्रत्यय की प्रत्ययग्राह्यता एक कारण के अधीन होती है, क्योंकि अन्य प्रत्यय, जैसे कि अनुमानादि, से गृहीत होने से भी सामानाधिकरण्य संभव है। समान अधिकरणता तदाकारद्वय (एक ही आकार वाली दो चीजों) के अनुभव

का व्यतिरेक करने वाली नहीं होती। फलतः समान अधिकरण और इससे इतर में कोई भेद नहीं।¹⁴¹ रूपद्वय का अनुभव भिन्न अधिकरण वाले दो पदार्थों में संभव है, क्योंकि व्यवहार का भाव यथाकथंचिदकारणमात्रतया होता है। इसी प्रकार अनादि व्यवहार की परम्परा से आया हुआ सामानाधिकरण्यादि का व्यवहार भी परीक्षा किये जाने पर बिखर जाता है। यदि यह प्रश्न उठाया जाय की किस कारण से, अन्यत्र भी द्वितीय प्रतिभास के द्वारा सामानाधिकरण्य का व्यवहार होता है, तो हमारा उत्तर है कि वासना के नियम के द्वारा व्यवहार के नियम होते हैं। प्रबोध भी वासना-नियम से नियत है और वासनानियम के चलते ही प्रत्ययद्वय के प्रतिभास में भेदव्यवहार ही नहीं होता है।¹⁴² पूर्वपक्षी का यह भी पक्ष उचित नहीं हो सकता कि 'सामान्य और विशेष के मध्य आत्यन्तिक भेद नहीं होता, अतएव, एकार्थता होने पर भी विशेष का ज्ञान सविकल्पक होता है', क्योंकि यदि विशेष का ज्ञान सर्वात्मना अथवा कथंचिद् अभेदतः होता है, तो सभी ज्ञान समान हो जायेंगे। पुनश्च, यदि कल्पना में सामान्य के प्रतिभासन में, उससे भेद के कारण विशेष का भी प्रतिभास होता है, तब तो उपर्युक्त तर्क से शाब्द प्रत्यय में भी विशेष का प्रतिभास होना चाहिए और यदि कहा जाय कि चक्षुरादि कारण का अभाव होने से सविशेष का प्रतिभास नहीं होता, तो हमारा कहना है कि फिर भी वह अभिन्न कैसे है? उसके साथ अनुप्रवेश होने पर 'वह अभिन्न है' ऐसा जान पाना संभव नहीं है। यदि प्रतिपक्षी कहें कि बाद में अनुप्रवेश के कारण ऐसा जाना जाता है, तो हमारा कहना है कि बाद के समय में तो वह रहता ही नहीं है। उसका अनुप्रवेश उसी ही रूप से उसका तत्त्व नहीं होता। यदि विरोधी हमारी बात न मानकर यह आग्रह करे कि उसका अनुप्रवेश उसी ही रूप से उसका तत्त्व होता है, तो फिर अनुप्रवेश का ज्ञान उसी के द्वारा कैसे होगा? और यदि उसका अनुप्रवेश उसी ही रूप से उसका तत्त्व नहीं होता, तो भी, उसके द्वारा अनुप्रवेश का ज्ञान कैसे होगा?¹⁴³ पुनश्च, वह जिस रूप में पहले देखा गया था, यदि उसी रूप में वह इस समय अवभासित होता है, तो अनुप्रवेश का ज्ञान पहले जैसा कैसे होगा और यदि पहले देखे गये रूप में वह अवभासित इस समय नहीं है, तो, इसका अर्थ हुआ की उस रूप में जो अवभासित है वह इसका तत्त्व नहीं है; अतएव, 'उसका अनुप्रवेश' ऐसा ज्ञान कैसे होगा? इस कारण जो अप्रतिभासमान है वह न तो एक है और न अनेक। अतः, जो पहले भेदपूर्वक प्रतिभासित हुआ है उसका बाद में अनुप्रवेश होता है।¹⁴⁴

उपर्युक्त चर्चा के बाद आचार्य धर्मकीर्ति यह अभिमत व्यक्त करते हैं कि शब्दार्थयोजनारूप कल्पना बाह्यार्थ की अपेक्षा के बिना ही पूर्वगृहीत संकेत के स्मरण से हो जाती है तथा स्वतलक्षण के स्वानुकारी विज्ञान को उत्पन्न करने के सामर्थ्य से

ही इन्द्रियबुद्धि उत्पन्न होती है।¹⁴⁵ आचार्य प्रज्ञाकर इसे और स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि जहाँ शब्दार्थयोजना बाह्य की बिना अपेक्षा किये संकेत के स्मरण के बल से ही होती है वहाँ इन्द्रियविज्ञान बाह्यसाक्षेप होता है और उसे संकेत की अपेक्षा नहीं रहती। अतः, इन्द्रियविज्ञान में कल्पना नहीं होती, क्योंकि जिन कारणसामाग्रियों से कल्पना का उदय होता है, उन सामाग्रियों का इन्द्रियविज्ञान में अभाव होता है, और कारण के बिना तो कार्य का उदय होता नहीं है।¹⁴⁶ यदि, प्रतिपक्षी कहे कि बाह्य, अर्थात् शब्द एवं सामान्यादि सम्बन्ध, के सामर्थ्य से उपजायमान इन्द्रियविज्ञान को सविकल्पक होना चाहिए, तो उसका यह कथन असत् है, क्योंकि नियम यह है कि जिसका जिसके साथ अभिसम्बन्ध होता है वह उसके साथ भासित होता है, अतः, कल्पना पदार्थज्ञान का विषय नहीं हो सकती : और, यदि प्रतिपक्षी यह कहे कि जो सामान्यादि जहाँ पर व्यवस्थित है वहाँ पर वह प्रतिभासन प्रतिभासित होता है, तो यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर शब्द के अग्रहण का प्रसंग उपस्थित होगा।¹⁴⁷ पुनश्च, शब्द, अर्थ में, जैसे वस्त्रादि में, विद्यमान नहीं रहता। यदि ऐसा नहीं माना जाय, तो 'अगृहीत संकेत का भी' 'यह पट है' ऐसा प्रत्यय होना चाहिए, क्योंकि वाच्यता में संदेह का दर्शन नहीं होता और साथ ही उस अर्थ के सिद्ध होने पर वाचक के प्रभेद का निश्चय नहीं होता।¹⁴⁸ यदि विरोधी कहे कि 'समान आकारता में तो निश्चय है ही, तो हम इसका निषेध करते हैं, क्योंकि प्रथम दर्शन में उसका अभाव रहता है।

पूर्वपक्षी ऐसा कह सकता है कि 'गौ' इत्यादि प्रत्यय संकेत-स्मरण की अपेक्षा करके ऐसे सविकल्पकज्ञान को उत्पन्न करता है जिसमें रूपादिक ही इन्द्रियज्ञान के सहकारी होते हैं, संकेतस्मरण की अपेक्षा न करके वह सविकल्पज्ञान को उत्पन्न नहीं करता, क्योंकि कार्य की निष्पत्ति कारणसामग्री के चलते होती है। शब्द, सामान्य अथवा अन्य किसी प्राग्गृहीत विशेषण का जब स्मरण किया जाता है, तब वह ऐसे चक्षुरादिक ज्ञान को उत्पन्न करता है जिसमें स्मरण सहायक रूप में क्रिया किये रहता है। इस कारण, जिसका संकेत गृहीत नहीं है और जिसका पूर्वदर्शन नहीं हुआ है उन दोनों की स्मृति नहीं होती।¹⁴⁹ आचार्य धर्मकीर्ति और उनके अनुयायी विरोधियों के उपर्युक्त कथन को ठीक नहीं समझते। अतः, आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं कि यदि यह माना जाय कि इन्द्रियविज्ञान को उत्पन्न करने में रूप को संकेत के स्मरण की अपेक्षा होती है और संकेत के स्मरण की अपेक्षा के बिना रूप इन्द्रियज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है, तो इसका अर्थ यह होगा कि लिंग की तरह रूप स्मृति में ही समर्थ है, इन्द्रियज्ञान में नहीं; अर्थात् जिस प्रकार लिंग लिंगीबुद्धि में साक्षात् समर्थ नहीं है, किन्तु लिंग लिंगी के सम्बन्ध की स्मृति में ही समर्थ है, उसी प्रकार रूप, संकेत के स्मरण

में निमित्त होगा, किन्तु अगृहीत स्मृति का वह प्रबोधक नहीं होता है। इसीलिए, पहले रूप का स्मरण हो, फिर स्मृति हो, तब शब्द योजना होगी।¹⁵⁰ विरोधी यह कहता है कि स्मर्यमाण परोक्ष में भी प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति होती है, इसीलिए प्रत्यक्ष से ही योजना होती है। बौद्ध इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि यदि स्मृति की संगत से इन्द्रियज्ञान की उत्पत्ति मानी जाय, तो उस स्थिति में इन्द्रियज्ञान स्मृति से ही होगा और इन्द्रियज्ञान में अर्थसन्निधान की अपेक्षा नहीं होगी। और यदि आप मानें की इन्द्रियज्ञान के लिए अर्थ सन्निधान की अपेक्षा होती है, तो उस स्थिति में इन्द्रियज्ञान स्मृति से नहीं होगा तथा जो स्मरणभावी है 'वह' अवश्य होता है 'ऐसा नहीं' है; इससे, यह फलित होगा कि इन्द्रियज्ञान कदाचित् नहीं भी होगा। इसी प्रकार, स्मृति से कालान्तर में भी इन्द्रियज्ञान होने लगेगा, अर्थात्, स्मृति के अनन्तर विषयान्तर में, आपके अनुसार, विकल्प संभव होगा, अतः उसकी निवृत्ति होने पर कालान्तर में इन्द्रियज्ञान होगा।¹⁵¹ आचार्य प्रज्ञाकर, इसे कसी हुई तार्किक शैली में, स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि बिना पूर्वानुभूति के शब्द के द्वारा योजना नहीं होती और प्रतिनियत स्मृति के बिना प्रतिनियत शब्दादियोजना नहीं होती और प्रतिनियत स्मृति के बीज के प्रबोधक के बिना प्रतिनियत का स्मरण नहीं होता, तथा दर्शन के बिना प्रतिनियत की प्रबोधकता नहीं होती। जब उसका (रूपादि अर्थ का) उसके द्वारा (इन्द्रियज्ञान के द्वारा) दर्शन होता है, तब उसके वाचक का स्मरण होता है और उसका स्मरण होने पर योजना होती है; इस प्रकार उस दृश्यमान के स्मरण में उसके प्रबोधक के दृष्टरूपादि की लिंगता ही है। अतएव, सभी योजनाप्रत्यय लैंगिक ही है।¹⁵² पुनश्च, परमार्थ के साथ किसी की भी योजना संभव नहीं होती। प्रत्यक्ष और अनुमान के पीठ पर होने वाला विकल्प 'इदम्' तथा 'यहाँ पर' इस प्रकार की योजना का प्रत्यय है और वह उसप्रकार के अनादि व्यवहार से उत्पन्न अनुमान ही है। इसी कारण अनुमान के द्वारा कल्पना को अभिहित किया जाता है।

प्रतिपक्षी यहाँ यह कह सकता है कि अभिमुख अर्थ पहले स्मृति का हेतु होता है और फिर इन्द्रिय ज्ञान का। आचार्य धर्मकीर्ति इस पर कहते हैं कि यदि, अर्थ क्रम से स्मृति और इन्द्रियज्ञान का हेतु है, तो पूर्वापर अवस्था में अर्थ के एक स्वभाववाला होने से उससे होने वाले स्मृतिज्ञान और इन्द्रियज्ञान दोनों को एकसाथ ही हो जाना चाहिए, क्रम से नहीं। यदि माना जाय कि स्मृति का स्वलक्षण अन्य है और इन्द्रियज्ञान का हेतुक्षण अन्य है, तो, प्रथमक्षण में भी वाचक शब्द की स्मृति व्यर्थ है, क्योंकि स्मरण उसके ग्रहण में उपयोगी नहीं है; स्मरण के बिना भी उसकी प्रतिपत्ति हो जाती है। अतः, अर्थ में शब्दवाच्यता की सिद्धि के लिए संकेत की स्मृति मानी गयी है और संकेत

का विषय न होनेवाला विशेष (स्वलक्षण) इन्द्रियज्ञान के द्वारा ज्ञात होता है। उसमें संकेत की स्मृति निष्प्रयोजन है¹⁵³। प्रज्ञाकर कहते हैं कि यदि स्मृति जिसमें सहाय है ऐसे चक्षुरादि के द्वारा तद्रूपता का उल्लेख किया जाता है, तो स्मृति के बिना उसका प्रत्यय नहीं होना चाहिए। यदि प्रतिपक्षी कहे कि स्मृति के सहाय के बिना 'इदम्' ऐसा उल्लेख नहीं होता, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'इदम्' रूप उल्लेख का अभाव होने पर भी तद्रूप का अभाव होता है, और 'इदम्' के होने पर भी विशेषान्तर का अभाव रहता है, इस कारण स्मृति का इन्द्रियज्ञान में कोई उपयोग नहीं है। यदि प्रतिपक्षी कहे कि इन्द्रियज्ञान में प्रवर्तन ही स्मृति का उपयोग है, तो उसका यह पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि स्मृति के बिना भी इन्द्रियज्ञान में प्रवर्तन होता है और हम बौद्ध इसे मानसप्रत्यक्ष मानते हैं, इन्द्रियज्ञान नहीं।¹⁵⁴ विरोधी यह कह सकता है जिसका अभ्यास नहीं है ऐसे प्राथमिकज्ञान का प्रवर्तन स्मृति के बिना नहीं होता, और इसीलिए स्मृति अपेक्षित है; इस पर हमारा उत्तर है कि भेद (विशेष) संकेत का विषय नहीं है और वह इन्द्रियज्ञान द्वारा ग्राह्य है, अतः वहाँ पर स्मृति अन्य कौन सा कार्य करेगी? शब्दवाच्यतया जो अर्थ है उसकी सिद्धि के लिए, चूँकि स्मृति अभीष्ट है और भेद उस रूप में सिद्ध नहीं होता, अतएव, उसकी प्रतिपत्ति में स्मृति उपयोगवाली नहीं होती। जहाँ तक प्रवर्तन की बात है वह तो प्रत्यक्षेतर द्वितीय प्रमाण अनुमान के द्वारा प्राथमिकज्ञान का होता ही है। इस कारण, स्वरूप (स्वलक्षण के अपने रूप) के ग्रहण के प्रति विकल्प का व्यापार नहीं होता और अभ्यास के कारण प्रवर्तन होता है, ऐसा भी नहीं है।¹⁵⁵ पुनश्च, सारे भाव प्रयोजनरूप ही होते हैं, ऐसा भी नहीं है। यदि प्रतिपक्षी यह कहे कि पूर्व में जिस स्वरूप का ग्रहण हुआ था, उससे अन्य स्वरूप का ग्रहण अक्षधी के द्वारा होता है, तो उसका यह पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि इस प्रकार के साक्षात्ज्ञान को हम बौद्ध मानसप्रत्यक्ष रूप मानते हैं जो कि प्रत्यक्षज्ञान होते हुए भी इन्द्रियप्रत्यय से अन्य है।¹⁵⁶

यहाँ विरोधी बौद्धों के उपर्युक्त विवेचना पर अपना यह समाधान प्रस्तुत करता है कि कालान्तर में अनुवर्ती सामान्य में संकेत होता है और उसी का स्मरण होता है। धर्मकीर्ति इस पर टिप्पणी करते हैं कि यदि प्रत्यक्ष से सामान्यमात्र का ग्रहण माना जाय, तो, सामान्य से अन्य जो स्वलक्षण है उसके विशेष का ग्राही कोई नहीं हो सकता, फलतः सामान्य का ही ग्रहण होगा और उस स्थिति में भेदग्रहण की आकांक्षा या अपेक्षा नहीं होनी चाहिए। किन्तु भेदग्रहण की आकांक्षा होती है। लोक में 'गाय' इस सामान्य का ग्रहण होने पर 'किस प्रकार की गाय' इस प्रकार के भेदग्रहण की आकांक्षा हम पाते हैं।¹⁵⁷ पुनश्च, स्मरण का सामान्य के ग्रहण में कोई उपयोग नहीं होता। चक्षुधी का उदय चक्षुरूप मात्र से होता है। रूपमात्र में जो प्रवृत्त होता है उसका

ज्ञान चक्षु के द्वारा पुरतः होता है। जो अन्यत्र गम्यमान है उसका व्यापार अन्यथा कैसे हो सकता है? जो अन्य रूप में प्रतीयमान है उसकी अन्य रूप में होने की परिकल्पना नहीं की जा सकती। यह भी कहना सम्भव नहीं है कि मात्र पुरोवर्ती रूप में ही चक्षु का प्रवर्तन ईक्षमाण नहीं होता, वह शब्दसामान्यादि में भी प्रवर्तित होता है, क्योंकि इसके लिए प्रमाण का अभाव है और उस प्रकार परिकल्पना करने में अतिप्रसंगदोष भी है।¹⁵⁸ इसी कारण, जिस समय में स्मरण होता है उसी क्षण में कारण का उदय नहीं हो सकता; दोनों का दो क्षण होगा। इसमें दो विकल्प हो सकते हैं (1) स्मरणपूर्व का क्षण और (2) स्मरण के बाद का क्षण। इस कारण उनके विषय भी अलग-अलग होते हैं, फलतः प्रत्यक्ष अविकल्पक हुआ। इससे यह भी फलित हुआ कि स्मरण के बाद के समय में 'यह दुर्गन्ध है' 'यह एकत्व है' इत्यदि प्रकार से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि चक्षुर्विज्ञान का व्यापार रूपमात्र में होता है। इस कारण, जो चक्षुषादि के समाश्रय से अर्थ में उत्पत्तिवान् है वह ही प्रत्यक्ष है, उससे अन्य प्रत्यक्ष नहीं। अतएव, शब्द, सामान्यादि प्रत्यक्ष नहीं हैं। प्रत्यक्षज्ञान में, इन्द्रिय के अतिरिक्त स्पष्टप्रतिभास के जो निमित्त हैं, उनका समाश्रय करके जो गृहीत होता है, उसे हम मानसादिक प्रत्यक्ष कहते हैं, इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं।¹⁵⁹

प्रत्यक्ष के कल्पनापोढत्व पर कुछ विशेष आपत्तियों का उत्तर

बौद्धों के प्रत्यक्ष के कल्पनापोढत्व सिद्धान्त की सभी भारतीय दार्शनिक मत आलोचना करते हैं, क्योंकि बौद्धों के अनुसार प्रत्यक्ष केवल निर्विकल्पक होता है। यहाँ हम उद्घोतकर, कुमारिल, सुमति, भाविविक्त, जयन्तभट्ट तथा अकलंक आदि के आक्षेपों को रखकर उनकी समालोचना करेंगे।

(क) नैयायिक आचार्य उद्घोतकर दिग्नाग के प्रत्यक्षलक्षण पर आपत्ति करते हैं कि न तो 'प्रत्यक्ष' और 'कल्पनापोढम्' ये शब्द और न तो 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्' यह वाक्य ही प्रत्यक्ष का निर्देश कर सकता है। यदि प्रत्यक्ष इन शब्दों में से किसी के द्वारा अथवा उस वाक्य द्वारा निर्दिष्ट हो सके, तो, यह कल्पनापोढ नहीं हो सकता। वे आगे टिप्पणी करते हैं कि यदि 'कल्पनापोढ' शब्द का अर्थ स्वरूपतः 'न व्यपदेश्यम्' होना माना जाय, तो प्रत्येक वस्तु प्रत्यक्ष जैसी मानी जायेगी, क्योंकि शब्द वस्तु के केवल सामान्याकार को अभिव्यक्त करता है, विशेषाकार या स्वरूप को नहीं; तथापि, यह कहना कि चूँकि वस्तु का विशेषाकार अनभिलाप्य है, अतः वस्तु अनभिलाप्य है, ठीक नहीं है। ब्राह्मण को 'मनुष्य' शब्द द्वारा कहा जा सकता है, यद्यपि यह शब्द उसके विशेषाकार को अभिव्यक्त नहीं करता। दूसरी ओर, यह स्वीकार करने में कि

प्रत्यक्ष का स्वरूप 'कल्पनापोढ' शब्द द्वारा अभिव्यक्त हुआ है, स्वविरोध होगा, क्योंकि 'कल्पनापोढ' शब्द की अर्थवत्ता यह है कि प्रत्यक्ष का स्वरूप अनभिलाप्य है। अन्ततः, यदि 'कल्पनापोढ' शब्द को कुछ भी अभिव्यक्त न करने वाला माना जाय, तो लक्षण को 'पूर्णतया व्यर्थ' मानना पड़ेगा।¹⁶⁰

इस आक्षेप पर शांतरक्षित और कमलशील उत्तर देते हैं कि 'प्रत्यक्ष का' 'कल्पनापोढ' लक्षण करने में यह अभीष्ट है कि प्रत्यक्ष अविकल्पक है, यह अभीष्ट नहीं है कि वह अनभिधेय है। जब आचार्य दिग्नाग यह कहते हैं कि 'जहाँ कल्पना नहीं होती, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है' तो उनका मतव्य यह है कि प्रत्यक्ष कल्पनात्मक नहीं होता। पुनश्च, कल्पनापोढता का अर्थ है सविकल्पकता अथवा योजनात्मक संरचना से रहित होना; इसका अर्थ 'शब्द द्वारा अनभिव्यक्त' नहीं है। यद्यपि प्रत्यक्ष निर्विकल्पक होता है, तथापि यह माना जाता है कि शब्द के द्वारा उसे अभिव्यक्त किया जा सकता है। अतः, आचार्य दिग्नाग के लक्षण में उद्धोतकर द्वारा प्रदर्शित दोष नहीं लगता।¹⁶¹

(ख) मीमांसक आचार्य कुमारिल 'श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्ष खण्ड' में कहते हैं 'पहले-पहल आलोचनाज्ञान होता है, जो कि निर्विकल्पक होता है, जैसे कि बालक, मूक एवं मूर्च्छाग्रस्त लोगो का ज्ञान होता है, और यह ज्ञान वस्तु से शुद्ध रूप से जायमान होता है, तथा उस समय न तो सामान्य का ग्रहण होता है और न तो विशेष का। उस समय जिस का ग्रहण होता है वह मात्र व्यक्ति विशेष होता है जो कि इन दोनों विशेषताओं का आश्रय है। ठीक इसके बाद वस्तु का ग्रहण सामान्यादि विशेषताओं के साथ होता है और उस ज्ञान को प्रत्यक्ष भी कहा जाता है, जिससे यह उस रूप में गृहीत होता है।'¹⁶² ऐसा कहकर कुमारिल यह इंगित करते हैं कि बौद्धों का यह कथन स्वीकार्य नहीं हो सकता कि 'विशेषणों से युक्त का ज्ञान, जो कि कल्पनात्मक है, प्रत्यक्ष नहीं हो सकता', क्योंकि प्रत्यक्ष की प्रथम अवस्था को छोड़कर प्रत्यक्ष की सभी स्थितियों में वस्तु विशेषताओं से युक्त होकर ज्ञात होने के रूप में उपस्थित रहती है और यदि बौद्ध अपने पक्ष को प्रथम अवस्था के प्रसंग में प्रयुक्त्य मानें, तो उनका तर्क व्यर्थ है। इतना ही नहीं तृतीयक्षण और उसके बाद के क्षणों में ज्यों-ज्यों और कल्पनाओं का सन्निवेश होता है, हमें उसी इन्द्रिय के विषय में और अधिक सप्रकारक ज्ञान की प्राप्ति होती है और इन्हें प्रत्यक्ष ही माना जाता है। यह कहा जा सकता है कि यदि प्रथम क्षण में किसी इन्द्रिय विशेष को सामान्यादि विशेषताओं से रहित शुद्धवस्तु मात्र का ग्रहण होता है, तो बाद में भी वैसा ही ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं में परिस्थितियाँ समान हैं। कुमारिल इसका उत्तर देते हैं कि जब कोई मनुष्य दिन में सूर्य के तेज प्रकाश से चलकर घर में अन्धेरे कमरे में प्रवेश करता

है, तो उसे कुछ दिखाई नहीं पड़ता, किन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि बाद को भी वहाँ उसे स्थित वस्तुएँ दिखाई नहीं पड़ती हैं। जैसे कि कोई चिल-चिलाती धूप से चलकर सिनेमा हाल में प्रवेश करता है, तो उसे पहले-पहल सामने बैठे लोगों का एक धुंधला-सा आकारमात्र गृहीत होता है, किन्तु कुछ देर बाद उसे सामने एवं अगल-बगल बैठे लोगों की विशिष्टताओं का भी निश्चय होने लगता है, कि यह वृद्ध है, युवा है, अथवा बालक तथा नीले रंग की साड़ी पहने हुए आधुनिक युवती है या पारम्परिक श्वेत पोशाक धारणी, वृद्धविधवा आदि। अतः, हमारे पक्ष में कोई असंगति नहीं है। अतः, प्रत्यक्ष सविकल्पक एवं सामान्यादि विशेषताओं से भी युक्त होता है।¹⁶³ विरोधी की ओर से यह आक्षेप उठाया जाता है कि आप (कुमारिल) की व्याख्या को मान लेने पर तो, जिस व्यक्ति को प्रथम क्षण में किसी वस्तु का निर्विकल्पक ज्ञान हुआ हो, यदि वह अपनी आँखें बन्द कर वस्तु को सामान्य तथा अन्य विशेषताओं से युक्त होने की परिकल्पना कर ले, तो चूँकि यह ज्ञान भी पहले गृहीत न हुए का ही ग्रहण कर रहा है, अतः, वह भी प्रत्यक्ष माना जाना चाहिए। कुमारिल उत्तर देते हैं कि आलोचन रूप प्रथम निर्विकल्पकज्ञान के बाद व्यक्ति अपनी आँखें बन्द कर लेने के बाद कल्पना का आरोपण करता है, तो उसे प्रत्यक्षज्ञान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस ज्ञान की उत्पत्ति सम्बद्ध इन्द्रिय और उसके अर्थ के सन्निकर्ष से नहीं होती। इस प्रकार कुमारिल बौद्धों के विरोध में यह मानते हैं कि 'कल्पनात्मकज्ञान' कई प्रकार के होते हैं और उनमें सभी असम्यक् नहीं होते। इन्द्रिय-विषय के सन्निकर्ष के फलस्वरूप जिस विकल्पात्मक या कल्पनात्मक ज्ञान का जन्म होता है उसे सत्य प्रत्यक्षज्ञान मानना चाहिए, और लोकव्यवहार से इसकी पुष्टि भी होती है।¹⁶⁴

आचार्य शांतिरक्षित एवं कमलशील उपर्युक्त सारी मान्यताओं का खण्डन करते हैं। वे कहते हैं कि यदि ज्ञान वस्तु की स्वलक्षणता का गुण है, तो यह मान लेने पर भी कि सामान्य का अस्तित्व है, सामान्यादिगुणों का ग्रहण होने पर भी उस ज्ञान को कल्पनापोढ ही होना चाहिए, क्योंकि स्वलक्षण शब्दकल्पना से रहित होता है; अतएव, जो ज्ञान उस पर अवलम्बित है, उसे अवश्य ही कल्पनापोढ होना चाहिए, क्योंकि सामान्यादि धर्मों को भीमांसा पक्ष में स्वलक्षण से अभिन्न माना गया है। यदि, भीमांसकों की ओर से कहा जाय कि बौद्धों द्वारा प्रदत्त हेतु मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि यह केवल सामान्य से सम्बद्ध है, तो इसका उत्तर यह है कि यदि केवल सामान्य का ही ग्रहण होता हो, तो गुण, गुणिन् से अत्यन्तभिन्न होंगे और यह बात भीमांसकों को स्वीकार्य नहीं होगी, क्योंकि आचार्य कुमारिल ने यह स्वयं कहा है कि 'यदि गुण गुणिन् से नितान्त भिन्न माने जाँय तो फिर, गुणिन् में वह अपने अनुकूल

ज्ञान को कैसे प्रदान कर सकता है? इतना ही नहीं वे, यह भी स्वीकार करते हैं कि 'सामान्य और उनके धर्म एक भी हैं और अनेक भी; सत्ता के रूप में एक तथा 'वर्णादि' के रूप में अनेक'। वे यह भी कहते हैं कि 'हम मीमांसकों के लिए सामान्यादि, विशेष से अन्य नहीं हैं'। विरोधी यह कह सकते हैं कि द्वितीयक्षणिक ज्ञान सामान्य और विशेष दोनों को जानता है, क्योंकि यह जिसका ग्रहण करता है वह सामान्यविशिष्ट विशेष होता है। अतएव, प्रत्यक्ष को केवल स्वलक्षण का ग्राहक नहीं कहा जा सकता। शांतरक्षित इस पर उत्तर देते हैं कि एक ही विज्ञान स्वलक्षण और सामान्यलक्षण दोनों को ग्रहण करने वाला नहीं माना जा सकता; क्योंकि यदि वह ज्ञान सविकल्पक है, तो, यह स्वलक्षण को ग्रहण नहीं कर सकता और यदि वह निर्विकल्पक है, तो, सामान्यलक्षण का ग्रहण नहीं कर सकता। यदि यह मान भी लें कि स्वलक्षणविषयक ज्ञान सविकल्प होता है, तो भी, उसका प्रामाण्य ही युक्त नहीं होगा, क्योंकि, वह पूर्वगृहीत को ही ग्रहण करने वाला है। आशय यह है कि चूँकि कुमारिल सामान्यादि का व्यक्ति से पूर्णतया भिन्नत्व नहीं मानते ('स्थितं नैव हि जत्यादेः परत्वं व्यक्तितो हि नः — श्लो० वा० सू० १-४१), अतएव, ऐसी स्थिति में, जो प्रथम आलोचनाज्ञान है उसके (पूर्व के निर्विकल्पक ज्ञान के) द्वारा ही जात्यादि गृहीत रहेगा, फलतः उसी जात्यादि का, बाद का निश्चायक ज्ञान (सविकल्पक ज्ञान) गृहीतग्राही होने से, स्मृतिज्ञान की तरह, अप्रमाण ही होगा।¹⁶⁵

विरोधी इस पर कहते हैं कि पहले-पहल ज्ञान के द्वारा (पहले के निर्विकल्पक ज्ञान के द्वारा) वस्तु का ज्ञान अस्पष्ट या धूमिल रूप में होता है, निश्चितरूप में नहीं। निश्चयज्ञान तो केवल बाद को ही होता है, और यही प्रमाण होता है, क्योंकि यह अनुमान की भाँति वस्तु को समारोप से (आरोपण से) व्यवच्छिन्न करके ग्रहण करता है। जिस प्रकार, प्रत्यक्ष के द्वारा शब्दधर्मिन् के गृहीत होने के बाद उसके कृतकत्वादि के द्वारा यह निश्चय होता है कि यह अनित्य है और यह ज्ञान प्रमाण होता है, उसी प्रकार बाद का (सविकल्पक) प्रत्यक्ष ज्ञान भी निश्चयात्मक होता है, जब यह विषय का ज्ञान समारोप (आरोपण) से विलग करके, करता है। इस प्रसंग में आप के मत तथा हमारे मत में कोई विवाद नहीं है, क्योंकि धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक 3-48 में कहते हैं कि 'निश्चयज्ञान' और आरोपण के मध्य बाध्यबाधकभाव होता है; और इससे यह जाना जाता है (समझा जाता है) कि निश्चयज्ञान की प्रवृत्ति आरोपण से व्यवच्छिन्न (विलग की गयी) वस्तु में होती है। आचार्य शांतरक्षित उत्तर देते हुए कहते हैं कि वस्तुतः, अनुमान का प्रामाण्य वस्तु को आरोपण से व्यवच्छिन्न (विलग) करके ग्रहण करने में निहित नहीं है, क्योंकि ऐसी स्थिति में स्मृति का भी प्रामाण्य मानना पड़ेगा। वस्तुतः

किसी वस्तु के प्रत्यक्ष के बाद उद्भूत संशयादि समारोपों का निवारण करने के कारण अनुमान का प्रामाण्य माना जाता है। किन्तु, आपके लिए ऐसा मान लेना संभव नहीं है, क्योंकि तब 'शुक्ल गाय चल रही है' इसप्रकार के ज्ञान में, प्रत्यक्ष के अनन्तर किसी समारोप की वेदना नहीं होती, जिसका कि बाद के ज्ञान के द्वारा बोध किया जा सके। वस्तुतः जात्यादि नहीं हैं। जात्यादि का अगर अस्तित्व हो, तो या तो वह व्यक्ति से अन्य अव्यतिरिक्त होगा, अथवा व्यतिरिक्त होगा अथवा अव्यतिरिक्त और व्यतिरिक्त दोनों होगा। उनमें से प्रथम विकल्प उचित नहीं है, क्योंकि अनेक वस्तुओं में अनुगत रूप सामान्य कहा जाता है और व्यक्तियों में इस प्रकार का अनुगतत्व नहीं होता, जिसके द्वारा वे ही सामान्य हो सकें और यदि उनमें इस प्रकार का अनुगतत्व हो, तो सभी विश्व एक ही रूप वाला हो जायेगा और परिणामतः सामान्य के ही अभाव का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा, क्योंकि सामान्य को अनेक वस्तुओं में रहना चाहिए। द्वितीय विकल्प भी संभव नहीं, क्योंकि सामान्य की व्यक्ति से भेद रूप में प्रतीति नहीं होती।¹⁶⁶ धर्मकीर्ति ने स्वतः कहा है — "व्यक्ति एक दूसरे में अनुगत नहीं होते, और व्यक्ति से अन्य कोई अनुयायी तत्त्व नहीं होता, अतः ज्ञान से व्यतिरिक्त कोई अर्थान्तर कैसे हो सकता है।"¹⁶⁷ इसी प्रकार तृतीय विकल्प भी संभव नहीं है, क्योंकि व्यतिरिक्त एवं अव्यतिरिक्त भाव परस्पर बहिष्कारक हैं, अर्थात् उनमें से एक का निषेध दूसरे की स्वीकृति का सूचक होता है।

(ग) यदि प्रत्यक्ष अविकल्पक है, तो उसके द्वारा व्यवहार कैसे होता है? यदि किसी को इस प्रकार का निश्चय होता है कि 'यह सुख का साधन है', और 'यह दुःख का साधन है', तब वह पहले की प्राप्ति के लिए और दूसरे के निवारण के लिए प्रवृत्त होता है। आप बौद्धों के मत में तो अनुमान और अनुमेय दोनों की ही धारणा संभव नहीं है, क्योंकि अनुमान के काल में धर्मों अथवा धर्म को प्रमाणान्तर के द्वारा (जिसका पूर्व में ज्ञान हुआ है उसके द्वारा) अवश्य ही निश्चित रूप में गृहीत हुआ रहना चाहिए; और वह अनिश्चयात्मक प्रत्यक्ष के द्वारा, निश्चित रूप से गृहीत नहीं किया जा सकता। अनवस्थादोष के कारण अनुमान के द्वारा भी उसके गृहीत होने की बात नहीं मानी जा सकती : और बौद्ध तो इन दो के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण मानते नहीं; इस प्रकार आप बौद्धों के मतानुसार सभी व्यवहार का उच्छेद हो जायेगा। इस प्रकार, प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक होने की आपकी प्रतिज्ञा बाधित हो जाती है।¹⁶⁸

बौद्धपक्ष से इसका उत्तर यह है कि विकल्प के द्वारा अविकल्पक प्रत्यक्ष भी निश्चययात्मकज्ञान का कारण बनता है और इस प्रकार सभी व्यवहार में समर्थ होता है। उदाहरणार्थ, यद्यपि प्रत्यक्ष कल्पना से रहित है, तथापि जब भी यह उत्पन्न होता

है, चेतना या विज्ञान में अपने आकार के निर्भास के द्वारा, सजातीय एवं विजातीय से व्यावृत्त अनलादि अर्थ का परिच्छेद करते हुए उत्पन्न होता है। चूँकि, यह प्रत्यक्ष नियत रूप से व्यवस्थित एक निश्चित वस्तु का ग्राही होता है तथा सजातीय एवं विजातीय से व्यावृत्त वस्तु का आकार भी उसके साथ लगा रहता है, अतः उसी वस्तु में 'यह अग्नि है' कुसुमस्तबकादि नहीं है। इस प्रकार के विधि और प्रतिषेध रूप विकल्प का आविर्भाव (अभिव्यक्ति) करा देता है। चूँकि ये दोनों विकल्प वस्तु के साथ केवल परोक्षतया सम्बद्ध हैं, अतएव उनका प्रामाण्य बौद्धों को अभीष्ट नहीं है। कारण यह है कि यह दृश्य और विकल्प के मध्य एकत्व का अध्यवसाय करता है, फलतः अनधिगत वस्तुरूप का ग्रहण नहीं करता है जिससे कि प्रमाण माना जाय। उपर्युक्त कारण से निर्विकल्प प्रत्यक्ष विकल्पद्वय का हेतु होने से तृतीय प्रकार के अभाव की सूचना में भी निमित्त होता है। उदाहरणार्थ, जब किसी चीज के विषय में ज्ञान होता है, तो वह उसका परिच्छेद करता है, क्योंकि उसमें उसका प्रतिभास होता है; और चूँकि उससे अन्य वस्तु का उपलब्ध उसमें नहीं होता, अतः वह अन्य सभी का उससे व्यवच्छेद करता है। कारण यह है कि सभी भावों के प्रसंग में दो ही राशि हो सकती है, या तो वह दृश्य हो अथवा दृश्य से अन्य हो; फलतः, यह सूचित होता है कि कोई अन्य तीसरा प्रकार नहीं है।¹⁶⁹

यहाँ यह प्रश्न उठाया जाता है कि उपर्युक्त स्थिति में, यदि प्रत्यक्ष के ही द्वारा शब्दादि धर्मों का ग्रहण होता है, तब तो इसके विषय में जो अनित्यता का अनुमानविकल्प है उसका प्रामाण्य नहीं होगा। कमलशील कहते हैं कि यह दोष नहीं है। प्रत्यक्ष उत्पन्न हो गया हो, तो भी हम प्रत्यक्ष द्वारा उसी अंश के गृहीत होने की बात कहते हैं जिस अंश के विषय में अध्यवसाय का जन्म होता है और जो ही व्यवहार के योग्य होता है। जहाँ पर भ्रान्ति पर आधारित अध्यारोप के प्रवृत्त होने के कारण वह अध्यवसाय को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है, उसका व्यवहारयोग्य होने के रूप में ग्रहण हो सकता है, फिर भी वह अगृहीत हुआ—सा ही समझा जाएगा; और इस प्रसंग में ही, उपर्युक्त अध्यारोप के व्यवच्छेद (परिहार या निराकरण) के लिए, अनुमान प्रवृत्त होता है, फलतः उसका प्रामाण्य होता है। प्रत्यक्ष के अनन्तर होने वाले विकल्प का प्रामाण्य नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें प्रवृत्त हुए अध्यारोपण के व्यवच्छेद का अभाव रहता है।¹⁷⁰ यहाँ पुनः प्रश्न उठाया जाता है कि फिर कौन सा कारण है कि यद्यपि सर्वतः भिन्न वस्तु के रूप के विषय में अनुभव की उत्पत्ति होती है, तथापि फल रूप में होने वाला ज्ञान निश्चयात्मक नहीं होता। बौद्धों का उत्तर है कि यह बात अन्य कारणों की अपेक्षा रखती है (अन्य कारणों पर निर्भर करती है)। किसी का ग्रहण हो गया, वह अनुभूत हो गयी, उससे यह नहीं निकलता कि उसका निश्चय भी हो गया,

क्योंकि निश्चय होने की बात, अभ्यास, व्यक्ति की रुचि तथा पाठ्यादि जैसे अन्य कारणों पर निर्भर होती है। उदाहरणार्थ, एक ही व्यक्ति जब किसी का अध्यापक और पिता दोनों है, तो जब कोई पुत्र उन्हें आता देखता है, तो उसे यह निश्चय होता है, कि 'मेरे पिता आ रहे हैं', यह निश्चय नहीं होता कि 'मेरे शिक्षक आ रहे हैं'।¹⁷¹

इस प्रसंग में भाविविक्त तथा अन्य लोग, जो इस बात का खण्डन करते हैं कि अविकल्पक प्रत्यक्ष विकल्प को उत्पन्न करने के माध्यम से हमें व्यवहार में प्रयुक्त कराता है, कुछ अन्य तर्कों को निम्नप्रकार से प्रस्तुत करते हैं। इन्द्रियज्ञान सविकल्पक मनोविज्ञान का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि, (क) इन्द्रियविज्ञान और सविकल्पकमनोविज्ञान (*conceptual cognition which is mental*) के विषय भिन्न होते हैं, रूप, स्पर्श आदि ज्ञान की तरह, और (ख) चक्षुरादि की तरह यह अविकल्पक होता है। किन्तु भाविविक्त के आक्षेप में दोष है, क्योंकि ऊपर जिन दो हेतुओं के द्वारा आलोचना की गयी है, वे अनैकान्तिक हैं, क्योंकि भाविविक्तादि ने साध्य के जो विपरीत है उसके साथ हेतु के विरोध को नहीं दिखलाया है।¹⁷² पुनश्च, उनके विषय भी भिन्न नहीं हैं, क्योंकि जिस अर्थ का ग्रहण एक के द्वारा होता है उसी का अध्यवसाय अन्य के द्वारा होता है, अर्थात् यद्यपि विकल्प की सविषयता होती है, तथापि 'यह कथन असिद्ध है कि उनके विषय भिन्न होते हैं'। इतना ही नहीं, वस्तुतः विकल्प बिना आलम्बन के प्रवर्तित होता है और विकल्प का कोई विषय ही नहीं है जो किसी अन्य वस्तु से भिन्न हो सके (अगर विकल्प का कोई अर्थ विषय होता तो उस अर्थ से विकल्प विलग है यह बात उठती)।¹⁷³ इसके अतिरिक्त भाविविक्त ने जो 'रूपादिज्ञान की तरह' दृष्टान्त, हमारे पक्ष में दोष दिखलाने के लिए, दिया है वह साध्यविकल है, क्योंकि रूप, एवं शब्दादि ज्ञानों में अन्योन्यहेतुता होती ही है (परस्पर समनन्तरप्रत्ययभाविन्कारणता विद्यमान है)।¹⁷⁴ इसी तरह भाविविक्त ने 'विषयभेदतः' रूप जो हेतु दिया था, उसकी भी, यह प्रदर्शित करने के द्वारा कि उसका विपक्ष में सद्भाव है, अनैकान्तिकता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि अग्निज्ञान तथा धूमज्ञान के मध्य कारणकार्यसम्बन्ध है। यही बात इस प्रसंग में भी संभव हो सकती है।¹⁷⁵

(घ) नैयायिक, बौद्धों के विरुद्ध अपने पक्ष को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जात्यादि का भी ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा होता है। जयन्तगृह, कुमारिल के ही समान, यह आग्रहपूर्वक कहते हैं कि शब्दसंसर्ग जात्यादि के प्रत्यक्ष की उपाधि है तथा इन्द्रिय, प्रकाश तथा अवधानादि, रूपादि प्रत्यक्ष की उपाधियाँ हैं, अतएव, शब्दसम्बन्धी परम्परा की स्मृति को इन्द्रियव्यापार तथा अर्थ के बीच अड़चन या बाधा के रूप में नहीं माना जा सकता।¹⁷⁶ किन्तु, नैयायिकों तथा जयन्त की बात उचित नहीं है, क्योंकि

निर्विकल्प प्रत्यक्ष के द्वारा जात्यादि का भी प्रत्यक्ष बतलाना केवल रूढ़िवादी तथा दुराग्रहपूर्णकथन है जिसका समर्थन न तो अनुभव से ही होता है और न तो तर्क से ही। इसी प्रकार जयन्तभट्ट की भी व्याख्या अस्वीकार्य तर्कजाल मात्र है। विषय या अर्थ व्यक्तिविशेषरूप है, और प्रत्यक्षगम्य होने से प्रथम इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा ही इसका सर्वतोभावेन (अर्थ का उसकी समग्रता में) ग्रहण हो जाता है, अतः, अर्थ के किसी अंश या पहलू के अज्ञात रह पाने की संभावना नहीं रह जायगी। इसी प्रकार यह कथन कि सविकल्प प्रत्यक्ष का अर्थ (content) निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा नियत होता है,¹⁷⁷ इस बात को अपने गर्भ में धारण किये हुए है कि हमारे सारे ज्ञान इन्द्रिय संवेदन (sense data) से प्रसूत हैं और हमारा मनस् एक निष्क्रिय रजिस्टर मात्र है जिसका इसके विषय में अपना कोई अंशदान नहीं है। नैयायिकों की बात उपर्युक्त तर्क से बाधित हो जाती है, क्योंकि जात्यादि कल्पनारचित हैं। सामान्य का स्वलक्षण आदि से न तो अभेद का सम्बन्ध है और न भेद का ही। अतएव, जात्यादि की मान्यता विकल्पात्मक विज्ञान रूप है, उसकी कोई वस्तुगत सत्ता नहीं।

जयन्तभट्ट दिग्नाग के 'पंचविध जात्यादि कल्पना को हेय और मिथ्या संचरना मात्र मानने की बात का खण्डन इस आधार पर करते हैं कि अभेद और भेद का सम्बन्ध सम्बद्ध तथ्यों के मध्य वस्तुतः होता है।¹⁷⁸ किन्तु, जयन्तभट्ट को यह समझना चाहिए कि जात्यादि की पृथक्ता के मिथ्यात्व की सिद्धि सम्बन्धों की द्विष्टता के आधार पर की गयी है (इस आधार पर किया गया है कि सम्बन्ध द्विष्ट होने से सापेक्ष, अन्योन्याश्रित, निःस्वभाव अतः मिथ्या हैं)। इसी तरह जयन्तभट्ट की यह मान्यता भी कि नाम और व्यक्ति कभी अभेद रूप में नहीं रहते, चूँकि हम यह प्रयोग नहीं करते कि "वह चैत्र नाम है", अपितु यह कहते हैं कि 'वह चैत्र है'¹⁷⁹ केवल शब्दाडम्बर मात्र है और इससे आँख मूँदना है कि 'चैत्र' नाम के अलावा और कुछ नहीं। उनका यह भी आक्षेप है कि 'स दण्डीति' इस प्रयोग में कोई विकार नहीं है, क्योंकि 'दण्डी' का अर्थ 'दण्ड' नहीं, अपितु मनुष्य (जो दण्ड धारण करता है) होता है जिसका कि ज्ञान सुस्पष्ट रूप से होता है।¹⁸⁰ किन्तु यह तर्क भी बौद्धों के पक्ष को असिद्ध नहीं करता, क्योंकि बौद्ध पदबाह्य किसी सम्बन्ध को नहीं मानते। इस तर्क में भी कोई जान नहीं है कि दण्ड का सम्बन्ध विधेय बनाया जाता है, दण्ड ही विधेय नहीं बनाया जाता,¹⁸¹ क्योंकि बौद्ध सम्बन्धिन् और सम्बन्ध में अभेद मानते हैं। पुनश्च, भाषागत प्रयोग मनुष्य के अनुभव का सर्वदासंवादी नहीं होता, अतः, भाषागत प्रयोग के आधार पर किसी धारणा को बनाना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उचित नहीं है।¹⁸²

(ड) वाक्यपदीयकार भट्टहरि और उनके टीकाकार हरिवृषभ यह मानते हैं कि

सम्पूर्ण जगत् शब्दब्रह्म से आविर्भूत हुआ है जो कि अनादि और अक्षर है। इसी कारण सभी ज्ञान शब्दानुविद्ध होते हैं; फलतः शब्दसंसर्ग — रहित ज्ञान हो नहीं सकता।¹⁸³ इन लोगो का आग्रह है कि जब तक प्रत्यक्ष शब्द वस्तुतः विद्यमान न हो, किसी विषय या वस्तु का सुभिन्नत्वेन और स्पष्टत्वेन ज्ञान नहीं हो सकता, और फलतः स्मृति भी नहीं होगी, क्योंकि स्मृति पूर्वानुभूत को ही जानती है। भृगुहरि का यह भी आग्रह है कि शब्द ज्ञान की जान और ज्योति है, और शब्दरहित ज्ञान ज्योतिहीन प्रकाश के समान है और चूँकि शब्द स्वतः अपने से अन्य की ओर निर्देश करता है, अतः निसर्गतः वह सविकल्पक है, अतः ज्ञान अनुभवतः सविकल्पक है।¹⁸⁴ हरिवृषभ कहते हैं कि प्रथमनिपातीज्ञान भी शब्दसंसर्गरहित नहीं होता, भले ही 'वाग्रूपता' वहाँ पर बहुत ही सामान्यप्रकार की हो; अर्थात् वहाँ पर 'विशेषवाग्रूपता' ज्ञात नहीं भी हो सकती, किन्तु गृहीत विषय का, शब्द का जो सामान्यतः रूप है उसकी ओर निर्देश रहता है।¹⁸⁵

आचार्य शांतरक्षित और कमलशील ने इन स्फोटवादियों के मत का विस्तार से निराकरण करते हुए बतलाया है कि कल्पनापोढ ज्ञान होता है, क्योंकि मनस् के अन्यत्र आसक्त रहने पर भी इन्द्रिय के द्वारा नीलादि का वेदन होता है। मनस् आसक्त है, फिर भी इन्द्रिय द्वारा नीलादि का वेदन हो रहा है, यह स्पष्ट करता है कि ऐसी स्थिति में एक निर्विकल्पक इन्द्रियज्ञान है जो अपने से अन्य सविकल्पक अनुभव के साथ भी घटित या संक्रमित हो रहा है। यह आग्रह करना ठीक नहीं है कि वहाँ पर एक ही सविकल्पक अनुभव है, क्योंकि वैसी स्थिति में दो पृथक् वाग्रूपताएँ माननी होंगी, अथवा प्रथम वाग्रूपता की, नवीन दूसरी वाग्रूपता के लिए, बलि चढ़ानी होगी; किन्तु न तो वह एक है और न तो अन्य ही, क्योंकि एक ही ज्ञान में दो वाग्रूपताएँ नहीं हो सकती, अतः, यह फलित हुआ कि सविकल्पक ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान के साथ-साथ घटित हो रहा है।¹⁸⁶ पुनश्च, चूँकि अनेकविध संवेदनों का युगपत्ज्ञान, प्रत्यक्ष में होता है, अतः निर्विकल्पक ज्ञान का सविकल्पक ज्ञान के साथ होना ऐसा तथ्य है जिसे नकारा नहीं जा सकता।¹⁸⁷ इसके अतिरिक्त, स्फोटवादियों की सारी मान्यता भ्रान्तधारणा से परिचालित है। तत्त्व स्वलक्षण रूप, विशेष एवं क्षणस्वरूप है और पूर्ववर्ती अथवा अनुवर्ती किसी के साथ इसका कोई लेना-देना नहीं। ऐसा तत्त्व अपनी प्रकृति के ही कारण शब्दसंसर्ग का अविषय है, क्योंकि शब्द और वस्तु के मध्य परंपरया जो सम्बन्ध होता है वह परिकल्पनात्मक मात्र होता है जिसकी स्थिति तत्त्वों या वस्तुओं में नहीं मानी जा सकती। पूर्वज्ञान विषयक्षणास्थायी है, अतः, शब्दसम्बन्ध जबतक ज्ञात हों, तबतक वह विनष्ट हो चुका रहता है। अतः, प्रथमनिपातीज्ञान वस्तुग्राही होने से शब्द संसर्ग का अविषय ही रहेगा।¹⁸⁸ इस प्रकार 'प्रमाज्ञान' के अचूक वा विश्वसनीय सारूप्य और व्यवहारसंमत संतुष्टि रूप कसौटी को केवल प्रथम

निर्विकल्पक ज्ञान में प्रयुक्त किया जाय, तो, प्रथम अनुभव ही वस्तु का प्रमाण माना जा सकता है।

(च) जैन दार्शनिक सुमिति¹⁸⁹ और अकलंकादि ने भी बौद्ध मत की प्रत्यक्ष विषयक मान्यता का विस्तार से खण्डन किया है, क्योंकि जैनमत केवल सविकल्पक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। सुमिति के पक्ष की प्राप्ति हमें तत्त्वसंग्रह (पंजिका) में होती है। उनके आक्षेप सारांशतः इस प्रकार हैं — नामादिक प्रत्यक्ष के ग्राह्यविषय के विशेषण (विभेदकधर्म) न भी हों, तथापि हेतु की अप्रसिद्धता नहीं है, क्योंकि एक अर्थ का अन्य अर्थ से व्यवच्छिन्न रूप में ग्रहण न हो, तो या तो अर्थ का ग्रहण केवल अपने द्वारा ही होगा अथवा कोई ग्रहण ही नहीं होगा; जैसे घट के प्रसंग में यदि उसका ग्रहण अन्यघट से व्यवच्छिन्नरूप से नहीं माना जाय, तो या तो घटमात्र का ग्रहण होगा अथवा कोई ग्रहण ही नहीं होगा। यदि, माना जाय कि प्रत्यक्ष अपने विषय का ग्रहण ग्राह्यान्तर से व्यवच्छिन्न के रूप में करता है, तो विज्ञान सविकल्पक हो जायगा। ऐसा कोई 'विशेष' नहीं है जो 'सामान्य' से अस्पष्ट हो; और यदि ग्रहण में उस (सत्ता नामक सामान्य) का इन्द्रियज्ञान से संस्पर्श नहीं माना जाय, तो 'सत्ता' से रहित होने के कारण विशेष गृहीत नहीं हो सकता।¹⁹⁰ पुनश्च, यह कथन कि विशिष्ट विषयक बोध कल्पनात्मक नहीं होता, दुस्साहमात्र है। वस्तुतः, विशेष के सम्बन्ध के बिना वैशिष्ट्य संभव नहीं है। 'जब इन' विशेषों का ज्ञान वैषम्यभाव (असाधारण रूप) से अथवा समभावेन (सामान्य रूप से) होता है, तो वे अपने में विशेष अथवा सामान्य की स्थिति को इंगित करते हैं।¹⁹¹ अकलंक कहते हैं कि 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और तदनुकारी सविकल्पक प्रत्यक्ष का विषय एक ही रहता है; सविकल्पक प्रत्यक्ष बाद के ज्ञानव्यापार द्वारा बाधित नहीं होता; यह उसे नियत करता है जो उसके पूर्व अनियत था; प्रत्यक्ष का अन्य वस्तु की कल्पना के साथ (अन्य वस्तु के सविकल्पक ज्ञान के साथ) सहअस्तित्व संभव है; वैशिष्ट्य इसका स्वाभाविक धर्म है, क्योंकि यह इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य है। वस्तुतः, सविकल्पक प्रत्यक्ष में स्मृति रूप की स्थिति होती है, किन्तु उसका नियंत्रण एवं प्रत्याह्वान तत्सम्बद्ध इन्द्रिय-विषय के सम्पर्क से होता है। यहाँ पर कल्पना की अनियंत्रित या मनमानी उड़ान नहीं होती और ध्यान प्रत्यक्ष-उपस्थित विषय पर ही केन्द्रित रहता है। पुनश्च, परंपरा अथवा वस्तु के नाम की स्मृति का सविकल्पक प्रत्यक्ष में अस्तित्व उसे प्रत्यक्षात्मक या साक्षात्कारित्व विशेषता से विरहित नहीं कर सकता। यद्यपि, सविकल्पक प्रत्यक्ष के घटित होने के पहले ही हम वस्तु के परंपरागत नाम का स्मरण करते हैं, तथापि, 'स्मृतनाम' सविकल्पकप्रत्यक्ष में से उसके साक्षात्कारित्वरूप विशिष्टता को समाप्त नहीं कर देता। अतः, प्रत्यक्षप्रमाण सविकल्पक

ही होता है।¹⁹²

आचार्य शान्तरक्षित एवं कमलशील ने इन आक्षेपों का विस्तार से सटीक उत्तर दिया है। उनका कहना है कि अन्य सजातीय एवं विजातीय से व्यावृत्त अर्थ का ग्रहण करने के कारण विज्ञानविशिष्ट अर्थ (विशेषता से युक्त अर्थ) के बोध की बात हम करते हैं, विशेषण के संग (सम्बन्ध) की बात नहीं। 'वैशिष्ट्य' का अर्थ होता है 'भेद'; विशेषणसंगति को वैशिष्ट्य नहीं कहते। किन्तु 'यह भिन्न है' इसकी भी प्रतीति शब्द से अनुविद्ध होने के रूप में नहीं होती। स्वभाव से अन्य सभी पदार्थों के व्यतिरेक के रूप में अर्थ का ग्रहण हो जाने पर ही, उसमें उस प्रकार के विकल्प की उत्पत्ति होती है।¹⁹³ पुनश्च, आप सुमति यदि 'वैषम्यभाव' और समभाव को प्रविभक्त मानें, तो 'सामान्य' के 'विशेष' से व्यतिरिक्त होने की बात पूर्ववत् ही (पहले जैसी ही) रहेगी, और यदि इनको आप अविभक्त मानें, तो दोनों में असंकीर्ण स्थिति कैसे हो सकेगी; तथा इसके अतिरिक्त अन्य गति तो है नहीं (उन्हें जानने का अन्य मार्ग नहीं है)। 'विशेष' (स्वलक्षण) का ग्रहण निर्विशेष रूप में होता है ऐसा कहना आत्मविरोधी बात है। 'विशेष' (स्वलक्षण) का अपने स्वरूप (विशेष) से अन्य कोई भेदलक्षण नहीं होता। अतः 'विशेषरूप' का स्पर्श यदि न हो, तो 'विशेष' के ग्रहण की बात कैसे कही जा सकती है? यदि यह माना जाय कि अनेक वस्तुओं (अनेक भिन्न वस्तुओं, भेदों) का ग्रहण होता है, तो, यदि उनके रूप का (भेद रूप का) संस्पर्श होता है और ग्रहण होता है, तो, गृहीत से अव्यतिरिक्त (अभिन्न) होने के कारण 'विशेषों' का गृहीतवत् ग्रहण होगा। अतः, भेदों के विषय में (अनेक भिन्न वस्तुओं के प्रसंग में) जिस ज्ञान को आप सामान्य विषय को ग्रहण करने वाले के रूप में मानते हैं वह सविकल्पक हो जायगा।¹⁹⁴

जहाँ तक अकलंक की आलोचनाओं का प्रश्न है, वे तबतक मान्य नहीं हो सकती जबतक कि बौद्ध दृष्टि की प्रत्यक्षविषयकधारणा के मूल में स्थित क्षणभंगवाद की तात्त्विकव्यवस्था खण्डित नहीं होती। आलोचना का अर्थ है, किसी भी सिद्धान्त में उसी ही सिद्धान्त की दृष्टि से आत्मविरोध प्रदर्शित करना, अथवा सिद्धान्त का व्यावहारिक स्थितियों के विश्लेषण में अपर्याप्त होना। इस दृष्टि से विचार करने पर अकलंक की आलोचना बौद्धमत को प्रभावित नहीं कर पाती।¹⁹⁵

‘प्रत्यक्षं अभ्रान्तम्’

‘अभ्रान्त’ पद का प्रत्यक्षलक्षण में ग्रहण ‘न्यायबिन्दु’ एवं प्रमाणविनि० में हुआ है। टीकाकारों में इस पर पर्याप्त विवाद हुआ है और इस बात को लेकर वे दो शिविरों में विभक्त हो गये हैं कि ‘न्यायबिन्दु’ को लिखने में आचार्य का ध्येय क्या था? एक

शिविर यह मानता है कि 'न्यायबिन्दु' के कुछ वाक्यों का आशय योगाचार एवं सौत्रान्तिक दोनों मतों का संग्रह करना है। दूसरे शिविर के लोगों का आग्रह है कि सौत्रान्तिकनय की दृष्टि से आचार्य ने 'न्यायबिन्दु' की रचना की है क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण के प्रसंग में 'स्वलक्षण' का स्वरूप विवेचन आदि ऐसे तथ्य हैं जो यह प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त हैं कि यह ग्रन्थ सौत्रान्तिक मत का ही है। इन लोगों का यह भी कहना है कि योगाचार की दृष्टि से तो बाह्यार्थ की सत्ता केवल सांवृतिक है, पारमार्थिक नहीं। फलतः, प्रमाणमीमांसा का विवेचन व्यावहारिक दृष्टि से ही संभव है। 'परमार्थ' अवाच्य है तथा स्वसंवेदन का विषय है, अतएव, इससे तो व्यवहार का उद्देश्य चरितार्थ होने से रहा। यदि व्यावहारिक स्तर पर प्रमाण-प्रमेय का विवेचन करना है, तब तो, सौत्रान्तिक मत का ही आलम्बन लेना होगा। दूसरे शब्दों में, व्यावहारिक दृष्टि से बाह्य पदार्थ का अस्तित्व स्वीकार करके जो व्यवस्था करनी हो वह सौत्रान्तिक मत के ही अनुसार की जा सकती है, अन्य अबोध दर्शनों का आश्रय लेकर नहीं।¹⁹⁶ इस धारणा के पीछे आशय यह है कि प्रमाण और प्रमेय विषय की अन्यत्र प्रसिद्ध व्यवस्था का निराकरण करके तदनन्तर सौत्रान्तिक नय के अनुसार सांवृतिक व्यवस्था स्थिर कर यह प्रदर्शित करना आसान है कि यह व्यवस्था पारमार्थिक दृष्टि से किस प्रकार अनुपपन्न या असंगत है। आचार्य धर्मकीर्ति ने इसी व्यवस्था को ध्यान में रखकर 'न्यायबिन्दु' में सौत्रान्तिक नय के अनुसार बाह्यार्थ में प्रमाण-प्रमेय व्यवस्था को स्थिर कर 'प्रमाणवार्तिक' में पारमार्थिक दृष्टि से सौत्रान्तिक व्यवस्था की असंगति प्रदर्शित कर बाह्यार्थ का खण्डन किया एवं विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि की। वे स्वतः —

कार्यसम्बिद्; यदेवेदं प्रत्यक्षं प्रतिवेदनम्।

तदर्थवेदनं केन तादृष्याद् व्यभिचारि तत्॥

प्र-वा- 2/320

ऐसा लिखकर आगे विशद विवेचन के द्वारा विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि करते हैं। प्रथम शिविर में तात्पर्य निबंधन-टिप्पणीकार तथा उनके द्वारा पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत अन्य व्याख्याकार तथा टीकाटिप्पणी एवं 'धर्मात्तरप्रदीप' में पूर्वपक्ष के रूप में उत्थापित व्याख्याकार आते हैं। दूसरे पक्ष के सबसे प्रबल समर्थक आचार्य 'दुर्वेक मिश्र' हैं। 'न्यायबिन्दुटीकाटिप्पणी' के रचयिता भी इसी मत के समर्थक हैं। दलसुखगार्ह मालवणियाँ ने धर्मात्तरप्रदीप की अपनी प्रस्तावना में तात्पर्यनिबन्धन नामक टिप्पणकार के मत को उद्धृत करते हुए बतलाया है कि वे प्रत्यक्ष लक्षण को योगाचार एवं सौत्रान्तिक दोनों मत का संग्रह करने की दृष्टि से किया गया बतलाते हैं।¹⁹⁷

'तात्पर्यनिबन्धनकार' का अभिमत है कि आचार्य धर्मकीर्ति ने इस विप्रतिपत्ति का निराकरण करने के लिए कि द्विचन्द्रादि भ्रान्ति का निराकरण 'कल्पनापोढ' पद से किया गया है, क्योंकि, वे मानसी - भ्रान्तियाँ हैं, इन्द्रियज नहीं, अतएव 'प्रामाणवार्तिक' में 'अभ्रान्त' का उल्लेख नहीं हुआ है निराकरण करने के लिए 'न्यायबिन्दु' में 'अभ्रान्त' पद का प्रयोग किया है।¹⁹⁸

किन्तु 'न्यायबिन्दु-टीका-टिप्पणीकार एवं आचार्य दुर्वेक' इससे सहमत नहीं हैं। 'न्यायबिन्दु-टीका-टिप्पणीकार' लिखते हैं¹⁹⁹ - 'अभ्रान्त' पद अविश्ववादी के अर्थ में नहीं है, अपितु अर्थक्रियासमर्थवस्तुरूप आलम्बन में जो अविपर्यस्त है, अन्यथाग्राही नहीं है, वह 'अभ्रान्त' है। यदि, यह कहा जाय कि 'अभ्रान्त' पद की उपर्युक्त परिभाषा देने पर योगाचार मत का असंग्रह होगा, तो, इसका उत्तर यह है कि आचार्य द्वारा यह लक्षण बाह्य नय के आश्रय से सौत्रान्तिक दृष्टि से ही है और यह अदोष है। योगाचार मत से अभ्रान्त का ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि संवादक सम्यग्ज्ञान तो प्रस्तुत ही रहता है तथा अन्यव्यावर्त्य का अभाव रहता है। आचार्य दुर्वेक²⁰⁰ भी उपर्युक्त मत की पुष्टि करते हुए लिखते हैं - इहाविसंवादकत्वमभ्रान्तत्वमभिप्रेतम्। तेन द्विचन्द्रादिज्ञानं व्यवच्छिन्नम्, योगाचारमतमपिसंगृहीतं भवतीति पूर्वव्याख्यानमवमन्यमानोऽभ्रान्त-शब्दस्यार्थमाह - अभ्रान्तम् इति।। ध0प्र0, पृ0-42।

यहाँ हमें सौत्रान्तिक नय की दृष्टि से 'अभ्रान्त' पद के विश्लेषण पर अवश्य विचार कर लेना चाहिए। आचार्य दुर्वेक ने बड़े ही पाण्डित्यपूर्ण ढंग से विविध पूर्वपक्षों को प्रस्तुत कर 'अभ्रान्त' पद की ऐसी सूक्ष्म विवेचना प्रस्तुत की है जो बौद्धन्याय में अपने ढंग की एक ही है और अनूठी भी। आचार्य धर्मोत्तर ने "अभ्रान्तमर्थक्रियाक्षमे वस्तुरूपेऽविपर्यस्तमुच्यते। अर्थक्रियाक्षमं वस्तुरूपं सन्निवेशोपाधिपूर्णात्मकम्। तत्र यन्न भ्राम्यति तदभ्रान्तम्" इस रूप में अभ्रान्त का लक्षण किया है।²⁰¹ इसी प्रकार दुर्वेक मिश्र भी कहते हैं कि यहाँ 'अभ्रान्त' को अविश्ववादक के अर्थ में नहीं लेना चाहिए। 'अनर्थ का भी वस्तुतया अध्यवसाय होता है, तो वह भी अर्थक्रियासमर्थ हुआ', इस आशंका का उत्तर दुर्वेक 'सन्निवेशोपाधिपूर्णात्मकम्' की व्याख्या से देते हैं। सन्निवेश का अर्थ है 'चक्षुरस्रत्वादि आभास धर्म'। यह जिस वर्ण अर्थात् वस्तुशब्दवाच्य शुक्लादि परमाणु के संघात का, विशेषण हो उसे सन्निवेशोपाधिपूर्णात्मक' कहते हैं। सन्निवेश अर्थात् संरचनाविशेष या चारकोणों वाली या किसी आकार वाली होना। यह वस्तु का वास्तविक धर्म नहीं, अपितु प्रतिभास का धर्म है। वह वस्तु में भासित मात्र होता है। विशेष प्रकार के सन्निवेश (संरचना) के कारण रूपादि परमाणु घट आदि के रूप में जल लाना आदि अर्थक्रिया में समर्थ होते हैं। अतः, सन्निवेश-विशिष्ट परमाणुक्रिया ही

वस्तु का अर्थक्रियासमर्थ रूप है, इससे भिन्न नहीं। इसे दिखलाने के लिए 'आत्मकम्' शब्द का प्रयोग धर्मोत्तर ने किया है। किन्तु इस व्याख्या को चाक्षुषज्ञान के विषय के अभिप्राय से कहा गया है। इस कथन, (अर्थात्, सन्निवेशोपाधिवर्णात्मकम्), के द्वारा आचार्य धर्मोत्तर यह सूचित करते हैं कि परमाणुप्रचय मात्र का ही अर्थक्रियाकारित्व है, अवयविन् में अर्थक्रियाकारित्व नहीं होता, क्योंकि वह असत्त्वरूप है। न भ्राम्यति का अर्थ है 'अन्यथाग्राही' नहीं होना।²⁰²

धर्मोत्तर के आशय को स्पष्ट कर दुर्वेक तदनन्तर इस पर विवेचन सौत्रान्तिक दृष्टि से करते हैं। पहला पूर्वपक्ष वे इस प्रकार उपस्थित करते हैं — आप (बाह्यार्थवादी) के मत में परमाण्वर्थ ही बाह्यवस्तु है और सभी विज्ञान उन परमसूक्ष्म परमाणुओं में ही, आभासरूप से उत्पन्न होते हैं, तो किस तरह से कोई अभ्रान्त ज्ञान सिद्ध होगा? उत्तर में दुर्वेक मिश्र कहते हैं 'एकसागरीजन्मनां परमाणूनां भिन्नदेशस्वभावानां तद्धेतुत्वभावतच्छायालोकपरमाणुस्वभावेनान्तरेण रहितत्वान्निरन्तरत्वेन प्रतिभास एव देशवितानावभासात्मा स्थौल्यं नापरं किंचित्। तत्र तथाभूतपरमाणुसमुदायनिष्ठं निर्विकल्पकं विज्ञानं कथं भ्रान्तं स्यात्?'²⁰³ एक हेतुसामग्री से जन्म है जिनका, तथा भिन्न देश और भिन्न स्वभाव है जिनका, अथवा भिन्न देश में रहना जिनका स्वभाव है, ऐसे परमाणुओं का, छाया और आलोक के हेतु के नहीं होने से (अर्थात् छाया और आलोक के परमाणु के (वहाँ) न होने से) उनसे होने वाले छाया और आलोक स्वभाव वाले परमाणु के व्यवधान से रहित होने के कारण, निरन्तरत्वेन प्रतिभास ही देशवितानावभासरूप स्थूलता है, स्थूलता कोई दूसरी चीज नहीं। ऐसी स्थिति में तथाभूत जो परमाणुसमुदाय हैं और तन्निष्ठ जो निर्विकल्पक विज्ञान है वह कैसे भ्रान्त होगा?²⁰⁴ अभिप्राय यह है कि सौत्रान्तिक बौद्धों के अनुसार परमाणुओं के मध्य व्यवधान यदि हो, तो वह छाया या आलोक रूप से होगा। छाया और आलोक दोनों आकाशस्वरूप हैं।²⁰⁵ फिर भी छाया और आलोक विनष्ट तथा उत्पन्न अपने-अपने कारण से होते हैं।²⁰⁶ छाया भी परमाणुरूप है और आलोक भी। अतएव, दो परमाणुओं के मध्य यदि कोई व्यवधान हो तो, वह छाया — आलोक रूप होने से परमाणुरूप हुआ, और इस प्रकार कोई अन्तर नहीं हुआ। इसी कारण परमाणु निरन्तरत्वेन आभासित होते हैं। पुनश्च, अनेक परमाणु का अनेक देश में होने के ज्ञान को यहाँ स्थूलावभास कहा गया है। यदि एक ही देश में अनेक परमाणुओं का अवभास हो, तो ज्ञान भ्रान्त होगा, अन्यथा नहीं। स्थूलावभास में अनेक परमाणु का प्रतिभास अनेक देश में है। वे परमाणु अपनी कारण-सामग्री से उत्पन्न हुए हैं, किन्तु एक सामग्री से उत्पन्न होने के कारण निरन्तर देश से स्थूलावभास के कारण बनते हैं। व्यवधान यदि होगा तो वह अपने कारण से उत्पन्न

होने वाले छाया परमाणु या आलोक परमाणु का होगा। छाया और आलोक के परमाणु वहाँ हैं नहीं, अतएव व्यवधान भी नहीं। यही कारण है कि स्थूलावभास होता है। यदि व्यवधान होता, तो स्थूलावभास भी नहीं होता। दुर्वेक के उपर्युक्त कथन का मूल आशय यह है कि अनेक परमाणुओं के बीच में छाया और आलोक नहीं है, अतएव, वे निरन्तर हैं और यही स्थूलावभास का कारण बनता है। अतएव, उपर्युक्त प्रकार से उत्पन्न होने वाले परमाणु में निष्ठ निर्विकल्पक विज्ञान अर्थात् कल्पनापोढ विज्ञान भ्रान्त नहीं होगा, अपितु अभ्रान्त ही होगा। ज्ञान तभी भ्रान्त कहलायेगा यदि एक-एक परमाणु अनेक देश को आश्रय करके प्रतीति का विषय बनाया जाय, परन्तु यहाँ अनेक परमाणु अनेक देश को आश्रय करके ज्ञान के विषय हो रहे हैं। अतएव, यह ज्ञान अभ्रान्त हुआ। इस रूप से भी भ्रान्त ज्ञान हो सकता है यदि भिन्नदेश वाले परमाणुओं को एकदेशस्थित समझें, किन्तु यह भी बात नहीं है, क्योंकि अणुमात्रक पिण्ड का प्रतिभास नहीं होता है। एक देश के ग्रहण में भी पिण्ड अणुमात्रक भासित होता है, न कि वितत या फैले हुए देश के रूप में। पुनश्च, अनेक का ग्रहण भ्रम नहीं है। भ्रम का तो अतस्मिन् तत्प्रत्यय के साथ तादात्म्य है। अतएव, हमारा आशय यह है कि ज्ञान अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान से ग्राह्य बहुत से परमाणुओं को व्यवहार में स्थूल ऐसा कहा जाता है। अनेक देश में रहने वाले और अनेक स्वभाव वाले परमाणु के प्रतिभास के आश्रय से व्यवस्थाप्यमान होने के कारण यह स्थूल है इसे हमारे आचार्यगण प्रतिभासधर्म कहते हैं। दूसरे शब्दों में स्थूलता की व्यवस्था ज्ञान से होती है, अतएव, वह ज्ञान का धर्म है, वस्तु का नहीं, क्योंकि हमारे (अर्थात् बौद्धों के) ज्ञान की अनेक परमाणुओं में परिसमाप्ति होती है, एक परमाणु में नहीं।²⁰⁷ उपर्युक्त सारे विवेचन से स्पष्ट है कि सौन्नान्तिक दृष्टि से धर्मकीर्ति आदि का पक्ष है कि 'प्रत्यक्ष 'स्वलक्षण' विषयवाला होता है, अतएव प्रत्यक्ष वह होगा जो परमाणु के 'स्वलक्षण' का ग्राही हो। स्थूलता वस्तु या स्वलक्षण का धर्म नहीं है, ज्ञान का धर्म है। मुख्य ध्यातव्य तथ्य यह है कि परमाणु अर्थ जो कि बाह्य वस्तु है, और इसकी आभासित स्थूलता क्या एक ही है? यदि दोनों एक ही हैं, तब तो, पूर्वपक्ष द्वारा उठाये गये आक्षेप का उत्तर संभव नहीं, किन्तु बाह्यवस्तु और स्थौल्य यदि दो चीजें हैं, तो, परमाणु को बाह्य वस्तु मानते हुए भी स्थूलाभासज्ञान की व्याख्या हो सकती है और इनमें कोई दोष नहीं होगा। आचार्य दुर्वेक मिश्र इसी पक्ष से उत्तर देते हैं। उन्होंने ऊपर यह प्रदर्शित किया है कि बाह्यवस्तु और स्थौल्य दोनों अलग हैं। परमाणु बाह्यवस्तु है किन्तु वह स्थूल नहीं है। परमाणु का स्थूलावभासरूप ज्ञान जब होता है तो यथार्थस्थिति वहाँ दूसरी होती है।

स्थूलावभास प्रतिभास धर्म है, वस्तुधर्म नहीं। स्थूलावभास कई प्रक्रियाओं का

संघात है। सत्यता यह है कि परमाणु भिन्न देशवर्ती होते हैं, किन्तु समानकारण-सामग्रियों से उत्पन्न होने की स्थिति में, देशवितान में विस्तृत हो जाने के कारण उन्हीं परमाणुओं से स्थौल्य-प्रतीति होने लगती है, क्योंकि सामान्यस्थिति में एक कारणसामग्री — जन्मता नहीं रहती, इसलिए परमाणुओं का सहजस्वभाव छाया और आलोक नहीं दिखलायी पड़ेगा और तन्मूलक व्यवधान भी दिखलायी नहीं पड़ेगा। सभी बौद्ध परमाणु को जन्मने वाला मानते हैं। एक ही क्षण में परमाणु का उत्पाद स्थिति एवं भंग होता रहता है और यह स्थिति चलती रहती है। अतएव, भिन्नदेश स्वभाव वाले तथाभूतपरमाणु छाया और आलोक के हेतु के नहीं होने की स्थिति में, उनसे होने वाले छाया और आलोक स्वभाववाले परमाणु व्यवधान रहित होंगे और उनकी प्रतीति देशवितानावभासरूप होगी। यही देशवितानावभासरूप प्रतिभासरूप ही स्थौल्य है, उससे अपर और कुछ स्थूलता नहीं है।

ऐसा समाधान कर चुकने के बाद दुर्वक 'अभ्रान्त' के विरोध में एक अन्य पूर्वपक्ष उठाते हैं — 'उपर्युक्त स्थिति के होने पर भी परस्पर असम्बद्ध स्वभाव वाले परमाणुओं को सम्बद्धरूप में ग्रहण करता हुआ स्थूलावभासरूप ज्ञान कैसे अविपर्यस्त हुआ? आशय यह है कि परस्पर परमाणु असंसृष्ट हैं अतएव, स्थूलता में संसृष्ट रूप में जो ग्रहण होता है वह कैसे अन्यथाग्राही नहीं हुआ? दुर्वक उत्तर देते हैं— आप परमाणु के जिस असंसृष्ट स्वभाव को लेकर ज्ञान में उसके विपरीत ग्रहण को भ्रान्त ज्ञान कहकर वर्णित कर रहे हैं, उससे आपको क्या इष्ट है, असंसृष्ट से आप का क्या अभिप्रेत है? यदि नानारूपत्व, अथवा नानादेशत्व, अथवा विजातीयरूप के द्वारा व्यवहितत्व, अथवा इन्द्रियान्तर से ग्राह्य अर्थ से व्यवकीर्णत्व आपको असंसृष्टत्व इष्ट हो, तब तो, आपका यह अभिप्रेत अयुक्त है, क्योंकि असंसृष्ट ही परमाणु सर्वदा गृहीत होते हैं और इस कारण कोई संसृष्टग्रह संभव नहीं है। पुनश्च, संसृष्टग्रह इस कारण भी संभव नहीं है, क्योंकि विततदेश स्वभाव वाले (परमाणुओं) का ही अवभासरूप होता है। यदि वे एकरूप भासित होवें, तो जो अणुमात्र है वह पिण्डभासित होगा और तब विततदेश का आभासरूप नहीं होगा। यदि नानादेशत्व से असंसृष्टत्व अभिप्रेत हो, तो भी कोई संसृष्टग्रह संभव नहीं होता है, क्योंकि नानादेशवाले नील परमाणु नानादेश में ग्रहीत किये जाते हैं। हमने पहले यह कहा है कि एकदेशत्व के भासन में ही पिण्ड अणुमात्रक भासित होता है। यदि विजातीयरूप द्वारा व्यवहितत्व को आप असंसृष्टत्व कहते हों, तब उसके असंभव होने के कारण ही उसके विपरीत का ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि रूपान्तर के व्यवधान से जो रहित है वे ही निरन्तर नीलपरमाणु हैं ऐसा हमारा सिद्धान्त है, और जब वे तथाभूतरूप में भासित होते हैं, तो विभ्रम कैसे हुआ?

तथाभूतरूप में भासित निरन्तरनीलादि परमाणु अभ्रान्त हैं, क्योंकि मध्यवर्ती विजातीय आलोकादि के परमाणुओं की उत्पत्ति नहीं होती और उनका प्रतिभासन नहीं होता।²⁰⁸

उपर्युक्त विवेचन के बाद भी यदि यह पूर्वपक्ष उपस्थित किया जाय कि छाया और आलोक परमाणु उत्पन्न होते हुए किसके द्वारा रोके जाते हैं या प्रतिबद्ध हैं कि वे उत्पन्न नहीं होते। यह कहना आप के लिए शक्य नहीं है कि दो परमाणुओं के मध्य में परमाणु के अन्तराल (अन्तर, व्यवधान) का अवकाश नहीं है। इस कारण निरवयव परमाणु सर्वत्र सावकाश हैं।²⁰⁹ दुर्वेक का उत्तर है, यह सत्य है। केवल अवकाश के अभाव के कारण ही छाया और आलोक के परमाणु की उत्पत्ति नहीं होती है, ऐसी बात नहीं है, अपितु हेतु का अभाव होने के कारण छाया और आलोक के परमाणु उत्पन्न नहीं होते हैं। पुनः, आशंका की जाती है कि किस कारण से हेतु संभव नहीं होता है? स्वहेतु के अभाव के कारण यदि यह उत्तर हो तो वह अपर्यनुयोग की स्थिति होगी (आप के पक्ष को न सिद्ध कर विरोधी के पक्ष को सिद्ध करेगी) और यदि ज्ञानेन्द्रियग्राह्य स्पर्शादि से व्यवकीर्णत्व को आप असंसृष्टत्व मानते हों, तब इसका आशय यह हुआ कि वे विज्ञान संसृष्ट परमाणुओं का ग्रहण करते हैं, जिसका अर्थ यह हुआ कि विज्ञान इन्द्रियान्तरग्राह्य शून्य को ग्रहण करता है। उत्तर है कि ऐसा होने पर कुछ भी अनिष्ट नहीं है।²¹⁰ कारण बतलाते हुए दुर्वेक कहते हैं — "तथाहि, यदि नामेन्द्रियान्तरग्राह्यस्पर्शादिर्न गृह्यते तथापि नीलरूपं तावत् स्वदेशस्वभावस्थितं गृह्यत एव। न च भिन्नेन्द्रियग्राह्यशून्यानां स्वरूपं गृह्यमाणं विपरीतं गृहीतं भवति। देशकालाकाराणामेकस्याप्यविपर्यासात्। न च अग्रहो भ्रम इति।²¹¹ अर्थात्, इन्द्रियान्तरग्राह्यस्पर्शादि गृहीत नहीं होते हैं, तथापि उस समय स्वदेश एवं स्वभाव स्थित नीलरूप गृहीत होता ही है। भिन्नेन्द्रियग्राह्य से जो रहित है उनका गृहीत किया जाता हुआ स्वरूप विपरीत गृहीत नहीं होता है, क्योंकि देश, काल और आकार में से किसी एक का भी अन्यथाग्रहण नहीं होता। अग्रहण भ्रम नहीं है।²¹²

'परमाणुओं का अन्तराल, वा व्यवधान आकाशरूप है। परमाणु सान्तर प्रतिभासित नहीं होते, तो, यह अन्यथाग्रहण कैसे नहीं हुआ? दुर्वेक पूछते हैं — आकाश क्या है? यदि आकाश अन्यरूपवाला है, तो ऐसा नहीं है, यह हम कह चुके हैं। यदि आकाश स्पर्शादि के स्वरूप का है, तो, वहाँ भी, पहली या पूर्वकथित असंगति को हमने कहा है। यदि आकाश सप्रतिध द्रव्य का अभाव है, तो ऐसी स्थिति में भी वह अवस्तु है। अतएव, यह सिद्ध हुआ कि अन्तर या व्यवधान कुछ भी नहीं है। तब इसका यह अर्थ हुआ कि परमाणु निरन्तर हैं और निरन्तर परमाणु ही भासित होते हैं। तो क्यों कहा जाता है कि व्यवधान या अन्तर आकाश है, और वह प्रतिभासित नहीं होता है? 'दुर्वेक

का उत्तर है कि जो शशविषाण की भाँति अत्यन्त असत् है वह कैसे भासित होगा।²¹³

आकाशस्वरूप होने पर भी, व्यवधान का अभाव होने पर परमाणु में रूपसंसर्ग की प्रसक्ति हो जायेगी, यदि यह आशंका की जाय, तो हमारे सिद्धान्तानुसार यह दोष नहीं है। हम बौद्ध यह नहीं कहते कि परमाणुओं का रूप एक है, किन्तु देश एक नहीं है : अपितु हम यह मानते हैं कि परमाणु भिन्न रूप, देश में उत्पन्न होने वाले हैं, मध्यवर्तीविजातीयरूप से रहित होते हैं और उसी रूप में ही भासते हैं, तो, हमारे लिए रूपसंसर्ग का प्रसंग कैसे होगा?²¹⁴

यह आशंका की जा सकती है कि रसादि देश में तो नीलरूप प्रतिभासित होता है, तो, अतदेश को तद्देश के द्वारा ग्रहण करता हुआ विज्ञान अभ्रान्त कैसे हुआ? हमारा उत्तर है कि जब देश प्रतिभासित होता है, तो, उस समय उस प्रतिभासमान देश में जो अर्थ प्रतिभासित होता है वह देशविशिष्ट कहा जाता है। और यदि रसादि चक्षुर्विज्ञान में प्रतिभासित हो, तब तद्देशव्यापीनील के गृहमाण होने पर विज्ञान भ्रान्त होता। यहाँ रसादि प्रतिभासित नहीं होता है, क्योंकि जो अन्य इन्द्रियग्राह्य है उसका अन्य इन्द्रिय के ज्ञान के प्रतिभास में अयोग है। तो उस देश में नील का ग्रहण कहाँ से होता है? नील ही भासमान देश है, कोई देश कहीं आभासित नहीं होता है। इन्द्रियान्तरग्राह्य का अप्रतिभास ही शुद्धप्रतिभास है। शुद्धप्रतिभास ही निरन्तर या व्यवधान-रहित प्रतिभास है। अतः, व्यवधान रहित या निरन्तर नीलपरमाणु गृहीत होते हैं। इसी कारण स्वदेश स्थायी नील परमाणु स्वरूप से ही गृहीत होते हैं। अतएव देश, काल और आकार में से एक का भी परित्याग न करने के कारण नीलाभासविज्ञान 'अभ्रान्त' है।²¹⁵

आचार्य धर्मोत्तर विनीतदेव से भिन्न रूप में 'अभ्रान्त' का अर्थ करते हैं। विनीतदेव के अनुसार 'अभ्रान्त' का अर्थ है 'अविसंवादक'। इससे कमलशील भी सहमत हैं। किन्तु धर्मोत्तर का कहना है कि यदि प्रत्यक्ष लक्षण में 'अभ्रान्त' का अर्थ अविसंवादक माना जाय, तब तो, धर्मकीर्ति के लक्षण का अर्थ इस प्रकार होगा — प्रत्यक्ष नामक जो अविसंवादक (सम्यक्) ज्ञान है वह कल्पनारहित और अविसंवादक (अभ्रान्त) होता है और ऐसा अर्थ निष्प्रयोजन ही होगा। अतः, प्रत्यक्ष का ग्राह्य जो अर्थक्रिया में समर्थ वस्तु रूप है, उसमें जो ज्ञान विपरीत नहीं होता, उसे यहाँ अभ्रान्त समझना चाहिए। पुनश्च, धर्मोत्तर यह मानते हैं कि 'कल्पनापोद' एवं 'अभ्रान्त' ये दोनों पद विप्रतिपत्ति के निराकारण के लिए हैं और अनुमान की निवृत्ति गौण प्रयोजन है, जबकि विनीतदेव कहते हैं कि 'अभ्रान्त' का अर्थ अविसंवादक है और कल्पनापोद शब्द अनुमान की निवृत्ति के लिए है। मोक्षाकार गुप्त भी इस प्रसंग में धर्मोत्तर से सहमत होते

हुए लिखते हैं कि 'अर्थक्रियासमर्थ' वस्तु में विपर्यस्त ज्ञान भ्रान्त कहलाता है। अर्थक्रियासमर्थ वस्तु का स्वरूप देश, काल और आकार से नियत होता है। अतः, विपरीत प्रतिभासित होने वाले ज्ञान से उसका साक्षात्कार नहीं हो सकता। इसे आचार्य धर्मकीर्ति ने भी कहा है कि 'जिसमें रतौंधी, शीघ्रता से घूमना (जैसे मशाल आदि का शीघ्रता से घूमना), नाव से जाना, कफ, बात आदि के प्रकोप द्वारा भ्रम उत्पन्न नहीं किया जाता, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है।'²¹⁶

आचार्य धर्मोत्तर यह मानते हैं कि 'कल्पनापोढ' और 'अभ्रान्त' ये दोनों विप्रतिपत्ति का निकारण करने के लिए हैं, केवल अनुमान की निवृत्ति के लिए नहीं, क्योंकि लक्षण में कल्पनापोढ शब्द का ग्रहण करने से ही अनुमान की निवृत्ति हो जाती है। यदि, लक्षण में, 'अभ्रान्त' का ग्रहण न किया जाय, तो चलते हुए वृक्ष के दर्शन आदि भी प्रत्यक्ष कहलाने के पात्र होंगे, क्योंकि वह कल्पनापोढ रूप है। उस ज्ञान से प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति को गमन क्रिया से शून्य केवल वृक्ष की प्राप्ति होती है; इस प्रकार अर्थ का संवादक होने से वह प्रमाण है और कल्पनापोढ होने से प्रत्यक्ष है — ऐसी आशंका हो सकती है। इसी आशंका के निवारणार्थ 'अभ्रान्त' पद का उपयोग किया गया है। चलते हुए वृक्ष का दर्शन भ्रान्तियुक्त होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं है, त्रिरूप—हेतु से उत्पन्न न होने के कारण अनुमान नहीं है; और प्रत्यक्ष तथा अनुमान से भिन्न कोई प्रमाण है नहीं। अतः, चलते हुए वृक्ष का दर्शन आदि मिथ्याज्ञान हैं।²¹⁷ यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि धर्मोत्तर 'अभ्रान्त' का अर्थ 'अर्थक्रिया में समर्थ वस्तु के रूप से अविपर्यस्त' करते हुए यह भी प्रदर्शित करते हैं कि अनुमान भी भ्रान्तज्ञान है, क्योंकि उसका ग्राह्यविषय वस्तु का परमार्थसत् रूप नहीं। संसार में जिस घट, पट आदि को वस्तु समझा जाता है वह क्षणसंतति है जो अनेक वस्तु क्षणों, वर्णों तथा आकारों आदि का कल्पितसमुदाय मात्र है, वस्तु का सामान्यरूप है, परमार्थसत् वस्तु नहीं है। अनुमित अग्नि को वस्तु का परमार्थसत् रूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह दाहपाकादि अर्थक्रिया में समर्थ नहीं है। अतः, उसे अनर्थ कहते हैं। अनुमान द्वारा इस सामान्य अग्नि का ग्रहण करने के पश्चात् स्वलक्षण अग्नि का अध्यवसाय किया जाता है, तभी अर्थ में प्रवृत्ति होती है। लेकिन शंका यह उठती है कि धर्मोत्तर अनुमान को प्रमाण भी कहते हैं और अभी-अभी भ्रान्त ज्ञान भी, तो इसका रहस्य क्या है? वस्तुतः, धर्मोत्तर का आशय यह है कि अनुमान व्यावहारिक दृष्टि से प्रमाण है, क्योंकि वह अर्थ का अविस्वादक है; साथ ही अनुमान परमार्थतः भ्रान्तज्ञान है, क्योंकि वह वस्तु के अर्थक्रियाक्षम रूप के विपरीत होता है। इस प्रकार धर्मोत्तर 'अभ्रान्त' पद की व्याख्या व्यावहारिक और परमार्थसत् दोनों दृष्टि से करते हैं।²¹⁸ जहाँ अनुमान अपने द्वारा

हुए कहते हैं कि 'अभ्रान्तत्वश्चाचार्येणापवादद्वारेण प्रतिपादितम्' और 'अथवा' कहकर 'केवल कल्पनापोढता' के द्वारा ही प्रत्यक्ष की व्याख्या करते हैं।²²³ 'प्रत्यक्षाभासविचार' के प्रसंग में आचार्य धर्मकीर्ति के 'सतैमिर' की व्याख्या का क्या अर्थ लगाया जाय? क्या आचार्य दिग्नाग 'सतैमिर' को भी प्रत्यक्षाभास का प्रकार मानते थे और इसप्रकार कुल चार प्रत्यक्षाभास उन्हें मान्य थे, जैसा धर्मकीर्ति, जिनेन्द्रबुद्धि आदि बतलाते हैं?

आचार्य दिग्नाग ने प्र0सं0 7-8 की जिस कारिका में प्रत्यक्षाभास का निर्देश किया है, उसकी अपनी वृत्ति में वे लिखते हैं — "भ्रान्तिज्ञान प्रत्यक्ष नहीं, क्योंकि यह कल्पनाप्रसूत है, जैसे बालू के ऊपर तैर रहे वाष्प से होने वाला जलज्ञान। संवृतिसज्ज्ञान भी प्रत्यक्ष नहीं है, क्योंकि यह संवृतिसत् रूपी बाह्य वस्तु को अर्थ पर अध्यारोपित कर देता है और इस प्रकार इन बाह्य वस्तुओं के रूप-कल्पना द्वारा कार्य करता है। अनुमान एवं अनुमिति आदि भी प्रत्यक्ष नहीं, क्योंकि जिनका पहले प्रत्यक्ष हुआ है, उनकी कल्पना के द्वारा ये उत्पन्न होते हैं।²²⁴ स्पष्ट है कि वृत्ति में आचार्य दिग्नाग 'सतैमिर' का प्रत्यक्षाभास के एक प्रकार के रूप में उल्लेख नहीं करते; वे केवल तीन प्रत्यक्षाभासों (भ्रान्ति, संवृतिसज्ज्ञान एवं अनुमान, आनुमानिक, स्मार्त और अभिलाषित) का ही उल्लेख तथा विवेचन करते हैं जिनमें सभी कल्पनाप्रसूत हैं। एम0 हतौरी इस पर टिप्पणी करते हैं कि यहाँ तीन प्रकार के प्रत्यक्षाभास का नामोल्लेख अथवा विवेचन करने में वे 'वादविधि' का अनुसरण करते हुए लगते हैं, जिनमें कहा गया है कि उनमें दिया गया प्रत्यक्ष का लक्षण भ्रान्तिज्ञान, संवृतिज्ञान एवं अनुमानज्ञान का प्रभावकारी ढंग से निरास कर देता है। इस प्रकार, मैं 'सतैमिर' को प्रत्यक्षाभास के विशेषण के रूप में लेता हूँ, प्रत्यक्षाभास के एक अलग प्रकार का निर्देश करने के अर्थ में नहीं।²²⁵ किन्तु धर्मकीर्ति स्पष्टतया कहते हैं कि प्रत्यक्षाभास चतुर्विध है, तीन कल्पनाप्रसूत और एक इन्द्रियोपघातजन्य। आचार्य धर्मकीर्ति अपने पक्ष के लिए यह तर्क देते हैं कि आचार्य दिग्नाग ने 'सतैमिर' शब्द का प्रयोग 'प्रत्यक्ष' के अपने लक्षण में 'अपवाद' के लिए किया है, क्योंकि इन्द्रियोपघातजन्य ज्ञान कल्पना से रहित होता हुआ भी यथार्थ प्रत्यक्ष नहीं होता। इस प्रकार आचार्य धर्मकीर्ति, तथा जिनेन्द्रबुद्धि के लिए भी 'सतैमिर' का अर्थ है इन्द्रियोपघातज्ज्ञान (इन्द्रियोपघातजं तिमिरादि ज्ञानम्)।

आचार्य प्रज्ञाकर अपने भाष्य में धर्मकीर्ति के आशय की विस्तार से विवेचना करते हुए दिग्नाग के साथ उसकी संगति बैठाते हैं और इस प्रसंग में उठने वाली संभाव्य आपत्तियों का निराकरण करते हैं। वे कहते हैं कि प्रत्यक्षाभास द्विविध है — (1) विकल्पप्रत्यक्षाभास और (2) विप्लवप्रत्यक्षाभास। यही द्विविध प्रत्यक्षाभास विकल्प के त्रिधा भेद के कारण चार प्रकार का होता है।²²⁶ प्रत्यक्ष कल्पनापोढ होता है, इससे यह

निकलता है कि विकल्प के त्रिधा भेद के कारण तीन तरह का प्रत्यक्षाभास होता है। यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि किस कारण कल्पना के प्रभेद का निर्देश दिग्नाग द्वारा हुआ है? आचार्य धर्मकीर्ति इसके उत्तर में कहते हैं कि भ्रान्तिज्ञान और सांवृतज्ञान ये दो कल्पनाज्ञान अनिन्द्रियजत्व की सिद्धि के लिए भेदपूर्वक कहे गये हैं, क्योंकि हमसे अन्य दार्शनिक उनमें इन्द्रियजत्व की भ्रान्ति देखते हैं। मरीचिका में जलज्ञान को और घटादि में द्रव्य के ज्ञान को दूसरे लोग इन्द्रियप्रत्यक्ष मानते हैं। इस मत के निराकरण के लिए पूर्वोक्त दोनों प्रकार के कल्पनाज्ञानों का ग्रहण किया गया है। पुनश्च, 'अनुमानादि में, यद्यपि अनिन्द्रियजत्व सिद्ध है, फिर भी सिद्ध अनुमानादि के वचन को भ्रान्तिज्ञान और सांवृतज्ञान में अनिन्द्रियजत्व की सिद्धि के लिए समझना चाहिए।²²⁷ यहाँ यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि जो असिद्ध है वह असिद्ध के द्वारा साधित नहीं होता। यहाँ पर भ्रान्ति का कारण क्या है जिससे भ्रान्तिज्ञान और सांवृतज्ञान की सिद्धि होती है? धर्मकीर्ति सांवृतज्ञान और आरोपित कल्पना में प्रत्यक्षता की आशंका का कारण बतलाते हुए कहते हैं — 'संकेताश्रय कल्पना और अन्यार्थ समारोपकल्पना, चूँकि प्रत्यक्ष के अनन्तर होती हैं, अतः जो विमर्श करने वाले नहीं हैं उनके लिए कभी प्रत्यक्षता की भ्रान्ति का कारण होती हैं।²²⁸ जिस प्रकार उपर्युक्त कल्पना स्मरणादिरूप तथा पूर्वगृहीत संकेत की अपेक्षा रखने वाली है, और अनुमानादि परोक्ष अर्थ की कल्पना प्रत्यक्ष के विषयभूत अर्थ का अध्यवसाय नहीं करती है, किन्तु कल्पित अर्थ को ही गृहीत करती है, उसी प्रकार घटादि में 'यह घट है' ऐसा जो एकवस्तु-अध्यवसायी प्रत्यक्ष होता है वह संकेतकाल में 'व्यवहारलाघव' के लिए कल्पित द्रव्यादि के अनुभव के स्मरण के बिना नहीं हो सकता है। संकेतित तथा आरोपित अर्थ के अनुसार होने वाला 'यह घट है' 'यह जल है' ऐसा प्रत्यय प्रत्यक्ष से च्युत हो जाता है (ऐसे प्रत्यय को प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता), क्योंकि प्रत्यक्ष वस्तु (अर्थ, स्वलक्षण) को विषय बनाता है और संकेत की अपेक्षा रखने वाला प्रत्यक्ष अवस्तु को विषय बनाता है।²²⁹ आचार्य प्रज्ञाकर इसकी और विवेचना करते हुए कहते हैं कि अनुमानादि की कल्पना सम्बन्ध के ग्रहण की अपेक्षा रखती है और सम्बन्ध ग्रहण ही संकेत है। अतः सम्बन्ध के कारण परोक्ष अर्थ की प्रतिपत्ति होती है, प्रत्यक्षतः नहीं। यदि साक्षात् रूप से परोक्ष अर्थ की प्रतिपत्ति मानी जाय, तब तो, घटादि में भी एक इन्द्रिय के द्वारा रूपादि का ज्ञान यदि हो जाय, तो उससे शेष जो इन्द्रिय विषय हैं, जैसे रसादि, उनमें भी पहले के ही अनुसार, चूँकि स्मरण होता है, अतः, उनका भी ज्ञान हो जाना चाहिए। यदि, विरोधी कहे कि रसादि में ही स्मरण होता है, अवयविन् में नहीं, तो हमारा कहना है कि ऐसा नहीं है, क्योंकि रस के बिना उसका अनुपलक्षण नहीं होता। यदि, विरोधी कहे कि अवयवी 'यह जो शुक्ल है वही कर्कश है' इत्यादि प्रकार

की एकता की प्रतिपत्तिविषय वाला होता है, जैसे रंग तथा रूप की एकता नहीं है। यदि अवयवी नहीं होता, तो, एकत्व की प्रतीति ही नहीं होती। प्रज्ञाकर कहते हैं कि माना अवयवी है, तथापि रंग और स्पर्श आदि का समान अधिकरण कैसे है, क्योंकि उन दोनों में एकता नहीं। यदि, विरोधी कहे कि एकाधिकरणता के कारण एकता है, तो हमारा कहना है कि यह एकाधिकरणता उपचार मात्र है और यहाँ पर उपचार की प्रतिपत्ति तो होती नहीं। पुनश्च, उपचार की प्रतिपत्ति होने पर अवयवी की सिद्धि नहीं होनी चाहिए, क्योंकि, इससे अन्य प्रकार के भी उपचार के द्वारा सामान्याधिकरण्य संभव है।¹²⁹⁰ इस प्रकार वस्तुवादियों का खण्डन कर प्रज्ञाकर आचार्य धर्मकीर्ति के पक्ष का मण्डन करते हैं।

'सतैमिर' पद का प्रयोग आचार्य दिग्नाग ने किस प्रयोजन से किया, इसकी विस्तारपूर्वक चर्चा आचार्य प्रज्ञाकर करते हैं। वे कहते हैं कि 'कुछ लोग मानते हैं कि 'सतैमिर' भी सविकल्पक है (अतः), उसी का व्यावर्तन करने के लिए 'सतैमिर' पद का प्रयोग दिग्नाग ने किया, नहीं तो स्मार्तादि के ग्रहण से 'सतैमिर' का भी ग्रहण हो जाता। आचार्य प्रज्ञाकर कहते हैं कि यदि अविकल्पक ज्ञान, कल्पना से रहित होने के कारण, प्रत्यक्ष प्रमाण की स्थिति को प्राप्त होता है, तो भी, सभी कल्पनारहित ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होते, अपितु 'अभ्रान्त' होने पर वे प्रत्यक्ष होते हैं। इसीलिए, कहा भी गया है, — 'कल्पना रहित ज्ञान, जो कि अभ्रान्त हो, प्रत्यक्ष है; सभी कल्पनापोढ ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होते'। यदि विरोधी पूछे कि जिस 'सतैमिर' को 'अपवाद' कहा गया है, वह अपवाद क्या है, तो प्रज्ञाकर का उत्तर है कि त्रिविधविकल्पों से भिन्न यह जो चौथा 'सतैमिर' प्रत्यक्षाभास है उसका ग्रहण अपवाद है। 'कल्पनापोढ' रूप लक्षण के द्वारा प्रत्यक्ष का सामान्य रूप से विधान किया जाता है और 'सतैमिर' के द्वारा प्रत्यक्षाभास का विशेष रूप से विधान किया गया है। विशेष रूप से किया गया विधान सामान्य रूप से किये गए विधान का बाधक होता है। यदि प्रश्न किया जाय कि इसका क्या प्रमाण है, तो प्रज्ञाकर का उत्तर है कि हम यह पाते हैं कि सामान्य प्रतिपत्ति विशेष प्रतिपत्ति के द्वारा बाधित हो जाती है। पुनश्च, सामान्य और विशेष इन दोनों में से बाध्यबाधकभाव विशेष में रहता है, अतः उस अर्थ का सूचक जो वचन है वही बाध्यबाधकभाव है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि फिर किस कारण आचार्य दिग्नाग ने सामान्यरूप से दृष्ट अनुमान के कारण प्रत्यक्ष के लक्षण को कहा? प्रज्ञाकर का कहना है कि आचार्य दिग्नाग को केवल विशेषतया दृष्टानुमान अभिप्रेत है, ऐसा नहीं है, उसका जो अर्थ (विषय) है उसका एकवचन के द्वारा निर्देश नहीं किया जा सकता, अतएव, अपवादसहित लक्षण को आचार्य ने नहीं कहा। यदि प्रश्न उठाया जाय

कि फिर किस कारण से आचार्य दिग्नाग ने प्रत्यक्ष के लक्षण में 'कल्पनापोढ' के साथ 'अभ्रान्त' का भी ग्रहण नहीं किया? प्रज्ञाकर का उत्तर है कि गज के स्नान करने की बात को अंगीकार करने से क्या फायदा? अपवादरूप 'सतैमिर' का भी वही विषय समझना चाहिए जो 'अभ्रान्त' पद का है, अथवा 'अभ्रान्त' पद को किसी अन्य प्रकार से इस प्रसंग में समझिए, कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि विरोधी कहे कि कल्पना से रहित ज्ञान के अनन्तर जो होता है उसे 'सतैमिर' पद से लेना चाहिए, तो प्रज्ञाकर का कहना है कि विशेषाभाव के कारण ऐसा करना ठीक नहीं। कहा भी गया है — 'जो अर्थतः असमान है, आनन्तर्य उनका कारण नहीं होता'।²³¹

प्रश्न उठता है कि प्रत्यक्ष के लक्षण में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण दिग्नाग द्वारा नहीं किया जाता और उस स्थिति में उपर्युक्त तथ्यों के साथ प्रत्यक्ष की संगति कैसे बैठेगी? प्रज्ञाकर का कहना है कि यह सत्य है कि दिग्नाग ने प्रत्यक्ष लक्षण में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण नहीं किया। कारण यह है कि जो साक्षात्करणआकार वाला नहीं होता वह 'अभ्रान्त' नहीं होता, क्योंकि जो सविकल्पक होता है वह ज्ञान भ्रान्त होता है। हमारे विरोधी नैयायिकादि सविकल्पकज्ञान को भी साक्षात्करण आकार वाला तथा 'अभ्रान्त' समझते और मानते हैं। विरोधियों को ध्यान में रखकर आचार्य धर्मकीर्ति ने, प्रत्यक्ष के लक्षण को 'कल्पनापोढता एवं अभ्रान्तता' के रूप में कहा है, क्योंकि कहा भी गया है— 'जो विशेष लक्षण प्रत्यक्ष का दिया गया है वह बौद्धविरोधी दार्शनिक मतों की अपेक्षा से है; वैसे तो सभी प्रत्यक्ष अविकल्पक होते हैं'। अथवा, ये बाध्यबाधकतानय प्रतिपत्तृसापेक्ष होते हैं। जिसके बाधक को पहले नहीं देखा गया है उसका ज्ञान सामान्यरूप से होता है। अतः प्रज्ञाकर उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुकूल यह कहते हैं कि आप विरोधी (मीमांसक) आचार्य के अभिप्राय को नहीं जानते। यहाँ पर उन्हें 'विशेष' अभिमत है। जब बाधक का दर्शन हो जाता है तो उसके कारण 'विशेष' को भी बाद में प्रतिपत्तृ जान लेता है। वचन के अपौरुषेय होने पर, प्रमाणमूलत्व का अभाव होने के कारण बाध्यबाधकभाव की स्थिति नहीं बनेगी; किन्तु वचन के पौरुषेय होने पर, हमारे पक्ष में पूर्वबुद्धि की भ्रान्तता प्रमाणमूल अन्यज्ञान के द्वारा प्रकाशित होती है, वेद से भ्रान्तज्ञान का उदय नहीं होता। यदि विरोधी कहे कि मात्र 'तैमिर' ही बाधक है, कामलादि बाधक नहीं है, तो हमारा कहना है कि उसी कारण आचार्य धर्मकीर्ति ने सभी को (कामलादि, रतौधी आदि सभी को) ही उपघात से जायमान कहा है। 'तैमिर' पद इन्द्रियोपघात से जायमान ज्ञान का द्योतक है, वह इन्द्रियोपघात से अन्य का व्यावर्तक नहीं है, क्योंकि 'तैमिरिकज्ञान अर्थशून्य तथा असाक्षात्करणस्वरूपवाला होता है, अतः वह प्रत्यक्ष नहीं, अपितु प्रत्यक्षाभास है। अतएव, न्यायविदों को 'सतैमिर' पद को

‘इन्द्रियोपघातज ज्ञान’ के अर्थ में समझना चाहिए। इस प्रकार ‘तैमिर’ पद सभी उपघात का उपलक्षण है।²³²

आचार्य धर्मकीर्ति उस स्थल का हवाला देते हैं जहाँ दिग्नाग कहते हैं कि भेद और द्विचन्द्रादि के ज्ञान का कारण इन्द्रिय है, और इसके लिए आग्रह करते हैं, कि दिग्नाग इन्द्रियोपघातज प्रत्यक्षाभास से परिचित थे।²³³ इस स्थल की विस्तार से विवेचना करते हुए आचार्य प्रज्ञाकर बतलाते हैं कि कुछ अन्य लोग यह मानते हैं कि ‘सतैमिर’ पद का प्रयोग दिग्नाग ने प्रत्यक्ष के अपने लक्षण में ‘कल्पनापोढ’ में अपवाद के लिए नहीं किया है, अपितु, कल्पनापोढ के प्रति उदाहरण के लिए इसका उल्लेख किया है। धर्मकीर्ति ने इसी मत का उत्तर देने के लिए कहा है कि दिग्नाग ने भ्रान्ति को केवल मनस् से ही सम्बन्धित नहीं किया, अपितु, वे इसे इन्द्रियोपघातज भी मानते थे और इन्द्रियज्ञान को भ्रान्ति से पूर्णतया मुक्त नहीं मानते थे। मरीचिका में पहले इन्द्रियज्ञान अभ्रान्त रूप में ही होता है, बाद में जलानुभव की वासना के प्रबोध के कारण सविकल्पक जलज्ञान होता है। यह प्रबोध मरीचि को देखने से ही होता है। द्विचन्द्रादिज्ञान में भी पहले चन्द्र विषयक ‘अभ्रान्त’ ज्ञान होता है, बाद में द्विचन्द्राकार रूप विकल्पज्ञान होता है। इस प्रसंग में कुछ लोग कहते हैं कि ‘एक टक देखने वाली आखों के मध्य में स्थित रहने वाला वही एक चन्द्र, दोनों ही पार्श्व में क्रम से प्राप्त किया जाता हुआ, काल की सूक्ष्मता के कारण, युगपत् ही लक्षित होता है। दोनों पार्श्व में द्वित्व का अध्यारोप हो जाता है। ऐसा कहने का इन लोगों का अभिप्राय यह है कि दिग्नाग भ्रान्ति को केवल मानस मानते हैं और इन्द्रियज्ञान को भ्रान्ति से सर्वथा मुक्त समझते हैं। इन्द्रियज्ञान में भ्रान्ति मानसिक अध्यारोप के कारण आती है, इन्द्रियदोष के कारण नहीं। अतः, ‘सतैमिर’ पद का प्रयोग दिग्नाग ने प्रत्यक्ष के इस स्वरूप के उदाहरण के रूप में किया कि वह कल्पना से रहित होता है। ‘सतैमिर’ पद प्रत्यक्ष ज्ञान में अपवाद के लिए नहीं आया है, न वह इन्द्रियोपघातज ज्ञान का सूचक है। प्रज्ञाकर कहते हैं कि यदि ऐसा माना जाय, तो यह बात दिग्नाग के ही ग्रन्थ के विरोध में जाती है। क्योंकि, ‘यद्यपि’ परमाणु इन्द्रियविज्ञप्ति के कारण हैं, तथापि इन्द्रियविज्ञप्ति की आभा का नहीं होने से (अतदाभ्यतया) अणु अक्ष की तरह इन्द्रियविज्ञप्ति के विषय नहीं हैं। चक्षुरादि तथा परमाणु उस प्रकार अथवा उससे भिन्न प्रकार का होते हुए नीलादि आभास के कारण होते हैं। यदि द्विचन्द्र का प्रतिभास केवल मानस ही होता, इन्द्रियोपघातजन्य नहीं, तो द्विचन्द्रादि के ज्ञान में इन्द्रिय को कारण कह पाना आचार्य दिग्नाग के लिए संभव नहीं होता।²³⁴

धर्मकीर्ति पुनः आगे कहते हैं कि विरोधी कह सकते हैं कि मनस् को भ्रान्ति

का साक्षात् कारण एवं इन्द्रिय को परंपरया कारण मानने में कोई विरोध नहीं है, हाँ द्विचन्द्र-प्रत्यक्ष में इन्द्रिय के साक्षात् हेतु होने की बात का मानसता के साथ विरोध है। धर्मकीर्ति के उत्तर को स्पष्ट करते हुए प्रज्ञाकर पूछते हैं कि इन्द्रियज्ञान का विषय क्या है? हमारे विरोधी को यह कहना चाहिए कि जिससे साक्षात् इन्द्रियज्ञान उत्पन्न होता है उस आकार के द्वारा अथवा उससे अन्यथा रूप से वह इन्द्रिय ज्ञान का विषय है। इसमें पहला विकल्प संभव नहीं, क्योंकि अनेक परमाणु में एकघनाकार स्थूलता का अभाव होता है। यदि, विरोधी कहे कि अतदाकार का भी जो हेतु है वह विषय है, तो यह पक्ष भी अयुक्त है, क्योंकि इन्द्रिय की ही तरह अन्याकार को विज्ञान का हेतु मानने पर भी वह विषय नहीं हो सकता। अतएव, यदि वहाँ पर इन्द्रिय को परंपरया हेतु मानना आचार्य दिग्नाग को अभीष्ट होता, तो वे विरोधी की आलोचना करते समय 'त एव हि' इत्यादि वचन द्वारा 'इन्द्रिय की विषयता' का प्रसंग 'आलम्बनपरीक्षा' में न उठाते, क्योंकि विरोधी ने तो यह कहा ही है कि परमाणुओं की साक्षात् हेतुता मानने पर उनकी विषयता भी हो जायेगी। तब तो, यह कहना चाहिए कि आचार्य ने जो प्रसंग उठाया है वही युक्त नहीं है।²³⁵ यहाँ विरोधी यह प्रश्न उठा सकता है कि इन्द्रियज्ञान के विषय का विचार करते समय 'मानस का किरा तरह का प्रस्ताव है' ऐसा धर्मकीर्ति क्यों कहते हैं? प्रज्ञाकर का उत्तर है कि ऐसा कहने में अभिप्राय यह है कि प्रथम जो प्रतिभासन होता है वह परस्पर विविक्त अणु का होता है। सविकल्पक ज्ञान के कारण उनका घनाकार अवभास होता है।²³⁶ प्रज्ञाकर कहते हैं कि हमारे विरोधियों का पक्ष है कि सविकल्पकविज्ञान का एकघनावभास होता है। ऐसे सविकल्पक विज्ञान का भी परंपरया हेतु होने के कारण परमाणु विषय हैं, ठीक वैसे ही जैसे कि स्मरण की अर्थविषयता होती है। प्रज्ञाकर इस प्रसंग में आचार्य दिग्नाग के मत को उद्धृत करते हैं जहाँ यह कहा गया है कि 'उस आभा का न होने से, अक्ष की तरह अणु भी इन्द्रियविज्ञप्ति के विषय नहीं हैं'²³⁷ (आ०प०)। जिस तरह इन्द्रियाँ, परंपरया हेतु होने पर भी विषय नहीं हैं, उसी तरह अणु भी विषय नहीं हैं। इन्द्रियाँ द्विचन्द्रविज्ञान की परंपरया हेतु अन्यथा रूप में होती हैं। "प्रस्तावो मानसस्य" इत्यादि के द्वारा आचार्य धर्मकीर्ति यह कहते हैं कि 'भ्रान्ति की मानसता होने पर विषय का निरूपण ठीक नहीं होगा, क्योंकि जो मानस है, वह निर्विषयक होता है। पुनश्च, विरोधी की बात का यहाँ पर कोई प्रमाण भी नहीं है, अतएव, आचार्य का उत्तर युक्त है।²³⁸

पुनश्च, यदि द्विचन्द्रादिज्ञान मानस है तो उसे इन्द्रिय के भाव और अभाव का अनुसरण करने वाला एवं अपेक्षा रखने वाला नहीं होना चाहिए। यदि विरोधी कहे कि इन्द्रिय के स्वभाव की अपेक्षा रखने वाला होने पर भी द्विचन्द्रादिज्ञान मानस ही है,

तो वैसी स्थिति में स्तम्भादि में भी मानसता का प्रसंग उपस्थित होगा। यदि विरोधी इस पर कहे कि पहले ज्ञान स्वाकार होता है, बाद में मनस् में अर्थाकारता आती है, तब तो इन्द्रियज्ञान भी मानस हो जायगा। यदि विरोधी कहे कि द्विचन्द्रादि भ्रान्ति इन्द्रियज्ञान का विकार ही है, तब तो दोनों ही (मानस एवं इन्द्रियज दोनों ही) ज्ञान इन्द्रियज हो जायेंगे। अतः तिमिरज्ञान इन्द्रियज है, मानस नहीं। इसके अतिरिक्त, 'भ्रान्ति या व्यभिचार केवल मनस् से होता है', इस धारणा को असिद्ध करने के लिए धर्मकीर्ति निम्नलिखित तथ्य प्रस्तुत करते हैं और बतलाते हैं कि द्विचन्द्रादिज्ञान को यदि केवल मनसोत्पन्न माना जाय तो पाँच प्रसंग उपस्थित होंगे — (1) द्विचन्द्रादि जैसे व्यभिचार का निरास इन्द्रियदोष के दूर हुए बिना ही हो जायगा, जैसे कि सर्प का मानसिक व्यभिचारित ज्ञान निरस्त हो जाता है, क्योंकि पास से परीक्षण करने पर सर्प का निरास हो जाता है; (2) इन्द्रियदोष के ठीक हो जाने पर भी उसका (द्विचन्द्रादि भ्रान्ति का) निरास नहीं हो सकेगा; (3) ठीक इन्द्रिय वाले व्यक्ति को भी द्विचन्द्रादि का ज्ञान होगा, यदि वह इसके विषय में दूषित इन्द्रियवाले व्यक्ति से सुने; (4) यह इन्द्रिय से अव्यवहित न होकर स्मृति से व्यवहित होगा; (5) द्विचन्द्र की प्रतिमा स्पष्ट नहीं होगी (उसका परिस्फुट आभास नहीं होगा)।²³⁹ प्रज्ञाकर विवेचन करते हुए बतलाते हैं कि अक्षविकार होने पर जो सर्पभ्रान्ति होती है उसकी निवृत्ति तो विचार करने पर हो जाती है, किन्तु द्विचन्द्रादि भ्रान्ति की निवृत्ति विचार करने से नहीं होती। अतः प्रत्यक्षाभास द्विविध है। यदि विरोधी कहे कि श्यामतादिलक्षण वाली सर्पादि भ्रान्ति की निवृत्ति विचार मात्र से नहीं होती। सार्वत्रिक अन्धकार वाले प्रदेश में सर्पभ्रान्ति जब होती है, तो वहाँ पर तिमिर रोग के बिना भी, रज्जु आदि की श्यामतादिरूपता होती है। तिमिर (नेत्ररोग) के हट जाने पर नेत्र दूसरी तरह का हो जाता है, तो भी श्यामतादिरूपता रहती है; फिर वह अक्षविकार के दूर हुए बिना कैसे हट जा सकती है। अतः निवर्तन असिद्ध है। पुनश्च, यह भी आशंका उठायी जा सकती है कि यदि द्विचन्द्रादि का ज्ञान मानस है, तो इन्द्रियदोष के दूर होने पर भी द्विचन्द्रादि की भ्रान्ति दूर नहीं होगी, ऐसा कहना ठीक नहीं। जिसका अक्षविकार हट गया है उसके मनस् में भी जलभ्रान्ति देखी जाती है। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि आतप से उपतप्तता रूप जो प्रबोधक प्रत्यय है उसका अभाव होने के कारण जलभ्रान्ति का अभाव रहता है। पुनश्च, अन्य के चित्तसंतान में जलभ्रान्ति का अर्पण हो जाता है, ऐसा भी नहीं दिखलायी पड़ता और जो अदूषित इन्द्रियवाला है उसमें दूषित इन्द्रियवाले के वचन के द्वारा जलभ्रान्ति की तरह द्विचन्द्रादि की भ्रान्ति अर्पित हो जाती है, ऐसा भी नहीं होता। पुनश्च, श्यामतादि सर्पभ्रान्ति के होने के और पहले से ही रहती है, अतएव, सर्पाकारता को भी दृष्ट के स्मरण की अपेक्षा नहीं रहती। मानसी भी भ्रान्ति का

परिस्फुट प्रतिभासन है ही, अतएव, यह कहना अयुक्त है कि द्विचन्द्र के व्यभिचारज्ञान को मनसोत्पन्न मानने पर द्विचन्द्र की प्रतिमा स्पष्ट नहीं होगी। तद्भावभाविता तथा तद्विकारविकारिता, तो परंपरया भी, कार्य में होती ही है। इस सारे उहापोह पर प्रज्ञाकर का उत्तर है कि जो श्यामतादि का प्रतिभास जहाँ पर होता है वहाँ पर वह ऐन्द्रिक ही है; और जबतक इन्द्रियविकार हटता नहीं, श्यामतादि का प्रतिभास भी निवर्तित नहीं होता। परिस्फुटता इन्द्रियजन्यता में ही होती है, मानसता में नहीं। यदि विरोधी कहे कि भावनावल के कारण आतप से उपतप्त व्यक्ति की मानसता में भी परिस्फुटता होती है, तो हमारा कहना है कि परिस्फुटता की स्थिति में वह अविकल्पक ही है; इन्द्रियजत्व के कारण कोई ज्ञान प्रत्यक्ष विशेषण से युक्त होता है, ऐसा नहीं है। वैसा होने पर 'सतैमिर' को 'अपवाद' रूप में दिग्नाग ने प्रयोग किया है, ऐसा जो हमारा पक्ष है, वह हत नहीं होता। हमारे जो विरोधी हैं, उनको मानसता से सविकल्पक ही अभिप्रेत है, मानसतामात्र अभिप्रेत नहीं है। यहाँ पर मात्र यह साध्य है कि अविकल्पक प्रत्यक्षाभास एक है, और दूसरा प्रत्यक्षाभास विकल्पप्रत्यक्षाभास है। यह आक्षेप लगाया जा सकता है कि यदि भ्रान्ति सविकल्पक है, तो आप बौद्धों के पक्ष का सब कुछ विघटित हो जाता है और यदि आप बौद्ध कहें कि ऐसा नहीं है, अपितु हम उसे अन्यथा रूप से मानते हैं, तब तो परिस्फुट भी द्विचन्द्रादि की भ्रान्ति को मानसी होना चाहिए। प्रज्ञाकर कहते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि मानसीभावों के बिना भी द्विचन्द्रादि की भ्रान्ति होती है। भावना के बल से ही मानसी भ्रान्ति स्फुटता को प्राप्त होती है, अतएव जब भावनावल का अभाव रहेगा, तब भ्रान्ति की इन्द्रियजता का निवारण करना शक्य नहीं है। स्पष्टाकारता के दो कारण हैं — (1) अक्ष और (2) भावना। यदि विरोधी कहे कि यहाँ पर भी भावनाव्यवहितता है ही, तो उसका बाह्यार्थवाद ही समाप्त हो जायगा।²⁴⁰

आचार्य धर्मकीर्ति पुनः आगे कहते हैं कि द्विचन्द्रादि का चूँकि स्पष्ट प्रतिभास होता है, अतः वह इन्द्रियजन्य है। कारण प्रस्तुत करते हुए वे लिखते हैं कि सुप्त अथवा जाग्रत पुरुष को जो स्पष्टाकार ज्ञान होता है वह निर्विकल्पक है और उन्हें जो अस्पष्टाकार ज्ञान होता है वह सविकल्पक है। अतः, 'कल्पनापोढं प्रत्यक्षम्' इतना कहने पर, तिमिरज्ञान के निर्विकल्पक होने से वह प्रत्यक्षात्मकता को प्राप्त कर लेता, अतः 'सतैमिर' इस अपवाद के द्वारा उसके विसंवादित्व का निर्देशकर उसके प्रामाण्य का प्रतिषेध किया गया है, क्योंकि संवाद (अविसंवाद) प्रामाण्य का लक्षण है। इसलिए उपप्लुत ज्ञान की निवृत्ति के लिए आचार्य दिग्नाग ने, संक्षेप से, सविकल्पक और अविकल्पक के भेद से, दो प्रकार का प्रत्यक्षाभास कहा है।²⁴¹

जैसा कि तत्त्वसंग्रह एवं उसपर की पंजिका से स्पष्ट है कि धर्मकीर्ति के बाद के कुछ टीकाकार धर्मकीर्ति से असहमत होते हुए दिग्नाग के विचारा का भिन्न अर्थ लगाते हैं और दिग्नाग के द्वारा प्रत्यक्षलक्षण में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण न होने का यह विश्लेषण देते हैं कि 'शुक्ल शंख में' पीतशंख की बुद्धि को भी, विभ्रम होते हुए भी, प्रत्यक्ष माना जाना चाहिए, जहाँ तक उनमें अर्थाविसंवादित्व है। इसी तरह वे प्रत्यक्षाभास के प्रसंग में दिग्नाग द्वारा प्रयुक्त 'सतैमिर' शब्द को 'तिमिर' से व्युत्पन्न 'अज्ञान' के अर्थ में लेते हैं, 'इन्द्रियोपघातजं ज्ञानम्' के अर्थ में नहीं।²⁴² ये लोग भ्रान्ति को केवल मानसी मानते हैं। 'भ्रान्ति केवल वही होती है जहाँ भ्रान्तिकाल में इन्द्रिय हो', इस हेतु पर इन लोगों के द्वारा निम्नलिखित आक्षेप किये गये हैं — (1) यह हेतु या तो साक्षात् अर्थ में हो सकता है अथवा परंपरया (*indirect sense* में)। प्रथम अर्थ में हेतु एक अथवा दूसरे पक्ष के लिए असिद्ध होगा। दूसरे पक्ष के लिए इसलिए असिद्ध होगा, क्योंकि यह सिद्ध नहीं हुआ है कि भ्रान्ति की इन्द्रिय से साक्षात् रूप से उत्पत्ति होती है, यही तो साध्य है: और यदि हेतु को सामान्य (*indirect sense*) अर्थ में लिया जाय तो हेतु अनैकान्तिक हो जायगा, क्योंकि स्मृतिज्ञान जैसे विषय में भी यह तथ्य विद्यमान रहता है।²⁴³ (2) 'भ्रान्ति इन्द्रियविकार के चलते होती है' यह पक्ष भी साक्षात् रूप से असिद्ध है, और यदि इसे पारम्पर्यरूप से लिया जाय, तो यह अनैकान्तिक हो जायगा। उदाहरणार्थ, गदहे से घोड़ी द्वारा उत्पन्न खच्चर को लें। यहाँ हम पाते हैं कि खच्चर के जन्म में गदहे और घोड़ी के सम्पर्क के मध्य कललादि अवस्था (गर्भाधान एवं गर्भ में बढ़ने की अवस्था) का व्यवधान होता है, तथापि बाद में जब खच्चर को गर्दभ के अनुरूप उत्पन्न देखते हैं, तभी यह विचार आता है कि यह गदहे से घोड़ी में उत्पन्न हुआ है; किन्तु इससे साक्षात् उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती (यह सिद्ध नहीं होता कि खच्चर की गदहे से साक्षात् उत्पत्ति हुई है)।²⁴⁴ (3) 'मानसी भ्रान्ति विचार करने से निवर्तित हो जाती है' इसमें भी अनैकान्तिकता का दोष है। आप बौद्ध जो युक्ति के आधार पर यह मानते हैं कि 'सामान्य' जैसी कोई वस्तु नहीं है उनके लिए भी 'घटादि' के विषय में, यह 'भाव' है अथवा 'सामान्य', इस प्रकार का सामान्याकारविकल्प निवर्तित नहीं होता। यदि आप यह कहें कि 'जब युक्तिपूर्वक इस प्रकार से विचार किया जाता है कि 'स्वलक्षणे नैताः प्रवर्तन्ते', तो सामान्यबुद्धियाँ निवर्तित हो जाती हैं,' तो हमारे अनुसार यह तो उत्तर ही नहीं हुआ, क्योंकि चन्द्रद्वयादि की भ्रान्ति भी, जब उस पर युक्ति पूर्वक कोई इस तरह विचार करता है कि 'स्वलक्षणे नैताः प्रवर्तन्ते', निवर्तित हो जाती हैं, फिर भी ये मानसिक नहीं हो जातीं। यदि कहा जाय कि 'इनकी सत्ता निवर्तित नहीं होती', तो हमारा कहना है कि यही बात सामान्यादि के प्रसंग में भी कही जा सकती है, क्योंकि इनका भी स्वभाव

निवर्तित नहीं होता है।²⁴⁵

शांतरक्षित एवं कमलशील उपर्युक्त आपत्तियों का निरास कर धर्मकीर्ति के लक्षण के साथ सहमति व्यक्त करते हैं। उनका कहना है कि आचार्य धर्मकीर्ति से भिन्न मत रखने वाले स्वयूथ के दार्शनिकों का उपर्युक्त मत ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान का प्रामाण्य द्विविध होता है (1) यथा प्रतिभास और (2) यथाअध्यवसाय के साथ अविस्मृति के कारण। पीतशंखादिबुद्धि के प्रसंग में यथाप्रतिभास के साथ अविस्मृति नहीं होता, क्योंकि प्रतिभासन पीत का होता है, किन्तु प्राप्ति पीत वस्तु की नहीं होती। उसमें यथाअध्यवसाय रूप अविस्मृति भी नहीं है, क्योंकि पीत का ही, अर्थक्रियाकारित्व से विशिष्ट होने के रूप में, अध्यवसाय होता है किन्तु, यहाँ तद्रूप अर्थक्रिया की प्राप्ति नहीं होती है। इतना ही नहीं, अनध्यवसित अर्थ के साथ अविस्मृति के द्वारा भी प्रामाण्य नहीं हो सकता, क्योंकि इससे अतिप्रसंगदोष आयेगा; कारण यह है कि केशोण्डुकादि के ज्ञान में भी अनध्यवसित आलोकादि की ही प्राप्ति होती है। यदि यह कहा जाय कि 'यद्यपि वर्ण अध्यवसित रूप में प्राप्त नहीं होता है, किन्तु संस्थान की प्राप्ति तो होती ही है', तो हमारा उत्तर है कि वर्ण से व्यतिरिक्त संस्थान की प्राप्ति नहीं हो सकती और भासमान वर्ण का संवाद प्रस्तुत प्रसंग में है नहीं। अतः, "यदि आकार का अनादर कर, अर्थक्रिया से अविस्मृति के कारण प्रामाण्य की प्रकल्पना की जाती है, तो आप का यह कथन, "यथा यथा ह्यर्थस्याकारः शुभादित्वेन सन्निविशते तद्रूपः स विषयः प्रमीयते" इत्यदि रूप में जो आचार्य ने कहा है, उसका विरोध होगा। जहाँ तक पीतशंखादिबुद्धि की बात है, तो वह शुक्लशंखादि के पूर्व अनुभव की वासना का परिणाम है और अर्थक्रिया के साथ इसका संवाद उपर्युक्त वासना के चलते होता है।²⁴⁶

इन्द्रियोपघातज भ्रान्ति के प्रसंग में परकीय दूषण का प्रतिविधान करते हुए शांतरक्षित कहते हैं कि 'भ्रान्ति वही होती है जहाँ इन्द्रिय होती है', एतद्रूप हेतु साक्षात् अर्थ में असिद्ध नहीं है, क्योंकि एकचन्द्र रूप अभ्रान्तचेतना के द्वारा व्यवधान की सिद्धि नहीं होती है; कारण यह है कि यह वहाँ रहता तो यह उपलभ्य होता, किन्तु इस प्रकार का कोई प्रत्यय उपलभ्यमान नहीं होता। जब व्यक्ति अन्य वस्तु पर अपने चित्त को नहीं भी लगाये हुए है, तो भी उसे दो चन्द्र का अविच्छिन्न प्रत्यय होता है। इससे प्रदर्शित होता है कि इन्द्रिय से भ्रान्ति का उद्भव परंपरया (*indirectly*) नहीं होता। 'भाव' तथा 'सामान्यादि बुद्धि' के प्रसंग में, जहाँ कि उनका प्रतिसंहार संभव है, निवृत्ति स्वेच्छापूर्वक बिलकुल संभव है। किन्तु केशोण्डुकादि भ्रान्ति के विषय में

स्वेच्छा से निवृत्ति संभव नहीं है। यदि यह तर्क किया जाय कि 'इन्द्रिय द्वारा होने वाले प्रत्यक्ष के विषय में भी आँख को बन्द करने के द्वारा स्वेच्छा से निवृत्ति संभव है; तो हमारा उत्तर है कि इच्छा के होते ही उसके तुरत बाद चक्षुर्विज्ञान का निवर्तन नहीं हो जाता, अपितु, होता केवल यह है कि व्यक्ति की इच्छा से चक्षु निमीलन मात्र होता है और जब चक्षु अपना व्यापार बन्द कर देता है, तभी चक्षुर्विज्ञान निवर्तित होता है।²⁴⁷ किन्तु मानसीभ्रान्ति में व्यक्ति की इच्छा से साक्षात् रूप से भ्रान्ति का निवर्तन हो जाता है, अतः दोनों स्थितियाँ समान नहीं हैं। फलतः, यह ध्यातव्य है कि चक्षु जब किसी अर्थ पर लगा हुआ है, तो भले ही द्रष्टा उसे देखने की इच्छा न रखे, किन्तु वस्तु दिखाई ही पड़ती है। अतः, चक्षुरादिज्ञान में इच्छा का साक्षात् सामर्थ्य नहीं है। इस प्रकार धर्मकीर्ति और उनके टीकाकारों के अनुसार इन्द्रियभ्रान्ति और मनोजन्य दोनों प्रकार की भ्रान्तियाँ होती हैं और हमें इन दोनों में अन्तर करना होगा। वाचस्पति मिश्र, इसलिए 'न्यायकणिका' में धर्मकीर्ति के 'अभ्रान्त' पद की व्याख्या के प्रसंग में बतलाते हैं कि 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण लक्षण में करने से वस्तु के बिना होने वाली मिथ्याप्रतीति में प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं जाता।²⁴⁸ वस्तुतः, लक्षण में 'अभ्रान्त' पद के ग्रहण में मंतव्य यह प्रतीत होता है कि मानसिक भ्रान्ति और इन्द्रियज भ्रान्ति में हमें अन्तर करना होगा। उदाहरणार्थ, जब हमे रज्जु में सर्प की भ्रान्ति होती है, तो 'यह रस्सी है, सर्प नहीं' ऐसा बाधक ज्ञान होने पर भ्रान्ति दूर हो जाती है, किन्तु तिमिर रोग के चलते जब दो चन्द्रमा दिखलायी पड़ते हैं, तो बुद्धि से यह स्वीकार करते हुए भी कि चन्द्रमा एक है, दो नहीं, रतौंधी रोगवाले को दो चन्द्रमा दिखलायी पड़ते हैं। यह निर्विकल्पक ज्ञान है और इससे चन्द्रमा की प्राप्ति भी होती है, अतः वह अविश्ववादक भी है। अतः प्रत्यक्ष के लक्षण में 'अभ्रान्त' पद रखकर प्रत्यक्ष के क्षेत्र में उपर्युक्त प्रकार के मिथ्या ज्ञान के चले जाने की संभावना को हटाया गया है।²⁴⁹

आधुनिक अनेक विद्वानों ने बौद्ध प्रत्यक्ष लक्षण में 'अभ्रान्त' पद की उपयोगिता पर आशंका की है। कुछ लोग 'अभ्रान्त' पद को, दिग्नाग के लक्षण में, जोड़ने की क्रिया को 'प्रतिगामी कदम' समझते हैं और यह व्याख्या प्रस्तुत करते हैं कि धर्मकीर्ति तथा उनके समर्थकों ने भ्रान्त धारणाओं के चलते 'अभ्रान्त' पद को लक्षण में जोड़ा, न कि दार्शनिक चिन्तन में प्रगति के कारण। सत्कारि मुकर्जी, तो 'अभ्रान्त' पद को सौत्रान्तिक दृष्टि से भी आवश्यक नहीं समझते। उनके अनुसार आचार्य धर्मकीर्ति ने कुछ बौद्ध दार्शनिकों में व्याप्त भ्रान्त धारणा का खण्डन करने के लिए लक्षण में 'अभ्रान्त' पद का प्रयोग किया था। यह धारणा उस समय इतनी प्रचलित थी कि उसके प्रभाव में धर्मकीर्ति ने ऐसा किया। इस प्रकार मुकर्जी महोदय यह निष्कर्ष निकालते हैं

कि प्रत्यक्ष के लक्षण में धर्मकीर्ति द्वारा 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण 'व्यावहारिक आवश्यकता के कारण था न कि तार्किक अनिवार्यता अथवा दार्शनिक चिंतन में विकास के कारण।'²⁵⁰

जहाँ तक प्रचलित धारणा का प्रश्न है, यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि आचार्य धर्मकीर्ति के समकालिक और उनके समीप में ही (पटने में) निवास करने वाले प्रसिद्ध भारतीय ज्योतिषाचार्य आर्यभट्ट उसी समय यह प्रतिपादित कर रहे थे कि पृथ्वी गतिशील है और सूर्य का चक्कर लगाती है। सौर मण्डल का केन्द्र सूर्य है, पृथ्वी नहीं। पृथ्वी को स्थिर और सूर्य को गतिशील समझना गलत है और सूर्य जो गतिशील दिखलायी पड़ता है और पृथ्वी स्थिर वह भ्रान्ति है, प्रत्यक्षाभास है। दूसरी तरफ प्राचीन धारणा थी, पृथ्वी को केन्द्र एवं स्थिर समझने की। धर्मकीर्ति जिस न्यायबिन्दु एवं प्रमाणविनिश्चय में 'अभ्रान्त' पद का प्रयोग करते हैं उनमें सौत्रान्तिक नय की दृष्टि से बाह्यार्थ की सत्ता मानते हुए प्रमाणव्यवस्था करना उनका ध्येय है। विज्ञानवाद का 'स्वलक्षण' तत्त्व (विज्ञप्तिमात्रता अथवा अद्वैतबिन्दु) इस व्यवस्था में प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि उसका विवेचन अशक्य है, जबकि दिग्नाग एवं सौत्रान्तिक बौद्ध भी 'स्वलक्षण' को प्रत्यक्ष का विषय बतलाते हैं। ऐसी स्थिति में आचार्य धर्मकीर्ति जब प्रत्यक्ष में 'भ्रान्तता या अभ्रान्तता' की बात करते हैं, तो बाह्यार्थवाद को मानते हुए सौत्रान्तिकनय की दृष्टि से प्रमाणव्यवस्था का विश्लेषण उनका मंतव्य समझना चाहिए। अपने ग्रन्थों में दिग्नाग ने भी अनेक स्थलों पर सौत्रान्तिक नय का भी स्वमत के साथ समाहार करने एवं उसकी उपपत्ति बैठाने की कोशिश की है, जो उनके इस मनोवृत्ति की द्योतक है कि यदि बाह्यार्थ की दृष्टि से व्याख्या करनी होगी, तो विज्ञानवाद युक्तिसंगत सौत्रान्तिकनय का ही अवलंबन लेगा, द्रव्यवादी तथा स्थिरवादी न्यायादि का नहीं। अतः जो लोग 'अभ्रान्त' पद को 'एक प्रतिगामी कदम' और उसके लिए धर्मकीर्ति को दोषी ठहराते हैं, उनको धर्मकीर्ति के उद्देश्य को समझना चाहिए। प्रमाणवार्तिक में इसके प्रति उनका कही रचमात्र भी आग्रह नहीं। उनके भाष्यकार प्रज्ञाकर स्पष्टतः कहते हैं कि 'सभी प्रत्यक्ष अविकल्पक ही हैं और जितने भी अभ्रान्तज्ञान हैं वे सभी अविकल्पक ही हैं। प्रत्यक्ष अभ्रान्त भी होता है, इस बात को आचार्य ने अपवाद रूप में प्रतिपादित किया है।'²⁵¹ जब प्रत्यक्ष के लिए अभ्रान्तता की बात कही जाती है और इस प्रकार इन्द्रियजत्वादि हेतु का प्रसंग उठाया जाता है, तो वहाँ साक्षात्करण व्यापार को अविकल्पकता के द्वारा कहा जाता है।²⁵² आचार्य प्रज्ञाकर इससे भी सहमत हैं कि प्रत्यक्ष का लक्षण केवल कल्पनापोढ है और 'अभ्रान्त' पद प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं है। केवल 'कल्पनापोढ' शब्द से भी भ्रान्तिज्ञान का विच्छेद

प्रत्यक्ष लक्षण से हो जायगा। वे सभी ज्ञान जो साक्षात्कार करने वाले होते हैं उनमें प्रत्यक्षता होती है। इस दृष्टि से द्विचन्द्रादि ज्ञान के भी प्रतिभासमान द्वित्व में प्रत्यक्षता है ही। वह बाह्यजगत् में भ्रान्त है, क्योंकि बाह्यजगत् में चन्द्र - द्वित्व नहीं होता। बाह्यजगत् में वस्तुतः चन्द्रमा का जैसा अस्तित्व है, चूँकि उसका वह साक्षात्कार नहीं करता, अतः, द्विचन्द्रदर्शन कल्पना है। इसी प्रसंग में 'मनोभ्रान्तिविषयत्वाद्, व्यभिचारिणः' की बात सार्थक होती है।²⁵³ यह भी द्रष्टव्य है कि धर्मकीर्ति- प्रज्ञाकर के लिए बाह्य अर्थ में जो अभ्रान्त ज्ञान है, वह भी विज्ञानवाद की दृष्टि से कल्पना ज्ञान ही है, और आचार्य धर्मकीर्ति इसका समर्थन भी करते हैं। फलतः 'अभ्रान्त' का प्रयोग करते समय धर्मकीर्ति केवल सौत्रान्तिकनय की दृष्टि से प्रत्यक्ष की व्याख्या कर रहे हैं। इस प्रकार भ्रान्ति के इन्द्रियोपघातज भी होने की बात जब वे करते हैं तो इसी दृष्टि से। श्री सत्कारि मुकर्जी की इस धारणा से सहमत हो पाना कठिन है कि बाह्यनय की दृष्टि से भी 'अभ्रान्त' पद की लक्षण में उपयोगिता नहीं। उन्होंने जो व्याख्या केवल 'कल्पनापोढ' पद के आधार पर प्रत्यक्ष की विवेचना के लिए प्रस्तुत की है, उससे प्रत्यक्षाभास विचार की व्याख्या के समय प्रस्तुत धर्मकीर्ति एवं प्रज्ञाकर की बातों का समाधान नहीं हो पाता। 'प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है', इसकी व्याख्या बिना सौत्रान्तिक नय के नहीं हो सकती। हम दुर्वेक की अभ्रान्तविषयक व्याख्या से सहमत हैं और उन्होंने सौत्रान्तिक दृष्टि से 'अभ्रान्त' की उपयोगिता पर आशंका उठाकर उसका जो समाधान किया है वह मननीय है।²⁵⁴ यह ठीक है कि प्रमाज्ञान तत्त्व का अविस्वादी होता है और यह अविस्वाद सर्वतोभावेन होता है। ऐसी स्थिति में शुक्तिकारजत, तथा कामलादि रोगी को श्वेत भी पीत रूप में दिखलायी पड़ने वाले ज्ञान की प्रत्यक्षता नहीं होगी, क्योंकि यह वस्तु का अविस्वादी नहीं है। मूल प्रश्न यह है कि विसंवादित्व साक्षात्करण व्यापार में क्या केवल मानसिक होता है या इन्द्रियज भी। यदि धर्मकीर्ति की यह व्याख्या ठीक है कि बाह्यनय की दृष्टि से विचार करने पर विसंवाद को इन्द्रियज भी मानना होगा, और आचार्य दिग्नाग भी ऐसा ही मानते थे, तो 'अभ्रान्तता' को जोड़कर इस तथ्य को और स्पष्ट किया जा सकता है। बाह्यार्थवाद की दृष्टि से 'कल्पनापोढ' में इन्द्रियजविसंवादकता का न होना स्पष्टतः व्यक्त नहीं है। जब विसंवादकता की व्याख्या हुई और इसके विविध आयामों का विस्तार हुआ, तो जागतिक एवं व्यावहारिक अनुभवों के प्ररिप्रेक्ष्य में प्रामाण्यव्यवस्था तथा प्रमाणों के लक्षण के स्पष्टीकरण की भी आवश्यकता महसूस हुई। अतः, इन्द्रियजविसंवादकता प्रत्यक्ष नहीं है इस के खुलासे के हेतु सौत्रान्तिक नय की दृष्टि से ही धर्मकीर्ति ने 'अभ्रान्त' पद का प्रयोग किया और ऐसा करने में वे गलती नहीं कर रहे हैं। यदि वे 'कल्पनापोढता' को प्रत्यक्ष का लक्षण न मानते; अभ्रान्तता के साथ ही कल्पनापोढता,

को मानते, तो वे विज्ञानवाद के प्रति वफादार न रहते। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया है। भ्रान्तिज्ञान की इन्द्रियोपघातजता, भले ही विज्ञानवाद के बाह्य हो, किन्तु है वह हमारी अनुभूति और इसलिए उसकी व्याख्या की अपेक्षा थी। उससे आँख मूँद लेना, उसपर विचार न करना, दिग्नाग की महानता का सूचक नहीं है; हों धर्मकीर्ति की सूक्ष्म समझ तथा तार्किक गंभीरता का सूचक अवश्य है। धर्मकीर्ति वह सब कुछ मान रहे हैं, जो दिग्नाग को मान्य है; वे उसकी भी व्याख्या एक समुचितनय और दृष्टिकोण के आधार पर करते हैं जो दिग्नाग से छूट गयी थी, अथवा दिग्नाग की जिस पर दृष्टि नहीं गयी थी।

अतः 'अभ्रान्त' पद को लक्षण में प्रयुक्त करने में आचार्य धर्मकीर्ति का मतव्य यह रहा है कि जो स्वलक्षणग्राही अतः निर्विकल्पक है (मात्र'स्व'ग्राही ज्ञान), चूँकि व्यवहार में उस प्रकार का जो ज्ञान है वह प्रत्यक्ष है और स्वलक्षणग्राही होने से, चूँकि वही परमार्थ का स्वरूप है, अन्यथाग्राही नहीं है, अतएव अविपर्यस्त और अभ्रान्त है।

अब हम धर्मकीर्ति के एक विशेष स्थल पर ध्यान केन्द्रित करना चाहते हैं, जो प्रत्यक्ष विषयक विवेचना को स्पष्ट कर देता है। आचार्य धर्मकीर्ति यह दृढ़तापूर्वक मानते हैं कि प्रत्यक्ष अर्थ को उसकी समग्रता में 'ग्रहण करता है और प्रत्यक्षेतर जो ज्ञान के साधन हैं वे केवल अध्यारोप के व्यावर्तन के लिए हैं'। इस तथ्य को प्रमाणित करते हुए वे कहते हैं कि अर्थ का अपना केवल एक ही स्वरूप या लक्षण होता है और प्रत्यक्ष ने उसे ग्रहण कर लिया। जबतक अर्थ सर्वात्मना ज्ञात न हो, अनुमान संभव नहीं, जैसे कि, शब्द में अनित्यता के सद्भाव का अनुमान संभव नहीं यदि शब्द पहले ज्ञात न हो। यहाँ यह स्मरणीय है कि केवल प्रत्यक्ष के द्वारा ही अर्थ का सर्वात्मना ग्रहण हो सकता है, क्योंकि अर्थ में ऐसा कुछ भी नहीं हो सकता जिसका ग्रहण प्रत्यक्ष द्वारा न हो सके। आशय यह है कि जब किसी अर्थ का प्रत्यक्ष हुआ हो और उस समय उसमें कुछ ऐसा रह जाता है जिसको प्रत्यक्ष ने ग्रहण नहीं किया, तो इसका अर्थ हुआ कि वह उस अर्थ का स्वरूप नहीं। हम दो चीजों को भिन्न तब समझते हैं यदि दोनों एक ही स्वभाव वाली न हों। यदि ऐसा न माना जाय, तो दो चीजों को परस्पर भिन्न मानने का कोई आधार नहीं रह जायगा।²⁵⁶

ऊपर के कथन से यह फलित होता है कि प्रत्यक्षेतर प्रमाण के लिए तब तक कोई अवकाश नहीं है, जबतक कि मनुष्य, भले ही वह उस अर्थ के स्वभाव का उसकी समग्रता (साकल्य) में परिच्छेद किया हो, भ्रान्ति का शिकार न बनता हो, ऐसी भ्रान्ति का शिकार जो उस अर्थ के तथाभूत (यथावत्) परिच्छेद या निश्चय से रोकती है, और

उस अर्थ पर अनस्तित्ववान धर्मों को आरोपित न कर देती है। इसका उदाहरण हम शुक्तिका में रजत के आकार का ज्ञान करने वाले पुरुष के रूप में पाते हैं। शुक्तिका में दो रूप, सामान्य और विशिष्ट, नहीं रहते, क्योंकि यदि शुक्तिका में द्विरूपता होती, तो उसकी प्रतिपत्ति भी हुई होती। इसप्रकार की द्विरूपता की विवेकेन प्रतिपत्ति न होने पर हम दो वस्तुओं के होने की बात नहीं कर सकते, क्योंकि उससे अतिप्रसंगदोष आयेगा। इस कारण, जब कोई शुक्तिका के रूप को देखता है, तो वह उसके विशिष्टरूप को ही देखता है; तथापि इस तथ्य का निश्चय करने की स्थिति में न रहने के कारण, और चूँकि इसप्रकार के निश्चयप्रत्यय की परिस्थितियों का वहाँ अभाव रहता है, शुक्तिका और रजत से उत्पन्न हो सकने योग्य विकल्प का (मानसिक प्रत्यय का *mental image*) उस व्यक्ति में उदय होता है और वह ऐसा मानता है कि मैं उसके 'सामान्य' को देख रहा हूँ। इसके चलते वह अन्य को अन्य समझ बैठने की गलती करता है और परिणामतः वह रजत के स्वरूप को शुक्तिका पर आरोपित कर देता है। इसी प्रकार, जब किसी विशेष देश में दो सदृश (यद्यपि भिन्न) चीजों के उत्पत्तिक्रम में लाघव होता है, तो व्यक्ति को उन दोनों में स्थित अन्यत्व का ध्यान नहीं आता, वह अन्यत्व अलक्षित रहता है और परिणामतः वहाँ पर व्यक्ति को स्थितिभ्रान्ति होती है। किसी भी वस्तु के प्रसंग में उतने समारोप (गलत आरोपण) संभव हैं जितने कि उस वस्तु से भिन्न प्रकार की वस्तुएँ होंगी, और प्रत्यक्ष से अन्य (अनुमान के स्वरूपवाले) जो प्रमाण हैं वे इस समारोप का व्यवच्छेद (व्यावर्तन) करने के लिए हैं। वस्तुतः, प्रत्यक्ष से अन्य प्रमाणों के द्वारा वस्तु (अर्थ) के अप्रतीत स्वरूप के ग्रहण में हम समर्थ नहीं होते, क्योंकि वस्तु का जो भी रूप (लक्षण) है वह प्रत्यक्ष द्वारा दृष्ट होने से रह गया हो, बच गया हो, ऐसा नहीं होता। चूँकि वस्तु का स्वभाव अनंशरूप होता है, अतः उसका एकदेश के रूप में (अंश-अंश के रूप में) दर्शन कर पाना संभव नहीं।²⁵⁶

अतः जब कोई वस्तु दृष्ट होती है तो उसके संपूर्णगुण भी हमेशा दृष्ट होते ही हैं, किन्तु, चूँकि भ्रान्ति के कारण इस रूप में निश्चय नहीं हो पाता, अतः हमें अनुमान की शरण लेनी पड़ती है। इस प्रकार आचार्य धर्मकीर्ति तार्किक ढंग से यह प्रमाणित करते हैं कि प्रत्यक्ष से अन्य प्रमाण, प्रत्यक्ष द्वारा वस्तु के अदृष्ट स्वरूपांश को ग्रहण करने में समर्थ नहीं हैं और वे केवल समारोप का व्यावर्तन करने के लिए प्रवर्तित होते हैं।²⁵⁷

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि सभी गुणों का सर्वतोभावेन जब ग्रहण प्रत्यक्ष द्वारा होता है तो वहाँ पर वस्तु के सभी गुणों का सविकल्पक ज्ञान (निश्चयात्मक या

अध्यवसाय रूप ज्ञान) क्यों नहीं होता? धर्मकीर्ति का उत्तर है कि यद्यपि प्रत्यक्ष में वस्तु अंशरहितरूप में (अपनी समग्रता में तथा सर्वतोभिन्न स्वभाव वाली के रूप में) अनुभूत होती है, तथापि केवल उपर्युक्त स्थिति के चलते वस्तु के सभी गुणों का निश्चय नहीं होता है, क्योंकि इसप्रकार के सविकल्पक ज्ञान के लिए पूर्वानुभूति के अतिरिक्त अन्य सहकारी कारणों की भी अपेक्षा होती है। अनुभवों से केवल उन्हीं पक्षों के निश्चयप्रत्यय जन्मते हैं जिनका हम बारम्बार अभ्यास करते हैं, ध्यान करते हैं। उदाहरणार्थ, यद्यपि एक साधु, एक प्रेमी तथा कुत्ते को किसी स्त्री के शरीर का दर्शन होता है, किन्तु साधु में, प्रेमी में एवं कुत्ते में अपने-अपने अभ्यास के कारण अलग-अलग विकल्प उत्पन्न होते हैं।¹²⁸ यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब हम किसी वस्तु के एक खास पहलू का बारम्बार ध्यान करते हैं, तो इस अभ्यास के कारण स्मृतिचिह्न गाढ़ और अधिक कालतक बने रहने वाले हो जाते हैं, अतः, जब उस प्रकार की चीज का पुनः अनुभव होता है, तो स्मृतिचिह्न सरलतापूर्वक जाग्रत हो जाते हैं और हमें वस्तु के उस पहलू का निश्चायक ज्ञान होता है। इसके विपरीत जब वस्तु के किसी पहलू या विशेषता पर हम बारम्बार अभ्यास नहीं करते, तो उसका स्मृति चिह्न क्रमशः क्षीण और धूमिल हो जाता है। अतः, जब वैसी वस्तु का पुनः अनुभव होता है, तो तत्सम्बद्ध स्मृति चिह्न जाग्रत नहीं होते और परिणाम यह होता है कि हमें वस्तु के उस पक्ष का निश्चायक ज्ञान नहीं होता।

यह प्रश्न पुनः उठाया जा सकता है कि जिसका निश्चायक ज्ञान नहीं हो रहा है, उसका प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण होने की बात भी कैसे मानी जा सकती है? धर्मकीर्ति की, उत्तर के रूप में, यह मान्यता है कि किसी चीज का निश्चय (अध्यवसाय) प्रत्यक्ष का धर्म नहीं है (यह प्रत्यक्ष का कार्य नहीं है कि वह वस्तु का निश्चय करे)। प्रत्यक्ष द्वारा जिसे ग्रहण किया जाता है, तो वह ग्रहण बिना निश्चय के होता है। केवल सविकल्पक ज्ञान की स्थिति में ही हम यह कह सकते हैं कि वह किसी वस्तु का ग्रहण तभी करता है जब उसका निश्चय भी करने की स्थिति में होता है और जब निश्चय कर पाने की स्थिति में नहीं रहता तो ग्रहण भी नहीं करता। अतः, प्रश्न है कि प्रत्यक्ष किस अर्थ में अपने विषय का ग्राहक होता है? उत्तर है कि यह अपने विषयक का ग्रहण मात्र संवेदन के द्वारा करता है; अथवा हम यह कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष अपने विषय का ग्रहण इन्द्रियवृत्ति के द्वारा करता है। अतः, धर्मकीर्ति इस मान्यता को उचित नहीं मानते कि प्रत्यक्ष अपने विषय का ग्रहण तब करता है जब वह उसके निश्चय में समर्थ होता है और उस समय ग्रहण नहीं करता जब वह अपने विषय का निश्चय कर सकने में समर्थ नहीं होता।

प्रत्यक्षविषयक केन्द्रीय समस्या और उस सम्बन्ध में बौद्धों तथा न्याय-वैशेषिकादि का शास्त्रार्थ

यह सभी को मान्य है कि प्रत्यक्ष साक्षात्कारी होता है, किन्तु मतभेद इस बात को लेकर है कि साक्षात्कारित्व कैसा होता है। ग्राह्य एवं ग्राहक के साक्षात् सम्पर्क के अतिरिक्त क्या अन्य तत्त्व की भी स्थिति साक्षात्कारित्व व्यापार में मानी जा सकती है? बौद्ध जिस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की बात करते हैं, वह मानसिक संयोजना से रहित है, नामादियोजना से तो रहित है ही। उनके लिए विकल्प का अर्थ है, साक्षात्कारित्व व्यापार पर बाह्य आरोपण, ग्राह्य और ग्राहक के साक्षात् सम्पर्क से होने वाले ज्ञान पर बाद में अन्य तथ्यों का अध्यारोप। विकल्प में मानसिक संयोजना होती है, अर्थ पर, सामान्यादि अनर्थों का (सामान्य, गुण, कर्म, द्रव्य आदि का) आरोपण कर दिया जाता है। प्रत्यक्ष का विषय चूँकि अर्थ (स्वलक्षण) होता है, अनर्थ नहीं और चूँकि प्रत्यक्ष की चरितार्थता उसके साक्षात्कारित्व व्यापार में होती है, अतएव, साक्षात्कार का इस प्रसंग में अर्थ हुआ अर्थ-साक्षात्कार। अर्थ अपने में असाधारण, विशेष, क्षणरूप, निरवयवी, अनभिलाप्य तथा देश और कालगत विस्तार से रहित होता है, अतः, उसका साक्षात्कार करने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान भी तदनुरूप ही होगा: उसमें अभिलाप, सामान्यादि तथा किसी भी प्रकार की कल्पना (मानसिकसंयोजना) की स्थिति नहीं मानी जा सकती। दूसरी तरफ, स्थिरवादी और वस्तुवादी दार्शनिक हैं जो वस्तु (अर्थ) का स्वरूप भिन्न प्रकार का मानते हैं और साथ ही सविकल्पक प्रत्यक्ष को भी वास्तविक प्रत्यक्ष मानते हैं। इसमें नैयायिकों का सविकल्पक प्रत्यक्ष विषयक सिद्धान्त सामान्य को वस्तुसत् मानने पर अवलम्बित है। यह तो सुज्ञात ही है कि 'सामान्य', गुण और कर्म को वस्तुसत् प्रमाणित करने के लिए ही 'समवाय' को भी विकसित किया गया था। 'सामान्य' का ग्रहण सविकल्पक प्रत्यक्ष करता है, फलतः, यदि उसे यथार्थ न माना जाय, तो इसका अर्थ हुआ कि 'सामान्य' प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता। इतना ही नहीं, उससे 'सामान्य' की वस्तुसत्ता भी खंडित होगी। यदि सविकल्पक प्रत्यक्ष वास्तविक हुआ, तब तो उसके द्वारा ज्ञात जगत् भी, जो कि 'इदम्' रूप तथा सामान्यादिविशिष्ट होता है, सत्य होगा और फलतः वस्तुवाद सिद्ध हो जायेगा, अन्यथा वस्तुवाद समाप्त हो जायगा। फलतः, सविकल्पक प्रत्यक्ष को वास्तविक प्रत्यक्ष सिद्ध करके नैयायिकादि एक साथ अनेक बातें सिद्ध कर देंगे कि (1) प्रत्यक्ष भी अनेकानुगत अर्थ का साक्षात्कार करने वाला होता है (2) वह सामान्य को विषय बनाता है, (3) गुण, कर्म आदि भी उसके विषय बनते हैं (4) सामान्य वस्तुसत् है, मानसिक कल्पना, या विकल्प मात्र नहीं। इससे न्याय-वैशेषिक की तत्त्वमीमांसा भी सिद्ध होगी और यह भी प्रमाणित हो

जायगा कि 'बाह्यपदार्थ अपने ज्ञान से निरपेक्ष होकर अस्तित्ववान हैं।' यह सिद्धान्त 'सामान्य' का उन अनेक विशेषों से, जिनमें वे अनुगत हैं, स्वतन्त्र एवं विलग अस्तित्व है 'इस सिद्धान्त' पर आधारित है। अतः, बौद्ध स्वमत की सिद्धि के लिए सविकल्पक प्रत्यक्ष को वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं मानेंगे, जबकि न्याय-वैशेषिक उसे अपना 'प्राण' कहते ही हैं।

बौद्ध सविकल्पक प्रत्यक्ष के खण्डन हेतु निम्न तर्क देते हैं

(क) चूँकि सविकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा प्रस्तुत प्रतिभास अभिलापसंसृष्ट होता है, अतः, उसे (वास्तविक) प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न तथा अर्थ का अवभास कराने वाला (विशुद्ध अर्थावभास, स्वलक्षणावभास) ज्ञान कभी भी शब्दसंसृष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि न तो अर्थ (स्वलक्षण) में शब्द रहते हैं और न तो शब्द अर्थात्मक ही हैं (शब्द और अर्थ या पदार्थ में तादात्म्य नहीं होता है)। न तो अभिलाप को, जो कि अर्थ से किसी प्रकार सम्बद्ध नहीं रहता है, संवेदना का धर्म ही कहा जा सकता है, क्योंकि अभिलाप की स्थिति विषय के सन्दर्भ में होती है, ज्ञान के सन्दर्भ में नहीं। अतएव, अर्थ से उपजायमान ज्ञान अर्थ को ही दिखलाये, अभिलाप को नहीं। रूप से जायमान प्रत्यक्ष 'रूप' को रस के सहित कभी प्रदर्शित नहीं करता। अतएव, सविकल्पक ज्ञान को गलती से वास्तविक प्रत्यक्ष मान लिया जाता है। सविकल्पक ज्ञान अर्थ को अभिलाप से सम्बद्ध होने के रूप में प्रस्तुत करता है, यद्यपि वस्तुतः अर्थ अभिलापसंसर्गनिरपेक्ष है। सविकल्प ज्ञान विकल्पवासना से उत्थित (पैदा) होता है, यद्यपि अनियतार्थग्राही होता है, प्रत्येक व्यक्ति के साथ बदलता रहता है (हर एक व्यक्ति का सविकल्पक ज्ञान उसका अपना होता है और अन्य से भिन्न होता है), क्योंकि यह अर्थ नहीं, अनर्थ है, और कल्पनाप्रसूत है। सविकल्पकज्ञान में 'कल्पनाव्यापार' संहतावस्था में रहता है, किन्तु, चूँकि सविकल्पक ज्ञान अनुभवतया प्रवर्तमान होता है, फलतः यह दर्शनव्यापार को आगे कर देता है, इसलिए सविकल्पक ज्ञान को सत्य प्रत्यक्ष समझ लिया जाता है।²⁵⁹

(ख) सविकल्पक प्रत्यक्षवादियों की ओर से यह कहा जा सकता है कि शब्द का उन अर्थों से सम्बन्ध है जिनका वे संकेत करते हैं और जब अर्थोपलब्धि होती है, तो, उन अर्थों को इंगित करने वाले शब्दों का स्मरण होता है; और तब तत्संसृष्टवेदन (शब्द से संसृष्ट होने के रूप में अर्थ का वेदन) होता है। बौद्धों का इस पर कहना है कि यदि इसे मान भी लें, तो भी केवल शब्द से संसृष्ट जो अर्थ हैं वे ही उन शब्दों को स्मृति पटल पर ला सकते हैं और जो शब्दसंसृष्ट है वह अनेकों में अनुगत रहने

वाला सामान्य होता है, और उसका (सामान्य का) ग्रहण इन्द्रिय द्वारा नहीं होता। स्वलक्षण ही का ग्रहण इन्द्रियाँ करती हैं, सामान्य का नहीं, क्योंकि अलीक होने से वह सर्वसामर्थ्यरहित है। अतः, इन्द्रिय द्वारा जिनका ग्रहण होता है (यद् दृष्टं) उनके साथ शब्दों का सम्बन्ध नहीं होता, और जिनके साथ शब्दों का सम्बन्ध होता है, इन्द्रिय उनका ग्रहण नहीं करती। पुनश्च, यदि जिसका ग्रहण इन्द्रिय करती है वह अभिलापसंसर्गयोग्य है (यदि दृष्ट को शब्दवाच्य माना जाय), तब तो 'शब्द द्वारा कही गयी अग्नि से भी दृष्ट (इन्द्रियद्वारा दृष्ट) अग्नि की उष्णता का अनुभव होना चाहिए, और वैसी स्थिति में उसे शब्द के द्वारा भी शीत को हटाने में समर्थ होना चाहिए'।²⁶⁰

(ग) स्वलक्षण अविभाज्य (एक) और अविभागरूप है; उन-उन धर्मों की अनादिवासना के द्वारा इस पर, गुणों तथा सामान्य का आरोपण हो गया है और इस प्रकार उन गुणों से (जात्यादि से) सम्बद्ध होने के रूप में उसका सविकल्पक ज्ञान होता है। पुनश्च, यदि यह मान भी लिया जाय कि स्वलक्षण और सामान्यलक्षण दोनों का एक साथ में ग्रहण होता है (दोनों एक साथ संविदित होते हैं), तो भी उनमें विशेषणविशेष्यभाव नहीं हो सकता। एक ज्ञान द्वारा संविदित दो अंगुलियों में विशेषणविशेष्यभाव नहीं रहता। विशेषण विशेष्य का उपकारक होता है, अन्यथा उनमें वह सम्बन्ध ही नहीं रहेगा। एक विज्ञान द्वारा संविदित दो चीजों में न तो ज्ञाप्यज्ञापकभाव और न तो कार्यकारणभाव ही हो सकता है, क्योंकि दो समानकालिक चीजों में पौर्वापर्यनियम नहीं हो सकता।²⁶¹ आशय यह है कि एक विज्ञान द्वारा ज्ञात दो विषयों में से कोई एक अन्य का गुण नहीं हो सकता, और चूँकि न्याय-वैशेषिक यह मानते हैं कि विशेष और सामान्य का ग्रहण एक ही ज्ञान द्वारा होता है, अतः, विशेष और सामान्य में विशेषणविशेष्यभाव नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, सामान्यादि (जात्यादि) जैसी उपाधियों को यदि वस्तु का वास्तविक धर्म मान लिया जाय, तो (शिंशपा नामक वृक्ष के प्रसंग में) सभी सामान्य सत्ता, द्रव्यत्व, पार्थिवत्व, वृक्षत्व, शिंशपात्व आदि एक ही वस्तु की उपाधियाँ हो जायेंगी। अतएव, जब दूर से किसी वृक्ष का ग्रहण एक उपाधि से विशिष्ट होने के रूप में, जैसे, सत्ताविशिष्ट रूप में, होता है, तो उपर्युक्त सभी उपाधियों से विशिष्ट होने के रूप में उसके ग्रहण का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। पुनश्च, "आधाराधेयभाव के गर्भ में उपकारता की बात निहित होती है; उदाहरणार्थ, पतनधर्मा (जो कि गिरने वाला हो) 'बदर' का फल जब पिटारी में स्थापित कर दिया जाता है, तो उसका गिरना रुक जाता है, अतएव, पिटारी बदर के लिए आधार के रूप में उपकारक होती है। इसी प्रकार, अन्य उदाहरण में, द्रव्य को (वृक्ष को जो कि आधार है) जात्यादि उपाधियों का उपकारक होना चाहिए। यह भी

नहीं कहा जा सकता कि यह अपने स्वरूप द्वारा नहीं, अपितु अपनी शक्ति के द्वारा— उस शक्ति के द्वारा जो कि प्रत्येक जाति के प्रसंग में भिन्न-भिन्न है—उपकार करता है। फलतः, सभी सामान्यों का युगपत् ग्रहण नहीं होता। उस अवस्था में, इस प्रकार की एक शक्ति को धारण करने के लिए एक अन्य शक्ति की कल्पना करनी पड़ेगी, और उसके लिए अन्य की, इस प्रकार अनवस्था आ जायगी। अतः, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि स्वकारणाधीन जन्मे द्रव्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह द्रव्य अपनी अनेक उपाधियों का उपकार करता है। अतएव, सत्ता नामक सामान्य के उपकार में समर्थ होने के रूप में जब द्रव्य का ग्रहण होता है, तो इसका अर्थ हुआ कि द्रव्यादि अन्य सामान्यों के प्रसंग में भी उसका वही स्वभाव है, और फलतः, परमार्थसत् द्रव्यावगाही सत्त्वविकल्प (सत्ता सामान्य) से अविच्छिन्न होने से द्रव्यत्व, पृथिवीत्व, वृक्षत्व, शिंशपात्वादि सभी उपाधियाँ, उस वस्तु के स्वभाव से अविच्छिन्न होने के कारण, गृहीत होंगी और तब अन्य विकल्पों (के परिच्छेद) की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी।²⁶²

(घ) आचार्य धर्मकीर्ति कहते भी हैं :- वे जो यह मानते हैं कि बुद्धि नाना उपाधिवाले अर्थ की ग्राहिका है और (इस कारण) वह भेदिनी (अनेक रूप वाली) है, उनसे यह प्रश्न है कि जब अनेक उपाधियों को धारण करने में उपकारशक्ति से अभिन्न विषय या वस्तु का सर्वात्मना ग्रहण होता है, तो किस उपकार्य का परिच्छेद नहीं होता, निश्चित या परिच्छिन्न होने से कौन सा सामान्य बच जाता है? (जब एक सामान्य का ग्रहण हो गया, तो सभी सामान्यों का ग्रहण हो जायगा)। जब एक उपकारक का ग्रहण हो गया, तो उससे अपर कोई अन्य उपकार शेष नहीं रहा (अर्थात् जब उपाधियों को धारण करने वाले उपकारक द्रव्य का ग्रहण हो गया, तो उस वस्तु से अपर कोई उपकार शेष नहीं रह गया)। अतएव, उसके (वस्तु के, द्रव्य के) दृष्ट हो जाने पर सभी उपाधियों का ग्रहण हो जायगा। जहाँ तक हम बौद्धों की बात है, तो अतीत अनुभवों की अनादिवासना से आहूत होकर जिसका भी ग्रहण होता है, अथवा जिसका भी विकल्पों के द्वारा अध्यवसाय होता है, तो ये दोनों अन्यनिवृत्तिरूप होने से अवस्तु होने के कारण परमार्थसत् वस्तु (स्वलक्षण) का रंचमात्र भी अवगाहन नहीं करते। हाँ, परंपरया (असाक्षात् या परोक्ष रूप से) विकल्पक प्रत्यय वस्तुप्रतिबन्ध (यथार्थ वस्तु से व्याप्तिसम्बन्ध) के कारण लोगों का वस्तु में प्रवर्तन कराते हुए उसे प्राप्त कराता है और इसप्रकार विसंवादी नहीं होता। अतः, वस्तुसत् नहीं होने से विकल्पों का पौनरुक्त्य (वही बना रहना) नहीं है। पुनश्च, जब इन्द्रिय द्वारा वस्तु का ग्रहण होता है, तो यह सविकल्पक धी को भी उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि इन्द्रियव्यापार शब्दस्मरण के द्वारा व्यवहित हो जाता है।²⁶³ आचार्य धर्मकीर्ति ने कहा भी है - 'अर्थ से सन्निकर्ष

होने पर भी (अर्थोपयोगेऽपि) यदि अक्षधी (इन्द्रियज्ञान, प्रत्यक्ष) को स्मृति द्वारा आहूत शब्दयोजना की अपेक्षा होती है, तो उस स्थिति में वह अर्थ व्यवहित हो जायगा।²⁶⁴

(ङ) यह भी मान्य नहीं हो सकता कि "इन्द्रिय से जिसका जन्म हुआ है वह आलोचन (संवेदन) स्मरण के सहकारी होने पर सविकल्पकप्रत्यक्ष को उत्पन्न करता है।²⁶⁵ न्याय-वैशेषिक यहाँ यह आग्रह करते हैं कि स्मृति, प्रत्यक्ष का अंग होने के कारण, सविकल्पक प्रत्यक्ष को व्यवहित नहीं करती, क्योंकि अपना अंग किसी को व्यवधायक नहीं होता। बौद्धों का कथन है कि न्याय-वैशेषिक का उपर्युक्त पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि जैसा धर्मकीर्ति ने कहा भी है — जो पहले (निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के उदय के समय) सविकल्पक प्रत्यक्ष को उत्पन्न नहीं करता, वह बाद में भी उसका जनक नहीं हो सकता, क्योंकि, दोनों ही अवस्थाओं में (इन्द्रिय का अर्थ के साथ) सन्निकर्ष वैसा ही है (एक जैसा ही है)। पुनश्च, अतीत कभी भी इन्द्रिय का गोचर (विषय) नहीं हो सकता और सहस्र उपायों से भी इन्द्रिय अपने अविषय में प्रवर्तित नहीं हो सकती। न तो स्मृति ही वर्तमान विषय को, जो कि पहले अनुभूत नहीं हुआ है, अपना गोचर बना सकती है। यदि इन्द्रिय अतीत विषय को वर्तमान विषय के रूप में ग्रहण कर सकती है, तो अन्ये को भी रूप का साक्षात्कार होता है, ऐसा मानना पड़ेगा। इसी कारण, आचार्य धर्मकीर्ति ने कहा है कि उस स्थिति में तो आँख के समाप्त हो जाने पर भी चाक्षुषज्ञान (चक्षुप्रत्यक्ष) होगा।²⁶⁶ अतः 'यह सिद्ध हो गया कि जिस ज्ञान में नाम, जाति, गुण और कर्म की कल्पना हो तो वह प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। यही बात द्रव्यकल्पना वाले ज्ञान की भी, उदाहरणार्थ 'दण्डी' की, है। धर्मकीर्ति ने कहा भी है — "विशेषण, विशेष्य, इसमें सम्बन्ध और इनमें लोकप्रसिद्ध व्यवस्था, लौकिक स्थिति (अपारमार्थिक स्थिति) का पृथक्-पथक् स्वरूप से ग्रहण करके और फिर इन सबका संकलन करके विशिष्ट बुद्धि (विकल्पबुद्धि) विशेषणविशेष्य रूप लौकिकस्थिति से पदार्थ का ज्ञान करती है, और तभी उनका प्रत्यय होता है, किसी अन्य प्रकार से (अन्यथा) नहीं। केवल विचारक (*Thinking agent*) के द्वारा निवर्तनीय (सम्पादित किये जा सकने योग्य) यह जो व्यापारकलाप है उसे इन्द्रियज्ञान सहन नहीं कर सकता, ऐसा इन्द्रियज्ञान जो सन्निहितविषय के बल से उत्पन्न विचार होने के कारण विचारक (*Thinking agent*) नहीं है"।²⁶⁷ अतः, सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता।

न्याय-वैशेषिकों का उत्तर और उसका मूल्यांकन

श्री वाचस्पति मिश्र उत्तर देते हुए कहते हैं कि बौद्धों का यह कथन कि सविकल्पक प्रत्यक्ष को, अर्थ के सामर्थ्य से उत्पन्न होने तथा अभिलापसंसर्ग के योग्य

प्रतिभास मानने में विरोध है, ठीक नहीं है, क्योंकि विरोध तब होगा यदि केवल स्वलक्षण ही अर्थ होता, किन्तु ऐसा नहीं है। परमार्थ सत् अर्थ नित्य (स्थिर अथवा अक्षणिक), जात्यादि से विशिष्ट (जात्यादिमन्त) होता है और उसकी प्रतिभासा अभिलापसंसर्गयोग्य होती है। अतएव, जात्यादि से जनित ज्ञान अर्थजनित भी है, और उसकी प्रतिभासा अभिलापसंसर्गयोग्य होती है। इस प्रकार कोई विरोध नहीं है। तदनन्तर वाचस्पति मिश्र यह बतलाते हैं कि विशेष द्रव्य और उनके जात्यादि दो विलग अर्थ हैं और दोनों सविकल्पकप्रत्यक्ष को उत्पन्न करते हैं। वे कहते हैं कि "बौद्धों के अनुसार सविकल्पकज्ञान जात्यादि के द्रव्य से भिन्न होने की संरचना कर लेता है, यद्यपि वस्तुतः वे (द्रव्य और जात्यादि) अभिन्न हैं, अतएव, सविकल्पकज्ञान अर्थ के सामर्थ्य से नहीं जन्मते"। किन्तु यह पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि द्रव्य और जात्यादि में भिन्नता होती है। इसका प्रतिपादन हम (न्याय-वैशेषिकादि) बाद में करेंगे। हम यह पहले ही प्रतिपादित कर आये हैं कि जात्यादि द्रव्य से भिन्न हैं, फिर भी, जात्यादि के वाचक शब्दों और द्रव्यों का सामानाधिकरण्य कैसे हो जाता है।²⁶⁸

शब्द और तद्वाच्य अर्थ के मध्य अभेदकल्पना के प्रसंग में आचार्य वाचस्पति यह विवेचना प्रस्तुत करते हैं कि बौद्धों का यह तर्क है कि सविकल्पकप्रत्यक्ष अनर्थज (अर्थसे उत्पन्न नहीं) है, क्योंकि सविकल्पक प्रत्यक्ष — जैसे 'यह छिन्थ है' — में अर्थ की शब्द के साथ अभेदकल्पना कर ली जाती है, यद्यपि शब्द अर्थ से भिन्न है। किन्तु यह बौद्ध पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि 'अव्यपदेश्य' पद की व्याख्या के प्रसंग में यह बतलाया जा चुका है कि किस प्रकार शब्दाभेदपूर्वक (शब्द और) अर्थ के मध्य एकेन्द्रियज्ञानसंसर्गिता (एक इन्द्रिय से ज्ञान के संसर्ग की स्थिति) नहीं होती, किन्तु सामान्य-विशेषवान् अर्थ जब पहले-पहल संविदित (आलोचित) होता है, तो यह हमें उस अतीत अवस्था का स्मरण कराता है जब कि शब्द के साथ इसका सम्पर्क प्रथम-प्रथम गृहीत हुआ था, और उसी प्रक्रिया में वह अनिवार्यरूपेण उस काल में अनुभव किये गये शब्द का भी स्मरण कराता है। तथापि, इन्द्रियज सविकल्पकप्रत्यक्ष की उत्पत्ति में शब्दस्मरण का कोई अंशदान नहीं रहता। यदि ऐसा नहीं होता, तो बालक और गूँगे आदि में इन्द्रियज सविकल्पक प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि बालक और गूँगों में शब्दस्मरण का अभाव होता है। हाँ, वस्तु की अतीतावस्था, वह अतीतावस्था जबकि शब्द के साथ इसका (वस्तु का) सम्बन्ध स्थापित हुआ था, के स्मरण का (सविकल्पकप्रत्यक्ष की उत्पत्ति में) अंशदान रहता है। अतीत (तदानीन्तन) और वर्तमान (इदानीन्तन) इन दो अवस्थाओं से वस्तु युक्त होती है और इनका आकलन इन्द्रियज सविकल्पक प्रत्यक्ष करता है। वहाँ पर आकस्मिक या सांयोगिक ढंग से जिस शब्द की

प्रतीति होती है वह इन्द्रियजविकल्प का अंग नहीं बनता (उपर्युक्त ज्ञान में शब्द संपाततः आ गया रहता है और इन्द्रियजविकल्प में वह अपना निवेश नहीं करता)।²⁶⁹ कहा भी गया है — 'स्मर्यमाण होने पर भी संज्ञा (शब्द) प्रत्यक्ष को बाधित नहीं करती है, क्योंकि वह अपने को (सविकल्पकज्ञान की आत्मा से) अलग किये रहती है, और वस्तु के रूप के आच्छादन में वह समर्थ नहीं है।' इससे फलित हुआ कि शब्द, अर्थ और इन्द्रिय व्यापार में व्यवधान नहीं डालता, हस्तक्षेप नहीं करता।²⁷⁰

आचार्य वाचस्पति मिश्र का कहना है कि यह आक्षेप भी युक्त नहीं कि 'चूँकि सविकल्प प्रत्यक्ष अतीतावस्था (प्रागवस्था) के स्मरण की अपेक्षा रखता है, अतः इन्द्रियार्थसन्निकर्ष इसका कारण नहीं हो सकता'। कारण यह है कि बौद्ध भी यह मानते हैं कि कोई भी चीज एकमेव कारण से नहीं, अपितु कारणसामग्री से संभव (उत्पन्न) होती है, यदि ऐसा नहीं हो (यदि अन्य कारणसापेक्ष इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नप्रत्यक्ष को वास्तविक प्रत्यक्ष न माना जाय), तो, अर्थ और इन्द्रिय को (चक्षु इन्द्रिय), आलोक तथा मनस्कार की सहायता से (यद्यपि, अकेले नहीं) निर्विकल्पक ज्ञान को भी उत्पन्न नहीं करना चाहिए। प्रथम—प्रथम ही सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से क्यों नहीं होती? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि स्मरणसहकारी के न रहने के कारण प्रथमावस्था में वैसा नहीं हो पाता। भण्डार में रखा गया बीज अंकुर को वहाँ पर पैदा नहीं करता, यह कोई कारण नहीं है कि मिट्टी आदि अपने सहकारी कारणों के सम्पर्क में भी बीज अंकुर को उत्पन्न न करे।²⁷¹

बौद्धों का आक्षेप है कि अतीतावस्था इन्द्रियगोचर नहीं है, क्योंकि इन्द्रियवृत्ति केवल वर्तमान अर्थ में नियत होती है। वर्तमान अर्थ स्मृतिगोचर नहीं होता, क्योंकि स्मृति का जन्म पूर्वानुभवजनित संस्कार के उद्बोध से होता है और वह पूर्वानुभव के विषय में ही नियत होती है। अतः, भिन्नविषयवाला होने से स्मरण इन्द्रिय का सहकारी नहीं हो सकता। रूपविषयात्मक सहस्रों नेत्र एवं प्रदीपादि शब्दविषयात्मक कर्ण या श्रवण के सहकारी नहीं हो सकते।²⁷² वाचस्पति मिश्र एक बौद्ध सिद्धान्त का हवाला देते हुए पूछते हैं कि जहाँ गन्धज्ञान के अनन्तर चाक्षुष ज्ञान पैदा होता है वहाँ गन्धज्ञान को क्या आप समनन्तरप्रत्यय नहीं मानते? वहाँ पर भी चक्षु, जिसका कि विषय रूप होता है, गन्धविषय वाले प्रत्यक्षज्ञान का सहकारी नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों का विषय भिन्न होता है।²⁷³ बौद्ध इस पर स्वपक्ष की व्याख्या में कहता है कि कार्यकारणभाव अन्यव्यतिरेक पर निर्भर करता है, समान इन्द्रिय का विषय होने में नहीं। इस पर नैयायिकादि का उत्तर है कि यही बात हमारे पक्ष में भी लागू होगी। इसप्रकार, कारणकार्यसम्बन्ध के आधार पर, सविकल्पकप्रत्यक्ष इन्द्रिय और स्मरण से

जन्मता है, यद्यपि इन्द्रिय का विषय अन्य होता है और स्मृति का अन्य। बौद्ध इसपर एक अन्य आक्षेप उठाते हैं — “वास्तविकता यह है कि (वस्तु की) अतीतावस्था इन्द्रियसन्निकृष्ट नहीं होती, फलतः उसका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है?” वाचस्पति का उत्तर है क्या आपके कथन का यह मंतव्य है कि जो कुछ भी इन्द्रियसम्बद्ध होता है उसका प्रत्यक्ष होता है? यदि वैसा माना जाय, तब तो आकाश एवं परमाणु का भी, जो कि इन्द्रियसंयुक्त होते हैं, प्रत्यक्ष मानना होगा।²⁷⁴ यहाँ द्रष्टव्य है कि वाचस्पति बौद्धों के कथन का गलत अर्थ लगा रहे हैं। वे बौद्ध कथन का गलत आवर्तन — ‘ए’ वाक्य का ‘ए’ में आवर्तन कर देने का दोष (*Fallacy of simple conversion*) कर रहे हैं, क्योंकि बौद्धों के कथन का आशय यह है कि जो कुछ भी प्रत्यक्ष होता है वह सब इन्द्रियसम्बद्ध होता है। अतः, वास्तविकता यह है कि जो कुछ भी इन्द्रियज ज्ञान का गोचर होता है वह प्रत्यक्ष है, वह सब कुछ नहीं जो इन्द्रियसम्बन्ध है (तस्माद् यदेवेन्द्रियजस्य ज्ञानस्य गोचरस्तत् प्रत्यक्षम्)। यहाँ पर ध्यानीय है कि शास्त्रीयपरंपरा के लक्षण से जो हटना यहाँ परिलक्षित हो रहा है, वह बौद्ध आक्षेप का उत्तर देने के लिए किया गया संशोधन है।

यह पूछा जा सकता है कि अर्थ से असम्बद्ध इन्द्रिय वहाँ पर (अर्थ के प्रसंग में) ज्ञान को कैसे उत्पन्न करती है और उस ज्ञान को प्रत्यक्ष कैसे माना जा सकता है? यदि उस प्रकार के ज्ञान को प्रत्यक्ष माना जाय, तो ‘इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न’ ऐसा जो प्रत्यक्ष का लक्षण है, वह प्रत्यक्ष के सभी उदाहरणों को कैसे व्याप्त कर सकेगा? उस स्थिति में तो ऊपर उद्धृत दृष्टान्त (वस्तु की अतीतावस्था का प्रत्यक्ष) को भी लक्षण व्याप्त नहीं कर सकेगा। वाचस्पति का उत्तर है कि ‘अर्थ’ की पूर्वकालवर्ती अवस्था भले ही इन्द्रिय गोचर न होवे, तथापि स्मरणसहकारी अथवा संस्कारसहकारी इन्द्रिय के द्वारा जो (प्रत्यक्ष) ज्ञान जन्मता है उसके द्वारा उसको (अतीतावस्था को) विषय बनाया जाता है। यह नहीं कहा जा सकता कि स्मरण के सहयोग से इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जो उपजनित होता है वह इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न नहीं होता।²⁷⁵

पूर्वापर अवरथा जिसका विषय होती है ऐसा परामर्शज्ञान एक कैसे हो सकता है, क्योंकि दो विभिन्न प्रकार की चीजें इसकी विषय होती हैं और पारोक्ष्य एवं अपारोक्ष्य लक्षणवाले विरुद्ध धर्मों को वह धारण करता है। (उदाहरणार्थ, ‘तदिदम्’ रूप विकल्प ज्ञान में) ‘तद्’ परोक्ष रूप है और ‘इदम्’ अपरोक्ष या साक्षात्कार रूप। यह भी नहीं कहा जा सकता कि विरुद्धधर्मों का संसर्ग यद्यपि विकल्पज्ञान में रहता है फिर भी ज्ञान का एकत्व है, क्योंकि उस स्थिति में तीनों लोकों के एकत्व का प्रसंग

उपस्थित हो जायगा। इसके अतिरिक्त, वहाँ पर विषयभेद भी है, क्योंकि एक ही विषय का, पूर्वदेशकाल और अपर देशकाल से सम्बन्ध मानना विरोधात्मक है।²⁷⁶ एक क्षण में जो भाव या अस्तित्व है, जैसे कि वर्तमान में जो अस्तित्व है, वह अन्यक्षण अर्थात् भूतक्षण के अभाव या अनस्तित्व का सूचक है। इसीप्रकार भूतक्षण के अस्तित्व का अर्थ है वर्तमानक्षण का अनस्तित्व; क्योंकि एक के अनस्तित्व पर दूसरे का अस्तित्व निर्भर रहता है। वाचस्पति मिश्र का उत्तर है कि यद्यपि पूर्वापरदेशकाल और उनसे वस्तु का सम्बन्ध दो भिन्न भाव (entities) हैं, क्योंकि उनमें परस्पर अभावाविनाभाव सम्बन्ध (एक के अभाव में अन्य का सहवर्ती न होना) होता है और कभी भी उनका तादात्म्येन प्रतिभासन नहीं होता, तथापि अर्थ जैसे कि, पद्मरागमणि, जो कि दोनों के स्वभाव का आलिंगन किये हुए है, वैसा नहीं है (दो समयों में भिन्न नहीं है), क्योंकि पद्मरागमणि उन दोनों से अन्य है। इसके अतिरिक्त, अन्य में रहने वाला अपने से अन्य वस्तु में भेद डाल नहीं सकता, क्योंकि, वैसा न मानने पर अतिप्रसंगदोष होगा।²⁷⁷

बौद्धों ने यह आक्षेप उठाया था कि जो अर्थ इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया गया था, यदि वही अर्थ शब्द द्वारा भी संकेतित हो सकता है, तो शब्द द्वारा अभिव्यक्त अग्नि को शीत को भी दूर कर देना चाहिए। वाचस्पति के अनुसार यह आक्षेप युक्त नहीं है, क्योंकि यद्यपि सविकल्पक प्रत्यक्ष और शब्द दोनों वस्तु को अपना विषय बनाते हैं, तथापि उन दोनों के प्रत्यय में अभेद नहीं होता, क्योंकि अपने-अपने कारणभेद के चलते उनके ज्ञान, अपरोक्ष तथा परोक्ष रूप में, भिन्न होते हैं। शीत का दूर होना (केवल सक्षात् या अपरोक्ष ज्ञान के समय उपस्थित) अग्नि के सम्पर्क से होता है, मात्र शब्दज्ञान से नहीं।²⁷⁸ पुनश्च, जब सामान्य एक उपाधि, उदाहरणार्थ, 'सत्त्व के विशिष्ट रूप में गृहीत होता है, तो द्रव्यत्वादि अन्य उपाधियों का भी ग्रहण हो जाना चाहिए' यह बौद्ध आक्षेप भी उचित नहीं। जब एक उपाधि से विशिष्ट होने के रूप में किसी अर्थ का ग्रहण होता है, तो यह सामान्य के अन्य उपाधिविशिष्ट होने के ग्रहण को इंगित नहीं करता, क्योंकि उपाधियों द्रव्य के स्वभाव की विशेषण हैं, उपाधि अथवा उपाधि से विशिष्ट होना द्रव्य का स्वभाव नहीं है। जो कुछ भी द्रव्य से सम्बन्धित है, वह उसका स्वभाव नहीं हो जाता। यदि ऐसा होता, तो हम उसे उससे सम्बद्ध नहीं मानते, क्योंकि कोई वस्तु अपने ही से सम्बन्धित नहीं हो सकती।²⁷⁹

"अविचारक इन्द्रिज्ञान विशेषण, विशेष्य आदि सभी का आकलन कैसे कर सकता है" इस प्रश्न पर वाचस्पति मिश्र का प्रतिप्रश्न है— "क्या मानस ज्ञान भी संकलन में समर्थ होता है"? यदि आप हाँ कहें, क्योंकि मनस्, जो कि इसका कारण है, सभी प्रकार की वस्तुओं को अपना विषय बना सकता है, तो प्रश्न है, कि मनस् यदि पूर्वज्ञान

के स्वरूप का हो (क्योंकि आप बौद्धों के यहाँ कोई स्थायी या नित्य विचारक ज्ञाता, नहीं होता) तो यह सभी प्रकार की चीजों को कैसे जान सकता है? जहाँ तक हम नैयायिकों का सम्बन्ध है, यद्यपि, हमारे यहाँ भी मनस् सभी प्रकार की वस्तुओं को अपना विषय बनाता है, तथापि हम, मनस् को विचारक नहीं मानते, क्योंकि वह अचेतन है। इस कारण, आत्मा ही सभी ज्ञान और तज्जनित वासना का आधार है, स्मर्ता और प्रतिसंघाता (प्रत्ययों का संकलन करने वाला) है।²⁸⁰

‘दो युगपत्प्रत्यय, जिनमें से एक अन्य का उपकारक नहीं हो सकता, विशेषणविशेष्य सम्बन्ध में कैसे संकलित होते हैं और वह सम्बन्ध निर्विकल्पकप्रत्यक्ष के प्रथम क्षण में क्यों ज्ञात नहीं होता’, इस बौद्ध आक्षेप का उत्तर देते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं — यद्यपि एकविज्ञान द्वारा वेद्य दो वस्तुओं में ज्ञाप्यज्ञापकभाव रूप उपकार्योपकारक सम्बन्ध नहीं होता, तथापि विशेषणविशेष्यभाव का अवगाहन करने वाले ज्ञान (सविकल्पक ज्ञान) के प्रति अर्थालोचन (निर्विकल्पक ज्ञान) और तदनुगतस्मरण का उत्पादकत्व है ही, और यही उत्पादकत्व उन दोनों का उपकारकत्व भी है। (विशेष और सामान्य ये) दो अर्थ रूपरूपीभाव में स्थित होने पर, प्रथमक्षण में होने वाले निर्विकल्पकज्ञान द्वारा उस रूप में (रूपरूपीभाव में) गृहीत नहीं होते, अपितु स्वरूपमात्रेण (परस्पर असम्बद्ध रूप से) गृहीत होते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि जो कुछ भी (अस्तित्व रखता) है उसका (सर्वतोभावेन) ग्रहण किया ही जाय। अतएव, यद्यपि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष (विशेष और सामान्य का) एकदेशतया ही ग्रहण करता है (उनके पारस्परिक सम्बन्ध को ग्रहण नहीं करता), तथापि वह अप्रामाणिक नहीं है। हाँ, उपर्युक्त सामग्री से जन्मनेवाला (परस्पर असम्बद्ध ‘सामान्य’ और ‘विशेष’ के निर्विकल्पक ज्ञान तथा अतीत के स्मरण से जन्मनेवाला) सविकल्पक प्रत्यक्ष जात्यादि को ‘रूपतया’ और द्रव्य को ‘रूपितया’ प्रस्तुत करता हुआ, पश्चाज्जन्मा होने पर भी इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष ही है।²⁸¹

आचार्य भासर्वज्ञ भी बड़े विस्तार से सविकल्पक ज्ञान की प्रत्यक्षता की स्थापना करते हैं। विस्तार तथा पुनरावृत्तिदोष से बचने के लिए उनकी कुछ महत्त्वपूर्ण विवेचना का ही उल्लेख यहाँ किया जा रहा है। “सतोऽपि तदात्मन इन्द्रियान्तरज्ञानोत्पत्तावसामर्थ्यात्” ऐसा आक्षेप जो बौद्धों ने किया है वह युक्त नहीं, क्योंकि वह तो हमारा अभ्युपगम ही नहीं है। चक्षुरादिज्ञान का जो विषय है उसे शब्द का विषय हम भी नहीं मानते, किन्तु संकेतानुभव अथवा उसकी स्मृति के सहकार से इन्द्रिय के द्वारा अपने ही विषय में ‘गौ’ इत्यादि का ज्ञान उत्पन्न किया जाता है।²⁸² इसी प्रकार, धर्मकीर्ति ने ‘प्रमाणविनिश्चय’ में अर्थोपयोगेऽपि इत्यादि के द्वारा,

स्मृति की अपेक्षा होने के कारण जिस व्यवधान की बात कही है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अर्थ का क्षणिक होना ही सिद्ध नहीं है। क्षणिकवादी बौद्ध भी सहकारी के वैलक्षण्य के कारण, एक ही संतान से विलक्षण कार्य की उत्पादकता को स्वीकार करते हैं। जिसप्रकार एक ही अग्निसंतान को किसी एक मृतसंतान अथवा अश्मसंतान का, सहकारीभेद के अनुरोध से रूपादिआकार विशेष के प्रति व्यवहिततया कारण माना जाता है, उसीप्रकार, निर्विकल्पक ज्ञान को उत्पन्न कर बाद में विशेष सहकारी को प्राप्त कर लेने वाले अर्थसंतान अथवा इन्द्रियसंतान की भी 'गौ' इत्यादि आकार के प्रति कारणता हो जायगी; तो फिर व्यवधान कैसे हुआ?²⁸³ इसी से 'यः प्रागजनको बुद्धेः'..... इत्यादि का भी निरास हो जाता है। भासर्वज्ञ पुनः कहते हैं कि मानसप्रत्यक्ष में, पहले जो अनुपयुक्त अर्थ है उसका बाद को उपयोग पाया जाता है। यदि यह कहा जाय कि मानसप्रत्यक्ष में अर्थ का बाद को उपयोग होता है, किन्तु वह अक्षज नहीं होता, तो हमारा कहना है कि इससे यह फलित हुआ कि विवाद अर्थजत्व में नहीं, अपितु अक्षजत्व में है। जिसप्रकार अर्थ का, पहले केवल अर्थाक्षिज्ञान में ही सामर्थ्य रहता है, किन्तु बाद में अपने सहकारी के साथ होने पर मानसप्रत्यक्ष में भी उसका सामर्थ्य माना जाता है, उसी प्रकार इन्द्रिय और अर्थ इन दोनों का पहले-पहल केवल निर्विकल्पकज्ञान में ही सामर्थ्य होता है, किन्तु बाद में सहकारी विशेष से युक्त होने पर सविकल्पक ज्ञान में भी उसका सामर्थ्य क्यों नहीं चाहा जाता?²⁸⁴

पुनश्च धर्मकीर्ति ने, प्र-वा 2/174 में 'संकेतस्मरणोपायं..... इत्यादि के द्वारा प्रत्यक्ष में शब्दकल्पना का निराकरण करते हुए सविकल्पक ज्ञान के प्रत्यक्ष न होने के विषय में जो कुछ कहा है, वह भी अयुक्त ही है, क्योंकि संकेतस्मरणोपायत्व (पूर्वदृष्ट संकेत का स्मरण ही जहाँ उपाय है वह स्थिति) तथा चाक्षुषत्व में कोई भेद नहीं है। 'अयं दण्डी' इत्यादि ज्ञान की और प्रत्यभिज्ञान की भी सन्निहितविषयता होती ही है। यदि विरोधी यह कहे कि 'स इति' के द्वारा असन्निहित और पूर्वदृष्ट का ही परामर्श किया जाता है, तो हम इसका निषेध करेंगे, क्योंकि इससे अभिन्न जो है उसकी सन्निहितता के साथ उपपत्ति नहीं बैठती। यदि प्रश्न किया जाय कि तदभिन्नत्व (उससे अभिन्न होना) किसके द्वारा गृहीत किया जाता है, तो, हमारा उत्तर है कि चक्षु के ही द्वारा पूर्वदर्शनविशिष्टता (यह वस्तु पहले देखी हुई है यह बात) स्मृति के साथ, चक्षु द्वारा गृहीत होती है। इसका अर्थ यह है कि उसको विषय करके प्रत्याभिज्ञाज्ञान उत्पन्न होता है और उसमें प्रत्याभिज्ञाज्ञान के द्वारा सकारादि वर्ण का प्रतिभासन होता है, पूर्वदर्शन का अवभास नहीं होता है। किन्तु, '(यह) वही अर्थ है' में अर्थ जिस प्रकार दृष्ट हुआ है, वह उसी प्रकार का है, (इस बात को दूसरे को बतलाने के लिए और)

इससे भिन्न बात का निषेध करने के लिए 'उसके अभिधायक 'स एवायम्' ऐसे शब्द को व्यक्ति स्मृति द्वारा उच्चरित करता है। 'दण्डी' इत्यादि ज्ञान के विषय में भी इसी तरह समझना चाहिए।²⁸⁵

'विचारकर्त्ता को मानने पर इन्द्रियज्ञान और मनोज्ञान में भेद नहीं रह जायगा' इत्यादि जो आक्षेप बौद्धों ने हमारे ऊपर लगाया है वह भी अयुक्त है। जैसे आप बौद्धों के मत में, चतुर्विध प्रत्यक्ष में निर्विकल्पकत्व और अम्रान्तत्व की दृष्टि से अविशेषता होने पर भी उनमें अवान्तर धर्मभेद है, विषयभेद और कारणभेद है, उसीप्रकार 'विचारकत्व' की दृष्टि से इन्द्रियज्ञान और मनोज्ञान में अविशेषता होने पर भी इन्द्रियज्ञान एवं मनोज्ञान में अभेद नहीं है। इसीप्रकार, अतीत और अनागत वस्तुभेद के ग्रहण आदि का प्रसंग भी हमारे मत में नहीं उठता।²⁸⁶ पुनश्च, जात्यादिसम्बन्ध को इन्द्रियज्ञान का विषय नहीं मानने में जो कारण बौद्धों ने बतलाया है वह भी सारहीन है; क्योंकि जात्यादिसम्बन्धों को हमने इन्द्रिय विषयत्व के द्वारा साधित नहीं किया है, अपितु विशिष्ट ज्ञान को केवल विशेष्यालम्बनता के द्वारा सिद्ध किया है; अतः अतीतशब्दादिविषयता का प्रसंग भी हमारे पक्ष में नहीं उठ सकता।²⁸⁷ अतः, सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है, यह सिद्ध हो गया।

अब हम उस स्थिति में पहुँच गये हैं जहाँ यह विचार करना वांछनीय लगता है कि बौद्ध और नैयायिकों में युक्त पक्ष किसका है। दोनों तरफ के शास्त्रार्थ से यह स्पष्ट है कि बौद्धों की सारी युक्तियों की केन्द्रीय धारा इस तथ्य को उद्घाटित करने में प्रयत्नशील है कि तथाकथित सविकल्पक प्रत्यक्ष में मानसिक तत्त्व (*mental factor*) पाया जाता है, अतः, उसे वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता। दूसरी तरफ न्यायवैशेषिक मत सारी युक्तियों से यह स्थापित करना चाहता है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष में मानसिक तत्त्व नहीं होता, अतः सविकल्पक प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थसन्निकर्ष रूप मूल से उतना ही जुड़ा है जितना कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष। दिग्नाग-धर्मकीर्ति-सम्प्रदाय इस बात का आग्रह करता है कि सविकल्पक ज्ञान में नामयोजना या शब्दकल्पना अनिवार्यतः निहित होती है। वाचस्पति मिश्र एवं भासर्वज्ञ इस पर कहते हैं कि यद्यपि सविकल्पक ज्ञान द्वारा गृहीत अर्थ के वाचक शब्द की स्मृति सविकल्पक प्रत्यक्ष में पायी जाती है, तथापि स्मृति उसकी उत्पत्ति में तटस्थ रहती है; उसका कोई भी अंश सविकल्पक ज्ञान के स्वरूपगठन में नहीं रहता और न तो वह सविकल्पक ज्ञान का विषय ही है। न्यायवैशेषिक जाति, गुण, कर्म, द्रव्य आदि को कल्पना न मानकर, मानसिक संयोजना न मानकर 'अर्थ' मानते हैं। किन्तु, न्याय-वैशेषिक के सब कुछ कह लेने के बावजूद भी 'सविकल्पक प्रत्यक्ष में मानसिक तत्त्व का पदचिह्न बचा

ही रह जाता है, जिसे वे भी नकार नहीं सकते।¹²⁸⁸ नैयायिक यह आग्रहपूर्वक कहते अवश्य हैं कि शब्दस्मरण का सविकल्पक ज्ञान को उत्पन्न करने में कोई अंशदान नहीं होता, तथापि वाचस्पति मिश्र एवं भासर्वज्ञ जैसे आचार्य बाध्य होकर स्वीकार करते हैं कि 'संकेतसमयवर्त्यवस्थास्मरणं तूपयुज्यते, वस्तुनस्तदानीन्तनेदानीन्तनावस्थाभेदवत् एकस्येन्द्रियजेन विकल्पेनाकलनात्'। न्यायचतुर्ग्रन्थिका पृ० 229-230।¹²⁸⁹

ऊपर की विवेचना से यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञान के आकार में होता है, क्योंकि इसमें वस्तु की अतीतावस्था की चेतना रहती है। भासर्वज्ञ में भी इस बात का प्रमाण हमें मिलता है (न्या०भू०पृ० 184, पंक्ति 9-12)। 'यह वही वस्तु है जिसको मैंने पहले देखा था' इसप्रकार का स्वरूप प्रत्यभिज्ञान का होता है। यह ठीक है कि सारे सविकल्पक प्रत्यक्ष को "यह वही है इत्यादि" रूप में अभिव्यक्त कर पाना संभव नहीं है, तथापि यह तो निर्विवाद तथ्य है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष में ज्ञात विषय की अतीतावस्था का संकेत अवश्य रहता है। अतः, अतीत के अनुभव से अनुविद्ध होने की बात सविकल्पक प्रत्यक्ष में मानसिक तत्त्व के होने को प्रमाणित करती है। डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री की यह टिप्पणी युक्त है कि 'यदि अर्थ की अतीतावस्था प्रत्येक सविकल्पक प्रत्यक्ष में गृहीत होती है, तो यह स्पष्टतया मानसिकतत्त्व है। अतीतावस्था का ग्रहण केवल स्मृति द्वारा संभव है, इन्द्रिय द्वारा कथमपि नहीं। वस्तुतः, समस्या का हृदय यही तथ्य है जिसका न्याय-वैशेषिक को सामना करना पड़ा। बौद्ध आक्रमण का प्रभाव इतना सांघातिक था कि वाचस्पति मिश्र जैसी योग्यता के आचार्य को उसका सामना करीब-करीब दोषपूर्ण उत्तर से करना पड़ा।¹²⁹⁰ यह हम देख चुके हैं कि बौद्धों की आलोचना का उत्तर देने के लिए वाचस्पति ने प्रत्यक्ष के लक्षण को संशोधित कर दिया। उन्हें यह बाध्य होकर घोषित करना पड़ा— "यदेव इन्द्रियजस्य ज्ञानस्यगोचरस्तत् प्रत्यक्षम्, नत्विन्द्रियसम्बद्धम्" (न्यायचतुर्ग्रन्थिका पृ० 231 पंक्ति, 3)। इसका यह अर्थ हुआ की वाचस्पति और इसलिए न्याय के अनुसार, प्रत्यक्ष का ऐसा भी विषय हो सकता है जिसका इन्द्रिय के साथ सन्निष्कर्ष नहीं होता, फिर भी इन्द्रियोत्पन्न प्रत्यक्ष के द्वारा वह गृहीत होता है। हम इस प्रसंग में वाचस्पति की मान्यता देख चुके हैं। भासर्वज्ञ भी उसी तरह की बात, बौद्धों की आशंका का समाधान करने में, कहते हैं। यह स्वीकार करना कि 'अर्थ का, अपनी अतीतावस्था के साथ सम्बन्ध यद्यपि इन्द्रिय द्वारा गृहीत नहीं होता, तथापि स्मृति अथवा संस्काररूप सहकारी के सहयोग से इन्द्रियज प्रत्यक्षात्मक ज्ञान में वह गृहीत होता है', न्याय-वैशेषिक के मूलभूत पक्ष को छोड़ देना है। मूलतः, न्याय-वैशेषिक यह मानते थे कि जिसके साथ इन्द्रियसन्निष्कर्ष होता है प्रत्यक्ष उसी का होता है,

परन्तु अब यह कहा जा रहा है कि इन्द्रियज्ञान की परिधि में जो कुछ आता है वह प्रत्यक्ष का विषय होता है, अतः उसका प्रत्यक्ष हो सकता है। साफ है, दृष्टिकोण में यह संशोधन बौद्धों के प्रत्याक्रमण से निपटने के लिए किया गया। इस स्थल पर आकर हम पाते हैं कि न्याय-वैशेषिकों की प्रमाणमीमांसा में नवीन तथ्य प्रस्तावित होने की प्रक्रिया में हैं। जब इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, तो वह ऐसी बात को भी अपने साथ सटा लेता है जिसके साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं हुआ था। न्याय के अनुसार यह बात 'स्मृति' अथवा 'संस्कार' के सहकार से संभव होती है। इसी प्रसंग में न्याय-वैशेषिक अतीत तथा वर्तमान दोनों अवस्थाओं से सम्बद्ध अर्थ के ज्ञान को एक और अभेदरूप मानता है। बौद्ध इस प्रकार के ज्ञान को (1) वर्तमानावस्था का प्रत्यक्षज्ञान, तथा (2) अतीत की स्मृति, इन दो अंशों से बना हुआ नहीं मानते। किन्तु, यदि यह स्वीकार किया जाय कि संस्कार नहीं, अपितु स्मृति इन्द्रिय की सहकारी होती है, तो, इसका फलितार्थ निम्नलिखित प्रकार का होगा। प्रथमतः, पहले अतीतावस्था के साथ अर्थ के सम्बन्ध का स्मरण होता है, और द्वितीयतः, स्मृति इन्द्रिय की सहकारी तो होती है, किन्तु स्वतः अदृश्य हो जाती है, वह स्वतः प्रत्यक्षज्ञान का हिस्सा नहीं बनती, अन्यथा प्रत्यक्षात्मक ज्ञान एकात्मक नहीं हो सकता। अतः, यह माना जाता है कि स्मृतिसहकारी इन्द्रिय के द्वारा अभेदरूप व एकात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है जो कि अर्थ को वर्तमान एवं अतीत दोनों से सम्बद्ध हुए रूप में गृहीत करता है। तो भी, इस तथ्य से कि प्रत्यक्ष स्मृतिपूर्वक होता है, यह इंगित होता है कि एकात्मक या अभेदरूप प्रत्यक्षज्ञान में बाह्यतत्त्व पाया जाता है।²⁹¹

इसी प्रकार, बाद के नैयायिकों की यह मान्यता कि संस्कार इन्द्रिय के सहकारी बनते हैं, स्मृति नहीं, युक्तपक्ष नहीं है, क्योंकि वस्तुस्थिति यह है कि इन्द्रिय सर्वदा वर्तमान विषय को ही ग्रहण करती है, और 'संस्कार' सर्वदा भूतविषय से अनुविद्ध रहता है और अतीत के प्रसंग में ही उसकी सार्थकता होती है। इन्द्रिय कभी अतीत विषय को ग्रहण नहीं कर सकती और 'संस्कार' कभी वर्तमान के संदर्भ में नहीं होगा। यद्यपि श्रीधर न्यायकन्दली में इसका उत्तर देते हैं कि 'यद्यपि, अलग-अलग रूप से कार्य करते हुए इन्द्रिय और 'संस्कार' क्रमशः (भूत और वर्तमान विषय के ग्रहण में) असमर्थ हैं, तथापि, जब संहतावस्था में वे कार्य करते हैं, तो प्रत्यभिज्ञा को उत्पन्न करते हैं।'²⁹² फिर भी यह मान्यता मात्र है। उनके पास इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं कि मानसिकतत्त्व और निर्विकल्पकता में सम्बन्ध कैसे होता है (अतीत के ही प्रसंग से सार्थक होने वाला संस्कार मानसिकतत्त्व से युक्त है और इस प्रकार विकल्पवान है)? यद्यपि उसका उत्तर वाचस्पति मिश्र ने यह कहकर दिया कि भूत के संस्कारों के

सहकार से इन्द्रिय अर्थ की अतीतावस्था का भी ज्ञान कर लेती है, तथापि बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ में यह उत्तर और निखरा और अंततः 'अलौकिक सन्निकर्ष' के रूप में (सामान्यलक्षण, और ज्ञानलक्षण के रूप में) प्रतिफलित हुआ। यद्यपि, वाचस्पति मिश्र एवं अन्य नैयायिक यह कहते नहीं कि हमारा लौकिक प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञारूप होता है, किन्तु, उनके कथनों से यह अर्थ निकलता है कि प्रत्येक लौकिक प्रत्यक्ष में अतीत के प्रति संकेत रहता है। स्पष्ट है, लौकिक प्रत्यक्ष में अतीतावस्था की ओर संकेत होना और उसी के संदर्भ से उसकी उत्पत्ति होने तथा प्रत्यभिज्ञा में कोई अन्तर नहीं है। अतः, 'संस्कार के सहकार रूप' जिस व्याख्या से नैयायिक स्वपक्ष की रक्षा करना चाहते हैं, वह दोषदुष्ट होने से युक्त नहीं है।

अलौकिक सन्निकर्ष में ज्ञानलक्षण और सामान्यलक्षण का इस प्रसंग में अन्वेषण नयनैयायिकों ने किया और इसका उपयोग बौद्धों के इस प्रमुख आक्षेप का कि स्मृति से व्यवहित होने के कारण सविकल्पक प्रत्यक्ष (इन्द्रियज्ञान) नहीं है, संस्कार के अलौकिक प्रत्यासत्ति द्वारा ज्ञात होने को सिद्ध करके उत्तर देने में किया। अलौकिक प्रत्यक्ष भी, वस्तुतः यह इंगित करता है कि बौद्ध आलोचना से प्रताड़ित होने पर नैयायिक किस प्रकार एक-पर-एक बेतुकी बातें मानते गये। वस्तुतः, बौद्धों का दो आक्षेप रहा है (क) किसी भी वस्तु की अतीतावस्था, अथवा, उदाहरणार्थ, इन्द्रिय के सम्पर्क (सन्निकर्ष) में न रहने पर 'गुलाब की सुगन्ध', का इन्द्रियप्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? (ख) हेतु और साध्य के बीच व्याप्ति की स्थापना अनेक उदाहरणों (काफी संख्या के उदाहरणों) के निरीक्षण के द्वारा कैसे की जा सकती है? कई शताब्दियों के पारस्परिक शास्त्रार्थ से अन्ततः न्याय-वैशेषिक का उत्तर ज्ञानलक्षण और 'सामान्यलक्षण' रूप, अलौकिक प्रत्यक्ष के रूप में हुआ। किन्तु, क्या इसे समस्या का समाधान अथवा समस्या का समुचित विश्लेषण माना जा सकता है? प्रमाणशास्त्रीय समस्याओं और प्रश्नों के समाधान हेतु 'अलौकिकता' का सहारा लेना कथमपि उचित नहीं कहा जा सकता। इससे यही स्पष्ट होगा कि अलौकिकता का आलम्बन लेने वाला दर्शन या तो समस्या के युक्तिसंगत विश्लेषण के लिए स्वमत की असमर्थता के कारण अवैज्ञानिक मान्यताओं का सहारा ले रहा है अथवा यह कह रहा है कि समस्या अविश्लेषणीय एवं असमाधेय है। लौकिक अनुभूति के लिए अलौकिक प्रत्यासत्ति का अन्वेषण दार्शनिक प्रवृत्ति के स्थान पर अन्धविश्वास जैसी बात को प्रश्रय देने जैसा है, अप्राकृतिक, अतः अयुक्तिपूर्ण स्थिति को मानना है। अतः, बौद्धों का पक्ष अधिक वैज्ञानिक एवं युक्त है।

प्रमाणान्तर्भावपरीक्षा के प्रसंग में हम देख चुके हैं कि बौद्ध दार्शनिक 'अभाव' को अलग प्रमाण मानने के भाट्टमीमांसकों के तर्कों का किस तरह खण्डन करते हैं। यहाँ हम यह देखेंगे कि यदि अभाव प्रमाण नहीं है, तो, उसका ज्ञान किस प्रमाण से होता है, प्रत्यक्ष से अथवा अनुमान से। नैयायिक यह मानते हैं कि अभाव का प्रत्यक्ष होता है, जबकि बौद्ध अभाव का ज्ञान अनुमान के द्वारा मानते हैं। अतः, पहले हम नैयायिकों के पक्ष को देखेंगे, तदनन्तर बौद्ध पक्ष को और अन्ततः यह भी देखेंगे कि किन का पक्ष उचित है।

अभाव का प्रत्यक्ष होता है, इसके लिए प्रमाण प्रस्तुत करते हुए श्रीधर कहते हैं — 'इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष के कारण उपलब्धमान भूतल में 'भूतल पर घट नहीं है' इस रूप में अभाव का भी ज्ञान होता है। ऐसी स्थिति में, भूतल के प्रत्यक्ष की भाँति अभाव का भी प्रत्यक्ष क्यों न माना जाय?'²⁹³ जयन्त भी कहते हैं कि 'जब हम आँख खोलते हैं, तो, भूतल और घटाभाव दोनों का निरीक्षण करते हैं और जब आँख मूंद लेते हैं तो उनमें से किसी को भी नहीं देखते। अतः, जब भूतलज्ञान और घटाभावज्ञान दोनों ही, नेत्र को खोलने पर निर्भर है, तो उनमें से भूतल के ज्ञान को प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत मानने और घटाभावज्ञान को प्रत्यक्ष न मानने का कोई आधार नहीं है।'²⁹⁴ श्रीधर पुनः कहते हैं कि अभाव भी भाव की ही तरह इन्द्रियग्रहण के योग्य है। चूँकि हमें भूतल-दर्शन के कार्य के रूप में घटाभाव का ज्ञान होता है, अतः, घटाभाव ज्ञान के साथ भी किसी प्रकार का इन्द्रियसम्बन्ध मानना चाहिए।²⁹⁵ न्यायवैशेषिक अभाव पदार्थ के साथ विशेषणभावसन्निकर्ष मानते हैं। अभाव को भूतल का विशेषण माना जाता है और भूतल के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होता है, इसी कारण इस सन्निकर्ष को संयुक्तविशेषणभाव सन्निकर्ष कहा जाता है। आचार्य उदयन, भी भाट्टमीमांसा के द्वारा 'अनुपलब्धि को अभाव को जानने का साधन मानने की बात का खण्डन करते हुए कहते हैं — 'जिस प्रकार रूपादि की साक्षात्करण-रूप प्रतीतियाँ इन्द्रियरूपी करण से ही उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार 'घटाभाववद्भूतलम्' इत्यादि प्रकार की अभावप्रतीतियाँ भी, साक्षात्करण रूप होने से, इन्द्रियरूपीकरण से ही उत्पन्न होती हैं'। कारण यह है कि 'इन्द्रिय व्यापार के बाद ही उनकी उत्पत्ति होती है और इन्द्रियव्यापार का उपयोग उक्त अभाव प्रतीति से अन्य किसी कार्य में नहीं है'। इसके अतिरिक्त, 'जिन ज्ञानों की उत्पत्ति के लिए उनके कारणों के ज्ञात होने की अपेक्षा नहीं होती वे (अज्ञातकरणकज्ञान) अवश्यमेव साक्षात् ही इन्द्रियज होते हैं, जैसे कि, रूप प्रत्यक्ष (को चक्षु से उत्पन्न होने के लिए चक्षु के ज्ञात होने की आवश्यकता नहीं होती है। अतः, वह साक्षात् चक्षुरिन्द्रिय

से ही उत्पन्न होता है); उसी प्रकार 'भूतल पर घट नहीं है' इस अभाव प्रतीति को भी, चूँकि अपनी उत्पत्ति के लिए करण के ज्ञात होने की आवश्यकता नहीं होती है, अज्ञातकरणक ज्ञान होने से वह भी अवश्यमेव साक्षात् इन्द्रिय से ही उत्पन्न होता है।²⁹⁶ आचार्य उदयन का तर्क है कि ऐसा न मानने पर 'बिना कारण के भी कार्य की उत्पत्ति माननी पड़ेगी और यह मानना पड़ेगा कि रूपादिविषयक ज्ञान भी बिना इन्द्रियरूप कारण से ही उत्पन्न होता है'। वे पुनः कहते हैं कि जो करण स्वगतदोष के द्वारा जिस विषय के विपर्यय को उत्पन्न करेगा, वही 'करण' उस विषय के प्रमा ज्ञान को भी उत्पन्न करेगा। भूतल पर घट के रहने पर भी चक्षु में रहने वाले दौर्बल्यादि दोषों से घटाभाव का विपर्यय रूप ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः, भूतल में घट के न रहने पर जो घटाभाव का प्रमात्मक ज्ञान होता है, उसका भी 'करण' चक्षु (इन्द्रिय) ही है।²⁹⁷ आचार्य उदयन मीमांसकों से कहते हैं कि यदि अभाव का प्रत्यक्ष नहीं माना जायगा, तो घटादि में चक्षुपात के अनन्तर होने वाले निर्विकल्पक ज्ञान के बाद जो सविकल्पक ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष नहीं कहला सकेगा।²⁹⁸

बौद्ध अभाव का प्रत्यक्ष नहीं मानते। आचार्य धर्मकीर्ति 'हेतुबिन्दु' में इस प्रश्न पर निम्नप्रकार से प्रकाश डालते हैं— 'ज्ञात किये जा सकने योग्य वस्तु की अनुपलब्धि (ज्ञात किये जा सकने योग्य वस्तु का अ-ग्रहण) अभाव का अथवा अभावव्यवहार का हेतु होता है'। यहाँ उपलब्धि को दो रूपों में समझा जा सकता है — (1) ग्राहक के धर्म के रूप में उपलब्धि का अर्थ है कि ग्राहक को ज्ञान है, (2) ग्राह्य के धर्म के रूप में उपलब्धि इस तथ्य का परिचायक है कि यह ग्राह्य अपने विषय में ज्ञानजनन में समर्थ है। किन्तु उपर्युक्त किसी भी अर्थ में अनुपलब्धि मात्र निषेध या विशुद्ध निषेध अथवा मात्र अभाव को इंगित नहीं करती। प्रथम अर्थ में 'क' की अनुपलब्धि का अर्थ है कि ज्ञाता को ज्ञान है कि 'क' के ज्ञान से वह व्यतिरिक्त है। द्वितीय अर्थ में इंगित होता है कि 'क' व्यतिरिक्त ज्ञेय, अपने विषय में ज्ञान को उत्पन्न कर रहा है। ऐसी स्थिति में जहाँ किसी वस्तु का ज्ञान होने पर नियमपूर्वक दूसरे की उपलब्धि होती है, तो ये दोनों परस्परसंसृष्ट होंगे, क्योंकि दोनों का एक ज्ञान से संसर्ग है; और यदि वैसे दो पदार्थ किसी देशविशेष में विद्यमान हैं, तो वहाँ उन पदार्थों का स्वभाव ही ऐसा है कि किसी के लिए यह असंभव है कि उसे एक की प्रतिपत्ति हो और दूसरे की प्रतिपत्ति न हो। अतएव, जब हम यह मानते हैं कि 'क' पदार्थ की अनुपलब्धि का अर्थ है 'अ-क' की उपलब्धि, तो उसका आधार यह है कि 'क' और 'अ-क' परस्पर संसृष्ट हैं। अतः, प्रस्तुत संदर्भ में 'अ-क' उन सभी का परिचायक नहीं है जो कि 'क' नहीं है, अपितु उसका परिचायक है जो कि, यद्यपि 'क' नहीं है, तथापि उसी साधन से जाना जाता

है जिससे हमें 'क' की प्रतिपत्ति होती है। इस प्रकार के 'अ-क' के ज्ञान को हम 'क' की अनुपलब्धि समझते हैं। इस प्रकार का ही 'अ-क' हमारे 'क' के अभावव्यवहार का हेतु होता है; और कुछ अवस्थाओं में 'क' का अभाव 'ख' के अभाव के लिंग के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है।²⁹⁹

यह प्रश्न उठाया जा सकता है विधि रूप 'अ-क' 'क' के अभाव (अनुपस्थिति) का बोधक कैसे हो सकता है? और यदि वह असंभव है, तो, आप विधिरूप ज्ञेय (अथवा उसके ज्ञान) को अन्यज्ञेय के अभाव अथवा अभावव्यवहार का हेतु कैसे कह सकते हैं? धर्मकीर्ति का उत्तर है 'क' का अभाव का अर्थ है 'क' द्वारा अननुगम्यमान 'अ-क' का भाव और 'क' की अनुपलब्धि का अर्थ है 'क' द्वारा अननुगम्यमान 'अ-क' की उपलब्धि या प्रतिपत्ति; क्योंकि मात्र प्रतिषेध का, किसी भी प्रकार से, ज्ञान नहीं हो सकता। फलतः, यदि मात्र प्रतिषेध को अभावव्यवहार का हेतु मानें, तो इसके (अभावव्यवहार के) असिद्ध होने का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। चूँकि, 'अमुक देशविशेष में 'क' से अननुगम्यमान 'अ-क' का भाव है' इसको जानने का अर्थ है, यह जानना कि उस स्थान पर 'क' अविद्यमान है, अतः, हमारी मान्यता है कि 'क' से अननुगम्यमान 'अ-क' का अर्थ है 'क' की अविद्यमानता।³⁰⁰

यह भी प्रश्न पूछा जा सकता है— 'यदि 'अ-क' को जानने का अर्थ है 'क' की अविद्यमानता, तो बतलाइए कि 'क' का स्वरूप ऐसा क्यों है कि इस 'क' और 'अ-क' की उपलब्धि के साधन एक हैं? क्योंकि उस अवस्था में 'अ-क' सभी प्रकार के 'क' का व्यावर्तन कर देगा। तब यह भी आप को नहीं कहना चाहिए कि 'क' की अनुपलब्धि 'क' के अभाव को जानने का हेतु तभी हो सकती है जब यह 'क' ऐसा हो कि यदि वह वहाँ पर विद्यमान रहता, तो, ज्ञात भी हुआ रहता, क्योंकि 'अ-क' सभी 'क' का व्यावर्तक होता है। धर्मकीर्ति उत्तर देते हैं — 'किसी एक के स्वरूप का ज्ञान होने से उससे अन्य के स्वरूप का व्यवच्छेद हो जाता है, क्योंकि ज्ञान नियतप्रतिभास वाला होता है। जिसका जो स्वरूप है, वह उससे अन्य का स्वरूप नहीं होता। यदि 'क' 'अ-क' का व्यवच्छेद न करे तो 'क' के प्रसंग में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों के अभाव का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। चूँकि, 'क' नियतदेश, काल और स्वभाव वाला है, अतएव, उसके तथात्व के ज्ञान का अर्थ यह भी है कि वह अपने से भिन्न देश और काल में नहीं रहता, न तो तदन्यस्वभाव वाला ही होता है। इसप्रकार, अन्य देश, काल और स्वभाव के पृथक्करण के द्वारा ही यह ज्ञान होता है कि 'क' एक नियतदेश, काल और स्वभाव वाला है; और तब यह ज्ञात होता है कि यही 'क', कोई 'अ-क' नहीं, इस नियत देश, काल और स्वभाव वाला है। उपर्युक्त प्रकार से ही, अन्य व्यावृत्तिविषय

किसी ज्ञान का विषय बनता है। इस प्रकार, एक प्रमाणवृत्ति सभी भावों को दो राशियों में (परस्पर व्यावर्तक या बहिष्कारक राशियों में) व्यवस्थापित करती है और इस प्रमाणवृत्ति का साफल्य, इस प्रकार के अन्वय और व्यतिरेक बुद्धि को हममें उत्पन्न करने में निहित है। आशय यह है कि 'क' का ज्ञान, 'क' को बुद्धिस्थ करने में हमें समर्थ बनाकर सभी 'अ-क' को 'क' से बहिष्कृत करने में हमें समर्थ बनाता है जिसका अर्थ हुआ कि ऐसी कोई चीज नहीं हो सकती जो कि 'क' भी न हो और 'अ-क' भी नहीं। यदि ऐसा नहीं होता, तो 'क' का सभी 'अ-क' से पृथक्करण असंभव होता और तब उसका 'क' के रूप में परिच्छेद भी असंभव हो जाता। इस प्रकार 'क' विषयक सभी ज्ञान इस बात को सूचित करते हैं कि 'क' वहाँ पर है, कि वहाँ पर कोई 'अ-क' नहीं है, कि प्रत्येक वस्तु या तो 'क' होगी या 'अ-क'। 'क' विषयक सारे ज्ञान इस 'क' को 'अ-क' से व्यावृत्त करते हैं, क्योंकि यहाँ पर इस 'क' का ही परिच्छेद हो रहा है; तद्वत् 'क' विषयक सारा ज्ञान सभी 'अ-क' को इस 'क' से व्यावृत्त करता है, क्योंकि किसी 'अ-क' का यहाँ पर परिच्छेद नहीं हो रहा है। इसप्रकार, यही ज्ञान यह भी बतलाता है कि किसी ऐसी चीज की संभावना नहीं है जो 'क' भी नहीं हो और 'अ-क' भी न हो, क्योंकि जब 'क' किसी ज्ञान का विषय होता है, तो ऐसी प्रत्येक चीज जो 'क' नहीं है, 'अ-क' के रूप में व्यवस्थापित होती है और वे चीजें जो 'अ-क' नहीं हैं 'क' के रूप में व्यवस्थापित होती हैं।³⁰¹ इसप्रकार, 'क' की प्रतिपत्ति का निःसंदेह अर्थ होता है सभी 'अ-क' के अभाव का परिच्छेद, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि 'अ-क', 'क' से भिन्न देश और कालवाला हो; अर्थात् 'अ-क' किसी ज्ञान का विषय होता हुआ 'क' के ही देश और कालवाला रहे यह संभव है। उदाहरणार्थ, "रूप रस नहीं है, और रस रूप नहीं है, किन्तु 'रस' और 'रूप' का एक ही देश और काल होता है"। धर्मकीर्ति इससे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि 'क' की अनुपलब्धि 'क' के अभाव की उपलब्धि का हेतु तभी हो सकती है यदि यह पूर्वकथित शर्तों को पूरा करे।

आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं कि हम यह निश्चय ही स्वीकार करते हैं कि 'अ-क' की प्रतिपत्ति 'क' के अभाव की प्रतिपत्ति की साधिका है, किन्तु 'अ-क' की यह उपलब्धि 'क' के अभाव का अनुमान करने के लिए लिंग नहीं हो सकती, क्योंकि यदि 'क' के अभाव को स्वतन्त्र पदार्थ माना जाय, तो यह प्रश्न उठेगा कि 'अ-क' की उपलब्धि और 'क' के अभाव में क्या सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त, ज्योंही 'अ-क' की प्रतिपत्ति — रूप लिंग का ज्ञान होता है हमें 'क' के अभाव का भी ज्ञान होता है। आशय यह है कि पहले 'अ-क' की उपलब्धि होती है, तदनन्तर उसकी प्रतिपत्ति होती है और तब 'अ-क' के ज्ञान और 'क' के अभाव के मध्य अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध का स्मरण

होता है और अन्ततः हम 'क' के अभाव का अनुमान करते हैं, क्योंकि 'अ-क' को जानने का अर्थ है 'क' के अभाव की प्रतिपत्ति और ऐसा होने का कारण यह है कि 'अ-क' की प्रतिपत्ति करके हम यह कहते हैं कि 'अमुक चीज 'अ-क' है 'क' नहीं'। धर्मकीर्ति कहते हैं कि यह अनुपलब्धि तीन प्रकार की है— (1) 'क' की अनुपलब्धि, जहाँ 'क' की स्थिति 'ख' के कारण के रूप में ज्ञात हो; (2) 'क' की अनुपलब्धि, जहाँ 'क' की स्थिति 'ख' के व्यापक के रूप में ज्ञात हो; (3) 'क' की स्वभावानुपलब्धि— (1) कारणानुपलब्धि, (2) व्यापकानुपलब्धि (3) स्वरूपानुपलब्धि)। विरोधियों के प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य धर्मकीर्ति अन्ततः लिखते हैं कि 'न तो 'क' रूप कारण के अभाव और न तो व्यापक रूप 'क' के अभाव के द्वारा ही हम चक्षु के समक्ष अनुपस्थित विषय का किसी देशविशेष में होने का अनुमान कर सकते हैं, क्योंकि इस प्रकार के देश के सम्बन्ध में होने वाला 'अभाव' का ज्ञान (*knowledge of absense*) अवश्य ही अनिश्चित होगा।³⁰² होता यह है कि यदि हम पहले से जानते हों कि 'क' 'ख' का कारण है, तो कभी-कभार यह कह दिया जाना उपयोगी होता है कि जहाँ-जहाँ 'क' अनुपस्थित रहता है वहाँ-वहाँ 'ख' भी अनुपस्थित रहता है; उसी प्रकार, यदि हम पहले से यह जानते हों कि 'क' व्यापक है और 'ख' व्याप्य, तो कभी-कभार यह बतला दिया जाना उपयोगी होता है कि अमुक चीज 'ख' नहीं है, यदि वह 'क' न हो³⁰³ (स्पष्टतः यह विघातक हेत्वाश्रित निरपेक्ष न्यायवाक्य से तुलनीय है जहाँ यह कहा जाता है — 'यदि 'क', 'ख' है, तो ग, घ है; ग, घ नहीं है, अतः क ख नहीं है)।

इस प्रकार हमने देखा कि न्याय-वैशेषिक अभाव का प्रत्यक्ष मानते हैं। भाट्टमीमांसक इसके लिए अनुपलब्धि या अभाव नामक छटा प्रमाण मानते हैं। प्रभाकर अभाव को न तो वस्तु ही मानते हैं और न तो इसके लिए किसी विलग प्रमाण की आवश्यकता ही समझते हैं, क्योंकि उनके लिए भूतल पर घट नहीं है यह भूतल की रिक्तता के अतिरिक्त कुछ नहीं है। शांकरवेदान्त भी मीमांसकों का अनुसरण करता है। यहाँ मूल प्रश्न है कि क्या अभाव का प्रत्यक्ष हो सकता है, यदि प्रत्यक्ष का अर्थ 'कल्पनापोढ अर्थसाक्षात्कार हो'। इस प्रसंग में गवेषणा करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुमारिल के विरोध में नैयायिक अभाव का इन्द्रिय द्वारा साक्षात् ग्रहण स्वीकार करते हैं, तथापि प्रारंभिक न्याय-वैशेषिक आचार्य अभावज्ञान में निहित विकल्पात्मक स्थिति को हेय समझकर उसका तिरस्कार नहीं करते और इस बात को भी नहीं नकारते कि घटस्मरण घटाभाव के ग्रहण में अनिवार्य कारक है। यह प्रश्न पूछे जाने पर कि जब इन्द्रियार्थसन्निकर्ष प्रतियोगिन् के स्मरण द्वारा व्यवहित हो जाता है, तो घटाभाव का प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? वाचस्पति का उत्तर है कि ऐसा कोई व्यवधान

होता है और अन्ततः हम 'क' के अभाव का अनुमान करते हैं, क्योंकि 'अ-क' को जानने का अर्थ है 'क' के अभाव' की प्रतिपत्ति और ऐसा होने का कारण यह है कि 'अ-क' की प्रतिपत्ति करके हम यह कहते हैं कि 'अमुक चीज 'अ-क' है 'क' नहीं'। धर्मकीर्ति कहते हैं कि यह अनुपलब्धि तीन प्रकार की है— (1) 'क' की अनुपलब्धि, जहाँ 'क' की स्थिति 'ख' के कारण के रूप में ज्ञात हो; (2) 'क' की अनुपलब्धि, जहाँ 'क' की स्थिति 'ख' के व्यापक के रूप में ज्ञात हो; (3) 'क' की स्वभावानुपलब्धि— (1) कारणानुपलब्धि, (2) व्यापकानुपलब्धि (3) स्वरूपानुपलब्धि)। विरोधियों के प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य धर्मकीर्ति अन्ततः लिखते हैं कि 'न तो 'क' रूप कारण के अभाव और न तो व्यापक रूप 'क' के अभाव' के द्वारा ही हम चक्षु के समक्ष अनुपस्थित विषय का किसी देशविशेष में होने का अनुमान कर सकते हैं, क्योंकि इस प्रकार के देश के सम्बन्ध में होने वाला 'अभाव' का ज्ञान (*knowledge of absense*) अवश्य ही अनिश्चित होगा।³⁰² होता यह है कि यदि हम पहले से जानते हों कि 'क' 'ख' का कारण है, तो कभी-कभार यह कह दिया जाना उपयोगी होता है कि जहाँ-जहाँ 'क' अनुपस्थित रहता है वहाँ-वहाँ 'ख' भी अनुपस्थित रहता है; उसी प्रकार, यदि हम पहले से यह जानते हों कि 'क' व्यापक है और 'ख' व्याप्य, तो कभी-कभार यह बतला दिया जाना उपयोगी होता है कि अमुक चीज 'ख' नहीं है, यदि वह 'क' न हो³⁰³ (स्पष्टतः यह विघातक हेत्वाश्रित निरपेक्ष न्यायवाक्य से तुलनीय है जहाँ यह कहा जाता है — 'यदि 'क', 'ख' है, तो ग, घ है; ग, घ नहीं है, अतः क ख नहीं है)।

इस प्रकार हमने देखा कि न्याय-वैशेषिक अभाव का प्रत्यक्ष मानते हैं। भाट्टमीमांसक इसके लिए अनुपलब्धि या अभाव नामक छटा प्रमाण मानते हैं। प्रभाकर अभाव को न तो वस्तु ही मानते हैं और न तो इसके लिए किसी विलग प्रमाण की आवश्यकता ही समझते हैं, क्योंकि उनके लिए भूतल पर घट नहीं है' यह भूतल की रिक्तता के अतिरिक्त कुछ नहीं है। शांकरवेदान्त भी मीमांसकों का अनुसरण करता है। यहाँ मूल प्रश्न है कि क्या अभाव का प्रत्यक्ष हो सकता है, यदि प्रत्यक्ष का अर्थ 'कल्पनापोढ अर्थसाक्षात्कार हो'। इस प्रसंग में गवेषणा करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुमारिल के विरोध में नैयायिक अभाव का इन्द्रिय द्वारा साक्षात् ग्रहण स्वीकार करते हैं, तथापि प्रारंभिक न्याय-वैशेषिक आचार्य अभावज्ञान में निहित विकल्पात्मक स्थिति को हेय समझकर उसका तिरस्कार नहीं करते और इस बात को भी नहीं नकारते कि घटस्मरण घटाभाव के ग्रहण में अनिवार्य कारक है। यह प्रश्न पूछे जाने पर कि जब इन्द्रियार्थसन्निकर्ष प्रतियोगिन् के स्मरण द्वारा व्यवहित हो जाता है, तो घटाभाव का प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? वाचस्पति का उत्तर है कि ऐसा कोई व्यवधान

नहीं होगा, क्योंकि नामादि के स्मरण से घट के सविकल्पक प्रत्यक्ष में भी ऐसी कोई बात नहीं होती।³⁰⁴ हम पहले यह बता आये हैं कि सविकल्पक प्रत्यक्ष में 'मानसिक' आरोपण, या विकल्पकता का तत्त्व विद्यमान रहता है। इसके अतिरिक्त, अभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोगिन् के स्मरण की उपस्थिति के साथ ही साथ तर्क (अनिष्ट प्रसंग) का भी भाव प्रत्यक्ष में पाया जाता है। वाचस्पति मिश्र बतलाते हैं कि अभाव के प्रत्यक्ष के विषय में तर्क का निम्न स्वरूप होता है— 'यदि घट भूतल पर होता, तो भूतल की तरह उसका भी दर्शन होता, क्योंकि घट और भूतल दोनों ही इन्द्रियगम्य हैं; किन्तु, चूँकि घट का प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः उसका भाव नहीं है। इसप्रकार तर्क के सहकार से अभाव का इन्द्रियप्रत्यक्ष होता है।³⁰⁵ स्पष्ट है कि अनुमान जैसी प्रकृति वाले तर्क के सहकार से होने वाले अभाव के ज्ञान को इन्द्रियप्रत्यक्ष कैसे कहा जा सकता है जो कि हमें इन्द्रियप्रत्यक्ष के होने से पहले ही अभाव का मानसिक ज्ञान करा देता है।

इसी प्रकार जयन्त की भी स्थिति इस प्रसंग में प्रशंसनीय एवं स्वीकार्य नहीं है। रूपरहित (निरूप) होने से अभाव का इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं हो सकता, मीमांसकों के इस आक्षेप पर जयन्त का उत्तर है कि चाक्षुषत्व, चक्षु से जनित ज्ञान का विषय होने में निहित है, रूप को धारण करने में नहीं; उदाहरणार्थ, अणु को रूप होता है, किन्तु उसका चाक्षुषज्ञान नहीं होता।³⁰⁶ स्पष्ट है कि जयन्त न्यायवैशेषिक की मान्यता को संशोधित करके मीमांसकों को उत्तर देते हैं। उनके अनुसार 'उद्भूतरूप (व्यक्तरूप) चाक्षुषज्ञान की शर्त है। इसी प्रकार इन्द्रियार्थसन्निकर्ष पर किये गये मीमांसकों के आक्षेप का उत्तर वे यह कह कर देते हैं कि इन्द्रिय वस्तु को प्राप्त करती है, यह नियम केवल वस्तु (भावपदार्थ) के विषय में प्रयुक्त होता है। अभाव चूँकि अवस्तरूप है, अतः अभाव के साथ सन्निकर्ष के बिना भी चक्षु उसके ज्ञान के जनन में समर्थ है।³⁰⁷ इसप्रकार मीमांसकों के आक्षेप पर नैयायिकों का उत्तर यह है कि घटाभाव का ज्ञान इन्द्रियप्रत्यक्ष द्वारा होता है, यद्यपि घटाभाव रूपरहित है और उसका चक्षु के साथ सन्निकर्ष भी नहीं होता। इसप्रकार, चाक्षुषप्रत्यक्ष के लिए परंपरया मान्य दो शर्तों को घटाभाव के प्रत्यक्ष में प्रयुक्त न करना उचित, शोभनीय तथा प्रभावकारी उत्तर नहीं है।

इसी प्रकार उदयनाचार्य की यह धारणा आपत्तिजनक है कि अभाव के अधिष्ठान (जैसे घटाभाव का आधार भूतल) के प्रत्यक्ष तथा उस भावात्मक वस्तु (घट), जिसका अभाव है, का प्रत्यक्ष हुए बिना अभाव का इन्द्रियप्रत्यक्ष संभव है।³⁰⁸ ऐसी स्थिति में वस्तुतः होता यह है कि किसी स्थान में किसी चीज की प्रतिपत्ति करके हम उससे अन्य सभी चीजों का उस स्थान पर न होने की बात को कहने में औचित्य का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार किसी द्रव्य में एक विशेष ऐन्द्रियधर्म की उपलब्धि कर हम तदन्य इन्द्रिय धर्मों का उस द्रव्य में अभाव की बात को कहने में समर्थ होते हैं। उदाहरणार्थ,

जैसा उदयन भी दृष्टान्त देते हैं — एक स्थान पर एक वायु विशेष की उपस्थिति का अनुभव कर हम यह कह सकते हैं कि इस स्थान पर अन्य तरह की सभी हवाओं का अभाव है। हम यह भी कह सकते हैं कि इस हवा में अमुक-अमुक प्रकार के स्पर्श का अभाव है। उदयनाचार्य का यह कहना कि अभाव का प्रत्यक्ष न मानने पर घटादि में चक्षुपात के अनन्तर होने वाले निर्विकल्पक ज्ञान के बाद जो सविकल्पक ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष नहीं कहला सकेगा,³⁰⁹ यह इंगित करता है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष की सिद्धि हेतु वे अभाव का प्रत्यक्ष मान रहे हैं। हम यह सविस्तार देख चुके हैं कि क्यों नैयायिक सविकल्पक प्रत्यक्ष की सिद्धि के लिए इतने व्यग्र हैं और किस कारण सविकल्पक प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता। अतः, अभाव के इन्द्रियप्रत्यक्ष में मानसिक संयोजना है, और उस कारण अभाव का इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता।

बौद्ध उचित रूप से कहते हैं कि प्रत्यक्ष हमेशा भाव का होता है। प्रज्ञाकर लिखते भी हैं— 'नह्यविद्यमानस्य प्रतिभासः। प्रतिभासश्चेत् न तर्हि स प्रतिभासते। नान्यस्मिन् प्रतिभामानेन्यस्य प्रतिभास इति सम्बन्धः। प्र०वा०भाष्य०पृ० 302, पंक्ति 6-7। ऊपर धर्मकीर्ति के विचारों को अभाव तथा अनुपलब्धि के प्रसंग में हम देख चुके हैं। किसी स्थान अथवा काल में किसी वस्तु के अथवा किसी वस्तु में किसी गुण या धर्म के अभाव को हमें किन परिस्थितियों में कहना चाहिए इसका स्पष्ट और ठीक प्रपिपादन वे करते हैं। उनके अनुसार, किसी स्थान पर किसी वस्तु के भाव को जानने का अर्थ है उस स्थान पर तदन्य वस्तुओं के न होने से अवगत होना और किसी वस्तु में किसी धर्म या गुण की स्थिति को जानने का अर्थ है उस द्रव्य के तदन्यगुणों के न होने के तथ्य से अवगत होना। पहली स्थिति प्रसज्यप्रतिषेध की है तो दूसरी पर्युदासप्रतिषेध की। ऊपर के विवरण में धर्मकीर्ति मूलतः प्रसज्यप्रतिषेध पर ही बल दिये हैं, क्योंकि उनकी यह मान्यता है कि जब किसी देश में कोई वस्तु देखी जाती है, तो अपने आप उस स्थान को अन्य सभी अदृष्ट चीजों से विरहित समझ लिया जाता है, तथापि वह उन्हीं साधनों द्वारा दर्शनयोग्य है जिनसे कि उस स्थान पर किसी वस्तु का चाक्षुष ज्ञान हो रहा है। इसप्रकार धर्मकीर्ति यह बतलाते हैं कि समर्थ अनुपलब्धि, अभाव तथा अभावव्यवहार का हेतु है और वह अनुमान की स्थिति है, क्योंकि यहाँ हम यह कह सकने में समर्थ हैं कि 'जहाँ कहीं किसी वस्तु की अनुपलब्धि हो वहाँ उसके सम्बन्ध में अभावव्यवहार संभव है और यहाँ अमुक वस्तु की अनुपलब्धि हो रही है।'³¹⁰ यह भी ध्यानीय है कि आचार्य धर्मकीर्ति इन्हें अभाव का अनुमान करने की स्थिति इसकारण से नहीं कहते कि वे यह मानते हैं कि अभाव एक स्वतन्त्र अस्तित्ववान् पदार्थ है, अपितु मात्र इस कारण कहते हैं कि वे यह पाते हैं कि इस प्रसंग में व्याप्ति प्रयोग किया जा सकता है।³¹¹ अतः, यह कहा जा सकता है कि 'अभाव' के ज्ञान के प्रसंग में बौद्ध पक्ष ही उचित है।

प्रत्यक्ष के प्रकार

(क) इन्द्रियप्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष के चतुर्विध प्रकारों में इन्द्रियप्रत्यक्ष प्रथम है जिसे इन्द्रियविज्ञान भी कहते हैं। आचार्य धर्मकीर्ति और उनके अनुयायियों ने, वैभाषिकों से इस प्रसंग में भिन्न मत रखते हुए, इन्द्रियविज्ञान का अर्थ इन्द्रियाश्रित विज्ञान किया है।¹ इन्द्रियजन्य होने के रूप में इन्द्रियविज्ञान को इन्द्रियाश्रित विज्ञान कहा जाता है, क्योंकि इसके होने पर ही वह होता है। यद्यपि, इस विज्ञान के अनेक हेतु हैं, तथापि चूँकि इन्द्रिय की उसमें असाधारण कारणता होती है, अतएव विषय के आधार पर नहीं, अपितु इन्द्रिय के आधार पर इस ज्ञान का नामकरण किया गया है। इन्द्रिय का ज्ञान प्रत्यक्ष है, ऐसा कहते हुए यह प्रदर्शित किया गया है कि इन्द्रिय का द्रष्टृत्व नहीं है। चूँकि विषय, मनोविज्ञान तथा अन्य-संतानिक विज्ञान में सामान्यतया हेतु होता है, इसकारण कल्पनापोढता रूप जो प्रत्यक्ष का लक्षण है उसे इन्द्रिय के द्वारा ही लक्षित किया जा सकता है, विषय के आधार पर नामकरण करने से नहीं। उदाहरणार्थ, 'भेरी का शब्द' 'यव का अंकुर' ऐसा ही कहा जाता है; 'दण्ड का शब्द', एवं पृथिवी का अंकुर नहीं, यद्यपि काष्ठ और पृथिवी भी क्रमशः शब्द तथा अंकुर में एक कारण है। विरोधी कह सकता है कि विषय के द्वारा भी प्रत्यक्ष के कल्पनापोढरूप स्वरूप को लक्षित किया जा सकता है, जैसे— 'अर्थ के सामर्थ्य से समुद्भूत होने के कारण', इस प्रकार से भी प्रत्यक्ष के कल्पनापोढरूप को लक्षित किया जा सकता है, क्योंकि वह अर्थ के सामर्थ्य से उत्पद्यमान है, अतएव तद्रूप का अनुकरण करेगा। इस पर बौद्धों का कहना है, कि ऐसा नहीं है, क्योंकि आपके पक्ष में अनैकान्तिकता है। कारण यह है कि द्विचन्द्रादि में आकारतया व्यभिचार की बात हम पाते हैं। यदि इस पर विरोधी कहे कि उपर्युक्त स्थल में भ्रान्ति की उत्पत्ति अर्थ-सामर्थ्य से नहीं होती है, तो हमारा आग्रह है कि आप जो युक्ति दे रहे हैं उसके द्वारा इन्द्रियविज्ञान का निर्विकल्पकत्व साधित नहीं होगा। फलतः, अर्थाभिनिवेशत्व के कारण इन्द्रिय के आधार पर ही नामकरण किया गया, क्योंकि उपर्युक्त प्रकार के ज्ञान में इन्द्रिय की ही गमकता है।²

आचार्य धर्मकीर्ति इस प्रसंग में बतलाते हैं कि व्यपदेश धर्मी होता है, गमकत्व वहाँ साध्य है और नियोज्यता लिंग है। 'प्रति विषयम्' इसप्रकार से नामकरण करने में व्यापक गमकत्व की निवृत्ति से व्याप्यनियोज्यता की भी निवृत्ति हो जाती है। चूँकि गमकत्व इन्द्रियों में होता है, विषय में नहीं, अतः, नामकरण भी इन्द्रिय के आधार पर

हुआ है। आचार्य प्रज्ञाकर भी कहते हैं — “विषय को आश्रय बनाकर नामकरण करने से सविषयता की प्रतीति होती, साक्षात्कारिता का कथन नहीं हो पाता है”।³

यहाँ प्रश्न उठता है कि पाँच विज्ञानकाय ‘संचित’ को आलम्बन बनाते हैं, क्योंकि ‘प्रमाणसमुच्चय’ भी कहता है कि ‘अनेकार्थजन्य होने से प्रत्यक्ष अपने अर्थ में सामान्य को विषय करने वाला है’।⁴ परमाणुओं के समुदाय को ‘संचित’ कहते हैं और वही सामान्य है। सामान्य में इन्द्रियबुद्धि होती है और सामान्यबुद्धि नियम से विकल्प द्वारा अनुबद्ध होती है। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष अविकल्पक कैसे हो सकता है? आचार्य धर्मकीर्ति उत्तर देते हैं, कि पहले परमाणु अलग-अलग रहते हैं। वे ही परमाणु दूसरे परमाणुओं के साथ सम्बद्ध होने से, असन्निहित परमाणुओं से भिन्न सन्निहित परमाणुओं के रूप में पूर्व अणुओं से भिन्न कहलाने लगते हैं। ऐसे ही परमाणुओं को ‘संचित’ कहा गया है और ये ही परमाणु ज्ञान की उत्पत्ति के कारण बनते हैं। परमाणुओं में ज्ञान उत्पन्न करने का सामर्थ्यरूप जो वैलक्षण्य है, वह अव्यवहित दूसरे अणुओं के बिना नहीं होता है। प्रत्येक अणु दृश्य नहीं होते हैं, अपितु जब कई अणु साथ होते हैं, ‘संचित’ रूप में होते हैं, तभी वे दृश्य होते हैं। अतः, एक परमाणु विषयक ज्ञान न हो सकने के कारण दिग्नाग ने इनको ‘सामान्यगोचर’ कहा है। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि परमाणुओं से अतिरिक्त कोई सामान्य है जो कि ज्ञान का विषय होता है। इसलिए, इन्द्रियज्ञान में सविकल्पकता का प्रसंग नहीं आता।⁵

एक अन्य प्रश्न यह उठता है — यद्यपि नील-पीतादि एकेन्द्रिय ज्ञान के जनक होते हैं और इस कारण नील-पीतादि का एक ही आयतन (रूपायतन) है, फिर भी अनेक नीलादि एक साथ दिखाई नहीं पड़ते, अपितु क्रम से दिखाई पड़ते हैं, तो फिर अनेक अंगों का एकबार में ग्रहण कैसे होगा? उत्तर है कि यदि अनेक अंगों का एकसाथ ग्रहण नहीं होता है, तो, विभिन्न स्थानों में अलग-अलग रहने वाले नीलादि में जो एक साथ ग्रहण का अनुभव होता है, वह क्यों होता है?⁶ विरोधी कह सकता है कि ज्ञानों की शीघ्रवृत्ति के कारण युगपत् ग्रहण का भ्रम होता है। धर्मकीर्ति का इस पर कहना है, कि एक साथ ग्रहण में ज्ञानों के लाघव का निराकरण हम पहले ही (प्र0वा02,135-137, में) कर चुके हैं, फिर भी, हम पूर्वपक्षी से पूछते हैं कि यदि लाघव से युगपत्, ग्रहण माना जाय, तो, उन्हीं तिलादि को हस्तादि द्वारा क्रम से गिराने पर अक्रमग्रहण क्यों नहीं होता है? जब एक साथ अवस्थित तिलादि में होने वाले सभी ज्ञान तुल्यकालिक हैं, तो, उन ज्ञानों में कोई अक्रम आभासवाला है और कोई अन्य क्रम आभासवाला है, ऐसा क्यों? एक साथ स्थित वस्तु को विषय करने वाली बुद्धियाँ अक्रमवाली और क्रम से पतित वस्तु को विषय करने वाली बुद्धियाँ क्रमवती क्यों होती हैं? किन्तु जगत् में

यह भेद है, इसलिए चाहे अर्थ क्रमिक हो या अक्रमिक हो, सभी अर्थों के ग्रहण में लाघव की समानता के कारण क्रमरहित ग्रहण का प्रसंग प्राप्त होता है। पुनश्च, यदि अनेक का एक से ग्रहण नहीं होता है, तो अनेक नीलपीतादि चित्रपतंगादि का ग्रहण कैसे होता है? नीलपीतादिरूप चित्रपतंगादि को यदि एक माना जाय, तो, यह मान्यता चित्रपतंग से भी अधिक आश्चर्यवाली है, क्योंकि यह चित्र, अर्थात् नानारूपवाला, एक कैसे हो सकता है? अतः, चूँकि चित्र अनेकरूप होता है, फलतः पतंगादि एक नहीं, अपितु, अनेक हैं। जैसे कि संस्थान विशेष के द्वारा सन्निविष्ट अनेक मणियों का स्वचित्र (रूप) अनेक होता है, एक अवयवी द्रव्य मणिरूप में नहीं होता, क्योंकि मणिसमूह में विजातीय रत्न रहते हैं और जो विजातीय हैं ऐसे पदार्थ द्रव्य का आरम्भ नहीं करते हैं, वैसे ही अनेकरूप होने से पतंगादि एक नहीं हैं। आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं कि यह भी विरोधी द्वारा कहा जा सकता है कि पतंग में चित्र बुद्धि एक होने से मुख्य है और मणिरूपादि में वह उपचरित है। आचार्य इस व्याख्या को मानने से इनकार करते हैं, क्योंकि उनके अनुसार चित्रपतंग में तथा मणिरूपादि में नीलादिचित्रप्रतिभास समान है। जैसे 'माणवक' में अग्नि बुद्धि स्थलित है, वैसे मणिरूपादि में चित्रबुद्धि स्थलित नहीं होती है। 'चित्रपतंगादि में केवल अवयवों का रूप चित्ररूप दिखलाई पड़ता है, ऐसा मानने पर चित्रपतंगादि में नीलादि को पृथक् करके उनसे भिन्न अवयविन् का जो चित्ररूप दिखलाई पड़ता है वह बड़े आश्चर्य की बात है। आचार्य व्यंग करते हुए लिखते हैं कि 'अपने सिद्धान्त के अनुराग रूप औषधि से विशेष रूप से शोधित चक्षु वाले तुम (द्रव्यवादी लोग) अवयविन् को चाहते हो तो ठीक है, इसमें दूसरे का तो अधिकार है नहीं'। पुनश्च, एक कृत्रिम पतंग है और दूसरी अकृत्रिम पतंग हैं, दोनों में होने वाली बुद्धि का अर्थ तथा काल समान है, फिर भी कृत्रिम पतंग को विषय करने वाली बुद्धि नाना अर्थों को विषय करने वाली और क्रमवती है एवं अकृत्रिम पतंग को विषय करने वाली बुद्धि एक अर्थ को विषय करने वाली और अक्रमवती है, ऐसा क्यों? चूँकि दोनों में कारण की समानता है, अतएव दोनों बुद्धियों में समानता होनी चाहिए।'

आचार्य धर्मकीर्ति इस प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि बुद्धियों में नानाकारता होने से ग्राह्य पदार्थों में नानारूपता की व्यवस्था होती है; चित्रपतंग को एक अवयविन् रूप मानने पर उनमें होने वाली बुद्धि में प्रतिभासनानात्व यदि भेदव्यवस्था का कारण नहीं है, तो फिर, पदार्थों में यह भेदव्यवस्था किस कारण से सिद्ध होगी, अर्थात् चूँकि बुद्धि में नानाकारता होने के कारण विषयों की अनेकता को व्यवस्थापित किया जाता है, अतः विरोधी की यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती कि चित्ररूप अवयविन् की एकरूपता को स्वीकार करने पर तद्विषयक बुद्धियों में होने

वाला प्रतिभासनात्वात् अनंग (निरालम्ब, आधार रहित) होगा, क्योंकि उस स्थिति में विषयों की भेदव्यवस्था समाप्त हो जायगी।⁸ आचार्य प्रज्ञाकर इस श्लोक पर लिखे गये अपने लम्बे भाष्य में बतलाते हैं, कि एक तथा अनेकों के रूप में प्रतिभासमान बुद्धियों का ही तद्रूप व्यवस्थापन में प्रामाण्य है, प्रमा का इससे अन्य कोई क्रम नहीं है। ये बुद्धियाँ यद्यपि ऐसी हैं कि यथार्थव्यवस्थापन में उनके क्रम का अपलाप नहीं होता, फिर भी यदि साधर्म्यमात्र के उपनिबन्धन से प्रकल्पित होने से उन्हें हटा दिया जाय या उनका निरोध हो जाना माना जाय, तो यह प्रश्न हम उठायेंगे कि साधर्म्य कहाँ पर है। चूँकि वह कहीं पर दृश्य नहीं, फलतः विषयव्यवस्था नहीं हो सकेगी और सबकुछ गड़बड़ा जायगा। अतएव वे बुद्धियाँ अन्य प्रतिभास से असिद्ध होने वाली होती हैं। अतः, इनके विषय में युक्तियुक्त बात यही है कि वे प्रतिभास की व्यर्थता बतलाती हैं। चूँकि साधर्म्य है नहीं जिससे विरोधी विषय के सिद्ध होने की बात करता है, फलतः या तो सभी की सिद्धि होगी या उनकी सिद्धि कहीं पर भी नहीं होगी।⁹

इस प्रसंग में स्वपक्ष के विषय में आचार्य प्रज्ञाकर यह भी बतलाते हैं कि प्रत्यक्ष से परिगृहीत प्रतिबंधक अनुमान का, अन्य अनुमान के द्वारा अथवा उस प्रकार से उदय को प्राप्त हुए अन्य प्रत्यक्ष के द्वारा, तिरस्कार कर पाना संभव नहीं, क्योंकि प्रमाण का प्रमाण के द्वारा तिरस्कार नहीं होता। समानबलता में तिरस्कार की बात कहीं से हो सकती है? यदि प्रमाण की असमानबलता की बात विरोधी करे, तो हमारा कहना है कि तिरस्कार करने में प्रमाणत्व कहाँ से होगा। यदि इस पर कहा जाय कि अनुमान के द्वारा जो बाधित हो जाता है वह प्रमाण ही नहीं होता, तो हमारा भी कहना है कि प्रत्यक्ष के द्वारा जो बाधित हो जाता है वह अनुमान ही नहीं होता, अतः, दोनों जगह समान प्रसंग उपस्थित होगा। विरोधी यह कह सकता है कि अर्थप्रतिभासा तो यथाकथंथित् कारण-दोष के चलते हो जाती है, किन्तु अनुमान ऐसे नहीं होता, अतएव वही बाधक है। प्रज्ञाकर कहते हैं कि विरोधी का यह कथन असत् है, क्योंकि प्रमेय में हेतुदोष के कारण अन्यथा भी बुद्धि होती है। कोई भी पक्ष सैकड़ों हेतुदोष के होते हुए भी स्वरूप में युक्तियुक्त कैसे हो सकता है?, क्रमवान प्रतिभासस्वरूपवाला हेतुदोष के कारण अक्रम प्रतिभासवाला हो जाता है, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि किसी भी एक वस्तु का स्वरूप अनेक (नाना) नहीं होता।¹⁰

पूर्वपक्षी यह आग्रह कर सकता है कि क्रमभासन ही होता है, इससे अन्य स्थिति नहीं है। प्रज्ञाकर कहते हैं कि इसका अर्थ हुआ कि क्रमभासन से जो अन्य है वह भ्रान्ति मात्र है, अतः हम पूछेंगे कि भ्रान्ति क्या है? क्या अप्रतिभासन को ही भ्रान्ति मानना आपको अभीष्ट है अथवा अन्यथा प्रतिभासन को आप भ्रान्ति समझते हैं? यदि

विरोधी का पहला पक्ष हो, तो भ्रान्ति कहीं पर भी वारित नहीं होगी और जो सुसुप्त हैं उनमें तथा पत्थर आदि में भी भ्रान्तिता का प्रसंग उपस्थित होगा। यदि विरोधी कहे कि अक्रम का अप्रतिभास क्रम ही है, तो इसका अर्थ हुआ कि जो अनुपहत है वह प्रतिभासित होता है? फलतः भ्रान्ति कैसे होगी? स्तंभादि का प्रतिभासन ही भ्रान्ति नहीं कहलाता; और यदि अन्यथावभास को भ्रान्ति माना जाय, तो फिर स्वरूपावभासिता कैसे होगी? अस्वरूपावभासत्व में तो भ्रम होता ही नहीं, तो प्रश्न है कि भ्रम कैसे हुआ? इसे स्पष्ट किया जाय तो कहा जा सकता है कि यदि विवक्षित से अन्य के प्रतिभास को भ्रान्ति मानना विरोधी को इष्ट हो, तब तो, उसके स्वरूप का प्रतिभासन ही चूँकि नहीं होता, अतः वह ज्ञान कैसे है? यदि प्रतिभासमान न होने पर भी बुद्धि होती है, यह माना जाय, तो, प्रतिपक्षी को यह मानना और कहना चाहिए कि सभी कालों में सभी वस्तुओं का सभी प्रकार का ज्ञान होता है और उनकी भ्रान्ति भी रहती है। यदि प्रतिपक्षी कहे कि यह वह बुद्धि है ही नहीं, तब तो अविद्यमान ही क्रमवती बुद्धि अक्रम आभावाली होगी तथा परोत्पन्ना होगी, फलतः, भ्रान्ति संभव कैसे हो सकेगी? अतः, भ्रान्ति यह है कि उसका प्रमेय नहीं होता है। यदि विरोधी कहे कि अक्रमवाले तिलादि में जो क्रमरहित बुद्धि है उसी का प्रमेय होता है, तो हमारा कहना है कि अन्यथावभासन होने के कारण क्रमवती बुद्धि का प्रमेय असंभव है। यदि प्रतिपक्षी इसपर कहे कि उसके द्वारा अक्रमरूप प्रमेय ही नहीं होता, तो इसका अर्थ हुआ कि स्वरूप में भी अक्रम का अवभास नहीं है, फलतः, भ्रान्ति का भी योग नहीं, और यदि क्रमवती बुद्धि का ग्रहण अन्य बुद्धि के द्वारा होना माना जाय, तो मणि, मुक्तादि प्रमेयों के अक्रम का अवभास नहीं हो सकेगा, क्योंकि तद्ग्राहिका बुद्धि का क्रम से प्रवर्तन होता है; ऐसी ग्राहिका बुद्धि की वृत्ति प्रमेय में नहीं होती और क्रम अक्रम के द्वारा ज्ञात नहीं होता। पुनश्च, यदि प्रतिपक्षी कहे कि वह प्रतिभास भ्रान्ति के द्वारा होता है, तो भ्रान्ति ही अभ्रान्ति हो जायगी और यदि क्रमावभासिनी बुद्धि का उदय होता है, तो बुद्धि के स्वसंवेदन के द्वारा भी वैसा ही होना चाहिए। यदि प्रतिपक्षी आग्रह करे कि भ्रान्ति के द्वारा सकृद्ग्रहण होता है, तो, एक बुद्धि के द्वारा एक साथ अनेकग्रहण का प्रसंग उपस्थित होगा। प्रतीति का अभाव होने से पूर्व एवं अपर ग्रहणों की एकता नहीं है। यदि इसपर प्रतिपक्षी कहे कि बाद की बुद्धि के द्वारा एकतयाप्रतीति होती है, तो ऐसी स्थिति में वह उत्तरवर्ती बुद्धि भी क्रमवती होगी, फलतः एकता की प्रतीति उसे कैसे हो सकती है? ग्रहणकाल ग्राह्यकाल का अनातिपाती (नियम का उल्लंघन न करने वाला) होता है। यदि यह कहा जाय कि बुद्धि या ज्ञान अक्रमस्वरूप ही है, तो उस स्थिति में एक के द्वारा अनेक का ग्रहण होगा। यदि प्रतिपक्षी इस पर कहे कि इसीलिए तो यह भ्रान्ति है, तो हमारा कहना है कि ऐसी स्थिति में भी अनेकरूप का प्रतिभासन अव्यावृत्त ही

है। यदि प्रतिपक्षी पुनः कहे कि चित्रबुद्धि एक ही है, तो, यदि मणिमुक्तादि तथा नीलादि प्रमेय विरूपेण अनवभासमान होने पर भी आपके लिए ज्ञानरूप हैं, तो फिर सभी प्रमेय का वैसा ही हाल होगा; और इस कारण अनेक का सकृदप्रतिभासन युक्त नहीं है। अतः प्रज्ञाकर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जो जिस प्रकार से अनुभूत किया जाता है, सकृदरूप में अथवा इससे अन्यरूप में, उसको उसी तरह माना जाना चाहिए; क्योंकि विचार का क्रम भी इसी प्रकार का है। ऐसा न मानने पर प्रमेय की स्थिति का अभाव हो जायगा।¹¹

यहाँ यह ध्यातव्य है, कि आचार्य प्रज्ञाकर चित्राद्वैतवादी हैं, इसीलिए ऊपर के ग्राह्यग्राहकसमसंख्याकवाद सिद्धान्त की वे अलोचना कर रहे हैं।¹²

आचार्य धर्मकीर्ति इस प्रसंग में पुनः कहते हैं, कि भिन्नजातीय नीलपीतादि द्रव्यों का, कार्यद्रव्य रूप में आरम्भ न होने के कारण, आलेख्यादि में चित्रबुद्धि नहीं हो सकेगी। 'आलेख्य संयोग है और उसका चित्ररूप है', ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि संयोग भी चित्र है और संयोग को रूप नहीं होता। संयोग गुण है उसी प्रकार रूप भी गुण है और गुण में तो अन्य गुण रहता नहीं, फलतः संयोग में रूप कैसे रहेगा।¹³ आचार्य प्रज्ञाकर इसे स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि यदि भिन्नजातीय नीलपीतादि द्रव्यों पर कार्यद्रव्य के रूप में आरम्भ न होने के कारण उसमें बुद्धि का विधान किया जाता है एवं स्वसमय का परित्याग कर दिया जाता है, तो भिन्नजातीय तन्तुओं के संयोग से उत्पन्न पटादि रूप की चित्रावयविता नहीं होगी। इस पर पुनः लम्बे शास्त्रार्थ को प्रारम्भ करते हुए प्रज्ञाकर इस प्रकार व्याख्या करते हैं — यदि प्रतिपक्षी कहे कि यह भ्रान्ति बुद्धि है, तथापि सकृदग्रहण होता है, तो प्रश्न है कि असत्य रूप के ग्रहण में सत्यरूप का ग्रहण क्यों नहीं होता? यदि, यह पूछे जाने पर कि पुरोवर्तित्व के प्रतिभासन में सत्य और असत्य के मध्य विवेक क्या है, प्रतिपक्षी यह कहे कि बुद्धि का वह रूप ही उनमें विवेक है, तो, उसके उत्तर को ठीक नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि सत्यबुद्धि असत् रूप है तो यह असत् रूपता उसका आत्मभूत तथ्य क्यों नहीं होगा, और इस प्रकार उनमें एकात्मकता हो जायगी, फलतः पुरोवर्तित्व के प्रतिभासन में सत्यासत्य का जो विभाग है वही असत्य हो जायगा।¹⁴

प्रतिपक्षी यह कह सकता है कि एक होने पर भी बुद्धि स्वरूप में प्रवर्तित होती है, किन्तु पररूप में प्रवर्तित होने में महान प्रयास की आवश्यकता होती है। मनस् गमनादि लक्षणवाला है, फलतः एक द्वारा पररूप का ग्रहण संभव नहीं है, क्योंकि विरुद्ध देशों में सकृदग्रहण संभव नहीं है। आचार्य प्रज्ञाकर इसका निराकरण करते हुए

कहते हैं कि वैसी स्थिति में यदि गमन में ग्रहण का कारण मन नहीं है तो फिर 'शाखा चन्द्रवाली है' ऐसा कथन संभव नहीं होगा, क्योंकि शाखा और चन्द्रमा इन दोनों का तुल्यकाल में ग्रहण असंभव है। यदि इसपर प्रतिपक्षी कहे कि शीघ्रवृत्ति के कारण सकृत्ग्रहण का अवभास होता है, तो, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो अति दूर है उसमें शीघ्रता असंभव है। अथवा, क्या यहाँ पर प्राप्यकारी चक्षुरादि प्रमाण हैं? प्रतिपक्षी इस पर कहता है कि उपलब्धि तथा अनुपलब्धि इन दोनों का अनावरण दूर और पास की अपेक्षा से होता है। यदि चक्षुरादि अप्राप्यकारी हों तो आवरण का भाव रहने के कारण 'अनुपलब्धि एवं अन्यथा उपलब्धि' इस प्रकार की बात नहीं रहेगी। वहाँ, पर आवरण व्याघात करने में समर्थ नहीं रहता। चक्षुरादि का प्राप्यकारित्व मानने पर मूर्तद्रव्य के प्रतिघात के कारण आघात उपपन्न होगा, और अत्यन्त दूर होने की स्थिति में भी व्याघात, गमन का अभाव होने के कारण, उपपन्न हो सकेगा। इस व्याख्या को प्रज्ञाकर गलत मानते हैं, क्योंकि चक्षुरादि का अप्राप्यकारित्व मानने पर भी योग्य देश की अपेक्षा से व्याघात उपपन्न होता है। उदाहरणार्थ, चुम्बक प्राप्य के आकर्षण में नहीं, अपितु सभी प्रवर्तमान लोहों के आकर्षण में समर्थ होता है। यदि प्रतिपक्षी कहे कि संसृष्ट का आकर्षण देखा गया है, अतएव, आकृष्यमान अयस्कान्त का भी आकर्षण दृष्ट है, तो प्रज्ञाकर कहते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि मंत्र की भी आकर्षकता दृष्ट है और यदि इसके चलते विरोधी के पक्ष को मान लिया जाय, तो जो आकृष्ट है उसके भी स्पर्श का प्रसंग होने से अतिप्रसंगदोष आ जायगा।¹⁵

यदि चक्षु से रश्मि अपने स्थान से बाहर निकल कर विषय से सम्बन्ध स्थापित करती है, तो प्रज्ञाकर का प्रश्न है कि किस कारण जो अव्यवहित है उसका अतिदूर होने पर भी दर्शन नहीं होता? विरोधी कहता है कि प्रदीप-रश्मि के समान इसे समझना चाहिए और इसमें कोई दोष नहीं है। प्रज्ञाकर कहते हैं कि ऐसी स्थिति में तो अतिनिकट के ग्रहण का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। प्रदीप और रश्मि ये दोनों अतिनिकट वस्तु में प्रवर्तित नहीं होतीं, ऐसा नहीं है। इसकारण यह मानना चाहिए कि चक्षुरादि का प्रदीप के धर्म से अन्य धर्म होता है और वही ग्रहण का कारण है, रश्मिसन्निकर्ष ग्रहण का कारण नहीं है : और यदि रश्मिसन्निकर्ष को ग्रहण का कारण माना जाय, तब तो चक्षुरादि का अनुकार होने पर भी ग्रहण का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। यदि इस पर प्रतिपक्षी कहे कि वह शक्ति मानसिक है, इसलिए, वह शीघ्रता होती है, तो हमारा कहना है कि आपने उपर जो कष्टकारी कल्पना की है उसका क्या उपयोग रह गया। मन को जैसा आप कहते हैं वैसा प्रमाण से सिद्ध नहीं है, अपितु मनस्कार ही पूर्व विज्ञानरूप है और वह अर्थक्रियाकारी है। उसके विषय से अन्य विषय

के अवधान में वैगुण्य होने पर अन्यत्र ज्ञान अनुपपन्न हो जाता है, इसकारण युगपत् ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती और इसके चलते अन्यथासिद्धि के कारण मन का भी इन्द्रिय के रूप में अस्तित्व नहीं है। अतः, सिद्ध हुआ कि तादृश ज्ञान लिंग के कारण होता है। उपर्युक्त कारण से आलेख्यरूप अनेक आकार का ग्रहण युगपत् होता है और यदि प्रतिपक्षी कहे कि वहाँ पर चित्र संयोग है, वह अवयवीरूप नहीं है, तो उसका यह पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि संयोग एक गुण है, फलतः वहाँ पर रूपग्रहण का समवाय नहीं हो सकता।¹⁶ पुनश्च, चित्र में चित्ररूप बुद्धि उपचार से होती है, ऐसा भी मानना ठीक नहीं, क्योंकि, जैसा धर्मकीर्ति कहते हैं, 'प्रत्येक अवयवों में जो हर एक अवयव है वह अनेक नहीं अपितु एक होता है।' तात्पर्य यह कि उपचार के कारण 'यह चित्र है', ऐसी बुद्धि जो मान रहे हैं वह ठीक नहीं है, क्योंकि चित्र के जो नील-पीतादि अनेक अवयव होते हैं उनमें से प्रत्येक अनेक नहीं, अपितु एक ही होता है। संयोग तो दो में ही हो सकता है, जबकि यहाँ 'एक ही' की स्थिति है। धर्मकीर्ति का आशय यह है कि चित्रत्व अवयवों में समवेत नहीं है। जहाँ संयोग और चित्रत्व का एकार्थसमवाय सिद्ध होता है वहाँ, उदाहरणार्थ, तरुओं में संख्या तथा लक्षण के एकार्थसमवाय से वन में कुसुमित बुद्धि होती है। चूँकि, नीलादि की प्रतीति क्रम से होती है, अतः, अन्यबुद्धि के द्वारा चित्रबुद्धि का संकलन नहीं हो सकता, क्योंकि एकबुद्धि के द्वारा अनेक का ग्रहण नहीं होता है। अतः, नीलादि का संकलन एक बुद्धि से कैसे हो सकता है? और यदि एक बुद्धि से नीलादि का संकलन मान लिया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि एक बुद्धि का विषय अनेक अर्थ होता है। अतः, अनेक अर्थों को जानने के कारण बुद्धि अविकल्पक सिद्ध होती है, क्योंकि शब्दयोजना वाले एक अर्थ में विकल्प करने वाला द्रष्टा शब्दयोजना से रहित अर्थ को भी देखता है। एक साथ अनेक शब्दयोजनाएँ तो हो नहीं सकती।¹⁸

इन्द्रियप्रत्यक्ष के प्रसंग में न्याय-वैशेषिक तथा बौद्धों का शास्त्रार्थ

नैयायिक कहते हैं कि चूँकि प्रत्येक परमाणु अतीन्द्रिय होते हैं, अतएव संचित परमाणु विज्ञानगोचर नहीं हो सकते। बौद्धों का उत्तर है कि यदि इन्द्रियादि की भाँति उपसर्पण प्रत्यय के कारण अनेक परमाणु अतिशय के उत्पन्न हो जाने से (= संहतरूप से उत्पन्न होने से) विज्ञानजनन के योग्य होकर स्वग्राही कार्य तथा बुद्धि के कारण होते हैं, तो इसमें कोई विरोध नहीं है। जैसे इन्द्रियादि में से प्रत्येक बुद्धि का कारण नहीं है, एक साथ मिलकर ही वे बुद्धि का कारण बनती हैं, वैसी ही स्थिति अणु की भी है। नैयायिकादि के समान हम बौद्धों का अणु नित्य एवं एक स्वभाववाला नहीं है, अपितु वे प्रत्यय के अनुसार (= यथाप्रत्यय) अतीन्द्रिय होते हुए ऐन्द्रिय भी हैं। नैयायिक

प्रश्न उठाता है— हेतु होने पर भी अणु ग्राह्य कैसे होते हैं? बौद्धों का उत्तर है कि हेतुत्व को छोड़कर ग्राह्यता और कुछ नहीं है। नैयायिक इस पर कहता है कि किसी स्थिति में तो इन्द्रियादि को भी ग्राह्य होना चाहिए, क्योंकि वे भी इन्द्रियज्ञान में हेतु हैं। धर्मकीर्ति उत्तर देते हैं कि उन हेतुओं में से बुद्धि जिसके आकार की होती है, उस बुद्धि का वह ग्राह्य होता है। बुद्धि अणुसंचय के आकार का ही अनुकरण करती है, इन्द्रियादि के आकार का नहीं। अतः, इन्द्रियादि ग्राह्य नहीं हैं। वे पुनः कहते हैं कि जो यह मानते हैं कि अनेक का एक साथ ग्रहण नहीं होता है, उसके मत में अवयवी अपने अवयवों के साथ ग्राह्य कैसे होता है? क्योंकि सास्नादि अवयवों के नहीं दिखलायी पड़ने पर 'गो' का प्रत्यय नहीं होता है। यदि विरोधी यह माने कि विशेषण और विशेष्य का अधिगम एक साथ भी होता है, तो जब विषाणी या सास्नादिमान् गाय का ग्रहण होता है, तब उसी अवयव से अवयवी का सम्बन्ध निश्चित होने से तथा अन्य अवयवों के साथ सम्बन्ध के अनिश्चय से संपूर्ण अवयवों वाले अवयवी का एक साथ ग्रहण नहीं होगा। इसी प्रकार गुणादिमान् अवयवी का भी ग्रहण नहीं होगा। 'विषाणी गो' इस ज्ञान द्वारा विषाणविशिष्ट 'गो' को विषय बनाये जाने पर भी गुण, कर्म, सामान्यादि ज्ञान के विषय नहीं होंगे। नैयायिकों की अन्य मान्यता का खण्डन करते हुए बौद्ध कहते हैं कि 'गुण, कर्म, सामान्य, अवयव आदि को विशेषण मानकर सबका ग्रहण नहीं माना जा सकता, क्योंकि विशेषण और विशेष्य विवक्षापरतन्त्र होने से पारमार्थिक नहीं हैं। 'विषाणी गो' इस वाक्य में 'विषाण' विशेषण है और 'गो' विशेष्य है, किन्तु 'गो का विषाण' इस वाक्य में 'गो' विशेषण है और 'विषाण' विशेष्य है। इस प्रकार प्रयोगकर्ता की इच्छा के अनुसार विशेषण और विशेष्य में विपर्यय देखा जाता है। इसलिए, प्रयोक्ता ने जिस विशेषण को स्वीकार किया है उसी विशेषण से विशिष्ट वस्तु का ग्रहण होता है, अन्य विशेषणों से विशिष्ट वस्तु का नहीं। अतएव, अवयवी तथा गुणादिमान् वस्तु का ग्रहण नहीं होना चाहिए।¹⁹

वैशेषिकों के मत में एकवस्तु का दूसरी वस्तु से स्वतः भेद नहीं है। कोई न तो स्वतः 'गौ' है और न तो 'अ-गौ', अपितु गोत्व के योग से 'गौ' है। न तो कोई स्वतः शुक्ल है न अ-शुक्ल, अपितु शुक्लत्व के योग के शुक्ल है। आचार्य धर्मकीर्ति इस पर कहते हैं कि पदार्थों के ग्रहण के साथ भेद कराने वाले गुणादि का ग्रहण स्वीकार्य नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने से युगपत् अनेक पदार्थों के ग्रहण का प्रसंग आता है। इसके अतिरिक्त, 'पर' और 'अपर' अर्थसमूह को देखने वालों को एक पदार्थत्व की बुद्धि होगी। परस्पर में भेदक गुण, जाति आदि का द्रव्यों के साथ ग्रहण नहीं होता है, जिससे उनमें भेद बुद्धि हो। और, यदि द्रव्यग्रहण के बाद गुणादि

विशेषणों के ग्रहण से द्रव्यों में नानात्व माना जाय, तो ऐसा मानने में गुण, कर्म, सामान्यादि का, सम्बन्धी द्रव्य के साथ सांकर्य हो जायेगा। वैशेषिकदार्शनिक कह सकते हैं कि द्रव्य स्वतः भेद रूप से उपलब्ध नहीं होता है, किन्तु बाद में उपलभ्यमान तथा सम्बद्धरूप से अवगत गुणों के द्वारा द्रव्य में भेद की व्यवस्था होती है। अतः एक द्रव्य में अन्य द्रव्य सम्बद्ध और अनेक गुणादि भी सम्बद्ध रूप से प्रतीत होंगे। भिन्नदेश वाले गुणों की भिन्न देशों में योजना होने से 'सम्बन्धिसांकर्य' नहीं होगा। धर्मकीर्ति इस व्याख्या को अयुक्त समझते हैं, क्योंकि देशभेद भी तो विशेषण है, अतः वह भी एक का ही होगा और एक में विरुद्ध धर्म नहीं हो सकते। धर्मकीर्ति फिर कहते हैं कि 'प्रतीयमान अर्थ बाद में प्रतीयमान उपाधियों से भिन्न रूप में व्यवस्थापित किये जाते हैं ऐसा मानने पर भी, चूँकि अर्थों में 'स्वतः भेद तो है नहीं', फलतः भेद से आवद्ध उपाधियों के साथ उसका ज्ञान नहीं होने के कारण भेदव्यवस्था प्रत्यक्षसिद्ध नहीं हो सकेगी।' वैशेषिक-नैयायिकादि यह कहते हैं कि अर्थ के गृहीत होने पर उसके पश्चात् होने वाला सविकल्पकप्रत्यक्ष भेदग्राहक उपाधियों की अर्थ के साथ योजना करता है। धर्मकीर्ति कहते हैं कि इस स्थिति में तो दृश्य में उपाधियों की योजना प्रत्यक्षकृत नहीं है, अपितु विकल्पकृत ही है और तब स्पष्ट भेददर्शन नहीं होना चाहिए, क्योंकि विकल्प का विषय अस्फुट (= अस्पष्ट) होता है। यदि इस पर विरोधी कहे कि दृष्ट अर्थ में बाद में प्रतीयमान उपाधि उसी (अर्थ) के ही दृष्ट (विशेषण) हैं, तो धर्मकीर्ति का प्रश्न है कि 'उसका' (= तस्य) से आपका मतलब क्या है? अनेक उपाधियों के ग्रहण के पहले अनेकता की प्रतीति तो होती नहीं। यदि कहा जाय कि पदार्थ एक है, तो प्रश्न है कि उपाधियों के द्वारा अर्थ में भेद कैसे किया जा सकता है? और यदि यह कहा जाय कि जिसमें एक और अनेक स्वभाव का निश्चय नहीं हुआ है ऐसी वस्तुमात्र को हम अर्थ कहते हैं, तब तो चूँकि आपके अनुसार अर्थ में बाद में उपलब्ध होने वाली देशभेदादिवाली भी उपाधियों की योजना की जाती है, अतएव 'सम्बन्धिसंकर' का प्रसंग अनिवार्य है।²⁰

प्रश्न है कि यदि प्रत्यक्ष निविकल्पक है तो धर्म-धर्मी आदि का ग्रहण क्यों होता है? धर्मकीर्ति उत्तर देते हैं कि अर्थ समस्त अन्य पदार्थों से व्यावृत्त है, अतः, जिस-जिस अर्थ से वह व्यावृत्त है, उतनी ही व्यावृत्तियाँ उसमें पायी जाती हैं और उन व्यावृत्तियों द्वारा उस अर्थ में धर्मीधर्मादि रूप से अनेकरूपता है। तात्पर्य यह है कि धर्मी आदि का व्यवहार व्यावृत्तिभेदपरिकल्पित है। सभी ओर से व्यावृत्त वस्तु प्रत्यक्ष से गृहीत होने पर उन-उन व्यावृत्तियों से होने वाले विकल्प प्रत्यक्षदृष्ट रूप से धर्मीधर्मभाव की व्यवस्था करते हैं, इस कारण धर्मीधर्मभाव प्रत्यक्षकृत कहा जाता है न कि प्रत्यक्ष में प्रतिभास होने के कारण। ये धर्मीधर्मादि विजातीय व्यावृत्ति पर आश्रित होने से

कल्पित, अवस्तुबलभावी होने से चित्ररूप (= अनेक तरह के) तथा कादाचित्क होते हैं एवं निर्विकल्प प्रत्यक्ष के विषय नहीं होते हैं। वस्तुसामर्थ्य से उत्पन्न प्रत्यक्ष वस्तु के आकार का अनुकरण करता है, कल्पनाप्रसूत वस्तु का नहीं। आचार्य धर्मकीर्ति पुनः कहते हैं कि सामान्य वस्तु हो भी, फिर भी इन्द्रियज्ञान का विषय शब्द का विषय नहीं हो सकता। यद्यपि, पटादि धर्मों में सितत्वादि सामान्य हैं, किन्तु जैसा विशदाकार-सितत्वादि इन्द्रियज्ञान का विषय होता है वह शब्दों के द्वारा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इन्द्रियजन्यज्ञान स्पष्ट होता है, जबकि शब्दजन्यज्ञान अस्पष्ट। दोनों ज्ञानों में आकार भेद होता है, इसलिए दोनों का विषय एक नहीं है। विरोधी यह कह सकता है कि इन्द्रिय और शब्दजनित ज्ञानों में एकार्थविषयता होती है, फिर भी आश्रयभेद अथवा कारणभेद से आकारभेद होता है। धर्मकीर्ति इस पर प्रश्न करते हैं कि ऐसी स्थिति में इन्द्रियज्ञानों को, जो भिन्न-भिन्न अर्थों को विषय करने वाला आपने माना है वह कैसे सिद्ध होगा? आप यह क्यों नहीं मान लेते कि यद्यपि इन्द्रियज्ञान एक ही अर्थ को विषय करता है, किन्तु चक्षुरादि आश्रय के भेद के कारण भिन्नाकार (= रूपादि विषयक) प्रतीत होते हैं। पुनश्च, यह मान भी लिया जाय कि सामान्यादि ज्ञान का कारण इन्द्रिय और शब्द है, तो भी, यह प्रश्न बना ही रहता है कि सामान्यादि एक ही वस्तु का रूप स्पष्ट और अस्पष्ट के भेद से भिन्नाकार कैसे हो सकता है, क्योंकि स्वरूप से प्रतिभासमान एक को भिन्न प्रतिभासवाला मानना ठीक नहीं है।¹² आचार्य प्रज्ञाकर इसकी व्याख्या करते हुए प्रतिपादित करते हैं कि आश्रयभेद ज्ञान के अभेद को तो उत्पन्न कर सकता है, किन्तु अर्थ के अभेद को वह उत्पन्न नहीं कर सकता। अर्थ तो नीलादिक ही है, और वह उस ज्ञान में एकरूप ही प्रतिभासित होगा। जो अविद्यमान है, उसका प्रतिभास नहीं होता है। कोई चीज अन्य में प्रतिभासित होती हुई अन्य का प्रतिभास होकर सम्बन्धित हो ऐसा भी नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि वह उसका कारण होता है, अतः, उसे उसका प्रतिभास कहा जाता है, तो इसका अर्थ हुआ कि कारणत्वेन वह उसका विषय है और ऐसी स्थिति में चक्षुरादि की भी विषयता का प्रसंग उपस्थित होगा। यदि आप पूछें, कि हमारे ऐसा मानने में क्या दोष है, तो हमारा उत्तर है कि ऐसा मानने में एकार्थता का विरोध होगा और जो चाक्षुष है वह भी विषय हो जायेगा। अतः, प्रतिभास ही, जिस रूप में वह है (= प्रतिभास अपने स्वलक्षण रूप में) विषय है। अर्थ (= बाह्यार्थ) विषय नहीं है, क्योंकि उसकी स्वरूपेण प्रतीति नहीं होती है। यदि आप अर्थप्राप्ति को विषय कहें, तो, हमारा प्रश्न है कि यदि अर्थ की स्वरूपेण प्राप्ति होती है, तो फिर, वह अन्यतः प्राप्त होता है, ऐसा आप कैसे कहते हैं? यदि विरोधी उत्तर दे कि उसी से प्रवृत्ति होने के कारण यह वैसा कहता है, तो हमारा पुनः प्रश्न है कि यह प्रवृत्ति प्रतीति के कारण होती है,

ऐसा कैसे आप कह सकते हैं? यदि उत्तर दिया जाय कि चूँकि उस आकार से उसकी प्राप्ति देखी जाती है, तो इस पर हमारा कहना है कि 'वही आकार उससे प्रतीत होता है, अतएव, वहाँ पर प्रवृत्ति होती है' यह आनुमानिकी प्राप्ति है, शाब्दी नहीं। अतः इससे यह अर्थ निकला कि यह अनुमान का ही विषय है, शब्द का नहीं। यदि विरोधी यह कहे कि मुझको इसकी प्रतीति हुई, और उसके चलते प्रवर्तन होता है, तो हम बौद्ध इस बात को सत्य मानते हैं। किन्तु यह पारमार्थिक स्थिति नहीं है, क्योंकि हमें अप्रतीत में भी प्रतीत होने का अभिमान होता है। पुनश्च, हम इन्द्रियविज्ञान के अर्थ की शब्दविषयता की पारमार्थिकता को ही नकारते हैं, उसकी सांवृतिकता को नहीं, अतः हमारे पक्ष में कोई दोष नहीं है। यदि विरोधी उसे स्वीकार कर लेता है तो हमारे अभीष्ट की सिद्धि हो जाती है। जिस रूप में वह है, यदि उस रूप में ही उसकी प्रतीति होती है, तो उसका पारमार्थिक विषयत्व प्रतिपादित हो जायेगा। अतएव, जो स्वरूपेण (= स्वलक्षण रूपेण) प्रतीयमान नहीं है वह इन्द्रियविज्ञान का विषय नहीं होता है।¹² विरोधी प्रत्यभिज्ञान को आधार बनाकर बौद्धों पर निम्न आक्षेप करता है— यदि शब्दज्ञान और इन्द्रियज्ञान का विषय एक नहीं है, तो, 'गौ' शब्द से विषाणादिवाले अर्थ को जानकर कालान्तर में व्यक्तिविशेष गौ को देखने वाले पुरुष को 'इसको पहले मैंने 'गौ' शब्द से जाना था', इस तरह की एकता का अध्यवसाय करने वाला जो प्रत्यभिज्ञान होता है वह नहीं बनेगा। धर्मकीर्ति उत्तर देते हैं कि दृश्य (= अर्थ) शब्द और विकल्प प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता है। अतः, प्रत्यक्ष के बाद में होने वाला प्रत्यभिज्ञान वस्तुविषयक नहीं है। इन्द्रियविज्ञान और शब्दज्ञान चूँकि भिन्न आकार वाले होते हैं, अतएव, वे एकता का अध्यवसाय करने वाले नहीं हो सकते। पुनश्च, दृश्य गवादि जैसी अनेक वस्तुओं में अभिन्नाकार शब्द और विकल्प का अन्वय पाये जाने से जात्यादि का जो अनुमान नैयायिकादि करते हैं वह भी उपर्युक्त कथन से खण्डित हो जाता है। जब दृश्य (= अर्थ), शब्द और विकल्प का विषय नहीं है, तो उनके द्वारा गृहीत सामान्य वस्तु नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, शब्द और विकल्प अन्वयी होकर भी वस्तु को स्पर्श नहीं करते हैं। अतएव, तब उनके द्वारा वस्तुभूत सामान्य की सिद्धि कैसे हो सकती है? विरोधी इस पर प्रश्न करता है कि यदि सामान्य नहीं है, तो प्रत्यभिज्ञान कैसे होता है? धर्मकीर्ति का उत्तर है कि इन्द्रियज्ञान ही स्वभाव के अनुरूप संस्काररूपी बीज के प्रबोध के सामर्थ्य से प्रत्यभिज्ञान नामक कल्पना को कर लेता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्ष अनिर्देश्य होने से निर्विकल्पक है।¹³

ज्ञानेन्द्रियों की संख्या और उनका व्यापार

पंच ज्ञानेन्द्रियों की मान्यता तो सर्वसाधारण है। एक आन्तरिक ज्ञानेन्द्रिय भी

होती है, जो क्रोधादि भावों का साक्षात् ज्ञान करती है। इसे अन्तरीन्द्रिय, अन्तःकरण, मन, कई नामों से पुकारा गया है। यहाँ हम इन्द्रियों की भौतिक रचना की व्याख्या नहीं कर रहे हैं, क्योंकि वह हमारा विषय भी नहीं है और उसके विवेचक वैज्ञानिक शास्त्र हैं; किन्तु इन्द्रियविज्ञान की व्याख्या में जो मतवैभिन्न्य ज्ञानमीमांसा के धरातल पर है, उसी के परिप्रेक्ष्य में इन्द्रियों की संख्या और उनके व्यापार पर, दर्शनशास्त्र में हुए विचारों को संक्षेप में प्रस्तुत करेंगे। दिग्नाग पूर्व, वसुबन्धु तथा अन्य बौद्ध, सांख्यादि, मनसहित छः इन्द्रिय मानते हैं। दिग्नाग और उनके बाद के युक्त्यनुयायी विज्ञानवादी 'मन' को ज्ञानेन्द्रिय नहीं मानते, अतः मानसप्रत्यक्ष को, मन इन्द्रिय द्वारा अर्थ (= स्वलक्षण धर्म) के साक्षात्कारीज्ञान के रूप में मानकर इन्द्रियविज्ञान के अन्तर्गत नहीं रखते, अपितु, प्रत्यक्ष का एक अलग प्रकार मानते हैं। आचार्य दिग्नाग न्याय के प्रत्यक्षलक्षण की आलोचना करते समय यह आग्रह करते हैं कि न्यायसूत्र में पाँच ही इन्द्रियों का उल्लेख हुआ है। मन का इन्द्रिय के रूप में उल्लेख नहीं है।¹⁴ वात्स्यायन और उसके बाद के आचार्य स्पष्टतः मन को इन्द्रिय कहते हैं और मानसप्रत्यक्ष को इसी कारण इन्द्रियप्रत्यक्ष में परिगणित करते हैं। अन्य आस्तिक मत भी छः इन्द्रियों को मानते हैं। इनमें मन आन्तरिक ज्ञानेन्द्रिय है, जबकि पाँच बाह्यज्ञानेन्द्रियाँ हैं।¹⁵

इन पाँच बाह्य ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो इन्द्रियप्रत्यक्ष होता है उनमें किस इन्द्रिय की कैसी वृत्ति है, विषय के साथ उसका साक्षात् सम्पर्क किस तरह का होता है अथवा इन्द्रियाश्रित जो विषय का साक्षात्कार होता है वह किस प्रकार से होता है? क्या इन्द्रिय अपने स्थान से बाहर आकर विषय का अधिगम करती है, अथवा इन्द्रिय अपने स्थान से बाहर नहीं जाती, अपितु विषय की व्यवस्था ही ऐसी है कि वह इन्द्रिय द्वारा गृहीत होता है? आधुनिक मनोवैज्ञानिक शब्दावली में 'क्या अर्थ का साक्षात्ज्ञान इन्द्रियशक्ति की क्रिया द्वारा होता है, जिसमें इन्द्रियशक्ति अपने स्थान से बाहर जाकर विषय को ग्रहण करती है और फिर लौट आती है, अथवा इन्द्रियाँ ग्राहक मात्र (= रिसीविंग सेट) हैं। दार्शनिक शब्दावली में प्रश्न का रूप होगा, क्या इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं, अथवा अप्राप्यकारी।

इसी प्रसंग में एक दूसरी भी समस्या है, कि इन्द्रिय द्वारा 'सान्तरग्रहण' कैसे होता है तथा अपने से आकार-प्रकार (= size) में अधिक विषय का ग्रहण इन्द्रिय कैसे करती है? पहले प्रश्न का सम्बन्ध दूरवर्ती स्थान में स्थित वस्तु के साक्षात्कार से है, जबकि दूसरा प्रश्न इन्द्रिय के माप से अधिक विस्तार वाले अर्थ के ग्रहण में इन्द्रिय के सामर्थ्य पर आपत्ति करता है।

बौद्धों के अतिरिक्त नैयायिक तथा अन्य भारतीय दार्शनिक यह मानते हैं कि अपने-अपने विषय के साथ सभी पाँच ज्ञानेन्द्रियों का साक्षात् सन्निकर्ष होता है, अर्थात् वे प्राप्यकारी हैं।²⁶ किन्तु बौद्ध मानते हैं कि दो बाह्य इन्द्रियाँ, चक्षु और श्रोत (तथा वसुबन्धु एवं त्रिपिटक साहित्य के अनुसार अन्तरीन्द्रिय मनस्) स्वविषय के साथ बिना साक्षात् सन्निकर्ष के कार्य करती हैं, अर्थात्, वे अप्राप्यकारी हैं। बौद्धों की यह भी मान्यता है कि ये इन्द्रियाँ अपने से आकार-प्रकार में बड़ी एवं विस्तृत वस्तु का भी ग्रहण (= अधिकग्रहण) करती हैं। अन्य इन्द्रियाँ-घ्राण, रसना एवं त्वचा-तुल्य माप वाली (= बराबर के आकार-प्रकार वाली) और साक्षात् सन्निकर्ष में आने वाली वस्तु का ग्रहण करती हैं। आचार्य दिग्नाग न्यायमत के प्रत्यक्षलक्षण की आलोचना इसी दृष्टि से करते हुए लिखते हैं— 'यदि यह माना जाय कि सभी अवस्थाओं में प्रत्यक्ष इन्द्रिय और अर्थ के साक्षात् सन्निकर्ष द्वारा उत्पन्न होता है, तो 'रूप' और 'शब्द' का न तो दूर से ग्रहण (= सान्तरग्रहण) होगा और न तो ज्ञानेन्द्रिय से आकार में अधिक विस्तृत अर्थ का ही ग्रहण होगा, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों से कोई दूरी नहीं रहने पर ही (= जब इन्द्रिय और अर्थ सान्तर नहीं होते, उनमें दूरी नहीं रहती, वे परस्पर साक्षात् सन्निकर्ष में होते हैं, तभी) प्रत्यक्ष होता है। उदाहरणार्थ, 'गन्ध' का हमें न तो सान्तरग्रहण होता है और न तो इन्द्रिय के अधिष्ठान के आकार-प्रकार से अधिक का ही ग्रहण होता है।'²⁷ चूँकि न्यायमत के अनुसार ज्ञानेन्द्रियाँ भौतिक हैं, अतः दिग्नाग के अतिरिक्त सांख्यादि भी न्यायमत का यह कहते हुए खण्डन करता है कि भौतिक इन्द्रियाँ प्राप्यकारी नहीं हो सकती और न तो इन्द्रियाँ अपने से 'महत्' अथवा 'अणु' को ग्रहण करने में समर्थ हैं।²⁸ यहाँ यह ध्यानीय है कि नैयायिकों के अनुसार चक्षुरिन्द्रिय कृष्णसार वा गोलक नहीं है, अपितु नेत्र से निकलकर अर्थ तक जाने वाली रश्मि है— (रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात् तद्ग्रहणम्। न्या०सू० 3-1-34)। श्रवणेन्द्रिय के विषय में न्याय का सिद्धान्त है कि 'अर्थ द्वारा प्रेषित शब्द तरंगों कर्णकुहर द्वारा गृहीत की जाती हैं और वहाँ शब्द के रूप में उनका प्रत्यक्षीकरण होता है'। (भाषापरिच्छेद, का० 165-166)। अतएव, नैयायिकों के अनुसार अपने भौतिक आधार के बाहर भी क्रियारत रहने वाली एकमात्र इन्द्रिय चक्षु है। किन्तु सांख्य और वेदान्त मानता है कि 'श्रवणेन्द्रिय भी अपने अधिष्ठान से बाहर जाती है और शब्द को उत्पन्न करने वाले अर्थ तक पहुँचती है— "चक्षुः श्रोते तु स्वत एव विषयदेशंगत्वा स्व स्व विषयं गृहणीतः, श्रोत्रस्यापि चक्षुरादिवत् परिच्छिन्नतया भेद्यादि देशगमनसंभवात्" 'वेदान्त परि० अध्या० 1। सांख्य यह मानता है कि इन्द्रियाँ 'प्राप्यकारी' हैं। वे जड़ नहीं, अपितु अहंकारोद्भूत होने से आधिभौतिक अथवा आध्यात्मिक हैं। अतः, दूरदेश में स्थित विषयों तक पहुँचने तथा अपने से महत् एवं अणु के ग्रहण में समर्थ हैं। चूँकि, मीमांसकों का दृष्टिकोण भी इस प्रसंग में न्याय-वैशेषिकों

जैसा ही है, अतः, न्याय पर लगाये आरोप को दिग्नाग मीमांसा के 'सत्सम्प्रयोग.....' रूप प्रत्यक्षलक्षण पर भी लगाते हैं।²⁹

इस मान्यता का कि चक्षु और श्रोत ये दो इन्द्रियाँ अपने अधिष्ठान से अर्थ से मिलने बाहर जाती हैं, अतः, अपने से सान्तर और अधिक का ग्रहण कर सकती हैं, दिग्नाग विरोध करते हैं और बतलाते हैं कि यह पक्ष अयुक्त है। प्रथमतः "इन्द्रिय अपने आधार या अधिष्ठान के बाहर नहीं जाती, और द्वितीयतः, यदि इन्द्रिय अपने अधिष्ठान के बाहर जाती भी है, तो भी वह किसी अर्थ या विषय का प्रत्यक्ष नहीं कर सकती।"³⁰ इन्द्रिय अपने अधिष्ठान में ही बनी रहती है, उससे बाहर अर्थ से मिलने, नहीं जाती, इसका प्रमाण यह है कि इसी अधिष्ठान के प्रति चिकित्सा—उपचारादि क्रिया होती है। अतः अधिष्ठान में स्थित इन्द्रिय द्वारा ही, न कि बहिर्वर्ती इन्द्रियशक्ति द्वारा, दूरस्थ अर्थ का ग्रहण होता है। बाहर जाने पर भी इन्द्रिय किसी अर्थ का प्रत्यक्ष नहीं कर सकती, यदि इसे न जाना जाय, तो इन्द्रिय के अधिष्ठान के आवृत होने पर भी इन्द्रिय को अर्थ का ग्रहण होगा। अतएव, चक्षु और श्रवण इन्द्रियाँ अपने—अपने अर्थों से साक्षात् सन्निकर्ष के बिना ही, अपने आन्तरिक अधिष्ठान में स्थित रहते हुए ही अर्थ का ग्रहण करती हैं और इस कारण ही वे 'सान्तरग्रहण' और 'अधिकग्रहण' में समर्थ हैं।³¹

आचार्य उद्धोतकर अपने वार्तिक में बौद्धों के तर्कों का निम्न प्रकार से खण्डन करते हैं— (क) यदि 'सान्तरग्रहण' शब्द का अर्थ 'अप्राप्तस्यग्रहणम्— ज्ञानेन्द्रिय के साथ साक्षात् सन्निकर्ष में न आने वाले अर्थ का ग्रहण माना जाय, तो बौद्धों का अनुमान इस प्रकार होगा :— 'प्रतिज्ञा—अप्राप्यकारि चक्षुः, (हेतु) अप्राप्तग्रहणात्। इस अनुमान में दिया गया हेतु प्रतिज्ञा की पुनरुक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं। यदि सान्तरग्रहण का अर्थ 'सहान्तरेणग्रहणम्' — बीच में देश या अवकाशसहित अर्थ का ग्रहण लगाया जाय, तो भी बीच के देश का प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता कि (1) यह आकाश है (2) अभाव है या (3) कोई अन्य द्रव्य, क्योंकि (1) अरूपिन् (= रूपवाला न) होने के कारण आकाश अदृश्य है; (2) अधिकरण से स्वतन्त्र रूप में अभाव चक्षु का विषय नहीं होता और (3) चक्षु और अर्थ के बीच में रहने वाला द्रव्य चक्षु को अर्थ तक पहुँचने से रोकेगा। यदि सान्तरग्रहण का अर्थ 'सान्तर इति ग्रहणम्' — ज्ञात करने वाले तथा अर्थ के मध्य दूरी है ऐसी प्रतीति भी मानें, तो भी यह चक्षु के अप्राप्यकारित्व का प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि इस प्रतीति का कारण शरीर और अर्थ के बीच की दूरी है न कि चक्षु और अर्थ के बीच की दूरी। (ख) पुनश्च, चक्षु के ही सन्निकर्ष के द्वारा 'अधिकग्रहण' संभव है।³² वाचस्पति मिश्र इस पर अपनी टीका में कहते हैं कि 'दूरी की यह भावना वस्तुतः विकृति का परिणाम है। लोग अपने शरीर के अंगों को ही अपनी आत्मा मान

लेते हैं, फलतः जो कुछ इस शरीर से असम्बद्ध होता है (= शरीर बाह्य होता है) उसे सान्तर (= बाहरी तत्त्व तथा दूरस्थ) मान लेते हैं।' अधिक विस्तार का प्रत्यक्ष इसलिए संभव होता है, क्योंकि चक्षुशक्ति तैजस् रूप होती है और एक लघु दीपक से प्रसरित हो रहा प्रकाश अपने से विस्तृततर प्रदेश को व्याप्त कर लेता है। अतः, विस्तार का प्रत्यक्ष (= सान्तरग्रहण और अधिकग्रहण) विषय (= अर्थ) के परिमाण पर निर्भर करता है, इन्द्रिय के परिमाण (= आकार-प्रकार) पर नहीं।³³

आचार्य शांतिरक्षित ने उद्धोतकर की आलोचना का मुंहतोड़ उत्तर दिया है।³⁴ उनका कहना है सन्निकर्षवाद एक फालतू परिकल्पना है, और इसे मान भी लिया जाय तो भी, इसके अतिरिक्त यह अनिवार्य शर्त के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा कि ज्ञानेन्द्रियों में अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने की नैसर्गिकवृत्ति होती है, और इतने से ही प्रत्यक्ष का विस्तार-क्षेत्र निश्चित हो जायेगा। यह आग्रह किया जा सकता है कि शारीरिक सन्निकर्ष (= इन्द्रियसन्निकर्ष) के अभाव में, केवल प्रवृत्ति से सान्तरग्रहण की व्याख्या नहीं हो सकती, क्योंकि दूरी में भी प्रवृत्ति हानिरहित स्थिति में बनी रहती है। यदि शारीरिक भौतिक सम्बन्ध को एक नियामक या निश्चायक कारण या घटक (*determinant factor*) मान लिया जाय, तो बात सुग्राह्य हो जाती है। बौद्धों का उत्तर है कि उपर्युक्त पक्ष युक्त नहीं। हमारा प्रश्न है कि दूरस्थ विषयों के साथ सम्पर्क क्यों नहीं होता? यदि उत्तर दिया जाय कि इन्द्रियसामर्थ्य का क्षय इसका कारण है, तो, यह मानना अधिक तार्किक और श्रेयस्कर है कि दूरस्थ अर्थों के प्रसंग में ज्ञानेन्द्रिय में यह प्रवृत्ति नहीं होती, इसी कारण सान्तर विषय इन्द्रिय की सीमा में नहीं आते। हम अपने विरोधी से यह भी प्रश्न करेंगे कि तब चक्षुरिन्द्रिय को रंग-रूप के साथ रस का भी ग्रहण क्यों नहीं करना चाहिए, यद्यपि दोनों एक ही अधिष्ठान में निवास करते हैं और शारीरिक सम्पर्क एक वस्तु तथ्य है? यह कहना कि जहाँ तक रस, का सम्बन्ध है, सन्निकर्ष नहीं होता, अतएव रस का ग्रहण (= प्रत्यक्ष) नहीं होता, एक अविचारशील व्यक्ति की आँखों में धूल झोंकने जैसा है। यदि समस्या का समाधान वस्तु की प्राकृतिक बनावट के द्वारा हो जाता हो, तो केवल इसी को प्रतिपादित करें, इन्द्रियसन्निकर्ष को बीच में लाना व्यर्थ है। चुम्बक पर्याप्त दूरी से लोहे को आकर्षित कर लेता है और उनमें कोई भौतिक सम्बन्ध इस प्रसंग में हम नहीं पाते। इस दृष्टान्त पर वाचस्पति की व्याख्या पर भी प्रश्न उठता है कि यदि, चुम्बक लोहे पर अपनी प्रभा को फेकता है और इसी के चलते आकर्षण होता है, तो हमारा कहना है कि इस प्रकार की किसी प्रभा का हमें अनुभव नहीं होता, और ऐसी बात होती है इसके लिए कोई भी आधार नहीं है? पुनश्च, इसे मान भी लें, तो भी यह प्रश्न उठता है कि लोहे के

पास में स्थित रहने पर भी शिशपादि पर अपनी प्रभा को फेंककर चुम्बक उन्हें आकर्षित क्यों नहीं करता? यदि प्राकृतिक संरचना को इसमें कारण माना जाय, तो सन्निकर्ष के अभाव में भी यह बात समानरूप से लागू होगी। भौतिक सन्निकर्ष या शारीरिक सम्पर्क की परिकल्पना से बात अधिक स्पष्ट हो जाय, अधिक समझ में आ जाय ऐसा कुछ तो होता नहीं।

पुनश्च, सन्निकर्षवाद के द्वारा सभी प्रकार के प्रत्यक्षों की व्याख्या नहीं हो पाती। उदाहरणार्थ, यदि चक्षु से रश्मि निकलकर अर्थ तक जाती है, तो सहस्रों मील दूर स्थित चन्द्रमा का शाखा के साथ जो सकृद्ग्रहण होता है, उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त, प्रत्यक्ष का विषय वही हो सकता है जो इन्द्रियसन्निकर्ष के द्वारा चेतना से (= आत्मा से) सम्बन्धित हो, न्याय की यह मान्यता ठीक नहीं, क्योंकि सम्पर्क या सन्निकर्ष प्रत्यक्ष की अनिवार्य शर्त नहीं। जब अर्थ को ज्ञान का विषय कहा जाता है, तो उसका तात्पर्य यह होता है कि अर्थ भी ज्ञान के कारणों में एक कारण है और कारणसम्बन्ध के लिए भौतिक या शारीरिक सम्बन्ध अनिवार्यता नहीं है, इसकी पुष्टि, चुम्बक और लौह के व्यवहार से पर्याप्त ढंग से हो जाती है। सन्निकर्षवाद में मूल कठिनाई यह है कि यदि अर्थ के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष का होना प्रत्यक्ष के लिए अपरिहार्य स्थिति है, तो दूर या पास की स्थिति से बिना प्रभावित हुए सभी ज्ञाताओं को उस अर्थविशेष का एक-सा प्रत्यक्ष होना चाहिए। यदि दूरी तय करने से इन्द्रियशक्ति के हास होने की बात (= जितनी दूरी तय की जाती है इन्द्रियशक्ति में उसी अनुपात में हास आता जाता है, यह बात) आप मानें, तो हम भी यदि यह मानते हैं कि दूरी जितनी होती है उसी मात्रा में वह विषय की आकारार्पण क्षमता को प्रभावित करती है, फलतः, एक ही विषय का विभिन्न आभास संभव है, क्यों उचित नहीं होगा?³⁵

सन्निकर्षवाद शाब्दप्रत्यक्ष के विभिन्न रूपों की व्याख्या में पूरी तरह असमर्थ प्रमाणित होता है। यदि शब्द तरंगरूप से गतिशील होकर कर्ण कुहर से टकराती है और उसका ग्रहण अपने ही उद्गम स्थल में होता है, तो, फिर विविध शाब्दप्रत्यक्षों में भिन्नता के लिए कोई कारण नहीं। उदाहरणार्थ, तब घनगर्जन तथा कान में पंखे के घुमाने से होने वाली सनसनाहट में कोई भिन्नता नहीं होनी चाहिए। दोनों का एक-सा (= अभेदरूप) ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि सन्निकर्षवाद (= वास्तविक सम्पर्क ही सम्बन्ध है, इस वाद) के अनुसार सभी शब्दों का ग्रहण कर्णकुहर में ही होता है। किन्तु इस प्रसंग में वस्तुस्थिति यह है कि घनगर्जन का प्रत्यक्ष ज्ञाता से उसके दूर और बाह्य होने के रूप में होता है। उद्धोतकर ने यहाँ जो यह व्याख्या देकर आग्रह किया है कि देशगत भिन्नता की अनुभूति तब होती है जब, सन्निकर्ष शरीर की इन्द्रियों

अथवा अंगों के बाहर होता है, उसका शाब्दप्रत्यक्ष के प्रसंग में कोई उपयोग नहीं, क्योंकि शब्द—सन्निकर्ष कर्णकुहरों में होने से शरीरान्तर्गत होता है। अतः, इससे यह अपरिहार्य निष्कर्ष निकलता है कि चक्षु और कर्ण दूर से विषय का ग्रहण करते हैं और ऐसा करने में उनमें परस्पर जो खाई है उसको बांटने वा पाटने का किसी तरफ से कोई प्रयास नहीं किया जाता है। इसी प्रकार घ्राणजप्रत्यक्ष के प्रसंग में भी सन्निकर्ष का अभाव है, क्योंकि इसमें भी उपर्युक्त 'दूरी' और बाह्यता (= इन्द्रिय से गन्ध विषय की दूरी और घ्राणेन्द्रिय के अधिष्ठान से घ्राणविषय का बाहर होना) समान—रूप से पायी जाती है।

अतः, डाक्टर सत्कारि मुखर्जी उचित रूप से ही यह टिप्पणी करते हैं कि "स्पर्श तथा रसनेन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य बाह्यज्ञानेन्द्रियों की मन से, भौतिक या शारीरिक सम्पर्क के न होने की दृष्टि से, कोई भिन्नता नहीं है। दिग्नाग के पक्ष में, अदृश्य और अनुचित (= अयुक्त) सम्बन्ध रूप किसी आधारहीन मान्यता के न होने की मुक्तिदायी (= संतुष्टिकारक) विशेषता है।"³⁶ "न्याय बेतुकी बातें मानकर समस्या को सुलझाने के बदले उसे और उलझा देता है, और यह बात, कम—से—कम शाब्दप्रत्यक्ष के प्रसंग में बिल्कुल लागू होती है।" अतः, "बौद्ध पक्ष हमारे द्वारा स्वीकृत एवं अनुमोदित होने के लिए अधिक दावेदार है, यदि दार्शनिक चिंतन में सरलता को एक सद्गुण माना जाय।"³⁷

इन्द्रियजविज्ञान के विभिन्न बौद्ध सिद्धान्त

हम आगे के अध्याय में ज्ञान के स्वरूप को लेकर बौद्धों में, तथा भारतीय दर्शन सम्प्रदायों में जो कुछ विवाद है उसे विस्तार से देखेंगे। वहाँ हम यह भी प्रदर्शित करेंगे कि विज्ञानवाद स्वतः साकारज्ञानवाद (= सत्याकारवाद) एवं निराकारज्ञानवाद (= मिथ्याकारवाद) में विभाजित था। यहाँ हम इन्द्रियविज्ञान के विषय में साकारविज्ञानवादियों में जो स्वयूथकलह था और जिसके चलते उनमें इस प्रसंग में तीन वाद हो गये, उनकी समीक्षा करने जा रहे हैं।³⁸

सत्याकारवादी विज्ञानवादी यह मानता है कि 'चक्षुर्विज्ञान में जब नील—पीतादि प्रतिभासित होते हैं, तो उस काल में नील, पीत आदि बाह्य अर्थ के रूप में भी प्रतिभासित होते हैं। इस प्रकार चक्षुर्विज्ञान में नील, तथा उसकी बाह्यार्थता दोनों ही प्रतिभासित होते हैं। इनमें नीलाकारता तो सत्य है, किन्तु बाह्यार्थाभास मिथ्या है। यहाँ तक कोई विवाद नहीं। विवाद उठता है 'चित्र' का चक्षुर्विज्ञान द्वारा ग्रहण होने पर उठने वाले प्रश्नों के उत्तर में। प्रश्न है कि चक्षुर्विज्ञान जब विविध वर्णों वाली किसी

वस्तु का ग्रहण करता है, तो विविध वर्णों से चित्रित वस्तु (= ग्राह्य) और उनके ग्राहक विज्ञान की संख्या समान होती है— अर्थात्, यदि ग्राह्य विज्ञान की संख्या, उदाहरणार्थ, दश है तो ग्राहक विज्ञान भी दश होगा, अथवा ग्राह्य विज्ञान अनेक होते हैं किन्तु ग्राहक विज्ञान एक ही होता है, अथवा न तो ग्राह्य ही अनेक है और न ग्राहक ही अनेक, अपितु दोनों ही वस्तुतः अद्वैत रूप हैं? इन तीन विकल्पों के उत्तर के रूप में साकारविज्ञानवाद में (1) ग्राह्यग्राहकसमसंख्याकवाद (2) अर्द्धाण्डाकारवाद तथा (3) चित्राद्वैतवाद नामक तीन वाद विकसित हुए। इन तीन वादों में चित्राद्वैतवाद पर पर्याप्त साहित्य संस्कृत में उपलब्ध है और उस पर न्याय, जैन आदि दर्शनसम्प्रदायों का खण्डन भी मिलता है। अब हम क्रमशः विभिन्न वादों का विश्लेषण करेंगे।

(1) ग्राह्यग्राहकसमसंख्याकवाद — सिद्धान्त का नाम ही यह स्पष्ट कर देता है कि इस सिद्धान्त के अनुसार इन्द्रियविज्ञान में ग्राह्य विज्ञान तथा ग्राहक विज्ञान की संख्या समान होती है। उदाहरणार्थ, नील, पीत लाल, हरित, बैंगनी आदि वर्णों से चित्रित वस्तु के चाक्षुष प्रत्यक्ष को लें। इस वाद के अनुसार नील, पीत, लाल, हरित एवं बैंगनी आदि ग्राह्यविज्ञानों की उस वस्तु में जितनी संख्या होगी उनके ग्राहकविज्ञान भी उतनी ही संख्या में होंगे। इतना ही नहीं ये ग्राह्यविज्ञान जिस प्रकार एक चित्रावयविन् के अवयव होते हुए भी द्रव्यतः पृथक् स्थित होते हैं, उसी प्रकार ग्राहक विज्ञान भी परस्पर पृथक् रूप में स्थित होते हैं। जिस प्रकार चित्रित वस्तु में हरित, लाल आदि वर्ण परस्पर द्रव्यतः विलग एवं भिन्न होते हैं, और चित्ररूप द्रव्य के अवयव होते हुए भी एक दूसरे से विलग स्थित रहते हैं, तद्वत् स्थिति इन अनेक एवं द्रव्यतः भिन्न वर्णों के ग्राहक विज्ञान की भी है। इन लोगों की यह भी मान्यता है कि ये सभी ग्राह्य और ग्राहक एक ही काल में उत्पन्न होते हैं। आचार्य धर्मकीर्ति इस वाद की अभिव्यक्ति करते हुए लिखते हैं— “बुद्धि में ही नानाकारता होने से ग्राह्यविषयों की अनेकता को व्यवस्थापित किया जाता है।”³⁹ ग्राह्यग्राहकसमसंख्याकवादी कहता है कि “यदि कोई पूर्वपक्षी कहे कि चित्रावयवी की एकता स्वीकार कर लेने पर उसकी बुद्धियों में प्रतिभासनानात्व होता है इस प्रकार से भेद को यदि व्यवस्थापित किया जाय, तो, वह अनंग (= निरालम्ब) होगा”, तब हमारा प्रश्न है कि ‘उस स्थिति में वस्तुओं की भेदव्यवस्था समाप्त हो जायेगी और भला वस्तुओं की भेदव्यवस्था किस अन्य कारण से सिद्ध होगी?’⁴⁰ अतः वस्तुओं की भेदव्यवस्था का किसी अन्य कारण से सिद्ध न होना हमारे पक्ष को सिद्ध करता है। इससे यह भी प्रतिफलित होता है कि ग्राह्य विज्ञान भी अनेक हैं और वे परस्पर चित्रावयवी के अवयव रहते हुए भी परस्पर विलग रहते हैं और इन ग्राह्य विज्ञानों की संख्या के अनुकूल ही ग्राहक विज्ञान की भी संख्या होती है।

ग्राह्यग्राहकसमसंख्याकवादी अपने पक्ष के लिए एक अन्य तर्क भी देते हैं। वे कहते हैं कि यदि एक अवयवी को ज्ञान का जनक माना जाय, नील-पीतादि अनेक अवयवी को नहीं (= यदि एक ग्राह्यविषय को माना जाय अनेक को नहीं) तो आलेख्यादि में चित्रबुद्धि नहीं हो सकेगी, क्योंकि विजातीय रागद्रव्यों (= नील-पीतादि) से कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति नहीं होती। पुनश्च, आलेख्य को संयोग मानकर उसमें चित्ररूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि संयोग रूपरहित होता है, अतः उसको चित्ररूप नहीं कहा जा सकता। संयोग गुण है और रूप भी गुण है; और गुण में तो अन्य गुण रहता नहीं, फलतः संयोग में रूप नहीं रह सकता। प्रतिपक्षी यह कह सकता है कि जिस प्रकार तरुओं के कुसुमित होने से एकार्थसमवाय के कारण बन को भी उपचार से कुसुमित कह दिया जाता है उसी प्रकार अवयवों में चित्र और संयोग में समवाय होने के कारण चित्र में चित्ररूप बुद्धि उपचार से होती है। किन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्येक अवयव चित्ररूप से रहित होते हैं (= चित्र के जो अनेक अवयव, जैसे नील-पीत आदि होते हैं उनमें से कोई चित्ररूप अर्थात् एक अवयविन् रूप नहीं, अपितु अलग-अलग, एक-एक करके होता है) अतएव, संयोग उपचार का आश्रय नहीं हो सकता। अर्थात्, चित्रत्व अवयवों में समवेत नहीं है, जहाँ संयोग और चित्रत्व का एकार्थसमवाय सिद्ध होता। तरुओं में संख्यालक्षण तथा वन और कुसुमितत्व दोनों पाये जाते हैं, इसलिए एकार्थसमवाय से वन में कुसुमित बुद्धि होती है। नील-पीत आदि के क्रम से गृहीत होने पर अन्य बुद्धि के द्वारा चित्रबुद्धि का संकलन नहीं हो सकता है, क्योंकि एक बुद्धि के द्वारा अनेक का ग्रहण नहीं होता है। अतः नील, पीत आदि का एक बुद्धि के द्वारा संकलन नहीं हो सकता है।⁴¹ इससे यह प्रतिफलित हुआ कि अनेक ग्राह्यविषयों (= ग्राह्यविज्ञानों) का अनेक ग्राहकविज्ञान होना चाहिए। यह तथ्य सिद्ध करता है कि ग्राह्य और ग्राहक की समान संख्या होगी, क्योंकि ग्राहक विज्ञान अपने से अधिक संख्या वाले ग्राह्य का ग्रहण नहीं कर सकता।

अर्द्धाण्डाकारवाद — यह वह सिद्धान्त है जो ग्राह्यविज्ञान को अनेक तथा परस्पर पृथक् रूप में स्थित रहने वाला मानता हुआ भी उनके ग्राहक विज्ञान को एक मानता है। उदाहरणार्थ, इस सिद्धान्त के अनुसार एक चित्र में लाल, काला, श्वेत आदि अनेक वर्ण परस्पर विलग रूप में स्थित हैं, परन्तु इन वर्णों का ग्राहक जो चक्षुर्विज्ञान है वह अनेक नहीं अपितु एक होता है, और इस रूप में ही (= एक होते हुए ही) अनेक वर्णों को जानता है। ग्राह्यग्राहकसमसंख्याकवादियों से वे इस बात में सहमत नहीं हैं कि अनेक बाह्य भावों— जैसे नील-पीतादि का ग्रहण एक ज्ञान नहीं कर सकता। इनके अनुसार एक ही ग्राहक चक्षुर्विज्ञान अनेक वर्णों का ग्रहण करता है। अतः, अनेक ग्राहक

विज्ञानों को मानना अनावश्यक है। चित्र का उदाहरण तो उपलक्षण मात्र है। गंभीर समस्या इस प्रसंग में तब उठती है जब यह व्यवस्था देनी पड़ती है कि एक साथ दिखलायी पड़ने वाले दो या तीन ग्राह्य विज्ञानों को, उदाहरणार्थ, अश्व, गाय, पुस्तक आदि को, जानने वाला, अश्वज्ञ, गायज्ञ और पुस्तकज्ञ विज्ञान एक है या तीन। ग्राह्यग्राहकसमसंख्याकवाद कहेगा कि वहाँ पर तीन ग्राहक विज्ञान हैं, किन्तु अर्द्धाण्डाकारवाद कहेगा कि ग्राह्यग्राहक रूप जो समग्र वृत्त है, उसके ग्राह्यरूप अर्द्धभाग तक ही अनेकता की गति है। ग्राहकविज्ञान तो एक ही होता है। ग्राह्य की अनेक संख्या से ग्राहक के एक होने में कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह सर्वदा एक ही रहता है, कभी अनेक नहीं होता। अर्द्धाण्डाकारवाद अपने पक्ष के लिए युक्ति देते हुए कहता है कि ऐसा कोई चक्षुर्विज्ञान हो नहीं सकता जो मात्र एक रूप अथवा एक वर्ण को देखता हो, क्योंकि यावत् पदार्थ सावयव होते हैं। जिसे वस्तु कहा जाता है लोक में उसके भी अनेक अवयव होते हैं और जब चक्षुर्विज्ञान किसी वस्तु को देखता है, तो वह उस वस्तु के सभी अवयवों को भी देखता है।⁴² अतः, यहाँ यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि अनेक ग्राह्य विषयों—जैसे घट, पट आदि—को जब चक्षुर्विज्ञान, और इसी तरह अपने-अपने विषयों को तत्सम्बद्ध इन्द्रियविज्ञान, ग्रहण करता है, तो क्या उस समय वह एक ही होता है अथवा ग्राह्य विषय के अवयवों की संख्या के अनुसार अनेक चक्षुर्विज्ञान होते हैं। इसी प्रश्न के उत्तर में पहले और दूसरे सिद्धान्त में मतभेद है।

यह पूर्वपक्ष से कहा जा सकता है कि 'अनेकाकार रूप में जिनका अवभास होता है ऐसे पतंगादि अर्थ की एकता को मानना ठीक नहीं है, क्योंकि, यदि अनेकाकार अर्थ को ग्रहण करने वाली बुद्धि ही अनेक आकारवाली हो, तो फिर, वह एक कैसे हो सकती है।'⁴³ इससे यह फलित होता है कि चित्र—पतंगादि अर्थ अनेकाकारावभास वाले होते हैं, अतएव वे अनेक होंगे, एक नहीं, किन्तु उनका ग्राहकविज्ञान भी अनेक नहीं होगा, अपितु एक होगा। ऐसा कैसे? उत्तर है कि जैसे चित्रता होने पर भी बुद्धि एक होती है, तद्वत् कार्यद्रव्य को एक होना चाहिए। अर्द्धाण्डाकारवादी यह आग्रह करते हैं कि अनुभव की यही स्थिति है कि हम ग्राह्यविषय में अनेकता मानते हैं, ग्राहकविज्ञान में नहीं। यदि बुद्धि को भी, ग्राहकविज्ञान को भी, अनेक, परस्पर पृथक् रूप में स्थित मान लिया जाय, तो 'यह चित्र है' यह ज्ञान ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि अनेकों को एक में संकलित बुद्धि करती है। ग्राहक बुद्धि के अनेक होने पर उन अनेकाकार बुद्धि को संकलित करने के लिए एक अन्य बुद्धि को मानना पड़ेगा, किन्तु उपर्युक्त ही तर्क के चलते इसको भी एक अन्य बुद्धि की अपेक्षा होगी और इस प्रकार अनवस्थादोष आ जायेगा। अतः, प्रथम बुद्धि को ही एक क्यों न मान लिया जाय? या तो, वह प्रथम क्षण

में ही अनेकों का युगपत् ज्ञान करने वाली मानी जानी चाहिए, अन्यथा फिर कभी भी एक नहीं हो सकेगी, क्योंकि जिसके कारण वह प्रथम क्षण में एक नहीं हो पा रही है, उसकी स्थिति बनी रहेगी, और वह कारण बुद्धि को एक होने को हमेशा बाधित करता रहेगा। यदि किसी भी क्रम या समय में उस कारण के हट जाने की बात मानी जाय, तो प्रथम स्थिति में ही बुद्धि एक क्यों नहीं होगी? अतः यही मानना न्यायसंगत है कि ग्राह्यविषय अनेक होते हैं, तथापि उनकी ग्राहिकाबुद्धि एक होती है। वह एक होते हुए भी अनेक अर्थों का युगपत् प्रत्यक्ष कर लेती है।¹⁴

चित्राद्वैतवाद या नाना-अद्वैतवाद— यह वाद युक्त्यनुयायी विज्ञानवाद का सबसे विकसित एवं प्रमुख सिद्धान्त है। आचार्य प्रज्ञाकर, ज्ञानश्रीमित्र एवं रत्नकीर्ति इसके प्रमुख आचार्य हैं।¹⁵ यह वाद उपर्युक्त दोनों वादों में त्रुटि दिखाकर उन्हें भगवान् बुद्ध के वास्तविक मन्तव्यों के विपरीत पाता है। बहुत्ववाद के लिए खण्डनार्थ जो तर्क प्रयुक्त होते हैं, उनका सविस्तार प्रयोग कर अद्वैतवाद की स्थापना करना इन लोगों का मूल ध्येय है। सबसे पहले आचार्य प्रज्ञाकर ने धर्मकीर्ति के मन्तव्यों की व्याख्या के प्रसंग में इसका प्रस्फुटीकरण किया जिसका चरमोत्कर्ष ज्ञानश्रीमित्र एवं रत्नकीर्ति में जाकर हुआ।

हम पहले कह आये हैं कि चित्राद्वैतवाद ग्राह्य और ग्राहक दोनों को अद्वैतरूप मानता है। उसके अनुसार न तो ग्राह्य में अनेकता है और न ग्राहक में ही, क्योंकि परमार्थतः दोनों ही अद्वैतविज्ञान की अभिव्यक्ति हैं। ऐसी स्थिति में चित्र के प्रत्यक्ष की व्याख्या वह निम्न प्रकार से करता है— चित्र में, यद्यपि, नील, पीत, लाल, बैंगनी आदि विभिन्न वर्ण होते हैं, फिर भी ये सभी वर्ण उस एक ही चित्रवस्तु के अवयव या अंश मात्र हैं और द्रव्यतः चित्र से उनका अभेद होता है। ये सारे वर्ण अन्ततः विज्ञान रूप द्रव्य के अंश हैं। इसी प्रकार चित्र को जानने वाला चक्षुर्विज्ञान भी अनेक नहीं, बल्कि एक ही उद्भूत होता है। यद्यपि हम सामान्यतया, यह नील को ग्रहण करने वाला चक्षुर्विज्ञान है, यह पीत को ग्रहण करने वाला चक्षुर्विज्ञान है, इत्यादि शब्दों का प्रयोग पाते हैं, फिर भी, नील, पीत, आदि वर्णों को जानने वाला चक्षुर्विज्ञान, वस्तुतः एक चित्र को जानने वाले चक्षुर्विज्ञान का अंशमात्र है। इतना ही नहीं ये सभी द्रव्यतया एक हैं और उस चक्षुर्विज्ञान से द्रव्यतः अभिन्न हैं। आचार्य ज्ञानश्रीमित्र इस विज्ञान को 'अद्वैतबिन्दु' कहते हैं।¹⁶ अतः इनकी पदावली में ग्राह्यविज्ञान और ग्राहकविज्ञान दोनों ही 'अद्वैतबिन्दु' रूप विज्ञान के द्रव्यांश हैं। अतः, वस्तुतः चित्र एवं चित्रज्ञ चक्षुर्विज्ञान दोनों ही अद्वैतरूप हैं। ग्राह्य एवं ग्राहक दोनों में बहुत्व मानना, अथवा केवल ग्राह्य में अनेकता मानना मिथ्यावाद है, क्योंकि परमार्थ अद्वैतरूप होता है— 'परमार्थश्चाद्वैतरूपता'।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि चित्राद्वैतवाद वह सिद्धान्त है जो मानता है कि एक ही विज्ञान चित्राकार (चित्र के आकार का, चित्र = नाना) होता है। धर्मकीर्ति भी प्रमाणवार्तिक में बतलाते हैं कि एक ही बुद्धि से अनेक अर्थों (= चित्र) का ज्ञान होता है। इसके लिए कारण देते हुए वे लिखते हैं कि यदि नाना प्रकार के आभासवाले चित्र, पतंगादि अर्थों में एकत्व (= अभेद एवं अद्वैत) नहीं हो, तो चित्र वस्तु को ग्रहण करने वाली चित्राकार एकबुद्धि संभव नहीं हो सकती। जैसे एक ही ग्राहक विज्ञान माना जाता है, वैसे ही चित्रवस्तु को भी एक मानना पड़ेगा।⁴⁷ आशय यह है कि ग्राहक बुद्धि में अद्वैत, चित्र के भी अद्वैत को सिद्ध करता है। तथाकथित बाह्य अर्थ, वस्तुतः न तो बाह्य हैं और न नाना ही, क्योंकि जिस-जिस रूप से उन पर विचार किया जाता है उस-उस रूप में ही वे छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। अतः वस्तुतः विज्ञान न तो एक है, और न अनेक ही, अपितु सकलधर्मशून्य है। नाना आकार वाला होने से ज्ञान एक नहीं है और यदि विज्ञान को अनेक माना जाय, तो चित्रप्रतिभास ही नहीं हो सकता, क्योंकि परस्पर में एक ज्ञान दूसरे ज्ञान का वेदन नहीं करता है, और दूसरा भी कोई ग्राहक है नहीं। यदि एक बुद्धि में चित्रता (= नानाकारता) हो और उसके द्वारा एक चित्रद्रव्य की व्यवस्था की जाय, तो क्या दोष होगा, इस प्रश्न को उठाकर आचार्य धर्मकीर्ति बतलाते हैं कि केवल द्रव्य में ही नहीं, अपितु बुद्धि में भी चित्रता नहीं हो सकती। आकार की अनेकता भेद का लक्षण है, अतः नानारूप में चित्रता (= चित्र द्रव्यत्व) कैसे हो सकती है? चित्राकार एक बुद्धि (= एक में अनेकता का होना; एकविज्ञान अनेकाकार रहे ऐसा) नहीं हो सकती। चित्राकार एक बुद्धि का प्रतिभास अविद्या के वश में अवस्तु का प्रतिभास है। आचार्य धर्मकीर्ति तदनन्तर बतलाते हैं कि सुखादि का ग्राहकाकार अन्तःपरिच्छेद रूप होता है। इस परिच्छेद से नीलादि का बाह्य में ग्राह्यरूप से परिच्छेद अन्य है। यद्यपि नीलादि वर्ण बाह्य में स्थित नहीं हैं, तथापि सबको बाह्य में स्थित जैसे मालूम पड़ते हैं। चूँकि, अभिन्न ज्ञान में, ग्राह्याकार और ग्राहकाकार ये दो भिन्न आकार युक्त नहीं हैं, इसलिए, अन्तः और बाह्यदेश में ग्राहकाकार और ग्राह्याकार का प्रतिभास युक्त नहीं है। पुनश्च, क्योंकि एक ज्ञान में विरुद्ध दो तत्त्व नहीं हो सकते, अतः ग्राह्यत्व अथवा ग्राहकत्व में से एक का अभाव होने पर दोनों का अभाव हो जाता है। अन्योन्यसापेक्ष दो तत्त्वों में से एक के अभाव में दूसरे का अभाव भी न्यायप्राप्त है। फलतः ग्राह्यग्राहकाकारशून्यता ही विज्ञान का भी तत्त्व है। धर्मकीर्ति इस प्रकार यह इंगित करते हैं कि चूँकि ग्राह्य-ग्राहकाकार के भेद के आश्रय से ही रूप, वेदनादि पदार्थों की भेदव्यवस्था होती है, अतः जब भेदव्यवस्था का कारण ग्राह्यग्राहकभाव ही मिथ्या है, तो रूपादि में ग्राह्यग्राहकाकार के भेद से व्यवस्थापित भेद भी असत्य है तथा लक्षणशून्य होने से उनकी निःस्वभावता भी है, क्योंकि रूपादि का ग्राह्यग्राहकाकार से

भिन्न कोई लक्षण नहीं है।⁴⁸

आचार्य प्रज्ञाकर इस प्रसंग की विवेचना करते हैं और अनेक आपत्तियों को उठाकर उनका समाधान भी करते हैं। पूर्वपक्षी पूछता है कि 'ग्राह्य और ग्राहक का' प्रतिभासमान एकत्व और अनेकत्व, मात्र विकल्प रूप होते हैं, अतः (वस्तुतः वे) नहीं होते हैं ऐसा आप बौद्ध कैसे कह देते हैं? हम तो ग्राह्य और ग्राहक के प्रतिभासमान एकत्व और अनेकत्व में कोई दोष नहीं पाते, क्योंकि विकल्पमान होता हुआ भी वह ठीक वैसे ही प्रतिभासित होता है, जैसे कि सत्त्व न होने पर भी मायामरीचि आदि का प्रतिभास होता है। जब मायामरीचि आदि विद्यमान नहीं हैं, तो फिर उनका प्रतिभास कैसे हो सकता है? और यदि बौद्ध फिर भी उनके प्रतिभास की बात करें, तो फिर उनकी अविद्यमानता कैसे होगी? यदि बौद्ध कहें कि अर्थक्रियाकारित्व का अभाव (मृगमरीचि आदि में) होने के कारण हम ऐसा कहते हैं, तो हमारा कहना है कि अर्थक्रियाकारित्व सत्त्व का लक्षण है, अतएव, मात्र प्रतिभास के द्वारा सत्त्वव्यवहार नहीं चल सकता, क्योंकि प्रतिभास होने पर भी केशोण्डुकादि के असत्त्व का निश्चय होता है। पुनश्च, हमारा यह भी प्रश्न है कि अर्थक्रिया क्या है? क्या वह प्रतिभासमान से अन्य है अथवा प्रतिभासमानस्वरूप ही है? यदि आप बौद्ध उसे प्रतिभासमान से अन्य मानते हैं, तो, उस अर्थक्रिया की भी, प्रतिभासमान से अन्य अर्थक्रिया माननी पड़ेगी, और अनवरथा का प्रसंग उपस्थित होने से उसका ज्ञान ही नहीं हो सकेगा। यदि अर्थक्रिया प्रतिभासमानस्वरूप ही है, तो, सभी प्रतिभासों का सत्त्व मानना पड़ेगा और फिर क्रियादि का असत्त्व नहीं रह सकेगा।⁴⁹ प्रज्ञाकर उत्तर देते हैं— "जो कुछ प्रतिभासमान है वे सभी अर्थक्रिया रूप नहीं होते। जो अर्थक्रियात्वेन प्रतिभासित होता है वही अर्थक्रियास्वभाव वाला होता है, और जो अर्थक्रिया स्वभाववाला होता है उसका असत्त्व नहीं होता। सत्त्ववादी अर्थक्रिया के द्वारा ही सत्त्व का उपगम करते हैं। ऐसे ही प्रतिभास के व्यतिरेक के द्वारा अर्थक्रिया की बात हम करते हैं। नीलादिस्वरूप से अन्य रूप में अर्थक्रियात्व अवभासित नहीं होता। यदि कहा जाय कि 'जो जिसका अभीष्ट है वही उसकी अर्थक्रिया है', तो यह अनवस्थित बात होगी, क्योंकि उस स्थिति में किसी का कुछ भी अभीष्ट हो सकता है। यदि प्रतिपक्षी इस पर कहे कि पीड़ा का निवर्तन और आह्लादन अर्थक्रिया है, तो हमारा उत्तर है कि ऐसा नहीं है, क्योंकि भावनावशेन उत्पन्न होने के कारण इनमें सभी के सभी अनवस्थित ही हैं। व्यवस्था यह है कि भावना के होने पर सत्त्व और उसके अभाव के कारण परमार्थतः असत्त्व होता है। ऐसी स्थिति में, भावनाबल के कारण, ज्ञान ही तथाभूत होगा, असत्त्व रूप नहीं। अविद्यावशेन जो उत्पत्ति होती है, वही असत्त्व रूप होती है।"⁵⁰

प्रतिपक्षियों की ओर से एक अन्य आक्षेप उठाया जाता है— 'यदि विज्ञानवाद का मत हो कि विज्ञान स्वप्रकाश रूप है, तो उसका पर्यवसान अपने ही स्वरूप में होगा और तब भेदावभासिता युक्त नहीं हो सकती। अपने संवेदन में परसंवेदन नहीं रहता। अतएव, भेद का प्रतिभास (स्वसंवेदन स्वरूप वाले ज्ञान में) नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि एक का दूसरे से ही (= पररूपेण) संवेदन होगा, और इस तरह से भेद की भी वेदना हो जायेगी, तो, ऐसा मान लेने पर भी, यदि उस संवेदन में 'स्व' और 'पर' दोनों ज्ञात होते हैं, तो वह स्वपरवेदन हुआ और दोनों का स्वसंवेदन में अन्तर्भाव कर लिया गया। किन्तु जो 'स्व रूप' का ज्ञान है वह परसंवेदन का अपने में समावेश नहीं करता। यदि विरोधी कहे कि 'स्वसंवेदन' नहीं है, एक का दूसरे के द्वारा पर का ही संवेदन होता है, तो ऐसी स्थिति में देवदत्त और यज्ञदत्त परस्पर परिच्छिन्न जैसे ज्ञात होने चाहिए, दो के रूप में नहीं। पुनश्च, मेरे द्वारा यह विदित है ऐसा तब नहीं हो सकता, क्योंकि बिना स्वसंवेदन के द्वारा कर्ता का अवभासन नहीं होता। अतः उन दोनों को स्वसंवेदन में होना चाहिए, और उस स्थिति में, जैसे सन्तानान्तर ज्ञात होता है उसी तरह से इन दोनों का ज्ञान नहीं होगा। फलतः, स्व और पर दोनों की आत्मा (= स्वरूप) की प्रतिपत्ति यदि नहीं होगी, तो उपर्युक्त प्रसंग उपस्थित होगा।⁶¹ प्रज्ञाकर उत्तर देते हुए कहते हैं 'यदि उसकी आत्मा (= स्वरूप) संवेदन रूप है, तो वह चूँकि अपने में निमग्न रहेगा, फलतः परसंवेदन संभव नहीं। यदि विरोधी कहे कि पर के वेदन में भी क्या विरोध है, तो हमारा उत्तर है कि 'उस रूप से (= विशेषरूप के आधार पर), अन्य को जानता है तथा पर के द्वारा जानता है इन दो विकल्पों में आपको एक ही स्थान पर रुकना चाहिए। 'स्वरूपेण वेत्ति' यह विकल्प युक्त नहीं, क्योंकि स्वरूप की व्यवस्थिति अपनी आत्मा में होती है। जो रूप स्वरूप में स्वाभिमुख ही निविष्ट है वह पर को कैसे जान सकता है? यदि कहा जाय कि वह स्वाभिमुख नहीं, अन्याभिमुख है, तब तो, वह अपनी आत्मा की प्रतीति नहीं करता है। फलतः, सन्तानान्तरवेदन की तरह दो की प्रतीति नहीं है। यदि प्रतिपक्षी कहे कि जिसका दो मुख है, ऐसा वह एक ही है, तो, हमारा पूछना है कि यह दो है, इसको कौन जानता है। यदि प्रतिपक्षी इसका उत्तर दे कि वही इसको जानता है, तो इस आभिमुख्यद्वय को जाननेवाले एक अन्य की आवश्यकता पड़ेगी और उसके लिए एक अन्य की, फलतः अनवस्था की प्राप्ति होगी। यह मान लेने पर भी कि तीनों ही स्वसंवेदन रूप हैं (ग्राह्य विज्ञान, ग्राहक विज्ञान और विज्ञान तीनों ही संवेदन रूप हैं, अथवा स्व, पर, तथा स्वपर तीनों ही स्वसंवेदन रूप हैं) इस तथ्य के संवेदन में 'पर' की आत्मा को ज्ञात होना चाहिए, फिर अन्य की, इस प्रकार महान अनर्थ परंपरा का सूत्रपात होगा। अतः, सर्वधर्मशून्यता ही शेष रह जाती है।⁶²

अब हम आचार्य धर्मकीर्ति के उस स्थल पर ध्यान केन्द्रित करने हैं जिसकी व्याख्या के द्वारा प्रज्ञाकर एवं ज्ञानश्रीमित्र ने साकारविज्ञान की चित्राद्वैत शाखा को पुष्ट किया। आचार्य धर्मकीर्ति लिखते हैं— “चित्रविज्ञान में जो नीलादि हैं वे विज्ञान के आत्मभूत हैं। आकारान्तर से रहित, केवल अकेले नीलादि का दर्शन शक्य नहीं है, क्योंकि आकारान्तर के साथ ही नील या पीत का वेदन होता है। चित्रज्ञान उत्पन्न होने पर, नील को पृथक् करके पीत का दर्शन शक्य नहीं। इसलिए, नीलादि में जो अशक्यविवेचनत्व, तुल्ययोगक्षेमत्व और सहप्रतिभास—नियतत्व है, वही एकत्व है। बाह्य अर्थों में यह संभव नहीं है। यदि यह कहा जाय कि पीत के अनुभव काल में जब ज्ञानाकार नील का अनुभव नहीं होता है, तब उसका विवेचन (= पृथक्करण) शक्य है, तो हमारा कहना है कि अनुभूयमान पीत से नील को पृथक् करने वाला विवेचक रूप से नील अर्थ में ही गिरता है, अर्थात्, उस समय परोक्ष नीलार्थ ही है। अपरोक्षता ज्ञान का स्वभाव है। अतः, जिसका विवेचन किया जाता है वह अज्ञान है और जो ज्ञान है उसका विवेचन नहीं होता है।”⁵³ पुनश्च, ‘जो ज्ञान जिस रूप में भासित होता है उसी रूप से सभी प्रतिपत्ताओं द्वारा अनुभव में भी आता है। भासमानस्वभाव वाला होने से स्वप्रकाशक ज्ञान में कोई भी अविदित आकार नहीं। इसलिए चित्रज्ञान में यदि एकत्व हो तो कोई दोष नहीं। किन्तु, ज्ञान की तरह पटादिरूप में एकत्व मानने पर विज्ञान की तरह उसमें भी अशक्यविवेचनत्व होना चाहिए (= नील को पृथक् करके पीत का ग्रहण नहीं होना चाहिए) परन्तु, वहाँ नीलादि में ग्रहण और अग्रहण का भेद देखा जाता है, नील को पृथक् करके पीत का ग्रहण होता है।”⁵⁴ यह आक्षेप किया जा सकता है— नीलादि अवयव परस्पर में और अवयवों से भिन्न हैं। उनमें भेद होने से भेदरूप से उनका ग्रहण होता है, किन्तु अभिन्न अवयवी का भेद रूप से ग्रहण नहीं होता है। धर्मकीर्ति का उत्तर है— “नीलादि अवयवों को पृथक् करके उनसे अतिरिक्त अन्य कोई अवयवी नहीं दिखलायी पड़ता है। जो दृश्य होकर भी अनुपलब्ध हो, उसे कैसे माना जा सकता है और जब अवयवी नहीं है, तब अवयव भिन्न है और अवयवी एक है ऐसा कैसे माना जा सकता है?”⁵⁵

आचार्य प्रज्ञाकर अपने भाष्य में बतलाते हैं कि— जो ज्ञान जिस प्रकार नीलादितया उत्पन्न होकर जिस रूप में भासित होता है, भासमान—स्वभावता के कारण वह सभी ज्ञाताओं के द्वारा उसी रूप में अनुभूत किया जाता है ऐसा कहने में आचार्य धर्मकीर्ति यह स्पष्ट कर देते हैं कि प्रत्यक्षज्ञान पूर्वता में प्रवर्तित नहीं होता। ‘वह अनुभूत था’ ऐसा प्रत्यक्षज्ञान में नहीं होता। प्रत्यक्ष स्वसंवेदन रूप है और संवेदनप्रत्यक्ष परोक्ष में प्रवर्तित नहीं होता। यदि प्रतिपक्षी कहे कि स्मरण करके वह जाना जाता है,

तो स्मृति के प्रमाण न होने से वह अयुक्त है। यदि विरोधी आग्रह करे कि अनुभव के कारण उत्पन्न होने वाली स्मृति प्रमाण ही है, तो यह भी उचित नहीं। स्मृति अनुभव से उदित हुई है, इसमें कोई प्रमाण नहीं, क्योंकि अनुभव के समय में स्मृति का अभाव रहता है। मैं अनुभवोत्पन्ना हूँ, इस बात को स्मृति नहीं जानती है, क्योंकि, स्मृति के द्वारा अनुभव का दर्शन नहीं होता। पुनश्च, अनुभव का अनुभव माना जाय, तो स्मृति नहीं होगी; उस समय तो अनुभव ही रहेगा। अतएव, अशक्य विवेचन रूप चित्र एक (= अद्वैत) है और इसमें दोष नहीं है। पूर्वपक्षी कह सकता है कि यदि ऐसा है, तब तो, अशक्यविवेचन होने के कारण बाह्य अर्थों की भी एकता होगी; किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उस समय ही एक का दर्शन पर के द्वारा होता है और यदि यह कहा जाय कि पर के द्वारा जो देखा जाता है वह अन्य ही है; तब तो, विवेक (= विभेद) अत्यन्तस्पष्ट है। यदि फिर प्रतिपक्षी कहे कि 'एक स्वदृष्ट ही है' तो ऐसा नहीं है, क्योंकि स्वसंवेदन के रूप में 'उसका प्रतिभास होता है, अतः वह ज्ञान ही है। पुनश्च, यह भी ध्यानीय है कि 'ज्ञान का प्रतिख्यान करके विवेचन (= विभेदीकरण) नहीं होता है। इस कारण ग्राह्यग्राहक नीलादि आकारवाली चित्रबुद्धि एक ही है; इस प्रकार चित्राद्वैत ही है। वह भेदरूप नहीं, क्योंकि अनेक नहीं है और चूँकि भेद के द्वारा चित्र की व्यवस्थापना असंभव है। इस कारण, यह स्थापित हुआ कि केवल स्वसंवेदन ही अद्वैत है, क्योंकि उसमें द्वैत का अभाव है।⁵⁶

विरोधी उपर्युक्त स्थिति पर शंका उपस्थित करता है कि वैसी स्थिति में तो भाव और अभाव में भेद संभव है, अतः अद्वैत कैसे स्थित हुआ? यदि भेद नहीं है, तो फिर, भेद का अभाव होने के कारण, यह व्यवस्थित हो जाता है कि अभेद भेद से अन्य है, और भेद के अभाव की प्रतिपत्ति नहीं होने पर भेद की अद्वैतता कैसे हो सकती है? आशय यह है कि यदि भेद नहीं है तो भेद से अन्य अभेद ही है। इस स्थिति में भाव और अभाव में द्वैत ही प्रतिपद्य होता है, तो फिर अद्वैत कैसे स्थित हुआ? उदाहरणार्थ 'यहाँ पर कुंभ में स्तंभ नहीं है' जब ऐसा कहा जाता है, तो वहाँ पर प्रतिषेध को कहा जाता है। नास्तित्ता के बिना भेद की अंतरीयक संवित्ति नहीं होती। प्रतिषेध, भेद के द्वारा, अंतरीयक ही होता है और वहाँ पर ज्ञान सभी प्रतिषेधों को जानता है। प्रतिषेध की प्रतिपत्ति नहीं होने पर जो चीज जैसे हो रही होगी, उसी रूप में उसका अभ्यनुज्ञान (= उसकी स्वीकृति) होगा, फलतः किसी चीज को प्रतिपादित नहीं किया जा सकता। जो पर है वह प्रतिपादित करने वाले के द्वारा 'पर' के रूप में अभ्युपगंतव्य है, तो फिर अद्वैत कैसे? पुनश्च, कोई अपने को क्यों प्रतिपादित करेगा? यदि यह मान भी लें (= यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि कोई अपने को प्रतिपादित करेगा), तो इसका

अर्थ होगा कि प्रतिपादित करने वाले को अपने विषय में ही व्यामोह है। अतः अद्वैत का प्रतिपादन कैसे होगा? अथवा व्यामोह से निवर्तमान होने पर पररूप की उत्पत्ति होने के कारण अद्वैत का अभाव रहेगा। आचार्य प्रज्ञाकर इन सारे उहापोहों का उत्तर देते हुए बतलाते हैं कि पूर्व और अपर इन दो के मध्य भाव-अभाव रूप भेद का प्रतिभास नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्ष की पूर्व तथा अपर में वृत्ति नहीं होती। जिसे अपूर्व कहा जा रहा है वह प्रत्यक्ष में उसी समय (= उस काल में जब वह प्रत्यक्ष का विषय रहता है और पूर्व की स्थिति को प्राप्त हुआ नहीं रहता) प्रतिभासित होता है, यदि प्रतिपक्षी ऐसा कहे, तब तो, पूर्व की वर्तमानता माननी होगी। विरोध पक्ष से यह पूछा जा सकता है कि क्या 'योगियों' के साक्षात्करण के द्वारा अतीतादि का ग्रहण नहीं होता? और यदि आप इसे नकारते हैं, तो फिर अतीतादि का वेदन नहीं हो सकेगा। प्रज्ञाकर का उत्तर है कि यह शंका ही असत् है। इस जन्म में साधारण लोगों को कभी भी साक्षात्करण व्यापार से अतीतादि का ग्रहण नहीं होता। योगी की अवस्था में जो पहुँचे हुए हैं उनके विषय में हम नहीं जानते कि क्या होगा? प्रत्यक्ष के द्वारा न अतीत का ग्रहण होता है और न भविष्यत् का। अतीत के विषय में स्मरण होता है और स्मरण प्रमाण नहीं।⁵⁷ आचार्य प्रज्ञाकर का आग्रह है कि तत्काल में स्थित वर्तमानक्षण का जो प्रतिभास होता है वह निर्विभाग (= अभेद या अद्वैत रूप) होता है, भेद का सहचारी नहीं। पूर्व और अपर प्रत्ययों में, प्रत्येक में भेद का ग्रहण नहीं है।⁵⁸ जहाँ तक स्मृति की बात है, तो "यदि उसके द्वारा समानकालवेदना को माना जाय, तो, अद्वय की ही प्राप्ति होगी।"⁵⁹ पुनश्च, यदि स्मृति अर्थग्रहण में प्रवर्तित होती, तो उसका स्वतंत्र रूप से प्रवर्तित होना स्वीकार्य होता, किन्तु ऐसा नहीं है, अतः स्मृति स्वतंत्र रूप में प्रवर्तित नहीं होती। यदि यह कहा जाय कि पूर्व और अपर इन दोनों का ग्रहण स्मृति द्वारा होता है, तो, समानकाल वाला होने से वे एक ही रहेंगे, दो नहीं, क्योंकि समानकाल वालों में वस्तुतः भेद नहीं होता। यदि कहा जाय कि भेद की ग्राहिका स्मृति है, तो हमारा कहना है कि अनुभव ऐसा नहीं है। अतएव, भेदवेदन सांवृत है, पारमार्थिक नहीं।⁶⁰ इसे और स्पष्ट करते हुए आचार्य प्रज्ञाकर लिखते हैं— "लाल और अ-लाल का अवभास होने पर ही 'चित्र एक है' ऐसा ज्ञान होता है। पृथक्भूत रूप में मेरे द्वारा वह देखा गया था और पुनः देखा जा रहा है, इस प्रकार से भेद की अवसति होती है, इससे अन्यथा रूप में नहीं। इस कारण, कहीं पर भी भेदग्रहण तात्त्विक रूप से सिद्ध नहीं होता है।, पुनश्च, केवल अवभास के द्वारा 'चित्र' और 'अचित्र' की भेदकता नहीं होती। इस प्रकार इन सभी की विवेचना हम पूर्ववत् ही करते हैं।"⁶¹

यह कहा जा सकता है कि भेद का ग्रहण स्मृति-अभ्यास की पटुता के द्वारा

प्रत्यक्ष के कारण होता है, किन्तु 'जो प्रत्यक्ष के द्वारा सिद्ध नहीं है वह भला अभ्यास के द्वारा कैसे सिद्ध हो सकता है? और यदि अभ्यास के कारण उसका युगपत् प्रतिभासन विरोधी को अभीष्ट हो, तो वहाँ पर भी वह भेद स्मृति के द्वारा ही इष्ट होता है। किन्तु अनुभवारूढभेद कहीं पर इस प्रकार सिद्ध नहीं होता है। स्मृति होने पर, स्मृति और अनुभव इन दो में यदि केवल अनुभव ही है, तो वह भी अनेकरूपता परस्पर विविक्त नहीं है। जो विवेक करने में असमर्थ है, वह हेय तथा उपादेय के लिए कैसे समर्थ हो सकता है?'⁶²

विरोध पक्ष से यहाँ एक अनुपपत्ति दिखलायी जाती है कि यदि प्रत्यक्षप्रत्यय के समानकाल में स्मृति जन्म लेने वाली है, तो प्रत्यक्ष के साथ स्मृति की एकता को आपको (= बौद्धों को) स्वीकार करना चाहिए, और तब उस स्थिति में प्रत्यक्ष का स्वरूप सविकल्पक हो जायेगा, और आपके इस पक्ष की हानि होगी कि प्रत्यक्ष निर्विकल्पक ही होता है। प्रज्ञाकर का कहना है कि विरोधी का पक्ष ठीक नहीं है। भेदवादियों के यहाँ ही स्मृति का अन्यत्व कहा जाता है, और वे लोग हेतुभेद के द्वारा, स्वभावभेद के कारण, सभी चीजों की विभिन्नता की व्याख्या करते हैं। पुनश्च, स्मृति का उदय वासना मात्र के कारण होता है, किन्तु इन्द्रियविज्ञान का उदय उस तरह से नहीं होता। स्मृति परोक्षविषया है, जबकि इन्द्रियसंवेदन अपरोक्ष विषयक है, अतएव स्तम्भादि के समान ही इन दोनों का (स्मृति एवं इन्द्रिय संवेदन का) भेद है, ऐसी बात बाह्यार्थवादी स्वाभ्युपगम के द्वारा करते हैं। हम अभेदवादियों के यहाँ यह विभाग कहाँ से आयेगा?⁶³

कारणवृत्ति को भी आधार बनाकर भेदवादी अद्वैतवाद की आलोचना करते हैं। इसका खण्डन करते हुए प्रज्ञाकर यह प्रतिपादित करते हैं कि प्रत्यक्ष के द्वारा पूर्व और अपर 'इन दोनों' का ग्रहण नहीं हो सकता। कार्य के रूप में जो अभीष्ट है उसके ग्रहणकाल में कारण के रूप में जो अभिमत है उसकी स्मृति ही होती है (प्रत्यक्ष नहीं होता)। जिस काल में उसका ग्रहण होता है उस समय स्वरूपेण ही ग्रहण होता है, कारणत्वेन नहीं, क्योंकि कार्य का (उस समय) ग्रहण नहीं होता। कार्यग्रहणकाल में कारण अतीत हो चुका रहता है और स्मृतिगोचर ही रहता है। जो अनुभूत नहीं रहता उसकी स्मृति नहीं होती और कारणता का तो अनुभव होता नहीं, तो फिर उसका स्मरण कैसे होगा? यदि प्रतिपक्षी कहे कि कार्य के काल में भी कारण अनुभूत किया जाता है, तो वैसी स्थिति में पूर्वरूपता के अनुभव के न रहने के कारण समानकालतया उसका विवेचन नहीं हो सकता। फलतः, अभेद ही रहेगा। यदि इस पर कहा जाय कि स्मरण के द्वारा पूर्व (*antecedent*) भी 'केवल यह अनुभूत है' इस प्रकार से

व्यवस्थापित किया जाता है, अतएव विवेचन (= पार्थक्य) के कारण भेद ही है, अभेद नहीं। आचार्य प्रज्ञाकर विरोधी से पूछते हैं कि (जिस स्मरण की आप बात कर रहे हैं) वह क्या है? वह अनुमान है या स्मृति मात्र है? यदि अनुमान है, तो, प्रत्यक्ष के बिना वह कैसे हो सकता है? अतः स्पष्ट हुआ कि वर्तमान मात्र का ग्राही होने से प्रत्यक्ष द्वारा पूर्वता (और इसलिए कारणवृत्ति) का परिग्रह नहीं होता। यदि विरोधी यह आग्रह करे कि प्रत्यक्ष के द्वारा पर से अमिश्रित जो निरतावधि गृहीत होती है वही परग्रहण की अपेक्षा से 'पूर्वकम्' के रूप में व्यवहार की जाती है, तो हमारे अनुसार यह भी असत् है, क्योंकि 'पर' की अपेक्षा से पूर्वप्रत्यक्ष (= पहले के प्रत्यक्ष) का प्रवर्तन नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्ष अपने में ही स्थित होता है। अतः, अपने काल को ग्रहण करता हुआ पूर्व का प्रत्यक्ष पर की अपेक्षा रखने वाले प्रत्यक्ष को कैसे जान सकता है? यही स्थिति अन्य (एवं बाद के) प्रत्यक्ष की भी है। अतएव, पूर्वापर प्रत्यक्षग्राह्य नहीं है, फलतः स्मरण भी वहाँ पर कैसे प्रवर्तित हो सकता है? तदनन्तर एक लम्बे शास्त्रार्थ के साथ विभिन्न उदाहरणों का समाधान करते हुए (वह शास्त्रार्थ हमारे प्रसंग के लिए उपयोगी नहीं है) प्रज्ञाकर कहते हैं कि उपर्युक्त विवेचन से यह प्रदर्शित हो जाता है कि अद्वैत में दूसरे को ज्ञान कराने के लिए कैसे प्रवर्तित हुआ जाता है। आचार्य प्रज्ञाकर यह भी इंगित कर देते हैं कि यह पर है, मैं पर नहीं हूँ, इस प्रकार से स्वसंवेदन ही उदयस्थिति को प्राप्त होता है। (इस प्रकार) यहाँ पर परमार्थतः विभाग नहीं है। मैं प्रश्नकर्ता हूँ, अन्य मुझसे कहता है, ये दोनों, स्वप्नप्रत्यय के समान, अपने आकार से संजित प्रत्ययों के ही संवेदन हैं। अतः, चित्रावभासिनी बुद्धि अनेक नहीं, एक ही है।⁶⁴

ग्राहकविज्ञान का एकत्व (= अद्वैतत्व) सिद्ध कर लेने के बाद प्रज्ञाकर ग्राह्य के विज्ञान रूप होने को सिद्ध करते हुए कहते हैं कि यदि ज्ञान के समान पटादि रूप अर्थ का एकत्व स्वीकार कर लिया जाय, तो उस स्थिति में वह ज्ञान रूप होगा, क्योंकि वहाँ उसका धर्म बुद्धि के समान होगा। जिस प्रकार विज्ञान अन्य के द्वारा जाना नहीं जाता, न तो बाद के काल में होता है और न तो खण्डशः होता है, उसी प्रकार की स्थिति यदि अर्थ की बाह्यजगत् में है, तो वह ज्ञान जैसा ही है। वह नाम मात्र के लिए बाह्य है। अर्थ का बाह्यत्व वस्तुतः नहीं है। परन्तु न तो परोक्षतया दिखलायी पड़ती है, न तो अन्यदृश्यतया ही। पुनश्च, चक्षुरादि कारणों से, ही, ग्राहकवत्, इसकी निवृत्ति होती है, तो फिर अर्थ की विज्ञानता क्यों नहीं होगी? विरोधी कहता है कि जो कुछ उपलब्ध होता है वह सब कुछ अर्थ ही है। सुखादि भी संवेदनस्वभाव के नहीं हैं। प्रज्ञाकर इस मान्यता का खण्डन करते हैं, क्योंकि, यदि सभी उपलब्धों का वस्तुत्व माना जाय, तो अनुपलब्ध के ज्ञान की सत्ता अप्रामाणिक हो जायेगी। यदि यह कहा

जाय कि ज्ञान वह है जिसके द्वारा ग्राह्य उपलभ्य होता है, तो यह भी असत् है, क्योंकि वैसा होने पर जो स्वयमेव उपलभ्य है उसकी वेदना होगी (और वह पुनरावृत्ति मात्र होने से व्यर्थ होगी)।⁶⁶ मीमांसकों की आशंका है कि यदि उपलम्भक नहीं होता, तो किसके द्वारा यह उपलब्ध हुआ रहता, अतः ग्राहक के होने की अर्थापत्ति यदि न की जाय तो आशंका का परिहार ही नहीं होता। अतः अर्थापत्ति के द्वारा विज्ञान की सत्ता की प्रतीति होती है। प्रज्ञाकर इस पक्ष को भी असत् बतलाते हैं, क्योंकि उनके अनुसार उपलभ्यता या तो अन्य के द्वारा होगी, या स्वयमेव। प्रथम स्थिति में अनवस्थादोष अनिवार्य है और द्वितीय स्थिति में ग्राह्य के विषय में भी वहीं प्रसंग उपस्थित होगा।⁶⁷ तदनन्तर फिर लम्बी चर्चा के बाद प्रज्ञाकर यह निष्कर्षतः कहते हैं कि 'भेदतः ग्रहण न होने से भी पूर्व और अपर के मध्य एकता को स्वीकार करना चाहिए।' वे पुनः आगे कहते हैं कि 'जो दृश्यमान नहीं है वह है, ऐसा अभ्युपगम करना संभव नहीं। उसके नहीं होने पर ऐसा प्रतिपादन शक्य नहीं है कि अभेदरूप अवयविन् के अवयव अविवेकिन् हैं। इस कारण बाह्य अर्थ का अभ्युपगम करने वाले को ग्रहण को सकृत् (युगपत्) ही स्वीकार करना चाहिए; अर्थात् यह मानना चाहिए कि युगपत् ग्रहण होता है। पूर्वपक्ष से फिर आशंका उठायी जाती है कि एक के द्वारा अनेक को एक बार में देखा जाना कैसे संभव है? जो एक स्थान पर जिस समय प्रवृत्त है वह दर्शन उसी समय अन्यत्र प्रवर्तित होने में समर्थ नहीं होता। प्रज्ञाकर का उत्तर है कि यदि अनेक का दर्शन होना है, तो वह इसी प्रकार से होगा, किसी अन्य प्रकार से नहीं, जैसा हम पहले प्रतिपादित कर चुके हैं। परमार्थतः तो एकमेव स्वसंवेदन ही है। अन्य के द्वारा ग्रहण संभव नहीं।'⁶⁸

आचार्य ज्ञानश्रीमित्र अपने 'साकारसिद्धिशास्त्रम्' में 'चित्राद्वैत' नामक चौथा परिच्छेद ही लिखे हैं। यहाँ हम संक्षेप में ही उनकी एतद् विषयक व्याख्या का अवलोकन करेंगे। युक्त्यनुयायी विज्ञानवाद की धार्मिक एवं दार्शनिकशाखा के परिपक्व एवं प्रधानतम आचार्य होने से अद्वैत का उपयोग उन्होंने अद्वैत विज्ञानबिन्दु के साथ संगति बैठाने के लिए किया है और प्रदर्शित किया है कि किस प्रकार एकानेक रूप से अशक्य विवेचनीय होने से चित्र परमार्थतः अद्वैत रूप है, और साथ ही वह बाह्य नहीं, अपितु विज्ञानरूप है। यद्यपि, चित्र अशक्यविवेचन है, तथापि व्यावहारिक सुविधा के लिए उसे एक कहा गया है।⁶⁹

यहाँ ध्यानीय है कि साकारवादियों का अन्य मतों से विवाद के साथ ही साथ चित्राद्वैत को लेकर माध्यमिकों के साथ भी विवाद है। अविचारितरमणीय रूप में ही सही, संवृति में बाह्यार्थ की सत्ता माध्यमिक मानते हैं और स्वसंवेदन का खण्डन करते हैं। पुनश्च, माध्यमिक विज्ञानवाद में, बाह्यवस्तु के आधार पर बाध-आबाध तथा

विधि निषेध का प्रश्न उठाकर अनुपपत्ति दर्शाते हैं। अतः बाह्यवादी निराकारज्ञानवाद, तथा अपने से भिन्न मत रखने वाले साकारवाद के परिप्रेक्ष्य में ज्ञानश्री के चित्राद्वैत सिद्धान्त को समझना चाहिए। माध्यमिकों की आपत्तियों पर ज्ञानश्री कहते हैं कि हमारे यहाँ विज्ञान के स्वसंवेदन से वस्तु की सिद्धि होती है, फलतः उसमें बाध या अबाध अथवा विधि या निषेध का, बाह्य के आधार पर, प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी यदि कोई स्वसंवित्ति से सिद्ध वस्तु को, सांवृतिक अवस्था में, हेतु आदि से सिद्ध करना चाहता है, तो सिद्ध कर ले सकता है; किन्तु जो वस्तु किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है, उसे यदि कोई हेतु से सिद्ध करना चाहता है, तो वह संभव नहीं। जो चीज स्वसंवित्ति या सिद्ध है, वह तत्त्वतः भी सिद्ध है। पुनश्च, स्वसंवित्ति के बिना प्रमाण जीवित नहीं रह सकता।⁷⁰

ज्ञानश्री माध्यमिकों से प्रश्न करते हैं कि जिस सत्ता का आप निराकरण करना चाहते हैं उसका स्वरूप क्या है? यदि सत्ता से आपका अभिप्रेत अन्य दर्शनों में प्रसिद्ध सत्ता से है तो इसके निम्नांकित प्रकार हो सकते हैं— (1) सत्तायोग— जिसमें सत्ता जाती रहती है, जैसा कि नैयायिकादि मानते हैं (2) स्वरूपसत्ता (3) त्रिलक्षण सत्ता और (4) स्वकल्पित सत्ता— उपर्युक्त तीनों से अलग अन्य प्रकार की सत्ता। ज्ञानश्री का कहना है कि यदि आप माध्यमिकों का पक्ष उपर्युक्त प्रकार का है, तो विवाद नहीं है। विवाद तो लोकप्रसिद्ध सत्ता के विषय में है। इस प्रसंग में हम विज्ञानवादी प्रतिभासलक्षण सत्ता को मानते हैं, शक्ति— लक्षणसत्ता को हम नहीं मानते। प्रतिभासलक्षण की शक्ति अज्ञात है, अतएव, यदि हम इसको बाधित कर देते हैं, तो कोई दोष नहीं होगा। कारण यह है कि शक्ति गृहीत नहीं, अपितु अगृहीत है, अतः सत्ता के विचार के प्रसंग में प्रतिभास से मतलब होने तथा शक्ति से मतलब न होने से हमारे अभिमत को कोई हानि नहीं होती। हानि तब होती यदि हम शक्तिलक्षणसत्ता को मानते और फिर भी उसको बाधित करते। पुनश्च, हम विज्ञानवादी भी (माध्यमिकों की तरह) निःस्वभाववादी हैं। एकानेकविरहता ही निःस्वभावता का लक्षण है और एकानेकविरहता से स्वसंवेदन सिद्ध होता है। इस प्रकार हम स्वभाववादी हैं। स्वभाव को हम विज्ञानवादी प्रतिभास के आधार पर मानते हैं, फलतः हमारे अभिमत में आभास ही स्वभाव है।⁷¹

यहाँ ज्ञानश्रीमित्र प्रश्न उठाते हैं कि जब प्रतिभास ही स्वभाव है, तो फिर अद्वैत कैसे है, क्योंकि चित्र का प्रतिभास मानना ही अनेक को मानना है। उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि ग्राह्य—ग्राहक द्वय का न होना अद्वय या अद्वैत है, अथवा संवित् से भिन्न जड़ कुछ नहीं है इसलिए अद्वैत है, अथवा भेद और अभेद नहीं बनेगा, इसलिए अद्वैत है आदि अद्वैत कहने का तात्पर्य होता है। ज्ञान के साकार होने से, यह विचित्र आकार

दिखलायी पड़ता है यही 'चित्राद्वैत' कहने का तात्पर्य है। नृपति की तरह एक ध्वनि होती है चित्राद्वैत में। चित्र में आप अनेकत्व खोजिए, किन्तु तात्त्विक अनेकत्व उसमें नहीं रहेगा और न तो अनेकत्व का निर्णय आप ले पायेंगे। अतएव, चित्र में अनेकता को संवृति में मानना पड़ेगा।⁷²

आचार्य ज्ञानाश्री इसे और स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि सत्त्व या तो एक का होता है या अनेक का, किन्तु चित्र न तो एक है और न अनेक ही, फिर भी इसका सत्त्व है यह आश्चर्य ही चित्र शब्द का अर्थ है। अथवा, जैसे व्यवहार में यह कहा जाता है कि भगवान एक हैं। भगवान को अनेक मानना व्यवहार में उपयोगी नहीं होता है। जिस प्रकार मुझसे (= मेरे द्वारा) आश्रय देने वाला होता है (मैं, अर्थात् व्यक्ति, नहीं रहूँ तो भगवान आश्रयदाता किसका होगा। जिस प्रकार भगवान भक्त के द्वारा ही आश्रयदाता बनता है) उसी तरह मुझे भी उसके आश्रय में होना चाहिए, इस प्रकार की ही, एकत्व का अध्यवसाय करने वाली प्रवृत्ति उपयोगवाली होती है। अनेकता के द्वारा हम किंचित् भी फल का आकलन नहीं करते, क्योंकि पृथक्धर्मिन् कहीं पर भी व्यापारवान नहीं होता (= पृथक्धर्मिन् का कहीं पर भी व्यापारवान होना सिद्ध नहीं होता) अतएव, तात्त्विक दृष्टि से यद्यपि दोनों ही अनुपपन्न हैं, तथापि फल की अपेक्षा से एकत्व का व्यवहार किया जाता है, किसी अन्य दृष्टि से नहीं, जैसे कि अनित्यता का व्यवहार इसलिए किया जाता है, क्योंकि शान्ति के लिए वह अनुकूल है।⁷³

विरोधी कहता है कि उपर्युक्त विवेचना को मान लेने पर भी हमारा यह प्रश्न है कि नील आलवलय (the blue canvass) पर्यन्त जो सजातीय से इतर ज्ञानचक्र है, जिसे 'चित्र' कहा जाता है उसे आप बौद्ध भी एक कहकर व्यवहार करते हैं, वह कैसे? ज्ञानाश्री का उत्तर है कि जितना कुछ बाह्याध्यवसाय है केवल वही सबकुछ 'एतद्' और 'इदम्' के रूप में पृथक् है। वस्तुतः वह सब कुछ विज्ञान ही है और हाथ-पैर आदि भी 'चित्र' में ज्ञानात्मक ही हैं। मन में विवर्तों को छोड़कर हाथ-पैर आदि मात्र ही 'चित्र' नहीं हैं। अतएव, अन्य विवर्तों की तरह चित्रशब्द की वाच्यता में अन्तर्भावित होने के कारण, केवल 'विज्ञप्तिमात्रता' के विचार में एक का व्यवहार किया जाता है। वहाँ पर भी वैसा ही समझना चाहिए, जैसा कि भगवान में गोचर तथा भाग की अन्य व्यवस्थाएँ कही गयी हैं।⁷⁴ अथवा, तत्त्वतः एकशब्द, अद्वैतशब्द की तरह, अनेक की व्यावृत्तिमात्र के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस कारण प्रतिभासरूपेण नीलादि ही सत् है और वह न तो एक है और न अनेक ही। इसी तथ्य को अभिव्यक्त करते हुए, आचार्य धर्मकीर्ति ने— "नीलादिश्चित्रविज्ञाने ज्ञानोपाधिरनन्यभाक्। अशक्यदर्शनस्तं हि पतत्यर्थं विवेचयन्— प्र0वा0 2/220 को कहा है। इसकी व्याख्या करते हुए ज्ञानाश्रीमित्र बतलाते

हैं— 'श्लोक में 'चित्र' शब्द के द्वारा एकता का निषेध किया गया है, जबकि विज्ञानरूप प्रतिपत्ता (ग्राहकविज्ञान) एक का सूचक है। प्रतिभासमान रूप से चित्र एक ज्ञान में अन्तर्गमित होता है, अतएव एकता का निषेध किया गया है। ज्ञानोपाधि का प्रयोग, जड़ से व्यावृत्ति के द्वारा, ज्ञानरूपेण बाधक का अभाव बतलाने के लिए है। नील से अन्य जो पीतादि आकार हैं उनको हटाकर अथवा उनको त्यागकर 'चित्र' को देखा नहीं जा सकता, अर्थात् वह अशक्यदर्शन है ऐसा कहकर भेद के व्यवहार में प्रयोजनाभाव को कहा गया है। यदि वह पृथक् रूपेण प्राप्त भी रहता और उससे साध्य की सिद्धि होती, तो अनेक का व्यवहार उचित होता; जैसे कि 'चैत्र' से 'मैत्र' आदि में अनेक व्यवहार उचित है। किन्तु वैसा नहीं है अतः चित्र को एक ही (अद्वैत) कहना उचित है। श्लोक में 'तं हि' के द्वारा उसी बात को कहा गया है जिसे हमने 'यावद्' एवं 'बहिः' श्लोकों में कहा है। 'चित्र' शब्द की ज्ञानरूपता के परामर्श में बुद्ध्यादिसमूह के अर्थ में चैत्रादि एकशब्द विहित है। इसे वहाँ पर भी उसी प्रकार प्रवर्तित करना चाहिए। 'विवेचयन्' का अर्थ है भिन्न करते हुए या भेद करते हुए, पुनः अर्थ में ही पतित होता है अर्थात् अर्थ का ही पृथक् रूप से जन्मग्रहण होता है, ज्ञान का नहीं। क्योंकि प्र0वा0 2/221 में धर्मकीर्ति कहते हैं— "यद् यथाभासते ज्ञानं तत्तथैवानुभूयते। इति नामैकभावः स्याच्चित्राकारेऽपि चेतसि।" नाम का अर्थ है, संज्ञावाचक शब्द। वह तात्त्विक नहीं अपितु एकभाव रूप है। 'भासते' का अर्थ है, उत्पन्न होता है। उत्पन्न होता है ऐसा इस अभिप्राय से कहा जा रहा है, क्योंकि जो प्रकाशमान है केवल उसी का जन्म होता है। उपर्युक्त तरह का ही ज्ञान जो कि न तो एक स्वभाव वाला होता है और न अनेक स्वभाव वाला चित्राद्वैत कहा गया है और वह बाधा से रहित होता है। श्लोक से यह दर्शाया गया है कि क्षणिकत्वादि की तरह 'चित्र' संवृति में एकव्यवहारगोचर है।⁷⁵

अथवा, जो ज्ञान जिस रूप में, अर्थात् अनेक की व्यावृत्ति के द्वारा अनगुणरूपतया, भासित होता है, वह उसी रूप में प्राप्त होने के कारण अनगुणरूपतया अनुगमित होता है। श्लोक में जो, 'इतिनाम्' शब्द है वह 'अव्यय' है। और यह बात (अव्ययता) जड़ की नहीं होती, क्योंकि जड़ की वैसी संवित्ति नहीं होती। इससे आचार्य ने यह प्रदर्शित किया है कि 'चित्र' ज्ञानरूप है, जड़रूप नहीं। ज्ञान परमाणु का भी, बहुत्ववाद के पक्ष में आभास नहीं हो सकेगा, क्योंकि अंश के द्वारा सांशराशि का आरंभ नहीं होता, और ज्ञानपरमाणु में दिग्भाग का भेद अनुपपन्न है, फलतः, चित्र का आभास एकत्व पर ही आकर ठहरता है, रुकता है। अतः, जो ज्ञान जिस प्रकार से, अभेदलक्षण के कारण, भासित होता है वह उसी प्रकार से अभेदपूर्वक ही अनुभूत किया जाता है, क्योंकि अनुभव ही सत्ता है। यदि यह कहा जाय कि 'चित्र' एक है (एक से बना है = उसमें

एक ही वर्ण रहता है) यह बात अनुभव विरुद्ध है, क्योंकि चित्रावभास नील, पीत आदि के द्वारा भेदपूर्वक ही होता है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि संवेदनव्यापार नीलादि में ही होता है। भेद में चित्र का संवेदन नहीं होता। भेदाभेदव्यवस्था तो निबंधनानुसार (= अभ्यास के प्रकार के अनुरूप) होती है। पुनश्च, 'बाह्यार्थ को स्वीकार करने पर तो, अर्थक्रिया के आधार पर, एक प्रकार का ज्ञान का निर्णय किया जाता है, किन्तु उसी प्रकार का निर्णय चित्र के प्रसंग में नहीं लिया जा सकता। चित्र में यह अभेदेन ही विद्यमान रह सकता है, किन्तु बाह्यार्थ में वह अनेक हो सकता है।'⁷⁶

आचार्य ज्ञानश्रीमित्र चित्रैकत्व को और पुष्ट करते हुए लिखते हैं कि 'पीत से नील अन्य है' ऐसे विकल्प की वृत्ति स्ववेदनव्यापार का अनादर करके होती है, क्योंकि इन्द्रियज्ञान के व्यापार के अनुसार जो है उसकी एक ही ध्वनि होती है। अतएव 'चित्र' एक है, इसमें कोई विरोध नहीं है। चित्र की स्थिति नीलपीतादितया ही होती है, नानात्वेन नहीं। अथवा 'चित्र' अनुवाद मात्र है। आपको जो नाना रूप में अभिमत है, वह बुद्धिरूप होने से एक ही होता है। अतः, 'जो चित्र जिस चित्त में, एक ज्ञान के अन्तर्गत होने के रूप में भासित होता है, वह उसी रूप में अनुभूत होता है।'⁷⁷

आचार्य ज्ञानश्रीमित्र चित्राद्वैत की उपपन्नता आचार्य वसुबन्धु की शिक्षाओं के आधार पर भी बतलाते हैं और कहते हैं कि आचार्य वसुबन्धु ने भी व्यापकानुपलम्भ की जो उदभावना की है वह बाह्यार्थ की ही दृष्टि से, ज्ञानाधिकारतया नहीं। यदि विरोधी हमारे मत का विरोध करते हुए कहे कि जिस तर्क से बाह्य विषय में वह व्यवस्था की गयी है, उसी तर्क से विज्ञान के क्षेत्र में भी उसके लिए अवकाश है, तो वह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि आचार्य वसुबन्धु ने 'विज्ञानमात्रमेवेदमित्यपि ह्युपलम्भतः...' इत्यादि के द्वारा उपर्युक्त बात का स्वतः निषेध कर दिया है। अतएव, ग्राह्यग्राहकद्वय की सत्ता के द्वारा तथा त्रैधातुक चित्त, चैत एवं अभूतपरिकल्प की सत्ता के द्वारा समारोप के अपवाद के प्रतिषेध की निवृत्ति को कहा गया है, अन्य किसी सत्त्व अथवा असत्त्व को नहीं कहा गया है।⁷⁸

ज्ञानश्रीमित्र तदनन्तर इस प्रसंग में प्रत्यक्ष प्रमाण की स्थिति को भी स्पष्ट करते हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार विरुद्धधर्म के अध्यास द्वारा बाह्यार्थ में भेद किया जाता है, वैसी स्थिति विज्ञान के प्रसंग नहीं है। चित्रैकत्व के विषय में प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, विकल्प के द्वारा इसका अनुगम नहीं होता, इसलिए चित्रैकत्व नहीं है, यदि विरोधी ऐसा कहे, तो, ज्ञानश्री का कहना है कि इसमें अपराध विकल्प का है। प्रत्यक्ष का इसमें अपराध नहीं, क्योंकि चित्रप्रतिभास एक ज्ञान के दूसरे ज्ञान के अन्तर्गत होने के रूप

में होता है। इसे दृष्टान्त के साथ बतलाते हुए ज्ञानश्री लिखते हैं— 'ममायं चित्रः प्रतिभास इत्येकसम्बन्धिश्च। प्रत्यक्षविकल्प एवायमभेदेन पटवत्यनुभवाकारवान्। एकमेकतैव बुद्धिरेकस्तस्य विकल्प त्रिभुवन विकल्पो वा? एकस्यां बुद्धौ चित्रः प्रतिभास इत्यपिशिलापुत्रशरीरवत्, शरीरे पाणिपादादिवद् वा..... पृ० 452। अतः यह फलित हुआ कि प्रत्यक्ष का कोई अपराध, उपर्युक्त प्रसंग में नहीं है, और विकल्प का भी भाव नहीं है। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्ष अभेदग्राही होता है। प्रत्यक्ष की अपेक्षा से विकल्प प्रतिभासमान नहीं है, अतः वह न एक है न अनेक। चित्र के प्रतिभासमान होने पर भी यदि दो ग्राहकविज्ञानों में भेद हो, तो विकल्प ही वहाँ भेदग्राही है, प्रत्यक्ष नहीं, क्योंकि उस समय किसी अन्य विषय का उल्लेख नहीं रहता। इस प्रकार प्रत्यक्ष के अभेदग्राही होने पर चित्राद्वैतवाद सिद्ध हो जाता है।⁷⁹ इससे यह भी कहा जा सकता है कि चाहे बाह्य कि सत्ता मानी जाय या न मानी जाय किसी भी स्थिति में भेद प्रत्यक्षज्ञान का विषय नहीं बनता, क्योंकि बुद्धि में अभेदवेदन अपने ही द्वारा (= बुद्धि द्वारा ही) भासित होता है। आशय यह है कि विज्ञान अभेदरूप होता है यह बात स्वसंवेदन के द्वारा प्रत्यक्षरूपेण ज्ञात होती है।⁸⁰ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि स्पष्ट आकारवाले नील, पीत आदि विरुद्ध धर्माध्यास के रूप में जो भासमान है उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है? ज्ञानश्री उत्तर देते हैं कि हम उसका अपलाप नहीं कर रहे हैं, इसलिए तो उसे चित्र कहा जाता है। चित्रशब्द से जिसे नाम दिया जाता है ऐसे नील, पीत आदि में एक-एक का भेद तत्त्वतः नहीं किया जा सकता, इसीलिए हम उसे स्वसंवेदिति कहते हैं। वहाँ पर विरुद्धधर्मों का अध्यास है, इसमें दो पक्ष संभव हैं— (1) दो परस्पर विरुद्ध धर्मों का अध्यास, अथवा (2) दो विरुद्ध धर्मों में चित्रबुद्धि का होना। प्रथम पक्ष में भी दो विकल्प संभव हैं— (क) आश्रय द्वारा अथवा (ख) स्वरूप के द्वारा— दो परस्पर विरुद्ध धर्मों का अध्यास। इसमें (क) विकल्प उचित नहीं। संवेदन के ही कारण अधिकरणता की असिद्धि हो जाने से आश्रय द्वारा दो परस्पर विरुद्धधर्मों का अध्यास असिद्ध है, क्योंकि स्वसंवेदन को स्वीकार कर लेने पर अन्यप्रमाणों का अवतार नहीं होता। यदि कहा जाय कि स्वरूप के द्वारा दो परस्पर विरुद्ध धर्मों का अध्यास माना जाय, तो मात्र वह बात हमें व्यथा नहीं देती, क्योंकि अभेदवान् आश्रय में प्रतिभासमान होते हुए दोनों साथ-साथ रह सकते हैं, जैसे कि, कृतकत्व और अनित्यत्व विरोध समाप्त कर साथ-साथ रहते हैं।⁸¹

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि कृतकत्व और अनित्यत्व में 'जो भेद है वह कल्पनाकृत है, किन्तु चित्र में नील, पीत आदि दो विरुद्ध धर्मों में जो भेद है वह प्रतिभासकृत होता है, फलतः दोनों में समानता नहीं है। ज्ञानश्री का उत्तर है कि

अभिन्न आश्रय के द्वारा ही ऐसा निदर्शन होता है। विरोधी कह सकता है कि, तबतो, इसका यह अर्थ हुआ कि वहाँ पर (= चित्रप्रतिभास में) प्रतिभासभेद से ही आश्रयाभेद (आश्रय का अभेद) होता है। ज्ञानश्री मित्र कहते हैं कि यहाँ पर भी (प्रतिभास भेद में भी) स्वसंवेदनरूप अभेद पाया जाता है, अतः चित्र, अद्वैतरूप है। विरोधी कहता है कि आप प्रतिभास भेद से भेद ही क्यों नहीं स्वीकार करते? उत्तर है कि बाह्य विषयक प्रतिभास ही, आकार इस अन्य नाम से, प्रमाण है, अतः उसका (बाह्य विषय का) अभाव होने पर (और बाह्य विषय का अभाव है, ऐसा विज्ञानवाद सिद्ध कर चुका है) आभास ही विज्ञान का विषय है और स्वसंवेदन इसमें प्रमाण है, अतः, जब स्वसंवेदन के द्वारा उसका (चित्र में नीलपीतादि के प्रतिभास का) एकीकरण किया जा रहा है, तो, किसी अन्य के द्वारा उनमें विभेद नहीं किया जा सकता। अतः, भेद का कोई भी साधन नहीं है, जबकि अभेद का साधन स्वसंवेदन ही है और वह भेद को भी बाधित करता है। इससे यह स्थित हो गया कि स्वरसवाही अभ्यास ही बाह्यव्यवहार को उपस्थापित करता है। अतः, आचार्य धर्मकीर्ति ने प्र० वा० 2/220 में उपर्युक्त तथ्य को भी इंगित किया है।¹⁸² आचार्य के श्लोक में आया 'अनन्यभाक्' शब्द अनन्यस्वभावभाक् के अर्थ में है। अतः, ज्ञानश्रीमित्र इसके आशय को इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं— 'चित्र में पीतादिस्वभाव का विभाग न करने पर आप चित्र को देख नहीं पायेंगे, किन्तु चित्रविज्ञान में हम नील-पीतादि सभी को देख लेते हैं, यद्यपि वे एक-एक नियत हैं, किन्तु जब वे चित्रविज्ञान रूप होते हैं तो सभी का दर्शन हो पाता है। उससे अलग करके निश्चित रूप से जब प्रतिभास को स्वीकार किया जाता है, तब वह बहिरर्थ को बताने लगता है। इस प्रकार नीलादि विज्ञान के आत्मभूत हैं (= ज्ञानोपाधि हैं)। यही कारण है कि भाष्यकार प्रज्ञाकर ने यह उचित ही टिप्पणी की है कि चित्रविज्ञान, भेदरूप नहीं, क्योंकि वह अनेक रूप नहीं है, अतः, भेदपूर्वक (= भेद के द्वारा) चित्रप्रतिभास की व्यवस्थापना असंभव है।¹⁸³ 'अचित्राद' के द्वारा प्रज्ञाकर यह बतलाना चाहते हैं कि विज्ञान नानारूप वाला नहीं होता, वह स्वसंवेदनरूप वाला होता है, अतएव भेद के द्वारा चित्रप्रतिभास का व्यवस्थापन नहीं हो सकता। उसका अभेदेन ही, निषेध में पर्यवसित होने वाला, व्यवस्थापन हो सकता है। पहले प्रज्ञाकर ने यह कहा कि चित्रप्रतिभास अशक्यविवेचन है, और उसका अर्थ अव्यभिचारलक्षणवाला एकत्व किया। अब, यहाँ पर 'वा' शब्द का प्रयोग 'एकज्ञानान्तर्गतता' के अर्थ में हुआ है जिससे यह फलित होता है कि 'चित्राकारता' को भी संवृति की ही दृष्टि से कहा जाता है। परमार्थतः तो अद्वैत की ही स्थिति है— ऐसे अर्थ की परिकल्पना करके जो यह कहा जाता है कि आचार्य प्रज्ञाकर ने केवल भेदप्रतीति के निषेध के लिए उपर्युक्त बात कही है, वह ठीक नहीं, क्योंकि हम साकारवादी द्वैत से भिन्न करके प्रतिभास होने को अद्वैत

नहीं कहते। द्वैत भेद रूप होता है, अतः उसका प्रतिभास कहाँ होगा?⁸⁴ इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि आचार्य प्रज्ञाकर, जड़ तथा ग्राह्यग्राहक का अभाव होने के कारण, केवल विज्ञान ही है, इस अर्थ में अद्वैत शब्द का प्रयोग करते हैं, द्वैत के पर्युदास के अर्थ में या 'एक' के अर्थ में नहीं।⁸⁵ क्योंकि वे इस प्रसंग में स्वतः लिखते हैं— तस्मात् स्वसंवेदनमेव केवलमद्वैतमपरस्याभावादिति, पृ० 290, केवल स्वसंवेदन ही अद्वैत है, क्योंकि द्वैत का अभाव है।

इस सारी विवेचना से आचार्य ज्ञानश्रीमित्र यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वार्तिककार धर्मकीर्ति का चित्राद्वैतवाद एकत्वोपाधिवाला है, अर्थात् चित्रैकत्ववाद उनका मुख्य अभिप्राय है, जबकि भाष्यकार प्रज्ञाकर इस विषय में दोनों विशेषणों की व्यावृत्ति करते हैं कि विज्ञान न एक है और न अनेक ही। तत्पक्षः दोनों का (= चित्रैकत्व तथा चित्राद्वैत का) एक ही अभिप्राय है। अभिप्राय को व्यक्त करने की रीति में भेद होने से मुख्य और गौण अभिप्राय की व्यवस्था की गयी है। अतः, जो लोग वार्तिक और भाष्यकार के अभिप्राय को अलग-अलग मानते हैं उनकी बुद्धि में ही गड़बड़ी है।⁸⁶

(ख) मानसप्रत्यक्ष

मानसप्रत्यक्ष, प्रत्यक्ष के प्रकारों में द्वितीय है। प्रथमतः बौद्धनैयायिक इसे इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं मानते और द्वितीयतः, सौत्रान्तिक तथा युक्त्यनुयायीविज्ञानवाद में इसको प्रत्यक्ष का एक प्रकार मानने में अपने-अपने पक्ष हैं। पुनश्च, इसको बाद के कुछ बौद्ध नैयायिकों ने प्रत्यक्ष के एक प्रकार के रूप में नहीं माना।⁸⁷ हम यह भी पाते हैं कि दिग्नाग की मानसप्रत्यक्ष विषयक धारणा की जब मीमांसकों ने आलोचना की तब धर्मकीर्ति ने मानसप्रत्यक्ष को नया लक्षण प्रदान किया। पुनश्च, बाह्यविषयों का मानसप्रत्यक्ष होने की मान्यता का निरूपण धर्मकीर्ति के बाद के विद्वानों द्वारा विविध प्रकार से हुआ है। इतनी बातें पृष्ठभूमि में रखकर मानसप्रत्यक्ष की बौद्ध अवधारणा की मीमांसा करने पर उसके, आगे आने वाले, विविध पक्षों की सम्यक् पहचान और उचित मूल्यांकन में स्थलन का अवकाश नहीं रहेगा।

आचार्य दिग्नाग प्रमाणसमुच्चय में कहते हैं— “मानसं चार्थरागादिस्वसंवित्तिरकल्पिका”।⁸⁸ इस पर अपनी वृत्ति में वे लिखते हैं— “मानसमपि रूपादिविषयात्मन्मनविकल्पकमनुभवाकारप्रवृत्तं रागादिषु च स्वसंवेदनमिन्द्रियानपेक्षत्वाद् मानसं प्रत्यक्षम्।” प्रमाणसमुच्चय और उस पर आचार्य की स्ववृत्ति की व्याख्या को लेकर हमें बौद्ध आचार्यों में दो भिन्न मत मिलते हैं। आचार्य धर्मकीर्ति द्वारा मानसप्रत्यक्ष

के विषय में प्रदत्त संशोधित व्याख्या के आलोक में दिग्नाग के लक्षण का स्पष्टीकरण करने वाले प्रमाणसमुच्चयटीकाकार जिनेन्द्रबुद्धि और अलंकार भाष्यकार प्रज्ञाकर गुप्त की, दिग्नाग के मानसप्रत्यक्षलक्षण की, व्याख्या, परस्पर भिन्न प्रकार की है।

दिग्नाग के लक्षण को, टीकाओं की व्याख्या से बिना रंजित किये हुए, इस प्रकार कहा जा सकता है— 'अविकल्पका', अर्थरागादिस्वसंवित्ति मानसप्रत्यक्ष है'। अर्थात् रूपादिविषय को आलम्बन बनाता हुआ अनुभवाकार रूप में प्रवृत्त मानसप्रत्यक्ष भी निर्विकल्पक अथवा कल्पनापोढ है (तथा) रागादि का स्वसंवेदन (भी) मानसप्रत्यक्ष है, क्योंकि इसे किसी इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं है, वह किसी इन्द्रिय पर आश्रित नहीं है।

जिनेन्द्रबुद्धि, प्रमाणसमुच्चय की, विशालामलवती नामक अपनी टीका में 'अर्थरागादिस्वसंवित्ति' इस समस्त पद को 'अर्थसंवित्ति' एवं 'रागादिस्वसंवित्ति' के रूप में विश्लेषित करना वांछनीय समझते हैं। अर्थरागादिस्वसंवित्ति को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं— 'अर्थ' शब्द ज्ञेय का पर्याय है। रागादि के स्व को 'रागादिस्व' (रागादि का जो अपना है, 'स्व' है) कहते हैं। 'स्व' शब्द आत्मवाचक है। (इस प्रकार) अर्थ और रागादि के स्व की संवित्ति (= अर्थसंवित्ति एवं रागादिस्वसंवित्ति) के अर्थ में अर्थरागादिस्वसंवित्ति को समझना चाहिए। इसके द्वारा जाना जाता है या, संवेदन किया जाता है, अतः इसे संवित्ति कहते हैं। 'संवित्ति' प्रत्येक के साथ (अर्थात् अर्थ के साथ और रागादि के स्व के साथ) सम्बद्ध की जाती है। वह निर्विकल्पक (संवित्ति) मानसप्रत्यक्ष है।⁹⁹ दिग्नाग की स्ववृत्ति के अंश की व्याख्या वे रूपादि विषयाणां विकारः रूपादिविषयविकारः, स आलम्बनं यस्य तत् तथोक्तम् के रूप में करते हैं और 'रूपादि विषयालम्बनम्' में बहुव्रीहि समास तथा 'रूपादि विषयाणां विकारः' में विकारषष्ठी बतलाते हैं।¹⁰⁰ इस व्याख्या के अनुसार, जिनेन्द्रबुद्धि की दृष्टि से वृत्ति का आशय होगा 'मानसप्रत्यक्ष भी, जिसका विषय अव्यवहित पूर्ववर्ती इन्द्रियप्रत्यक्ष के विषय से लिया जाता है, और जो अव्यवहित अनुभव के रूप में कार्य करता है, कल्पनापोढ है।

आचार्य प्रज्ञाकर दिग्नाग के मानसप्रत्यक्ष के लक्षण को उद्धृत कर उसका अर्थ करते हैं कि अर्थ और रागादि के स्वरूप का संवेदन, चूँकि वह अनुभवाकार होने से निर्विकल्पक होता है, अतः, मानसप्रत्यक्ष है।¹⁰¹ स्पष्ट है कि इनके अनुसार 'स्वसंवित्ति' में 'स्व' का अर्थ 'स्वरूप' है, 'रागादि का स्व' नहीं, जैसा जिनेन्द्रबुद्धि समझते हैं। जिनेन्द्रबुद्धि 'स्वसंवित्ति' को केवल रागादि के साथ जोड़ते हैं, अर्थ के साथ नहीं। इस प्रकार, मानसप्रत्यक्ष, उनके लिए, अपने में दो बातों का अन्तर्भाव किये

हुए हैं— (1) अर्थ की संवित्ति तथा (2) रागादि की स्वसंवित्ति। उनके लिए, अर्थ की स्वसंवित्ति का, चूँकि सवाल नहीं उठ सकता, और चूँकि रागादि की स्वसंवित्ति सिद्धान्तानुकूल है, अतः वे अर्थसंवित्ति और रागादिस्वसंवित्ति ऐसा आशय, दिग्नाग के लक्षण का, लगाना चाहते हैं। पुनश्च, चूँकि वे धर्मकीर्ति के बाद के आचार्य हैं, और धर्मकीर्ति 'रागादि की स्वसंवित्ति' को स्वसंवेदनप्रत्यक्ष के अन्तर्गत मानते हैं, मानसप्रत्यक्ष के अन्तर्गत नहीं, अतः ऐसा लगता है कि जिनेन्द्रबुद्धि के अनुसार, आचार्य दिग्नाग मानसप्रत्यक्ष को द्विविध मानते हैं— (1) बाह्य अर्थ का बोध और (2) राग—काम सदृश गौण मानसिक क्रियाओं का बोध।⁹² इनमें से प्रत्येक कल्पनापोढ होने से प्रत्यक्ष है। पुनश्च, चूँकि दिग्नाग के मानसप्रत्यक्ष में मीमांसकादि ने दोषोद्भावन, जिनेन्द्रबुद्धि के पहले ही, किया था, जिसका उत्तर आचार्य धर्मकीर्ति ने दिया, अतएव, इस सारे परिवेश में उन्होंने अपनी व्याख्या की जिसमें विपक्षियों के प्रति दिये गये 'धर्मकीर्ति' के उत्तर को समाविष्ट कर लेने का अवकाश रहे।

आचार्य प्रज्ञाकर एवं जिनेन्द्रबुद्धि दोनों के अनुसार अर्थ की संवित्ति (= बाह्य अर्थ का बोध) मानसप्रत्यक्ष में होती है। प्रज्ञाकर प्र० वा० 2-176 पर अपने 'भाष्य' में एक पूर्वपक्ष उठाकर उसका खण्डन करते हुए 'मानसप्रत्यक्ष' के स्वरूप के विषय में जो संकेत देते हैं उससे स्पष्ट है कि 'सामने उपस्थित अर्थ का 'इदं' वस्तु-रूप में निश्चायक ज्ञान, मानसप्रत्यक्ष है जिसमें अपरोक्षविषयता और सन्निहितार्थता होती है।'⁹³ यह भी द्रष्टव्य है कि प्रज्ञाकर के मत में दिग्नाग 'रागादि अर्थात् राग, द्वेष, मोहादि विषयों के स्वरूप की निर्विकल्पक अनुभूति को मानसप्रत्यक्ष कहते हैं।'⁹⁴ पुनश्च, चूँकि आचार्य दिग्नाग का मत है कि 'राग, द्वेष, मोह, सुख, दुःखादि में जो स्वसंवेदन होता है वह इन्द्रिय निरपेक्ष होने से मानसप्रत्यक्ष है', अतएव, प्रज्ञाकर यह विश्लेषण करते हैं कि 'सुखादि जहाँ पर अर्थ की तरह रहते हैं वहाँ मानसप्रत्यक्ष होता है; अर्थात् 'सुखादि जब अर्थरूप हों, तब, उसमें 'इदम्' के रूप में जो ज्ञान वर्तता है वह, चूँकि स्वरूप (= अपने असाधारण रूप) का ग्रहण साक्षात् ढंग से करता है, अतः मानसप्रत्यक्ष कहलाता है।'⁹⁵ यह भी, यहाँ स्पष्ट हो गया कि प्रज्ञाकर के अनुसार, दिग्नाग के 'स्वसंवित्ति' में, 'स्व' का तात्पर्य स्वरूप है। पुनश्च, प्रज्ञाकर की मान्यता है कि सुखदुःखादि में जो स्वसंवेदन = स्वरूपसंवेदन, होता है वह मानसप्रत्यक्ष है तथा सुख ऐन्द्रिय नहीं है। आचार्य धर्मकीर्ति, जब यह कहते हैं कि ऐन्द्रिय ही सुख या दुःख की उत्पत्ति होती है, तो प्रज्ञाकर के अनुसार 'धर्मकीर्ति जब ऐसा कहते हैं तो 'सुखादि' शब्द से जो सुख का हेतु रस है मात्र उसे नहीं कहा जा रहा है, क्योंकि, इन्द्रियविज्ञान जब होता है, तो अभी विकल्प नहीं पैदा हुआ, फिर भी 'यह कटु है' 'यह मीठा है',

ऐसा प्रतिभास होता है।⁹⁶ अतः प्रज्ञाकर के अनुसार, मानसप्रत्यक्ष अनीन्द्रिय प्रत्यक्ष है जिसमें अर्थ एवं रागादि के स्वरूप का अनुभवाकार, अतः, निर्विकल्पक, प्रत्यक्ष होता है तथा उसमें आकार द्वय— (1) विषयगत आकार और (2) मन में आकार—समानकाल में प्राप्त होते हैं। यह आकार द्वय ही मानसप्रत्यक्ष का 'इदम्' है। ऐसी स्थिति में, सुख के रसादिक होने को स्पष्ट कर प्रज्ञाकर उपर्युक्त मान्यता से निकलने वाले फलितार्थ को आग्रहपूर्वक स्वीकार करते हैं कि अभ्यास से उपजायमान और सामने वर्तमान (वस्तु) के आकार को ग्रहण करने वाला सुखादि भी मानसप्रत्यक्षरूप है।⁹⁷

दिग्नाग के मानसप्रत्यक्ष लक्षण की व्याख्या के प्रसंग में एक आम धारणा यह रही है, और अब भी पायी जाती है, कि 'मानसं चार्थरागादिस्वसंवित्तिरकल्पिका' इस समस्त पद में मानसप्रत्यक्ष और स्वसंवेदनप्रत्यक्ष दोनों का लक्षण दिग्नाग ने दिया है।⁹⁸ 'मानसं चार्थ' से मानस का उल्लेख और 'रागादिस्वसंवित्तिरकल्पिका' से स्वसंवेदन के स्वरूप को कहा गया है। इस पर दिग्नाग की स्ववृत्ति का भी अर्थ इसी आलोक में किया जाता है। 'मानसमपिप्रवृत्तं' अंश को मानस का लक्षण तथा 'रागादिषु च प्रत्यक्षम्' को स्वसंवेदनप्रत्यक्ष का लक्षण समझा जाता है। परन्तु अब प्रज्ञाकर की व्याख्या ने इस प्रकार की समझ को झकझोर दिया है। धर्मकीर्ति के प्रभाव ने लोगों को दिग्नाग में भी धर्मकीर्ति के विचारों को देखने का आदती बना दिया था और लोग समझते थे कि धर्मकीर्ति अपने ग्रन्थों में आचार्य दिग्नाग द्वारा कही गयी बात को ही विस्तार से कह रहे हैं। चूँकि, धर्मकीर्ति प्रत्यक्ष को चतुर्विध कहकर उनका लक्षण भी करते हैं और दिग्नाग के प्रमाणसमुच्चय एवं स्ववृत्ति में प्रत्यक्ष के प्रकारों की व्याख्या के लिए आये अंशों में 'मानसंआदि तथा उसकी वृत्ति' में भी मानस एवं स्वसंवित्ति की प्राप्ति होती है और उसके बाद 'योगिप्रत्यक्ष' का प्रकरण प्रारंभ हो जाता है, अतः उसमें मानसप्रत्यक्ष के साथ स्वसंवेदनप्रत्यक्ष के लक्षण का निर्देश होने की आशा में, तदनुकूल ही अर्थ करने की परंपरा चल पड़ी। आचार्य प्रज्ञाकर दिग्नाग के उपर्युक्त अंश की व्याख्या केवल मानसप्रत्यक्ष के प्रकरण में करते हैं, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष के प्रकरण में नहीं। इसी प्रकार, जिनेन्द्रबुद्धि भी, यद्यपि वे अपनी व्याख्या में धर्मकीर्ति के मानसप्रत्यक्ष की व्याख्या से प्रभावित हैं, उपर्युक्त अंश की व्याख्या मानसप्रत्यक्ष के ही प्रसंग में करते हैं। अतः, बौद्ध परंपरा से भी, उपर्युक्त अंश को स्वसंवेदनप्रत्यक्ष की व्याख्या करने वाला नहीं समझना चाहिए।

उपर्युक्त स्थिति में यह प्रश्न उठेगा कि क्या दिग्नाग स्वसंवेदन प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष के प्रकारभेद में नहीं मानते? क्या उनके अनुसार प्रत्यक्ष के तीन ही प्रकार हैं? इन प्रश्नों की हम आगे व्याख्या करेंगे।

मानसप्रत्यक्ष को दिग्नाग प्रत्यक्ष का एक प्रकार मानते हैं। मीमांसकादि उनके मानसप्रत्यक्षविषयक धारणा की आलोचना करते हैं, जिसका प्रत्युत्तर धर्मकीर्ति और उनके बाद के आचार्यों ने दिया। पहले हम मीमांसकादि द्वारा दिग्नाग के मानसप्रत्यक्ष में दिखलाये गये दोषों का निरूपण करेंगे, क्योंकि इन्हीं आलोचनाओं का उत्तर देने के लिए धर्मकीर्ति ने मानसप्रत्यक्ष की एक जटिल परिभाषा दी और मानसप्रत्यक्ष और स्वसंवेदनप्रत्यक्ष में स्पष्ट विभाग किया।⁹⁹

आचार्य प्रज्ञाकर अपने अलंकारभाष्य में मीमांसकों का नामोल्लेख किये बिना उन दोषों की विस्तार से चर्चा करते हैं, जिन्हें आचार्य धर्मकीर्ति ने स्वतः प्रमाणवार्तिक में श्लोकों में आबद्ध कर दिया है। भाट्ट मीमांसक दो दोषों की ओर संकेत करते हैं¹⁰⁰—
(1) गृहीतग्रहिता का दोष (2) अंधबधिरादि के अभाव का दोष।

मीमांसकों का प्रश्न है कि मानसप्रत्यक्ष का विषय क्या इन्द्रियविज्ञान के विषय से अभिन्न है या भिन्न। प्रथम स्थिति में मानसप्रत्यक्ष इन्द्रियविज्ञान से अभिन्न विषयवाला होने के कारण उसी को ग्रहण करेगा जिसको इन्द्रियविज्ञान ग्रहण कर चुका है। ऐसी स्थिति में वह गृहीतग्राही होने से अप्रमाण हो जायगा, क्योंकि अनधिगत का अधिगन्ता होना प्रमाण का लक्षण है।¹⁰¹ प्रमाण अज्ञातार्थप्रकाशक होता है। चूँकि दिग्नाग मानसप्रत्यक्ष को 'अनुभवाकारप्रवृत्त' कहते हैं, अतएव, मीमांसक यह आशंका उठाते हैं कि 'अनुभवाकार रूप से जिसकी वृत्ति होती है वह इन्द्रियविज्ञान ही होता है; अर्थात् इन्द्रियविज्ञान ही अनुभवाकार रूप से वृत्ति करता हुआ प्राप्त होता है। चक्षुरादि से जो जनित है वह तो इन्द्रियविज्ञान ही है। फलतः, यदि मानसप्रत्यक्ष इन्द्रियविज्ञानोत्पन्न है, तो पूर्वानुभूत को ग्रहण करने वाला होना चाहिए; और यदि मानसप्रत्यक्ष पूर्वानुभूत को ही ग्रहण करने वाला है, तो उसकी अप्रमाणता होगी। पुनश्च, पूर्वानुभूत को, स्मरण किये जाने के द्वारा ही, जाना जा सकता है, अतएव स्मरण किये जाने के द्वारा, साक्षात्करण में, पूर्वानुभूत का, अनुभव नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि मानसप्रत्यक्ष में भी वस्तुतः पूर्वानुभव ही है, तो प्रश्न उठेगा कि इसे कैसे जाना जाय? प्रत्यभिज्ञान से अवश्य इसके ज्ञात किये जाने की बात कही जा सकती है, किन्तु प्रत्यभिज्ञान तो प्रमाण है नहीं।¹⁰² इसके अतिरिक्त इन्द्रियविज्ञान द्वारा ज्ञात या दृष्ट विषय मानसप्रत्यक्ष का विषय होता है, इसमें भी दो विकल्प संभव है कि वह अर्थ क्षणिक है अथवा अक्षणिक। प्रथम स्थिति में, सभी भावपदार्थ क्षणक्षयी होंगे, अतएव, अतीत के दर्शन का ग्रहण नहीं हो सकता। दूसरे क्षण वह नहीं रहेगा, अतएव मानसप्रत्यक्ष पूर्वगृहीत का ग्रहण नहीं कर सकता।¹⁰³ पूर्वगृहीत का ग्रहण मानसप्रत्यक्ष द्वारा हो, इसके लिए आवश्यक है, कि वह वस्तु दो क्षण तक कम से कम रहे। किन्तु

क्षणक्षयी होने से वस्तु दूसरे क्षण में नहीं रहती। यदि पदार्थों को अक्षणिक मानकर उपर्युक्त बात कही जाय, तब तो, इन्द्रियविज्ञान द्वारा पूर्वगृहीत होने के कारण, मानसप्रत्यक्ष केवल गृहीतग्राही होता हुआ स्मृति की ही तरह अप्रमाण हो जायेगा। अथवा, गृहीतग्राही होने पर भी यदि मानसप्रत्यक्ष को आप प्रमाण मानने का आग्रह करें, तब इस मानसप्रत्यक्ष का एक विशेषलक्षण निम्न प्रकार से दीजिए कि 'गृहीतग्राही होने पर भी मानसप्रत्यक्ष प्रमाण है', क्योंकि आप गृहीतग्राहिता को अप्रमाण का लक्षण मानते हैं।¹⁰⁴

आचार्यप्रज्ञाकर ऊपर उठायी गयी आशंकाओं को और विशद रूप देते हुए लिखते हैं कि 'मानसप्रत्यक्ष व्यर्थ है, क्योंकि यह, पूर्वगृहीत अर्थ का, यदि ग्रहण करता है, तो यह उसमें क्या करता है? उस अर्थ के स्वरूप का परिच्छेद तो इन्द्रियविज्ञान के द्वारा ही हो जाता है। इन्द्रियविज्ञान द्वारा किये गये स्वरूपपरिच्छेद का ही, मानसप्रत्यक्ष भी परिच्छेद करता है अतः इसका क्या उपयोग? यह तो पुनरुक्तिमात्र होने से व्यर्थ है। इसी प्रकार, यदि इन्द्रियविज्ञान द्वारा अपरिच्छिन्न अर्थ का परिच्छेद मानसप्रत्यक्ष करता है, तो, हमारा (मीमांसकादि का) कहना है कि जिस अर्थ का परिच्छेद ही नहीं हुआ है उसके परिच्छेद का क्या अर्थ? पुनश्च, जो नित्य है, वह तो नित्य रूप से परिच्छिन्न ही है तो, ऐसी स्थिति में मानसप्रत्यक्ष वहाँ पर क्या करेगा? यदि उत्तर दिया जाय कि इस समय उसका परिच्छेद अन्य के द्वारा किया जाता है, पहले अन्य के द्वारा किया गया था, तो, यह उत्तर समीचीन नहीं, क्योंकि, नित्य होने के कारण उसके द्वारा ही (अर्थात् पूर्व में जिसने परिच्छेद किया था उसी के द्वारा ही), उस समय भी उसका परिच्छेद हो सकता है, उसमें अन्य का सामर्थ्य नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि पूर्व में परिच्छेद करने वाले का इस समय अभाव रहता है, तो यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि यदि उस परिच्छेदक का अभाव हो गया, तो फिर, नित्यता का ग्रहण नहीं हो सकता। अन्य परिच्छेदक के द्वारा उसी अर्थ के ग्रहण की बात भी नहीं मानी जा सकती क्योंकि, अन्य को अन्य का अनुभव नहीं होता, देवदत्त को, यज्ञदत्त को होने वाले अनुभव, नहीं होते। जो अन्य है वह, केवल अपने काल में ही अनुभव करता हुआ, नित्यता का अनुभव कैसे कर सकता है? इस कारण उसी ही परिच्छेदक के द्वारा अनुभव मानना चाहिए; उसी का (= इन्द्रिय द्वारा पूर्वगृहीत का) अन्य ग्राहक मानना (= मानसप्रत्यक्ष को ग्राहक मानना) व्यर्थ है, क्योंकि तद्रूप के ही द्वारा किसी की प्रतिपत्ति होती है।¹⁰⁵

पुनश्च, 'यदि तदाकार का निवेश नित्य पदार्थ में माना जायेगा, तो प्रवर्तमान सारे ही विज्ञान समानकालिक हो जायेंगे; अर्थात् उसका सकृद्भाव होगा, क्रमभाव नहीं,

और तदाकार निवेश को यदि भिन्नकाल में माना जाय, तो, हमेशा एकरूप में रहने वाली वस्तु की विषयता का खण्डन हो जायेगा, क्योंकि, उस स्थिति में आकारभेद होगा। यदि कहा जाय कि बाद के काल में अन्य कारणसामग्री के चलते उसकी उत्पत्ति होती है, तब तो, उस काल में भी उसे तत्कालाभिनिवेश के द्वारा ही होना चाहिए, अन्यथा, उसका ग्रहण नहीं हो सकेगा। अन्य इन्द्रियविज्ञान के कारण मानसप्रत्यक्ष अनुभवाकार रूप में प्राप्त होता है, ऐसा नहीं है।¹⁰⁶

दूसरा दोष अन्धबधिरादि के अभाव का है। आशय यह है कि यदि मानसप्रत्यक्ष इन्द्रिय विज्ञान से अन्य विषय में प्रवर्तित होता है और यदि मनोविज्ञान इन्द्रिय पर अवलम्बित नहीं है, तो, जिन्हें इन्द्रिय नहीं है, उन्हें भी उसका मानसप्रत्यक्ष होने लगेगा, अर्थात्, यदि मानसप्रत्यक्ष का विषय इन्द्रियप्रत्यक्ष से पूर्णतयाभिन्न है, तो या तो वह इन्द्रियसापेक्ष है अथवा इन्द्रिय पर अवलम्बित नहीं है। यदि वह इन्द्रियसव्यपेक्ष है, तो इन्द्रिय विज्ञान ही है, फलतः मानसप्रत्यक्ष व्यर्थ है; और यदि वह इन्द्रिय पर अवलम्बित नहीं है, तो अंधे और गूँगे भी रंग एवं शब्द के प्रत्यक्ष में समर्थ होंगे, क्योंकि, उनका मानस, उनकी इन्द्रियों की तरह, दोषयुक्त नहीं है। इस प्रकार, 'यदि मानसप्रत्यक्ष इन्द्रियविज्ञान द्वारा अदृष्ट विषय को ग्रहण करता है, तो, अन्धादि को भी अर्थदर्शन होने की बात माननी पड़ेगी। यदि अर्थ का मानसप्रत्यक्ष भी होता है, तब तो, सभी अर्थों के ग्रहण का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। इतना ही नहीं, जो अन्य का विषय है— जैसे चक्षु के विषय रूपादि से अन्य विषय गंधादि— उनके भी ग्रहण होने का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। ऐसी स्थिति में अन्ध—बधिरादि का अभाव हो जायेगा।'¹⁰⁷

इन्हीं आक्षेपों से बौद्ध मानसप्रत्यक्ष को मुक्त करते हुए आचार्य धर्मकीर्ति ने इसका नया लक्षण किया और इसकी व्याख्या का विस्तार बाद के टीकाकारों द्वारा किया गया। इसी पर हम विचार कर रहे हैं—

धर्मकीर्ति का लक्षण इस प्रकार है— 'स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणैन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तन्मनोविज्ञानम्।'¹⁰⁸ 'स्व (अपने) विषय के अनन्तर विषय के सहकारी इन्द्रियज्ञान के समनन्तर प्रत्यय द्वारा उत्पन्न मनोविज्ञान मानसप्रत्यक्ष है', अर्थात् जिस इन्द्रियज्ञान का उसके अपने विषय का अनन्तरवर्ती विषय सहकारी है, और जो स्वयं समनन्तरप्रत्यय है उस इन्द्रियज्ञान से जनित ज्ञान को मनोविज्ञान कहते हैं। धर्मकीर्ति के इस लक्षण की व्याख्या, विनीतदेव, प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर, मनोरथनन्दि, दुर्वकमिश्र तथा मोक्षाकर गुप्त आदि ने की है, जिनके ग्रन्थ हमें सुलभ हैं। इन लोगों

के ग्रन्थों में कुछ अन्य लोगों के मतों का भी उल्लेख है, परन्तु उनके ग्रन्थ हमें संस्कृत में सुलभ नहीं है। धर्मकीर्ति के लक्षण की व्याख्या पर ध्यान दें तो दो प्रमुख आचार्य दिखलायी पड़ते हैं— (1) प्रज्ञाकर और (2) धर्मोत्तर। अतः, हम क्रमशः इन्हीं के मतों की व्याख्या करेंगे तथा अन्य आचार्यों के केवल भिन्न मतों का ही इस प्रसंग में उल्लेख करेंगे।

आचार्य प्रज्ञाकर एक पूर्वपक्ष उठाकर मानसप्रत्यक्ष को स्पष्ट करते हैं। पूर्वपक्ष इस प्रकार है— यदि मानसप्रत्यक्ष इन्द्रियज्ञान के समानकाल में होने वाला ज्ञान है, तब तो, इन्द्रियविज्ञान के द्वारा ही उसका ग्रहण हो जायेगा, अतः मानसप्रत्यक्ष व्यर्थ है, और यदि इन्द्रियज्ञान के विरत हो जाने पर मानसप्रत्यक्ष बाद में उसको ग्रहण करता है, तब तो, जब इन्द्रियविज्ञान ही नहीं रहा तो मानसज्ञान किसका होगा? अतएव, जो लक्षण धर्मकीर्ति ने दिया वह किसका लक्षण है?¹⁰⁹ आचार्य प्रज्ञाकर उत्तर देते हैं— 'इदम्' रूप में जो ज्ञान अभ्यासात् (पुनः) सामने स्थित रहता है, चूँकि उसका साक्षात्कार किया जाता है, अतएव वह मानसप्रत्यक्ष है।¹¹⁰ आचार्य प्रज्ञाकर पुनः स्पष्ट करते हैं— 'इदम्' रूप में पुरोवर्ती ज्ञान में साक्षात्कार करने के रूप में प्रवर्तमान यह ज्ञान मानसप्रत्यक्ष कहलाता है। यदि कहा जाय कि चक्षुर्व्यापार से उपजायमान ज्ञान चाक्षुषज्ञान ही होगा, उसे मानस नहीं कहना चाहिए, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि, रूप के प्रतिभास मात्र में चक्षु का उपयोग है, पहले के अभ्यास के अभिनिवेश में चक्षु का उपयोग नहीं है। कारण यह है कि 'इदम्' रूप ज्ञान में चक्षुर्व्यापार का अभाव रहता है। पूर्वाभ्यास (= पहले का अभ्यास) जिसका लक्षण है ऐसे ज्ञान की उत्पत्ति मन से होती है, अतएव, इसे मानसप्रत्यक्ष कहते हैं।¹¹¹

आचार्य प्रज्ञाकर इन्द्रियज्ञान और मानसप्रत्यक्ष में भेद प्रदर्शित कर मानसप्रत्यक्ष को एक अलग प्रकार मानने की बात का समर्थन करते हैं। वे कहते हैं कि 'मानसप्रत्यक्ष में निश्चय या अनुभवाकारता रूप एक विशेष बात रहती है 'इदम्' के रूप में, जो कि इन्द्रियविज्ञान में नहीं होती। मानसप्रत्यक्ष 'वह ऐसा ही है' (इदमित्येव) ऐसा ज्ञान करके प्रवर्तित होता है, अतः प्रवर्तक होने से वह प्रमाण है। इससे, इन्द्रियज्ञान को प्रवर्तक नहीं होने वाला नहीं समझना चाहिए, क्योंकि अत्यन्ताभ्यास (= अत्यन्त सन्निकटता) के कारण अन्यविकल्पन भी उसमें गत हो जाते हैं, अतः वह प्रमाण ही है। प्रज्ञाकर का कहना है, कि इसी कारण, उपर्युक्त स्वरूप वाला मन पूर्वगृहीत को नहीं जानता, अपितु, उसके उत्तरकाल में होने वाले को जानता है। अतः, मानसप्रत्यक्ष गृहीतग्राही नहीं है, क्योंकि जो सन्निहित है उसमें पूर्वग्रहण की वृत्ति नहीं है।¹¹² इससे फलित हुआ कि (1) विषयगत आकार और (2) मन में आकार, ये आकार—द्वय समानकाल में प्राप्त

होते हैं।¹²

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि यदि आकारद्वय ही 'इदम्' है, तब एकत्व का अध्यवसाय कैसे होता है? जैसे तिमिर रोगग्रस्त दो व्यक्तियों को चन्द्रद्वय का ज्ञान उनके लिए दोषरहित है, वैसे इस प्रसंग में भी है और वह दोषरहित है, ऐसा उत्तर देकर आचार्य प्रज्ञाकर इससे निकलने वाले इस फलितार्थ से सहमत होते हैं कि अभ्यास से उपजायमान सुखादि भी पुरोवर्ती आकार को ग्रहण करने वाला होने से मानसप्रत्यक्ष रूप हो जायेंगे और फलतः 'सुख ऐन्द्रिय है' यह मान्यता लुप्त या समाप्त हो जायेगी।¹⁴ आचार्य प्रज्ञाकर पुनः धर्मकीर्ति की इस मान्यता में कि 'ऐन्द्रिय ही सुखदुःखादि की उत्पत्ति होती है' तथा आचार्य दिग्नाग के इस कथन में कि 'रागद्वेष, मोह, सुखदुःखादि में जो स्वसंवेदन होता है वह इन्द्रियनिरपेक्ष होने के कारण, मानसप्रत्यक्ष है' विरोध प्रदर्शित कर समाधान भी अपनी ओर से प्रस्तुत करते हैं,¹⁵ जिसकी बात हम ऊपर कर चुके हैं। पुनश्च, ऐसी स्थिति में मानसप्रत्यक्ष अन्यथाग्राही और इन्द्रियप्रत्यक्ष अन्यथाग्राही होगा, फलतः अनेक आकार का प्रश्न उपस्थित होगा। इस पर प्रज्ञाकर का उत्तर है कि वह कोई दोष नहीं है, क्योंकि ऐसी बात तो इन्द्रियप्रत्यक्ष में भी होती है। इन्द्रियविज्ञान भी यथाभ्यास नाना आकार में प्रवर्तमान होता है, तो क्या इससे उसकी अप्रमाणिकता की बात कही जाती है? उपर्युक्त कथन से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि मानसता में इन्द्रिय की अपेक्षा एक अन्य व्यापार की— 'यह इस प्रकार का है'— ऐसे व्यापार की प्रतीति होती है।¹⁶

एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य की ओर, आचार्य प्रज्ञाकर पूर्वपक्ष का उत्तर देने के प्रसंग में संकेत करते हैं। पूर्वपक्ष है— यदि मानसप्रत्यक्ष में 'यह इस प्रकार का है' ऐसे व्यापार की प्रतीति होती है, तो फिर 'यह मानस प्रत्यय वह है' इस प्रकार के परोक्षज्ञान में भी उसे प्रवर्तित होना चाहिए, और यदि नहीं प्रवर्तित होता है तो कैसे? प्रज्ञाकर का कहना है कि परोक्ष जो होता है उसमें वर्तमान का साक्षात्कार करने की वृत्ति नहीं होती। प्रत्यक्ष वर्तमान का साक्षात्कारीज्ञान होता है, अतएव परोक्षज्ञान में वह प्रवर्तित नहीं होता है।¹⁷ इससे यह बात स्पष्ट होती है कि आचार्य प्रज्ञाकर के अनुसार 'यह इस प्रकार का है'— 'इदमेवम्' व्यापार, न तो इन्द्रिय का है और न तो परोक्ष ही। सविकल्पक निश्चय एवं इन्द्रियप्रतिभास दोनों से विलग एक 'इदमेवम्' रूप मानसस्थिति भी होती है, जो कि वर्तमानकालिक एवं निर्विकल्पक होती है, ऐसा उनका मतव्य लगता है। आचार्य प्रज्ञाकर यह मानते हैं कि 'इदमेवम्' निश्चय परोक्षज्ञान में भी होता है, अतएव यह आशंका हो सकती है कि अमुक 'इदमेवम्' व्यापार प्रत्यक्ष है और अमुक परोक्ष, इसका निश्चय कैसे हो? इसका उत्तर यह है कि जैसे इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहीं पर

भ्रान्त और कहीं पर अभ्रान्त होता है, वैसे ही मानसप्रत्यक्ष का 'इदमेवमरूप' व्यापार कभी साक्षात्करण आकार वाला और कभी 'यह मानसप्रत्यक्ष वह है' इस प्रकार के परोक्षज्ञान के असाक्षात्करण आकार वाला होता है।¹¹⁸

यहाँ आकर एक अन्य सवाल उठता है कि क्या मानसप्रत्यक्ष के असाक्षात्करण आकार वाला होने में कोई अन्य कारणसामग्री कारण बनती है, क्योंकि, इन्द्रियप्रत्यक्ष जब भ्रान्त होता है, तो वहाँ पर अन्य कारणसामग्री तिमिरादि के रूप में उसका कारण होती है। प्रज्ञाकर कहते हैं कि मानसप्रत्यक्ष में भी वही स्थिति है। इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि इन्द्रियविज्ञान के प्रथमक्षण या प्रबन्ध से जिस अर्थक्षण का उत्पाद होता है उसकी अपेक्षा करके ही इन्द्रियविज्ञान मानसप्रत्यक्ष को जन्म देता है। जो इस कारणसामग्री से उत्पन्न नहीं होता वह प्रत्यक्ष नहीं होता। अतएव, नियतग्राह्यतया अन्यविषय का ज्ञान नहीं होता।¹¹⁹ आशय यह है कि मेय नियत है कि वह किस मान से होगा। ऐसा नहीं है कि मान अपने नियत मेय से अन्य का ज्ञान कर ले। पुनश्च, इन्द्रियविज्ञान की ही तरह मानसप्रत्यक्ष भी अन्य से नहीं जन्मता। जिस प्रकार, हेतुफलभाव के नियत होने से इन्द्रियविज्ञान विषयान्तर शब्दादि से उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही हर एक मानसप्रत्यक्ष में भी हेतुफलभावनियतता होती है, अतः, विषयान्तर से नहीं अपितु, उसी से वह मानसप्रत्यक्ष उत्पन्न होता है, जिससे उसका हेतुफलभाव नियत है। इन्द्रियविज्ञान से ही मानसप्रत्यक्ष के उत्पन्न होने में यही तथ्य निहित है।¹²⁰

एक अन्य प्रश्न भी है विरोधी की ओर से। वह कहता है कि द्वितीयक्षण में भी इन्द्रियविज्ञान के द्वारा ही अर्थ का ग्रहण होता है, और हमें ऐसा दिखलायी भी पड़ता है। अतएव, द्वितीयक्षण में इन्द्रियविज्ञान को क्यों नहीं मानें। पुनश्च, द्वितीयक्षण में होने वाला यह ज्ञान सविकल्पक होगा। प्रज्ञाकर का उत्तर है कि द्वितीयक्षण में मानस के भी उल्लेख की संभावना है, आप इस संभावना का निरास नहीं कर सकते। चूँकि द्वितीयक्षण का ज्ञान पुरोवर्तीज्ञान का स्पष्ट आकारमात्र होता है, अतएव वह सविकल्पक नहीं होता, क्योंकि, निर्विकल्पक ज्ञान ही स्फुट या स्पष्ट आकारवाला होता है। सविकल्पक ज्ञान स्पष्ट आकारवाला नहीं होता, क्योंकि उस पर कल्पना का रंग चढ़ा हुआ रहता है।¹²¹

विरोध पक्ष की ओर से एक अन्य भी आपत्ति उठायी जाती है— स्वावलम्बनज्ञान का जो तुल्यकालिक अर्थ है उस, 'सहकारिसम्मतइन्द्रियज्ञान', से असमान क्रियाकालवाला अर्थ, क्योंकि, वह भिन्नकालिक है, अक्षचेतना का सहकारी कैसे हो सकता है? तात्पर्य यह है कि यदि इन्द्रियविज्ञान के समानकाल में ही मानसप्रत्यक्ष होता है, तो,

इन्द्रियविज्ञान मानसप्रत्यक्ष का समनन्तरप्रत्यय कैसे है? धर्मकीर्ति के मत को अभिव्यक्त करते हुए प्रज्ञाकर उत्तर देते हैं कि मनोविज्ञान का विषय इन्द्रियविज्ञान का समानकालिक नहीं होता, क्योंकि, इन्द्रियविज्ञान का विषय मनोविज्ञान के विषय के पूर्वक्षण में होता है। हेतु का विषय फल का समानकालिक नहीं होता, क्योंकि, यदि फल का समानकालिक हेतु को माना जाय, तो फल के पूर्व न रहने के कारण वह 'असत्' होगा और पूर्वक्षण में अर्थात् हेतुक्षण में उसका सामर्थ्य नहीं रहेगा। कार्यकाल में उसका सामर्थ्य मानना व्यर्थ है, क्योंकि कर्मकाल में तो कार्य विद्यमान ही रहता है। अतः इस समय उसकी क्या उपयोगिता? क्योंकि, वहाँ पर उसके व्यापार का अभाव रहता है। पुनश्च, ज्ञानों का विषय अकारण नहीं होता, क्योंकि ऐसा मानने पर अतिप्रसंग दोष होगा। अतएव, कारणात्मक विषय अपने आलम्बनबुद्धि के साथ नहीं होता। फलतः, यदि विषय का पूर्वभावित्व माना जाय, तो, उस काल में इन्द्रियज्ञान की सहकारिता युक्तियुक्त होगी। इस प्रकार इन्द्रियज्ञान मानसप्रत्यक्ष का समनन्तरप्रत्यय है।¹²²

धर्मकीर्ति पुनः एक पूर्वपक्ष उठाते हैं कि प्राग्भावित्व के कारण भिन्नकाल वाली वस्तु ग्राह्य कैसे होगी? और उत्तर देते हैं कि युक्तिज्ञ लोग ज्ञान में अपने अनुरूप आकार को अर्पण करने की क्षमता को ही ग्राह्यता मानते हैं। जिस प्रकार का ग्राह्यग्राहकभाव संदर्श और अयोगोलक में होता है वैसा ग्राह्यग्राहकभाव ज्ञान के दो पदार्थों में नहीं होता, अपितु जो आकार का अनुकरण करता है वह ज्ञान ग्राह्य का ग्राहक कहा जाता है।¹²³ प्रज्ञाकर पूर्वपक्ष को और स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि अनेक रूप से प्रतिभासमान होना ही ग्राह्यता है, तदाकार विज्ञान को उत्पन्न करना ग्राह्यता नहीं है और प्रतिभासन ज्ञान का समानकालिक होता है, तो, फिर हेतुता को ही ग्राह्यता कैसे कहा जाता है? प्रज्ञाकर विरोधी से प्रश्न करते हैं कि जिस प्रतिभासन की बात आप कर रहे हैं वह क्या है? क्या वह प्रतिभासन अर्थस्वभाव है अथवा अर्थस्वभाव से अन्य? और यदि यह नीलादि अर्थ की तरह अर्थस्वभाव वाला है, तब तो सभी काल में प्रतिभास का प्रसंग उपस्थित रहेगा। यदि इसपर कहा जाय कि ज्ञान का अभाव होने के कारण, प्रतिभासन नहीं है तो, हमारा कहना है कि ज्ञान के द्वारा भी, वही किया जाता है, और वह पूर्वक्षण की स्थिति में भी था, तो फिर, पूर्व में प्रतिभासन नहीं था, ऐसा विरोधी कैसे कह रहा है? यदि विरोधी कहे कि तब तो मानसप्रत्यक्ष के ज्ञान की व्यर्थता होगी, क्योंकि वह ज्ञान पहले भी था और उसी की स्थिति मानसप्रत्यक्ष में भी है, तो, हमारा उत्तर है कि ऐसा समझना आपका ही दोष है। यह ज्ञान के स्वरूप का, पहले प्रतिभासन होने का, दोष नहीं है। आप विरोधी तो 'वह है भी' और 'वह नहीं भी है' इस प्रकार की आत्म-विरोधी बात करते हैं।¹²⁴ यहाँ

यह स्पष्ट है कि प्रज्ञाकर के अनुसार ज्ञान का पूर्वप्रतिभासन ऐसा तथ्य नहीं है कि उससे मानसप्रत्यक्ष की व्यर्थता सिद्ध हो। पुनश्च, विरोधी यह कह सकता है कि ज्ञान होने पर अर्थ दिखलायी पड़ता है, अन्यप्रकार से नहीं। इस पर प्रज्ञाकर पूछते हैं कि प्रतिभासन के प्रति इस समय ज्ञान का क्या कारकत्व है? प्रतिभासन के प्रति ज्ञान का कारकत्व नहीं हो सकता, क्योंकि, ज्ञान प्रतिभासन का समानकालिक होता है, और कारकत्व को समानकालिक नहीं होना चाहिए। यह हम पहले प्रतिपादित कर ही चुके हैं कि ज्ञान होने के पहले सामर्थ्यवाला न होने से वह, अर्थात् हेतु, असत् है। ज्ञान अन्तर के साथ नहीं अपितु, समानकाल में दिखलायी पड़ता है, तो इस वस्तुस्थिति में हमारा क्या वश है। चूँकि ज्ञान के विषय में उपर्युक्त प्रकार की वस्तुस्थिति है, अतः उसमें हम कुछ नहीं कर सकते।¹²⁵

प्रज्ञाकर का कहना है कि उपर्युक्त विवेचना से यह फलित होता है कि चक्षु से उस ज्ञान की ही उत्पत्ति होती है, अर्थात् इन्द्रिय से इन्द्रियज्ञान की ही उत्पत्ति होती है। अतएव, ग्राह्यता या हेतुता अर्थस्वभाव नहीं है, क्योंकि, पूर्वक्षण में अर्थ के रहने पर वर्तमान में उसकी उत्पत्ति होती है। जिसके स्थित होने पर जो उत्पन्न होता है, और उसके स्थित रहने पर भी विनष्ट हो जाता है, उससे वह अन्य ही होता है, क्योंकि उनमें भेदलक्षण संभव है। जिस प्रकार मुख के होने पर ही मुख का प्रतिबिम्ब होता है, किन्तु मुख तथा मुख-प्रतिबिम्ब दोनों एक नहीं, अपितु भिन्न हैं, उसी प्रकार की बात हमारे प्रतिभास के भी विषय में मान ली जाय, तो क्या हर्ज है? प्रतिभासभेद की सिद्धि अर्थ या विषय के आधार पर नहीं की जाती। अतएव, सिद्ध हुआ कि ज्ञानाभास और अर्थाभास में वस्तुतः ऐक्य है। इस ऐक्य के सिद्ध होने से विरोध का यह आक्षेप निरस्त हो जाता है कि प्राग्भावित्व के कारण भिन्नकालवाली वस्तु ग्राह्य कैसे होगी?¹²⁶

यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि ज्ञानाभास और अर्थाभास में यदि वस्तुतः ऐक्य है, तब तो, जिस तरह चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियों के कारण 'इदानीं' प्रतिभास होता है, उसी तरह, योगक्षेम की समता के कारण नीलादि का भी प्रतिभास होगा। पुनश्च, जिस प्रकार, चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियों से अर्थ का प्राग्वर्तित्व ही संभव है, उसी प्रकार प्रतिभास का भी प्राग्वर्तित्व होना चाहिए। प्रज्ञाकर का कहना है कि यह हमें अभीष्ट नहीं है। जिस कारण से, जिस नीलादि को प्रतिभासतः भिन्न माना जाता है, उसी कारण से, उस नीलादि का, प्रतिभास से प्राक्सत्त्व भी आप मान लें। प्रज्ञाकर कहते हैं कि जिस प्रकार पिता के रूप को पुत्र ग्रहण करता है, अथवा, जैसे नील अर्थ के बाद उत्पन्न नीलप्रतिभास नील के रूप को ग्रहण करता है, उसी प्रकार इन्द्रियविज्ञान के अनन्तर उत्पन्न मनोविज्ञान इन्द्रियविज्ञान के रूप को ग्रहण करता है।¹²⁷

प्रज्ञाकर की मानसप्रत्यक्ष की उपर्युक्त विवेचना पर ध्यान दें तो कई बातें सामने आती हैं, और वे बिन्दु भी दृष्टिगोचर होते हैं, जहाँ वे मूलाचार्य दिग्नाग तथा धर्मकीर्ति की विज्ञानवादी धारणा को भी विकसित करते हैं। मानसप्रत्यक्ष की विवेचना में कुछ ऐसी बातें भी हैं, जो प्राप्य बौद्धन्याय के संस्कृत ग्रन्थों में यहाँ पर ही उपलब्ध होती हैं।

प्रथमतः, प्रज्ञाकर दिग्नाग के मानसप्रत्यक्ष के लक्षण के आलोक में ही धर्मकीर्ति के विचारों की व्याख्या करते हैं और प्रमाणसमुच्चय हमेशा उनके सामने आदर्श के रूप में उपस्थित रहता है। मानसप्रत्यक्ष में मन में आकार और विषयगत आकार रूप आकारद्वय को 'इदम्' रूप कहकर उनमें वस्तुतः ऐक्य मानना; इन्द्रियज्ञान की तरह मानसप्रत्यक्ष के भी अनेकाकार को संवृति के धरातल पर मानना, क्योंकि आकारद्वय में वे वस्तुतः ऐक्य मानते हैं, तथा मानसप्रत्यक्ष को अनुभवाकार रूप निर्विकल्पक ज्ञान मानना ऐसे तथ्य हैं, जो उनमें विज्ञानवादी ज्ञानमीमांसा को प्रमुखता दिये हुए हैं। यह तो सुज्ञात है कि विज्ञान के 'द्वैरूप्य' को दिग्नाग सिद्धकर ज्ञान की स्वसंवेदनता को सिद्ध करते ही हैं, बाह्यार्थ की सत्ता का भी अपलाप उससे हो जाता है। ज्ञान का यह द्वैरूप्य 'विज्ञानसाकारवाद' का भी मार्गप्रशस्त करता है, जिस पर मानसप्रत्यक्ष के प्रकरण में भी प्रज्ञाकर की दृष्टि लगी हुई है। ज्ञानश्रीमित्र प्रज्ञाकर को— 'साकारसिद्धिनयनाटकसूत्रधारः' की उपाधि प्रदान करते हैं, अतः, प्रज्ञाकर के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्यक्ष के इस प्रकार में भी वे ज्ञान की साकारता को प्रदर्शित करें, साथ ही इसे नानाद्वैतरूप दिखावें, जिसके वे समर्थक हैं।

द्वितीयतः, मानसप्रत्यक्ष को, 'इदम्' रूप में पुरोवर्तीज्ञान में साक्षात्कार करने के रूप में प्रवर्तमान ज्ञान मानना, पूर्वाभ्यास (= पहले का अभ्यास) जिसका लक्षण है ऐसे ज्ञान की उत्पत्ति मन से मानना, 'इदम्' रूप में इन्द्रिय व्यापार का अभाव मानना, इसमें निश्चय या अनुभवाकारता रूप विशेषता को मानना, अर्थात् 'मानसप्रत्यक्ष' वह ऐसा ही है ऐसा करके प्रवर्तित होता है (इदमित्येव कृत्वा प्रवर्तते) यह मानना, विषयगत आकार एवं मन में आकार को 'इदम्' रूप कहना, राग, द्वेष, मोह, सुखदुःखादि का मानसप्रत्यक्ष मानना; मानसप्रत्यक्ष को द्वितीयक्षण का ज्ञान मानना जो कि पुरोवर्तीज्ञान का स्पष्ट आकारमात्र होता है, अतएव सविकल्पक नहीं होता, आदि ऐसी बातें हैं जिसकी सूचना विस्तार से पहले-पहल हमें प्रज्ञाकर में ही मिलती हैं। वे इन्द्रियप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्ष में स्पष्ट भेद कर प्रमाण-असांकर्य की बौद्ध-धारणा को परिपुष्ट करते हैं।

तृतीयतः, आचार्य प्रज्ञाकर मानसप्रत्यक्ष को, 'सिद्धान्त प्रसिद्ध' तथा 'इसका कोई साधक प्रमाण नहीं है', आदिरूप से निरूपित नहीं करते, जैसा कि सौत्रान्तिक दृष्टि से व्याख्याकार धर्मोत्तर करते हैं। चतुर्थतः, धर्मकीर्ति एवं दिग्नाग के मतों में विरोध दिखलायी पड़ने पर वे, सौत्रान्तिक समाधान प्रस्तुत करने की अपेक्षा विज्ञानवादी समाधान प्रस्तुत करते हैं।

प्रज्ञाकर, मानस एवं स्वसंवेदन में भी भेद दिखलाते हैं। वे 'स्वसंवेदन प्रत्यक्ष' की विवेचना के प्रसंग में 'सुखादिग्रहणं तु स्पष्टसंवेदनार्थम्'¹²⁸ कहते हैं और इसी प्रकरण में आगे कहते हैं कि 'सुखादि (सुख, दुःख, रागादि) जब अर्थ रूप हों, तब उसमें 'इदम्' के रूप में जो ज्ञान वर्तता है, चूँकि वह स्वरूप का ग्रहण साक्षात् ढंग से करता है, अतः मानसप्रत्यक्ष कहलाता है।'¹²⁹ सुखादि का ग्रहण स्पष्ट संवेदन को प्रदर्शित करने के लिए किया गया है, का आशय यह है कि स्वसंवेदनप्रत्यक्ष के प्रकरण में सुखादि शब्द का प्रयोग यह दर्शाने के लिए किया गया है कि चित्त एवं चैत्यों में आत्मसंवेदन स्पष्ट या स्फुट होता है। इन दोनों कथनों पर विचार करें, तो यह ध्वनित होता है कि (1) सुखादि, स्वसंवेदन में, अर्थ-रूप नहीं होता तथा 'इदम्' के रूप में नहीं वर्तता, जबकि मानसप्रत्यक्ष में सुखादि अर्थरूप तथा 'इदम्' रूप ज्ञान के रूप में वर्तता है।

प्रज्ञाकर के लिए केवल इन्द्रिय ही स्पष्ट प्रतिभास का निमित्त नहीं है। मनस् भी स्पष्टप्रतिभास का निमित्त है। इसका आश्रय करके जो साक्षात्ज्ञान गृहीत होता है, वह मानसप्रत्यक्ष कहलाता है।¹³⁰ इस प्रकार प्रज्ञाकर के अनुसार हर एक इन्द्रियाश्रित ज्ञान के अनन्तर अव्यवहित द्वितीयक्षण, उपादेयक्षण को विषय बनाता हुआ, मानसप्रत्यक्ष का होता है। आन्तरवृत्तियाँ - राग, द्वेष एवं मोह, मानस की विषय होती हैं। मानसप्रत्यक्ष अनुभवाकार होता है- इदम् रूप होता है एवं निर्विकल्पक होता है।

न्यायबिन्दु को आधार बनाकर मानसप्रत्यक्ष की व्याख्या करने वालों में धर्मोत्तर सबसे प्रधान हैं और अपने पूर्ववर्ती टीकाकार विनीतदेव से कई स्थलों पर भिन्न मत रखते हैं। इस परंपरा में सबसे विस्तृत व्याख्या दुर्वेकमिश्र की है, जो सौत्रान्तिक दृष्टि से है। धर्मोत्तरादि ने मानसप्रत्यक्ष की जो व्याख्या की है उसमें उनकी मूल दृष्टि यह है कि दो अलग-अलग धारायें हैं- एक तरफ ज्ञान की और दूसरी तरफ विषय की। मानसप्रत्यक्ष को उत्पन्न करने में 'विषय' तथा 'इन्द्रियज्ञान' ये दोनों ही सहकारी होते हैं। परन्तु, जिस क्षण में इन्द्रियविज्ञान जन्मता है उस क्षण में इन्द्रियविज्ञान का जो सहकारी विषय है वह इन्द्रियज्ञान को उत्पन्न करने वाले विषय की तुलना में बाद के

क्षण में होता है— अर्थात् इन्द्रियज्ञान को उत्पन्न करने वाला विषय पूर्वक्षणिक जबकि इन्द्रियज्ञान के उत्पन्न होने वाले क्षण में सहकारी रूप में रहने वाला विषय उत्तरक्षणिक होता है। इस प्रकार सहकारी विषय, इन्द्रिय विज्ञान के विषय की उसी संतति में उत्तराधिकारी होता है। इस उत्तरक्षणवर्ती सहकारी विषय का समानकालिक इन्द्रियविज्ञान मानसप्रत्यक्ष का समनन्तरप्रत्यय बनता है। सहकारी से यहाँ एक कार्यकारी अथवा एकार्थक्रियाकारी अभिप्रेत है, क्योंकि विषय और ज्ञान दोनों के ही द्वारा एक ही मनोविज्ञान उत्पन्न किया जाता है, अतः, इनमें परस्पर सहकारित्व है। आशय यह है कि यदि मानसप्रत्यक्ष को उत्पन्न करने में उन्मुख इन्द्रियविज्ञान एकजातीयसंतति वाला होता, तो, अतिशय (= अतिरिक्त विशेषता) को धारण करने में इसका विषय सहकारी है, ऐसी कल्पना की जाती। किन्तु, यह वैसा है नहीं। यह तो सजातीय को उत्पन्न करने की शक्ति से रहित है। अतः इसका विषय उस तरह का सहकारी कैसे हो सकता है? ¹³¹

‘समनन्तरप्रत्यय’ ¹³² के द्वारा मानसप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष भी परस्परविलग हो जाते हैं, गृहीतग्राही न होने से मानसप्रत्यक्ष की अप्रामाण्यता का प्रसंग हट जाता है और अंधबधिरादि का अभाव हो जाने का दोष भी निरस्त होता है, ऐसा आचार्य धर्मोत्तर ने बताया है। दुर्वेक मिश्र ने इस पर विस्तार से चर्चा की है। योगिज्ञान का निरास मानसप्रत्यक्ष से किस प्रकार होता है इस पर धर्मोत्तर के आशय को समझाते हुए वे लिखते हैं कि चूँकि समनन्तरप्रत्ययरूप इन्द्रियज्ञान से जो जनित है उसे मानस कहा जाता है, इस कारण ‘समनन्तरप्रत्यय’ शब्द को लक्षण में प्रयुक्त करने के द्वारा, एक संतति में पड़ने वालों में (= एक ही संतति में मनोविज्ञान एवं इन्द्रियज्ञान में) जन्यजनकभाव होने पर मनोविज्ञान प्रत्यक्ष कहा जाता है। चूँकि, वह इन्द्रिय से असाक्षात् रूप से उत्पन्न होता है और केवल मन पर आश्रित होता है, अतः, वह मानसप्रत्यक्ष ही कहा गया है, योगिज्ञान नहीं कहा जा सकता। पुनश्च, चूँकि एकविज्ञानसंतानवर्ती में ही उपादान और उपादेयभूत (इन्द्रिय ज्ञान और मनोविज्ञान) का ग्रहण होता है, भिन्नसंतानवर्ती में उपादान और उपादेयभाव का ग्रहण नहीं होता, अतएव, भिन्नसंतानवर्ती होने से योगिज्ञान मानसप्रत्यक्ष के लक्षण का अविषय हो जाता है। यदि लक्षण में ‘समनन्तरप्रत्यय’ नहीं रहे, तो, योगिज्ञान भी इस लक्षण की सीमा में आ जाता, क्योंकि योगिज्ञान भी आलम्बनभूत इन्द्रियज्ञान से उत्पन्न होता है। ¹³³

इस उत्तर पर भी अनेक आशंकाएँ उठी थीं। दुर्वेक मिश्र उन सभी का उल्लेख करते हैं और उनका उत्तर भी देते हैं। पूर्वपक्ष इस प्रकार है— मानसप्रत्यक्ष में योगिज्ञान के समावेश को रोकना मात्र यदि समनन्तरप्रत्यय के ग्रहण का निमित्त हो, तब तो,

लक्षण में समनन्तरप्रत्यय को ग्रहण किये बिना, 'स्वविषयानन्तरविषयक्षणसहकारिण' के द्वारा ही वह कार्य हो जायेगा। यह उत्तर दिया जा सकता है कि जब इन्द्रियज्ञान योगिज्ञान को उत्पन्न करता है, तो उस समय वह अपने उपादेय ज्ञान को भी पैदा करता ही है। अतः, अपनी संतति में पड़ने वाले उत्पन्न क्षण की अपेक्षा से वह 'इन्द्रियज्ञान के विषय का अनन्तरविषयक्षण इन्द्रियज्ञान का सहकारी होता है।' फलतः, इन्द्रियज्ञान से जनित जो है उसका मानसत्वलक्षण इतने से ही स्पष्ट है। इस उत्तर में केवल शब्दार्थ के व्यवस्थापन का कौशल दिखलाया गया है। सहकारी या सहकारित्व की बात उसी की अपेक्षा से होती है जो उत्पन्नतया स्वभाव हो अथवा उत्पन्न होने के रूप से स्वभाव हो। जिस किसी की अपेक्षा से सहकारी होने की बात नहीं की जा सकती। इन्द्रियज्ञान योगिज्ञान का उस प्रकार का सहकारी नहीं है। पुनश्च, जैसे इन्द्रियज्ञान अपने उपादेयज्ञानापेक्ष है तथा स्वविषयानन्तर विषय का सहकारी है, वैसे ही उसकी ही अपेक्षा करके समनन्तरप्रत्यय भी होता है। ऐसी स्थिति में उस प्रकार के समनन्तर प्रत्यय से उत्पद्यमान योगिज्ञान का तथात्वेन निरास कैसे हुआ? यदि कहा जाय कि उसका समनन्तरप्रत्यय तदसापेक्ष नहीं है, तो फिर इसका तत्सहकारित्व क्या तदपेक्ष है? तब तो सहकारित्व को भी तदपेक्ष नहीं होना चाहिए। यदि इस पर कहा जाय कि समनन्तरप्रत्यय प्रकृतजन्यापेक्ष ग्राह्य है। वह वास्तविक रूप में उपादेय नहीं है, क्योंकि फल का अभाव होने से उसकी अनुवाद्यता अनुपपन्न है और ऐसा नहीं माना जाय, तो सभी वास्तविक रूपों की अनुवाद्यता का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा, तो भी अर्थात् स्वविषयानन्तरविषयक्षणसहकारी का लक्षण में ग्रहण करने पर भी, उपर्युक्त दोष बना ही रहेगा। यहाँ कोई राज्यशासन नहीं है कि प्रकृतजन्यापेक्ष समनन्तरप्रत्ययजन्यता ही यहाँ ग्राह्य हो। अतएव, स्वविषयानन्तरविषयक्षणसहकारित्व की कल्पना नहीं करनी चाहिए।¹³⁴

उपर्युक्त सारे उहापोहों का उत्तर देते हुए दुर्वेक कहते हैं कि जब योगी इन्द्रियज्ञान और उसके साथ होने वाले अर्थक्षण को देखता हुआ योगिज्ञान के द्वारा इन दोनों को भी देखता है, तब उस इन्द्रियज्ञान से, स्वविषयानन्तरविषयक्षणसहकारी से (= इन्द्रिय के विषय के अनन्तर जो विषयक्षण होता है और इसका जो सहकारी होता है, उससे) वह योगिज्ञान जन्मता है, अतः, यदि लक्षण में 'समनन्तरप्रत्यय' का ग्रहण नहीं किया जाय, तो योगिज्ञान और मानसप्रत्यक्ष नियत सीमा वाले नहीं रह सकेंगे। मानसप्रत्यक्ष का योगिज्ञान में समावेश हो जायेगा।¹³⁵

गृहीतग्राही होने से अप्रामाणिक होने के दोष का निराकरण कैसे हो जाता है, इस पर धर्मकीर्ति के आशय की व्याख्या में आचार्य धर्मोत्तर का जो 'आकूल' है उसे

स्पष्ट करते हुए दुर्वेक मिश्र कहते हैं कि मानसप्रत्यक्ष का जो जनक विशेष है, चूँकि वह विषय है, अतएव जनकविशेष विषयक्षण के होने पर उसे अवश्य होना चाहिए। मानसप्रत्यक्ष का जनक इन्द्रियज्ञान का सहभूक्षण होता है और वह इन्द्रियज्ञान के विषय से, जो कि प्राक्तन अर्थक्षण होता है, अन्य विषय है। इस प्रकार, जब दोनों के दो भिन्न विषय हैं, तो गृहीतग्राही का दोष नहीं लग सकता। इससे 'लक्षण' में 'स्वविषयानन्तरविषयक्षणसहकारिण' के ग्रहण की उपयोगिता भी प्रदर्शित हो जाती है।¹³⁶

अन्ध, बधिर, कुष्ठ रोगी आदि के अभाव हो जाने के दोष का परिहार जैसे धर्मकीर्ति के लक्षण द्वारा हो जाता है, और धर्मोत्तर ने इसे जिरा प्रकार स्पष्ट किया है उस पर दुर्वेक की सारतथ्य को उद्घाटित करने वाली टीका है कि मानसप्रत्यक्ष इन्द्रियज्ञान द्वारा नियत होता है, क्योंकि वह समनन्तरप्रत्यक्ष रूप इन्द्रियज्ञान से जनित है। इससे इंगित होता है कि जिसको ही इन्द्रिय है, उसको ही उस इन्द्रिय के ज्ञान से (= उस इन्द्रिय पर आश्रित ज्ञान से) जो सहभूविषयक्षण का सहकारी होता है, उत्पन्न होने के कारण मनोविज्ञान को मानसप्रत्यक्ष कहा जाता है। मानसप्रत्यक्ष उसको ग्रहण करता है जो इन्द्रियज्ञान द्वारा अगृहीत है, किन्तु वह इन्द्रियज्ञान का सहभूविषयक्षण है। फलतः, जिस पुरुष को अर्थ को विषय बनाने वाला इन्द्रियज्ञान ही नहीं है, उस व्यक्ति में उस विषय का मानसप्रत्यक्ष कैसे उत्पन्न होगा अथवा उस विषयक्षण को कैसे ग्रहण करेगा? अतः गृहीतग्राही का दोष मानसप्रत्यक्ष पर नहीं लग सकता।¹³⁷ इसी प्रसंग में धर्मोत्तराचार्य ने यह भी स्पष्ट किया है कि 'इन्द्रियो जब अपना काम बन्द कर देती हैं, तभी मानसज्ञान प्रत्यक्ष माना जाता है। इन्द्रियो जब अपने व्यापार में लगी रहती हैं तब उस समय उत्पन्न होने वाला ज्ञान इन्द्रियो पर ही आश्रित होता है'।¹³⁸ इसको स्पष्ट करने के लिए दुर्वेकमिश्र कई पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं, और अपना समाधान भी प्रस्तुत करते हैं।¹³⁹ पहला पूर्वपक्ष यह है कि क्या मानसप्रत्यक्ष रूपविषय में, चक्षुर्विज्ञान के द्वारा ही, पैदा होता है, अथवा यह रसादि विषय में रसादिविज्ञान के द्वारा भी पैदा होता है? यदि रूप विषय में वह पैदा होता है, तो 'पंचबाह्यविषय द्विविध विज्ञानों से विज्ञेय है'¹⁴⁰, आगम का यह मत खण्डित हो जायेगा। यदि सभी रूपादि पंचबाह्यविषय चक्षुर्विज्ञान के द्वारा ही पैदा होते हैं, तो शब्दविषयत्व के द्वारा उसका होना संभव नहीं। तालुआदि से जन्मा शब्द रसादि की तरह प्रवाहवाही नहीं है जिससे कि स्वविषयानन्तर विषयक्षण के सहकारिण श्रोत्रेन्द्रिय ज्ञान के द्वारा, वह मानसप्रत्यक्ष जन्मे।¹⁴¹ इसका उत्तर देते हुए दुर्वेक कहते हैं कि रूपादि पाँच बाह्यविषय हैं, केवल रूप ही बाह्यविषय नहीं है। इसी कारण आचार्य धर्मकीर्ति ने लक्षण में 'इन्द्रियज्ञानेन'

कहा है 'चक्षुर्विज्ञानेन' नहीं। पुनश्च, 'भिक्षु दो के द्वारा रूप को ग्रहण करता है, चक्षुर्विज्ञान के द्वारा एवं तद्आकृष्ट मन के द्वारा,¹⁴² ऐसा जो भगवान के द्वारा कहा गया है वह रूप के ग्रहणप्रसंग से कहा गया है।¹⁴³ दुर्वेक पुनः कहते हैं कि यद्यपि शब्दविषयता की दृष्टि से मानसप्रत्यक्ष के संभव होने की बात नहीं कही गयी है, किन्तु, जब केवल बजाया जाता हुआ घण्टादि ध्वनि करता है, तब, उससे उठने वाला शब्द कितने ही समय तक शब्दसंतान के माध्यम से चलता रहता है। अतएव, इस प्रकार 'हम यह देखते हैं कि श्रोत्रज्ञान के द्वारा स्वविषयानन्तर विषयक्षण के सहकारी के माध्यम से वह विषय मानस में पैदा होता है। इस तरह से भी आचार्य वसुबन्धु का यह कथन चरितार्थ हुआ कि पंचबाह्यविषय द्विविध विज्ञानज्ञेय होते हैं। अभिधर्मकोश में 'रूपादि जात्यभिसन्धिबचनाद्' ऐसा जो इसके लिए आचार्य ने कहा है, वह यह बतलाने के लिए कि भगवान ने रूपादि जाति को लक्ष्य करके कहा है, रूपादिव्यक्ति के अभिप्राय से नहीं।¹⁴⁴

अन्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न की भी हम विस्तार से चर्चा दुर्वेक द्वारा पाते हैं। प्रश्न है कि 'बाह्यविषयों का मानसप्रत्यक्ष होता है' इस मान्यता के निरूपण को लेकर धर्मकीर्ति के बाद के आचार्यों में मत वैभिन्न्य है। धर्मोत्तर आदि मानसप्रत्यक्ष को 'सिद्धान्तप्रसिद्ध' कहकर स्वीकार करते हैं और इसके किसी 'प्रसाधकप्रमाण' के होने की बात अस्वीकार करते हैं। धर्मकीर्ति द्वारा इसका लक्षण किये जाने का वे यह स्पष्टीकरण देते हैं कि जैसा लक्षण आचार्य ने किया है उसमें कोई दोष नहीं है। इस प्रकार, मानसप्रत्यक्ष प्रमाणसिद्ध न होते हुए भी दोषदुष्ट नहीं है, ऐसा धर्मोत्तर का अभिमत है।¹⁴⁵ दुर्वेकमिश्र धर्मोत्तर के इस आशय को पुष्ट करने के लिए उन लोगों की आशंकाओं और तर्कों का उत्तर देते हैं जो धर्मोत्तर से पूछते हैं कि मानसप्रत्यक्ष के लिए प्रसाधक प्रमाण नहीं है, ऐसा आप कैसे कहते हैं? दुर्वेक का कहना है कि मानसप्रत्यक्ष प्रवाह का अनारम्भक होता है। ज्ञानस्वरूपतया इसमें स्वसंवेदनता होती है, फिर भी असंविदित जैसा रहता है; साथ ही साथ यह भी दिखलाना शक्य नहीं है कि चक्षुरादिविज्ञान की तरह मानसप्रत्यक्ष भी अनुभवगम्य है। उपर्युक्त कारण से मानसप्रत्यक्ष का कोई निश्चायक प्रमाण नहीं है।¹⁴⁶ दुर्वेक मिश्र मानसप्रत्यक्ष के लिए प्रस्तुत प्रसाधक प्रमाणों को 'अतार्किकीय' बताते हैं। उदाहरणार्थ, वे कहते हैं कि यह जो कहा गया कि मानसप्रत्यक्ष में भी इन्द्रियाश्रयभेद तथा युगपत्प्रवृत्ति के कारण संतानभेद है 'और 'संतानभेद होने पर अन्य की अनुभूति में अन्यविकल्प युक्त्य नहीं है' 'वह अवाच्य है, उसे नहीं कहना चाहिए।' यदि इन्द्रियाश्रयभेद और युगपत्प्रवृत्ति के कारण संतानभेद होता है और उस भेद में कार्यकारणभाव नहीं है, तब तो, चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न नहीं होना

चाहिए।¹⁴⁷ और यदि वह उत्पन्न हो, तो किससे उत्पन्न होगा? मनोज्ञान से अथवा प्राचीन इन्द्रिय ज्ञान से? इन्द्रिय ज्ञान से वह उपजायमान नहीं है, क्योंकि पूर्व में इन्द्रियज्ञान का अभाव रहता है। जागरावस्थाभावी इन्द्रियज्ञान से भी वह उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि वह हमेशा निरुद्ध ही रहता है। जो चिरअतीत है, उसे कारण नहीं माना जाता।¹⁴⁸ इस पर पूर्वपक्ष की ओर से कहा जा सकता है कि उपर्युक्त स्थिति में तो, भिन्नसंतान के ही द्वारा जो विकल्पित हैं उनसे विकल्प का उदय है ही, हाँ निर्विकल्प से विकल्पोदय नहीं होता। दुर्वक इस पर प्रश्नात्मक टिप्पणी करते हैं कि संतानभेद होने पर भी जन्यजनकभाव की स्थिति में निर्विकल्प से भी विकल्प के उदय का निषेध करने वाला कौन है, कि निर्विकल्प से उसका उदय नहीं हो सकता। पुनश्च, इन्द्रियाश्रयभेद और युगपत्प्रवृत्ति के कारण संतानभेद होने की बात मानना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर परस्पर परोक्षतादि का प्रसंग उपस्थित होगा। अतएव, सदृश कारण से ही प्रभूत अथवा अल्प का जन्म होता है, फलतः, प्रभूत के उदयमात्र से संतानभेद को मान लेना उचित नहीं है। उदाहरणार्थ— अग्निकणों की प्रभा को विस्तृत करने वाली दीपशिखा पैदा होती हुई संतानभेद को अपने में वहन नहीं करती। पुनश्च, योगिज्ञान का तथात्व मानते हुए भी जो लोग निर्विकल्पक मनोविज्ञान को नहीं मानते, उसका कारण यह है कि जिस प्रकार की सामग्री से उसका उद्भव होता है, उस सामग्री का मनोविज्ञान में अभाव रहता है तथा मनोविज्ञान का जो निर्विकल्पक आकार है उस आकार की संवेदना नहीं होती।¹⁴⁹

दूसरे वर्ग में ज्ञानगर्भ तथा अन्य कुछ लोग हैं जो मानसप्रत्यक्ष को प्रसाधित करने के लिए तर्क देते हैं। उनका पक्ष है कि यदि मानसप्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष के प्रकार के रूप में निरूपण न किया जाय तो इन्द्रिय के जो रूपादि विषय हैं— अर्थात् आधुनिक पाश्चात्य शब्दावलि में जिसे इन्द्रिय—प्रदत्त कहा जाता है— वे कभी भी मानसिकप्रत्यक्ष से सम्बद्ध नहीं हो सकें होते, और परिणामतः, विषयों एवं वस्तुओं के सम्बन्ध में, शब्दाभिव्यक्ति पर आधारित जो व्यवहार होते हैं, वे भी संभव नहीं हो पाते।¹⁵⁰ इस वर्ग के लोग यह मानते हैं कि मानसप्रत्यक्ष, इन्द्रिय प्रत्यक्ष और कल्पना (= मानसिक संयोजन या विकल्पात्मक संरचना) के बीच की प्रक्रिया है। यदि मानसप्रत्यक्ष को नहीं माना जायगा तो ज्ञान के दो बिल्कुल विलग स्रोत (= इन्द्रियप्रत्यक्ष तथा मानसिक संयोजना) के ज्ञानों की उपपत्ति प्रमाणशास्त्र में नहीं बैठ सकेगी। इन्द्रिय—प्रदत्त कभी भी विकल्पात्मक संयोजना से सम्बद्ध नहीं हो सकेंगे और परिणामतः रूपादि विषयों में व्यवहार के अभाव का प्रसंग आ जायेगा।¹⁵¹

इसी वर्ग के एक अन्य टीकाकार का उल्लेख दुर्वक ने ज्ञानगर्भ के मत के बाद

किया है और उसका खण्डन भी किया है, जिसे हम पहले ही देख चुके हैं। ज्ञानगर्भ के मत के विरोधी यह कह सकते हैं कि 'चक्षुरादि विज्ञान के द्वारा अनुभूत होने के कारण विकल्प का अभाव नहीं है।' ऐसा मानने में तो देवदत्त के द्वारा भी देखे जाने पर यज्ञदत्त के भी विकल्प का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। यदि इसका उत्तर दिया जाय कि संतानभेद के कारण उपर्युक्त प्रसंग उपस्थित नहीं होगा, तो, मनोविज्ञान के लिए प्रसाधक प्रमाण हैं, ऐसा मानने वालों का कहना है कि हम भी इन्द्रियाश्रयभेद और युगपत्प्रवृत्ति के कारण संतानभेद को मानते हैं। ऐसा न्याय (= तार्किक नियम) नहीं है कि जब संतान ऐक्य होता है तब युगपत्प्रवृत्ति होती है। अतः रूपादि विकल्पों का अभाव न होवे, यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि मनोविज्ञान अवश्य ही निर्विकल्पक है। इससे निश्चय के स्मरण के अभाव का प्रसंग उपस्थित होगा। यदि इस पर यह कहा जाय— 'निर्विकल्पक मनोविज्ञान तो है, किन्तु वह इन्द्रियज्ञान का पृष्ठभावी नहीं है'— तो हमारा कहना है कि निर्विकल्पक मनोविज्ञान यदि संभव है, तो उसके इन्द्रियविज्ञानपृष्ठभावी होने में क्या विरोध है? मानसप्रत्यक्ष में कोई बाधक प्रमाण भी दिखलायी नहीं पड़ता और इसके अस्तित्व के लिए प्रमाण दिया ही है ज्ञानगर्भ ने, अतः इन्द्रियज्ञानपृष्ठभावी निर्विकल्पक मनोविज्ञान है ही।¹⁵²

'अन्येत्तु' कहकर प्रज्ञाकर भी एक मत को उद्धृत करते हैं, जो इसी वर्ग का समर्थन करता है। यह मत इस प्रकार है— 'यदि मानस के द्वारा उपलब्धन (= साक्षात् निर्विकल्पक ग्रहण) होना अस्वीकार कर दिया जाय, तो फिर मानस द्वारा स्मरण होने की बात भी नहीं होनी चाहिए। जो चीज अपने द्वारा, यहाँ विदित है, वह किसी अन्य के द्वारा कदाचित् स्मृत होती है, ऐसा नहीं होता।'¹⁵³ यदि यह कहा जाय कि भिन्न होने के कारण इन्द्रियविज्ञान द्वारा गृहीत ज्ञान का स्मरण मन के द्वारा नहीं होता, तब तो, सविकल्पकज्ञान के द्वारा भी गृहीत ज्ञान का स्मरण नहीं होना चाहिए, क्योंकि, उन दोनों में भी भेद है। यदि कहा जाय कि इन दोनों में मानसत्वाद् ऐक्य है, तो हमारा यह पक्ष है कि इन्द्रियविज्ञान और स्मरणविज्ञान में भी ज्ञानत्वाद् ऐक्य होगा। अतः मानसप्रत्यक्ष है।¹⁵⁴

इस प्रसंग में एक तीसरा भी वर्ग है जिसकी सूचना तत्त्वसंग्रह एवं पंजिका से मिलती है।¹⁵⁵ इन लोगों की मान्यता है कि मानसप्रत्यक्ष सभी वस्तुओं की तात्त्विक स्थिति पर समाधि के बारम्बार अभ्यास के द्वारा सर्वज्ञत्व प्राप्त मनुष्यों की बौद्धिक अनुभूति है। स्पष्ट है कि इस प्रकार का मानसप्रत्यक्ष योगिज्ञान के समनुरूप है।

किन्तु धर्मोत्तर मानसप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष में भेद करते हैं। उनका कहना

है कि मानसप्रत्यक्ष, पूर्ववर्ती इन्द्रियप्रत्यक्ष से नियत होता है, किन्तु योगिज्ञान अनौपाधिक होता है। पुनश्च, इन्द्रियप्रत्यक्ष मानसप्रत्यक्ष का समनन्तरप्रत्यय बनता है, किन्तु योगिज्ञान के सम्बन्ध में इन्द्रियज्ञान आलम्बनप्रत्यय होता है, क्योंकि योगी को उनके विषय में अन्तर्दृष्टि होती है, जिनके विषय में सामान्य जन को प्रत्यक्ष होता है।¹⁵⁸

इस प्रकार धर्मोत्तर और उनके अनुयायी यह मानते हैं कि मानसप्रत्यक्ष बौद्ध प्रमाणमीमांसा के लिए कोई तार्किक आवश्यकता नहीं है। वह 'सिद्धान्त-प्रसिद्ध' होने से मान्य है तथा इस मानसप्रत्यक्ष की धर्मकीर्ति के लक्षण के अनुसार व्याख्या करके मानने पर कोई दोष नहीं होगा। दूसरा वस्तुक्षण मानसप्रत्यक्ष का आलम्बन प्रत्यय होता है, किन्तु इस द्वितीय क्षण को प्रथम वस्तुक्षण से उत्पन्न इन्द्रियविज्ञान की सहकारिता की अपेक्षा होती है। फलतः, बिना इन्द्रियविज्ञान की सहकारिता के मानसप्रत्यक्ष बाह्य विषयों का स्वतन्त्र रूप से ग्रहण नहीं कर सकता। इन्द्रियप्रत्यक्ष के वस्तुक्षण का पश्चात्पूर्वी होने पर भी मानसप्रत्यक्ष का विषय अन्य होता है, अर्थात् इन्द्रियविज्ञान के वस्तुक्षण का समानजातीय द्वितीय उपादेयक्षण। इन्द्रियविज्ञान और मानसप्रत्यक्ष एक ही क्षण में नहीं रहते, दोनों एक साथ मनुष्यों को नहीं होते। इन्द्रिय विज्ञान प्रथम क्षण में रहने के बाद उस अव्यवहित द्वितीयक्षण में भी रहे जिसमें मानस अनुभूति भी उत्पन्न हो रही हो, भले ही इन्द्रियाँ अपने कार्य में रत रहें, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि उस स्थिति में फिर कोई विशुद्ध विज्ञान (= सहजक्रिया, ऐसा विज्ञान जो मानस अनुभूति से मुक्त हो) का अस्तित्व नहीं हो सकेगा।¹⁵⁷ अतः धर्मोत्तर एवं उनके अनुयायी विज्ञान के प्रथम एवं द्वितीय क्षण में प्रकार-भेद स्वीकार करते हैं। दुर्वेक एवं न्यायबिन्दु-टीकाटिप्पणीकार, ज्ञानगर्भ तथा उनके समर्थकों की, विस्तारपूर्वक आलोचना करते हैं।¹⁵⁸ टिप्पणीकार ऐसा भी मानते हैं कि दिग्नाग ने भी आगमसिद्ध मानसप्रत्यक्ष को दिखलाया है।¹⁵⁹ पुनश्च, इन्द्रियज्ञान मानसप्रत्यक्ष का समनन्तरप्रत्यय तो है, किन्तु मानसप्रत्यक्ष मन पर आश्रित है, इन्द्रिय पर नहीं।

शान्तभद्र धर्मोत्तर से इस प्रसंग में कुछ स्थलों पर भिन्न मत रखते हैं। शान्तभद्र¹⁶⁰ यह मानते हैं कि पहले चक्षुरूप में चक्षुर्विज्ञान होता है, फिर, सहभूक्षण के सहकारिण इन्द्रियज्ञान के द्वारा तृतीयक्षण में मानसप्रत्यक्ष पैदा होता है। धर्मोत्तर एवं दुर्वेक मानते हैं कि प्रथमक्षण में इन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न होता है और इन्द्रियव्यापार के समाप्त होने पर द्वितीयक्षण में मनोज्ञान पैदा होता है, क्योंकि इन्द्रियव्यापार यदि समाप्त न होगा, तो द्वितीयक्षण में भी इन्द्रियज्ञान ही होगा। इसके अतिरिक्त, यह पूछे जाने पर कि प्रत्यक्ष के एक प्रकार के रूप में मानसप्रत्यक्ष को मानने से बौद्धों को क्या

प्राप्त हुआ, शान्तभद्र उत्तर देते हैं कि मानसप्रत्यक्ष को मानने से 'बाह्य' अर्थ के मानसस्मरण की प्राप्ति होती है (= यह प्राप्त होता है कि बाह्य अर्थ का मानसस्मरण होता है), और इस मानसस्मरण को चक्षुरादि से जायमान मानना उचित नहीं है, क्योंकि दोनों भिन्न संतान वाले हैं (= चक्षुरादि का संतान और मानसस्मरण संतान भिन्न होता है)। यदि, ऐसा नहीं माना जाय (= यदि मानसस्मरण को चक्षुरादि से जायमान तथा अभिन्नसंतान वाला माना जाय) तो, देवदत्त की अनुभूति होने पर यज्ञदत्त का स्मरण होना चाहिए; किन्तु जब मानसप्रत्यक्ष उसका हम मानेंगे, तो उस मानसप्रत्यक्ष के चलते उसका स्मरण होगा, और देवदत्त के अनुभव से यज्ञदत्त का स्मरण होने का जो दोष लग रहा है वह नहीं होगा।¹⁶¹

प्रो० श्चेरबात्स्की द्वारा तिब्बती ग्रन्थ से प्रदत्त सामग्री का आकलन

अपने बौद्ध-न्याय, द्वितीय जिल्द, परिशिष्ट 3 में, 'न्यायबिन्दुटीकाटिप्पणी' तथा वाचस्पतिकृत-'न्यायकणिका' के मानसप्रत्यक्ष से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण स्थलों का अंग्रेजी में अनुवाद, महत्त्वपूर्ण पाद टिप्पणियों के साथ) करने के बाद तिब्बती लामा जम्-यन्-शङ्पा (*Jam-yan-Shadpa*) के मानसप्रत्यक्ष विषयक विवेचना का अनुवाद श्चेरबात्स्की महोदय ने किया है, जिन्होंने (= लामा महोदय ने), शाक्य पण्डित के हवाले से मानसप्रत्यक्ष विषयक तीन सिद्धान्तों का उल्लेख किया है— (1) प्रज्ञाकर गुप्त का अल्टरेशन थियोरी/थ्योरी (*Alternation theory*) (2) शंकरानन्द की 'साइमल्टेनिटी थियोरी; (3) सब्स्टीट्यूट थियोरी— धर्मोत्तर की। तिब्बती लामा के अनुसार, शाक्यपण्डित, प्रथम एवं तृतीय को एकमात्र समुचित एवं युक्त सिद्धान्त मानते हैं। तिब्बती लामा जम्-यन्-शङ्पा शाक्य पण्डित के मत का खण्डन करते हैं और तीनों सिद्धान्तों की परीक्षा कर धर्मोत्तर के पक्ष का समर्थन करते हैं।¹⁶² प्रज्ञाकर, ज्ञानगर्भ और धर्मोत्तर के मतों की हम विस्तार से विवेचना कर आये हैं। उसका स्मरण करें तो स्पष्ट होता है कि आचार्य प्रज्ञाकर 'आल्टरनेशन थियोरी' के समर्थक कथमपि नहीं हैं। जम्-यन्-शङ्पा महोदय भी इस बात का समर्थन करते हैं।¹⁶³ ज्ञानगर्भ के सिद्धान्त को श्चेरबात्स्की महोदय 'ऐडमिक्स्चर थियोरी' कहते हैं। अतः, यहाँ हम संक्षेप में शंकरानन्द की 'साइमल्टेनिटी थियोरी' को प्रस्तुत करेंगे और लामा महोदय की आलोचनाओं को भी प्रस्तुत करेंगे।

मानसप्रत्यक्ष का योगपत्यसिद्धान्त — इस सिद्धान्त के अनुसार पहले-पहल विशुद्ध संवेदना का (= एक क्षणस्थायी इन्द्रिय संवेदन का) उदय होता है। द्वितीय क्षण में द्विविध संवेदनाएँ रहती हैं— विशुद्धइन्द्रियसंवेदन तथा मनोविज्ञान। यह इन्द्रिय

संवेदन का द्वितीय क्षण होता है, जिसके साथ मानससंवेदित का प्रथम क्षण भी साथ-साथ वर्तता है। इस द्वितीय क्षण के, जिसमें इन्द्रियसंवेदन का द्वितीय क्षण और मानससंवेदित का प्रथमक्षण युगपत् रहते हैं, उपादान कारण के रूप में, उपर्युक्त द्वितीयक्षण का अव्यवहित पूर्ववर्ती विज्ञान क्षण रहता है तथा इन्द्रियवृत्ति इसमें निमित्तकारण बनती है। इन परिस्थितियों के अनुसार इन्द्रियसंवेदन तथा मानससंवेदित, इन दोनों संवेदनों की युगपत् संतति (दो संवेदनों की समानान्तर धारा बनाती हुई), विशुद्ध संवेदन के द्वितीयक्षण रूपी अपने स्रोत से प्रवाहित होकर प्रत्यक्ष-प्रक्रिया के अन्त तक चलती रहती है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया में तीन तथ्य अवश्य वर्तमान रहते हैं— विशुद्धसंवेदना, मानससंवेदित तथा स्वसंवेदन।¹⁶⁴ शंकरानन्द इस सिद्धान्त को युक्तियुक्त समझते हैं।

लामा जम्-यन्-शङ्पा उपर्युक्त सिद्धान्त की परीक्षाकर, अनेक दोषों से दूषित होने के कारण उसे त्याज्य ठहराते हैं। उनके अनुसार, प्रथमतः, शंकरानन्द को उपर्युक्त सिद्धान्त का प्रतिपादक अथवा समर्थक मानना गलत है, क्योंकि उनके ग्रन्थों का तिब्बती में जो अनुवाद हुआ है, उससे इसकी पुष्टि नहीं होती, न तो भारत के शास्त्रकार ही ऐसी बात की ओर संकेत करते हैं। यह उनकी मान्यता मात्र है। द्वितीयतः, जब मानने की बात है तो प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया में तीन की अपेक्षा सात (= पाँच इन्द्रियविज्ञप्तियों, मनसिकार और मानसप्रत्यक्ष अर्थात् अवधान के तथ्य या तत्त्व 'एलिमेन्ट ऑफ अटेन्शन') की स्थिति को मानना अधिक समीचीन होगा। तृतीयतः, पृथग्जन की विचार-संतति की दृष्टि से यह सोचना महान भूल होगी कि अपनी चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा नीलगुच्छ का संवेदन जब वह करता रहता है उसी समय उसे उसकी मानससंवेदित भी होती रहती है, क्योंकि यह मान्यता धर्मकीर्ति के ग्रन्थों और उनपर लिखी टीकाओं के विपरीत होगी, जहाँ मानसप्रत्यक्ष का विवेचन हुआ है। आचार्य धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्तिक, प्रत्यक्षपरि०, श्लो० 521 में स्पष्टतया उपर्युक्त मान्यता का खण्डन करते हुए कहते हैं— "यद्यपि विजातीय विज्ञान युगपत् उत्पन्न हो सकते हैं, किन्तु उनमें से एक प्रबल स्फुट आभावाला होगा और यह अन्य की शक्ति को कमजोर कर देगा तथा चेतना या चित के दहलीज पर किसी को फटकने की अनुमति नहीं देगा।" जब बुद्धि (= *consciousness*) एक अर्थ को ग्रहण करने में लगी हुई है, तो उस समय में अन्य के ग्रहण में वह असमर्थ है। पुनश्च, उपर्युक्त सिद्धान्त में, मानसप्रत्यक्ष के लक्षण का विरोध है, अर्थात् इस तथ्य का विरोध है कि— (1) मानसप्रत्यक्ष इन्द्रियविज्ञानोत्थापित होता है, उसके अनन्तर उत्पन्न होता है; (2) कि यह विषय के द्वितीयक्षण का ग्रहण करता है, जिसका कि ग्रहण अव्यवहित पूर्ववर्तीक्षण

में इन्द्रियविज्ञान द्वारा हो चुका रहता है और द्रक्षु व्यापार (= इन्द्रिय व्यापार) के उपरत हो जाने पर ही मानसप्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। अन्ततः, वे निष्कर्ष निकालते हैं कि यदि उपर्युक्त सिद्धान्त की रक्षा शाक्य पण्डित करना चाहते हैं, तो उन्हें यह मानना होगा कि प्रथमक्षण में दो ही बातें—विशुद्धसंवेदन एवं स्वसंवेदन—रहती हैं।¹⁶⁵

मानसप्रत्यक्ष पर लगाये गये आक्षेप — मानसप्रत्यक्ष पर मीमांसकों के आक्षेप को हम देख चुके हैं। मानसप्रत्यक्ष को लेकर जो स्वयूथकलह था, उस संदर्भ में धर्मोत्तर एवं दुर्वेक द्वारा ज्ञानगर्भादि की भी आलोचना से हम अवगत हो चुके हैं, और 'मानसप्रत्यक्ष सिद्धान्तप्रसिद्ध होने के कारण मान्य है तथा इसका व्यावहारिकदृष्ट्या कोई प्रसाधक प्रमाण नहीं है' इसके विरोध में ज्ञानगर्भादि के तर्कों को भी देख चुके हैं। अभी-अभी हमने 'योगपत्य सिद्धान्त' की परीक्षा की है। अब हम, न्याय तथा जैन नैयायिकों द्वारा, प्रज्ञाकर एवं धर्मोत्तर के मानसप्रत्यक्षविषयक धारणा का विशेषरूप से तथा बौद्ध मानसप्रत्यक्षविषयक धारणा का सामान्य रूप से, जिस प्रकार खण्डन किया गया है, उसकी, विवेचना करेंगे। इसके लिए, 'सिद्धिविनिश्चय-टीका', 'न्यायकणिका' एवं 'न्यायभूषण' को प्रतिनिधि मानकर उन्हीं पर विवेचना को केन्द्रित करेंगे।

सिद्धिविनिश्चयकार अकलंक तथा उनके टीकाकार अनन्तवीर्याचार्य मानसप्रत्यक्ष पर निम्नलिखित आक्षेप लगाते हैं— शान्तभद्र की विवेचना का खण्डन करते हुए अनन्तवीर्याचार्य कहते हैं— इन्द्रिय और मानसप्रत्यक्ष इन दोनों की संतान या तो अभिन्न होगी, या भिन्न। प्रथमस्थिति में मानसप्रत्यक्ष स्मृतिकार्य का उपादान नहीं होगा, क्योंकि जिस प्रकार अन्यसंतानवाले (= दूसरे पुरुष के) इन्द्रियज्ञान से मानस स्मरण नहीं होता, उसी प्रकार उससे अभिन्नसंतानवाले मानसप्रत्यक्ष से भी स्मरण नहीं होना चाहिए। गर्दभ से जो अश्व उत्पन्न नहीं होता वह गर्दभपुत्र से भी उत्पन्न नहीं होता। द्वितीय स्थिति में, इन्द्रियज्ञान मानसप्रत्यक्ष का समनन्तर नहीं हो सकेगा।¹⁶⁶

प्रज्ञाकर के मत का खण्डन करते हुए अनन्तवीर्य कहते हैं कि यदि मानसप्रत्यक्ष का उपादानभूत इन्द्रियज्ञान, नीलादिप्रतीति की तरह, निर्णयात्मक न हो, तो उससे ही (= इन्द्रियज्ञान से ही) सभी अर्थों की सिद्धि हो जायेगी, फलतः जब उसकी ही प्रतीति हो गयी, तो फिर इन्द्रियज्ञान मानसप्रत्यक्ष का समनन्तरप्रत्यय किसलिए बनेगा? और यदि उसे आप अनिर्णयात्मक मानें, तो फिर ऐसा इन्द्रियज्ञान निर्णयात्मक मानसप्रत्यक्ष का समनन्तरप्रत्यय कैसे बनेगा? क्योंकि उसकी उत्पत्ति अर्थ और अक्ष के योग के ही बिना होती है।¹⁶⁷ इसके अतिरिक्त, यदि अक्षज्ञान क्षणिक निरंशपरमाणुविषय वाला है, तो वहाँ अन्य प्रमाण की (= अतः, मानसप्रत्यक्ष की भी)

वृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जो निर्णीत है उसमें समारोप नहीं हो सकता। धर्मकीर्त्ति ने (प्र0वा0 स्वार्था0 1-50 में) स्वतः ऐसा कहा है— 'निश्चयारोपमनसोर्बाध्यबाधकभावतः'। यदि वह मध्यक्षण के पूर्वापरक्षणसापेक्ष आत्मभूत कार्यकारणता को निश्चित नहीं करता है, तो किसी का ग्रहण नहीं होगा और यदि ऐसा न माना जाय, तो गृहीत और अगृहीत का रूप एक हो जायेगा। यदि यह कहा जाय कि 'पूर्व और अपर का ग्रहण न होने पर भी मानसप्रत्यक्ष निश्चित करने का कार्य करता है, तो आपने जो यह कहा है कि दो में स्थित सम्बन्ध की संवित्ति एक के रूपसंवेदन से नहीं होती, दोनों का स्वरूप गृहीत होने पर सम्बन्ध की वेदना होती है' वह आकुल होकर कहा था क्या? पुनश्च, 'मध्यक्षण का दर्शन होने के द्वारा अनागतक्षण के दर्शन में सभी अतीत और अनागतक्षण का दर्शन हो जाता है, क्योंकि मध्यक्षण की तरह उसका भी वर्तमानत्व है' (प्र0वा0 भाष्य, पृ0 592 के आधार पर) ऐसा जो आपने कहा है उसका निराकरण हो गया।¹⁶⁸

"यदि यह कहा जाय कि कहीं पर कार्यकारणभाव ही अभीष्ट नहीं रहता, तो हमारा (जैनों का) कहना है कि ऐसा नहीं है, क्योंकि इन्द्रियज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रियों के द्वारा आपके मत में नहीं होती (इन्द्रियाँ तो आश्रय होती हैं), और तब इन्द्रियज्ञानजन्य मानसप्रत्यक्ष भी नहीं हो सकेगा।"¹⁶⁹ अतः आचार्य अनन्तवीर्य कहते हैं— "जिस प्रकार अग्नि से ही धूम की उत्पत्ति होती है, धूम से अग्नि उत्पन्न होती हुई किसी को प्रतीत नहीं होती, अतः पावक ही धूम का कारण है, धूम पावक का नहीं यह निश्चय हुआ, उसी प्रकार, यदि इन्द्रियज्ञान से ही मानसप्रत्यक्ष जन्मता है, मानस से इन्द्रियज्ञान नहीं जन्मता, तो उचित ही है। जिस कल्पना से इन्द्रियविज्ञान मनोविज्ञान का कारण है, उसी कल्पना से मानस भी किसी इन्द्रियविज्ञान का कारण हो जाय, क्योंकि कल्पना तो सर्वत्र निरंकुश होती है। अतएव, जिस प्रकार इन्द्रियज्ञानजनित मानसप्रत्यक्ष है, उसी प्रकार मानसप्रत्यक्षजनित अन्य प्रत्यक्ष भी होंगे।"¹⁷⁰

आचार्य वाचस्पति मिश्र मानसप्रत्यक्ष पर निम्नलिखित आक्षेप लगाते हैं— क्षणभंगवाद की असिद्धि एवं अपने सिद्धान्त की सिद्धि को स्थापित तथ्य मानते हुए वाचस्पति यह कहते हैं कि 'हम अपने नित्य के अनुभव से यह जानते हैं कि ज्ञेय पदार्थ क्षणिक नहीं, अपितु स्थायी एवं बने रहने वाले हैं। यह ज्ञेय अवयविन् रूप, तथा अभेदात्मक होता है। द्रव्य की इस अभेदात्मकता का परिज्ञान हमें प्रत्यभिज्ञा के द्वारा होता है, जब हम यह कहते हैं कि 'यह वही रजत है जिसको मैंने पहले देखा था।'¹⁷¹ मण्डनमिश्र भी कहते हैं कि इन्द्रियों के समक्ष अर्थ क्षणों में विश्रृंखल होने के रूप में उपरिष्ठत नहीं होता, अपितु अभेद रूप में प्रतीत होता है।¹⁷² पुनश्च, इन्द्रियाँ,

परस्परविलग, क्षणों को चूँकि प्रतिबिम्बित नहीं करतीं, अतएव विशुद्ध संवेदन के बाद अव्यवहित रूप में होने वाले क्षण को ग्रहण करना बुद्धि के लिए संभव नहीं। बुद्धि या मानस उसी ही अर्थ को ग्रहण करता है जिस रूप में इन्द्रिय ने उसका ग्रहण किया था। अतएव यह निर्मूल मान्यता है कि संवित्ति का प्रथम क्षण विशुद्धसंवेदन का होता है। तदनन्तर अव्यवहित द्वितीयक्षण में मनोविज्ञान जन्मता है। आचार्य वाचस्पति तात्पर्यटीका में भी कहते हैं कि "यदि यह माना जाय कि विशुद्धसंवेदन तथा विकल्प जैसी दो विजातीय वस्तुओं को युगनद्ध करने के लिए मानसप्रत्यक्ष रेशमी गौंठ का कार्य करता है, तो यह मानने में भी ननुनच्च नहीं करना चाहिए कि गर्दभ के माध्यम से तितली को भी हस्ति तुल्य किया जा सकता है।" 173

न्यायभूषणकार भासर्वज्ञ, मण्डनमिश्र एवं आचार्य वाचस्पति के समान यह कहते हैं कि हमारे द्वारा क्षणभंग के असिद्ध कर दिये जाने से, उस पर आधारित मानसप्रत्यक्ष का भी निरास हो गया— क्षणभगनिषेधाच्च मानसनिषिद्धम्, पृ० 102। किन्तु, अपने ग्रन्थ के 'प्रत्यक्षखण्ड' के अन्त में 'विकल्पकस्यापि प्रत्यक्षत्वस्थापनम्' के प्रकरण में वे बौद्ध प्रत्यक्ष की विस्तार से आलोचना करते हैं, और मानसप्रत्यक्ष में भी सारगर्भित विसंगतियों का उल्लेख करते हैं। इस प्रसंग में वे प्रज्ञाकर के विचारों की विशेष रूप से आलोचना करते हैं। वे कहते हैं कि 'आपके अनुसार 'पुरोवर्ती' अर्थ में जो ज्ञान 'इदम्' रूप वाला है वह इन्द्रियविषय के अनन्तर जो विषय होता है उसके सहकारिणचक्षुर्विज्ञान के द्वारा जनित होता है, उसे मानसप्रत्यक्ष कहा जाता है। किन्तु आपने सम्यक् समीक्षा के बाद ऐसी बात कही हो, ऐसा नहीं लगता। आप बौद्ध यह मानते हैं कि 'यह गाय है' यह ज्ञान, गकारादि वर्ण की विषयता के कारण, सविकल्पक है तो 'इदम्' रूप जो आप मानसप्रत्यक्ष के विषय में कह रहे हैं, वह मानसप्रत्यक्ष को सविकल्पक कर देगा, क्योंकि 'इदमिति' ज्ञान में भी इकारादिवर्णविषयता है, और शब्दसंसर्गप्रतिभासता की दृष्टि से दोनों में कोई भेद (= विशेष) नहीं है। प्रज्ञाकर अपने पक्ष की पुष्टि के लिए यह कह सकते हैं (= और प्रज्ञाकर ऐसा कहते भी हैं) कि 'इदमिति' ज्ञान और 'गौरिति' ज्ञान में भेद है। 'इदमिति' ज्ञान पुरोवर्ती अर्थ की स्पष्टाकारतावाला होता है, जबकि 'गौरिति' ज्ञान स्पष्टाकारता वाला नहीं होता, अतः प्रथम ज्ञान निर्विकल्पक है एवं द्वितीय सविकल्पक। भासर्वज्ञ की टिप्पणी है कि आपका यह कथन न्यायसंगत नहीं है। आप जिस पुरोवर्ती ग्राह्य अर्थ की स्पष्टाकारता की बात कर रहे हैं वह दिव्य अर्थ लगता है। लोक में ऐसे अर्थ की प्राप्ति कहीं नहीं होती। पुनश्च, यदि यह कहा जाय कि अर्थ के नहीं होने पर भी कहीं-कहीं 'गौरिति' ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है जिससे यह सिद्ध होता है कि 'गौरिति' ज्ञान अर्थापेक्ष (=

अर्थसापेक्ष = अर्थ की अपेक्षा करके उत्पन्न होने वाला) नहीं है, तो हमारा कहना है कि यह स्थिति तो 'इदमिति' ज्ञान में भी समानरूप से प्राप्त होती है। अर्थ के न रहने पर वह भ्रान्त तथा उससे अन्यत्र वह सम्यक् ही होता है, यह बात दोनों में ही समानरूप से पायी जाती है। इस पर भी, यदि अपने पक्ष की रक्षा हेतु प्रज्ञाकर की ओर से आग्रह किया जाय कि 'इदमिति' ज्ञान निर्विकल्पक होता है, और वह इकारादिशब्दसंसर्गप्रतिभासी (= इकार आदि शब्द के संसर्ग से जिसका प्रतिभास होता है, वैसा) नहीं होता तब, तो यह स्वतः निषिद्ध हो गया। भला प्रज्ञाकर 'मानसप्रत्यक्ष' को 'इदमिति' ज्ञान कहते हुए भी उसे इकारादिशब्दसंसर्गप्रतिभासी कैसे नहीं मानते? अतः भासर्वज्ञ के अनुसार या तो मानसप्रत्यक्ष को 'इदमिति' ज्ञान कहना छोड़ दें प्रज्ञाकर, (और ऐसा वे करेंगे नहीं, क्योंकि उनके अनुसार यही तो मानसप्रत्यक्ष का लक्षण है और इसी वैलक्षण्य के माध्यम से मानसप्रत्यक्ष को इन्द्रियप्रत्यक्षादि से अलग प्रकार वे मान रहे हैं। फलतः, यदि मानसप्रत्यक्ष को 'इदमिति' ज्ञान न कहेंगे तो मानसप्रत्यक्ष का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा, और बौद्धों की मान्यता खण्डित होगी) या उसे इकारादि- शब्दसंसर्गप्रतिभासी मानें और इकारादिवर्णसंसर्गप्रतिभासी होने पर मानसप्रत्यक्ष सविकल्पक हो जायेगा, क्योंकि कल्पना को 'अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा-प्रतीतिः' कहा गया है। फलतः, प्रत्यक्ष निर्विकल्पक होता है (= प्रत्यक्षं कल्पनापोढं) इसकी असिद्धि से नैयायिकों का यह पक्ष सिद्ध हो जायेगा कि सविकल्पक ज्ञान भी प्रत्यक्ष होता है। इतना ही नहीं 'आप बौद्धों को, यह भी स्वीकार करना चाहिए कि गकारादि शब्द के संसर्ग से प्रतिभासित होने वाला 'गौरित्यादि' ज्ञान भी निर्विकल्पक है और वह मानसप्रत्यक्ष है, क्योंकि आप इकारादि शब्दसंसर्गप्रतिभासी 'इदमिति' ज्ञान को निर्विकल्पक और मानसप्रत्यक्ष कहते हैं। फलतः आपकी जो यह मान्यता है कि 'गौरित्यादि' ज्ञान कल्पना से युक्त होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं है, वह भी अनुपपन्न ही है।¹⁷⁴

पुनश्च, आपने (= प्रज्ञाकर ने) जो यह कहा है— 'इदमित्येव कृत्वा प्रवर्तते, तेन प्रवर्तकत्वात् प्रमाणमिति' 'मानसप्रत्यक्ष इदमित्येव करके प्रवर्तित होता है, अतएव प्रवर्तक होने से वह प्रमाण है— वह भी अयुक्त है, क्योंकि हमारा कहना है कि जो भी जन्म लिये हैं वे सभी अभीष्ट के निश्चय से ही प्रवर्तित होते हैं 'इदमित्येव' करके प्रवर्तित नहीं होते।¹⁷⁵ अतः भासर्वज्ञ निष्कर्ष के रूप में कहते हैं— तस्मादेतदेवोत्तरं युक्तम् — न मानसं प्रत्यक्षमिन्द्रियप्रत्यक्षादर्थान्तरम्। अर्थान्तरमागमोक्तत्वेनैवोक्तम्, न त्वत्र प्रमाणं किंचिदस्तीति" पृ० 182।

मूल्यांकन — मानसप्रत्यक्ष के विषय में उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि

भारतीय दर्शन सम्प्रदायों में इस विषय में विवाद के कई मुद्दे थे और बौद्धों में भी मानसप्रत्यक्ष के प्रसंग में स्वयूथकलह था। मन को इन्द्रिय मानकर अथवा उसे बिना इन्द्रिय माने दार्शनिकों को जिस ज्ञानात्मक समस्या का समाधान करना है वह यह है कि सामान्य जीवन में हमें जो आन्तरिक भावों का साक्षात् रूप से, बिना किसी ज्ञानेन्द्रिय का सहारे लिए, ज्ञान होता है वह क्या है और कैसे होता है? भारतीयदर्शन सम्प्रदायों द्वारा पहला उत्तर मन को इन्द्रिय मानकर दिया गया और मानसिक ज्ञान की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की भी व्याख्या की गयी। दूसरा स्तर दिग्नाग से प्रारम्भ हुआ, जहाँ 'मन' के इन्द्रिय होने को अस्वीकार तो कर दिया गया, किन्तु दुःख तथा रागादि जैसे मनोवैज्ञानिक विषयों की संवित्ति के रूप में जो उत्तर दिया गया वह ज्ञानात्मक तथा मनोवैज्ञानिक तथ्यों के सांकर्य रूप घपले से दूषित था, फलतः मीमांसकों द्वारा आलोचित दिग्नाग का पक्ष अत्यन्त जटिल लक्षण के साथ धर्मकीर्ति द्वारा हमारे समक्ष रखा गया और इसकी व्याख्या के रूप में जो दो प्रमुख सम्प्रदाय हुए, उनमें बौद्ध परम्परा धर्मोत्तर के मानसप्रत्यक्ष विषयक निरूपण को संगत होने से स्वीकार्य मानती है, और भासर्वज्ञ जैसे नैयायिक भी उसको एकमेव युक्त बौद्ध उत्तर मानते हैं, यद्यपि एक पक्ष और था, और हमारी दृष्टि से यह अधिक न्यायसंगत पक्ष है, जिसने मानसप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष का प्रकार ही नहीं माना, जैसे कि जितारि। बाद के महायान दार्शनिक इसकी विवेचना भी नहीं करते— जैसे ज्ञानश्री या रत्नीकीर्ति। इस प्रकार मानसप्रत्यक्ष स्वसंवेदन के उदर में समा कर ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में, केवल 'सिद्धान्तप्रसिद्ध' होने के कारण ही विवेचित हुआ। न्याय में भी स्थिति बिल्कुल ऐसी तो नहीं रही, किन्तु बौद्धों तथा वेदान्तियों की एतद्विषयक आलोचना नैयायिकों के बाद के विचारकों को यह कहने के लिए बाध्य कर दिया कि मन को कुछ स्थितियों में इन्द्रिय के रूप में नहीं लेना चाहिए। अर्थात् कुछ अंश में यह इन्द्रिय है और कुछ में नहीं; क्योंकि मन की वृत्ति आन्तरिक प्रत्यक्ष तथा अनुमान, कल्पना, स्मृति आदि में भी होती है— ('स्मृत्यनुमीयादिन्च मनसो न इन्द्रियत्वेन हेतुत्वम्'—तत्त्वचिन्तामणि, गंगेश उपाध्याय, पृष्ठ 550)। गंगेश एवं न्यायसिद्धान्तमुक्तावलिकार कहते हैं कि प्रत्यक्ष के प्रसंग में मनस् को इन्द्रिय नहीं मानना चाहिए। इतना ही नहीं, वे उपर्युक्त स्थितियों से बचने के लिए इन्द्रिय का 'इन्द्रियत्वं च स्मृत्यजनकज्ञानहेतुगनस्रांयोगाश्रयत्वम्' रूप में नवीन लक्षण करते हैं, भले ही, यह उत्तर भी उचित एवं न्यायसंगत न हो। नैयायिकों और गंगेश की भी मन तथा मानसप्रत्यक्ष विषयक विवेचना इस गलत धारणा पर अवलम्बित है कि जिस प्रकार बाह्य प्रत्यक्ष में इन्द्रिय की, माध्यम के रूप में, आवश्यकता होती है उसी प्रकार आन्तरिक प्रत्यक्ष में एक इन्द्रिय की आवश्यकता है जो माध्यम के रूप में कार्य करें, क्योंकि प्रत्यक्ष होने से आन्तरिक प्रत्यक्ष को बाह्य प्रत्यक्ष के समान ही होना चाहिए।

किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि आन्तरिक प्रत्यक्ष में किसी माध्यम की अपेक्षा स्पष्ट नहीं है। ज्योंही आन्तरिक प्रत्यक्ष की खासियत को हम महसूस करते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि आन्तरिकप्रत्यक्ष में मन स्वतन्त्र रूप से अपने विषय का अधिगम कर सकता है, और नैयायिकों को भी अन्ततः यह मानना पड़ेगा, त्योंही मन को (= मनस् को) इन्द्रिय मानने की आवश्यकता गायब (= समाप्त) हो जाती है।¹⁷⁶

अतः, मन को इन्द्रिय न मानकर मानसप्रत्यक्ष की विवेचना करके दिग्नाग सम्प्रदाय ने न्यायसंगत कार्य किया। किन्तु जब मन केवल विज्ञानसंतति है (= मनोविज्ञान) और विज्ञान स्वसंवेदन रूप होता है, तो अर्थसंवित्ति एवं रागसंवित्ति को अलग करके प्रथम को मानस कहना एवं उसकी एक जटिल परिभाषा देना केवल स्वपक्ष की रक्षा के लिए एक अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति के सामर्थ्य का प्रदर्शन मात्र है। ज्ञानमीमांसा से सम्बद्ध इस प्रसंग की मूल समस्या यह है कि आन्तरिक अपरोक्ष ज्ञान जो होता है उसकी व्याख्या मन को बिना इन्द्रिय माने किस प्रकार की जाय। जहाँ तक दिग्नाग और धर्मकीर्ति दोनों में समाहार एवं सामंजस्य स्थापित करते हुए प्रज्ञाकर के विवेचन का प्रश्न है, उसका विरोध तो तिब्बती लामा 'जम-यन्-शङ्पा' भी करते हैं कि यह बाह्य तथा आन्तरिक संवेदन के सकृद्भाव को स्वीकार करता है और उसमें सविकल्पकता के कोटाणु वर्तमान हैं तथा प्रज्ञाकर विशुद्धसंवेदन और सविकल्पकविचार की सहस्थिति को विरोधात्मक नहीं समझते। लामा यह भी सूचना देते हैं कि इन बातों को लेकर धर्मोत्तर का उनसे विवाद था।¹⁷⁷ भासर्वज्ञ की आलोचना का मूलस्वर भी यही था कि प्रज्ञाकर की व्याख्या से मानसप्रत्यक्ष सविकल्पक हो जाता है, अतः कलानागोद नहीं रह जाता। अतः, प्रज्ञाकर की विवेचना के महत्त्व और उसकी गंभीरता तथा उसकी सूक्ष्मता की अर्थवत्ता को मानते हुए भी उसे उचित समाधान के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। दिग्नाग की व्याख्या भी अस्पष्ट थी और उसकी कमजोरी को हम देख चुके हैं।

धर्मोत्तर ने सारी विवेचना के बाद 'सिद्धान्तप्रसिद्ध' होने के रूप में मानसप्रत्यक्ष के मान्य होने की जो बात कही है वह तो मान्य हो सकती है। वे यह भी कहते हैं कि आचार्य धर्मकीर्ति ने मानसप्रत्यक्ष की जिस प्रकार से व्याख्या की है, उस रूप में उसे स्वीकार करने में कोई दोष नहीं है। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि मानसप्रत्यक्ष के लिए कोई प्रसाधक प्रमाण नहीं है। अतः, यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि क्या सौत्रान्तिक दृष्टि से ही मानसप्रत्यक्ष की व्याख्या सिद्धान्तप्रसिद्ध कहकर कर लेनी चाहिए, और इससे मानसप्रत्यक्ष का कोई तार्किक और ज्ञानमीमांसात्मक महत्त्व एवं उपयोग नहीं रह जायेगा, अथवा विज्ञानवाद की दृष्टि से भी इसका महत्त्व है?

श्चेरबात्स्की महोदय यह मानते हैं कि मानसप्रत्यक्ष ग्रहण और अध्यवसाय' (= इन्द्रियसंवेदना और बुद्धिविकल्प) को जोड़ने का कार्य करता है। पहले दिग्नाग ने दोनों स्रोतों को अत्यन्त विलग कर दिया, किन्तु उन्हें भी, कान्ट की भाँति, इन विलग स्रोतों को जोड़ने की आवश्यकता महसूस हुई। अतः मानसप्रत्यक्ष एक 'तार्किक' आवश्यकता भी है और इस दृष्टि से इसका महत्त्व है।¹⁷⁸ किन्तु डा० सत्कारि मुखर्जी यह अभिमत स्वीकार नहीं करते,¹⁷⁹ क्योंकि मानसप्रत्यक्ष से हम जैसे सामान्य लोगों को अर्थक्रिया की प्राप्ति नहीं होती— (न मानसप्रत्यक्षेणास्मद्विधानामर्थक्रियावाप्तिर्भवति (न्या० बि०टी०टि०, पृ० 29)। पुनश्च, वीतराग योगियों को मानसप्रत्यक्ष से अर्थक्रिया की अवाप्ति की बात करना (जैसा कि न्यायबिन्दुटीकाटिप्पणीकार करते हैं) अथवा मानसप्रत्यक्ष को योगियों की विशिष्टता बतलाना, यह कहने के बराबर है कि मानसप्रत्यक्ष का अपने लिए कोई उपयोग प्रमाण के रूप में नहीं है। योगियों के लिए मानसप्रत्यक्ष की बात करने से क्या फायदा? योगिज्ञान तो स्वतः अलग प्रकार है ही, और वह अपने में समर्थ है। अतः, मानसप्रत्यक्ष की इस रूप में भी कोई उपयोगिता नहीं। दिग्नाग की प्रमाणव्यवस्था में, प्रत्यक्ष के धरातल पर मानसप्रत्यक्ष, इन्द्रियसंवेदन एवं विकल्प को सम्बद्ध करने के लिए यदि सम्पर्कसूत्र का कार्य करता है, तो निश्चय ही उसमें सविकल्पकता का अंश वर्तमान रहेगा। अतएव वह प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, और यदि, फिर भी उसे प्रत्यक्ष माना जाय तो, इसका अर्थ हुआ कि प्रत्यक्ष सविकल्पक भी होता है, जो सारी बौद्ध व्यवस्था को धराशायी कर देगी। पुनश्च, यदि यह माना जाय कि इन्द्रियसंवेदन और बुद्धिविकल्प को जोड़नेवाले एक प्रमाण की स्थिति होनी चाहिए, एक ऐसा ज्ञान होना चाहिए जिसमें ये दोनों जुटे रहें, तो एक तीसरा प्रमाण और तीसरा प्रमेय भी मानना पड़ेगा। लगता है, इन्हीं सब कारणों से बाद के लोगों ने मानसप्रत्यक्ष को एक अलग प्रकार प्रत्यक्ष का नहीं माना। यही उचित भी है। रही बात आन्तरिक बोध के विवेचन की, तो उसे स्वसंवेदनप्रत्यक्ष द्वारा किया जा सकता है। अतः, मानसप्रत्यक्ष को अलग प्रकार मानने का कोई तार्किक औचित्य नहीं है।

(ग) स्वसंवेदन प्रत्यक्ष

प्रत्यक्षप्रमाण के प्रकारों में 'स्वसंवेदन प्रत्यक्ष' तृतीय है। धर्मकीर्ति ने न्यायबिन्दु में इसका जो लक्षण प्रदान किया वह बाद के अन्य बौद्ध नैयायिकों को मान्य हो गया। सभी प्रकार के विज्ञानवादी एवं सौत्रान्तिक स्वसंवेदन प्रत्यक्ष को मानते हैं। विशेषतया, विज्ञानवाद के लिए स्वसंवेदन प्रत्यक्ष अत्यन्त उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि, विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि में यह अत्यन्त ही सहायक होता है। विज्ञानवाद बाह्यार्थवाद का निष्करण करने के लिए 'सहोपलम्भ नियम' को हेतु के रूप में प्रस्तुत करता है और

सिद्ध करता है कि नील को जानने वाला चक्षुर्विज्ञान नील को विषय बनाता है और स्वसंवेदन नील को जानने वाले चक्षुर्विज्ञान को विषय बनाता है। स्वसंवेदन के अतिरिक्त नील को जानने वाले चक्षुर्विज्ञान का आलम्बन करने में कोई अन्य ज्ञान सक्षम नहीं है। यदि स्वसंवेदन को प्रत्यक्ष का प्रकार न माना गया होता, तो विषय विरहित विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि के लिए प्रमाणमीमांसा में कोई ठोस धरातल एवं दृष्टान्त नहीं रहता। स्वसंवेदनप्रत्यक्ष मानकर विज्ञानवादी यह इंगित करते हैं कि इन्द्रियविज्ञान एवं मानसप्रत्यक्ष तथा भावनाप्रकर्ष से जायमान योगिज्ञान के अतिरिक्त प्रत्यक्ष की एक और विधा होती है, जिसका विषय विज्ञान स्वयं होता है। यहाँ स्वसंवेदन के इसी पक्ष की विवेचना होगी, प्रमाणफल के रूप में होने वाली स्वसंवेदिति की नहीं।¹⁸⁰

आचार्य धर्मकीर्ति— 'सर्वचित्तचैतानामात्मसंवेदनम्'¹⁸¹ कहकर स्वसंवेदन प्रत्यक्ष की व्याख्या करते हैं। प्रमाणवार्तिक में वे कोई लक्षण नहीं देते, किन्तु पहले यह स्थापित करते हैं कि रागादि का स्वरूप, असाधारण होने से, शब्दसंकेत का विषय नहीं हो सकता, अतएव उसका स्वसंवेदन वाचक शब्द के उल्लेख का विषय नहीं है। इसके बाद वे न्याय और सांख्य की आलोचना करते हैं। इन सारी व्याख्याओं में वे पहले यह सिद्ध करते हैं कि सुखादि चैत हैं; तदनन्तर वे यह सिद्ध करते हैं कि वे ज्ञानस्वरूप हैं और अन्त में यह प्रमाणित करते हैं कि उनका ग्रहण अन्य से नहीं हो सकता। इससे यह स्वभावतः फलित होता है कि सभी ज्ञान और चैत स्वसंवेद्य हैं।

प्रमाणवार्तिक के टीकाकार, प्रज्ञाकर एवं मनोरथनन्दि दोनों ही 'सर्वचित्त-चैतानामात्मसंवेदनम्' को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के प्रथम श्लोक की भूमिका में अभिव्यक्त कर धर्मकीर्ति की, इससे सम्बन्धित श्लोकों की, व्याख्या करते हैं।¹⁸² पहले श्लोक के लम्बे भाष्य में प्रज्ञाकर निम्न प्रकार से यह प्रमाणित करते हैं कि सुखादि का स्वरूप असाधारण (= विशेष) और संकेत का अविषय है। प्रज्ञाकर कहते हैं कि 'उत्पत्ति को प्राप्त होता हुआ ही सुखादि का स्वरूप संवेदन के विषयभाव को प्रकाशित करता है, क्योंकि, उसके बिना उसका संवेदन नहीं होता। फलतः, पूर्वापररूप वाचक शब्द के संयोजन का अवसर इसमें नहीं है। बाद को भी वाचक शब्द के संयोजन की बात इसमें मानना ठीक नहीं है, क्योंकि, बाद को रागादि का वह स्वरूप ही नहीं रह जाता। यदि यह कहा जाय कि पहले जिस रूप में संवेदन एक व्यक्ति को हुआ था, बाद को अन्य को उसी रूप में संवेदन होता है, ऐसा तो लोक में पाया जाता है, तो यह पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि अन्य समय में 'वह संवेदन (= पहले वाला संवेदन) नहीं रहता। पुनश्च, पूर्वादिरूपतया अथवा अन्य रूप से सुखादि संवेद्यमान होते हुए संवेदित होते हैं ऐसा नहीं, जैसे कि अन्य के सुख की संवेदना अन्य को नहीं होती। इस कारण सुखादि का

ग्रहण वर्तमानतया अथवा स्पष्टरूप से होता है, फलतः वह निर्विकल्पक होता है।¹⁸³

‘सुख मानस होता है और मानस सुख सविकल्पक होता है’— इस आक्षेप का भी प्रज्ञाकर निराकरण करते हैं। प्रज्ञाकर का कहना है कि पूर्ववृत्ति की प्रतीति के चलते सुखादि का संवेदन नहीं होगा, फलतः स्मृति के माध्यम से विकल्पग्रहण का प्रश्न नहीं उठेगा। सुख की उस समय में ही (वर्तमानतया) प्रतीति होने से उसकी साक्षात्वृत्ति होती है, अतः, कल्पना को यहाँ कोई स्थान नहीं। सुखादि के संवेदन में अभिलाषिता भी नहीं है, वह अभिलाषिताविविक्त है, अतः, अभिलाष का सुखादि के संवेदन से असंसर्ग होगा, परिणामतः, अभिलाष के संसर्ग से होने वाली कल्पना को भी यहाँ कोई अवकाश नहीं है। पुनश्च, समानकाल में ज्ञान होने, मात्र इस बात के कारण किसी का अभिलाष से संसर्ग होना नहीं कहा जाता। अपने रूप में स्थित रूपादि विषयों का आकार मानस होने पर भी सविकल्पक नहीं है, क्योंकि वह तत्काल में (= उसी काल में = तत्क्षण, या उस वर्तमान क्षण में) ही उदय की स्थिति को प्राप्त होता है।¹⁸⁴ यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि फिर अर्थ में भी इसकी सविकल्पकता उपपन्न कैसे होगी, क्योंकि विकल्पक के द्वारा अर्थ (= स्वलक्षण) का ग्रहण नहीं होता और स्वलक्षण अभिलाषसंसर्गयोग्य प्रतिभासा की प्रतीति (= कल्पना) का विषय नहीं होता। प्रज्ञाकर का उत्तर है कि पूर्वपक्ष ने सत्य ही बात कही, क्योंकि यदि अर्थग्रहण होता है, तो वह विकल्प नहीं होगा, और यदि अर्थ का ग्रहण नहीं होता तो भी विकल्प का अवकाश नहीं है। पुनश्च, अर्थारोपणः भी विकल्पता के निरूपण की बात करना ठीक नहीं, क्योंकि ग्रहण और अग्रहण के अतिरिक्त और कोई अर्थ उस स्थिति में तो रहता नहीं। यदि कहा जाय कि ग्रहण में आरोपण का सद्भाव होने पर विकल्पकता होती है, तो हमारा कहना है कि आपकी यह मान्यता ही असत् है कि ‘ग्रहण’ और आरोपण में ऐक्य संभव है। पुनश्च, यदि दोनों में भेद माना जाय, तो, उस स्थिति में दोनों की ही प्रसक्ति होगी, और साथ ही, उसका यह भी अर्थ होगा कि सविकल्पक संवित्ति उसी समय अविकल्पक भी है? अतएव, जहाँ पर ग्रहण न होकर ग्रहाभिमान होता है, उसे हम विज्ञानवादी बौद्ध विकल्प मानते हैं। पुनश्च, ग्रहण और अग्रहण से अन्य अभिमान नाम की चीज ज्ञान में क्या है? यदि यह प्रश्न हमसे पूछा जाय, तो हमारा उत्तर है कि जिसका ग्रहण नहीं है, फिर भी, उसमें प्रवृत्तिकर्तृत्व है, वहीं पर अभिमान है।¹⁸⁵

यहाँ पर पुनः विरोधियों की ओर से आक्षेप इस प्रकार उठाया जाता है— ‘जो ग्राह्य नहीं है (= ग्रहण का विषय जो नहीं बना वस्तुतः, अतः जो ग्राह्य नहीं हुआ) यदि, उसमें प्रवर्तकता आप बौद्ध मानते हैं, तो प्रश्न है कि यह प्रवर्तकता फिर सर्वत्र क्यों नहीं है? और यदि प्रवर्तकता को ग्राह्य में मानिए, तो प्रश्न है कि किस कारण से वह

प्रवर्तित होता है? इतना ही नहीं, उपर्युक्त स्थिति में सभी 'इदानीं' ज्ञान सविकल्पक हो जायेंगे, क्योंकि सभी ज्ञानों से व्यक्ति अगृहीत में ही प्रवर्तित होता है।

प्रज्ञाकर उत्तर देते हुए कहते हैं— 'जहाँ पर अन्य कल्पनाओं के द्वारा असाक्षात्करण के रूप में व्यवहार होता है, उससे ही हम यहाँ पर विकल्प कह रहे हैं और यही लोकसम्मत भी है। जहाँ पर दर्शनाभिमत (= साक्षात्करण व्यवहार) होती है वह ज्ञान अविकल्पक होता है, और चूँकि, उसमें साक्षात्करण का विश्वास होता है अतः, वह प्रत्यक्ष कहा जाता है। परमार्थतः तो सभी विज्ञान अविकल्पक होते हैं, क्योंकि हर एक विज्ञान की अपने ग्राह्यविषय में अविकल्पक वृत्ति होती है। वासनाबल से अथवा पूर्वसंवेदन के भेद के अनुसार जो ज्ञान कहीं पर भी उत्पन्न होता है, उसे सविकल्पक कहा गया है और वह अर्थपरतन्त्रता की धारणा करता हुआ प्रवर्तित होता है। व्यवहारतः ही वह ज्ञान निर्विकल्पक कहा जाता है। चूँकि स्वसंविधि की दृष्टि से, सुखादि का रूप अविकल्पक होता है, अतः, वहाँ पर सभी की अविकल्पकता संभव है। अतएव, सुखादि का स्वसंवेदन शब्दादिसंकेत से सम्बद्ध नहीं है, और उसमें कर्म और करण रूप से अभिजल्प भी मानना संभव नहीं है।¹⁸⁶ स्वसंवेदन नानाद्वैत रूप (= चित्राकार) होता है।¹⁸⁷

न्याय-वैशेषिक मत की आलोचना

सुखादि विज्ञानस्वभाव हैं, इसका सिद्ध करने के लिए धर्मकीर्ति और उनके अनुयायी न्याय-वैशेषिक के पक्ष की आलोचना करते हैं जो यह मानते हैं कि सुखादि अज्ञानस्वरूप हैं। सुखादि तो बाह्यार्थ को भी नहीं जानते, फलतः उनको स्वसंवेदन (= अपना ज्ञान, स्वरूप का ज्ञान) कैसे हो सकता है? सुखादि आत्मा के गुण हैं, ज्ञान सुखादि से व्यतिरिक्त है और आत्मा उसका आश्रय है। जिस आत्मा में रागादि हैं उसी में ज्ञान भी रहता है, अतः, दोनों एकद्रव्याश्रयी हैं। इसी कारण ज्ञान द्वारा सुखादि वेद्य हैं। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक दो बातें मान रहे हैं— प्रथमतः, (क) सुखादि ज्ञानस्वरूप नहीं, अपितु अज्ञान स्वरूप हैं; द्वितीयतः, (ख) वे परवेद्य (= ज्ञान द्वारा वेद्य) हैं, स्वसंवेदनता उनमें नहीं है। इन दोनों बातों की आलोचना धर्मकीर्ति और उनके अनुयायी निम्न प्रकार से करते हैं—

(क) धर्मकीर्ति कहते हैं कि न्याय यह है कि एक कारणसामग्रीज होने पर ही वस्तुएँ एकस्वभाव वाली होती हैं। विज्ञान और सुखादि एक कारणसामग्रीज (= इन्द्रिय, विषय, मनस्कारादिज) हैं। इस कारणसामग्री के होने पर दोनों का जन्म होता है, नहीं होने पर नहीं होता। अतः, सुखादि विज्ञानस्वरूप हैं।¹⁸⁸ आशय यह है कि सामग्री-भेद

के कारण कार्यभेद होता है, कार्यभेद से भेद सिद्ध नहीं होता, क्योंकि एक कारण से भी कार्यभेद की प्राप्ति होती है; जैसे— भस्म और धूम इन दोनों कार्यों का एक ही कारण है, अग्नि, फिर भी धूम और भस्म रूपी कार्यों में भेद है। पुनश्च, सुखादि और विज्ञान में भेद है, इसका साधक कोई कार्यभेद भी प्राप्त नहीं होता है, अतएव, इन दोनों में भेद के लिए कारणभेद को उपदर्शित करना चाहिए। किन्तु, इन दोनों में कारणभेद है नहीं, अतएव, अभिन्नहेतुक और अभिन्नरूप में उपलभ्यमान विज्ञान तथा सुखादि को भिन्न नहीं कहा जा सकता। अतः सुखादि भी विज्ञानस्वभाव हैं। पुनश्च, यदि विज्ञान सुखादि से अन्य हो, तो फिर सुखादि के ज्ञान का हेतु कौन है? इन्द्रिय, रूप (= विषय) और मनस्कारादि सुखादि के हेतु हैं और ये ही विज्ञान के भी कारण हैं। अतएव, विज्ञान के ही कारणों से उत्पन्न होने वाले सुखादि अवेदक कैसे हो सकते हैं? उन्हीं कारणों से उत्पन्न विज्ञान वेदक है, किन्तु सुखादि अवेदक हैं, यह मानना न्यायसंगत नहीं है। चूँकि विज्ञान एवं सुखादि दोनों ही समान कारणसामग्री से उत्पन्न होने वाले हैं, अतएव, दोनों या तो ज्ञान रूप होंगे या दोनों ही में से कोई भी ज्ञानरूप नहीं होगा। पुनश्च, जिस प्रकार यथायोग्य इन्द्रिय, विषय और समनन्तर प्रत्यय के होने पर सुखादि की उत्पत्ति देखी जाती है, तद्वत् ज्ञान की भी उत्पत्ति यथायोग्य इन्द्रियादि के होने पर ही होती है। अतएव, समानहेतुक होने से ज्ञान और सुखादि में समानजातीयता है।¹⁸⁹

विज्ञान का समानहेतुक होने पर भी नियामक संस्कारादि के कारण सुखादि को अज्ञानस्वरूप नहीं माना जा सकता, इसका कारण देते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं कि क्योंकि इन्द्रियादि के न होने पर सुखादि का जन्म नहीं देखा जाता और इन्द्रियादि के होने पर सुखादि का अजन्म भी नहीं देखा जाता, अतः दृष्टसामर्थ्यवाले कारण (= इन्द्रियादि) से सुखादि और ज्ञान उत्पन्न होते हैं, अदृष्टसामर्थ्यवाले कारण (= संस्कारादि) से नहीं।¹⁹⁰ प्रज्ञाकर इसके अतिरिक्त यहाँ यह भी स्पष्ट करते हैं कि धर्मादि और सुखादि में व्यतिरेक व्याप्ति के न होने पर भी धर्मादि को सुख, दुःखादि (= इष्ट सुख है एवं अनिष्ट दुःख है) का कारण मानना अयुक्त है, क्योंकि अव्यतिरेकतः धर्मादि का सुखादिमात्र में सामर्थ्य नहीं है। धर्मादि सुखादि का ही आश्रय नहीं लेते, अपितु, सुख के साधनों को आश्रय बनाते हैं। यदि ऐसा नहीं माना जाय, तो, सुखादि के साधनों के बिना भी सुखादि के होने का प्रसंग उपस्थित होगा।¹⁹¹ विरोधी यह कह सकता है कि— 'शोकादि के द्वारा सुख और असुख के साधनों, अर्थात्, रूपादि (= इन्द्रिय, आलोक, मनस्कार, और विषय आदि) के उपहत होने पर अन्तःकरण के सामर्थ्य से सुखादि (सुख और दुःखादि) की उत्पत्ति होती है। अतएव, इससे यह ज्ञात होता है कि सुखादि का कारण धर्म ही (= संस्कार ही) है, रूपादि

नहीं! प्रज्ञाकर इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि अधर्म के ही द्वारा दुःखादि की शोकसामग्री पास लायी जाती है और उससे दुःख उत्पन्न होता है, तो इसका अर्थ हुआ कि दुःख अधर्मतः उत्पन्न नहीं है। आशय यह है कि ऐसी स्थिति में अधर्म नहीं अपितु, शोकादि दुःख के कारण होंगे, क्योंकि कारण ऐसा होता है कि उसके रहने पर अव्यवहितरूपेण कार्यात्पाद होता है। पुनश्च, यह मान भी लें कि धर्म के कारण सुख उत्पन्न होता है और अधर्मतः दुःख उत्पन्न होता है, तथापि, यह कहना युक्तियुक्त नहीं है कि धर्म अथवा अधर्म के द्वारा भिन्न संवेदन उत्पन्न होना चाहिए। संवेदन का जो अव्यतिरेकी है उससे सुख की उत्पत्ति मान लेने पर भी धर्म के द्वारा तो कुछ उपकार हुआ नहीं। आपका (= विरोधी = पूर्वपक्षी का) प्रयोजन तो सुखादि से है और वह संवेदनतः अव्यतिरिक्त होने पर भी कटु (= अनिष्ट) नहीं होता है। यदि इस पर कहा जाय कि कारणभेद के चलते सुखदुःखादिरूप भिन्नता होती है, तो यह भी सिद्ध नहीं है, क्योंकि धर्मादिसहित जो कारणसामग्री है वही विशिष्ट (= विशेषप्रकार के) कार्य को उत्पन्न करेगी, किन्तु अत्यन्त भिन्न को नहीं, इसका कारण यह है कि जो अधिक उपकारक होता है उसके द्वारा कारणसामग्रीरूप विशेष ही चरितार्थ होता है। उदाहरणार्थ, इन्धन में सादृता रूप अधिक उपकारक के द्वारा कारणसामग्री में एक विशेष बात आती है जिसके फलस्वरूप धूम रूप विशेष कार्य उत्पन्न होता है, किन्तु यह अत्यन्त भिन्न नहीं होता। इसी प्रकार धर्मादि भी अत्यन्त भिन्न कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हैं।¹⁹²

न्याय-वैशेषिकादि अपने पक्ष की पुष्टि के लिए तर्क देते हैं कि अभिन्नहेतुत्व होने पर सुख-दुःखादि का भेद नहीं होगा। यदि विज्ञान और सुखादि को समानहेतुक माना जाय, तो, 'विज्ञान है' 'विज्ञान है', केवल ऐसा होगा, सुखादिभेद नहीं हो सकेगा।¹⁹³ धर्मकीर्ति का उत्तर है कि इन्द्रियादि हेतुओं में अन्तरंगविशेषता के कारण सुखदुःखादि अन्तरंग भेद होता है; जैसे कि, उसी बुद्धि में अन्तरंग हेतुविशेष से मन्दता-पटुता आदि भेद होते हैं। अतः विज्ञान से अभिन्नहेतु वाला होने के कारण सुखादि विज्ञानस्वभाव हैं।¹⁹⁴ प्रज्ञाकर न्याय-वैशेषिकादि के पक्ष को एक दृष्टान्त के द्वारा स्पष्टकर तदनन्तर उसका खण्डन करते हैं। विज्ञान और सुखादि की एक कारणसामग्री होने पर सुखदुःखादि का भेद नहीं होगा, जैसे, जलादि के सिंचन में पृथ्वी और बीजादि की कारणसामग्री की स्थिति हम पाते हैं, वैसी ही स्थिति यहाँ पर भी होगी। प्रज्ञाकर का उत्तर है कि, जल का अधिक सिंचन होने पर भी पृथ्वी बीज को उत्पन्न नहीं करती। बीज का उत्पन्न होना धात्री से विलक्षण ही कार्य है, ऐसा नहीं है, अपितु उसके रूप का बिना अतिक्रमण किये एक अन्य विशेष वहाँ अधिकृत हो

जाता है। यह प्रश्न उठ सकता है यहाँ कि पृथ्वी भिन्न को भी क्यों नहीं उत्पन्न करती? उत्तर यह है कि 'भिन्न को भी' नहीं, अपितु 'भिन्न को ही' पृथ्वी उत्पन्न करती है ऐसा कहना चाहिए। अतएव कारणभेद के चलते ही भेद होता है।¹⁹⁵ पुनश्च, न्यायवैशेषिकादि के पक्ष को मानने पर प्रज्ञादि और बुद्धि में भेद का प्रसंग उपस्थित होगा, क्योंकि प्रज्ञादि भी धर्मादि से उत्पन्न होती हैं। यदि कहा जाय कि प्रज्ञादि धर्मादि के कारण नहीं, अभ्यासादि के कारण उत्पन्न होती हैं, तो उस स्थिति में इष्ट के अभ्यास से सुख और अनिष्ट के अभ्यास से दुःख को उत्पन्न होना चाहिए और तब धर्मादि सुखादि के हेतु नहीं रहेंगे। यदि इस पर पुनः कहा जाय कि धर्म के ही कारण इष्टादि का सन्निधान होता है, तो, इसका पुनः अर्थ हुआ कि धर्म के कारण सुखादि की उत्पत्ति नहीं होती, अपितु, अविगुण, मनस्कारादि के ही कारण उनकी उत्पत्ति होती है। चूँकि, मनस्कार का अविगुणत्व ज्ञान में भी कारण है, अतः सुखादि विज्ञान से भिन्न कारणसामग्री से उत्पन्न होने वाले नहीं हैं।¹⁹⁶ पुनश्च, यह कहना कि प्रज्ञादि सुखादि के हेतु नहीं हैं, अपितु, धर्मादि सुखादि के हेतु हैं, क्योंकि, धर्मादि के साथ प्रज्ञादि का सद्भाव नहीं है; जो सुख है वही धर्मादिहेतुक है, अतएव, सुखादि और विज्ञानादि की समानकारणता असिद्ध है।¹⁹⁷ ठीक नहीं है, क्योंकि आप नैयायिक यह कैसे कहते हैं कि धर्मादि के कारण, प्रज्ञादि नहीं, अपितु सुखादि होते हैं, यह बात प्रमाण से सिद्ध है? प्रज्ञाकर का कहना है कि प्रज्ञादि, धर्म से अन्यतः नहीं होते हैं। यदि कहा जाय कि धर्म के बिना भी, अभ्यास के कारण वे देखे जाते हैं, तो यह तथ्य के अनुकूल नहीं है, क्योंकि धर्म के बिना उस अभ्यास का आकलन नहीं हो सकता। यदि विरोधी कहे कि जड़त्व के ही कारण आकलन होता है, तब तो, संतानविशेष के कारण ही सुख की उत्पत्ति होनी चाहिए, अर्थात् उपर्युक्त स्थिति में संतान की अतिशयता के ही कारण सुख की उत्पत्ति होगी। इससे यह फलित हुआ कि पूर्वाभ्यास से प्रवर्तित होने से स्वभाव की अतिशयता के ही कारण सुख होता है। यह बात हम बुरे लोगों के दुराचरण में भी देखते हैं। साथ ही यह भी पाते हैं कि धर्म के होने पर भी समतादर्शी का अभाव है। यदि यह कहा जाय कि समताभावना, अभ्यासविपर्यय (= पूर्वाभ्यास के न होने) की सहायता से, धर्मादि के ही कारण होती है; तब तो, इसका अर्थ हुआ कि समताभावना और सुख में धर्मादि का सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि समता की भावना आपके ही अनुसार, अभ्यासविपर्यय की सहायता से होती है। अतः, प्रज्ञादि की तरह सुखादि भी ज्ञानस्वरूप हैं।¹⁹⁸

नैयायिक ऐसा कह सकते हैं कि विज्ञानादि और सुखादि में हेतुभेद है, क्योंकि भावना नामक विज्ञान के हेतु से विज्ञान की उत्पत्ति होती है, किन्तु सुखादि की उत्पत्ति

विषयादि से होती है। पूर्वसंस्कार की उत्पत्ति से 'यह वही है जिसको मैंने देखा था' इस प्रकार का जो ज्ञान हमें होता है वह सुखादि में नहीं होता। अतः सुख और विज्ञान में हेतुभेद मानना चाहिए, नहीं तो सुखादि में भी 'यह वही सुख है जिसका मैंने अनुभव किया था' ऐसी बात होनी चाहिए। प्रज्ञाकर का उत्तर है कि न्यायवैशेषिकों का उपर्युक्त पक्ष गलत है, क्योंकि सुखादि में भी इसका (= भावना का) हेतुत्व है और हम पहले ही प्रतिपादित कर चुके हैं कि भावनावश से ही सुखादि की भी उत्पत्ति होती है।¹⁹⁹ यदि यह कहा जाय कि सुखादि मानस हैं, वे इन्द्रियज नहीं हैं, अपितु संस्कारतः होते हैं, तो पुनः सुखादि और विज्ञान में समानहेतुकता ही सिद्ध होगी, क्योंकि विज्ञान भी मानस हैं और संस्कारतः होते हैं। यदि यह कहा जाय कि इन्द्रियज भी विज्ञान का पाटवादिविशेष (= कौशलादिविशेष, तीक्ष्णतादि विशेष) भावनाविशेष के ही कारण होता है, तो हमारा कहना है कि इन्द्रियज सुखादि का भी पाटवादिविशेष भावनाविशेष के ही कारण होता है, इस प्रकार दोनों में समानता है। पुनश्च, हम यह भी प्रतिपादित कर चुके हैं कि सुखादि मानस हैं।²⁰⁰

इस प्रसंग में प्रज्ञाकर एक अन्य पूर्वपक्ष उठाकर पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष रूप लम्बे शास्त्रार्थ में प्रयुक्त होते हैं। पूर्वपक्ष इस प्रकार है— भावनावश कहीं पर वस्तु के गृहीत होने पर, वही पर वस्तु में यदि पुनः-पुनः ज्ञानोदयरूप लक्षण हो, तो इस कारण उसकी पटुता युक्त होगी। यदि इस ज्ञान के द्वारा दुःखादि का भी ग्रहण हो, तो, वह युक्त होता है और वह ग्रहण 'पटु' होता है। किन्तु स्वसंवेदन पक्ष में किस प्रकार की भावना होगी? स्वसंवेदन को उत्पन्न मानें अथवा अनुत्पन्न, उसमें भावना नहीं होगी।²⁰¹

आशय यह है कि जब अन्य-अन्य संवेदन की उत्पत्ति होती है, तो अभ्यास का योग कहाँ नहीं रहता। यदि वही चीज पुनः-पुनः प्राप्त होती है, तब अभ्यास यह नाम दिया जाता है। अभ्यास की स्थिति में अर्थ जहाँ एक रहता है, वहाँ पर परापरविज्ञान (= पर और अपर विज्ञान) के द्वारा अनुभव में भावना प्रयुक्त होती है। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि जिस प्रकार अभ्यास की स्थिति में अर्थ 'एक' रहता है, उसी तरह सुख भी एक क्यों नहीं होता है? प्रज्ञाकर पूछते हैं कि पुनः-पुनः अर्थ कौन है? यदि उत्तर दिया जाय कि अर्थ के एक होने पर भी अनुभव की पुनः-पुनः आवृत्ति, यह हमारा अभिप्रेत है, तो यह उत्तर ठीक नहीं है, क्योंकि, यदि ज्ञान विषयों से भिन्न है, तो ज्ञान कहाँ से होता है? यदि कहा जाय कि प्रत्यभिज्ञा के प्रसाद से ज्ञान होता है, तब तो, सुखादि में भी उसे होना चाहिए। इस प्रकार यहाँ भी विज्ञान एवं सुख में समानता है। यदि विरोधी यह अनुपपत्ति दिखलाये कि सुख को एक न मानने पर उसमें प्रत्यभिज्ञा का प्रश्न ही नहीं उठ सकता, तो हम बौद्धों का उत्तर है कि ज्ञानभेद होने

पर भी विषय में तदेकत्व के कारण हमने प्रत्यभिज्ञा को कहा है (— विषय और विषयज्ञान अथवा अर्थाभास एवं स्वाभास में भेद होता है, किन्तु विषय में एकत्व होने की दृष्टि से हमने प्रत्यभिज्ञा की बात यहाँ पर कही है)। यदि इस पर कहा जाय कि प्रत्यभिज्ञा विषयभाविनी नहीं, अपितु, उपलम्भभाविनी है, तो हमारा उत्तर है कि ज्ञानभेद एक का उपलम्भ नहीं है। यदि ज्ञानभेद एक का उपलम्भ होता तो, ज्ञान में प्रत्यभिज्ञा हो सकती थी। किन्तु, चूँकि ज्ञानभेद एकोपलम्भ नहीं है, अतएव, ज्ञान में प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी? अतः परमार्थतः ज्ञान में प्रत्यभिज्ञा नहीं होती, क्योंकि ज्ञान अद्वैत रूप है, और प्रत्यभिज्ञा ज्ञानभेद की स्थिति में होती है।²⁰² ज्ञान 'एक' है, ऐसा व्यवहार एकत्व का आरोप करके किया जाता है, यदि ऐसा पूर्वपक्ष से कहा जाय, तो, प्रश्न उठेगा कि क्या यह ज्ञान स्वसंवेद्य है, ज्ञानान्तरवेद्य है, या अर्थापत्तिवेद्य? यदि प्रथम पक्ष विरोधी को स्वीकार हो, तो चूँकि इसमें भेद की वेदना (= स्वसंवेदन में भेद की अनुभूति) परिरक्षित रहती है, फलतः, विषयाभेद होने पर भी, उसी समय तत्कृत आरोप का विभ्रम कैसे संभव है। द्वितीय पक्ष में भी पहले ही के समान स्थिति है और तृतीय पक्ष में, चूँकि ज्ञान की कल्पना अर्थानुरूप होती है, अतएव ज्ञान को भी अभिन्न ही मानना होगा।²⁰³

यहाँ न्याय-वैशेषिकादि कहते हैं कि चूँकि अन्य प्रकार से इसकी उपपन्नता नहीं हो पाती, अतएव, उपर्युक्त प्रकार की अर्थापत्ति करनी पड़ती है। आशय यह है कि अपर-अपर कालभावी तथा अपने काल के विषय का परिच्छेद करने वाले विज्ञानों के द्वारा पूर्व तथा अपर कालभावी किसी एक अर्थ की कल्पना करना शक्य नहीं है; क्योंकि व्यापार एक अर्थ के होने पर नहीं होता, हमेशा दो के होने पर होगा और समूह का भी अभाव है, अतः आप बौद्धों के द्वारा प्रत्यभिज्ञा की व्याख्या नहीं हो सकती। किन्तु, हमारे पक्ष में यह बात लागू नहीं होती, क्योंकि आत्मा पूर्व और अपर काल के अनुभव के समय 'एक' और 'वही' रहता है और अनुसंधान करने वाला भी वही है। फलतः, आत्मा के द्वारा स्मरण का होना संभव होने से स्मरण में और अनुभूति में भी इसका सामर्थ्य रहता है।²⁰⁴

आचार्य प्रज्ञाकर विरोधियों²⁰⁵ की उपर्युक्त व्याख्या को गलत बतलाते हैं। उनका कहना है कि जो पक्ष आत्मा को ज्ञानस्वरूप मानता है, उसके यहाँ उपर्युक्त प्रकार की बात युक्तिसंगत रूप में स्वीकार नहीं हो सकती, क्योंकि आवृत्ति तो एक रूप की होती है, अनेक रूप की नहीं; और प्रत्यभिज्ञा के पूर्व तथा अपर का ज्ञान एक नहीं होता। ऐसी स्थिति में प्रत्यभिज्ञा प्रमा से युक्त है— ऐसा कैसे हो सकता है? यदि विरोधी यह कहे कि आत्मा को हम अबोध रूप मानते हैं, तो, इसका अर्थ हुआ कि ज्ञान के द्वारा आत्मा को बोध कराया जाता है; और आत्मा है ज्ञान से भिन्न, तो फिर आत्मा

के द्वारा अभेद का ग्रहण कैसे होगा? यदि विरोधी कहे कि अर्थापत्ति के द्वारा ज्ञानभेद का परिग्रहण होता है, तो भी, चूँकि एकत्व विज्ञान में प्रतीत नहीं हो रहा है, अतएव, प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी? यदि विरोधी फिर कहे कि जो नानात्व है उसका प्रत्यभिज्ञान होता है, तब तो, सुखादि में भी उसे होना चाहिए, क्योंकि उसका एकत्व व्यावहारिक दृष्टि से संभव होता है। वहीं पर पुनः-पुनः अनुभव होने से, अभ्यास के कारण सुखादि का पाटवादिविशेष होता है और अभ्यास के कारण ज्ञानरूप ही सुखादि की उत्पत्ति होती है (= हो सकती है)। यदि कहा जाय कि अभ्यास ज्ञानस्वरूप नहीं है, तो, हमारा कहना है कि अज्ञानरूप अभ्यास से जिस तरह अज्ञान ही संभव है, तो, उसी तरह बोधरूप अभ्यास से बोधरूप सुखादि क्यों संभव नहीं हैं? जिस तरह प्रज्ञादि संभव हैं उसी तरह वे भी संभव हैं।²⁰⁶

न्याय-वैशेषिकादि की ओर से यह प्रश्न पूछा जाता है कि अभ्यास बोधरूप है इससे आप बौद्ध क्या समझते हैं? क्या इससे आप स्वसंवेदन अभ्यास समझते हैं अथवा बोधरूप गृहीत अर्थ का अभ्यास? यदि पहला पक्ष आपको मान्य हो, तो ऐसा संवेदन असिद्ध है और यदि आप दूसरा पक्ष मानें तो, इसमें अनैकान्तिकता के संभव होने से वह भी अयुक्त है, क्योंकि बोधरूप में गृहीत गमन के अभ्यास में भी गमनादिबोधरूपता का उपलब्ध नहीं होता। प्रज्ञाकर इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं कि जिसका जिस प्रकार से अभ्यास किया जाता है वह उसी प्रकार से प्रकृष्ट होता है। उसी तरह सुखादि की अंतःसंवेदना का अभ्यास है और उसका फल भी उसी तरह का है, अर्थात् सुखादि का अभ्यास अंतःसंवेदना के रूप में होता है और उसका फल भी अंतःसंवेदना के रूप में ही होता है। अतः, सुखादि अंतःसंवेदनारूप में ही उपलब्ध होते हैं। प्रज्ञाकर कहते हैं कि उपर्युक्त सारी विवेचना से यह स्थापित हो गया कि भावना के बल से उपजायमान प्रज्ञादि की तरह सुखादि भी ज्ञानस्वभाव वाले हैं।²⁰⁷

आचार्य प्रज्ञाकर तदनन्तर पुनः इस बात की व्याख्या करते हैं कि विवक्षित एक रूप वाले पदार्थ एक रूप वाले हेतु से उत्पन्न होते हैं और अन्यरूप वाले पदार्थ विलक्षण सामग्री से उत्पन्न होते हैं।²⁰⁸ इन्द्रिय, मनस्कार तथा सामने उपस्थित विषय आदि समान सामग्री की परस्पर सहकारिता से उत्पन्न होने वाली चीजें या तो बोधरूप होगी या अबोधरूप। विज्ञान की समानकारणसामग्री से उत्पन्न होने वाले सुखादि अज्ञानरूप नहीं हो सकते। चूँकि दोनों ही समान कारणसामग्री से जायमान हैं, अतएव या तो दोनों ही ज्ञानस्वरूप होंगे या अज्ञानस्वरूप। उनमें से एक ज्ञानस्वरूप हो और दूसरा अज्ञानस्वरूप ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि कहीं पर भी कारणसामग्री में प्रधान और अप्रधान का विवेक नहीं होता है। यह रूपादिकारणसामग्री बोधाबोधरूप अनेक

कार्यों को उत्पन्न करने की सामर्थ्यवाली देखी गयी है और इसका विधान अन्य प्रकार से शक्य नहीं है। यदि विरोधी यह आक्षेप करे कि कारणसामग्री के ही द्वारा अनैकान्तिकता का प्रदर्शन हो रहा है, क्योंकि वही कभी बोधरूपकार्य को और कभी अबोधरूप कार्यो को उत्पन्न करती है, अतएव बौद्धों के पक्ष में अनैकान्तिकता का दोष है, तो प्रज्ञाकर का उत्तर है कि हमारे पक्ष में अनैकान्तिकता का दोष नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि हमें हेतु का अर्थ दूसरे प्रकार से विवक्षित है।²⁰⁹ जिस प्रकार भावना से प्रज्ञादि का जन्म होता है उसी प्रकार सुखादि का भी होता है, अतएव मात्र उपर्युक्त कारण से, सुखादि स्वसंवेदक नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। पुनश्च, जो जिस रूप में अभ्यास किया जाता है वह उसी प्रकार से ही होता है, यह प्रमाण का अर्थ है। रूपादि कारणसामग्रियों का आन्तर स्वभाव अभ्यास-संभव नहीं है। प्रज्ञाकर पूछते हैं कि अर्थापत्तिगम्य प्रज्ञादिविशेष का आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध है इसे कैसे जाना जाय? प्रज्ञाकर का कहना है कि आत्मसमवायादि का ज्ञान नहीं हो सकता। इस कारण जब लोग यह कहते हैं कि 'मेरे द्वारा यह जाना गया' तो वे ज्ञान की आन्तरिकता के अभ्यस्त होने की ही बात करते हैं जिससे कि आन्तरत्व की प्रतीति होती है। ऐसा कहकर प्रज्ञाकर न्याय-वैशेषिकादि की आशंका का समाधान प्रस्तुत करते हैं।²¹⁰ वे पुनः कहते हैं कि जो लोग बुद्धि में बुद्ध्यन्तर की प्रत्यक्षता का वर्णन करते हैं उनके मत में भी यह अवश्य ही अभ्युपगंतव्य है कि वह आत्मसमवायिनी एवं बोधस्वरूप प्रतीति होती है। यदि हमारे विरोधी ऐसा नहीं मानेंगे, तो वह अन्य ही पदार्थ हो जायेगी। पुनश्च, ग्राहकता की तो प्रसिद्धि है ही। इस कारण प्रत्यक्षान्तर में तदारूढ ग्राहकता की ही प्रतीति होती है। ऐसी स्थिति में वहाँ पर भी वही अर्थ प्रतिभासित होता है।²¹¹ प्रश्न है कि जो नष्ट हो गया है उसका प्रतिभास कैसे हो सकता है? जो केवल ज्ञानरूप में प्रतिभासमान है वह विज्ञान ग्राहकरूप से अथवा ग्रहण रूप से कैसे प्रतिभासित हो सकता है?²¹² इसी प्रकार जो केवल आत्मा के रूप में है वह ग्राहक या ग्रहण के रूप में प्रतिभासित नहीं हो सकता।²¹³ यदि इसके उत्तर में कहा जाय कि आत्मसमवेतत्वेन बाह्यार्थ का आरोप अनादिकालिक रूप में उत्पन्न होता है, तो प्रज्ञाकर कहते हैं कि जैसे आपके पक्ष में है उसी तरह हम भी यह मानते हैं कि भावना के बल से उपजायमान प्रज्ञादि या सुखादि भी ज्ञानस्वरूप ही हैं। यदि विरोधी इस पर कहें कि हम ज्ञानादि की स्वसंवेदनता को स्वीकार नहीं करते, तो हमारा कहना है कि यदि आप ज्ञान की स्वसंवेदनता को स्वीकार नहीं करेंगे तो ज्ञान की न तो प्रत्यक्षता हो सकेगी और न तो उसका आन्तरत्व ही होगा। ज्ञान की स्वसंवेदनता को मान लेने पर ये दोनों बातें युक्तियुक्त हो जाती हैं।²¹⁴

यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि चूँकि सुखादि एकार्थसमवायी विज्ञान के ग्राह्य हैं और आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, अतएव, आप बौद्ध यह क्यों नहीं मान लेते कि ज्ञान से संस्पर्श होने के कारण सुखादि का ज्ञानरूप में अवभासन होता है, बोधस्वभावेन नहीं होता, तो प्रज्ञाकर का उत्तर है कि 'भावना बल से यह उत्पन्न होता है' ऐसा जब हम प्रतिपादित करते हैं, तो, चूँकि लोक में कोई अन्य समुपजायमान प्रक्रिया उपलब्ध नहीं है, इसलिए, ऐसा करते हैं। भावनाबल के कारण यह जिस प्रकार देखा जाता है या दिखलाई पड़ता है उसी प्रकार से ही 'एतद्' ऐसा व्यवहार होता है।²¹⁵ अथवा एकार्थसमवाय की कल्पना का क्या प्रयोजन? यदि आत्मा में समवाय आप बौद्धों को अभीष्ट नहीं है, तो फिर बतावें कि वह सुख किसका है? यदि यह प्रश्न विरोधी पूछे तो हमारा उससे प्रतिप्रश्न है कि ऐसी स्थिति में, यदि अन्यत्र उसका समवाय आपको इष्ट नहीं है तो वह किसकी आत्मा है?²¹⁶

हमारे विरोधी न्यायवैशेषिकादि यह कह सकते हैं कि नित्य होने के कारण आत्मा स्वतंत्र है, वह पराधीन नहीं। किन्तु, सुखादि अनित्य हैं, अतः, उनकी अनित्यता में ही पराधीनता की कल्पना की जाती है। नित्य एवं स्वतंत्र होने के कारण आत्मा अनाश्रित है और यह युक्तियुक्त है। सुखादि गुण हैं तथा अनित्य हैं। अतः नियमतः उनका कोई आश्रय होना चाहिए।²¹⁷ प्रज्ञाकर कहते हैं कि हमारे विरोधियों का यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आश्रयता के होने पर गुणत्व की बात हो या गुणत्व के होने पर आश्रयता की बात की जाय, एक दूसरे पर इन दोनों के आश्रित होने से ही उपर्युक्त बात हो सकती है, किसी अन्य प्रकार से नहीं। यदि गुणत्व पहले सिद्ध हो जाय, तब आश्रित गुण के द्वारा सुखादि को होना चाहिए, इस प्रकार की कल्पना की जा सकती है, किन्तु गुणत्व ही सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि उसकी सिद्धि आश्रयता पर निर्भर है। यद्यपि हमारे प्रतिपक्षियों ने यह कहा है कि नित्य होने के कारण आत्मा स्वतंत्र एवं निरपेक्ष है और अनित्य होने के कारण सुखादि वैसे नहीं हैं, किन्तु अनित्य भी, हेतुओं से उत्पन्न होकर भी, निरपेक्ष हो सकता है। अतएव, सुखादि की उत्पत्ति में आश्रयाश्रयीभाव की कर्तव्यता नहीं है, अतः सुखादि की परायत्तता कैसे होगी? यदि सुखादि उत्पन्न ही नहीं हैं तो उनकी पराधीनता कैसे होगी और यदि कुतश्चित् हेतु से उसकी उत्पत्ति को मान भी लें तो उसकी कौन सी पराधीनता है? यदि हमारे विरोधी कहें कि 'अपने कार्य के जनन में पराधीनता' है, तो हमारा कहना है कि अपने हेतुओं से उसके कार्य का जनन होता है, अतएव अन्य के अधीन होने का योग नहीं होने से उसके पराधीन होने का प्रश्न यहाँ नहीं होगा। अतः, यह फलित हुआ कि सुखादि को ही स्वतंत्र मान लिया जाय, आश्रयरूप आत्मा की परिकल्पना का कोई प्रयोजन नहीं

(ख) अब आचार्य धर्मकीर्ति यह प्रमाणित करने में प्रवृत्त होते हैं कि सुखादि में परवेद्यता नहीं है। प्रज्ञाकर एवं वृत्तिकार का तर्क है कि सुखादि का स्वसंवेदन न मानने पर अर्थ की ग्राहकता कैसे होगी? यदि न्याय-वैशेषिक की ओर से उत्तर दिया जाय कि एकार्थसमवायी विज्ञान के द्वारा सुख की वेदना में अर्थ की ग्राहकता होगी, तो हमारा प्रश्न है कि क्या एकार्थसमवायी इन्द्रियज विज्ञान के द्वारा सुखादि की उसको वेदना होती है अथवा अन्य के द्वारा? इन्द्रियविज्ञान के द्वारा उसकी वेदना नहीं हो सकती, क्योंकि 'इन्द्रियविज्ञान स्त्रियादि विषय को ग्रहण करता है, और नियम यह है कि इन्द्रियविज्ञान उसको ग्रहण करता है जो उसका जनक है। जिस विषय के सन्निधान से ज्ञान एवं सुखादि उत्पन्न होते हैं, उस कारणभूत और आकारार्पण में समर्थ अर्थ को छोड़कर विषयलक्षण से रहित सहभावी सुखादि को इन्द्रियज्ञान कैसे जानेगा? क्योंकि, अकारण को विषय मानने पर अतिप्रसंगदोष होगा।²¹⁹ आशय यह है कि इन्द्रियप्रत्यक्ष के विषय अपने अनुभव के साथ ही साथ सुखादि को भी उत्पन्न करते हैं, अतएव, अपने साथ अपरिहार्य रूप में उत्पन्न होने वाले सुखादि को इन्द्रियप्रत्यक्ष कैसे ग्रहण कर सकता है? पुनश्च, पहले इन्द्रियप्रत्यक्ष द्वारा बाह्यार्थ का ग्रहण और तदनन्तर मानसप्रत्यक्ष द्वारा सुखादि के ग्रहण की बात भी अयुक्त है, क्योंकि, तब, विषय और सुख की संवित्ति युगपत् नहीं हो सकेगी, अपितु बाह्यविषय के ज्ञान के अनन्तर सुखादि के ग्रहण की बात माननी होगी, जो कि वस्तुस्थिति के विपरीत होगा, क्योंकि विषय और सुख का युगपत् स्पष्ट प्रतिभास होता है। पुनश्च, विषय और सुख के ग्राहकज्ञानों में युगपत् प्रतिभास मानना ठीक नहीं है, क्योंकि, प्रतिक्षण एक-एक विषय और सुख के संवेदन का, अभाव में भी, लाघव समान है।²²⁰

आचार्य प्रज्ञाकर धर्मकीर्ति के उपर्युक्त विचारों की, उसके सारे निहितार्थों के साथ, विस्तार से व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं कि वही इन्द्रियविज्ञान, जो चक्षुरादि के द्वारा रूपादि विषयों में नियुक्त है, भला सुखादि को कैसे जान सकेगा? ऐसा ज्ञान तो होता नहीं है कि 'मेरी चक्षुरिन्द्रिय सुख में प्रवृत्त है। यदि यह कहा जाय कि सुख का ग्राहक विज्ञान रूप में ही प्रवृत्त होकर व्यापार करेगा, तो, ऐसी स्थिति में अतिप्रसंगदोष होगा और साथ ही अनुमान में भी चाक्षुषत्व का प्रसंग उपस्थित होगा। यदि विरोधी कहे कि चूँकि इन्द्रियज्ञान से अपर कोई ग्राहक आकार उपलब्ध नहीं होता है, इसलिए उपर्युक्त प्रकार की बात कही गयी है, तब तो, यह अर्थ निकलेगा कि समानकाल वाला विकल्प भी इन्द्रियविज्ञान के द्वारा ही गृहीत होता है। इतना ही नहीं, जो अनुमेय है वह भी इन्द्रियविज्ञान से ही प्रतीत होने लगेगा, क्योंकि अनुमान

में भी कोई अपर ग्राहकाकार उपलब्ध नहीं होता है। यदि प्रतिपक्ष की ओर से कहा जाय कि ग्राह्याकार के कारण उस प्रकार के ग्राहकाकार की परिकल्पना हम कर लेते हैं, तो, विकल्पात्मक शब्द में भी यह बात समान ही है। यदि विरोधी प्रश्न करें कि क्या सुखादि में ग्राहकाकार की कल्पना (= परिकल्पना) नहीं होती? तो, हमारा उत्तर है कि नहीं होती, क्योंकि सुखादि का अनुभव ग्राह्यत्वेन नहीं होता है, अपितु, स्वसंवेदनतया होता है।²²¹ एकार्थसमवाय होने पर भी ग्रहणान्तर के द्वारा ग्रहण होने के कारण सुखादि की ग्राह्यता नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि सुखादि की प्रतिपत्ति एकलोलीभाव से होती है, यदि नैयायिकादि ऐसा कहते हैं,²²² तो हमारा कहना है कि वैसी स्थिति में वह सुखस्वरूप होगा या ज्ञानस्वरूप। चूँकि, एकलोलीभावेन सुखादि की प्रतिपत्ति में एक का भी स्वरूपेण अग्रहण नहीं होता, अतः, संवेदन केवल सुखाकार ही है। यदि यह कहा जाय कि तब तो, अन्य का भी असंवेदन सुखभाव वाला होगा, तब हमारा उत्तर है कि ऐसा नहीं होगा, क्योंकि परोपधानता की प्रतीति नहीं होती। यदि, नैयायिकों की ओर से यह कहा जाय कि अनुमान के द्वारा तो परोपधानता साधित होती है और जो प्रतीति होता है वह परोपधान है, जैसे पिण्ड²²³, तो हमारा कहना है कि ऐसा नहीं है, क्योंकि, वैसी स्थिति में बाह्यार्थ के अभाव का प्रसंग होगा। इसमें एक अन्य भी कारण यह है कि आपके मत को मानने पर वासना का उपधान संभव हो जाता है। इस कारण, जो जिस रूप में प्रतीति होता है, उसको उस रूप में ही जानना चाहिए। अनुमान के द्वारा उसकी अन्य प्रकार से स्थापना नहीं करनी चाहिए। अतः बाह्यार्थ अपने रूप द्वारा ग्राह्यतया प्रतीयमान है, फलतः, वह उसी रूप में स्थापित भी होता है, क्योंकि केवल प्रतीति के आधार पर ही वस्तुओं की व्यवस्था की जाती है। सुखादि की वेदना ग्राह्यतया नहीं होती, अतः सुखादि स्वसंवेदन रूप हैं।²²⁴

यदि नैयायिकों की ओर से कहा जाय कि इन्द्रिय से नहीं अपितु आत्मा तथा मन के योग मात्र से उत्पन्न ज्ञान सुखादि का ग्राहक है, तो, वैसी स्थिति में युगपत् ज्ञान का उदय नहीं होगा। अतः, ग्रहण क्रम से होगा। किन्तु लोक में हमें रूपादि के ग्रहण के साथ ही सुखादि का ग्रहण भी होता है। यदि कहा जाय कि वहाँ पर दोनों का साथ-साथ ग्रहण होता है, तो यह विरुद्ध बात होगी, क्योंकि दो विरुद्ध चीजों का एक स्थान पर भाव नहीं होता। यदि न्याय की तरफ से यह कहा जाय कि सुखग्रहण की लघुवृत्ति के कारण युगपत् प्रतिभास होगा, तो ऐसा मानने पर, चूँकि यह लाघव सुखादि के अग्रहण में भी समान ही है, अतएव सुखादि एवं रूपादि विषयों के अग्रहण को भी युगपत् मानने का प्रसंग उपस्थित होगा।²²⁵ नैयायिक ऐसा कह सकते हैं कि

अग्रहण भी युगपत् ही प्रतिभासित होता है, क्योंकि सुख का अग्रहण विषय के ग्रहण से अन्य नहीं है और विषय का भी अग्रहण सुख के ग्रहण से अन्य नहीं है। फलतः, सुख का युगपत् अग्रहण और रूपादि के युगपत् ग्रहण का भी यही अर्थ है। इसके विपरीत स्थिति में भी यही बात कही जा सकती है। अतः नैयायिक पूछते हैं कि क्या यह अग्रहण सिद्धसाधन के दोष से दूषित नहीं है?²²⁶ प्रज्ञाकर का उत्तर है कि अन्य के अभाव के द्वारा जिस एक के भाव को कहा जाता है, तो उसका वह अभाव भाव को अभाव से पृथक् करने की दृष्टि से कहा जाता है। किसी का भी अभाव स्वरूपतः नहीं होता, अपितु, अभाव से भाव को पृथक् करने की दृष्टि से उसे कहा जाता है। अतएव, विषय का ग्रहण (= रूपग्रहण) सुखग्रहण से विविक्त रूप में उपलब्ध होता है ऐसा स्वीकार कर लेने पर तद्विविक्त का ग्रहण लघुवृत्ति के द्वारा होता है इस बात से सुख का संवेदन कैसे होगा, क्योंकि रूप एवं सुख का ग्रहण जब अतिशीघ्रता से होगा, तब उनमें पार्थक्य या विभाग संभव नहीं होगा, फलतः सुख का ग्रहण कैसे होगा, क्योंकि, वह रूप-ग्रहण भी हो सकता है।²²⁷ यदि सुख की संवेदना का भी वही क्रम आप नैयायिक मानेंगे, तब, दोनों का ही अग्रहण हो जायेगा। यदि नैयायिक यह पूछें कि अग्रहण को ही उसका स्वरूप क्यों नहीं माना जा सकता, तो हमारा उत्तर है कि दूसरे स्थान पर भी उपलब्ध होने पर अन्य का उससे विविक्त ग्रहण नहीं होता। यदि विरोधी यह कहें कि तद्विविक्तग्रहण ही उसका स्वरूप है, क्योंकि, उसके स्वरूप का वहाँ पर प्रवेश नहीं होता, तो यह वस्तुस्थिति के अनुकूल नहीं है, क्योंकि परस्पर स्वरूप के प्रवेश का ग्रहण न होने पर क्रम का ग्रहण नहीं होगा और यह बात समानकालग्रहण में भी संभव है।²²⁸

नैयायिक अपने पक्ष के समर्थन में यह कह सकते हैं कि दूर से अनेक केशों का अन्तर के साथ होने वाले ग्रहण के द्वारा यद्यपि अन्तर का ग्रहण नहीं होता, फिर भी, वह केश रूप का (= केश विषय का) अ-ग्रहण ही है। जिस प्रकार उस स्थान पर केश रूप के निरन्तर ग्रहण के द्वारा अन्तर का अग्रहण बाधित हो जाता है, उसी प्रकार अन्तर के ग्रहण के न होने के द्वारा केशग्रहण बाधित नहीं होता। तद्वत् यहाँ पर भी, अग्रहण से अन्य कोई ग्रहण का बाधक नहीं है।²²⁹ प्रज्ञाकर का उत्तर है कि वहाँ पर तो अन्तरग्रहण है ही नहीं। पुनश्च, जो सत् है वह बाधक कैसे होगा? जो असत् है वह बाध्य कैसे होगा? और न तो यह इष्ट ही है।²³⁰ नैयायिक प्रश्न करते हैं कि आप यह कैसे कहते हैं कि वहाँ पर अन्तरग्रहण ही नहीं होता? प्रज्ञाकर का उत्तर है कि भावों अर्थात् वस्तुओं की शक्ति ही ऐसी है जिसके चलते अन्तरग्रहण उत्पन्न ही नहीं होता। अतएव, न तो उसका कोई बाधक है और न तो वह बाध्य ही है। वह

केवल व्यपदेश मात्र है और जैसे-जैसे लोक में रुद्ध हो गया है।²³¹ यदि इस पर कहा जाय कि वहाँ पर तो सुख तथा रूप, इन दो ग्रहणों का अग्रहण अनुत्पन्न है, तो, यह युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसी स्थिति में क्रमग्रहण संभव नहीं होगा। यदि कहा जाय कि वहाँ पर अग्रहण तो है ही, किन्तु अन्य ग्रहण वहाँ पर उत्पन्न नहीं है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि, हमारे विरोधी नैयायिकों को भी इष्ट है कि ग्रहण में ग्राहक नहीं है और ग्राहक में अन्य ग्राहक नहीं है। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो असमंजस होगा।²³² ग्रहण अर्थात् ज्ञान को स्वप्रकाश रूप होना चाहिए। यदि यह अ-प्रकाश स्वरूप होगा, तो किसी भी अर्थ का ग्रहण नहीं होगा। यदि ज्ञान स्वप्रकाश है अथवा इन्द्रिय से अन्य है तो फिर उसके लिए अन्य ग्राहक की क्या आवश्यकता होगी?²³³ यदि नैयायिक कहें कि ज्ञान अन्य से प्रकाशित होता है, तो, अन्य के द्वारा भी प्रकाशन, चूँकि परीक्षा ही है, अतएव उसको भी अन्य की अपेक्षा होगी और इस प्रकार सभी जगत् की अर्थता का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। ज्ञान यदि अन्य के द्वारा प्रकाश्य माना जाय, तो, इस अन्य के लिए एक दूसरे प्रकाशक ज्ञान की आवश्यकता होगी और उसको भी अन्य प्रकाशक की आवश्यकता होगी, चूँकि ज्ञान होने के कारण वह परप्रकाश्य होगा। इस प्रकार अनेक ज्ञान प्रतिभासमान होंगे और वे परस्पर भिन्न काल में उत्पन्न होंगे तथा उनमें कालभेद होगा। पहले-पहले वाले पूर्ववर्ती और बाद वाले अनुवर्ती होंगे। ऐसी स्थिति में वे परस्पर बाधक हो जायेंगे।²³⁴ नैयायिक यह कह सकते हैं कि केवल रूपादि का ग्रहण होने के कारण कभी-कभार सुखग्रहण बाधित हो जाता है, जैसे- मनोहारी रूप का दर्शन होने पर भी कभी-कभार सुख का संवेदन नहीं होता है: इसलिए यह केशान्तर-ग्रहण भी सुखग्रहण ही है, अतएव हम, 'सुख उत्पन्न ही नहीं हुआ' इस प्रकार से बाधा को स्थापित करते हैं। प्रज्ञाकर कहते हैं कि आप नैयायिकों की यह व्यवस्था भी सत् नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार केश-ग्रहण अपने से अन्य ग्रहण का सर्वदा ही बाधक होता है, वैसे ही रूपादि के ग्रहण को भी सुखादि के ग्रहण का बाधक होना चाहिए। परमार्थतः केश-ग्रहण तो होता नहीं। जहाँ केवल रूपादि का ग्रहण हो रहा है, उसमें जिस समय सुख की प्रतिपत्ति नहीं होती, तो उस समय वहाँ सुख ही उत्पन्न नहीं हुआ। व्यवस्था यह है कि जो उत्पन्न नहीं है वह केवल अज्ञानस्वरूप है, अतः नैयायिकों का पक्ष अमान्य है।²³⁵

पुनश्च, धर्मकीर्ति आगे कहते हैं कि 'एक ही इन्द्रियविज्ञान से विषय और सुख का युगपत् ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञानबाह्य रूपादि में ही नियत है। इन्द्रियज्ञान के द्वारा सुखादि का, जो कि आत्मा के गुण हैं, ग्रहण नहीं होता। इसके अतिरिक्त, सुखादि के अभाव में भी केवल अर्थ से इन्द्रियज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

इन्द्रियज्ञान की उत्पत्ति में, चूँकि सुखादि की शक्ति नहीं है अतः सुखादि इन्द्रियज्ञान के विषय नहीं हैं।²³⁶ पुनश्च, "विषय और सुखादि की ज्ञानोत्पत्ति में पृथक्-पृथक् सामर्थ्य मानने पर, जैसे, केवल नील का ग्रहण होता है वैसे ही केवल सुख का भी ग्रहण होना चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं है, क्योंकि सुखादि का जो अर्थ (= विषय) हेतु होता है उसको ग्रहण किये बिना सुख का संवेदन नहीं होता।"²³⁷ पुनश्च, इन्द्रियज्ञान के द्वारा अर्थ के साथ सुख का ग्रहण नहीं माना जा सकता, क्योंकि इन्द्रियज्ञान को उत्पन्न करने में सुख का सामर्थ्य नहीं है। चूँकि इन्द्रिय ज्ञान सुख से उत्पन्न नहीं होता है, अतः वह सुखादि का ग्राहक भी नहीं है।²³⁸ यह प्रश्न उठ सकता है कि ऐसी स्थिति में अर्थ और सुख का युगपत् वेदन कैसे हो सकता है? धर्मकीर्ति कहते हैं कि "अर्थ के बिना ही चक्षुरादि ज्ञानों से सुखादि का वेदन मानने पर सुख के हेतु जो स्त्रियादि रूप विशेष हैं उन्हें चक्षुज्ञान के द्वारा कभी गृहीत नहीं होना चाहिए।"²³⁹ क्योंकि, 'जब अन्तरंग अर्थ (= सुखादि) अपने ग्राहक ज्ञान के उत्पादन में समर्थ हैं, तो, बुद्धि को बाह्य अर्थ का ग्राहक मानना युक्त नहीं है। बाह्य अर्थ, इन्द्रिय और आलोकादि की अपेक्षा करता है, किन्तु सुखादि इनकी अपेक्षा नहीं करते, अतः सुखादि से उत्पन्न ज्ञान सुखादि को ग्रहण करेगा। फिर भी, इन्द्रियज्ञान के द्वारा यदि अर्थ का ग्रहण स्वीकार किया जाय, तो, अर्थदर्शन से उत्पन्न सुखादि का संवेदन नहीं होगा, क्योंकि इन्द्रियज्ञान अर्थ के ग्रहण में तत्पर है और उस काल में दूसरा ज्ञान है नहीं तथा अनन्तरकाल में विषय से होने वाले सुखादि का अभाव है। ऐसी स्थिति में सुखादि का वेदन कैसे होगा?"²⁴⁰ पुनश्च, 'यदि यह कहा जाय कि बाह्यार्थ के इन्द्रियप्रत्यक्ष का तथा आन्तरिक धर्मों के मानसप्रत्यक्ष का युगपत् ग्रहण होता है, तो एक ही वस्तु एक ही समय में सुख और दुःख दोनों को उत्पन्न करने लगेगी।"²⁴¹ नैयायिक यह कह सकते हैं कि "सुख-दुःखादि चूँकि मात्र बाह्य अर्थ से जनित नहीं होते, अपितु, अव्यवहित पूर्ववर्ती ज्ञान (= समनन्तरप्रत्यय रूप ज्ञान) से भी जनित होते हैं, फलतः बाह्यार्थ या तो केवल सुख उत्पन्न करते हैं या केवल दुःख।"²⁴² धर्मकीर्ति प्रश्न पूछते हैं कि "विज्ञान ऐसी चीज का उपादान कारण कैसे हो सकता है जो कि ज्ञान स्वरूप नहीं है? अधिक से अधिक वह सहकारी कारण हो सकता है और सहकारित्व विरुद्ध कार्य में भी देखा जाता है; जैसे, एक ही आलोक रात्रि में विचरण करने वाले उलूकादि को रूपदर्शन में वैगुण्य और मनुष्यादि को रूप-दर्शन में अवैगुण्य एक साथ करता है। आशय यह कि आलोक का विरुद्ध कार्यों में एक साथ सहकारित्व है।"²⁴³

अतः, धर्मकीर्ति का कहना है कि "चूँकि सुखादि का संवेदन अन्य के द्वारा

घटित नहीं होता, अतएव सुखादि ज्ञानात्मक हैं और अपने में संक्रान्त होकर अवभासित होने वाले विषयों के वेदक हैं तथा अपरोक्ष होने के कारण स्वप्रकाशक हैं। अर्थात्कारज्ञान की अपरोक्षता का ही नाम अर्थसंवेदन और स्वसंवेदन है। इससे अन्य कोई ग्रहण का प्रकार नहीं होता। इसलिए, सुखादि का अर्थ से जन्य होना ही गृहीतृत्व है।²⁴⁴ आचार्य प्रज्ञाकर, धर्मकीर्ति के आशय को स्पष्ट करने के साथ इस प्रसंग में उठने वाली अनेक आशंकाओं का विस्तार के साथ समाधान प्रस्तुत करते हैं। प्रज्ञाकर कहते हैं कि यदि सुखादि अज्ञानस्वरूप हों और रूपादिसामग्री से विज्ञान के समानकाल में उत्पन्न होते हों, तो, उस स्थिति में इष्ट तथा अनिष्ट विषय सर्वदा सम्मुख रहेंगे, फलतः सुख और दुःख का ज्ञान युगपत् होना चाहिए। यदि विरोधी पूछे कि आप बौद्धों के यहाँ भी ऐसा क्यों नहीं होगा, तो, हमारा उत्तर है कि बौद्धों के यहाँ उक्त प्रसंग उपस्थित नहीं होगा, क्योंकि आप नैयायिकों के यहाँ रूपादि विकल्प जैसे वासना के जो प्रबोधक हैं, उस प्रकार के वासना का प्रबोध करने वालों का हमारे यहाँ अभाव है।²⁴⁵ नैयायिक अपने 'ज्ञानपरोक्षता' के सिद्धान्त की पुष्टि के लिए स्मृति का उदाहरण देते हैं और कहते हैं कि स्मृति भी अपने रूप को जानने की स्वभाव वाली नहीं है, क्योंकि, स्मृति में भी अर्थ का ही प्रतिभासन होता है। स्मृति में अर्थ ही वर्णसंस्थान के स्वरूप से प्रतिभासित होता है और वहाँ पर इससे अन्य विज्ञानरूप कोई विषय संवेदन का नहीं होता। इस कारण सभी ज्ञान परोक्ष ही हैं। आचार्य प्रज्ञाकर उपर्युक्त युक्ति का खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि स्मृति में अर्थ ही प्रतिभास का विषय है, तो, उस अर्थ का ग्रहण प्रत्यक्षवत् रूप में ही संगत होगा। तात्पर्य यह है कि अर्थ स्वरूपतः भासमान होकर प्रत्यक्ष होने में समर्थ नहीं है, क्योंकि स्वरूप के प्रतिभास की ही प्रत्यक्षता होती है और इससे अन्य में प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं होता। अतएव, विरोधी की बात को मानने पर प्रत्यक्ष और स्मरण में भेद नहीं रह जायेगा। यदि विरोधी कहे कि पूर्वकाल में होने से स्मृति में अर्थ परोक्षतया प्रतिभासित होता है, अतएव, हमारे पक्ष में कोई दोष नहीं है, तो, प्रज्ञाकर प्रश्न करते हैं कि परोक्षता आपके मत में क्या है? परोक्षता की उपलब्धि तो प्रत्यक्ष के द्वारा होती नहीं और स्मृति का प्रवर्तन प्रत्यक्ष के द्वारा उपलब्ध होने पर होता है। यदि आप ऐसा नहीं मानियेगा, तो फिर पूर्वरूप के ग्रहण में स्मरण कैसे होगा?²⁴⁶

प्रज्ञाकर कहते हैं कि स्मरण पूर्व अर्थ के विषयवाला नहीं होता है। यदि नैयायिकादि कहे कि गृहीत हुए ही अर्थ की परोक्षता का ग्रहण होने के कारण स्मरण होता है, तो, यह पक्ष भी असत् है, क्योंकि, आप नैयायिक यह बतलाएँ कि परोक्षता क्या अर्थस्वभाव है अथवा वेदनस्वभाव? यदि परोक्षता अर्थ का स्वभाव है तो इसे प्रत्यक्ष

में प्रतिभासित होना चाहिए, क्योंकि, जो अर्थ—स्वभाव—रूप होता है वह प्रत्यक्ष में प्रतिभासित होता है, जैसे, नीलादिता। यदि हमारे विरोधी इस पर कहें कि सत्य के नियम के कारण अर्थस्वभाव स्मरण में ही प्रतिभासित होता है, जैसे कि भाव तथा अभावस्वरूप वाली वस्तु में भावरूपता प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत होती है और अभावरूपता पररूपतया भावप्रमाण का विषय बनती है; तो विरोधी यहाँ अपने ही पक्ष का हनन कर रहा है, क्योंकि, यदि अभाव का भावत्व मान लिया जाय तो, उसका प्रत्यक्षतः ग्रहण कैसे नहीं होगा? और यदि अभाव का भाव से व्यतिरेक है तो भाव की उभयता (भावस्वभावता और अभावस्वभावता) कैसे होगी? क्योंकि, भाव के भेद का लक्षण आकारभेद होता है। आकारभेद के द्वारा भी अभेद यदि माना जाय तो, सब कुछ एकरूप हो जायेगा।²⁴⁷ पुनश्च, यदि अभाव भाव से अभिन्न है तो उनमें भेद का ग्रहण कैसे होगा? और, यदि प्रमाणभेद के कारण भेदग्रहण माना जाय, तो भाव और अभाव में अभेद का ग्रहण कैसे होगा?²⁴⁸

प्रज्ञाकर कहते हैं कि जिस प्रकार स्वसंवेदन के संस्कार से जायमान स्मृति अपने में संक्रान्त अर्थाकार की वेदक होती है उसी प्रकार सुखादि भी वेदक हैं।

आचार्य धर्मकीर्ति नैयायिकों की आलोचना के अंत में कहते हैं कि “यदि यह आपत्ति उठायी जाय कि विज्ञान स्वतः अपना विषय नहीं हो सकता, क्योंकि विषय और विषयी दो भिन्न पदार्थ हैं, तो, इसका समाधान यह है कि विज्ञान अपने में ही भासित बाह्यार्थ के आकार की साक्षात् अनुभूति करता है, बाह्यार्थ की नहीं। अतएव, यह उपचारतया कहा जाता है कि विज्ञान बाह्यार्थ का ग्रहण करता है; वस्तुतः वह केवल ‘स्वाकार’ का ग्रहण करता है और पारमार्थिक दृष्टि से ज्ञान का कोई बाह्यालम्बकत्व नहीं होता।²⁴⁹

सांख्यमत का निरास— सांख्यदर्शन बाह्यरूप में स्थित अचेतन सुखादि को चेतन का ग्राह्य कहता है। इनके अनुसार सुखादि का आत्मा में समवाय नहीं है, किन्तु प्रधान (= प्रकृति) के परिणाम के रूप में उत्पन्न होने के कारण सुख-दुःख और मोह स्वभाववाले अचेतन सुखादि चेतन आत्मा के ग्राह्य कहे जाते हैं। सांख्य मत में आत्मा ही चेतन है और बुद्धि (= ज्ञान) जड़ है, अतः बुद्धि रूपी जड़, किन्तु स्वच्छस्वरूप वाले दर्पण में अर्थ और चेतन की प्रतिबिम्बसंक्रान्ति होती है और अचेतन सुखादि इसी प्रतिबिम्बसंक्रान्ति के द्वारा चेतन के ग्राह्य कह दिये जाते हैं। धर्मकीर्ति सांख्यमत की उपर्युक्त व्याख्या पर टिप्पणी करते हैं कि उस मत में भी सुख तथा नील दोनों का नियम से युगपत् ग्रहण युक्त नहीं; कहीं और कभी रूप की अपेक्षा किये बिना रूपसुख

की अनुभूति नहीं होती, वह हमेशा नीलादि के साथ ही गृहीत होता है।²⁵⁰ पुनश्च, यदि सांख्य की ओर से कहा जाय कि सुखादि और नीलादि चूँकि अभिन्नरूपवाले हैं, अतः उनका नियमेन युगपत् ग्रहण होता है, किसी का कभी अकेले ग्रहण नहीं होता, तो प्रश्न उठता है कि जो स्वरूपतः अभिन्न हैं वे भिन्नाकारज्ञानों के कारण कैसे हो सकते हैं? सांख्यमत को मानने पर, तो, सुखदुःखादि और नीलपीतादि में भी एकत्व मानना पड़ेगा।²⁵¹ आचार्य प्रज्ञाकर सांख्य दार्शनिकों से पूछते हैं कि आप यह कैसे कह देते हैं, कि सुख-दुःखादि प्रकृतिरूप हैं अर्थात् जड़ हैं? सांख्य उत्तर के रूप में कह सकता है कि तद्रूप के अन्वय का दर्शन होने के कारण हम ऐसा कहते हैं, जैसे कि मिट्टी के जितने विकार हैं उनका मिट्टी के साथ अन्वय देखा जाता है। प्रज्ञाकर का कहना है कि इस युक्ति में अनैकान्तिकता का दोष है। भेरी तथा दंड के संयोग से ध्वनि उत्पन्न होती है, परन्तु उसका भेरी एवं दण्ड के साथ अन्वय नहीं होता है। पुनश्च, यदि सांख्य यह परिकल्पना करे, कि मिट्टी के विकार की तरह, यहाँ पर भी समानजातीय कारण हैं, तो ऐसी स्थिति में तद्रूप जो भी कार्य हैं वे सभी शब्दादि विजातीय कारणों के चलते हैं। घटादि मिट्टी के कार्य हैं, वे भी विजातीय कारणों के चलते हैं। कुलालादि विजातीय कारण हैं। सत्सजातीय कारणों से ही सभी कार्यों का उदय होता है, ऐसी व्याप्ति नहीं है; और सजातीय तथा विजातीय कारणों से कार्य का उदय होता है, ऐसी व्याप्ति से, अभीष्ट जो है उससे विपरीत की सिद्धि होगी। पुनश्च, कहीं पर भी सजातीयकारण, जो अज्ञाय हो, देखा नहीं जाता।²⁵²

यदि सांख्य यह कहे कि सभी ही सुखादि अन्वित देखे जाते हैं, अतएव सुखादि स्वभाव भी उसी प्रकार कारण हैं जैसे कि मिट्टी का लोंदा मिट्टी के विकारों का कारण होता है। प्रज्ञाकर कहते हैं, कि इस प्रसंग में हम बौद्धों का यह पक्ष है, कि चूँकि अन्य भी सहायक कारणों की कार्य के आविर्भाव में कारणता होती है अर्थात् उपादान कारण के समानजातीय एवं असमान जातीय कारण उसके साथ मिलकर कार्य का आविर्भाव करते हैं, अतएव प्रकृति की, सुख के कारण के रूप में, सिद्धि नहीं होती।²⁵³

पुनश्च, यदि सभी विकारसमूह प्रकृति के स्वरूप में, परस्पर व्यावृत्त होनेरूप अपने उसी स्वभाव के रूप में जाने जाय, तो प्रश्न है कि यहाँ पर प्रकृति का कौन सा विकार भाव है? यदि, यह कहा जाय कि मात्र आविर्भाव एवं तिरोभाव होना; अर्थात् आविर्भाव विकार है और तिरोभाव प्रकृति है। व्यक्ति को आविर्भाव कहते हैं और व्यक्ति का अभाव तिरोभाव है। दृश्यात्मता व्यक्ति है और दृश्यात्मता का अभाव या अनुपलब्धि तिरोभाव है।²⁵⁴

यदि स्वभाव प्रमाणतः सिद्ध है, तो उसकी अनुपलब्धि नहीं हो सकती और यदि स्वभाव असिद्ध है, तो प्रकृति की सिद्धि नहीं होगी। यदि अनुपलब्ध घटादि पहले से ही इसी रूप में रहते हैं तो प्रकृति को कारण मानने की क्या आवश्यकता? यदि सांख्य कहे कि इनकी सुखादिरूपता ही प्रकृति है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि सुखादिरूपता का भेद के साथ ग्रहण होता है, अभेदपूर्वक नहीं, जबकि प्रकृति एक अर्थात् अभेदवान है और उसका अभेदेन ग्रहण होता है।²⁵⁶

आचार्य धर्मकीर्ति पुनः कहते हैं कि यदि नीलादि बाह्यार्थ सुखादि रूप हों, तो एक ही वस्तु एक आदमी में दुःख एवं दूसरे में सुख का कारण कैसे बन सकती है? अथवा एक ही व्यक्ति में एक समय में सुख और दूसरे समय में दुःख कैसे उत्पन्न कर सकती है?²⁵⁶ पुनश्च, सांख्य यह कह सकता है, कि बुद्धि सुखादि रूप है और इसमें जिस गुण का प्राधान्य रहता है उसी का अनुभव बाह्यार्थ में व्यक्ति को होता है। धर्मकीर्ति इस पर प्रश्न करते हैं कि सांख्य नीलादि बाह्यार्थ को सुखादिरूप क्यों समझता है?²⁵⁷ यदि सांख्य का अभिप्राय यह हो कि जिस प्रकार शब्दादि प्रकृति के परिणामस्वरूप हैं, उसी तरह बुद्धि या ज्ञान भी है; अतएव आत्मा के द्वारा ज्ञानरूप सुखादि का वेदन होने पर नियमतः अबाह्य रूप का वेदन होता है। भावना के तारतम्य से बुद्धि का तारतम्य होने पर सुखादि का भी उसके स्वरूप से तारतम्य हो जाता है। अहंकार तथा मन से प्रवर्तित होने का ही नाम भावना है। बुद्धि में 'अहं' इस रूप में जो रहता है वह अहंकार है। मन संकल्पात्मक होता है, अतः मन में पुनः-पुनः संकल्प का होना भावना है। इसी कारण बुद्धि सात्त्विक अहंकार के पराधीन होकर सुखस्वरूप में जानी जाती हुई उस रूप में ज्ञान कराती है। सांख्य के इस विश्लेषण पर प्रज्ञाकर का प्रश्न है, कि यदि ऐसा है, तो यह ज्ञान कैसे होता है कि सुखादि बाह्यरूप हैं? यदि सांख्य उत्तर दे, कि चूँकि बाह्य शब्दादि भी प्रकृति के परिणाम ही हैं, अतएव सुखादि बाह्यरूप हैं, तो उसका यह समाधान भी युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार बुद्धि का सुखादि से अन्वय है, यदि उसी तरह शब्दादि का भी सुखादि से अन्वय प्रमाणतः निश्चित हो, तो संसार में रहने वाले लोग यह जानेंगे, कि कार्य का कारण के साथ अन्वय है और शब्दादि से सुखादि कार्य उत्पन्न होता है। यदि सांख्य की ओर से फिर कहा जाय कि चूँकि सुखादि प्रकृति के परिणामरूप हैं, अतएव ऐसा निश्चय होता है, तो प्रज्ञाकर को सांख्य के इस कथन में अन्योन्याश्रय दोष दिखलाई पड़ रहा है, क्योंकि प्रकृति के परिणाम के रूप में ज्ञात होने पर ही शब्दादि की सुखादिता है और सुखादि का परिज्ञान होने के कारण शब्दादि के तत्त्व होने का निश्चय होता है; अर्थात् प्रकृति की परिणामता में शब्दादि का सुख के साथ अन्वय है और सुखादि के साथ अन्वय

के निश्चित हो जाने पर प्रकृति की परिणामरूपता की बात कही जा रही है; इस प्रकार, एक की असिद्धि होने से दोनों की असिद्धि हो जाती है।²⁵⁸

सांख्य अपने पक्ष के समर्थन के लिये यह कह सकता है कि यदि बाह्य शब्दादि सुखरूप न हों तो भिन्न जातियों में ग्राह्यग्राहक भावना होने से ज्ञान सुखादि का ग्राहक नहीं होगा, अतः बाह्य अर्थ सुखादिरूप हैं। धर्मकीर्ति सांख्य की उपर्युक्त युक्ति पर कहते हैं कि यदि भिन्न जातीय अर्थों में ग्राह्यग्राहक भाव है, तो पुरुष किसी भी अर्थ का ग्राहक नहीं हो सकेगा और ग्राहक न होने से भोक्ता भी नहीं होगा, क्योंकि अनुभव करने वाले को ही भोक्ता कहा जाता है। अनुभव के अभाव में कोई उपभोक्ता नहीं हो सकता। पुरुष चेतन और अ-सुखादिरूप है, जबकि ग्राह्य अचेतन और सुखादिरूप है। इस प्रकार, बाह्य अर्थ और पुरुष में भिन्न जातीयता स्पष्ट है।²⁵⁹ उपर्युक्त कथन से सांख्य द्वारा अभिमत ज्ञान और सुख में कार्य-कारणता का निरास हो जाता है। सांख्य का कहना है कि ग्राह्य सुखादिरूप है, इसलिए ग्राह्य के कार्य ज्ञान को भी सुखादिरूप होना चाहिए। किन्तु, जब बुद्धि और सुख में ग्राह्य और ग्राहक भाव नहीं है, तो उनमें कार्य-कारणता कैसे हो सकती है, क्योंकि जो कारण नहीं है वह विषय भी नहीं होता है। यदि बुद्धि सुखादि का ग्राहक होने से कार्यरूप और सुखादिरूप हो, तो, चूँकि भोक्ता भी सुखादि का ग्राहक है, अतः उसे भी कार्यरूप और सुखादिरूप मानना चाहिए। चूँकि ज्ञान और सुख में कार्यकारणभाव नहीं है, इसलिये कार्य-कारणनिबन्धनरूप ग्राह्यग्राहकता भी उनमें नहीं है। यदि ग्राह्यग्राहक से कार्यकारणभाव माना जाय, तो चेतन और विषय में भी ग्राह्य-ग्राहकता होने से कार्य-कारणता माननी पड़ेगी।²⁶⁰

धर्मकीर्ति आगे कहते हैं कि चूँकि बुद्धि और सुखादि में ग्राह्यग्राहकभाव नहीं है, इसलिये सुखादि को ज्ञानस्वभाव और अबाह्य मानना चाहिए। पुनश्च, संवेद्यता के कारण सुखादि चेतन हैं। संवेदन जिस अर्थ के आकार का नहीं होता है वह संवेदन उस अर्थ का वेदक नहीं होता है। जो ज्ञान विषयस्वरूप नहीं होता वह प्रति विषय में भेदव्यवस्था को करने में समर्थ नहीं होता। इसलिये, साकार ज्ञान ही ग्राहक होता है। ऐसी स्थिति में साकार ज्ञान ही सुख है और आकार के उपधायक को बाह्य मानना अयुक्त है। भावनाविशेष से सुखादि के संवेदन में किसी विशेष का दर्शन नहीं होता। यदि सुखादि के वेदन को बाह्य पदार्थ के अधीन माना जायेगा, तो उसका योग नहीं बैठ सकेगा।²⁶¹

अतः, इससे यह फलित हुआ कि सुखादि आन्तर ही हैं, बाह्य नहीं और

संवेद्यत्व के कारण वे चेतन हैं, जड़ नहीं, क्योंकि संवेदन जिस रूप वाला नहीं होता उसका संवेदन उससे नहीं होता; अर्थात् हमें उस रूप की वेदना नहीं हो सकती जो हमारी संवेदना के स्वरूप का न हो।²⁶² प्रज्ञाकर कहते हैं कि सुखादि के बाह्य होने में कोई प्रमाण नहीं है। सुखादि आन्तरत्वेन संवेद्यमान होने के कारण आन्तर एवं चेतन हैं। कारण यह है कि जिस वस्तु की वेदना जिस रूप में होती है वह उसी रूप में उपगमित होता है। वस्तुओं के वस्तुत्व का निर्णय संवेदन के बिना नहीं होता। संवेदन जिस रूपवाला नहीं होता उसका वेदन उस रूपवाला नहीं होता। सुखादि का वेदन बाह्य विषय के अनुरूप नहीं होता। अतः, सुखादि बाह्य नहीं हैं। संवेदना अन्य प्रकार की हो और पदार्थ उससे अन्य प्रकार का हो, इसे कभी भी न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। नील की संवेदना, पीत की संवेदना के रूप में युक्त नहीं है। पुनश्च, अन्य के द्वारा वेद्यमान सुखादि की वेदना किसी को नहीं होती, अर्थात् सुखादि अन्य के द्वारा संवेद्यमान होकर संवेदित नहीं होते हैं।²⁶³ पुनश्च, सुखादि का ग्रहण चूँकि निराकारतया नहीं होता, अतएव सुखाकार रूप में ही उनकी संवेदना होती है। इससे विज्ञान की सुखाकारता सिद्ध है। फलतः, यह भी सिद्ध हुआ कि विज्ञानान्तर्गत सुख बोधस्वरूप ही है। घटादि की तरह सुखादि को बाह्य मानना युक्त नहीं है, क्योंकि जहाँ विज्ञानात्मभूत भी घटादि की उत्पत्ति अन्य की सहायता से होती है और इसके चलते भावना के व्यापार की वहाँ पर प्रतीति नहीं होती, वहाँ सुखादि आकार, भावनाबल से प्रकृष्यमाण होने के कारण, अन्य की सहायता के अधीन नहीं हैं।²⁶⁴

सांख्यदार्शनिक कहते हैं कि सुखादि भावना के अधीन हैं, फिर भी वे संवेदनरूप नहीं हैं, क्योंकि इनका ग्रहण उनसे भिन्न स्वभाववाले अनुभव के द्वारा होता है। आचार्य धर्मकीर्ति इसका उत्तर देते हुए कहते हैं, कि इन्द्रियसंवेदन अथवा बुद्धिविकल्प का आकार धारण करने वाली चेतन अनुभूति के अतिरिक्त बुद्धि और कुछ नहीं।²⁶⁵ प्रज्ञाकर धर्मकीर्ति के आशय को स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं, कि यदि सांख्य दार्शनिक यह कहें कि भेद को प्रमाण मानने पर बुद्धि का अर्थ अध्यवसाय और संवेदन का अर्थ अनुभव है, तब तो 'अध्यवसाय संवेदन है' ऐसा कहना पर्यायमात्र है। यदि सांख्य कहे कि विषयाकारबुद्धि असंवेदनात्मक होती है और आकाररहित संवेदन ज्ञान रूप है, तो इस बात में उसके पास कोई प्रमाण नहीं है कि संवेदन आकारविहीन होता है। यदि सांख्य पुनः कहे कि इस बात के प्रमाण के अभाव का कारण यह है कि संवेदन अप्रत्यक्ष या परोक्ष होता है, तो हमारा कहना है कि ऐसा नहीं है, क्योंकि आपके इस अभ्युपगम का कोई कारण नहीं दीखता। प्रत्यक्ष के अभाव में अनुमान भी नहीं होगा, अतएव आपका अभ्युपगम ही अयुक्त है। पुनश्च, अन्य संवेदन के बिना सुखादि की

वेदना के नहीं होने का प्रसंग उपस्थित हो जायगा, यदि ऐसा सांख्य कहे तो प्रज्ञाकर कहते हैं कि सुखादि की स्वसंवेदनतया वेदना मानने में क्या विरोध है? हमारे व्यवहार की समाप्ति तो इतने मात्र से हो जाती है, अतएव अन्य को मानना व्यर्थ है।²⁶⁶

सांख्य का पक्ष है कि यदि अन्य संवेदन को नहीं माना जायेगा, तो मोक्ष की अवस्था में सुख तथा दुःख से विनिर्मुक्त व्यक्ति मुक्त कैसे होगा? स्वभाव का परित्याग हो जाने पर धर्म के लोप का प्रसंग भी उपस्थित हो जायेगा।²⁶⁷ कोई भी अपने स्वरूप का हनन नहीं कर सकता, ऐसा समाधान, प्रज्ञाकर सांख्य के प्रश्न का, देते हैं। यदि इस पर सांख्य कहे कि व्यतिरिक्त सुखादि जो कि विवेक के अध्यारोप से विषयीकृत है, इदानीं तन अवस्था में अभेदरूप से प्रतीत किये जाते हैं, तो भी जो प्रमाण से असिद्ध है वह सिद्ध नहीं होगा। विरोधी यह कह सकता है कि मुझे यह इष्ट नहीं है, तो भी वह सिद्ध नहीं होगा, और इसका यह अर्थ होगा कि जो अप्रामाणिक अर्थ है वह सांख्य के सिद्ध व्यक्ति का विषय बनता है। पुनश्च, कारण इष्ट का अनुवर्तन नहीं करता और न तो यहाँ पर इसका कोई प्रमाण है कि इस अर्थ का कारण है, क्योंकि इदानींकाल में ही भावना की प्राप्ति होती है। इदानींकाल में अन्य संवेदन ही तथाभूत रूप में उत्पन्न होता है; सुखादि की संवेदना से भेद का ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार की स्थिति मोक्षावस्था में भी है, अतः कोई विरोध नहीं है।²⁶⁸

आचार्य धर्मकीर्ति पुनः आगे कहते हैं कि इष्ट और अनिष्ट विषयों का आश्रय लेकर एक सुख या दुःखादि का संवेदन उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है; बाह्यार्थ और बाह्यार्थ की संवेदना के मध्य सांख्यदर्शन के 'बुद्धितत्त्व' जैसी चीज की प्राप्ति हमें नहीं होती।²⁶⁹ यदि सांख्य दार्शनिक कहें कि अयोगोलक और अग्नि की तरह बुद्धि और चेतन में संसर्ग हो जाने के कारण भेद की अनुपलब्धि होती है (= बुद्धि और चेतन अविभक्त रूप में दिखलायी पड़ते हैं), तो, इसका अर्थ हुआ कि अविभक्त्य (= अभिन्न) संवेदना के आभास में भी हमें बुद्धि को इस संवेदन से पृथक् करना होगा, और ऐसा होने पर हम वस्तुओं में न भेद की व्यवस्था कर सकते हैं और न अभेद की ही,²⁷⁰ क्योंकि, सांख्य के अनुसार जब एक का भी आभास हो रहा हो, तब वहाँ दो चीजें रहनी चाहिए। पुनश्च, जिसका अभिन्नाकार वेदन होता है उसमें ऐक्य होता है और जिसका भिन्नाकारवेदन होता है, उसमें नानात्व है। यदि एकाकार का अभिन्नाकार वेदन अभेद के प्रति साधन न माना जाय, तो, भिन्नाकारवेदन भेद का भी साधन नहीं हो सकता।²⁷¹ पुनश्च, सांख्य सुखादि और नीलादि को एकरूप समझता है तथा बुद्धि और संवेदन को परस्पर भिन्न; किन्तु, धर्मकीर्ति पूछते हैं कि किस प्रकार पहले में तादात्म्य और बाद वाले में भेद की सिद्धि सांख्य करेगा, यदि प्रतिभास को तादात्म्य और विभेद

को स्थापित करने की कसौटी नहीं माना गया है।²⁷² सांख्य की तरफ से यह कहा जाता है कि जिस प्रकार, युगपत् उत्पन्न वेदना, चेतना, संज्ञा आदि चित्तों में तथा महाभूमिक आदि चैत्तों में परस्पर भेद उपलभ्य नहीं होता है; अथवा उपलम्भन न होने पर भी भेद चाहा जाता है, उसी प्रकार बुद्धि और संवेदन में (= ज्ञान और सुख में) भेद क्यों नहीं चाहा जाता? यहाँ भी उसी प्रकार भेद को समझना चाहिए। आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं कि यद्यपि किसी समय पटु वृत्ति वाली वेदना आदि के द्वारा अभिभूत संज्ञा आदि में भेद की उपलब्धि नहीं होती है, किन्तु चित्तसंतान में, सुखादि के अभावकाल में, स्वरूप से उपलक्षित चित्त और चैत्तों में भेद की व्यवस्था सिद्ध है। अर्थात् एक समय भेद दर्शन न होने पर भी दूसरे समय भेद दर्शन होता है; जैसे— रवि के उदय होने पर तारागण अनुपलक्षित रहते हैं, फिर भी, रात्रि में 'उपलक्षित होने से उनमें भेदव्यवस्था सिद्ध होती है, परन्तु बुद्धि और संवेदन में एक बार भी भेद का स्पष्ट ग्रहण नहीं होता।²⁷³

यहाँ यह आशंका उठायी जा सकती है कि विकल्पप्रत्यय में ही निमित्तग्रहणादिक उपलभ्य होते हैं, अविकल्पक प्रत्यय में नहीं। प्रज्ञाकर कहते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि अविकल्पकप्रत्यय में भी चैत्तस है ही; जैसे— कभी—कभार अनुभव के अनन्तर निमित्तविकल्प होता है; कदाचित् 'इसको करूँगा' इस प्रकार का विकल्प होता है। किन्तु बुद्धि और संवेदन में उपर्युक्त प्रकार का भी भेद नहीं होता, और यही परमार्थ है।²⁷⁴ अतः, सुखादि ज्ञानरूप और स्वसंवेदक हैं।

न्यायबिन्दु को आधार बनाकर व्याख्या करने वालों में आचार्य धर्मोत्तर एवं दुर्वेकमिश्र सबसे प्रमुख हैं। सभी विज्ञानों और विज्ञानों की विशेष अवस्थाओं (यहाँ तक कि भ्रम ज्ञानों) का स्वसंवेदन रूप प्रत्यक्ष होता है। धर्मोत्तर घोषणा करते हैं कि "वस्तुतः कोई भी चित्त की अवस्था ऐसी नहीं है जिसका स्वसंवेदन रूप प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि जिस रूप से ज्ञान आदि के द्वारा अपना अनुभव किया जाता है उस रूप में ही आत्मसंवेदन प्रत्यक्ष होता है।"²⁷⁵ वे पुनः आगे कहते हैं— "यह तो कहा नहीं जा सकता कि वही नील आदि जिसका आकार (चक्षुद्वारा) ग्राह्य सुख आदि के रूप में जाना जाता है, क्योंकि 'नील आदि का सुख आदि के रूप में अनुभव होता है', ऐसा (प्रत्यक्ष के पृष्ठभावी विकल्प द्वारा) निश्चय नहीं किया जाता। यदि (विकल्प द्वारा) यह निश्चय किया जाता कि इस नीलआदि का सुखआदि के रूप में अनुभव किया जा रहा है, तब तो, नीलआदि का सुखआदि रूप में होना संभव था।"²⁷⁶

प्रश्न है कि बौद्धों ने स्वसंवेदन को प्रत्यक्ष का एक प्रकार क्यों माना? उत्तर

हैं कि स्वसंवेदन को प्रत्यक्ष का एक प्रकार मानकर, यह इंगित किया गया है कि अपरोक्षानुभूति की एक ऐसी भी स्थिति होती है जो इन्द्रियाश्रित भी नहीं होती और न तो योगिज्ञान की ही कोटि में आती है, फिर भी प्रत्यक्ष ज्ञान है।

यहाँ हम उस बात पर भी विचार करेंगे, जिसका उल्लेख मानसप्रत्यक्ष के विषय में किया था; अर्थात् दिग्नाग कुल कितने प्रकार, प्रत्यक्ष का, मानते थे? स्वसंवेदन प्रत्यक्ष को वे प्रत्यक्ष के प्रकार के रूप में मानते थे या नहीं? मानसप्रत्यक्ष की विवेचना के समय हमने यह मंतव्य अभिव्यक्त किया था कि दिग्नाग स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं देते। इसका यह अर्थ नहीं कि वे ज्ञान का स्वसंवेदनत्व नहीं मानते। ज्ञान का स्वसंवेदनत्व वे मानते हैं, किन्तु स्वसंवेदन को प्रत्यक्ष के एक प्रकार के रूप में मानना आवश्यक नहीं समझते। यहाँ यह भी ध्यानीय है कि मानसप्रत्यक्ष के लक्षण पर अपनी वृत्ति में वे स्वीकार करते हैं कि सुख-दुःखादि का मानसप्रत्यक्ष होता है। धर्मकीर्ति और उनके टीकाकारों ने स्वसंवेदन की जो विवेचना की है उससे स्पष्ट है कि सुख का स्वसंवेदनप्रत्यक्ष है, तथा उसके अतिरिक्त सभी चित्तावस्थाओं का भी। इससे यह कठिनाई आती है कि दिग्नाग जिसे मानसप्रत्यक्ष का विषय मानते थे, धर्मकीर्ति और उनके अनुयायी उसे स्वसंवेदनप्रत्यक्ष का विषय कहते हैं, और मानसप्रत्यक्ष और स्वसंवेदनप्रत्यक्ष को अलग-अलग प्रकार बतलाते हैं। हम सोचते हैं कि दिग्नाग प्रत्यक्ष का तीन ही प्रकार मानते थे और धर्मकीर्ति जिनका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष मान रहे हैं उनका दिग्नाग मानसप्रत्यक्ष मानते थे। उनके मानसप्रत्यक्ष के निहितार्थों की व्याख्या के प्रसंग में धर्मकीर्ति ने मानसप्रत्यक्ष और स्वसंवेदनप्रत्यक्ष को अलग-अलग किया। अर्थसंवित्ति को मानसप्रत्यक्ष में रखकर उसका एक नया लक्षण उन्होंने दिया, जो आगे चलकर केवल सिद्धान्तप्रसिद्ध होने के कारण माना जाता रहा और 'जितारि' जैसे कुछ विचारकों ने तो उसे छोड़ दिया।²⁷⁷ रागादिस्वसंवित्ति को उन्होंने स्वसंवेदन के रूप में विश्लेषित किया। इस प्रकार स्वसंवेदन को प्रत्यक्ष का भी एक प्रकार मानकर उस रूप में उसकी व्याख्या का श्रेय धर्मकीर्ति को जाता है। वस्तुतः, जैसा हम मानसप्रत्यक्ष की आलोचना के प्रसंग में कह आये हैं, बौद्धों की न्यायसारिणी में प्रत्यक्ष के तीन ही प्रकार होने चाहिए— इन्द्रियविज्ञान, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष।

ज्ञान के स्वरूप के प्रसंग में स्वसंवेदन पर विचार करते हुए हम देखेंगे कि ज्ञान की स्वसंवेदनता निःसंदिग्ध है। आचार्य धर्मकीर्ति ने चित्त और चैत्यों के विषय में भी स्वसंवेदनप्रत्यक्ष की बात को कहकर बहुत ही महत्वपूर्ण बात कही जिसकी पुष्टि बीसवीं शती के मनोवैज्ञानिक अन्वेषण भी करते हैं। पुनश्च, बौद्ध प्रमाणमीमांसा के लिए

भी इसका अत्यन्त ही महत्वपूर्ण उपयोग है। मोक्षाकर गुप्त कहते भी हैं कि 'चित्त और चैतों को किसी ज्ञानान्तर से प्रकाश्य मानना समीचीन नहीं है, जैसे कि— समानकाल में उत्पन्न किसी अन्य ज्ञान से चित्त और चैतों को प्रकाशित मानना तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि तब चित्तचैत तथा उसी काल में उत्पन्न अन्य ज्ञान में उपकार्य—उपकारक सम्बन्ध नहीं बन सकता।' इसी तरह "भिन्न काल में उत्पन्न ज्ञान द्वारा भी उसे प्रकाशित नहीं माना जा सकता, क्योंकि ज्ञान के क्षणिक होने के कारण क्षण में प्रकाशित होने वाले चित्तचैत का ही अभाव हो जायेगा।"²⁷⁸

समीक्षा — इस प्रकार स्वसंवेदन प्रत्यक्ष की विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध नैयायिकों के अनुसार प्रत्येक विज्ञान ग्राहक और ग्राह्य में— एक ज्ञाता अंश में तथा ज्ञेय अंश में— विभक्त होता है। ग्राहकविज्ञान (= ज्ञाताअंश) पुनः एक अन्य ग्राहक और एक अन्य ग्राह्य में विभक्त नहीं होता। चेतना ऐसे दो भागों में विभक्त नहीं होती जिनमें से एक दूसरे का निरीक्षक हो। अतः, बाह्य प्रत्यक्ष की तरह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष (= आन्तर प्रत्यक्ष) की व्याख्या करना गलत है।²⁷⁹ यह भी ध्यानीय है कि बाह्य वस्तु के उस रूप का इन्द्रियप्रत्यक्ष होता है जो विकल्पानुगम्यमान है; वहाँ हमें अपने स्वरूप की वेदना होती है, किन्तु यह वेदना या संवित्ति अपने स्वरूप (आत्मा) के किसी विकल्प से अनुगम्यमान नहीं होती। विज्ञान के अपने स्वरूप की यह संवित्ति चेतना की सभी अवस्थाओं (= चैतों) के साथ जुटी रहती है। जब, हम किसी रंगपटल को देख रहे होते हैं तब, उसी काल में एक सुखानुभूति को भी महसूस करते रहते हैं और सुख की यह वेदना रंगपटल के इन्द्रियविज्ञान से उत्पन्न विकल्प नहीं है। जब हम किसी बाह्य पदार्थ को देखते हैं तब उसी समय हमें एक सुखानुभूति की भी चेतना होती है। सुखानुभूति की यह वेदना हमारे ज्ञान की दशा का एक भाव है। अतः, समस्त चित्त और चैतों के वास्तविक स्वरूप का जिस रूप में ज्ञान होता है वह अपने स्वरूप का साक्षात्कार करने वाला होने के कारण स्वसंवेदनप्रत्यक्ष, कल्पना से अपोढ और अभ्रान्त कहलाता है। इस प्रकार, बौद्धों ने स्वसंवेदनप्रत्यक्ष का प्रतिपादन इस मनोवैज्ञानिक सत्यता के आधार पर किया कि इन्द्रियप्रत्यक्ष के समय, किन्तु उसके साथ ही साथ, हमें कुछ ऐसी विशेष बात का, एक ऐसी अतिरिक्त और अन्य चीज का भी बोध होता है जो प्रत्यक्ष में होने वाले बाह्य अर्थों से भिन्न है और जो हमारी प्रत्येक अवस्था के साथ जुड़ा हुआ रहता है अर्थात् जिससे हमारी चित्तावस्था कभी भी रहित नहीं होती।²⁸⁰ चित्तावस्था (= चैत) का आशय वेदना से है जो कि विज्ञान से अलग कोटि में इस कारण रखी जाती है कि जहाँ विज्ञान बाह्य के संदर्भ से अनुरजित होता है, 'वस्तुमात्रग्रहणम्' है, वेदनादि (= चैत) 'विशेषग्रहणरूपा' हैं, आन्तरिक—

ज्ञानात्मक अवस्थाएँ हैं। पुनश्च, चैत्यों का स्वरूप ऐसा है कि वे इन्द्रियाश्रित भी नहीं हैं एवं अपने प्राकट्य के लिए इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं रखते।

इन सारे उपर्युक्त विवेचन से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि बौद्धों ने, खासकर विज्ञानवादियों और सौत्रान्तिकों ने स्वसंवेदनप्रत्यक्ष के अध्ययन को काफी सूक्ष्मता के साथ भीतर पैठकर किया और विभिन्न क्षेत्रों में विकसित किया। अतः इस प्रसंग में उनके योगदान पर ध्यान दें तो कई बातें सामने उभरती हैं। प्रथमतः, प्रमाणमीमांसा एवं न्याय के क्षेत्र में ज्ञान की अपरोक्षता और स्वप्रकाशता को पहले-पहल विवेचित करने और उसे महत्ता देने का श्रेय इन्हीं को जाता है। द्वितीयतः, सुखदुःखादि चैत आन्तर हैं, बाह्य नहीं और वे ज्ञानस्वरूप तथा स्वसंवेद्य हैं, इस तथ्य का भी उद्घाटन, आग्रह के साथ, बौद्धनैयायिकों ने ही किया। मनोविज्ञान के क्षेत्र में वर्तमान शती में हुए अन्वेषण भी पूर्णतः बौद्धमत का समर्थन करते हैं कि चैत ज्ञानात्मक और वेदनात्मक होने के साथ ही साथ चेतन अवस्थाएँ हैं। तृतीयतः, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष में 'चित्त' और चैत का समन्वय यह प्रदर्शित करता है कि प्रमाणमीमांसा में मनोवैज्ञानिक तथ्य भी संपृक्त रहता है और प्रत्यक्षज्ञान की एक ऐसी भी अवस्था होती है जहाँ बाह्यार्थ की अपेक्षा के बिना उससे भिन्न एक अपरोक्ष अनुभव होता है जो ज्ञानात्मक होता है। इस तथ्य से विज्ञानवाद (आइडियलिज्म) को एक पुष्ट आधार मिलता है जहाँ विज्ञान का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। अन्ततः, बौद्ध विज्ञानवाद इस तथ्य को भी उद्घाटित करता है कि प्रत्यक्षात्मक ज्ञान एक विशिष्ट वेदनात्मक ध्वनि के साथ उभरता है, भले ही वह सुखरूप हो अथवा दुःखरूप हो; हमें इसका आन्तरिक बोध होता है और बाह्यार्थ के संदर्भ में यह हो, ऐसी अपेक्षा इसको नहीं रहती। अतएव, सुख अथवा दुःख रूप चैत्यों की अनुभूति विशुद्धतया आत्मपरक (सब्जेक्टिव) है; बाह्यार्थ के आलोक में इसको विज्ञापित एवं विश्लेषित करने का कोई अवकाश नहीं है, यद्यपि बाह्यार्थ को, उचित रूप में, इस तरह की अनुभूति को प्रकट होने के लिए अवसर देने वाली अवस्था समझा जा सकता है।²⁸¹ विज्ञान और इसकी वेदना दोनों एक ही चीजें हैं तथा सुख-दुःख विज्ञान की आभिलाषणिक विशिष्टताएँ हैं।

(घ) योगिप्रत्यक्ष

योगिप्रत्यक्ष प्रत्यक्ष का चौथा प्रकार है। चार्वाक तथा मीमांसकों को छोड़कर अन्य भारतीय दर्शन सम्प्रदायों में, इसकी स्थिति स्वीकार की गयी है। उपनिषदों में तो समाधि में प्राप्त होने वाले ब्रह्मज्ञान को ही वह एकमात्र ज्ञान घोषित किया गया है जिसको पाकर साधक सर्वज्ञ हो जाता है।²⁸² दीघनिकाय में सामय्यफलसुत्त में एक

रोचक कथा आती है कि भगवान बुद्ध राजगृह के जीवक-आवास आग्नवन में भरे-पूरे भिक्षुसमूह के साथ विराजमान हैं। महाराज अजातशत्रु दर्शनार्थ आये और आते ही एक टेढ़ा-सा प्रश्न कर दिया कि आपके इस सामय्य (= श्रामण्य या सन्न्यास) का कुछ प्रत्यक्ष फल भी है, और यदि है तो क्या? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान बुद्ध का मार्मिक प्रवचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने कहा— 'सबसे बड़ा प्रत्यक्षफल यह है कि मानव जीवन की सार्थकता श्रामण्य पर ही निर्भर है। सांसारिक हावभाव से दूर भिक्षु अपने समाहित चित्त में 'सद्भूत' अर्थ को जानता है। समाधि या योगसाधना से सम्पन्न भिक्षु में एक लोकोत्तर प्रज्ञा का जन्म होता है जो यथाभूत या सत्यार्थ का प्रकाश करती है जिससे कि संसारबन्धन सदा के लिए निवृत्त हो जाता है।²⁸³ इसी प्रज्ञा को पातंजलयोग में 'ऋतम्भराप्रज्ञा' की मान्य संज्ञा मिली है, क्योंकि वह एक ऋतु या सत्य वस्तु का प्रकाश करती है जिससे जीव के सभी बंधन निवृत्त हो जाते हैं। योगभाष्यकार भी कहते हैं— "यस्त्वेकाग्रेचेतसि स भूतमर्थप्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान्, कर्मबन्धनानि श्लथयति।"²⁸⁴ जैनदर्शन में यही प्रज्ञा कैवल्यज्ञान शब्द से अभिहित की गयी है। कैवल्यज्ञान द्रव्य के समस्त पर्यायों पर प्रकाश डालता है। एक वस्तु के समस्त पर्यायों का प्रकाशज्ञान सभी वस्तुओं के समस्त प्रकारों का प्रकाश कर देता है। फलतः कैवलीपुरुष सर्वज्ञ हो जाता है।²⁸⁵ सर्वार्थावद्योति कैवल्यज्ञान की चर्चा सांख्याचार्यों ने भी की है और इसे मोक्ष का प्रापक कहा है।²⁸⁶ इस प्रकार चतुरार्यसत्य के समान सद्भूतार्थ का प्रकाश ऋतम्भरासंज्ञक सर्वदर्शनस्वीकृत तत्त्वज्ञान और कुछ भी नहीं, वह यही योगी का प्रत्यक्षज्ञान है, जिसके लिए धर्मकीर्ति 'प्रागुक्तं योगिनां ज्ञानं.....' इत्यादि कहते हैं।

ज्ञातव्य है कि योगाचार निकाय भी अद्वैतवादी है।²⁸⁷ अतः योगी, योग और योगज-प्रत्यक्ष का निरूपण इनके मत में कैसे किया जाता है, यह विशेष विचारणीय है। पातंजलयोग में जीवात्मा ही वह योगी है जो अपने चित्त या मानसरूपी दर्पण में ऋतम्भराप्रज्ञा को प्रतिबिम्बित देखता है। किन्तु विज्ञानवाद में केवल विज्ञापिमात्रता ही पारमार्थिक है। इसके अतिरिक्त साधन और साध्यवस्तु कुछ भी नहीं। चित्त भी विज्ञानरकन्ध की एक संज्ञा है। हीनयान के ग्रन्थों में यद्यपि जीव या स्वत्व के स्थानापन्नविज्ञान से अतिरिक्त मन या चित्त की स्थापना की गयी है, किन्तु योगाचार मत मन को भी विज्ञान से पृथक् नहीं मानता। अतः बाह्यवाद के समान ही प्रतिकर्मव्यवस्था की कल्पना इस मत में भी की जा सकती है। आचार्य दिग्नाग 'प्रमाणसमुच्चय' में कहते हैं कि 'आगमविकल्प से रहित तथा अर्थमात्र का दर्शन करने वाला योगिज्ञान भी प्रत्यक्ष है।'²⁸⁸ आचार्य धर्मकीर्ति और उनके टीकाकारों ने इसे

विस्तार से विश्लेषित किया। न्यायबिन्दु में धर्मकीर्ति योगिप्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार देते हैं— 'सदभूत (= यथाअवस्थित) की भावना के प्रकर्ष-पर्यन्त से जायमान योगियों का ज्ञान भी प्रत्यक्ष है।'²⁸⁹ भूत अर्थात् सदभूत अर्थात् प्रमाण द्वारा दृष्ट (= निश्चित) अर्थ ही वस्तुतः विद्यमान है जैसे कि चार आर्यसत्य (= फलभूत जो पंचसंक्लेशस्कन्ध है वह प्रथम आर्यसत्य है। दूसरा समुदय आर्यसत्य है। चित्त की निष्कलेशावस्था निरोध नामक तृतीय आर्यसत्य है। उस अवस्था की प्राप्ति में चित्त के आकारविशेष के नैरात्म्यादि का जो हेतु है वह मार्ग नामक चतुर्थ आर्यसत्य है। ऐसा हीनायनी सम्प्रदाय का मत है)। दुर्वेक मिश्र का कहना है कि 'यथा चत्वार्यार्यसत्यानि' में 'यथा' शब्द का अर्थ यह है कि जिस प्रकार चतुरार्यसत्य की भावना के बल से जायमान ज्ञान योगी को प्रत्यक्ष है, उसी प्रकार अन्य सदभूतार्थ को भी समझना चाहिए।²⁹⁰ भूत अर्थ की भावना का अर्थ है, उसका बार-बार चित्त में विनिवेशन (= स्थापना करना) अर्थात् 'वस्तु को इस प्रकार बार-बार चित्त में लाना कि बीच में अन्यवस्तु का ध्यान ही नहीं आवे।' दुर्वेक के शब्दों में, 'विजातीय से अव्यवहित चार आर्यसत्य के विषय में सदृशचित्त का प्रवाह (= बार-बार चित्त में चार आर्यसत्य का ही प्रवाह रहे, कोई अन्य चीज बीच में न आवे तो वह) ही भावना है। भाव्यमान (चित्त में बार-बार स्थापित) अर्थ को भासित करने वाले अर्थ में स्फुटाभता का आरम्भ होना ही भावना का प्रकर्ष है। भावनाप्रकर्षपर्यन्त (= प्रकर्ष की चरमावस्था के ठीक पहले की अवस्था) उसे कहते हैं जब भाव्यमान अर्थ की स्फुटाभता में थोड़ी कमी अभी बनी हुई है, क्योंकि जब तक स्फुटाभता असंपूर्ण रहती है तभी तक उसमें प्रकर्ष (= उत्कर्ष या प्रगति) होता रहता है। जब स्फुटाभता सम्पूर्ण हो जाती है, तब प्रकर्षगति नहीं होती। इस प्रकार सम्पूर्णावस्था के ठीक पहले की अवस्था को 'स्फुटाभत्व प्रकर्षपर्यन्त' कहा गया है। उस प्रकर्षपर्यन्त से जो भाव्यमानवस्तु का, सन्निहित (= उपस्थित या विद्यमान) वस्तु के समान, स्फुटतर आभा को भासित कराने वाला ज्ञान उत्पन्न होता है, वह योगिज्ञान है।²⁹¹ स्पष्ट है कि सम्पूर्णावस्था के ठीक पहले की अवस्था से उत्पन्न हुआ ज्ञान जो कि भाव्यमान वस्तु के आकार का ग्रहण इस प्रकार करता है मानो वह सम्मुख उपस्थित हो, योगी का प्रत्यक्ष है। इस प्रकार, जिस तरह सामान्य लोगों का, निकटस्थ घट-पटादि का स्फुटतर आकार को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है, उसी प्रकार जिस अर्थ की भावना की जा रही है उसके स्फुटतर आकार को ग्रहण करने वाला जो ज्ञान है, वह योगी का प्रत्यक्ष है।

आचार्य धर्मकीर्ति प्र0वा0 में बतलाते हैं कि भावना के बल से व्यक्ति अविद्यमान वस्तु को भी सामने प्रस्तुतवत् देखा करता है।²⁹² धर्मोत्तराचार्य बतलाते हैं कि जब योगी

को भाव्यमान वस्तु अभ्रक से व्यवहित के समान दिखती है तो वह प्रकर्ष की पर्यन्तावस्था है।²⁹³ भाव्यमानवस्तु का जो हथेली पर रहने वाले आमलक के समान स्पष्ट दर्शन है वह योगी का प्रत्यक्ष है, क्योंकि वह स्फुटाभ है। टिप्पणीकार कहते हैं कि 'स्फुटत्त्वारंभावस्था' आदि के द्वारा धर्मोत्तर को यह प्रदर्शित करना विवक्षित है कि योगी के ज्ञान की तीन अवस्थाएँ हैं— (1) भावना प्रकर्षावस्था, (2) प्रकर्षपर्यन्तावस्था, (3) जिस अर्थ की भावना की जा रही है उसका कर तल में स्थित आमलक के समान दर्शन।²⁹⁴ योगिज्ञान भी स्फुटाभ होने के कारण इन्द्रियविज्ञान की तरह निर्विकल्पक होता है। धर्मोत्तर कहते हैं कि 'स्फुटाभास (स्पष्ट आकार वाला) होने से ही योगिज्ञान निर्विकल्पक है, क्योंकि विकल्पज्ञान तो वस्तु का, संकेत काल में देखे गये रूप में, ग्रहण करता है, फलतः, शब्द के संसर्ग के योग्य वस्तु (= अर्थ) का ग्रहण कर सकता है। 'संकेतकाल में देखे-गये रूप' का अर्थ है— 'संकेतकाल में पैदा होने वाले ज्ञान का विषय होना'। जिस तरह पूर्वोत्पन्न ज्ञान नष्ट हो गया और इस समय वह नहीं है, उसी तरह, इस समय वस्तु पूर्वविनष्टज्ञान का विषय भी नहीं है। अतएव, विकल्प वस्तु के असद्रूप (= अविद्यमानरूप) को ग्रहण करता है एवं असन्निहित (= अनुपस्थित) अर्थ को ग्रहण करने वाला होने से अस्फुटआभावाला (= अस्पष्ट आकार वाला) है। चूँकि विकल्प अस्पष्ट आकार वाला होता है, इसी कारण वह सविकल्पक है। इस प्रकार, योगी का ज्ञान स्फुट आभा वाला होने के कारण निर्विकल्पक है तथा प्रमाण द्वारा शुद्ध (= निश्चित = शोधित) अर्थ को ग्रहण करने वाला होने से संवादक (एवं अभ्रान्त) होता है।²⁹⁵

टिप्पणीकार एवं दुर्वकमिश्र धर्मोत्तर के गूढार्थ को स्पष्ट करते हैं। टिप्पणीकार कहते हैं कि 'योगियों का मनोविज्ञान भी स्फुट आभा के कारण ही इन्द्रियविज्ञान के समान निर्विकल्पक होता है। कहा भी गया है— "निर्विकल्पानुबद्धस्य स्पष्टार्थः प्रतिभासते।" इस न्याय से भी भावनाप्रकर्षपर्यन्त से जायमान मनोज्ञान के द्वारा शब्द और अर्थ युगपत् ग्रहण किये जाते हैं, तथापि दोनों के स्वरूप के सन्निहित होने के द्वारा ग्रहण किये जाने के कारण ग्राहीविज्ञान (= ग्रहण करने वाला विज्ञान) निर्विकल्पक है। यहाँ पूर्वपक्ष की ओर से आशंका उठायी जाती है कि भाव्यमान मनोविज्ञान जिस प्रकार वाच्यवाचक से संसृष्ट प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार ही भाव्यमान (= जिसकी भावना की जा रही है) एवं प्रकर्षपर्यन्त से जायमान वाच्यवाचक को प्रतिभासित कराने वाला मनोविज्ञान स्फुट आभावाला होता है। ऐसी स्थिति में स्फुट आभावाला होने के कारण यह निर्विकल्पकज्ञान (= योगिज्ञान) अनैकान्तिक हेतुवाला हो जायेगा। इस आक्षेप का ही परिहार करने के लिए धर्मोत्तर ने अपनी टीका में

'विकल्पविज्ञानं हि' ऐसा कहा है जिसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि मनोविज्ञान वाच्यवाचक से संसृष्ट प्रतिभासित होता है तथापि स्फुटाभत्व की अवस्था में वाच्यवाचक रूप वह अलीक आकार समाप्त हो जाता है और तब एक प्रकार का साक्षात् स्फुट विज्ञान बच रहता है। अतः वह चित्तरूप ज्ञान ही स्फुट रहता है, वाच्यवाचक के आकार द्वारा कोई ज्ञान स्फुट नहीं होता, क्योंकि वाच्य और वाचक दोनों आरोपित किये जाते हैं। जो स्फुट आभा वाला है उसमें अनैकान्तिकहेतुता नहीं है और जो आरोपित रूप का ग्रहण करता है उसमें स्फुटत्व ही नहीं होता। जब विकल्पविज्ञान शब्द के संसर्ग के योग्य वस्तु को ग्रहण करता है तब वह संकेतकाल के दृष्टत्व [= संकेतकाल दृष्टत्व का अर्थ है वह अनुभूति या अनुभव जो भाषा की व्युत्पत्ति के समय का (= अतीत समय का) हो] के द्वारा उस वस्तु को ग्रहण करता है। वह उस समय द्रष्टा के समक्ष उपस्थित नहीं रहती (= असन्निहित), क्योंकि उस समय उस वस्तु के संकेत (= भाषा के व्युत्पत्ति काल में किसी ज्ञान द्वारा उसका ग्रहण कर जो शब्दसंसर्ग दिया गया था उस संकेत) का अभाव रहता है। वह संकेत पूर्वदृष्ट अर्थात् अतीतकाल में दृष्ट हुआ था और उस अतीतकाल के विज्ञान का विषय है। वह पूर्व विज्ञान वर्तमान काल में अर्थात् शब्दसंसर्गयोग्य वस्तु के ग्रहण काल में नहीं है, क्योंकि ज्ञान के क्षणिकत्व के चलते अतीत का ज्ञान वर्तमान में नहीं रह सकता। उसी प्रकार अतीत के विज्ञान से दृष्ट विषय भी उस समय नहीं है; विषयी के ज्ञान के न रहने से संकेत काल में होने वाले विषय का भी (= अर्थ का भी) अभाव है; अतः असन्निहित (= जो द्रष्टा के सामने उसके ज्ञान के वर्तमान क्षण में उपस्थित नहीं रहती) एवं संकेतकाल (= भाषा की उत्पत्ति के क्षण में, जब किसी ज्ञान के द्वारा उसे शब्दसंसृष्ट किया गया था) में होने वाले उस वस्तु को आरोपित करके ग्रहण करने के कारण विकल्पविज्ञान स्फुट न होकर अस्फुट होता है। अतः स्फुटत्व निर्विकल्पक में ही होता है।²⁹⁶ आचार्य दुर्वेक मिश्र भी कहते हैं कि वाचकाकार का जो संसर्ग है उसका स्फुटाभत्व नहीं होता। विकल्प विज्ञान भी अस्फुटाभ होता है क्योंकि वह अर्थ को असन्निहिततया ग्रहण करने वाला होता है। सन्निहिततया जो भासमान है वह विशदाभ (= स्फुटाभ = स्पष्ट आकार) होता है। चूँकि पूर्ववृत्तदर्शन के द्वारा भूतपूर्वभाव का ग्रहण होता है, अतः वह सन्निहित रूप से भासित नहीं होता है। इसलिए, विकल्प अविशद आभावाला (= अस्पष्ट आकार वाला) होता है। इस कारण विकल्प का शब्दाकार से संसर्ग विशदाभत्व का विरोधी है। यदि प्रश्न उठाया जाय कि विकल्पक विज्ञान के असन्निहितविषयत्व का ही निश्चय कैसे होता है, तो हमारा उत्तर है कि चूँकि यह 'असद्रूप' होता है; अर्थात् जो पूर्वदृष्टत्व इस समय (= सम्प्रति) असत् है, उस असद्रूप गृह्यमाण वस्तु का ग्रहण करने के कारण उसके असन्निहित विषयत्व

का निश्चय होता है।²⁹⁷ स्फुटामत्त्व के कारण योगिज्ञान निर्विकल्पक है, इस प्रसंग में आचार्य दुर्वेक मिश्र एक अनुमानप्रयोग को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं— “संकेतकाल में दृष्ट होने के द्वारा जो वस्तु का संस्पर्श करने वाला ज्ञान है उसका स्फुटामत्त्व नहीं होता; उदाहरणार्थ बहुत पहले देखी गयी और अब जो नष्ट हो गयी है ऐसी वस्तु का विकल्प। विकल्प, संकेतकाल में दृष्ट होने के हेतु से, दृश्यमान वस्तु का संस्पर्श करने वाला होता है। सन्निहितरूप के भासन का ही नाम स्फुटामत्त्व है। असन्निहित रूप से भासन के कारण वस्तुओं के पूर्वदृष्टत्व का ग्रहण व्याप्त होता है। पूर्व काल के ज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर पूर्वकाल के ज्ञान का जो विषयत्व है वह वस्तु नहीं रह जाती है (= पूर्वकाल के ज्ञान के निवृत्त हो जाने पर वस्तु पूर्वकाल के ज्ञान का विषय नहीं रह जाती)। उसके बाद के काल में होने वाले ज्ञान के द्वारा, पूर्व काल में दृष्टत्व तथा असन्निहित रूप से ही, वस्तु का स्पर्श (= ग्रहण) किया जाता है। पूर्वकालविषयत्व का ग्रहण ही संकेत के काल में दृष्टशब्दविशिष्टत्व का ग्रहण है।”²⁹⁸

इस प्रकार स्फुटत्व के कारण योगिज्ञान निर्विकल्पक (= कल्पनापोढ) होता है। प्रश्न है कि वह अभ्रान्त कैसे हैं? टिप्पणीकार एवं दुर्वेकमिश्र बतलाते हैं कि ‘प्रमाणशुद्ध’ कहकर धर्मोत्तराचार्य उसकी अभ्रान्तता को भी प्रतिपादित करते हैं। प्रमाण से जो अधिगत अर्थ है उसे प्रमाणशुद्ध कहा जाता है। सत्य चतुष्टय का स्वरूप ऐसा ही है। अतः प्रमाण से शुद्ध अर्थ (= स्वलक्षण या अर्थक्रियाकारी क्षण) का ग्रहण करने वाला होने से योगिज्ञान संवादक है। इस प्रकार, योगिज्ञान में निर्विकल्पकता (= कल्पनापोढता) अभ्रान्तता और संवादकता रूप सभी प्रत्यक्ष के लक्षण घटते हैं, अतः वह प्रत्यक्ष है।²⁹⁹

प्रसिद्ध बौद्धविद्वान् श्चेरबात्स्की का अभिमत है कि योगी का प्रत्यक्ष नितान्त मानसिक ज्ञान है और उसमें हमारी इन्द्रियों का रंचमात्र भी अंशदान नहीं रहता, हमारी इन्द्रियों का योगिज्ञान में रंचमात्र भी योगदान नहीं रहता फिर भी, स्फुटामता, विशदामत्त्व के कारण इसे प्रत्यक्ष की श्रेणी में गिना जाता है। योगिज्ञान में चित्त के द्वारा भावना की जा रही वस्तु का स्फुटरूपेण आभास होता है। सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञान के मध्य सर्व प्रमुख भेद यह होता है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष विशदाम (= स्फुटाम या स्पष्ट आकार वाला) होता है, जबकि सविकल्पकप्रत्यक्ष वैसा नहीं होता है। प्रो० श्चेरबात्स्की यह भी अभिमत व्यक्त करते हैं कि योगिप्रत्यक्ष के विवेचन में स्फुटामता या विशदामता नामक एक नवीन वैलक्षण्य का निर्देश प्रत्यक्ष की विशेषता के रूप में किया गया है, जबकि प्रत्यक्ष के अन्य प्रकारों की विवेचना के समय ‘कल्पनापोढता’ और अभ्रान्तता को ही प्रत्यक्ष की विशेषता के रूप में विवेचित किया

गया है और अविसंवादकता को प्रमाण की सामान्य विशेषता माना गया है। इन तीनों विशेषताओं की यद्यपि इस रूप में व्याख्या की जा सकती है कि वह लक्षण योगिप्रत्यक्ष में भी घट जाय, परन्तु ऐसा बिना कुछ कठिनाई के नहीं हो सकता।³⁰⁰ किन्तु, श्वेदरवात्स्की महोदय की यह टिप्पणी उचित नहीं जान पड़ती कि योगिप्रत्यक्ष के विवेचन के समय, उसके पहले नहीं, स्फुटाभता को प्रत्यक्ष की नयी विशेषता के रूप में प्रदर्शित किया गया है। सत्य यह प्रतीत होता है कि प्रत्यक्ष की कल्पनापोढतारूप (= निर्विकल्पकता) विशेषता को ही प्रमाणित करने के लिए 'स्फुटाभता' का उल्लेख किया गया है, क्योंकि स्वतः धर्मोत्तर 'स्फुटाभत्वादेव च निर्विकल्पकम्' ऐसा कहते हैं। टिप्पणीकार तथा दुर्वेकमिश्र की इस स्थल की व्याख्या से भी इसी बात की संपुष्टि होती है। इतना ही नहीं आचार्य धर्मकीर्ति स्वतः (प्र० वा. 2/283 में) योगिप्रत्यक्ष के प्रकरण में कहते हैं— 'न विकल्पानुबद्धस्यास्ति स्फुटार्थावभासिता'। आचार्य प्रज्ञाकर इस पर अपने भाष्य में लिखते हैं— 'विकल्पस्य परोक्षविषयमेव रूपमिति प्रतिपादितम्। तच्च यदि न स्यात् तदेव सविकल्पकन्न भवेत्।..... ततो निर्विकल्प एव परिस्फुटाकारः प्रत्ययः' प्र० वा० भा० पृ० 327)। हाँ, यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि योगी जिस अर्थ की भावना करता है वह तो वाच्यवाचकभावसंसृष्ट होता है; अतः वह विकल्पसहित (= सविकल्पक) होगा और इस कारण परिस्फुट आभावाला नहीं होगा। इसके उत्तर में टिप्पणीकार का कथन हम देख चुके हैं जिसका मूल मंतव्य यह— है कि योगिप्रत्यक्ष ज्ञान की वह स्थिति है जिसमें विकल्पों का स्वभाव ही बदल जाता है और उस स्थिति में ज्ञान में विशदभता या स्फुटाभता आ जाती है। इस समय ज्ञान का केवल संविद् रूप शेष रह जाता है। वाच्यवाचकभाव का संसर्ग जो उसमें अध्यारोपित कर लिया गया था वह हट जाता है।

आचार्य विनीतदेव न्यायविन्दु की अपनी टीका में योगिप्रत्यक्ष का विवेचन इस प्रकार करते हैं— 'भूतार्थ अर्थात् अविपरीत, अर्थ अर्थात् चार आर्यसत्य। इन चार सत्यों की भावना को भूतार्थभावना कहते हैं। भावना का अर्थ है अभ्यास। इसका प्रकर्ष भूतार्थभावनाप्रकर्ष है, अर्थात् स्मृत्युपस्थान, उष्मगत, मूर्द्धन् और क्षान्ति की भूमियाँ। अग्रधर्म को पर्यन्त कहते हैं (= पर्यन्ताः तु अग्रधर्माः)। जो इनसे जायमान है उसे 'भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तज' कहते हैं। समाधि को योग कहते हैं। वह जिनमें है उसे योगी कहते हैं। उनके ज्ञान या प्रत्यक्ष को योगिज्ञान या योगिप्रत्यक्ष कहते हैं। ऐसे योगियों में समाधि के बल से ऐसी अविभ्रम ज्योति (= ज्ञान) आविर्भूत होती है जो सभी वस्तुओं—भूत, वर्तमान एवं भविष्यत्— के स्वरूप को बिल्कुल ठीक रूप में (= जैसे वे वस्तुतः हैं उस रूप में) प्रकाशित कर देती है। जिस प्रकार देवादिअधिष्ठान के प्रभाव

से स्वप्नावस्था में विविध भूत और भावी वस्तु के विषय में सत्य तथा अविभ्रम ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी प्रकार योगबल से ज्योतिरूप ज्ञान उत्पन्न होता है जो ध्यान किये जा रहे सभी विषयों—भूत, भावी, दूरस्थ, सान्तर और अणु परिमाणवाले विषयों—को प्रकाशित करता है। इसी कारण, इसकी प्रत्यक्षप्रमाणता मानी जाती है।³⁰¹ इसकी पुष्टि हेतु विनीतदेव जो 'अनुमानप्रयोग' करते हैं उसे सरलरूप में हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं— 'योगिज्ञान प्रमाण है, क्योंकि यह अर्थों का अभ्रान्त रूप में उपदर्शन कराता है। अर्थ को अभ्रान्तरूप में जो भी उपदर्शित करता है वह प्रमाण होता है, जैसे भूतग्रहविशेषादिष्ट ज्ञान (= भूत द्वारा धारण किया जाने वाला ज्ञान) और जो प्रमाण नहीं होता वह अर्थ का उपदर्शन अभ्रान्त रूप से नहीं कराता, जैसे उन्मत्त पुरुष का ज्ञान।³⁰² पुनश्च, योगिज्ञान के द्वारा अतीत एवं अनागत के प्रसंग में (भविष्यवाणी के रूप में) हमें अभ्रान्त अनुशासन (= सही स्थिति का संदेश) प्राप्त होता है।³⁰³

योगिप्रत्यक्ष का विज्ञानवाद की दृष्टि से विवेचना करने वालों में आचार्य प्रज्ञाकर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हम देख चुके हैं कि भूत शब्द के द्वारा पारमार्थिक अर्थ का ग्रहण किया गया है। धर्मात्तर ने कहा है कि भूत का अर्थ है सदभूत अर्थात् प्रामाणिक अर्थ, जैसे कि चार आर्यसत्य। इस प्रश्न का उत्तर, कि वह कौन प्रमाण है जिससे आर्यसत्य प्रमाणित है, हम प्रज्ञाकर द्वारा पाते हैं कि योगिप्रत्यक्ष के द्वारा दृष्ट होने पर ही आर्यसत्य की भावना की जा सकती है और उस भावना के द्वारा ही योगिप्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। चतुरार्यसत्य योगियों के ज्ञान का विषय होता है। योगिज्ञान का हेतु भावना होती है। भावनाबल से योगिज्ञान स्पष्ट आभावाला होता है और ऐसा होने से ही वह अविकल्पक और फलतः प्रत्यक्षज्ञान है।³⁰⁴

यहाँ प्रश्न उठता है कि जो अर्थ के बल से समुद्भूत हो ऐसे वर्तमानार्थ को विषय करने वाले ज्ञान को अविकल्पक मानना तो युक्तियुक्त है, किन्तु जिसका विषय अतीत, अनागत एवं अविद्यमान हो ऐसे ज्ञान को, केवल भावना के कारण, अविकल्पक कैसे माना जा सकता है? प्रज्ञाकर का उत्तर है कि भावना अविद्यमान विषयों को स्पष्ट आभा के साथ दर्शाने में समर्थ है। जिस संवेदन का विषय भूतार्थ नहीं होता है ऐसे ज्ञान अर्थ के सामर्थ्य से उत्पन्न नहीं होते हैं। भावनाबल से होने वाला योगिज्ञान सविकल्पक नहीं होता, क्योंकि उसका दर्शन पुरःस्थितत्वेन होता है। फलतः साक्षात्करण आकार वाला होने से योगिविज्ञान अविकल्पक प्रत्यक्ष है।³⁰⁵ विकल्पज्ञान परोक्षविषयस्वरूप होता है, अतः स्फुट आभावाला नहीं होता। स्वप्न में भी अनुभूत स्मरण आकार वाले विकल्पों के दर्शन होते हैं, अतः विप्लव के कारण भी विकल्प की स्पष्टता नहीं

होती।³⁰⁶

इस प्रसंग में आचार्य प्रज्ञाकर वैभाषिकों की भी आलोचना करते हैं। वैभाषिक कहते हैं कि प्रमाणसिद्ध वस्तु में भावनाबल के कारण स्पष्टाभता होती है, ऐसा मानना युक्त है, क्योंकि भावना के द्वारा अविद्यारूपी क्लृप्ता के निवृत्त हो जाने पर अर्थ का स्वरूप के द्वारा प्रतिभासन होता है। अर्थ अविद्यमान हो, तो उसका स्वरूप भी नहीं रहेगा, अतः प्रतिभास किसका होगा? योगी को जो अतीत एवं अनागत विषयक ज्ञान होता है उसका कारण है कि अतीत एवं अनागत विषयों की (उनके लिए) विद्यमानता रहती है।³⁰⁷ आचार्य प्रज्ञाकर का कहना है कि भावना मात्र के कारण कोई योगी नहीं होता; अपितु श्रुतमयी प्रज्ञा के द्वारा अर्थों को ग्रहण करके, युक्तिचिन्तामयी प्रज्ञा के द्वारा उनको व्यवस्थापित कर भावना करते हुए उसकी निष्पत्ति होने पर जो अवितथविषय वाला ज्ञान पैदा होता है वही प्रमाण है और जो इस प्रकार के ज्ञान से युक्त है उसे योगी कहते हैं। 'शमथ और विपश्यना का युगनद्धवाही मार्ग योग है, ऐसा (आगम का) वचन भी है।'³⁰⁸ यहाँ यह भी प्रश्न किया गया है कि अशुभादि एवं पृथिव्यादि भी योगिज्ञान में विद्यमान रहते हैं, क्योंकि योगिप्रत्यक्ष के द्वारा वे दृश्यमान हैं। प्रज्ञाकर का कहना है कि योगिज्ञान में यद्यपि योगियों को अशुभादि प्रतिभासित होते हैं, किन्तु यह भावना अतत्त्वरूपा ही है, अतएव योगियों को इनका प्रतिभासन अतत्त्वरूप से ही होता है। फलतः इनका सत्त्व नहीं हो सकता, अपितु इनकी अतत्त्वरूपता ही है। मात्र प्रतिभास से किसी को तत्त्व नहीं कहा जाता, अपितु परीक्षा के द्वारा तत्त्वातत्त्व की बात निश्चित होती है। केवल कल्पना के द्वारा उद्भूत होने वाली भावना तत्त्व की प्रतिपत्ति का हेतु नहीं होती, अपितु प्रमाणबल से जब भावना आती है तब वह तत्त्वप्रतिपत्ति का हेतु होती है।³⁰⁹

स्पष्ट है, कि आचार्य प्रज्ञाकर ने श्रुतमयी, चिन्तामयी एवं भावनामयी प्रज्ञा का विश्लेषण करते हुए आर्यसत्य के पहले श्रुतमयीप्रज्ञा मानी है और बुद्धवचनों के द्वारा श्रुत या प्रमाणित आर्यसत्य की भावना से जिस प्रज्ञा का जन्म होता है वह योगिप्रत्यक्ष है। इन्द्रियज्ञान के द्वारा मानसज्ञान उत्पन्न होता है, किन्तु योगिज्ञान इन्द्रियज्ञान के माध्यम से उत्पन्न नहीं होकर भावना के द्वारा उत्पन्न होता है, अतः, वह मानसज्ञान न होकर साक्षात् योगज प्रत्यक्ष कहलाता है।³¹⁰

मन की सहायता भावना या चिंतना के लिए आवश्यक है, क्योंकि भावना जब तक दृढमूल न हो, तब तक वह कार्यसक्षम नहीं हो सकती। भावना का प्रकर्ष भी मन की सीमा में ही होता है और उसके द्वितीय क्षण में योगिप्रत्यक्ष योगी में साक्षात् उत्पन्न

हो जाता है। अतः, प्रकर्षात्मक मानसज्ञान को भी उसका समनन्तरप्रत्यय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि समान संतति में उत्पन्न पूर्वक्षण को समनन्तरप्रत्यय कहा जाता है। किन्तु चित्तसंतति के क्षण को 'योगिसंतति' में उत्पन्न कार्य का समनन्तरप्रत्यय वैसे ही नहीं कहा जा सकता जैसे कि यज्ञदत्त के ज्ञान का प्रत्यक्ष देवदत्त जब अपने योग के द्वारा करता है, तब यज्ञदत्त का ज्ञान समानसंतति में न होने के कारण समनन्तरप्रत्यय नहीं कहलाता। अतः, साक्षात् ज्ञान का समनन्तरप्रत्यय योगी का प्रथमक्षण मानना होगा।

योगिप्रत्यक्ष भावनाबलभावी होने पर भी अविस्वादा के होने पर होता है और वह परलोक तथा चार आर्यसत्य के विषय में होता है। वह कामादिविषयक नहीं होता। यद्यपि कामादिविषय विशद आभा के रूप में निर्विकल्पक होते हैं, तथापि वे हैं विपर्यय रूप ही।³¹¹

प्रश्न उठता है कि बौद्धेतर दार्शनिक भी योगिप्रत्यक्ष को भावनाबल से जायमान ज्ञान मानते हैं, तो उनके भी योगिज्ञान को योगिप्रत्यक्ष मानना चाहिए। बौद्धों के लिए यह कह पाना भी संभव नहीं कि अन्य दार्शनिकों की भावना भावना नहीं है; क्योंकि भावनारूप अर्थ लोकसाधारण है, अतः उस स्थल पर यह नियम करना कि अन्य दार्शनिक मतों की भावना भावना नहीं है, संभव नहीं। फलतः, अन्य दार्शनिकों ने जो उपदेश दिया है इस प्रसंग में, उसके अनुकूल भी बर्ताव करना चाहिए। आचार्य प्रज्ञाकर कहते हैं, ऐसा नहीं है, क्योंकि जो योगी अनुमानादि के अविषय अतीन्द्रिय भावों को आर्षप्रतिभा के द्वारा देखते हैं, उनके वचन अनुमान के द्वारा बाधित नहीं होते। पुनः प्रश्न उठता है कि योगीगण जिसको देखते हैं वह वस्तुतः है क्या, यही तो नहीं ज्ञात होता है। यदि योगीगण उन्हें साक्षात् रूप से देखते हैं, तब तो बौद्धों से अन्य दर्शनों के योगीयों के जो वचन हैं वे भी बाधित नहीं होंगे और यदि उपर्युक्त प्रकार से भगवान् बुद्ध ने भी जाना, तो उन्हीं के वचन सत्य हैं, अन्य के नहीं, ऐसा आप कैसे कह सकते हैं? प्रज्ञाकर का उत्तर है कि भगवान् बुद्ध के वचनों में हम प्रमाणसंवाद पाते हैं, जबकि अन्य के वचनों में प्रमाणबाधा दिखायी पड़ती है। अतएव, भगवान् तथागत द्रष्टा हैं, अन्य लोग नहीं।

एक अन्य प्रश्न विरोधियों की ओर से (= मीमांसकों की ओर से) उठाया जाता है कि पौरुषेय प्रमाण अतीन्द्रिय विषयों के प्रसंग में प्रमाण नहीं होते, अतएव पौरुषेय प्रमाणों के द्वारा बाध्यबाधकता की स्थिति समानविषयवालों में ही संभव होती है, अतएव अतीन्द्रिय संसार के विषय में प्रमाण प्रवर्तित नहीं होते। फलतः, योगिज्ञान के द्वारा भी

पौरुषेय प्रमाणों¹⁷ का बाधन ही है। यदि तथागत बुद्ध का वचन योगियों के ज्ञान (= पौरुषेय प्रमाण) के बाधन से व्यवस्थित होता है, तो उससे यह प्रकाशित होगा कि तथागत का वचन विज्ञान का हेतु नहीं है। आचार्य प्रज्ञाकर कहते हैं कि मीमांसकों का अभिमत गलत है, क्योंकि यदि साक्षात् करने वाला योगी केवल अतीन्द्रियार्थ को ही कहे, तो कहीं पर पण्डित व्यक्ति को उसके वचन से प्रवर्तित नहीं होना चाहिए। कारण यह है कि सभी मतों के अतीन्द्रियार्थ सम्बन्धी वचन हैं और वे परस्पर विरुद्ध हैं, अतः वहाँ पर प्रवर्तन नहीं होता। अतएव, यदि दूसरों को शिक्षा देना हो, तो गुरु को चाहिए वह उसी को कहे जो शिष्य के लिए शक्यज्ञान हो या शक्यनिश्चय हो। मीमांसक ऐसा कह सकते हैं कि हमारी उपर्युक्त व्यवस्था उन्हें मान्य नहीं हो सकती, क्योंकि यह असंभव है कि शिष्य सभी बातों को जान सकें। प्रज्ञाकर इस पर कहते हैं कि वहाँ पर योगिज्ञान भी कहाँ से संभव होता है, यही तो विचारणीय बात है। वेद नित्य है अथवा योगी उसका प्रतिपादक है ऐसा यदि आस्तिकों की ओर से कहा जाय, तो हमारा कहना है कि ऐसा कथन तो भाव वस्तु के लिए किया जाता है। किन्तु जिसके भाव होने पर ही संदेह है, वहाँ पर योगी को प्रमाज्ञान कैसे होगा, क्योंकि अभाव की प्रमा नहीं होती। योगी वस्तुतथ्य का दर्शन करके अपने शब्द द्वारा उसे कहता है। यदि आप इस पर कहें (= आस्तिक मत वाले, विशेषतः मीमांसक) कि हम उसके शब्द को नहीं मानते, तो यह युक्त नहीं है। पुनश्च, दुःखविच्छेद की अप्रधानता नहीं है। सम्पूर्ण दुःख का अभाव अनुपादेय नहीं है। सभी जन्तुओं को आत्मा और आत्मीय की संगति से दुःख होता है। इसके अभाव या विनाश के बाद ही सभी दुःखों के नाश की स्थिति का उदय होता है, निर्वाण या मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतएव, सम्पूर्ण दुःखाभाव परम उपादेय है। उससे अन्य और कौन स्थिति युक्तिसंगत हो सकती है? योगिज्ञान से होने वाला मोक्ष दीपक के शान्त हो जाने जैसा है, यह बात अप्रामाणिक नहीं है। कारण बतलाते हुए आचार्य प्रज्ञाकर कहते हैं कि दाह-छेदन आदि के द्वारा ज्ञान का विच्छेद नहीं किया जा सकता। अतएव, ज्ञान की धारा का विच्छेद न होने के कारण योगी निराकुल ही बना रहता है। निर्वाण की अवस्था को जिसने प्राप्त कर लिया है, यदि उसमें विवेक के कारण उद्वेग पैदा करने वाले से वैराग्य हो, तो फिर विरोध कहाँ है? पुनश्च, समतादि के दर्शी इन योगियों का वैराग्य से भी कोई प्रयोजन नहीं होता, क्योंकि समाधि की भावना करने वाले इन योगियों को पीड़ा दे सकने वाली कोई चीज नहीं है। योगी क्षुधा, दुःखादि तथा शस्त्रादि की पीड़ा से परे हो जाता है। भावनाबल के चलते शौर्य-धैर्य आदि सभी कुछ उसमें संभव होते हैं। बिना आहार के भी दूरदेश या दूरकाल से, जैसे पुनर्जन्म के प्रभाव से, कुछ चीजें सुलभ हो जाती हैं। योगी में अन्य जन्मादि का ज्ञान अन्यास से ही पैदा होता है।

उसके बाद कर्मफल का ज्ञान होता है और तदनन्तर सभी चीजों की वेदना (सभी चीजों का ज्ञान) हो जाती है। कार्यकारणभाव का विशेषण विनिश्चय होने पर योगी में अतीत एवं भविष्यत् का परिस्फुट ज्ञान प्रकट हो जाता है।³¹³

पातंजल दर्शन में भी भावनाबल से योगियों में प्रत्यक्षज्ञान के उदय की बात कही गयी है, अतएव बौद्धों को चाहिए कि उसे भी स्वीकार करें। प्रज्ञाकर कहते हैं कि साधारण योगी के विषय में हम बौद्धों को भी यह अभीष्ट है। किन्तु भगवान् बुद्ध का ज्ञान इससे भिन्न प्रकार का है। बुद्ध को सर्वाकार ज्ञान होता है जो कि पूर्णरूप से वस्तु का प्रकाशक होता है। न तो हमारे साधारण योगी को और न तो वैदिक योगी को ही सर्वाकारज्ञान होता है, क्योंकि बुद्ध का ज्ञान 'नैरात्म्य' और 'क्षणभंगता' का वेदक तथा रागादिरहित होता है। अन्य दर्शन के परमयोगियों का भी ज्ञान रागादि से व्याकुल होने के कारण वैसा नहीं होता। इसके अतिरिक्त, बुद्ध भगवान् का जैसा ज्ञान होता है उनका वचन भी उसी तरह का होता है। जब तक ज्ञान परिशुद्ध नहीं होता, वचन भी परिशुद्ध नहीं होता। जैसा ज्ञान होता है वचन की शक्ति भी वैसी ही होती है। यदि यह पक्ष प्रस्तुत किया जाय कि शास्त्रादि प्रणयन रूप वचन का प्रपंच तर्कादि के आधार पर है, तो प्रज्ञाकर का उत्तर है कि योगिज्ञान के मूल में भावनाबल है और भगवान् का वचन सदर्थविषयक है, अतः उसका अनादर नहीं किया जा सकता। हम बौद्धों का योगी वीतराग हैं और जो वीतराग हैं उन्हें ही सर्वार्थज्ञान हो सकता है। जो समाहित चित्त वाले योगी हैं उन्हें सभी कुछ प्रकाशित हो जाता है। यदि पूछा जाय कि सभी दर्शनसम्प्रदायों के वीतरागियों में उपर्युक्त विशेषता क्यों विद्यमान नहीं रहती, तो प्रज्ञाकर का उत्तर है कि क्योंकि अन्य दर्शनसम्प्रदायों के योगी रागादि के क्षयमात्र में प्रयत्नशील होते हैं। रागादि के निवृत्त होने के अनन्तर आत्मा के आते ही वे फिर प्रयत्न नहीं करते, अपने को कृतार्थ समझ बैठते हैं। बाह्य के निवृत्त होते ही प्राप्त शक्ति एवं सुख की लिप्सा से वे ठहर जाते हैं। किन्तु हमारा योगी आगे बढ़कर और प्रयत्न करके नैरात्म्य को प्राप्त करता है। दूसरे के योगी वीतराग नहीं हैं, क्योंकि उनमें अभी आत्माभिमान बना हुआ है। अतएव, प्रदीप की तरह का निर्वाण आत्मवाद में संभव नहीं, क्योंकि आत्मवाद के योगियों का आत्मविषयक रागादि निवृत्त नहीं हुआ रहता।³¹⁴

यदि कहा जाय कि सर्वज्ञान (सर्वाकार ज्ञान) कैसे संभव है और योगिज्ञान में संवेदन की संवादकता कैसे निश्चित होती है? पुनश्च, सर्ववेदन होने की स्थिति में (अर्थात् यह मान लें कि सर्ववेदन होता है, तो उस स्थिति में) सभी रागों और परचित्तों का योगिज्ञान द्वारा साक्षात्करण होगा और इससे योगिज्ञान में रागादितादि दोषों की प्रराक्ति होगी। प्रज्ञाकर इसका उत्तर देते हैं कि अनेक उपायों द्वारा विपुल

काल तक अभ्यास करने के कारण सर्वज्ञान की प्राप्ति होती है, अतः योगिज्ञान में सर्ववेदन का होना युक्ति संगत है। योगी को भी अभ्यास करना पड़ता है। उसके आधार पर प्रथम, द्वितीय, तृतीय इत्यादि को क्रमशः योगी प्रकट करता जाता है। अनेक कल्प के अभ्यास के द्वारा ऐसा कुछ भी नहीं है जो योगी को प्राप्त नहीं हो जाता। जहाँ तक साक्ष्य की बात है, तो हम सामान्य असर्वज्ञ प्राणी की कोई ऐसी स्थिति नहीं है जिसका सर्ववेदन के प्रति संवाद हो सके। कहा भी गया है— “कोई असर्वज्ञ सर्वज्ञ बुद्ध को नहीं बता सकता। जो अपने माहात्म्य का विस्तार स्वयं जानता है, ऐसे बुद्ध को नमस्कार है।” असर्वज्ञ सर्वज्ञ को नहीं जानता है। भगवान बुद्ध का वचन भी है— “भिक्षुगण, एक जीव दूसरे जीव को नहीं जान सकता कि वह कैसा है। मैं, अपने को (तथा अन्य जीवों को) जान सकता हूँ अथवा वह मुझे (तथा अन्य जीवों को) जान सकता है जो मुझ जैसा है— ‘मा भिक्षवः पुद्गलः पुद्गलं प्रविणोतु। अहम्वा प्रविणुयां यो वा स्यान्मद्विध’ (मूल में ‘स्यान्मद्विध’ पाठ है, जो शुद्ध नहीं)।”²¹⁵

प्रश्न उठता है कि सर्ववेदन में तो परसंतान के रागादि की वेदना सर्वात्मना होगी, फलतः उसमें रागादिमत्त्व प्रसक्त होगा? प्रज्ञाकर कहते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि परसंतान की संवित्ति वीतराग होने पर होती है। फलतः, वीतरागित्व की स्थिति में रागित्व की स्थिति मानना अत्यन्तदुर्घट है। जिस प्रकार साधारण स्थिति में परराग की वेदना में व्यक्ति रागयुक्त रहता है, उसी तर्क से यह भी स्पष्ट है कि जब वह वीतराग हो जाता है तो परसंतान की वेदना में वीतरागी ही रहता है। यहाँ यह टिप्पणी विरोधी की ओर से की जा सकती है कि ऐसी स्थिति में तो योगी में, परसंतान की रागादिता एवं योगी की अपनी वीतरागिता, ये दोनों बातें रहेंगी, और ऐसा मानना क्या युक्तिसंगत होगा? प्रज्ञाकर कहते हैं कि विरोधी की टिप्पणी उचित नहीं है, क्योंकि वीतरागित्व का अनुभव उस प्रकार का नहीं होता है। योगी को परसंतान की जब वेदना होती है तो उसे विषयानुभूति नहीं होती, अतः उसे रागी कैसे माना जा सकता है? उसे तटस्थभाव से संवित्ति होती है, अतः उसमें रागित्वादि संभव नहीं है। उदाहरणार्थ, घट की वेदना जिसे होती है, वह स्वयं घट नहीं हो जाता। इसी प्रकार परसंतान में अन्तर्गत रागादि भी जब तटस्थ रूप से जाने जाते हैं तो रागित्व की प्राप्ति नहीं होती है। विरोधी पुनः प्रश्न करता है कि परसंतान के रागादि की वेदना तो तदात्मना होती है, अतः ऐसी स्थिति में योगी में रागित्व के न होने की बात मानना ठीक नहीं, क्योंकि जैसे यह (रागी) अपने को (मैं रागी हूँ, इस रूप में) जानता है, उसी प्रकार योगी भी जानता है। अतः आप (= बौद्धों) का पक्ष उपयुक्त नहीं है। यहाँ विरोधी यह तथ्य उद्घाटित कर रहा है कि योगी जब परसंतान को जानता है, तो, वह पहले

परसंतान के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है, तब राग को पकड़ता है। इस प्रकार उसमें 'अहंरागादिमान्' भी रहता है। अतएव, योगी में रागित्व की हानि नहीं है। रागी की आत्मा में अनुप्रवेश न होने पर पररागादि का वेदन नहीं होता। यदि बौद्ध कहें कि पररागादि की वेदना योगी को तटस्थत्वेन होती है, तो यह भी पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि तटस्थतया पररागादि की वेदना होती है ऐसा मानें, तो इसका अर्थ है कि वह तत्त्वेन वेदन नहीं है और यदि पररागादि का वेदन तदात्मना होता है, तो योगी में रागादिता की प्रसक्ति होगी। आचार्य प्रज्ञाकर उहापोहों से युक्त उपर्युक्त पूर्वपक्ष को असत् बतलाते हुए कहते हैं कि वासना के सामर्थ्य से आयात राग ही रागिता को प्राप्त कराता है, परवासना के बल से आया हुआ राग रागिता को प्राप्त नहीं कराता। अतः योगी में वासना के नष्ट हो जाने के कारण परसंतान की रागादिता की प्रसक्ति मानना ठीक नहीं है। आचार्य प्रज्ञाकर कहते हैं कि यदि पूर्वपक्ष से यह आशंका उठायी जाय कि राग के स्वरूप का संवेदन होने पर योगी में रोमांचादि होने रूप शरीर-विकार तथा वचनविकार क्यों नहीं होता, तो वह उचित नहीं, क्योंकि ये दोनों विकार वासना बल से उत्पन्न होने वाले हैं, योगी की वासना नष्ट हो चुकी रहती है, अतः उसमें ये दोनों विकार नहीं होते। परन्तु, विरोधी पुनः आशंका उठाता है कि भावना के बल से ही परचित्त की वेदना होती है और भावनाजनित संस्कार ही वासना है। अतएव, योगी द्वारा पररागादि की सम्पत्ति में भावना एवं संस्कार की स्थिति होने की अवस्था में वासना के नहीं होने की बात आप बौद्ध कैसे करते हैं? पुनश्च, भावना में वासना से कुछ विशेष बात (= विशिष्टता या वैलक्षण्य) तो है नहीं। प्रज्ञाकर का उत्तर है कि यह आशंका भी अनुचित है, क्योंकि रागादि का गमक जो विषयविशेष है वह योगी में मत्सम्बन्धित्वेन प्रकाशित नहीं होता। योगी में वासना चूँकि नष्ट हो चुकी रहती है, अतएव पररागादि का प्रतिभास होने पर भी उसमें रागादिता की प्रसक्ति नहीं होती। आचार्य प्रज्ञाकर यह भी स्पष्ट करते हैं कि योगी के प्रत्यक्ष में अनादि और अनन्त का वेदन एकक्षण में ही हो जाता है।²¹⁶

यहाँ हम शांतरक्षित—कमलशील द्वारा मीमांसकों के तर्कों का खण्डन कर योगिप्रत्यक्ष की सत्यता को सिद्ध करने के प्रयास का मूल्यांकन करने नहीं जा रहे हैं। उतने विस्तार में जाकर योगिप्रत्यक्ष का निरूपण करना अलग शोधप्रबन्ध का विषय बन सकता है। योगिज्ञान असामान्य प्रकार का ज्ञान है। हमें यह देखना है, संक्षेप में भी, कि योगिज्ञान प्रमाण है या नहीं।

भारतीय दर्शन में चार्वाक और मीमांसा को छोड़कर सभी सम्प्रदायों ने योगिज्ञान को स्वीकार किया है और उसे तत्त्वज्ञान माना है। इस योगिज्ञान की कई

भूमियाँ हैं। विविध दर्शनसम्प्रदायों में इसे कई नामों से पुकारा गया है जैसे प्रातिमज्ज्ञान, आर्षज्ञान, सिद्धदर्शन, योगिप्रत्यक्ष, समाधिज्ञान, प्रज्ञान, बोधि, केवलज्ञान और ईश्वरीय ज्ञान आदि।³¹⁷ पहले हम देखें कि योगिज्ञान को साक्षात्कारी सम्यग्ज्ञान न मानने वालों की युक्ति क्यों निस्सार है।

योगिज्ञान को प्रत्यक्ष न मानने वालों का आक्षेप है कि प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय का विषय के साथ सम्पर्क अनिवार्य होता है। किन्तु सर्व को जानने की क्षमता का दावा किये जाने वाले योगिज्ञान में इसका अभाव पाया जाता है। योगिज्ञान एक भ्रममात्र है, काल्पनिक अवस्था है। भावनाप्रकर्षपर्यन्तज रूप योगिज्ञान मनोवैज्ञानिक परिकल्पना है, भावनामात्र है, क्योंकि समाधि और कुछ नहीं, अपितु मनस् द्वारा विषय के प्रति ध्यान की एकाग्रता है। जिसे योगिज्ञान कहा जाता है, वहाँ वस्तुस्थिति यह होती है कि ध्येय विषय की लगातार भावना करते रहने से, स्मृति में बराबर बनाये रखने से उसका स्मृति संस्कार अत्यन्त स्पष्ट रहता है और हमेशा उसी का ध्यान करते रहने से व्यक्ति मनोवैज्ञानिक धरातल पर अपने ध्येयविषय से एकात्मता स्थापित—सा करता हुआ असामान्य (यहाँ तक कि विक्षप्तता की) स्थिति में पहुँच कर कल्पना में अपने द्वारा सोचे गये विषय का प्रत्यक्ष करता हुआ मानता है। प्रत्यक्ष नामक स्थिति घटित नहीं होती, अपितु उसकी परिकल्पना कर ली जाती है। ध्येय को प्राप्त करने की प्रगाढ़ इच्छा के विषय में उस ध्येय के मनगढ़ंत स्वरूप को सोचते हुए अन्ततः जब अन्य भावना द्वारा वह अबाधित होता है, निरन्तर ध्यान में बना रहता है, तो तत्थाकथित साधक को यह भ्रम हो जाता है कि उसने तत्त्वसाक्षात्कार कर लिया। पुनश्च, चूँकि योगिज्ञान में इन्द्रिय के साथ वस्तु के सम्पर्क की बात नहीं होती, फलतः उसके द्वारा उन विषयों का प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है जो उसकी पहुँच से परे हैं। यदि उसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष न मानकर, बुद्धिविकल्प रूप माना जाय तो योगियों का सम्पूर्णज्ञान अवास्तविक हो जायेगा, क्योंकि उसका बाह्य वस्तु से कोई सरोकार नहीं है, अपितु वह बुद्ध्यारुढ, 'धर्मिधर्मभावेन' होता है।³¹⁸

आचार्य शांतरक्षित और कमलशील ने उपर्युक्त तथा अन्य अनेकों आशंकाओं का समाधान करते हुए योगिप्रत्यक्ष की सिद्धि 'अतीन्द्रियार्थ परीक्षा' नामक प्रकरण में की है।³¹⁹ उनके पक्ष का भावार्थ यह है कि योगी के निर्मल और निष्कम्प ज्ञानदीप के द्वारा अखिल वस्तु द्योतित हो सकती है। अतः, जो विषय इन्द्रिय के साक्षात् सम्पर्क में नहीं है तथा संवृति में निन्दित हैं, उनका भी साक्षात् ज्ञान होता है। शांतरक्षित लिखते भी हैं— 'भूतार्थभावनोद्भूतमानसेनैव चेतसा। अप्राप्ता एव वेद्यन्ते निन्दिता अपि संवृतौ।। त0सं0 3318। योगी के चित्त में वह शक्ति आ जाती है कि उसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म

और दूरस्थ वस्तुओं का साक्षात् ग्रहण होता है। कोई वस्तु योगिचित से परे नहीं होती, अतः इन्द्रिय विशेष के अपने गौचर तक ही सीमित रहने अथवा देश, काल की सीमा में ही कार्य करने की जो बाध्यता है वह योगिप्रत्यक्ष पर प्रयुक्त नहीं होती। तत्त्वभावना का प्रकर्ष होने पर योगी की मानसिक शक्ति श्रेष्ठ प्रकार की हो जाती है और उसमें प्रज्ञा, करुणा, मैत्री आदि अपने श्रेष्ठतम स्तर में अवतरित होती हैं। समाधि की चरम अवस्था में उसे तत्त्वसाक्षात्कार होता है। फलतः भूत, वर्तमान, भविष्य आदि के सभी विषय उसके लिए हाथ पर रखे आमलक फल की तरह प्रत्यक्ष हो जाते हैं।³²⁰ विषयों के ज्ञानार्थ उसे अनुमानादि की अपेक्षा नहीं होती। राजहंसशिषु जैसे प्रारंभ में अपने घोंसले से भी बाहर जाने में शक्त नहीं रहता, किन्तु अभ्यास से वह बड़े महासागरों के भी पार चले जाने में समर्थ हो जाता है, तद्वत् स्थिति योगी की भी है।³²¹ बुद्धत्व के प्रसंग में इसे स्पष्ट करते हुए शांतरक्षित लिखते हैं—

“आश्रयोपाधिकाभ्यासभेदादस्य गतिर्यथा। तादृशी तादृशादेव किं न सम्भाव्यतेऽधिका।। बोधिसत्त्वदशायां हि न शक्तस्तादृशीं गतिम्। प्राप्तुं प्राप्ते समाधौ तु विशिष्टे शक्नुयान्मुनिः।” 3428-29

“यावद् यावद्गुणौघोऽस्यामाभिमुख्येन वर्तते। प्रभास्वरतरा तावत् सुतरामेव वर्तते।। प्रभास्वरमिदं चित्तं तत्त्वदर्शनसात्मकम्। प्रकृत्यैव स्थितं यस्मान् मलास्त्वागन्तवो मताः।” 3433-34

चूँकि समाधि बल से सभी दोषों को वह नष्ट कर देता है, वासना का क्षय कर देता है, अतः बुद्धिविकल्प की कोटियों से परे हो जाता है। इसी कारण तार्किक नियम उस पर प्रयुक्त नहीं होते।³²² योगी का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तत्त्वसाक्षात्कारी होता है। योगी को विषय युगपत् रूप में ग्रहीत होते हैं। यह सर्वश्रेष्ठ प्रकार का प्रत्यक्ष है। स्वप्न, भ्रम, विभ्रम जहाँ अस्फुट तथा सविकल्पक होते हैं, योगिप्रत्यक्ष, स्फुट, निर्विकल्पक तथा तत्त्वज्ञान है, इसी कारण योगिप्रत्यक्ष का कभी अपलाप एवं बाध नहीं होता, जबकि स्वप्न एवं भ्रमादि ज्ञान जाग्रतादि ज्ञान से बाधित हो जाते हैं। यद्यपि योगिज्ञान दुष्कर एवं अत्यन्त दुर्लभ है, तथापि असंभव नहीं।³²³ प्रत्येक मनुष्य योगाभ्यास से इस ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। अतः, मीमांसकों एवं उनके समान मत वालों का पक्ष इस प्रसंग में उचित नहीं माना जा सकता।

प्रत्यक्ष का विषय

क्षणिकवाद तथा प्रमाणासांकर्यवाद मानने वाले बौद्धों के लिए प्रमेयद्वित्व मानना तर्कतः अपरिहार्य है और ऐसी स्थिति में प्रत्यक्षप्रमाण एवं अनुमान प्रमाण के लिए परस्पर विलग स्वभाव वाले विषयों की व्यवस्था करना भी अनिवार्य है। प्रमाण दो ही क्यों हैं, इसकी व्याख्या के प्रसंग में तथा तद्विषयक विवेचन करते हुए 'सत्यद्वयचिन्ता' के प्रसंग में हम 'स्वलक्षण और सामान्यलक्षण' पर विचार कर चुके हैं। यहाँ प्रत्यक्ष के विषय 'स्वलक्षण' पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे। इस स्थल पर हमारा विवेचन मुख्यतया सौत्रान्तिक दृष्टिकोण के आलोक में होगा, क्योंकि हम दुर्वेक मिश्र के "तस्य विषयः स्वलक्षणमित्यादेरशक्ययोजनत्वाद्" की युक्तता से सहमत हैं।

प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण ही है, इसकी विवेचना का स्वारस्य इस कारण है कि दर्शन सम्प्रदायों में प्रमाणों के विषय, और इसीलिए प्रत्यक्ष के विषय, में विप्रतिपत्तियाँ हैं। पुनश्च, प्रत्यक्षप्रमाण के प्रकारों के प्रसंग में 'स्वलक्षण' किस अर्थ में विषय माना गया है, इस दृष्टि से भी इस विवेचना का महत्त्व है, जिसे हम, ग्राह्यविषय और प्रापणीयविषय के प्रसंग में, इसी अध्याय में आगे देखेंगे।

व्याख्या एवं स्वरूप — स्वलक्षण 'स्व' और 'लक्षण' इन दो शब्दों की संग्रहात्मक संज्ञा है। स्व—आत्मीय, निज, असाधारण या विलक्षण और 'लक्षण' = तत्त्व या स्वरूप। अतः, स्वलक्षण का अर्थ है असाधारण स्वरूप², अपना असली स्वरूप या तत्त्व। स्वरूप या तत्त्व अर्थक्रियाकारी होने का ही नाम है। अतः, स्वलक्षण का अर्थ हुआ असाधारण और क्रियाक्षम वस्तु, वह सर्वतः व्यावृत्त, अनूठी एवं विलक्षण वस्तु जो अर्थक्रियासमर्थ हो। असाधारण तत्त्व ही वस्तु का असली स्वरूप है। इसे ही एक शब्द 'स्वलक्षण' द्वारा कहा जाता है।

आचार्य दिग्नाग, यद्यपि, 'अर्थक्रियाकारित्व' की अवधारणा से परिचित नहीं हैं,³ तथापि, प्रमेय दो लक्षणवाला होता है— स्वलक्षण और सामान्यलक्षण रूप- और उनमें प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है और अनुमान का विषय सामान्यलक्षण ही होता है, इसको उद्घोषित करते हैं।⁴ उनके अनुसार, वस्तु के सर्वसाधारण रूप के अतिरिक्त उसका अपना एक निजी एवं विलक्षण स्वरूप भी होता है, जो सजातीय—विजातीय व्यावृत्त (सर्वतः व्यावृत्त) होता है। वस्तु के इसी पक्ष को स्वलक्षण कहा जाता है।

आचार्य धर्मकीर्ति एवं उनके व्याख्याकार, जैसे प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर, आदि इसकी विशद व्याख्या करते हैं। 'स्वलक्षण प्रत्यक्ष' का विषय है, जब ऐसा धर्मकीर्ति कहते हैं, तो 'विषय' शब्द से उन्हें क्या अभीष्ट है? इस प्रश्न का स्वारस्य इसलिए है, क्योंकि प्रमाणों (प्रत्यक्ष और अनुमान) का दो प्रकार का विषय होता है— ग्राह्य एवं अध्यवसेय या प्रापणीय। ग्राह्यविषय भिन्न होता है और प्रापणीयविषय भिन्न होता है। धर्मोत्तर तथा अन्य व्याख्याकार 'स्वलक्षण' को प्रत्यक्ष का ग्राह्यविषय कहना आचार्य धर्मकीर्ति का अभिप्रेत बतलाते हैं। आचार्य धर्मकीर्ति के अनुसार जो ज्ञान का हेतु है, अर्थात् आलम्बन प्रत्यय है, वही ग्राह्यविषय है।^१ धर्मोत्तर कहते हैं कि, ग्राह्यविषय वह है जिसके आकार का ज्ञान उत्पन्न होता है, अर्थात् जिस विषय के आकार वाला ज्ञान उत्पन्न होता है वह विषय ग्राह्य है।^२ आचार्य दुर्वेक मिश्र ग्राह्यविषय को भी दो प्रकार का, परमार्थ और आरोपित, बतलाते हैं। उनके अनुसार, प्रत्यक्ष का ग्राह्यविषय परमार्थसत् वस्तु होती है और अनुमान का ग्राह्यविषय आरोपित वस्तु होती है। दोनों प्रकार के उपर्युक्त ग्राह्यविषयों का अपने ज्ञान में प्रकाशन होता है।^३

अध्यवसेयविषय वह है जिसका, यद्यपि ज्ञान में प्रतिभास तो नहीं होता, तथापि वह प्रवृत्ति का विषय है। इसी कारण इसे प्रापणीयविषय भी कहते हैं, क्योंकि व्यक्ति जिस विषय में ज्ञान द्वारा प्रवृत्ति करता है वही वस्तु उस ज्ञान का प्रापणीयविषय कहा जाता है। प्रत्यक्ष का अध्यवसेय या प्रापणीयविषय क्षणसंतान है जो कि प्रत्यक्ष के आधार पर 'यह भीत है' इत्यादि निश्चय के द्वारा उत्पन्न होता है, क्योंकि क्षण को प्राप्त नहीं कराया जा सकता। एक क्षण को कोई व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकता, कारण यह है कि वह, प्राप्तिक्षण में नष्ट हो चुका रहता है। अतएव, कार्यकारणभाव से व्यवस्थित क्षण—प्रवाह या क्षणसंतति का प्रत्यक्ष—पृष्ठभावी—विकल्पद्वारा अध्यवसाय (निश्चयात्मक ज्ञान) होता है। यद्यपि, क्षणसंतति का प्रत्यक्ष में भासन नहीं होता, तथापि निर्विकल्प प्रत्यक्ष के अनन्तर होने वाले निश्चयात्मक ज्ञान के द्वारा क्षणसंतान को प्रवृत्ति का विषय बना दिया जाता है। इसलिए, क्षण—संतान को प्रत्यक्ष का अध्यवसेयविषय तथा प्रापणीय विषय कहा जाता है। यहाँ ध्यानीय है कि क्षणसंतान को जब प्रत्यक्ष का विषय कहा जाता है, तो, वह औपचारिक दृष्टि से ही।^४

प्रश्न है कि प्रत्यक्ष की ही तरह अनुमान का ग्राह्य और प्रापणीय विषय क्या है? धर्मोत्तरादि का उत्तर है कि अनर्थ या आरोपित वस्तु (= मिथ्या अर्थ या सामान्यलक्षण) अनुमान का ग्राह्यविषय है, जबकि अध्यवसित स्वलक्षण अनुमान से होने वाली प्रवृत्ति का विषय है, क्योंकि आरोपित अर्थ अनुमान द्वारा ग्राह्य होता हुआ स्वलक्षण के रूप में अध्यवसित होता है। प्रत्यक्ष की भाँति अनुमान भी अपने द्वारा ग्राह्य

(= बोधित) मिथ्या अर्थ (= सामान्यलक्षण) में अर्थ (परमार्थसत् वस्तु = स्वलक्षण) का अध्यवसाय करा कर प्रवृत्ति कराता है।⁹ उदाहरणार्थ, जब हम धूम हेतु से अग्नि का अनुमान करते हैं, तो अग्नि के साधारण (= सामान्य) रूप का ग्रहण होता है, जो कि कल्पित या आरोपित होता है, अर्थक्रियासामर्थ्यरहित होता है। फलतः, यह अनुमानित अग्नि दाहपाकादिअर्थक्रिया में असमर्थ होती है। परन्तु, अग्नि के सामान्यरूप का ग्रहण करके हम अग्नि के उस स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं जो दाहपाकादि अर्थक्रिया में सक्षम होता है। यही अनुमान का अध्यवसेयविषय है।

इस चर्चा का स्वारस्य इस तथ्य में है कि दार्शनिकों में ग्राह्यविषय को लेकर ही मतभेद है। इसी कारण, बौद्ध दार्शनिक अपने प्रमाणासांक्य के सिद्धान्तानुसार यह स्पष्ट करने में सावधानी रखते हैं कि प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है, अर्थात् (1) प्रत्यक्ष का ही ग्राह्यविषय स्वलक्षण है, अनुमानादि का नहीं है, तथा (2) प्रत्यक्ष का ग्राह्यविषय स्वलक्षण ही है, सामान्यलक्षण नहीं। इसी प्रकार सामान्यलक्षण ही अनुमान का ग्राह्यविषय है, स्वलक्षण अनुमान का ग्राह्यविषय नहीं है। किन्तु, जिस प्रकार प्रत्यक्ष के प्रसंग में यह अवधारण (निश्चय, सीमारेखा बाँध देना) किया गया है कि स्वलक्षण केवल प्रत्यक्ष का ग्राह्यविषय है, उस प्रकार अनुमान के प्रसंग में बौद्ध यह नहीं कहते हैं कि सामान्यलक्षण केवल अनुमान का ग्राह्यविषय है, क्योंकि सामान्यलक्षण अनुमान के अतिरिक्त अन्य विकल्पों का भी ग्राह्यविषय होता है। हाँ, सामान्यलक्षण प्रत्यक्ष का नहीं, अपितु अनुमान का ही ग्राह्यविषय होता है।¹⁰

आचार्य दुर्वेक मिश्र इस महत्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं कि जब प्रत्यक्ष के ग्राह्यविषय और अध्यवसेयविषय की बात की जा रही है, तो यह चर्चा एवं विवेचना इन्द्रियप्रत्यक्ष को ही ध्यान में रखकर की जा रही है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि मानसप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनादि, जो अन्य प्रकार प्रत्यक्ष के हैं, उनके प्रसंग में विषयद्वैविध्य असंभव है।¹¹ पुनश्च, प्रत्यक्ष जिसको प्रतिभासलक्षण से विषय बनाता है वह ग्राह्यविषय कहलाता है, तथा जो अध्यवसायलक्षण से प्रत्यक्ष का विषय बनता है, वह अध्यवसेय या प्रापणीय विषय होता है। इस प्रकार, प्रत्यक्ष ग्रहण अन्य का करता है और अध्यवसाय अन्य का करता है। यही स्थिति अनुमान प्रमाण की भी है। वह भी अन्यग्राही और अध्यवसायी होता है। अनुमान का ग्राह्यविषय सामान्यलक्षण है। चूँकि, वस्तुजगत् में उसकी वास्तविक सत्ता नहीं होती, अपितु वह काल्पनिक एवं आरोपित होता है तथा अर्थक्रिया में असमर्थ होता है, इसलिए, उसे 'अनर्थ' कहा जाता है। इस अनर्थ में अर्थ अर्थात् 'स्वलक्षण' का अध्यवसाय कर लिया जाता है, अर्थात् आरोपित वस्तु का बाह्य वस्तु से विवेक न करने के कारण अनुमान द्वारा आरोपित वस्तु का

ग्रहण करने के अनन्तर व्यक्ति बाह्य अर्थ को ही प्रवृत्ति का विषय समझ बैठता है। इसे ही अनर्थ में अर्थ का अध्यवसाय कहा जाता है। दुर्वेक मिश्र इसीलिए लिखते हैं— 'तस्मिन्ननर्थेऽबाह्यरूपेऽर्थाध्यवसायेन बाह्याध्यवसायेन तदभेदानवभासनात्मकाभेदाध्यवसानलक्षणेन प्रवृत्तेः प्रवर्तनात्'।¹² अनुमान ज्ञान में प्रकाशमान आरोपित अर्थ का, चूँकि स्वलक्षण के रूप में अध्यवसाय होता है, अतएव, अवसित स्वलक्षण अनुमान का 'प्रवृत्तिविधय' है। दुर्वेक का टिप्पणीकार के ही समान कथन है 'स्वलक्षणमवसितमित्येतदप्यभिमानादभिधीयते'।¹³ क्योंकि, वस्तुतः स्वलक्षण अध्यवसाय का गोचर नहीं है। यदि, स्वलक्षण अनुमान का विषय हो, तो चूँकि स्वलक्षण निरंश होता है, अतएव, क्षणिकत्वादि का भी अध्यवसाय मानना पड़ेगा, फलस्वरूप, अनुमान के अनवतार का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा।¹⁴ आचार्य दुर्वेक मिश्र इस स्थल की विस्तृत विवेचना करते हैं। धर्मोत्तर के मंतव्य को स्पष्ट करते हुए वे बतलाते हैं, कि चूँकि, जो प्रवृत्ति का विषय होता है वही प्रापणीयविषय होता है, अतएव, अनुमान में प्रकाशित होने के कारण अनर्थ को अनुमान का ग्राह्यविषय कहा गया है।¹⁵

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि, अवसित स्वलक्षण अनुमान का प्रवृत्तिविषय है, तो, आचार्य धर्मोत्तर ने 'विनिश्चयटीका' में यह कैसे कहा कि 'अवसित आकार विकल्पों का ग्राह्यविषय है। यदि, अवसित आकार विकल्पों का ग्राह्यविषय है, तो उस स्थिति में 'स्वलक्षण' ही अनुमान का ग्राह्यविषय होगा, अनर्थ अनुमान का ग्राह्यविषय नहीं होगा। फलतः, विरोध की प्राप्ति होगी। आचार्य दुर्वेक मिश्र का उत्तर है कि प्रमाणविनिश्चयटीका में धर्मोत्तराचार्य ने उपर्युक्त कथन परमार्थदृष्टि से किया है, अतः, विरोधी जो दोषोद्भावन कर रहा है वह ठीक नहीं। धर्मोत्तराचार्य का परमार्थ दृष्ट्या विनिश्चयटीका में किया गया कथन दोषरहित है। परमार्थतः, विकल्पों का आरोपित ही अवसेयरूप ग्राह्य है, तथापि व्यवहार करने वाला व्यक्ति अवृक्ष से व्यावृत्त जो आरोपित रूप है उसका ही अध्यवसाय करते हुए, मैं बाह्य वृक्ष का व्यवसाय कर रहा हूँ, ऐसा मानता है, क्योंकि अवृक्ष से व्यावृत्त जो आरोपित रूप है एवं जो बाह्य वृक्ष है इन दोनों में विवेक की प्रतिपत्ति उसे नहीं होती। इसी के अनुरोध से न्यायबिन्दु-टीका में धर्मोत्तराचार्य ने 'अवसित स्वलक्षण' ऐसा कहा है। उसी आरोपित अर्थ के, जो कि परमार्थतः अनुमेय है, केवल प्रकाशमान आकार का आश्रय लेकर 'विनिश्चयटीका' में धर्मोत्तर ने 'अवसितश्चाकारो विकल्पानां ग्राह्यः' ऐसा कहा है। अतएव, विरोध का अवकाश ही कहाँ है, क्योंकि वहाँ पर वास्तविक अध्यवसित रूप के अभिप्राय से कथन हुआ है।¹⁶

पूर्वपक्ष की ओर से एक अन्य आशंका प्रस्तुत कर दुर्वेक मिश्र उसका उत्तर

देते हैं। पूर्वपक्ष है कि प्रत्यक्ष का प्रामाण्य ग्राह्यविषय की अपेक्षा से सिद्ध नहीं होता, क्योंकि, 'एकक्षण' प्रत्यक्ष का ग्राह्यविषय है जिसकी प्राप्ति संभव नहीं होती है। तद्वत् अनुमान का भी प्रामाण्य ग्राह्यविषयसापेक्ष नहीं है। 'अनर्थ' अनुमान का ग्राह्यविषय है और अनर्थ की प्राप्ति संभव नहीं। जिससे जिसकी प्राप्ति नहीं होती उसका उससे प्रामाण्य साधित नहीं होता है, क्योंकि, जिससे जिसकी प्राप्ति नहीं हो उससे उसका प्रामाण्य साधित मानने पर अतिप्रसंगदोष होगा। यदि, प्रत्यक्ष की एकनीलक्षण के आकारतया उत्पत्ति ही उसका प्रापण है, तो, अनुमान की भी, अग्नि आदि के अध्यवसायितया वैसी उत्पत्ति ही उसका प्रापण है। तब तो कुछ भी अवशेष रहा नहीं और ऐसी स्थिति में किस सविकल्प अथवा निर्विकल्प नाम वाले ज्ञान की उस-उस आकारतया उत्पत्ति नहीं है जिससे कि उसका प्रामाण्य नहीं होना चाहिए? इस प्रकार प्रमाण का कथनीय विषय द्विविध नहीं है, अपितु प्रतिपत्तिविषय नामक एक ही ज्ञापनीयविषय है। आचार्य दुर्वेक मिश्र का उत्तर है कि ज्ञान का, ग्राह्य एवं अध्यवसाय भेद से, द्विविध विषय अवश्य ही ऐषितव्य है, क्योंकि यह अनुभव सिद्ध है। ज्ञान में प्रामाण्य की व्यवस्था प्रवृत्तिविषय की अपेक्षा से की जाती है, किन्तु ज्ञातव्य उभयापेक्ष है (= उभयविषय सापेक्ष है)। चूँकि, अज्ञान का प्रामाण्य संभव नहीं होता, इस कारण ज्ञानान्तर्भूत जो प्रमाण है वह विषयद्वैविध्यवत् ही होता है। प्रामाण्य केवल ग्राह्यापेक्ष ही नहीं, अपितु वह प्रवृत्तिविषयापेक्ष होता है, ऐसा हमारा प्रतिपाद्य है। 'प्रमाण के ग्राह्यविषय की अपेक्षा से', ऐसा कथन स्वरूप का अनुवादक है। अथवा प्रमाण शब्द से यहाँ ज्ञान ही विवक्षित है, जैसे कि यह बात 'विनिश्चयटीका' में स्वार्थानुमान के व्याख्यान के समय यह कहकर व्यक्त की गयी है कि 'ज्ञान का द्विविध विषय है — ग्राह्य एवं अध्यवसेय'। अतः, कुछ भी गलत बात धर्मोत्तर के उपर्युक्त कथन में नहीं है।¹⁷

एक अन्य आशंका इस प्रसंग में यह उठती है कि यदि ग्राह्यविषय, कभी भी, प्रत्यक्ष का प्रापणीय विषय नहीं है, तो, उसको दिखलाने से क्या प्रयोजन, जिससे यह कहा जाता है कि 'अतएव, यहाँ ग्राह्यविषय को दिखलाते हुए, प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण कहा गया है।' दुर्वेक मिश्र का उत्तर है 'नैष दोषः'। एवमेवास्य प्रवृत्तिविषयप्रदर्शनात्"। इसे स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि यदि, प्रत्यक्ष एक क्षण को ग्रहण करता है, तो, वहाँ वह अनीलव्यावृत्ति के निश्चय की उत्पत्ति होने पर क्षणसंतान का निश्चय कराता हुआ न कि किसी को अग्रहण करता हुआ प्रवृत्तिविषय को करेगा और तत्संतानभावीज्ञानों का अप्रामाण्य हो जायेगा। यद्यपि, संतानोल्लेख से निश्चय नहीं होता, निश्चयाभाव ही रहता है, तथापि, अनागत सर्वक्षण में साधारण जो

अनीलव्यावृत्ति है वह प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत होकर निश्चित हो जाती है। वह निश्चय ही सभी अनील से व्यावृत्त उपादान और उपादेयभाव से स्थित नीलक्षण का निश्चय है, क्योंकि बाद का जो क्षणप्रबन्ध है उसका योगक्षेम उससे अभिन्न होता है। उस प्रकार का निश्चय ही क्षणसंतान में निश्चय कहा जाता है। अतएव, प्रत्यक्ष आदि (प्रथम) ज्ञान है और उसका उसी तरह अनुष्ठान भी होता है। उसकी संतति में होने वाले ज्ञान उससे भिन्न (= विपरीत) स्वभाव वाले होते हैं। प्रथमज्ञान की संतति में होने वाले ज्ञान अनील व्यावृत्त रूप को ही, जो प्रथम ज्ञान के द्वारा पूर्वगृहीत रहता है, गृहीत करते हैं और अनील-व्यावृत्ति के रूप में जो निश्चय इन ज्ञानों को होता है वह पूर्वकृत रहता है।¹⁸ इसी कारण, दुर्वेक मिश्र प्रसंग का उपसंहार करते हुए लिखते हैं— “..... अनतिशयाधायीनि प्रचुराण्यपि प्रामाण्यात्प्रच्यावयत् प्रामाण्यमात्मसात्करोतीति न्याय्यं ग्राह्यप्रदर्शनमिति सर्वमवदातम्।”¹⁹

स्वलक्षण का स्वरूप

आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं कि जिस अर्थ के निकट अथवा दूरस्थ होने से ज्ञान के प्रतिभास में स्फुटता अथवा अस्फुटता का भेद होता है, वह स्वलक्षण है।²⁰ धर्मोत्तराचार्य इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि ‘अर्थ’ शब्द ‘विषय’ का पर्यायवाची है, अतः, ‘जिस अर्थ का’ अभिप्राय है ‘जिस ज्ञान के विषय का’। फलतः, सूत्र का आशय हुआ कि जिस ज्ञान के विषय की निकट देश में स्थिति से ज्ञान के ग्राह्याकार में स्फुटता तथा दूरदेश में स्थिति से अस्फुटता होती है वह स्वलक्षण है, अर्थात् ज्ञान का जो विषय सन्निकट होकर ज्ञान में स्पष्टरूप से आभास (= ग्राह्याकार) उत्पन्न करता है, परन्तु दूरदेश में प्रभावित होकर, प्रत्यक्ष के योग्य स्थल में रहता हुआ भी (इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होकर भी), अस्पष्ट ग्राह्याकारता उत्पन्न करता है, वह स्वलक्षण है। सभी वस्तुएँ दूर से अस्पष्ट दिखलायी पड़ती हैं और समीप से स्फुट, वे ही स्वलक्षण हैं।²¹

आचार्य धर्मकीर्ति ‘स्वलक्षण को ही परमार्थसत्’ (‘तदेव परमार्थसत्’) कहते हैं। प्रमाणवार्तिक में वे ‘अर्थक्रियासमर्थं यत् तदेव परमार्थसत्’ ऐसा कहते हैं।²² अतः, धर्मोत्तर द्वारा जब ‘ज्ञानप्रतिभास भेदः’ की व्याख्या ‘ज्ञान का स्पष्ट रूप से ग्राह्याकार होने के रूप में’ ही की जाती है, तो वे यह इंगित कर रहे हैं कि आचार्य धर्मकीर्ति का आशय यह बतलाना है कि ज्ञान का स्पष्ट रूप से ग्राह्याकार होना भी अर्थक्रियासामर्थ्य का एक रूप है।²³ मनोरथनन्दि भी इसकी पुष्टि करते हुए लिखते हैं कि जो अर्थ अपना आकार ज्ञान में समर्पित करता है, उसमें स्पष्टाकार पैदा करता है वही अर्थक्रियाक्षम है, परमार्थसत् है।²⁴

अतः 'ज्ञानप्रतिभास भेदः' का आशय यही है कि वस्तु के समीप में स्थित होने से अधिक स्फुट ग्राह्याकारता है, जब कि दूरस्थ होने पर कम स्फुट ग्राह्याकारता। यही कारण है कि धर्मोत्तराचार्य या उनके टीकाकार आचार्य विनीतदेव की व्याख्या को गलत ठहराते हैं।²⁵ विनीतदेव असन्निधान का अर्थ 'सर्वेण रूपेण वस्तुनोऽभावः' के रूप में करते हैं। इस प्रकार, उनके अनुसार 'सन्निधान' का अर्थ होगा भाव या उपस्थिति और असन्निधान का अर्थ होगा अनुपस्थिति।²⁶ विनीतदेव का पक्ष दोषपूर्ण इस कारण से है कि वस्तु की अनुपस्थिति में ज्ञान में अर्थ का स्पष्ट आभास ही नहीं होता; ज्ञान का जो प्रतिभासभेद है उसके घटित होने की तो बात ही क्या है? क्योंकि वस्तु के उपस्थित न होने पर भी विकल्पज्ञान (अनुमानादि) हो सकता है। यह भी ध्यानीय है कि ज्ञान की स्फुटाभता और अस्फुटाभता के द्वारा ही सन्निकट तथा दूर स्थित वस्तु की स्फुटाभता और अस्फुटाभता हो जाती है। परमार्थ दृष्ट्या वस्तु में स्फुटाभता और अस्फुटाभता नहीं होती। इसी कारण, यह आशंका भी उचित नहीं है कि 'यदि, दूर और समीप होने से स्वलक्षण का स्फुट और अस्फुट प्रतिभास होगा, तो, उसके दो रूप (रूपद्वय) होने लगेंगे।'²⁷ टिप्पणीकार इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं— 'नील का स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप पारमार्थिक सत् या वस्तु नहीं है, अपितु अर्थक्रियासमर्थ परमाणु रूप नील यथार्थ विषय या वस्तु है। स्पष्ट और अस्पष्ट आकार उपाधिकृत हैं। जब हम दूरस्थ नील को देखते हैं तब आलोक परमाणु के रज परमाणुओं से, अभिभूत होने के कारण स्पष्ट प्रतिभासवाला ज्ञान नहीं होता है। निकट में आलोक परमाणुओं के बहुत्व के कारण नील, रजपरमाणुओं से अभिभूत नहीं होता, अतः स्पष्ट आभास वाला ज्ञान होता है। नील का स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप परमार्थतः सत्य नहीं है, अपितु परमार्थतः सत्य वस्तु अर्थक्रियासमर्थ परमाणुरूप नील है; स्पष्ट और अस्पष्ट रूप की उत्पत्ति उपाधि द्वारा होती है। अर्थ (= परमार्थसत्) स्वतः स्पष्ट अथवा अस्पष्ट आभासित नहीं होता, अपितु (= परतः) ज्ञान के और स्पष्ट रूप के द्वारा तद्वत् प्रतीत होता है।'²⁸

इसी स्थल की व्याख्या दुर्वेक मिश्र और विस्तारपूर्वक करते हैं। धर्मोत्तराचार्य ने कहा है कि "सर्वाण्येव हि वस्तुनि दूराद् अस्फुटानि दृश्यन्ते, समीपे स्फुटानि। तान्येव स्वलक्षणानि।"²⁹ दुर्वेक मिश्र बतलाते हैं कि 'स्वलक्षण' के लक्षण में (क) 'अव्यापित्व' और (ख) असंभावित्व दोष को हटाते हुए धर्मोत्तर ने अपनी टीका में 'सर्वाणि' ऐसा कहा है और 'अतिव्याप्ति दोष' का निराकरण 'तानि' शब्द से किया है। दूर होने पर गृह्यमाण वस्तु प्रचुर धूल एवं ओस आदि से संसृष्ट होकर गृहीत होती है, अतएव अस्पष्ट रूप में गृहीत होती है। वह गृहीत नहीं होती, ऐसा नहीं होता,

क्योंकि उस रूप में गृहीत होते हुए भी वृक्षादि में छायादि अर्थक्रियाकारित्व होता ही है। इस प्रकार, का प्रचुर धूल एवं ओस आदि से संसृष्ट स्वलक्षण का जो अधिक ग्रहण होता है, वह भ्रम तो है नहीं।³⁰ दुर्वैकमिश्र, पूर्वपक्ष की ओर से आशंका प्रस्तुत कर इसका समाधान करते हुए, इस स्थल की गंभीर एवं सूक्ष्म विवेचना करते हैं। यदि, वही अर्थ स्वलक्षण है जो निकटता और दूरस्थता के कारण स्फुटत्व और अस्फुटत्व के द्वारा ज्ञान के प्रतिभास को पृथक् करता है, तो स्पर्श एवं रस स्वलक्षण नहीं होंगे। स्पर्श और रस असन्निहित होने पर ज्ञान को ही उत्पन्न नहीं करते, अतः, स्फुटत्व एवं अस्फुटत्व के द्वारा ज्ञान के प्रतिभास को कैसे पृथक् करेंगे? पुनश्च, यदि उपर्युक्त ही लक्षण स्वलक्षण का है, तो विज्ञान भी स्वलक्षण नहीं होगा, क्योंकि असन्निहितास्फुटज्ञानजनकत्व के साथ ही सन्निहित का भी स्फुटज्ञानजनकत्व विज्ञान में नहीं है (ज्ञान तो अप्रतिघ होता है, फलतः देश नहीं घेरता। अतएव उसके विषय में सन्निहित और असन्निहित होने का प्रश्न ही नहीं उठेगा। अतः, विज्ञान में दूर या समीप होना नहीं बन सकता)। ऐसी स्थिति में इस प्रकार के महान अव्याप्ति दोष को न देखकर इस प्रकार के स्वलक्षण का लक्षण करके आचार्य धर्मकीर्ति और उस पर हठपूर्वक टीका करके आचार्य धर्मोत्तर भी क्या प्रमाद नहीं कर रहे हैं? दुर्वैक मिश्र का उत्तर है— “प्रमाद नहीं कर रहे हैं, क्योंकि आपको उनके अभिप्राय का परिज्ञान नहीं है। यदि, सूत्र 13 का स्वलक्षण का लक्षण जैसा आप सोच रहे हैं वैसा ही होता, तो प्रमाद की बात होती। सन्निधान और असन्निधान के द्वारा ज्ञान के प्रतिभास में जिसके कारण भेद होता है वह स्वलक्षण है, ऐसा कहने से यह भी उपलक्षित हो जाता है कि स्वलक्षण ‘एकार्थसमवेत्’, ‘असाधारण’, और ‘व्यक्त्यन्तरानुयायी’ होता है। इसी कारण, हेतुबिन्दुटीका में अर्घट महाशय ने ‘असाधारण विषय जो है, वह स्वलक्षण विषय है’ ऐसी व्याख्या की है।³¹ स्पष्ट है कि दुर्वैक के अनुसार सूत्र में ‘सन्निधान’ और ‘असन्निधान’ के द्वारा ज्ञान प्रतिभास का भेद बतलाना उपलक्षण मात्र है। स्वलक्षण की असाधारणता को लक्षित करना ही प्रमुख ध्येय है।³² उदाहरणार्थ, चाक्षुष प्रत्यक्षज्ञान के विषय जो पीत आदि हैं उनमें निकटता और दूरस्थता के कारण ज्ञानप्रतिभास का पार्थक्य देखा जाता है। उसके साथ ही साथ, उन पीतादि में असाधारणता भी है। अतः यहाँ सन्निधान-असन्निधान से होने वाले ज्ञानप्रतिभासभेद के साथ एक वस्तु, पीत आदि, में रहने वाली असाधारणता लक्षित हो जाती है। इन सारी विवेचनाओं से यह भी अर्थ फलित होता है कि एक ही स्वलक्षण (क्षणमात्र) एक द्रष्टा के द्वारा दूर से देखा जा सकता है।

प्रश्न है कि स्वलक्षण प्रत्यक्ष का ही विषय है, यह कैसे कहा जाता है, जबकि

अनुमान विकल्प के द्वारा ज्ञात अग्नि का भी दृश्यरूप में ही अध्यवसाय होता है? धर्मोत्तर का उत्तर है कि चूँकि सन्निधान और असन्निधान से प्रतिभासभेद करने वाली वस्तु ही परमार्थसत् है। परमार्थ परम अर्थ अर्थात् अकृत्रिम या अनारोपित रूप। उस रूप से विद्यमान वस्तु परमार्थसत् कहलाती है। जो अर्थ निकट देश में स्थित होकर स्पष्ट ज्ञानाकार को तथा दूरदेश में स्थित होकर अस्पष्ट ज्ञानाकार को जन्म देता है वही परमार्थसत् है। चूँकि वही प्रत्यक्ष का विषय है, अतः वही स्वलक्षण है।³³ धर्मोत्तर के व्याख्याकारों में इस बात को लेकर मतभेद है कि 'कस्मात् पुनः' इस प्रश्न का तथा इस पर दिये गये उत्तर का यथार्थ आशय क्या है?³⁴ धर्मोत्तर की टीका तथा प्राप्त अन्य टीकाओं से यही उचित अभिप्रेत प्रतीत होता है। 'आशंका'—अनुमान जिसका अध्यवसाय करता है वह भी दृश्यरूप ही है और चूँकि, दृश्य रूप ही स्वलक्षण है, अतः, स्वलक्षण का लक्षण ठीक नहीं। उपर्युक्त स्थिति में अनुमान का भी विषय स्वलक्षण हो जायेगा और यह पक्ष खण्डित हो जायेगा कि स्वलक्षण प्रत्यक्ष का ही विषय है।³⁵ इसके समाधान हेतु दुर्वेक मिश्र एवं टिप्पणीकार ने जो उत्तर दिया है उसका आशय यह है कि 'जो वस्तु निकट में होकर स्पष्टाभास को तथा दूरस्थ होकर अस्पष्टाभास को पैदा करती है वही परमार्थसत् है, स्वलक्षण है। फलतः, यह प्रत्यक्ष का ही विषय है, क्योंकि अनुमान जिसका अध्यवसाय करता है वह अनर्थ में अर्थ का आक्षेप मात्र होता है। अध्यवसित अग्नि को उपचारतः स्वलक्षण कहा जाता है, वह परमार्थसत् या स्वलक्षण नहीं है, क्योंकि वह निकट स्थित होकर अथवा दूर स्थित होकर प्रतिभासभेद को पैदा नहीं करती। अतः, यह सिद्ध हुआ कि स्वलक्षण प्रत्यक्ष का ही विषय है, अनुमान का नहीं।'³⁶

एक अन्य प्रश्न भी यहाँ उठाया जाता है कि स्वलक्षण को ही परमार्थसत् क्यों कहा जाता है, सामान्यलक्षण को क्यों नहीं? पूर्वपक्षी का आशय यह है कि जिसका अर्थत्वेन अध्यवसाय होता है वही परमार्थसत् होता है। चूँकि अनुमान का विषयभूत जो अग्नि है उसका भी अर्थत्वेन अध्यवसाय होता है, अतः, उसे परमार्थसत् क्यों नहीं कहा जाता? इसके उत्तर में धर्मोत्तर ने कहा है— 'क्योंकि अर्थक्रिया (= प्रयोजन की निष्पत्ति) में समर्थ वस्तु परमार्थसत् कही जाती है और सन्निकट और असन्निकट देश में स्थिति के द्वारा ज्ञान के स्पष्टाकार एवं अस्पष्टाकार में भेद करने वाली वस्तु ही अर्थक्रियासमर्थ है, अतएव सन्निधान और असन्निधान से ज्ञानप्रतिभास में भेद करने वाली वस्तु ही परमार्थसत् है। प्रत्यक्ष का विषय होने वाले उस अर्थ से ही अर्थक्रिया प्राप्त होती है, विकल्प के विषयभूत सामान्य से नहीं। अतः, यद्यपि अनुमान का विषय दृश्य जैसा अध्यवसित होता है, तथापि वह स्वलक्षण नहीं है, क्योंकि उसमें अर्थक्रिया की प्राप्ति

नहीं होती, परन्तु स्वलक्षण से अर्थक्रिया की प्राप्ति होती है। इसीलिए, प्रत्यक्ष का विषय ही स्वलक्षण है, विकल्प का विषय स्वलक्षण नहीं है।³⁷

चारों प्रकार के प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है। मोक्षाकर गुप्त बतलाते हैं कि देश, काल, आकार आदि से निश्चित एवं नियत, असाधारणवस्तु स्वलक्षण है। इससे यह स्पष्ट किया जाता है कि घटादि जलादि को निकालने तथा धारण करने में समर्थ, देश, काल, आकारादि से नियत, सामने प्रकाशमान, अनित्यत्वादि अनेक धर्मों से युक्त, उदासीन तथा प्रवृत्ति के विषय में सजातीय एवं विजातीय भेद से व्यावृत्त होता है। यह आशंका की जा सकती है कि यदि स्वलक्षण ही प्रत्यक्ष का विषय है, सामान्यलक्षण प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, तो धूमसामान्य में अग्निसामान्य की व्याप्ति का ग्रहण कैसे होगा? उत्तर है कि इसमें कोई दोष नहीं, क्योंकि अयोगव्यवच्छेद रूप से (अप्राप्त के प्रतिषेध रूप से) स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय ही है। किन्तु, अन्य योगव्यवच्छेद रूप से (अन्य समस्त प्राप्त के प्रतिषेध रूप से) केवल स्वलक्षण ही प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, सामान्य भी उसका विषय है।³⁸

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'स्वलक्षण' को बौद्ध अर्थक्रिया में क्षम, असदृश या सर्वतोव्यावृत्त, शब्द का अविषय या अवाच्य, स्वातिरिक्तनिमित्त के होने पर स्वविषयक बुद्धि का अभाव वाला, परमार्थसत्, अकल्पित, सखभाव, वस्तु, असाधारण, संकेत-स्मरणानपेक्षप्रतिपत्तिकत्व वाला, सन्निधान और असन्निधान से स्फुट या अस्फुट रूप प्रतिभास-भेद का जनक, देश, काल आकारादि से नियत और निश्चित, उदासीन और पुनः प्रकाशमान मानते हैं। सामान्यलक्षण इसके विपरीत होता है और वह भाव, अभाव और उभयाश्रित है, स्वतंत्र नहीं।³⁹ यह भी ध्यानीय है कि बौद्धों के अनुसार परोक्षार्थ प्रतिपत्ति का साधन मात्र अनुमान ही है, शब्दादि नहीं— "परोक्षार्थ प्रतिपत्तिरनुमानाश्रयत्वात्"।⁴⁰ जो परोक्ष है, वह कभी विशेष रूप से, असाधारण रूप से प्रतीति का विषय नहीं हो सकता (प्र0वा0 2-61)। गमकानुयायी सामान्यरूप की ही प्रतीति लिंग से होती है, अतएव सर्वतोव्यावृत्त स्वलक्षणरूप विशेष की प्रतीति अनुमान से कभी नहीं हो सकती।

प्रत्यक्ष के 'विषय' के प्रसंग में परमतों की समीक्षा

आचार्य दिग्नाग के सम्प्रदाय के दार्शनिकों के अभिमत का 'प्रत्यक्ष के विषय' में यथोचित मूल्यांकन पूर्ववर्ती दार्शनिकों की आलोचनाओं के परिप्रेक्ष्य में ही हो सकता है। विंशतिका, उसकी वृत्ति तथा त्रिशिकाभाष्य⁴¹ में ज्ञान के विषय से सम्बद्ध सिद्धान्तों के आधार पर यथार्थवादियों को तीन वर्गों में रखा गया है। प्रथमवर्ग यह मानता है

कि ज्ञान का आलम्बन द्रव्य (= विशेष परमाणु या अवयविन्) है, दूसरे वर्ग के अनुसार संचित परमाणु और तीसरे के अनुसार परमाणुसंघात ज्ञान का आलम्बन है। वैभाषिक बौद्ध द्वितीय वर्ग में आते हैं।⁴² अभिधर्मकोश में 'आयतन स्वलक्षण' और 'द्रव्य स्वलक्षण' का उल्लेख हम पाते हैं⁴³ और बौद्ध टीकाकारों के अनुसार 'आयतन' शब्द का इस स्थल में अर्थ है 'बाह्यायतन' (स्थूल आकार जो कि ज्ञानेन्द्रियगम्य है) और द्रव्य का अर्थ है 'विशेष पारमाणविक तत्त्व'। अभिधर्मकोश भाष्य में, रूप के प्रकारों की विवेचना करने के बाद, वसुबन्धु कहते हैं कि कभी-कभी चक्षुप्रत्यय का कारण मात्र एक द्रव्य होता है, जैसा कि नीलरूप के देखने में हम पाते हैं।⁴⁴ इस प्रकार, वसुबन्धु यह घोषित करते हैं कि इन्द्रियविज्ञान के विषय को स्वलक्षणरूप माना जाना चाहिए।

आचार्य दिग्नाग 'आलम्बनपरीक्षा' में बाह्यार्थवादियों के मत का निरास करते हैं। 'अभ्रान्त' की व्याख्या के प्रसंग में हम यह देख चुके हैं कि सौत्रान्तिकों के अनुसार बुद्धि मात्र एक परमाणु, अथवा परमाणु समुदाय में से मात्र एक सदस्य, को अपने विषय के रूप में नहीं लेती, अपितु अनेक परमाणुओं को ग्रहण करती है। वस्तुतः, प्रामाण्यसमुच्चय में दिग्नाग ने स्वतः लिखा है— "तत्रानेकार्थजन्यत्वात् स्वार्थसामान्यगोचरम्। इसी का सौत्रान्तिकदृष्टि से विश्लेषण धर्मकीर्त्ति ने प्रमाणवार्तिक में किया।⁴⁵ यह भी ध्यानीय है कि दिग्नाग सौत्रान्तिकों के संवृतिसत् और परमार्थसत् की धारणा को, यथार्थवादियों के मतों के परीक्षण के समय, स्वीकार कर लेते हैं।⁴⁶ एक परमाणु किसी ज्ञान का कारण हो सकता है, क्योंकि वह परमार्थसत् है, किन्तु यह उस स्थूलाकार को धारण नहीं करता जो कि ज्ञान में आभासित आकार का संवादी हो। संचित परमाणु अथवा परमाणुसंघात स्थूलाकार हो सकता है, किन्तु यह ज्ञान का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि संवृतिसत् है। इस प्रकार दिग्नाग ने यथार्थवादियों के अभिमत को उसके पूरे रूप में तिरस्कृत कर दिया।⁴⁷

'स्वलक्षण' ही प्रत्यक्ष का विषय है, इस घोषणा की आस्तिक तथा नास्तिक दोनों ही खेमों में बड़ी तीखी प्रतिक्रिया हुई और फलस्वरूप, न्यायवैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त और जैन दार्शनिकों ने बौद्ध पक्ष का प्रबल खण्डन किया। न्यायवैशेषिक के अनुसार 'विशेष' और 'सामान्य' दोनों ही प्रत्यक्ष का विषय हैं।⁴⁸ मीमांसकों में प्रभाकर, और पार्थसारथि भी इसी पक्ष को स्वीकार करते हैं। परन्तु, अनुमान का विषय केवल सामान्य है (= अग्नि सामान्यादि), विशेष (= व्यक्ति) नहीं। आचार्य कुमारिल भट्ट मानते हैं कि सामान्यगुण और विशेष गुण इन दोनों का आधारभूत व्यक्ति ही निर्विकल्प प्रत्यक्ष का विषय है। सांख्य के अनुसार 'विशेष' ही प्रत्यक्ष और अनुमान का विषय है, क्योंकि सामान्य कुछ है ही नहीं। अद्वैत वेदान्त 'सन्मात्र' या 'महासामान्य' को

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय मानता है। उनके अनुसार अनुमान का भी विषय सामान्य ही है, क्योंकि आत्माद्वैत मानने के कारण, समस्त दृश्यमान जगत् एक ही है, अतः, प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही व्यक्ति (= विशेष) का परमार्थतः ग्रहण नहीं करते, अपितु विशेषविषयक भ्रान्ति ही इनके द्वारा होती है।⁴⁹ जैन दार्शनिक मानते हैं कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता ही नहीं। प्रत्यक्षप्रमाण सविकल्पक होता है और इसका विषय सामान्य होता है। उदाहरणार्थ, दिगम्बर शाखा के आचार्य सुमति यह मानते हैं कि विशेष या व्यक्ति का ज्ञान, सर्वदा सत्तादिसामान्य के गुणों से युक्त होकर ही, होता है, किसी अन्य प्रकार से नहीं। अतः, विशेष द्रव्यात्मक सामान्य का एक गुण या धर्म है और विशेषों से स्वतंत्र तथा निरपेक्ष रूप में इसका प्रत्यक्षीकरण किया जा सकता है। अतः, सुमति के अनुसार सामान्य को प्रत्यक्ष का विषय मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।⁵⁰

न्याय-वैशेषिक, प्रभाकर एवं पार्थसारथि आदि प्रत्यक्ष में दो स्तर मानते हैं—
(1) निर्विकल्पक एवं (2) सविकल्पक। प्रथम निष्प्रकारक होता है और सामान्य तथा विशेष के 'स्वरूपमात्र' का ग्रहण करता है। यह आभास मात्र की स्थिति है जिसमें अभी विभेद, द्वैत, सम्बन्ध आदि का उदय नहीं हुआ रहता, बुद्धिकोटियाँ अभी अपना कार्य प्रारंभ नहीं किये रहतीं। फलतः, इस स्तर में सामान्य और विशेष के पृथक्त्व एवं भेद का ग्रहण नहीं होता, अपितु वे दोनों ही असम्बद्ध रूप में निर्विकल्पकप्रत्यक्ष में विद्यमान रहते हैं। जिस 'घट' का हमें प्रत्यक्ष होता है, उसके निर्विकल्पकस्तर में, यद्यपि, उस 'घट' विशेष तथा घटत्व सामान्य दोनों ही विषय के रूप में विद्यमान रहते हैं, तथापि इन दोनों की सप्रकारता एवं सम्बन्ध का विनिश्चय बाद को सविकल्पक प्रत्यक्ष के धरातल पर होता है। निर्विकल्पकप्रत्यक्ष साक्षात्कारात्मक प्रतीति का वह प्रकार है जिसमें 'वह' की चेतना अभी तक 'क्या' की चेतना के द्वारा नियत और निश्चित नहीं हुई रहती है। इस धरातल पर 'द्रव्य' और 'गुण', 'वह' और 'क्या' को हम विलग-विलग रूप में महसूस करते हैं, किन्तु इस बात का ग्रहण नहीं होता कि गुण द्रव्य में समवेत हैं।⁵¹ निर्विकल्पकप्रत्यक्ष इदम् मात्र का बोध है। द्रव्य की विशेषता और उसकी सप्रकारता का ज्ञान यहाँ पर नहीं रहता। उपर्युक्त विचार-सारिणी के मूल में न्याय-वैशेषिक तथा सामान्यतया सभी यथार्थवादियों की यह धारणा है कि जिस वस्तु के प्रत्यक्ष के द्वारा उस वस्तु के विषय में जो कुछ ज्ञात होता है वह वस्तुतः प्रत्यक्ष में वर्तता है। परिमाणस्वरूप, ये लोग यह भी मानते हैं कि सामान्य और विशेष दोनों ही प्रत्यक्ष के विषय हैं, यद्यपि निर्विकल्पकप्रत्यक्ष के स्तर पर वे असम्बद्ध तथा अपृथक् रहते हैं। प्रमाणसंप्लव एवं प्रमाणव्यवस्था के प्रसंग में हम इस विवाद पर विचार कर आये हैं और

नैयायिकादि के मत की उपपन्नता के अस्वीकृत होने को भी देख चुके हैं। किन्तु प्रसंगतः, यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नैयायिकों का पक्ष स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि यदि, सामान्य और व्यक्ति दोनों ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में विषय के रूप में, भले ही असम्बद्ध तथा अपृथक् रूप में, विद्यमान रहते हैं, तो फिर, इन दोनों का प्रत्यक्ष में ग्रहण कैसे हो सकता है। सामान्य और विशेष दोनों की विद्यमानता, सम्बन्ध और पृथक्करण पर अवलंबित है, किन्तु निर्विकल्पकप्रत्यक्ष स्वरूपतः सम्बन्ध और पृथक्करण की क्रिया से रहित होता है, फलतः, सामान्य और विशेष दोनों को प्रत्यक्ष का विषय नहीं माना जा सकता।

आस्तिक दार्शनिकों में निर्विकल्पकप्रत्यक्ष की स्थिति की स्पष्ट सूचना देने का श्रेय आचार्य कुमारिल भट्ट को जाता है, जिसे वे 'आलोचनाज्ञान' तथा 'बालमूकादि विज्ञान के सदृश' बतलाते हैं।⁶² इस निर्विकल्पक ज्ञान के बाद सविकल्पक ज्ञान की स्थिति आती है। सुमति की आलोचना करते हुए कुमारिल यह भी बतलाते हैं कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की अवस्था में सामान्य और विशेष के भेद की स्थिति नहीं पैदा हुई रहती, अतएव, विशेष से पृथक्भूत रूप में 'सामान्य' निर्विकल्पकप्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। यदि, यह कहा जाय कि विशेष सामान्य से अपरिहार्य है और इस स्वरूपवाला ही सामान्य निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय बनता है, तो इसका अर्थ हुआ कि यह सामान्य नहीं है और यदि, सामान्य, व्यक्ति (= विशेष) से पृथक् नहीं किया जा सकता और विशेष को सामान्य से पृथक् नहीं किया जा सकता, तब, सामान्य और विशेष की कोटियों में कोई द्वैत नहीं रहा। अतः, न तो सामान्य और न विशेष ही निर्विकल्पकप्रत्यक्ष का विषय हो सकता है।⁶³ निर्विकल्पकप्रत्यक्ष का विषय विशेष और सामान्यगुणों का आश्रयभूत व्यक्ति होता है। यह व्यक्ति 'मूर्त सामान्य' (*Concrete Universal*) है, विशेष और सामान्य से भिन्न है, क्योंकि दोनों का आश्रयभूत है। किन्तु, आचार्य कुमारिल का अभिमत युक्तियुक्त नहीं है। वाचस्पति मिश्र तथा अन्य नैयायिक एवं मीमांसक भी कुमारिल के मत को अमान्य ठहराते हैं। कारण यह है कि एक ही ज्ञान को वस्तु के असाधारण स्वरूप और सामान्य स्वरूप का वेदक मानना उचित नहीं है।⁶⁴ ज्ञान या तो विकल्पक हो सकता है या अविकल्पक। यदि, यह सविकल्पक है, तो यह वस्तु के असाधारण स्वरूप (खलक्षण) का वेदक नहीं हो सकता और अविकल्पक रहने पर यह सामान्यलक्षण का वेदक नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, कुमारिल ने स्वतः स्वीकार किया है कि जात्यादि की व्यक्ति से परत्त्व की स्थिति नहीं होती।⁶⁵ ऐसी स्थिति में सामान्य, निर्विकल्पक का विषय नहीं हो सकता। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर व्यापक नहीं होता और प्रत्यक्ष में विषय के रूप में किसी

व्यापक तत्त्व की ही प्राप्ति होती है। कुमारिल प्रत्यक्ष को सम्बन्धात्मक मानते हैं जो वस्तुतः वह है नहीं। फलतः, उनके मत में विरोधों की प्राप्ति होती है। पुनश्च, कुमारिल जिस व्यक्ति को निर्विकल्प प्रत्यक्ष का विषय बतलाते हैं, उसका न तो ग्रहण होता है और न अध्यवसाय ही। जिसका अध्यवसाय होता है वह या तो विशेष होता है (= स्वलक्षण का ही पररूपतया अध्यवसाय होता है) या सामान्य। इसी प्रकार जिसका प्रत्यक्षीकरण होता है वह व्यक्ति और सामान्य का सम्बन्ध नहीं है। विशेष का प्रत्यक्ष में ग्रहण उसके अपने निजी रूप में होता है, सामान्य और विशेष के आश्रयीभूत रूप में नहीं : और यदि कुमारिल यह मानें कि विशेष के असाधारण रूप का ग्रहण प्रत्यक्ष करता है, तो वे बौद्धपक्ष को ही स्वीकार कर रहे होंगे।

यहाँ द्रष्टव्य है कि प्रमाणसमुच्चय में पूर्वपक्ष की तरफ से आशंका को प्रस्तुत कर दिग्नाग जो समाधान— 'तत्रानेकार्थजन्यत्वात् स्वार्थे सामान्यगोचरम्' के रूप में प्रस्तुत करते हैं, उस पर मल्लवादि ने कटु प्रहार किया है। पुनश्च, प्रत्यक्ष की कल्पनापोढता का अभिधर्म के कथन के साथ अविरोध दिखलाने के लिए जो कुछ दिग्नाग यहाँ लिख रहे हैं उनमें से परमाणुसंचय, या परमाणुसंघात को ज्ञान का विषय होने का निषेध वे स्वतः 'आलम्बन परीक्षा' तथा 'प्रमाणसमुच्चय'⁵⁶ (1/14) में करते हैं। इसी कारण, इस स्थल को पूरे प्रसंग के साथ रखने की आवश्यकता है। प्रत्यक्ष कल्पनापोढ है, इसमें आगम के प्रमाण को प्रस्तुत करने के बाद दिग्नाग आशंका प्रस्तुत करते हैं— "कथं तर्हि सञ्चितालम्बनाः पञ्चविज्ञानकायाः इति, यदि तद् एकतो न विकल्पयति। यच्चोक्तम् — 'आयतनस्वलक्षणप्रति एते स्वलक्षणविषया न द्रव्यस्वलक्षणम् प्रति' इति तत् कथम्।" उत्तर देते हुए दिग्नाग लिखते हैं— "तत्रानेकार्थजन्यत्वात् स्वार्थे सामान्यगोचरम्"। इसे स्पष्ट करते हुए वे आगे लिखते हैं⁵⁷— अनेकद्रव्योत्पद्यत्वात् तत् स्वायतने सामान्यगोचरमित्युच्यते, न तु भिन्नेष्वभेदकल्पनात्। आह च—

धार्मिणोऽनेकरूपस्य नेन्द्रियात् सर्वथा गतिः।

स्वसंवेद्यमनिर्देश्यं रूपमिन्द्रियगोचरः। प्र0स0 1/5

मल्लवादि, प्र0स0 1/4 की द्वितीय पंक्ति पर जो दिग्नाग की वृत्ति है (अनेक द्रव्योत्पद्यत्वात्..... इत्यादि) उस पर कटु प्रहार करते हैं कि इन्द्रियविज्ञान अनेकार्थ से उत्पन्न होता है। अथवा सामान्य इन्द्रियविज्ञान का गोचर है। मल्लवादि प्र0स0 1/4 तथा प्र0स0 1/14 में अभिव्यक्त दिग्नाग के विचार में असंगति को भी इंगित करते हैं। उनकी आपत्तियों के मूल बिन्दु निम्नप्रकार से हैं— (क) सामान्य जिसका विषय होता है वह प्रत्यक्ष नहीं है और इसे प्रत्यक्ष मानने पर अनुमान भी प्रत्यक्ष का एक भेद

हो जायेगा, क्योंकि इसका विषय सामान्य है। (ख) 'स्वार्थसामान्यागोचरम्' यह स्ववचन विरोधी कथन है, क्योंकि ज्ञानेन्द्रिय का अपना विषय स्वलक्षण है, जबकि 'सामान्य' का ज्ञान केवल हेतु या लिंग के द्वारा होता है। (ग) सामान्य को प्रत्यक्ष का विषय मानने पर स्वलक्षण की हानि होगी, फलतः, लक्षणद्वय का अभाव होने से दोनों प्रमाण एक ही प्रमेय को ग्रहण करेंगे, अथवा प्रत्यक्ष अनुमान का एक प्रकार माना जायेगा। (घ) जब हम अनेकार्थ का प्रत्यक्ष करते हैं, जैसे वृक्ष पर अनेक पत्तियों का, तो उनमें से प्रत्येक का प्रत्यक्ष 'व्यक्ति विशेष' के रूप में होता है, सामान्य के रूप में नहीं। ऐसा कोई सामान्य नहीं होता जो कि स्वलक्षण से विलग हो और जिसे 'संघात' कहा जा सके। (ङ) परमाणुओं के संचय के रूप में सामान्य विज्ञान को उत्पन्न करने में अक्षम है, क्योंकि, दिग्नाग के अनुसार परमाणुसंचय संवृतिसत् है, द्रव्यसत् नहीं और केवल परमार्थसत् में विज्ञानजनन की क्षमता होती है। (च) यह मानने पर भी कि विज्ञान का विषय संचितपरमाणु होता है, उस विज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता, क्योंकि, संवृतिसज्ज्ञान प्रत्यक्षाभास का एक प्रकार है। (छ) यदि प्रत्यक्ष अनेकार्थजन्य हो, तो प्रत्यक्ष अनुमान से अभिन्न हो जाएगा, क्योंकि, अनुमान की भी उत्पत्ति अनेकार्थ से होती है।⁵⁸

उपर्युक्त आलोचनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि परमाणुसंघात या परमाणुसंचय को प्रत्यक्ष का विषय नहीं माना जा सकता। अतः, दिग्नाग जो, अभिधर्म के कथन के औचित्य को, प्रतिपादित करना चाहते हैं, वह ठीक नहीं हैं। किन्तु, इससे 'प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है' यह बात खण्डित नहीं होती, क्योंकि स्वतः दिग्नाग ने इसका खण्डन किया है। हाँ, दिग्नाग को उस स्थल पर असावधानी, अथवा आगम के वचन से अपने पक्ष को सिद्ध करने के प्रति मोह नहीं करना चाहिए। स्वलक्षण के स्वरूप की जो व्याख्या इस अध्याय में हुई है, उससे स्पष्ट है कि न तो वह कुमारिल का 'व्यक्ति' है और न तो स्वलक्षण विशेष ही है, ऐसा विशेष जिसे हम सामान्य के विरोध में समझते हैं। स्वलक्षण अनुपम है, असाधारण स्वरूप वाला है और सर्वतः व्यावृत्त है।

आधुनिक विद्वानों में 'स्वलक्षण' की समझ के विषय में मतभेद है। डा० दासगुप्त अपने ग्रन्थ 'भारतीय दर्शन का इतिहास', प्रथम भाग⁵⁹, में श्चेरबात्स्की महोदय से अपने मतभेद को इंगित करते हुए बतलाते हैं कि 'श्चेरबात्स्की के अनुसार धर्मकीर्ति का यह मत है कि प्रत्यक्ष के क्षण में वस्तु का लक्षण लगभग शून्य रहता है। श्चेरबात्स्की, दासगुप्त से 'स्वलक्षण को वह विषय (अथवा विज्ञानवादियों की दृष्टि से 'प्रत्यय') मानने में, जिसमें समस्त भूत और समस्त भविष्य निरस्त कर दिये गये हैं,

सहमत होते हुए भी इस बात पर आग्रह करते हैं कि उस स्थिति में वर्तमान ही बचेगा जो कि एक क्षण है। श्वेदरवात्स्की आगे कहते हैं कि 'घट के प्रत्यक्ष में कुछ ऐसा तत्त्व होता है जिसे हमें घट के प्रत्यय से भिन्न ही समझना चाहिए (क्योंकि वह हमेशा एक संतान के रूप में होता है और सदा विकल्पित होता है) और यदि, हम पूर्णतः निरुपाधिक रूप में उस प्रत्यय को हटा देते हैं, तो कोई ज्ञान नहीं बचता, 'क्षणस्य प्रापयितुमशक्यत्वात्।' यही सिंधेसिस ऑफ एप्रीहेन्शन' कान्ट का सिद्धान्त है।' धर्मकीर्ति के प्रसंग में स्वाभिमत को प्रयुक्त करते हुए वे लिखते हैं— 'किन्तु उसके (धर्मकीर्ति के) अनुसार 'घट का प्रत्यक्ष, घट के शुद्धप्रत्यक्ष (जिसे वे शुद्धकल्पना कहते हैं) से भिन्न है, वह यथार्थ है, ऐन्द्रियक्षण है, जो हमें ऐन्द्रियज्ञान द्वारा दिया जाता है। कान्ट के शब्दों में 'थिंग-इन-इटसेल्फ' भी एक क्षण ही है और शुद्ध इन्द्रिय का ऐन्द्रियज्ञान है जो शुद्ध तर्कबुद्धि से भिन्न है। दासगुप्त श्वेदरवात्स्की पर आरोप लगाते हैं कि वे बौद्ध सिद्धान्त को, कान्ट के सिद्धान्तों के जरूरत से ज्यादा, निकट ले जाने के चक्कर में पड़ गये हैं। प्रत्यक्ष के विषय का अनूठा लक्षण क्या है? इसके उत्तर में न्यायविन्दु 1/13 को उद्धृत कर और तत्सम्बद्ध धर्मोत्तर के अभिमत को बतलाकर वे यह कहते हैं कि 'इस प्रकार मेरे मत में स्वलक्षण का अभिप्राय हुआ— प्रत्यक्ष के क्षण में विषय के अपने विशिष्ट लक्षण की प्रतीति।'⁶⁰

श्वेदरवात्स्की महोदय स्वलक्षण को 'ट्रान्सेन्डेन्टल रियलिटी' के रूप में मानते हैं और कारण बतलाते हैं कि वह ज्ञान द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती।⁶¹ डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री श्वेदरवात्स्की के अभिमत से सहमत हैं।⁶² परन्तु प्रश्न है कि 'क्षणस्य प्रापयितुमशक्यत्वात्' का अभिप्राय 'ज्ञानेन प्रापयितुमशक्यत्वात्' के रूप में समझने का उनके पास क्या औचित्य है? यह उनकी भ्रान्त धारणा है, क्योंकि स्वलक्षण इन्द्रियजप्रत्यक्ष प्रमाण का विषय है, ग्राह्यविषय है। 'क्षणस्य प्रापयितुमशक्यत्वात्' की बात प्रत्यक्ष के अध्यवसेय या प्रापणीयविषय की दृष्टि से कही गयी है। पुनश्च, 'बौद्ध परंपरा' में आचार्य दुर्वेक मिश्र यह बतलाते हैं कि 'तस्य विषयः स्वलक्षणम्' इत्यादि की योजना सौत्रान्तिक नय की ही दृष्टि से संभव है, योगाचारनय की दृष्टि से नहीं।⁶³ अतः दिग्नाग-धर्मकीर्ति के अभिमत को कान्ट के बहुत निकट ले जाने के लिए खींच-तान कर अर्थ लगाने की कोई आवश्यकता नहीं। स्वलक्षण अर्थक्रियाकारी होने से परमार्थसत् है, किन्तु वह ज्ञान द्वारा प्राप्त किया न जा सके ऐसा नहीं है। हाँ, विकल्पज्ञान का वह गोचर नहीं। किन्तु, श्वेदरवात्स्की महोदय 'ज्ञानेन प्रापयितुमशक्यत्वात्' ऐसा निरुपाधिक ढंग से कह बैठते हैं जो कि गलत है। सारे ज्ञान का स्वलक्षण ही आधार है, वस्तुतः वही एकमेव मेय है और उसी की पररूपेण गति अनुमान द्वारा होती है।

वस्तुवाद और विज्ञानवाद के विवाद के केन्द्रीय बिन्दु

दर्शन में सभी वस्तुवादी बाह्यार्थवादी होते हैं। ज्ञान का आलम्बन वे बाह्यार्थ को मानते हैं जिसकी ज्ञान से पृथक् और स्वतंत्र सत्ता होती है। उनके अनुसार जैसा अर्थ होता है, वैसा ही ज्ञान या प्रत्यक्ष होता है। ज्ञान अर्थ के द्वारा रूपायित होता है। ज्ञान का मतलब है, किसी अर्थ या वस्तु का ज्ञान। अतः, अर्थविरहित, कोई ज्ञान नहीं होता। पुनः, ज्ञान जिस रूप में, जिस आकार में उपस्थित होता है वह वस्तु का, प्रमेय या विषय का आकार होता है। आकार (नील, पीतादि, चौकोर, आयताकार, त्रिभुजाकार आदि) जड़ का धर्म है। ज्ञान जड़ोत्पन्न नहीं है, अतः, वह स्वतः आकारवान नहीं है। आकार, प्रमेय, अथवा अर्थ से सम्बद्ध है, ज्ञान से नहीं। इसके अतिरिक्त, अधिकांश वस्तुवादी एवं यथार्थवादी यह मानते हैं कि ज्ञान केवल अर्थ का प्रकाशक होता है, पराभासी होता है, स्वयंप्रकाश, स्वाभासी या स्वसंवेदनरूप नहीं होता। दूसरी तरफ, विज्ञानवाद के लिए बाह्यार्थ सत्य नहीं है। वह अन्तर्ज्ञेय रूप विज्ञान का ही बहिर्वर्त अवभासन है। बाह्यार्थ वासनाकृत है, परिकल्पित है। ज्ञान का आलम्बन अवश्य होता है, किन्तु वह विज्ञानव्यतिरिक्त तथाकथित बाह्य जड़ पदार्थ नहीं है। विज्ञान ही स्वतः ग्राहक और ग्राह्य के रूप में आभासित होता है। विषय अथवा अर्थ के प्रसंग में जिसे भौतिक इन्द्रिय कहा जाता है, वह भौतिक इन्द्रिय नहीं है, अपितु ज्ञानोत्पादन की शक्ति है, विषयभास का ज्ञान करने की शक्ति है। इसी शक्ति को विषयभास की तुलना में 'स्वाभास' कहते हैं। अतः, बाह्यार्थवादियों को अभिप्रेत भौतिक अर्थरूप आलम्बन के प्रतिषेध स्वरूप विज्ञानवादी ज्ञान के आलम्बन के प्रसंग में निरालम्बनवादी हैं। विषय स्वतंत्र नहीं, विज्ञानान्तर्गत है। विज्ञानवादियों ने जब बाह्यार्थ का निषेध कर दिया और विज्ञान व्यतिरिक्त कुछ बचा नहीं, तो आकार की भी व्यवस्था विज्ञान के भीतर ही करनी थी, चाहे उसे सत्य मानकर वे विज्ञानसाकारवादी कहलायें, अथवा मिथ्या मानकर निराकारज्ञानवादी। आकार विज्ञान से अन्य का स्वरूप या धर्म हो ही नहीं सकता, क्योंकि विज्ञान से अन्य जड़ का अस्तित्व ही नहीं है। इस परिस्थिति में जब कि बाह्यार्थ की वास्तविक सत्ता न हो, वह केवल परिकल्पित स्वभाव हो, तो, विज्ञानवाद के अन्तर्गत इस कथन की उपपत्ति ही नहीं बैठ सकती कि ज्ञान किसी अर्थ का ज्ञान होता है, या अर्थ का ज्ञान न होते हुए भी कोई ज्ञान हो यह हो नहीं सकता। ज्ञान किसी के विषय में होता है। वह विषय स्वतः विज्ञान ही है, क्योंकि उसके अतिरिक्त कोई और है नहीं। इसी कारण, विज्ञान ही ग्राह्य है, प्रमेय, विषय अथवा अर्थ

है। फलतः, 'ज्ञान का मतलब है किसी अर्थ या वस्तु का ज्ञान इसका उपर्युक्त व्यवस्था में अर्थ होगा 'ग्राह्य का ज्ञान और चूँकि ग्राह्य या अर्थ विज्ञान ही है, अतः, इसका तात्पर्य हुआ विज्ञान का ज्ञान' विज्ञान का ज्ञान, ज्ञान का ज्ञान अर्थात् स्ववेदन, स्वसंवित्ति, स्वसंवेदन। अतः, विज्ञान ही ग्राह्य और वही सम्बित्ति है और इनमें अभेद है।

इस प्रकार जहाँ वस्तुवादी सामान्यतया निराकारज्ञानवाद, परसंवेदनवाद तथा आलंबन को मानेंगे वहाँ विज्ञानवादी साकारवाद, स्वसंवेदनवाद तथा निरालंबनवाद को मानेंगे। यह सुज्ञात है और अब इस पर पर्याप्त प्रकाश प्रकाशित शोध-प्रबन्धों द्वारा डाला जा चुका है कि किस प्रकार आचार्य वसुबन्धु ने 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' द्वारा तथा दिग्नाग ने 'आलंबनपरीक्षा' द्वारा बाह्यार्थ का निषेध किया और ज्ञान के आलंबन के रूप में भी बाह्यार्थ को अस्वीकार किया। ये तीन बिन्दु ही दिग्नाग के बाद बौद्धों में स्वतः और अबौद्धों के साथ उनके दार्शनिक शास्त्रार्थ के मूल मुद्दे बने। धर्मकीर्ति और उसके बाद सभी भारतीय दर्शन सम्प्रदायों ने एक दूसरे की इस प्रसंग में आलोचना-प्रत्यालोचना की। ज्ञानमीमांसा के लिए तो ये प्रश्न प्राणस्वरूप हैं, क्योंकि इन्हीं प्रश्नों के उत्तर पर वह किस 'वाद' की ज्ञानमीमांसा है, यह निश्चित होता है।

ज्ञान की निराकारता और साकारता

ज्ञान साकार है अथवा निराकार इस प्रश्न की विवेचना ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा, दोनों ही धरातलों पर हुई है। ज्ञान के स्वरूप को लेकर यह विवाद तो है ही, साकारता और निराकारता का विवाद वस्तुवाद (= यथार्थवाद = वास्तववाद = रीयलिज्म) और विज्ञानवाद (= प्रत्ययवाद = आइडीयलिज्म) का भी विवाद है। इस प्रश्न को लेकर यथार्थवादियों और विज्ञानवादियों के खेमों में भी मतवैभिन्य हैं। सभी वस्तुवादी न तो निराकारज्ञानवादी हैं और न सभी प्रत्ययवादी साकारवादी। 'परमार्थ' और 'संवृति', अथवा, 'परमार्थ' और 'व्यवहार' स्तरभेद मानने वाले माध्यमिक और अद्वैतवेदान्त परमार्थतः निराकारज्ञानवादी हैं। व्यवहार का अथवा संवृति के धरातल पर अद्वैतवेदान्त साकारतावादी अवश्य है। स्पष्ट है कि, अपनी तत्त्वमीमांसात्मक सारिणी से संगति बनाये रखने हेतु ज्ञान के धरातल पर आकार की समस्या का निरूपण करते समय 'आकार' शब्द के अर्थ के विषय में विप्रतिपत्तियों का होना स्वाभाविक है।

वैभाषिक, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा तथा जैन दर्शन में आकार शब्द संस्थान तथा रूप (आकार-प्रकार) या आयतन के अर्थ में आया है। किन्तु, इन बाह्यप्रत्यक्षवादियों

से भिन्न रूप में, सांत्रान्तिक विचारक 'वर्ण' के अर्थ में भी आकार का प्रयोग करते हैं। इस प्रसंग में धर्मोत्तर आकार को केवल 'वर्ण' के ही अर्थ में प्रयुक्त करते हुए—से लगते हैं, क्योंकि, 'न्यायबिन्दुटीका' में आकार के प्रसंग में उनके द्वारा प्रस्तुत सारे दृष्टान्त 'वर्ण' के ही हैं। धर्मकीर्ति एवं उनके भाष्यकार तथा टीकाकारों में आकार शब्द केवल 'वर्ण' के ही अर्थ में सीमित नहीं है। अपनी विज्ञानवादी विवेचनाओं में धर्मकीर्ति का सम्प्रदाय, खासकर प्रज्ञाकरगुप्त के पक्षधर विज्ञानवादी, सुख, दुःखादि चैत्यों तक 'आकार' का अर्थ प्रसार करते हैं। यही स्थिति ज्ञानश्रीमित्र एवं रत्नकीर्ति की है। माध्यमिक और अद्वैतवेदान्त मायोपाधि को आकार मानता है, अतः, भीयन व्यापारपर्यन्त आकार का साम्राज्य है। जहाँ तक चतुष्कोटि का साम्राज्य है, आकार का प्रसार है। इनके लिए सीमायन, चाहे वह वाणी और विचार द्वारा ही क्यों न हो, आकार है। यह अर्थ आकार (= रूप) के सामान्य अर्थ को भी अपने में अन्तर्भावित किये हुए है। विज्ञानवादी अपने को अद्वैतवादी कहते हैं, किन्तु वे साकारतावादी हैं। धर्मोत्तर निराकार विज्ञानवादी हैं और भदन्त शुभगुप्त भी। अद्वैतवेदान्त, व्यावहारिक धरातल पर ज्ञान की साकारता को स्वीकार करेगा। सांख्य को भी साकारज्ञानवादी कहा जायेगा और रामानुज तो हैं ही साकारवादी, ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा दोनों ही दृष्टियों से। द्रष्टव्य हैं कि सौत्रान्तिकों की साकारता और विज्ञानाद्वैतवादियों की साकारता में भेद है। प्रथम बाह्यार्थवादी है, किन्तु द्वितीय विज्ञानाद्वैतवादी। प्रथम ज्ञान का आलम्बन बाह्य अर्थ को मानता है, जबकि दूसरा स्वसंवेदन को। प्रथम बहुतववादी है, जबकि द्वितीय अद्वैतवादी। इसी प्रकार, न्याय-वैशेषिक आदि का निराकारवाद और अद्वैतवेदान्त का निराकारवाद एक ही नहीं है और न तो वैभाषिकों का निराकारवाद माध्यमिकों अथवा धर्मोत्तर का ही निराकारवाद है।

विज्ञान की साकारता के विषय में, बीजरूप में, सामग्री हमें दिग्नाग में मिलती है, जिसको वार्तिककार धर्मकीर्ति ने आगे बढ़ाया, आचार्य प्रज्ञाकर ने उसे व्यवस्थित एवं पुष्ट किया और ज्ञानश्री ने इसे चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया। ज्ञान की साकारता और निराकारता की समस्या को प्रमाणमीमांसा में उठाकर उसे तत्त्वमीमांसा के प्रसंग में भी, सर्वप्रथम, विश्लेषित करने का श्रेय विज्ञानवाद को ही है। ज्ञान के साकार-निराकार होने की बात को मोटे तौर पर दो दृष्टियों से विश्लेषित किया गया है— (1) आकार ज्ञान का स्वोपज्ञ है, अथवा, बाह्यवस्तु का, (2) ज्ञान में प्रतीत होने वाला आकार सत्य है अथवा अलीक।^१ यहाँ द्वितीय दृष्टि से ही, प्रमुखतया, समस्या की हम विवेचना करेंगे, क्योंकि, विज्ञानवाद में साकारता-निराकारता का विशद विश्लेषण इसी आलोक में हुआ है।

हम कह आये हैं कि बौद्धों में, वैभाषिक, माध्यमिक, शुभगुप्त और धर्मोत्तर निराकारवादी हैं, जबकि शेष सौत्रान्तिक तथा युक्त्यनुयायी आचार्य साकारवादी हैं।¹³ दुर्भाग्य यह है कि बौद्ध निराकारविज्ञानवादियों का साहित्य एवं स्वतन्त्र ग्रन्थ संस्कृत में उपलब्ध नहीं है।¹⁴ किन्तु, ज्ञानश्रीमित्र जैसे प्रौढ़ आचार्य जब, विज्ञानसाकारता की सिद्धि के लिए छः परिच्छेदों (एवं 212 पृष्ठों) में 'साकारसिद्धिशास्त्रम्' की रचना में प्रवृत्त होते हैं, तब यह अनुमान सहज ढंग से लगाया जा सकता है कि विज्ञाननिराकारवाद के भी समृद्ध एवं प्रभावशाली शास्त्र रहे होंगे, और खासकर, धर्मोत्तर जैसे आचार्य जब इसके प्रतिपादक हों। निराकारवाद का पक्ष, खण्डन के लिए पूर्वपक्ष के रूप में, प्रज्ञाकार के भाष्य, तत्त्वसंग्रह-पञ्जिका तथा ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलि में उल्लिखित है। उसी आधार पर यहाँ विज्ञाननिराकारवाद के पक्ष को व्यवस्थित कर प्रस्तुत करने का प्रयास किया जायेगा।

ज्ञान की साकारता और निराकारता की जिस समस्या का निरूपण विज्ञानवाद को करना है, उस प्रसंग में यह ध्यानीय है कि दोनों प्रकार के विज्ञानवादी न तो बाह्यार्थवादी हैं और न तो माध्यमिक शून्यतावादी ही हैं। बाह्यार्थ नहीं है, तथा विज्ञान है, इस सामान्य धरातल पर, आकार अलीक है, अथवा सत्य है, यह समस्या ही विज्ञानवाद के समक्ष है। निराकारवादी आकार को अलीक जबकि साकारवादी उसे सत्य मानते हैं। अतएव, निराकारवाद-साकारवाद का मंतव्य, क्रमशः मिथ्याकारवाद तथा सत्याकारवाद से है।

निराकारविज्ञानवाद

नील के बिना पीत में भी वह ही आकार गृहीत होता है। पुनश्च, एक ही नील सुख रूप में और वही नील दुःखरूपेण गृहीत होता है।¹⁵ पुनश्च, भावना विशेष ही के कारण प्रज्ञादि होती हैं और प्रतिभासमान अर्थ से उनकी कोई विलक्षणता तो होती नहीं, तथा ये प्रज्ञादिस्वभाव के तो हैं नहीं, क्योंकि, भावना की प्रवृत्ति वहाँ पर नहीं होती। इसके अतिरिक्त, वहाँ पर अर्थ की भावनाभिसंस्कारिकता भी नहीं होती, अतएव, अर्थव्यतिरिक्त वह पराप्रज्ञा साकार नहीं, अपितु निराकार है। यदि इस पर यह कहा जाय कि प्रज्ञादि विज्ञानस्वभाव नहीं है, अतः, पराप्रज्ञा के निराकार होने पर भी विज्ञान निराकार नहीं है, वह तो साकार ही है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि, यदि तदर्थविशेष को ग्रहण करने वाली प्रज्ञा भी निराकार है, तो विज्ञान निराकार क्यों नहीं है, क्योंकि वह भी तो अर्थग्राही है?¹⁶ अतः विज्ञान निराकार है, साकार नहीं।

भदन्त शुभगुप्त साकारवाद के पक्ष की आलोचना कर निराकारवाद का

प्रतिपादन करते हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत साकारवाद का पक्ष इस प्रकार है— 'जब एक खास संवेदन से अपर कोई अन्य संवेदन किसी (वस्तु) का नहीं होता, तो, वह वस्तु उस संवेदन से अभिन्न होती है, जैसे— नीलबुद्धि अपने स्वभाव से अथवा तैमिरिकज्ञान में प्रतिभासित द्वितीय चन्द्रमा। यहाँ पर नीलधी का वेदन पक्षधर्म है नीलाकार एवं उसकी बुद्धि धर्मो है, आकार और उसकी बुद्धि में अभिन्नता साध्यधर्म है और सहोपलम्भनियम हेतु है।⁹

(क) भदन्त शुभगुप्त का कहना है कि 'चूँकि लोक में 'सह' शब्द, अन्य के बिना, कहीं पर भी प्रयुक्त नहीं होता, अतएव, आकार एवं ज्ञान का सहवेदन—रूप यह हेतु विरुद्ध है।¹⁰ वे पुनः कहते हैं— (ख) 'यदि 'सह' का अर्थ 'एक' है तो, हेतु 'असद्धि' है, क्योंकि, नट तथा मल्लादि के दृश्य में नीलादि का ग्रहण एक के रूप में नहीं होता। न तो नील और उसके आकार का उपलम्भ एक के द्वारा होता है, क्योंकि जिस समय नील का उपलम्भ होता है, तो, अन्यसंतानगत उस ही नील का उपलम्भ नहीं होता। पुनश्च, सभी प्राणियों और सभी चित्तक्षणों का ज्ञान सर्वज्ञ को जब होता है, तो, यह कैसे माना जा सकता है कि उपलम्भ एक के ही द्वारा होता है। पुनश्च, अन्य के उपलम्भ का निषेध हो जाने पर ही एकोपलम्भ का नियम सिद्ध हो पाता है, किन्तु अन्योपलम्भ का प्रतिषेध संभव नहीं, क्योंकि जो स्वभावतः विप्रकृष्ट है उसका न तो विधान संभव है और न प्रतिषेध ही। यदि, 'एक ही समय में उपस्थित' यह 'सह' शब्द से अभिप्रेत हो, तो, उक्त 'हेतु' बुद्धविज्ञेयज्ञान तथा चित्त और चैत्यों के परिप्रेक्ष्य में 'अनैकान्तिक' हो जायेगा; उदाहरणार्थ, भगवान् बुद्ध द्वारा विज्ञेय सन्तानान्तर का ज्ञान और तद्विषयक भगवान् बुद्ध का ज्ञान, इन दोनों की एक साथ प्राप्ति होती है, तथापि दोनों में भिन्नता है। इसी प्रकार, चित्त और चैत्यों के प्रसंग में, यद्यपि दोनों का सहोपलम्भ होता है, तथापि उनमें एकत्व नहीं है। इस प्रकार हेतु अनैकान्तिक है।¹⁰

(ग) भदन्तशुभगुप्त आचार्य धर्मकीर्ति का हवाला देकर भी निराकारवाद का प्रतिपादन करते हैं। वे कहते हैं कि, 'आचार्य धर्मकीर्ति ने पूर्वपक्ष को प्रस्तुत करते हुए कहा है— 'पहले-पहल ज्ञान के हेतु के रूप में विषय का उपलम्भ होता है और तदनन्तर इसके संवेदन का उपलम्भन होता है', इससे यह प्रदर्शित हो जाता है कि 'सह' शब्द एककालार्थक है, अभेदार्थक नहीं, और 'सह' शब्द से जब 'एक काल' विवक्षित हो, तभी यह कथन युक्त हो सकता है कि दोनों भिन्न काल-क्षणों में होते हैं, 'सह' शब्द के अभेदार्थक होने पर नहीं।'¹¹

(घ) 'आपका 'हेतु' विपक्ष में रहता है, ऐसा निश्चयपूर्वक, यद्यपि, नहीं कहा

जा सकता, तथापि, वह संदिग्धसत्ताक तो है ही, फलतः, हेतु अनैकान्तिक तो है ही, क्योंकि साध्यधर्म के जो विपरीत हैं उससे इसकी व्यावृत्ति संदिग्धस्वरूप वाली है। चूँकि, ग्राहकविज्ञान और ग्राह्य में विषयीविषय का सम्बन्ध नियतस्वरूप वाला होता है, अतएव, सहोपलम्भनियम अन्यथा भी (जैसे, अभेद से अन्य विधा के द्वारा भी) व्याख्येय है, क्योंकि, विषय को ग्रहण करने की विशेषता वाला होने के कारण ज्ञान सर्वदा ग्राहक स्वभाव वाला होता है, और इन दोनों की सहभाविता नित्यस्वरूप वाली है, क्योंकि दोनों एक ही कारणसामग्री के अधीन होते हैं। चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियों के प्रसंग में सहोत्पाद के तथ्य की प्राप्ति होती है, तथापि, वे विषयस्वभाव नहीं हैं, क्योंकि उनमें उस तरह के स्वभाव का अभाव रहता है। कारणसामग्री के द्वारा नीलादि विषय का अध्यवसाय करना जिसका स्वरूप है ऐसे ज्ञान ही का जन्म होता है, चक्षुरादि अध्यवसाय रूप नहीं। नीलादि भी उस रूप में जानित हैं जिस रूप में उस विज्ञान द्वारा उनका अध्यवसाय होता है। चक्षुरादि ऐसे नहीं हैं। कहा भी गया है— 'ज्ञान से अपर तथा चाक्षुष एवं अन्य विषयों के बिना, कोई अन्य ग्राहक नहीं होता; अतएव, नील तथा नीलज्ञान की सहसंवित्ति उनमें अभेद के कारण होती है, ऐसा नहीं है। पूर्ववर्ती कारणसामग्री विषयक्षण का ज्ञान ठीक वैसे ही करा देती है, जैसे कि, प्रकाश रूप का ज्ञान करा देता है। इस प्रकार इनकी सहसंवित्ति होती है।'¹²

(ड) पुनश्च, हमें यह इष्ट एवं मान्य नहीं है कि, मुख्यतः ज्ञान का स्वसंवेदन जैसा होता है, उसी तरह का संवेदन अर्थ का होता है, कारण यह है कि, स्वाभासज्ञानजनकत्व ही अर्थ का संवेद्यत्व है, हम ऐसा मानते हैं। इस प्रकार, यदि संवेद्यत्व को उसके मुख्य अर्थ में, हेतु के रूप में प्रस्तुत किया जाय, तो यह हेतु असिद्ध है और यदि विज्ञान के संवेदनशब्दवाच्य होने रूप साम्यता पर संवेद्यता को किसी तरह निर्भर माना जाय, तो भी, इस हेतु के द्वारा इष्टसिद्धि नहीं हो पाती, क्योंकि, 'गो' एवं 'गवयादि' में 'गो' शब्द की समानता 'गवय' में सींग की सिद्धि नहीं कर सकती; और, यदि, दोनों प्रकार के उपर्युक्त हेतु ज्ञानारूढ नीलादि आकार के संदर्भ में तथा साकारज्ञान के पक्ष में प्रस्तुत किये गये हैं, ऐसा आप साकारवादी कहें, तो, आपका सारा तर्क सिद्ध को ही साधित करने वाला होने से, निरर्थक है। जैसा कि, कहा भी गया है— 'साकारज्ञानपक्ष में आकार से निर्भास को ही वेद्यता माना जाता है, और यदि, आकार और ज्ञान में अभेद ही आप का साध्य हो, तो, आपके हेतु में सिद्धसाधन का दोष होगा।'¹³ किन्तु, निराकारज्ञानवाद पर सिद्धसाधन का दोष नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि, हमारे यहाँ रंग-विरंगे पलंगपोश के संदर्भ में अनेक समानजातीय आकार, रंग की संख्या के अनुकूल ही, युगपत् समुद्भूत होते हैं, जैसा कि अनेक

विजातीय शब्दों के ज्ञान के प्रसंग में होता है।¹⁴ इस प्रकार, निराकारवादी यह मानते हैं कि जिस प्रकार रंग-विरंगे मेजपोश के संदर्भ में अनेक आकार, अर्थात् रंग, का संवेदन होता है, उसी तरह, एकाकार श्वेतपटल के संदर्भ में बहुत से आकारों का संवेदन (श्वेतपटल के निकटतर, दूरतर तथा अन्यतर भाग के रूप में बहुत से आकारों का संवेदन) होता है। इस प्रकार, निराकारवादियों के लिए ज्ञान अनेकात्मक होता है। हाँ, अणु जो कि अनवयवी होता है, को विषय बनाने वाला ज्ञान एकात्मक होता है।¹⁵

धर्मोत्तर, न्यायविन्दुटीका में, विशुद्ध सौत्रान्तिक रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं, अतः साकारवादी सिद्ध होने चाहिए। किन्तु, आचार्य ज्ञानश्रीमित्र उनका निराकारज्ञानवादी (=मिथ्याकारवादी) के रूप में उल्लेख कर खण्डन करते हैं। तिब्बती परंपरा भी यही मानती है कि पारमार्थिक दृष्टि से आकार को अलीक मानने से धर्मोत्तर निराकारज्ञानवादी हैं। इसी दृष्टि से यहाँ विवेचन हो रहा है।

आचार्य धर्मोत्तरादि ज्ञान को नीलादि आकार से भिन्न मानते हैं— (क) 'यद्यपि, ज्ञान साकार ही आभासित होता है, तथापि आकार उसमें बाधित है, जबकि ज्ञान अबाधित, फलतः, वस्तुतः ज्ञान निराकार है।'¹⁶

(ख) आकार के बाधित और ज्ञान के अबाधित होने के लिए जिस देशभेद एवं 'कालभेद' की अपेक्षा होती है, उसके विषय में निराकारवाद का यह कहना है कि देशभेद तो है, किन्तु हम उसे आप साकारवादियों को दिखा नहीं पाते। जैसे, वायु एवं धूप एक साथ रहने हैं, किन्तु वायु का भी परमाणु होता है और आतप का भी, तो क्या वे भिन्नात्मा नहीं हैं?¹⁷

(ग) पुनश्च, भासित न होने पर भी भेद को सिद्ध किया जा सकता है, जैसे कि, किसी को क्षणों का अभेदभासन होता है, किन्तु, बाधक के द्वारा भेद की सिद्धि हो जाती है। जिस प्रकार, विशेष कार्यों के होने और न होने से भेद की सिद्धि की जाती है, उसी प्रकार यहाँ पर एक बाधित है और एक अबाधित। अतः, बाधक ज्ञान का भेद अबाधित ज्ञान से हो जाता है, फलतः, बाधित आकार से अबाधित प्रकाश अलग है, ऐसा कहना चाहिए।¹⁸

(घ) निराकारवादियों का तर्क यह है कि 'प्रकाशमान जो भी कुछ होता है वह आकारसहित होता है, इसलिए, वह स्वप्न की तरह भ्रान्त है। अतएव, जाग्रतावस्था में आकारसहित भासित होने के कारण ज्ञान भ्रान्त है ?'¹⁹

(ङ) निराकारवादी अभेदावभासी अनुभव और अनुभवाकार में भेद की सिद्धि

के लिए यह प्रश्न उठाते हैं कि 'जो वस्तु जिस रूप से भिन्न या अभिन्न नहीं हुआ करती, वह सत् नहीं होती', जैसे कि, दुःख सुख रूप से न तो भिन्न है, न अभिन्न है। आकार से विज्ञान न भिन्न है और न अभिन्न है, अतएव, आकार सत् नहीं है।²⁰ पुनश्च, (च) सामान्यधर्मी और विशिष्टधर्मी की व्याख्या के द्वारा भी निराकारवाद ही सही सिद्ध होता है। सामान्यधर्मी साकारविज्ञान है, किन्तु विशिष्टधर्मी निराकार विज्ञान है। यद्यपि, नीलपीतादि विज्ञान को ही विशिष्टधर्मी कहा जायेगा, किन्तु इस पर जब निर्णय करने का अवसर प्रस्तुत होगा और पक्षधर्म का जब उपसंहार होगा, तो वह विशेष में ही होगा।²¹ पुनश्च, (छ) धर्मी के ज्ञान में चन्द्रद्वय के आभास की तरह, ज्ञान और आकार के द्वैत का अभाव होता है। एक में दो दिखलायी पड़ने वाले आभासों में एक भ्रान्त रहता है और एक सत्य। तद्वत्, ज्ञान और आकार, की भी स्थिति है। आकार असत् का प्रकाश है, अतएव, भ्रान्त है। सत् तो निराकारविज्ञान ही है।²² पुनश्च, (ज) ज्ञानों में भेद के कारण ज्ञान प्रवृत्त होता है, और पटाकारताघटाकारता आदि तो व्यतिरिक्त हैं। ज्ञान अनुवृत्त है और आकार व्यावृत्त। इस प्रकार ज्ञान और आकार में भेद सुस्पष्ट है। इसके अतिरिक्त, धर्मी और धर्म का विपरीतभाव तो सर्वप्रसिद्ध ही है।²³ निराकारवादी पुनः कहते हैं कि (झ) सहायक की अपेक्षा करके ज्ञान, जो कि शक्तिरूप है, आकार को पकड़ता है और इसके लिए घट-पटादि की अपेक्षा होती है। ज्ञान में अलीक जो भेद हैं, वे स्फुरित होते हैं।²⁴ (ञ) पुनश्च, चाहे बाह्य वस्तु हो अथवा आकार, उसकी वस्तुता का निराकरण हम निराकारविज्ञानवादी करेंगे ही, क्योंकि, साकारवाद या बाह्यार्थवाद को मानने पर इस नियम का पालन नहीं हो सकेगा कि विज्ञानव्यतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता नहीं है, फलतः, अन्त में प्रकाश मात्र रह जायेगा।²⁵ धर्मोत्तर अपने पक्ष की सिद्धि के लिए आचार्य दिग्नाग की (ट) व्यापकानुपलम्भ की चर्चा का भी अवलम्बन लेते हैं और परमाणुदूषण के प्रसंग में बतलाते हैं कि परमाणु और स्थूलता में न तो भेद है और न अभेद, अतएव, वह ज्ञान का स्वरूप नहीं है। अभेदावभासन में अलीक को ही ज्ञान ग्रहण करता है। अलीक की वेद्यता हम निराकारवादियों को मान्य है। इस प्रकार, जो जिसका अबाध्यात्मा है वह उसकी प्रकृति है, ऐसा प्रतिपादन कर धर्मोत्तर निराकारविज्ञानवाद की सिद्धि करते हैं।²⁶

इस प्रकार, निराकारविज्ञानवादी चक्षुरादि विज्ञानों में आभासित होने वाले नीलपीतादि आकार को मिथ्या मानते हैं, क्योंकि, उनके अनुसार, इसमें आभासित होने वाले नीलादि के साथ ही बाह्यार्थ का भी अवभास होता है और ये दोनों अलग-अलग अवभासित न होकर मिश्रित रूपेण अवभासित होते हैं। फलतः, आकार मिथ्या है,

क्योंकि, वस्तुतः न तो बाह्यार्थ है और न आकार ही। अनादिकालीन वासना से कलुषित चित्त में अविद्यावशेन बाह्यार्थाकार एवं नीलाकार दोनों ही उत्पन्न होते हैं। अतः, बाह्यार्थाकार की ही भाँति नीलाकार भी अलीक है, क्योंकि चक्षुर्विज्ञान के आकार में ऐसा कोई भी अंश नहीं है, जो अविद्यावासना से प्रतिफलित न हो।

साकारविज्ञानवाद

आचार्य प्रज्ञाकर, शांतरक्षित, कमलशील एवं ज्ञानश्रीमित्र, निराकारविज्ञानवाद का निराकरण कर विज्ञानसाकारता की सिद्धि करते हैं। आचार्य प्रज्ञाकर कहते हैं कि जो पूर्वदृष्ट है वह ही ग्राहकाकार पीतादि में भी है, यह ज्ञान आपको प्रत्यक्ष से होता है अथवा अनुमान से? प्रत्यक्ष से संभव नहीं, क्योंकि पूर्वापरभाव में प्रत्यक्ष की वृत्ति नहीं होती, और इस स्थिति में, वह अनुमान द्वारा भी ज्ञात नहीं हो सकता। वस्तुतः, वस्तु या तत्त्व में भेद नहीं होता, अपितु संतान में भेद होता है। अभेद ही परमार्थ है। अतएव, यदि, विज्ञान निराकार होता, तो, विज्ञान को सर्वदा शुद्धरूप में ही अर्थात् विशुद्धविज्ञान रूप में ही होना चाहिए, पटुमन्दाविलादि रूप में नहीं।²⁷ पुनश्च, परा प्रज्ञा के निराकार होने के आधार पर विज्ञान के भी निराकार होने की जो युक्ति हमारे विरोधी देते हैं, वह ठीक नहीं है, क्योंकि, विशुद्ध अर्थावभासन, जो तुरत होता है, ही प्रज्ञा है, अतएव, प्रज्ञा के निराकार होने के आधार पर विज्ञान के भी निराकार होने का अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रज्ञा के साथ इसकी उपपत्ति नहीं बैठ सकती।²⁸ आचार्य प्रज्ञाकर का कहना है कि 'नीलरूपता के कारण नीलानुभव होता है। नील का इससे अन्य कोई अनुभव नहीं होता, क्योंकि नीलपीतादि आकार रहित शुद्धानुभव का अस्तित्व नहीं होता है। नियम यह है कि जो जिससे व्यतिरिक्त होता है वह तद्रूपेण ही व्यवहार का विषय होता है। अतः, विज्ञान साकार है।'²⁹ पुनश्च, विज्ञान को निराकार यदि माना जाय, तब तो, अर्थ का प्रतिभासभेद नहीं होना चाहिए, क्योंकि अर्थ की नानाकारता नहीं होती।³⁰ पुनश्च, यदि विज्ञान साकार नहीं, निराकार होता, तो, विज्ञान से आकार अन्य रूप में और ग्राहकाकार उससे पृथक् रूप में ही गृहीत होता। किन्तु, ऐसा नहीं है, अतः, विज्ञान साकार है।³¹ यदि, विज्ञान की साकारता को स्वीकार नहीं किया जाय, तो, स्मृति की तदाकारता की व्याख्या नहीं हो सकती। स्मरणप्रत्यय जिसको विषय बनाता है, वह आकारव्यतिरिक्त नहीं होता। अतः, ज्ञान साकार है।³² विज्ञान और आकार अथवा, आलोक एवं रूप में अभेद है।

आचार्य शांतरक्षित एवं कमलशील शुभगुप्त के पक्ष का खण्डन कर विज्ञानवाद एवं साकारता के पक्ष का मण्डन करते हैं। उनका कहना है कि युक्ति (क) में 'सहवेदन

रूप' हेतु विरुद्ध है— आपका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'विरुद्ध हेतु' वह है जिसका केवल विपक्ष में ही भाव होता है, किन्तु, हमारा हेतु केवल विपक्ष में ही नहीं रहता। उदाहरणार्थ, लोक में यह धारणा है कि 'चन्द्रद्वय का सहवेदन होता है। यद्यपि, विज्ञान और आकार में परमार्थतः भेद नहीं है, फिर भी 'चन्द्रद्वय' का ग्रहण होता है, इस प्रकार के वाक्य में हम लोक में 'सह' शब्द का प्रयोग पाते हैं। इसी प्रकार यहाँ पर भी, विज्ञान से व्यतिरिक्त न होने पर भी, बाह्यवत् आभासमान आकार को विज्ञान से अन्य करके, कल्पितभेद के कारण 'सह' शब्द को प्रयुक्त कर दिया जाता है। सभी शाब्दव्यवहार यथावस्तुनिवेशी होते हैं, जिससे कि 'सह' शब्द के प्रयोगमात्र से वस्तुप्रतिबद्दलिंग अन्य हो जाय, और 'विरुद्ध हेतु' का प्रसंग उपस्थित हो जाय, ऐसा नहीं है।³³

तर्क (ख) भी ठीक नहीं है, क्योंकि, 'एक के द्वारा उपलब्ध' अथवा 'एक का वेदन' यह नहीं, अपितु 'एक' से हमारा अभीष्टार्थ यह है कि ज्ञान और ज्ञेय का एकोपलब्ध होता है, पृथक् नहीं। जो ज्ञान का संवेदन है वही ज्ञेय का भी है और जो ज्ञेय का उपलब्ध है वही ज्ञान का है। नट तथा मल्ल आदि के प्रदर्शन में कोई ऐसा ज्ञानोपलब्ध नहीं है जो ज्ञेय को जानने वाला नहीं है, अथवा कोई ऐसा ज्ञेयोपलब्ध नहीं है जो ज्ञान को भी न जानता हो; तो फिर, हेतु 'असिद्ध' कैसे हुआ? पुनश्च, हेतु की 'संदिग्ध-सिद्धता भी नहीं है, क्योंकि ज्ञान का स्वसंवेदन ज्ञेय का भी संवेदन है। इसे आप (शुभगुप्त) भी मानते हैं। पुनश्च, परसंतानवर्ती चित्तक्षणों का संवेदन भगवान् बुद्ध को होता है, ऐसा नहीं है, क्योंकि, आवरणों के प्रभाव से मुक्त होने के कारण वे ग्राह्यग्राहककलंक से रहित हैं।³⁴

युक्ति (ग) में भी कोई जान नहीं है, क्योंकि, कालभेद वस्तुभेद में ही अन्तर्भावित होता है; अतएव, वस्तुभेदोपदर्शक के रूप में कालभेद की मान्यता उचित ही है, क्योंकि, जो कम व्यापक पद है उसका (व्याप्य का) अधिक व्यापक पद के साथ (व्यापक के साथ) व्यभिचार नहीं होता। इसके अतिरिक्त, बुद्धविज्ञेय संवेदन की दृष्टि से भी 'हेतु' के अनैकान्तिक होने का प्रश्न नहीं उठ सकता। वहाँ एक का ही संवेदन हो, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि विज्ञानों का संवेदन सभी बुद्धों के द्वारा पृथक्-पृथक् ही होता है। अथवा, यह मान भी लें कि भगवान् बुद्ध के द्वारा परचित्त का संवेदन होता है, तो भी, 'अनैकान्तिकता' का दोष नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि परचित्त-संवेदन बुद्ध के संवेदन से भिन्न तरह का होता है। जहाँ दो वस्तुओं के संवेदन में नानात्व होता है, तो भी, वहाँ व्यावर्तितत्व रहता है; परन्तु, एक ही संतान में होने वाले संवेदन में, उनके स्वलक्षण में, नानात्व नहीं होता। अतएव, आशय यह है कि उपलब्ध, अर्थात्

संवेदन, तमो होता है, जबकि विषय का संवेदन होता है। भगवान का ज्ञानोपलम्भ सर्वदा अन्यसंतानगत चित्तोपलम्भ का ही नहीं होता; अन्य ज्ञान भी हैं, क्योंकि, भगवान को अपने ज्ञान की पृथक्ता का भी संवेदन होता है। अतएव, रूप एवं आलोक की दृष्टि से 'हेतु' व्यभिचारी नहीं है। पुनश्च, चूँकि 'हेतु' विपक्ष में नहीं रहता, अतएव, वह 'अनैकान्तिक' नहीं है।³⁵

तर्क 'घ' के उत्तर में शांतरक्षित कहते हैं कि जब आप ज्ञान के स्वरूप में अन्यरूप नहीं मानते, तो, ऐसी स्थिति में, यदि इन दोनों में विज्ञान एवं आकार में अभिन्नता नहीं मानोगे, तो, नीलज्ञान के समय नीलाकार की वेदना कैसे हो सकेगी? पुनश्च, ज्ञान जब होता है, तो, वह अपने से अन्य विषय का संवेदन नहीं करता, अतः, नीलादि आकार का संवेदन ज्ञान ही है।³⁶

युक्ति 'ङ' भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि मुख्यतः, विज्ञान किसी भी अर्थ को ग्रहण नहीं करता, क्योंकि, (क) विज्ञान 'स्वभाव' में ही अवस्थित होता है, और (ख) इसमें अर्थाकार के निर्भास का अभाव होता है। परमार्थतः, रागी धर्म निःस्वभाव हैं, इसलिए, किसी का किसी के द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता। बात केवल यह है कि विज्ञान प्रकाशरूप होने से, आकारविशेष के रूप में भासित होता है और अपना ग्राहक कहा जाता है। मुख्यतः, विज्ञान अर्थ का ग्राहक नहीं हो सकता, क्योंकि, सभी भाव स्वभाव में व्यवस्थित होते हैं और जो एक की आत्मा है वह अन्य की आत्मा नहीं हो सकता। पुनश्च, भाविक आकार युक्त नहीं है, अतएव, उसके आधार पर अर्थव्यवस्था नहीं की जा सकती। अलीक आकार के द्वारा अर्थ संविदिति नहीं होता है, क्योंकि, भ्रान्त ज्ञान में भी अलीक आकार का भाव पाया जाता है।³⁷ पुनश्च, अणु के संदर्भ में निराकारवाद का जो पक्ष है वह अनुभवविरुद्ध है, क्योंकि, कहीं पर भी ज्ञान में अनवयव अणुरूप में भासित होता हुआ प्राप्त नहीं होता। पुनश्च, जो अमूर्त है उसके प्रसंग में देशकृत पौर्वापर्य का अवस्थान युक्त नहीं है, जिससे कि उसके औचित्य की सिद्धि के लिए, अनेक ज्ञान की कल्पना के लिए कोई आधार रहता। देशवितान के प्रतिभास के अलीक होने पर 'आकारों' की सत्यता कहाँ से हो सकेगी। पुनश्च, नीलादिज्ञानाकार का संवेदन, देशवितान में अवस्थित नीलादिप्रतिभास के बिना नहीं होता है। अतएव, अनेक विज्ञान को मानना व्यर्थ है।³⁸

विज्ञानसाकारता का, उसके विविध आयामों के साथ, चरमोत्कर्ष आचार्य ज्ञानश्रीमित्र में मिलता है। वे विज्ञानाद्वैतवादी हैं और ज्ञान तथा आकार को अभिन्न मानते हैं, फलतः, आकार को सत्य मानते हैं। (क) उनका पक्ष है कि ज्ञान को नीलादि

आकार से भिन्न मानने में कोई प्रमाण नहीं है : न प्रत्यक्ष और न अनुमान। प्रत्यक्ष इसलिए नहीं है, क्योंकि नीलादि आकार-व्यतिरिक्त कभी किसी ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती : और अनुमान इसलिए नहीं, क्योंकि, जब आकार-रहित ज्ञान का भी प्रत्यक्ष होगा नहीं, तो, व्याप्ति के आधार पर अनुमान कैसे खड़ा होगा? पुनश्च, अनुमान के द्वारा ज्ञान को निराकार मानना, ज्ञान को परोक्ष मानना हुआ, और ऐसी स्थिति में ज्ञानपरोक्षवाद को, जो कि मीमांसकों का पक्ष है, स्वीकार करना होगा। अतएव, घटादि से भिन्न घटत्वादि सामान्य की सत्ता जैसे नहीं मानी जाती, क्योंकि वह उपलब्ध नहीं होता, उसी तरह आकार के अतिरिक्त ज्ञान भी अनुपलब्ध हो जायेगा, फलतः, उसकी सत्ता संदिग्ध एवं अस्वीकृत हो जायेगी।³⁹

(ख) साकारवादियों का आग्रह है कि जैसे सामान्य, गुण आदि नहीं हैं, वैसे ही यदि ज्ञान को निराकार मानोगे, तो, उसकी भी वही दशा होगी, और यह नहीं है कि आकार का बाध हो जाय और ज्ञान अबाधित रूप में शेष रह जाय। साकारभासित ज्ञान में आकार बाधित एवं ज्ञान अबाधित है, अतः, अलीक है, निराकारवादियों के इस पक्ष पर ज्ञानश्रीमित्र कहते हैं कि बाध-अबाध के लिए 'दैशिकभेद' और 'कालिकभेद' चाहिए, जो यह दर्शावे कि यह ज्ञान है और यह आकार है। किन्तु, कोई भी देश ऐसा नहीं मिलता, जो यह बतलावे कि यह ज्ञान है और यह आकार है। यदि, 'देशभेद' मानो, तो, प्रतिभासभेद (= ज्ञानस्वरूपता और आकारस्वरूपता) होगा, अतः, वहाँ भी देशभेद दिखाया नहीं जा सकता। पुनश्च, वस्तुभेद से अतिरिक्त कोई देशभेद नहीं होता, अतः, देश वस्तु का स्वरूप है। इस पर निराकारवादी, यदि यह कहें कि देशभेद तो है, यद्यपि उसे हम दिखा नहीं पाते: जैसे, वायु एवं धूप एक साथ रहते हैं, किन्तु, वायु का भी परमाणु होता है और आतप का भी, तो क्या वे भिन्नात्मा नहीं हैं? इस पर हमारा कहना है कि इस दृष्टान्त में भी आप देशभेद प्रदर्शित करें। स्वरूप से भिन्न जब देश नहीं हुआ, तो देशभेद मानने पर भी, देश वस्तु से अतिरिक्त सिद्ध नहीं होगा। अतएव, कहना यह चाहिए कि ज्ञान अपने आकार से भिन्न नहीं है। फलतः, नीलादि आकार से भिन्न करके ज्ञान को यदि विज्ञानवादी मानता है, तो, ऐसी स्थिति नहीं बनेगी, क्योंकि भेद नहीं बन पा रहा है। भेद न होने से आकारप्रतिभास और ज्ञानप्रतिभास को अभिन्न मानना पड़ेगा।⁴⁰

'ग' शीर्षक के अन्तर्गत अभिव्यक्त निराकारवादियों के पक्ष पर ज्ञानश्रीमित्र प्रश्न उठाते हैं कि अबाध्यता को आप पर्युदास प्रतिषेध मानते हैं या प्रसज्यप्रतिषेध? पर्युदास का विषय प्रस्तुत व्यक्ति होता है, जैसे, 'यह ब्राह्मण नहीं है', इसका यह अर्थ नहीं कि इंगित व्यक्ति ही नहीं है, अपितु, इसका यह अर्थ है कि यह ब्राह्मण नहीं,

क्षत्रिय, वैश्यादि हैं। प्रसज्यप्रतिषेध के प्रसंग में बाधा का स्फुरण ही न होना, अबाध का अर्थ है। प्रसज्यप्रतिषेध तो, संदिग्धसत्तावाली वस्तु और शशशृंगवत् वस्तु, दोनों में ही समान रूप से प्रयुक्त होता है, तो फिर, नीलादि से प्रकाश की भिन्न वस्तुरूपता कैसे सिद्ध हो सकती है? यदि, नीलादि के बाध्य और प्रकाश के अबाध्य होने से उनके परस्पर भिन्न होने की बात कहकर ज्ञान को निराकार कहा जाय, तो, हमारा कहना है कि ऐसा नहीं है, क्योंकि, प्रथमतः, अबाधा का अर्थ है बाधा का स्फुरण ही नहीं होना और द्वितीयतः, सत्ता में संदेह होने पर बाधित नील से भी उसको भिन्न सिद्ध नहीं किया जा सकता। पुनश्च, अबाधा को सिद्ध करने के लिए, पहले आकार से अतिरिक्त ज्ञान या ज्ञान से अतिरिक्त आकार दिखलायी पड़ना चाहिए। जब दृश्यता की संभावना हो और उसके बाद उसकी अनुपलब्धि हो, तभी निराकारवाद का पक्ष बन सकता है। किन्तु, अबाध्यरूप तर्क बन नहीं सकता, क्योंकि दृश्यानुपलब्धि निराकारवादी नहीं बना सकते। इसके अतिरिक्त, आकार अलीक है, यह पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि, अलीक का उपयोग नहीं होता, और निराकारवादी ज्ञान को खड़ा करने के लिए आकार का उपयोग कर लेते हैं, फिर भी उसको अलीक कहते हैं।⁴¹

निराकारवादियों की युक्ति 'घ' पर ज्ञानश्रीमिश्र कहते हैं कि यह तर्क भी नहीं चल सकता, क्योंकि, आप नीलादिव्यतिरिक्त ज्ञान को प्रदर्शित नहीं कर सकते। पुनश्च, अबाधा के कारण ही आपको निश्चय होता है कि नीलादि आकार ज्ञान से भिन्न है। किन्तु, जब आप निराकारवादी आकार को बाधित करते हैं, तो, ज्ञान को भी बाधित क्यों नहीं मानते? यदि, प्रत्युत्तर में कहा जाय कि ज्ञान के अनारोपित तथा आकार के आरोपित होने के कारण ऐसा हम मानते हैं, तब, निराकारवादियों के इस पक्ष में अन्योन्याश्रय दोष आ जाएगा। पुनश्च, प्रतीति का निर्णय व्यवहार के द्वारा होता है। कभी दो वस्तुओं की सिद्धि देशभेद से और कभी कालभेद से होती है। जहाँ देशभेद और कालभेद भेदक नहीं होगा वहाँ प्रतिभासभेद, अथवा इन्द्रियभेद प्रतीति का निर्णय करता है। अतः, सिद्ध हुआ कि एक धर्मी में यदि बाध और अबाध इन दो विरोधी के धर्मों का अध्यास हो, तो, प्रतिभासभेद संभव हो सकता है; किन्तु, प्रकाश अर्थात् ज्ञान और नील अर्थात् आकार, में प्रतिभासभेद नहीं है, अतएव, निराकारज्ञानवादपक्ष ठीक नहीं (ज्ञानश्रीमित्र निब0 पृ0 376 एवं 377)

'आकार से विज्ञान न भिन्न है और न अभिन्न; और जो वस्तु जिस रूप से भिन्न या अभिन्न नहीं हुआ करती वह सत् नहीं हुआ करती' ऐसा नियम जो आपने (ङ) में कहा है, उसका कोई दृष्टान्त नहीं मिलेगा जो केवल ज्ञान को प्रदर्शित कर दिखला सके कि आकार उससे भिन्न है। आप कोई ऐसा दृष्टान्त नहीं बता सकते

जो ज्ञान को आकररहित दिखा सके। आप विज्ञान को अन्य मानते नहीं और विज्ञान साकार गृहीत होता है। पुनश्च, अभेदावभासी अनुभव एवं अनुभवाकार में भेद मानने वाले आप निराकारवादियों का यह पक्ष मान भी लें कि प्रकाश परमार्थ रूप से सिद्ध है और आकार तो आरोपित है, तो भी इसके लिए कोई अन्य दृष्टान्त आप नहीं दिखला सकते, और व्यतिरेक दृष्टान्त संभव नहीं, क्योंकि, सुखदुःखादि से विरहित कोई ज्ञान नहीं होगा। पुनश्च, न पक्ष बनेगा न साध्य ही।⁴²

'च' में सामान्य धर्मी और विशिष्टधर्मी को लेकर निराकारवादियों ने जो पक्ष प्रस्तुत किया है, उस पर ज्ञानश्री मित्र का कहना है कि विशेषनिष्ठा में तो दृष्टान्त तथा पक्षादि और भी नहीं होगा। कारण यह है कि सर्वसामान्य का अर्थक्रियाकारित्व के द्वारा ही, विशेष सिद्ध होता है, फलतः ऐसी स्थिति में आप अपना पक्ष कैसे सिद्ध करेंगे? विशेष-विशेष जो आप कहते हैं, तो नीलविज्ञान, पीतविज्ञान ही न आपको इष्ट हो सकता है? और इसे ही विद्वज्जन समझेंगे। फलतः, निर्णय जब लेंगे और पक्ष धर्म का जब उपसंहार होगा, तब वह विशेष में ही होगा, ऐसा जो आप आग्रह करते हैं, उसमें कोई तुक नहीं है, क्योंकि आप जिसे दिखला रहे हैं वह है नीलात्मा, अर्थात् साकारविज्ञान, और जिस विशेषनिराकारवाद को मान रहे हैं उसे आप दिखला नहीं पा रहे हैं। इस प्रकार, आप अनुमान की विधा का निर्वाह नहीं कर पाते। पुनश्च, जब धर्मी सिद्ध रहता है और धर्म संदिग्ध रहता है, तब हेतुबल से साध्य की सिद्धि की जाती है, किन्तु, आपके पक्ष में, चूँकि 'विशेष' ज्ञात नहीं है, अतः सन्देह का भी प्रश्न नहीं उठेगा, और हेतुबल से उसे सिद्ध करने की बात तो 'हतोहत' है।⁴³

'छ' में प्रस्तुत निराकारवादियों के पक्ष पर ज्ञानश्रीमित्र टिप्पणी करते हैं कि आपका पक्ष बन नहीं सकता, विशेषकर नित्यविज्ञान के प्रसंग में तो और भी नहीं। पुनश्च, असत् प्रकाश ही भ्रान्ति है, और माया के कारण ख्याति होती है ऐसा जो पक्ष शून्यवाद का है वह भी नहीं बनेगा, क्योंकि यह प्रश्न उठेगा कि मायाकार कौन है? क्या विज्ञान ही मायाकार है? किन्तु जिस विज्ञान में आकार और ज्ञान अभिन्न है वहाँ माया क्या कर सकेगी?⁴⁴

'ज' पुनश्च, ज्ञान को अनुवृत्त और आकार को व्यावृत्त मानकर इनमें जिस भेद को स्थापित किया जा रहा है वह भी कल्पनामात्र है और व्यर्थ है। अनुवृत्त-व्यावृत्त की प्रतीति होती है, किन्तु ज्ञान नीलाकार है, इसमें भिन्नोपाधि ही कारण है, क्योंकि यह एक विशिष्ट है, और जहाँ-जहाँ विशिष्ट प्रत्यय होता है, वहाँ-वहाँ भिन्नोपाधिनिबन्धनता होती है, जैसे कि, 'सर्प की कुण्डली', ऐसा यदि निराकारवाद हमारे उत्तर में कहें, तो

हमारा कहना है कि नील-पीतादि ज्ञान में जो समनन्तर प्रत्यय होते हैं, और यह नील का ज्ञान है, 'यह पीत का ज्ञान है' ऐसा जो भेद होता है वह वस्तुतः अन्य के अपोहमात्र से व्यवस्थापित ज्ञान ही है। पहले ज्ञान उपहित था, बाद को अनुपहित हो गया, ऐसा जो आप निराकारवादी मानते हैं, वह आपकी एक बहुत मोटी भ्रान्ति है। पुनश्च, धर्मी और धर्म के विपरीत भाव पर आधारित आपका तर्क ठीक नहीं, क्योंकि, वहाँ पर भी आप कोई ऐसा प्रमाण नहीं बतला सकते जो इनको विलग रूप में दिखाता हो। वहाँ पर विपर्यय की प्रतीति तो होती है, किन्तु प्रमाणव्यापार नहीं होता, अतएव, आपका पक्ष ठीक नहीं। इसके साथ ही, ज्ञान और आकार दो धर्मी हैं यह जानना संभव भी नहीं है, क्योंकि यदि नीलादि प्रकाश स्वरूप है, तो उन्हें प्रकाशान्तर की जरूरत नहीं होगी, और यदि वह प्रकाशस्वरूप नहीं है, तो, कोई प्रकाश आकर भी उसका क्या करेगा? जो स्वयं प्रकाशस्वरूप हो वह दूसरे से प्रकाशित हो, यह हो नहीं सकता। अलीक आकार ज्ञान में आरूढ होकर भासित होता है, यदि निराकारवादी ऐसा कहें, तब तो, यह पक्ष आत्मवाद को स्वीकार करने के समान है। आपके यहाँ तो प्रमेय प्रकाशस्वरूप है। अतएव उसे तो अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए। फलतः, आप जो निराकारवाद के लिए विपुल प्रयास कर रहे हैं, उसका क्या प्रयोजन? अथवा, यदि मान भी ले कि अलीकत्व स्वप्रकाशवर्जन नहीं है, तब तो, जो स्वतःप्रकाश नहीं है उसके विषय में बाह्य के द्वारा किस तरह का अवरोध किया गया? आकार को अलीक मानते हुए भी यदि आप प्रकाशता मान लेते हैं (अपने मत को आत्मवाद से अलग करने के लिए) तो बाह्यघटादि को मानने वाले सौत्रान्तिकादि अनात्मवादियों ने क्या अपराध किया? यदि अलीक में ऐसी शक्ति है कि वह स्वप्रकाशता को खड़ा किये रहता है तो बाह्यवस्तु में वह शक्ति क्यों अस्त हो जाती है? इससे अच्छा तो यही होता कि बिना किसी बन्धन के धर्मोत्तर का मनोरथ सिद्ध हो जाता।⁴⁵

'ज्ञ' में जो यह कहा गया है 'सहायक की अपेक्षा करके ज्ञान, जो कि शक्ति रूप है, आकार को पकड़ता है और इसके लिए घट-पटादि वस्तु चाहिए', तो ऐसी स्थिति में ज्ञान एवं आकार में अभेद की कल्पना करनी पड़ेगी। अतएव, तब तो, इस कल्पना का पात्र वस्तु को ही होजाना चाहिए और इस स्थिति में विज्ञानवाद समाप्त हो जायगा। पुनश्च, 'अलीक जो भेद है वे ज्ञान में स्फुरित होते हैं, आप निराकारवादियों के इस कथन का अर्थ यह हुआ कि आकार उपर्युक्त प्रकार की प्रतीति का आश्रय लेता है। इसका यह भी अर्थ हुआ कि वह बाह्यभेद को भी प्रकाशित कर देगा; ऐसी स्थिति में आकार उसमें रह कर कौन सा कार्य करेगा? जो बाह्य है और जो बाह्य नहीं है यदि आप उनमें एक प्रकार का योगक्षेम मानते हैं, तो फिर आकार के पीछे क्यों पड़े हैं कि

वह बाधित होता है? बाह्य की बाधा को ही क्यों नहीं स्वीकार कर लेते हैं, आकार की अलीकता की बात क्यों कर रहे हैं? ज्ञानश्रीमित्र निराकार विज्ञानवादियों की असंगति को उद्घाटित करते हुए कहते हैं कि यदि वे आकार को अलीक मानते हैं, तो, उन्हें प्रातीतिक ज्ञान में आकार का कोई औचित्य नहीं मानना चाहिए; किन्तु, निराकारवादी आकार की प्रतीति को छोड़ नहीं सकता और साथ ही, आकार की सत्यता को स्वीकार नहीं कर सकता। निराकारवादी, अलीक आकार की कारणता, व्यापार के माध्यम से, बना नहीं सकते, क्योंकि, वह असत् है, जबकि 'करण', साधकतम होता है। करण होने के लिए अलीक आकार को साधकतम होना चाहिए, किन्तु अलीक होने के कारण वह साधकतम नहीं हो सकता। अतः, निराकारवाद का पक्ष गलत है। हमारा ज्ञानसाकारवाद के प्रति ही आग्रह का कारण यह है कि स्वतः आचार्य धर्मकीर्ति यह कहते हैं कि नीलादिरूपता नीलानुभव का स्वभाव है— नीलादिरूपस्तस्यासौ स्वभावोऽनुभवश्च सः। नीलाद्यनुभवात् ख्यातः स्वरूपानुभवोऽपि सन् ॥ २/३२८ प्र०वा० ॥ पुनश्च, प्रमाणवार्तिक में अनुभव तथा नीलादिरूपता की अद्वैतता की सिद्धि के लिए आचार्य धर्मकीर्ति का जो प्रबल आग्रह दिखलायी पड़ता है, वह भी, साकारवाद की स्थिति में ही संभव है। निराकारज्ञानवाद मानने पर, तो, आकार की कारणता का कोई प्रश्न ही नहीं होता। अतः, ज्ञानसाकारवाद से ही आकार की कारणता बनेगी। उसी तरह, बाह्य के सम्बन्ध में भी, चूँकि, ज्ञान से बाह्य छिपाया नहीं जा सकता, अतः, विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि कैसे हो सकेगी? इससे यह फलित हुआ कि निराकारवादी जब, आकार की अलीकता की सिद्धि करता है, तब, वह नहीं समझ पाता कि वह विज्ञप्तिमात्रता का ही खण्डन कर दे रहा है। ज्ञान और आकार अभिन्न हैं, इस साकारविज्ञानवाद में ही, नील देखा, पीत नहीं देखा आदि नील एवं पीत रूप बाह्य के न रहने पर भी, ज्ञान है और ज्ञान के पास अपना आकार है और जब एक का ज्ञान उत्पन्न हुआ, तो, दूसरे प्रकार का ज्ञान नहीं होता, इस प्रकार से नील देखा, पीत नहीं देखा, इसका निश्चय हो जाता है। इस प्रकार, बाह्यार्थ के अभाव में भी एक प्रकार की प्रमाणव्यवस्था खड़ी हो जाती है, एवं घटज्ञान से पट ज्ञान क्यों भिन्न है, आकार कहाँ से भासित होता है, आदि सारी बातों का स्पष्टीकरण 'स्वसंवेदन' की सिद्धि मात्र से हो जाता है।¹⁶

'साकारवाद मानने पर विज्ञानवाद के इस नियम का पालन नहीं हो सकता कि ज्ञानव्यतिरिक्त किसी की सत्ता नहीं होती। अतः, विज्ञान निराकार है (ज) यह तर्क उचित नहीं है। वास्तविकता ऐसी ही है, तो प्रारम्भ से ही आप निराकारवादी आकारराक्षस को क्यों पाले हुए हैं? उसकी क्या आवश्यकता पड़ गयी? 'बुद्धि निराकार है, और बाह्य आकारवान है' इससे भी आप निराकारवादियों को अपने इस मनोरथ की

सिद्धि कर लेनी चाहिए थी कि आकारवान बाह्य का ग्रहण निराकारबुद्धि करती है। किन्तु, यह व्यवस्था बैठती नहीं। पुनश्च, ऐसा मान लेने पर, प्रकाशमान ज्ञान के साथ में नीलाकार की सहोपलब्धि के द्वारा विज्ञप्तिमात्रता को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं रहेगी, और इस प्रकार वे सारी परेशानी से मुक्त रहते। ज्ञानश्रीमित्र का कहना है कि बाह्य से संवाद कर ज्ञान को प्रमाण मानना, सहोपलम्भनियम के द्वारा विज्ञान को सिद्ध करना, बाह्य का परमाणुवाद खण्डित करना— यह जो धर्मकीर्ति का 'प्रकारत्रय' है वह ही — हमारी दृष्टि से 'विज्ञप्तिमात्रता' की सिद्धि में सबसे सरल मार्ग दिखलाई पड़ रहा है। 'आकार ज्ञान के साथ है' साकारवाद के इस पक्ष का समर्थन भी इसी 'प्रकार त्रय' की प्रक्रिया से निकलता है।⁴⁷

'ट' के प्रसंग में ध्यानीय यह है कि, व्यापकानुपलम्भ की चर्चा जब आचार्य दिग्नाग करते हैं, तो, उससे वे निराकारता को सिद्ध नहीं करते, अपितु अनुमान मात्र करते हैं कि आकार बाह्य नहीं है; जैसे कि परमाणुदूषण किया जाता है, किन्तु प्रतीति में जो स्थूल्य है उसे तो आप नहीं निकालते। यदि, आप कहें कि स्थूलता आती है तो आवे, इससे कोई हानि नहीं है। ज्ञानश्री का प्रत्युत्तर है कि परमाणु के खण्डन में असावधानी कर धर्मोत्तर यह जो कहते हैं कि 'परमाणु और स्थूलता का भेद और अभेद नहीं है, अतः, वह ज्ञान का स्वरूप ही है, इससे आचार्य धर्मकीर्ति का मत आकुल हो जाता है। यदि, धर्मोत्तर के मत में न्यायगंध रहता, तो, धर्मकीर्ति का मत आकुल होता है तो होवे, कोई हानि नहीं थी, किन्तु धर्मोत्तर के मत में न्यायगंध नहीं है। यदि, मान भी लें कि ज्ञान बाह्य को ग्रहण नहीं करता, और ज्ञान द्वारा अलीक ही आकारमात्र जाना जाता है, तब तो, आप निराकारज्ञानवादियों ने भी प्रकारान्तर से ग्राह्यग्राहक की व्यवस्था तो की ही। यदि, आप कहें कि अलीक की प्रकाशवेद्यता हम मानते हैं, (तो आपकी इस मान्यता का कारण है कि बाह्य कभी प्रकाशित नहीं होता) तो, इसका अर्थ हुआ कि आकार स्वप्रकाशता में जबरदस्ती अवसर पा गया। ऐसी स्थिति में, इससे अलग किसी प्रकाश को आपको नहीं मानना चाहिए। फलतः, यह सिद्ध हुआ कि स्वयं विदित होने के कारण ज्ञान में भासित होने वाले रूप, शब्दादि ज्ञानरूप हैं। पुनश्च, स्वसंवेदनता के अनैकान्तिक और उसकी तात्त्विकता के असिद्ध होने का जो दोष हम साकारवादियों पर लगाया गया है, वह अनस्थानेप्रयुक्त— जैसा ही है, क्योंकि विज्ञान और आकार में अभिन्नता मानने वालों पर यह दोष नहीं लगाया जा सकता। पुनश्च, अबाध्यरूप को किसी वस्तु की प्रकृति बतलाते हुए धर्मोत्तर ने 'स्वसंवेदन' के प्रसंग में जो 'स्वभाव हेतु' दिया था, उसका भी इसी से निरास हो गया, क्योंकि आकार से भिन्न धर्मी आप बना नहीं सकते और नील को आप बाधित ही कर देते हैं।⁴⁸

इन्द्रियाश्रित चक्षुर्विज्ञान में नील एवं नील की बाह्यार्थता दोनों प्रतिभासित होते हैं, ऐसा मानने में निराकारविज्ञानवादियों से सहमत होते हुए भी साकारविज्ञानवादी बाह्यार्थाभास को मिथ्या, किन्तु नीलाकार को सत्य मानते हैं, और अपने पक्ष की पुष्टि में आचार्य धर्मकीर्ति का कथन उद्धृत करते हैं। उनका कहना है कि चक्षुर्विज्ञान का आलम्बनभूत नील, नीलाकार और उसका ग्राह्य ये सभी वस्तुतः एक ही हैं, अतएव, नीलकारसत्य है, मिथ्या नहीं।⁴⁹

इसी प्रसंग में, 'चित्र' के प्रत्यक्ष की विवेचना को लेकर साकारविज्ञानवाद में कई मत हो गये।⁵⁰ प्राप्त संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों में आचार्य प्रज्ञाकर गुप्त एवं ज्ञानश्री मित्र एकत्ववादी, या अद्वैतवादी हैं।⁵¹

वैभाषिकों का निराकारवाद

बाह्यार्थवादी वैभाषिक बाह्यार्थ का प्रत्यक्ष मानते हैं। उनके अनुसार इन्द्रियाँ साकार हैं, जबकि इन्द्रियज ज्ञान निराकार है। वसुबन्धु अभिधर्मकोश में लिखते भी हैं—
 "चक्षु पश्यति रूपाणि सभागं न तदाश्रितम्। विज्ञानं दृश्यतेरूपं न किलान्तरितयतः॥ 1/42। वसुबन्धु, 'वादविधि' में, प्रत्यक्ष का लक्षण "ततोऽर्थाद्विज्ञानं प्रत्यक्षम्" के रूप में करते हैं। इसकी व्याख्या में वे बतलाते हैं कि यदि ज्ञान उसी अर्थ से उत्पन्न होता है जिसके आधार पर इसका नामकरण हुआ है, तो, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं, इस प्रकार, वैभाषिकों के अनुसार अर्थ हेतु है, कारण है और ज्ञान उससे उत्पन्न कार्य या फल। कालत्रयवादी वैभाषिकों के अनुसार संस्कृत वस्तुएँ जाति, जरास्थिति एवं अनित्यतादि लक्षणवाली होती हैं। फलतः, इनके यहाँ की क्षणिकता सौत्रान्तिकों से भिन्न प्रकार की है। इसी कारण, वैभाषिकों के लिए, 'पहले से अस्तित्व रखने वाले अर्थ से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को 'प्रत्यक्ष' कहना तर्कतः संभव हो पाता है। 'अर्थ से उत्पन्न' होने का अर्थ है सन्निकर्ष विशेष, अर्थात् इन्द्रिय, अर्थ और विज्ञान का सन्निपात अथवा संयोग विशेष। स्पष्ट है कि वैभाषिकों के लिए ज्ञान निराकार है, अर्थसहभावी और एकसामग्री अधीन है। ज्ञान को वैभाषिक साकार नहीं मान सकते, क्योंकि, उसका अर्थ यह होता कि ज्ञान प्रमेयरूप है। प्रमेयाकार प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि, प्रमाण का प्रमेय की ग्रहणता के द्वारा स्फुट परिज्ञान होता है।

अभिधर्मकोश में 'चक्षुपश्यति रूपाणि.....' इत्यादि के रूप में 'वसुबन्धु' जो कहते हैं उसका अभिप्राय यह है कि चक्षुरिन्द्रिय ही विषयादि के सानिध्य के कारण रूपादि को देखती है, चक्षुराश्रित विज्ञान रूप को नहीं देखता। यदि, विज्ञान रूप को देखता, तो, जो अनुत्पन्न है और छिपा हुआ, अथवा ओट में, है उसका भी दर्शन होना

चाहिए! वस्तुबन्धु के इस कथन से ऐसा लगता है कि उनके मत में भी, नैयायिकों के ही समान, इन्द्रियाँ ही प्रमाण हैं। फलतः, सौत्रास्तिकों से भिन्न रूप में प्रमाण और प्रमाणफल के भी विषय में इनकी मान्यता है कि ज्ञान अन्य है और प्रमाणफल उससे अन्य। इससे वैभाषिकों का निराकारवाद भी स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि, यदि चक्षुर्विज्ञान रूप को देखता, तो, उसके रूप से आकारित भी हो जाता, किन्तु, जड़ के कारण इन्द्रियाँ वैसी नहीं हैं।

आस्तिक वस्तुवादियों में निराकारज्ञानवाद

आस्तिक मतों में ज्ञानमीमांसा के धरातल पर दिग्नाग के विज्ञानवाद से तर्कतः प्रसूत साकारता, स्वसंवेदनता तथा निरालम्बन के सिद्धान्त का विरोध उद्घोषितकर से प्रारम्भ हो गया था, परन्तु, आचार्य कुमारिल में इसका स्पष्टतया उल्लेख है। शून्यवाद नामक प्रकरण में वे ज्ञान की साकारता तथा 'आकार के प्रचय' का खण्डन करते हैं (श्लोक 9-9; 07-122) और दिग्नाग की आलम्बनपरीक्षा का खण्डन करने के लिए 'निरालम्बननिराकरण' नामक एक स्वतन्त्र परिच्छेद ही लिखते हैं, जिसकी, आगे चलकर, प्रज्ञाकर ने आलोचना की।

न्याय-वैशेषिक भी निराकारवादी हैं। न्याय-वैशेषिक यह प्रश्न उठाता है कि आकार बाह्यभूत अर्थ का, ग्राहक का अथवा ज्ञान का धर्म है? उनका पक्ष है कि आकार अर्थ का ही धर्म है। जहाँ पर ग्राह्य का आकारभेद नहीं है वह निराकार ज्ञान है। 'अर्थाकाराकारित्व ज्ञान का नहीं है, किन्तु ज्ञान का ग्राहकत्व है, यह निराकारवाद का सिद्धान्त है। आचार्य वाचस्पति, 'न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका' में, लिखते हैं— वृत्तिर्हि व्यापारः। स तु व्यापारः उच्यते यः कारकैः फले जनयितव्ये चरमभावी धर्मभावः फलोत्पादानुकूलोऽपेक्ष्यते। यथा पटे जनयितव्ये तन्तुभिश्चरमभाविनः संयोगभेदाः, स्वर्गे जनयितव्ये यागेनात्मधर्मः इहापीन्द्रियादिना प्रमाणेन प्रमायां फले प्रवृत्तेन तदुत्पादानुकूलः सन्निकर्षो ज्ञानं वा चरमभावी धर्मभेदोऽपेक्ष्यते।" इस प्रकार, न्यायदर्शन में निराकार ज्ञान अर्थ का वेदन करता हुआ भी अपने से भिन्न अर्थ को विषय बनाता है।

न्याय-वैशेषिकों की मान्यता है कि ज्ञान बाह्यवस्तु के आकार को प्रस्तुत अथवा उपस्थापित मात्र करता है, किन्तु अपने में वह निराकार है। ज्ञान स्वरूपतः तटस्थ है। वह ज्ञान जिसमें विषय प्रतिरूपित होता है केवल अर्थाकार है। ज्ञान केवल अर्थ के आकार का प्रतिनिधित्व करता है, वह उसका आकार नहीं है। अतः, दिग्नाग के 'ज्ञान की द्विरूपता' से विपरीत, न्यायदर्शन में, ज्ञान एक रूपवाला है। उसका अपना कोई आकार नहीं होता। आचार्य उदयन न्यायकुमुमांजलि में लिखते हैं —

“अर्थेनैव विशेषे हि निराकारतया धियाम्।

क्रिययैव विशेषो हि व्यवहारेषु कर्मणाम्॥

न्यायदर्शन में बौद्धों की विज्ञानसाकारता का अन्त तक विरोध होता रहा। इस प्रसंग में सबसे महत्त्वपूर्ण विवेचन उदयनाचार्य ने ‘आत्मतत्त्वविवेक’ में किया है। उन्होंने ज्ञानश्रीमित्र के ‘साकारसिद्धिशस्त्रम्’ के तर्कों का खण्डन करते हुए उनके ‘चित्राद्वैतपरिच्छेद’ के उपसंहाररूप श्लोक की ध्वनि में अपनी यह घोषणा की है— “न ग्राह्यभेदमवधूय धियोऽस्ति धृतिस्तद्बाधने बलिनि वेदनये जयश्रीः।” पृ० 230

जैनियों का निराकारज्ञानवाद

जैन दर्शन ज्ञान को स्वसंवेदी मानता हुआ भी निराकारवादी है। उसके अनुसार ज्ञान में तीन बातें होती हैं— (क) स्वसंवेदन (ख) वैशद्यस्वभाव और (ग) ‘यह नील है’ इस रूप में अर्थाकार का उल्लेख। सम्बद्ध अर्थ का ग्राहक होते हुए भी अर्थ और ज्ञान के मध्य तदुत्पत्तिरूप सम्बन्ध होकर योग्यतालक्षण सम्बन्ध होता है जिसके चलते ज्ञान समकालिक एवं भिन्नकालिक अर्थ को ग्रहण करता है। उनका कहना है कि लोकस्थिति का विशेष कर पदार्थ की व्यवस्था नहीं होती, और लोकानुभव यह है कि सभी ज्ञान स्वविरुद्ध पदार्थ के प्रति अभिमुख होकर ही उसे जानते हैं। अपने आकार को ही सभी ज्ञान जानते हैं, ऐसी प्रतीति किसी को भी नहीं होती। पुनश्च, प्रत्यक्ष द्वारा भी आकार रहित ही ज्ञान की अनुभूति होती है, दर्पण की भाँति साकारज्ञान की नहीं। जैनियों का कहना है कि उपर्युक्त स्थिति से यह फलित होता है कि ‘जो जिसके द्वारा अपने से भिन्न ज्ञात होता है, वह उसके द्वारा अतदाकार रूप से ही जाना जाता है; जैसे कि, स्तंभ की जड़ता, ज्ञान में संक्रान्त नहीं हो सकती, अतः, उसका धर्म नीलादि आकार भी ज्ञान में संक्रान्त नहीं होता। जो जिसके आकार का नहीं होता वह उसका ग्राहक नहीं होता। जैनियों के अनुसार ज्ञान का अन्तर्मुखेन और अर्थ का बाह्यतया अलग-अलग ज्ञान होता है।

जैनी बौद्धों से पूछते हैं कि आप आकार को ज्ञान से भिन्न मानते हैं, अथवा अभिन्न? प्रथम स्थिति में तो ज्ञान निराकार ही रहेगा। द्वितीय विकल्प मानने पर या तो ज्ञान रहेगा, अथवा आकार, और ज्ञान तथा आकार में कथंचिद् भेद मानने पर जैनमत ही सिद्ध होगा। यदि, ज्ञान को अपने से अभिन्न आकार का ग्राहक माना जाय, तो, प्रभाचन्द्र के शब्दों में— “दूरे पर्वतो निकटे मदीयो बाहुः” इति व्यवहारस्यास्खलद्रूपस्य प्रतीतेः (प्र०क०मा० पृ० 103)। इसके अतिरिक्त प्रभाचन्द्र यह भी बतलाते हैं कि स्वपराभासित्व ही ज्ञान का आकार है, नीलादिता उराका आकार नहीं है। नीलादिता

अर्थ का धर्म है। यदि ज्ञान निराकार हो तो ज्ञान की प्रतिकर्मव्यवस्था कैसे होगी और नील के ज्ञान का पीतज्ञान से भेद कैसे हो सकेगा? प्रभाचन्द्र (प्रमेय क० मा० पृ० 105) उत्तर देते हैं— “प्रतिनियत सामर्थ्येन तथाभूतमपि प्रतिनियतार्थव्यवस्थापकमित्यग्रेवक्ष्यते” कि ज्ञान प्रतिनियत अर्थ का ग्राहक होता है और यह सामर्थ्य ही एक ज्ञान को अन्य ज्ञान से विलग करता है। ज्ञान अर्थाकार नहीं होता, तथापि, प्रतिनियत सामग्री के निमित्त से उत्पन्न होने और प्रतिनियत सामर्थ्यवाला होने के कारण, प्रतिनियत अर्थ को ही ग्रहण करता है, सभी अर्थों को नहीं। अतः, ज्ञान निराकार है।

मीमांसक भी निराकारज्ञानवादी हैं। भाट्टमत में प्राकट्य का आश्रय विषय ही है और वही उसका लक्षण है। प्राकट्य विषयव्यवस्थापक होता है और वह सर्वद्वयवर्ती सामान्य गुण है। ‘घटः प्रकाशते’, ‘घटो भाति’, ‘प्रकटो घटः’ इत्यादि व्यवहार प्राकट्यहेतु से ही संभव होते हैं। इसी प्राकट्यधर्म को ‘ज्ञातता’ नाम से अभिहित किया गया है। ज्ञाता द्वारा ज्ञात घट ही इन्द्रियादिसन्निकर्ष के द्वारा प्रत्यक्ष किया जाता है। अतः, भाट्टमत में प्राकट्यरूप प्रमाणकरण के द्वारा ज्ञान के प्रमाणत्व को कहा गया है। ज्ञातताधर्म बाह्य द्रव्यों में ही होता है, फलतः, साकारज्ञान असंभव है। ज्ञाततालिंग के द्वारा ज्ञान का अनुमान किया जाता है, उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। इसी कारण, भाट्टमत ज्ञातता नामक धर्म को ज्ञान से अत्यन्त बाहर स्थित रहने वाला मानता है जिसका इन्द्रियादि के द्वारा संयुक्ततादात्म्यसंबन्ध से प्रत्यक्ष होता है, अतः, ज्ञान में अर्थगत आकारता नहीं होती।⁶²

सांख्य दार्शनिक साकारवादी हैं। उनके मत में बुद्धि त्रैगुण्य का विकार है और त्रिगुण अचेतन स्वरूप हैं। चित्शक्ति सर्वथा अपरिणामिनी है। अचेतन बुद्धि इन्द्रिय के माध्यम से अर्थाकार द्वारा परिणमित होती है। चित्शक्ति के सानिध्य से बुद्धि चैतन्यरूपता से युक्त—सी हो जाती है, और अर्थाकाररूप से परिणत होकर अर्थ को जानती है। अतः, नीलाकार प्रत्यय बुद्धि का परिणाम है और इसे ही ‘वृत्ति’ कहा जाता है। यह बुद्धितत्त्व स्वयं अप्रकाशक है, तथापि, बुद्धि चैतन्य की छायापत्ति के द्वारा प्रकाशित हो जाती है और अर्थ को भी प्रकाशित करती है। इस प्रकार, सांख्य की साकारता स्पष्ट है।⁶³

इस पर ध्यान दें, तो कई दिलचस्प बातें सामने उभर कर आती हैं—
(1) बाह्यार्थवादी ज्ञान में आकार को नहीं मानते, आकार को स्वोपज्ञ नहीं मानते हैं, जबकि अद्वैतवादी ज्ञान की साकारता को मानते हैं। (2) ज्ञान के साकार एवं निराकार होने का प्रश्न सामान्य रूप से सभी भारतीय दर्शन सम्प्रदायों, विशेषतया, बौद्धदर्शन सम्प्रदायों के विकास में केन्द्रीय प्रश्न बना रहा है और विकासक्रम वस्तुवाद से

विज्ञानवाद की ओर रहा है (3) स्थिरवादी अद्वैतवाद, अर्थात् शांकरवेदान्त, के लिए द्वैतवादी सांख्य, और बौद्धविज्ञानाद्वैतवाद के लिए समीक्षात्मकवस्तुवादी सौत्रान्तिक संक्रमणकालीन अवस्थाएँ हैं। (4) अद्वैतवादी प्रमाणमीमांसा के लिए ज्ञान की साकारता आवश्यक है और साकारता मानने पर अद्वैतवाद को किसी न किसी रूप में मानना होगा, अथवा अद्वैत की विशिष्टता स्वीकार करनी होगी। (5) तर्कतः, ज्ञान साकारता की परिणति विज्ञानाद्वैतवाद में एवं निराकारता की परिणति माध्यमिक या वेदान्त के अद्वैतवाद में होनी चाहिए।

(ख) ज्ञान की स्वसंवेदनता और परसंवेदनता

ज्ञान के स्वसंवेदन के प्रसंग में विज्ञानवादियों का विवाद सौत्रान्तिक, जैन, न्याय-वैशेषिक एवं सांख्यादि से है। विज्ञानवादियों के लिए स्वसंवेदन की सिद्धि अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इसी के आधार पर सारी प्रमाणमीमांसा और तत्त्वमीमांसा ठहरी हुई है। ज्ञान स्वसंवेदनरूप या स्वयंप्रकाश होता है, इसकी सिद्धि होने पर विज्ञप्तिमात्रता के परमार्थ तत्त्व होने की भी बात सिद्ध होती है और प्रमाणमीमांसा में ज्ञान के लिये विषय के रूप में किसी बाह्य अर्थ की भी अपेक्षा नहीं रह जाती। ऐसी स्थिति में, विज्ञानवादियों की यह घोषणा चरितार्थ हो सकती है कि ज्ञान स्वरूपतः अविभाग है, तथापि विपर्यासित दर्शन वाले लोगों को यह ग्राह्य, ग्राहक और संवित्ति के परस्पर पृथक् होने के रूप में लक्षित होता है। यही कारण है कि, जहाँ विज्ञानवादी स्वसंवेदन की सिद्धि के लिए प्राणपण से जुटे हुए हैं, वहीं बाह्यार्थवादी और यथार्थवादी उसके खण्डन में उतने ही चेष्टारत हैं।

स्वसंवित्ति या स्वसंवेदन शब्द इस विचार का अभिव्यंजक है कि ज्ञान स्वयं द्वारा ही ज्ञात होता है और अपने ज्ञान के लिये इसे अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। उदाहरणार्थ, जब किसी मनुष्य को नीलादि का ज्ञान होता है, तो, उसे उसी समय नीलादिज्ञान की चेतना भी रहती है। यह चेतना स्वतः ज्ञान से अन्य किसी के द्वारा ज्ञापित नहीं की जाती। अतः, दीपक के समान ज्ञान विषय को जानने के साथ ही साथ उसी समय अपने को भी जानता है। यही ज्ञान की स्वसंवेदनता या स्वयं प्रकाशता है। आचार्य प्रज्ञाकर इसीलिए लिखते हैं— 'एतदेव स्वसंवेदनं यदन्यागोचरत्वे सति प्रकाशन्नाम^{३४} अर्थात्, अन्य से अगोचर होते हुए भी जो अपने को प्रकाशित करे वही ज्ञान का स्वसंवेदनत्व है। आचार्य शांकरकृत तत्त्वसंग्रह में स्वसंवित्ति का लक्षण करते हुए लिखते हैं—

'स्वरूपवेनायान्यद् वेदकं न व्यपेक्षते।

न चाविदितमस्तीदमित्यर्थोऽयं स्वसंवेदः।^{३५}

विज्ञानवादियों का स्वसंवेदन जड़रूप से भिन्न है। वह अजड रूप है या विज्ञान स्वरूप है, जैसा कि, शांतिरक्षित पुनः लिखते हैं—

विज्ञानं जड़रूपेभ्यो व्यावृत्तमुपजायते।

इयमेवात्मसंवित्तिरस्य याऽजडरूपता।।⁵⁶

स्वसंवेदन का सिद्धान्त योगाचारनय की विज्ञप्तिमात्रता के सिद्धान्त पर आधारित है। आचार्य वसुबन्धु ने अपनी 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' में यह प्रतिपादित किया है कि आत्मन्, धर्म इत्यादि पद जिन्हें क्रमशः विषयी और विषय का द्योतक समझा जाता है, विज्ञान परिणाम के लिये प्रयुक्त उपचार मात्र हैं। विज्ञानवादी यह मानते हैं कि यथार्थतः न तो विषयी है और न विषय, वे कल्पनाप्रसूत (= परिकल्पित) हैं। परिकल्पित ग्राह्यग्राहकद्वय की वासना से मुक्त (= परिनिष्पन्न) होकर मनुष्य विशुद्ध चैतन्य (= विज्ञप्तिमात्र) की अनुभूति करता है, जिसमें ग्राह्य-ग्राहक का कोई भेद नहीं होता।⁵⁷ चूँकि यह स्वरूपतया वर्तनेवाला तत्त्व नहीं है, अतः, विज्ञप्तिमात्र की स्थिति में कायायित्व नहीं होता। एक अवस्था कुछ उपाधियों के अन्तर्गत विद्यमान रहती है (परतंत्र) और परवर्ती क्षण में अन्य अवस्था उसका स्थान ग्रहण कर लेती है। विज्ञप्तिमात्रता के इस सिद्धान्त के पृष्ठभूमि में होने से दिग्नाग यह समझते हैं कि स्वसंवित्ति का अविविक्त तथ्य उपचारतया प्रमाण एवं प्रमेय में विविक्त किया गया है। दिग्नाग के लिये केवल स्वसंवित्ति ही एकमेव तथ्य है। यह ज्ञानात्मक स्थिति स्वतः विषयी और विषय, ग्राहक और ग्राह्य अथवा क्रिया और फल के रूप में विविक्त नहीं होती है।

ज्ञान का ज्ञान कैसे होता है इस विषय में भारतीय दार्शनिकों में विभिन्न मत हैं। सांख्य की मान्यता है कि ज्ञान बुद्धि का व्यापार, अर्थात् वृत्ति रूप, है, जो कि प्रकृति की विकृति है और फलतः, जड़रूप है। इस कारण, ज्ञान अपने में अचेतन है। स्वचेतन केवल पुरुष है जिसके द्वारा ही ज्ञान प्रकाशित होता है। नैयायिक 'अनुव्यवसाय' के सिद्धान्त को उस प्रसंग में प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार, जब बाह्य ज्ञानेन्द्रिय का अर्थ से सन्निकर्ष होता है, तब अर्थ का व्यवसाय होता है। इस व्यवसाय को अपनी चेतना नहीं रहती है। इस व्यवसाय की चेतना अन्तःकरण अथवा मन के माध्यम से अनुवर्तीव्यवसाय (= अनुव्यवसाय) के रूप में उत्पन्न होती है और प्रथम व्यवसाय इस अनुव्यवसाय का विषय बनता है। आचार्य वात्स्यायन लिखते भी हैं— 'सर्वत्र प्रत्यक्ष विषये ज्ञातुरिन्द्रियेण व्यवसायः पश्चान्मनसानुव्यवसायः।'⁵⁸ अतः, नैयायिक यह मानते हैं कि ज्ञान स्वप्रकाश नहीं है, अपितु, अन्य ज्ञान द्वारा प्रकाशित होता है। दीपक का

दृष्टान्त, जिसे बौद्ध ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवेदनता को प्रदर्शित करने के लिये प्रस्तुत करते हैं, नैयायिकों द्वारा अपने इस सिद्धान्त को विश्लेषित करने के लिये उपयोग में लाया जाता है कि ज्ञान अन्य ज्ञान के द्वारा ज्ञात होता है। उदाहरणार्थ, भाष्यकार वात्स्यायन लिखते हैं— 'यथा प्रदीपप्रकाशः प्रत्यक्षांगत्वाद् दृश्यदर्शने प्रमाणम्, स च प्रत्यक्षान्तरेण चक्षुषः सन्निदर्शेण गृह्यते, प्रदीपभावाभावयोर्दर्शनस्य तथाभावाद् दर्शनहेतुरनुमीयते, तमसि प्रदीपमुपादीधा इत्याप्तोपदेशेनापि प्रतिपद्यते, एवं प्रत्यक्षादीनां यथा दर्शनं प्रत्यक्षादिभिरेवोपलब्धिः।'⁶⁰ नैयायिक ज्ञान के स्वप्रकाश सिद्धान्त के विश्लेषण के लिये प्रदीप के उपमान के उपयोग को प्रामाणिक नहीं मानते।⁶⁰

आचार्य कुमारिल का इस प्रसंग में अपना भिन्न मत है। उनके अनुसार ज्ञान का स्वरूप साक्षात् रूप से नहीं, अपितु अनुमान द्वारा ज्ञात होता है। जब, कोई अर्थ ज्ञात होता है, तो, ज्ञातता नामक एक निराला धर्म ज्ञान के फल के रूप में उस अर्थ में उत्पन्न हो जाता है। चूँकि, ज्ञान एक क्रिया है, अतः, इसका साक्षात् रूप से ज्ञान नहीं होता। आचार्य कुमारिल स्वसंवित्ति के सिद्धान्त पर आपत्ति उठाते हुए कहते हैं कि विषय को प्रकाशित करने के व्यापार का जब ज्ञान रहता है, तो, उसी समय वह अपने को प्रकाशित करने का व्यापार नहीं कर सकता, जैसे कि, कोई वस्तु एक ही समय में दो व्यापारों को धारण नहीं कर सकती।⁶¹ इसी प्रकार, दिग्नाग द्वारा स्वसंवित्ति को प्रमाण-फल मानने की भी कुमारिल आलोचना करते हैं, जिसे हम प्रमाण और प्रमाण-फल की व्याख्या के प्रसंग में देख चुके हैं कि बिना स्वाकार का विनिश्चय किये, कोई यह जान नहीं सकता कि स्वाकार ज्ञान में है, तो भी, स्वाकार के विनिश्चय के लिये अन्य स्वाकार को मानना होगा और इस क्रिया से अनवरथादोष होगा। अतः, वे निष्कर्ष निकालते हैं कि स्वसंवित्ति से अन्य कोई आकार नहीं होता। ग्राह्य, ग्राहक और स्वसंवित्ति की अपृथक्ता की आलोचना जैन आचार्य अकलंक ने भी की है। उनका कहना है कि 'एक वस्तु के अनेक आकार होते हैं' यह सिद्धान्त केवल अनेकांतवादी ही मान सकता है। अद्वैतवादी एक ही ज्ञान की द्विरूपता के सिद्धान्त को नहीं मान सकता है।⁶²

विज्ञानवादियों द्वारा स्वसंवेदनता की सिद्धि

आचार्य दिग्नाग 'प्रमाणसमुच्चय' में स्वसंवित्ति एवं साकारता की सिद्धि ज्ञान के द्वैरूप्य के आधार पर करते हैं जिसका अनुसरण आचार्य धर्मकीर्ति और उनके बाद के बौद्ध दार्शनिकों ने किया। इसी प्रसंग में स्मृति के विश्लेषण के द्वारा तथा प्रत्यभिज्ञा के द्वारा स्वसंवेदन की सिद्धि की गयी और ज्ञान के संकलन अथवा आकारप्रचय की

विवेचना की गयी। धर्मकीर्ति और उनके टीकाकार अन्य विविध तर्कों द्वारा स्वसंवेदनता की सिद्धि करते हैं जिनकी यहाँ हम विवेचना करेंगे --

आचार्य दिग्नाग 'विषयज्ञानतज्ज्ञानविशेषात् तु द्विरूपता' कहकर द्वैरूप्य का प्रतिपादन करते हैं। अपनी वृत्ति में वे लिखते हैं कि वह ज्ञान जो अर्थ के ज्ञान को जानता है, उसके दो रूप होते हैं। वह 'अर्थाभास' और 'स्वाभास' दो रूपों वाला होता है। उनका कहना है कि यदि, विषय या अर्थ का ज्ञान केवल विषय के आकारवाला हो, अथवा यदि, केवल स्वाभास को धारण करता हो, तो, विषयज्ञान को उस विषय के ज्ञान के ज्ञान से विलग नहीं किया जा सकता। पुनश्च, यदि, विज्ञान केवल विषयाभास अथवा केवल स्वाभास रूप हो, तो, पूर्ववर्ती विज्ञान द्वारा ज्ञात विषय उत्तरवर्ती विज्ञान में आभासित नहीं हो सकता, क्योंकि, पूर्ववर्ती विज्ञान का विषय उत्तरवर्ती विज्ञान की उत्पत्ति काल में विद्यमान न रहने के कारण उसका विषय नहीं हो सकता।⁶³ आचार्य दिग्नाग उपर्युक्त तथ्य से यह भी सिद्ध करते हैं कि द्विरूपता की सिद्धि स्मृति द्वारा भी स्पष्ट है। आशय यह है कि किसी वस्तु को देखने के कुछ समय बाद हमारे मस्तिष्क में हमारे ज्ञान की प्रत्यभिज्ञा और साथ ही साथ वस्तु की भी प्रत्यभिज्ञा होती है। स्मृति या प्रत्यभिज्ञा उस चीज की नहीं होती, जो पूर्व अनुभूत न रही हो।⁶⁴ आचार्य दिग्नाग यह भी बतलाते हैं कि कुछ लोग यह मान सकते हैं कि ज्ञान भी, वर्णादि विषय के समान ही, एक पृथक् ज्ञान के साधन द्वारा जाना जाता है।⁶⁵ किन्तु, आचार्य के अनुसार यह बात सत्य नहीं है, क्योंकि यदि, विज्ञान की संवित्ति एक पृथक् ज्ञान के द्वारा होती हो, तो, अनवस्था की प्रसक्ति होगी, क्योंकि, इस पृथक् ज्ञान की भी स्मृति होती है।⁶⁶ पुनश्च, ऐसे मामले में एक वस्तु से दूसरे वस्तु की ओर ज्ञान की कोई गति नहीं हो सकेगी, किन्तु, वास्तव में ज्ञान में इस प्रकार की गति होती है। अतः, स्वसंवेदन को अवश्य स्वीकार करना चाहिए।⁶⁷

आचार्य प्रज्ञाकर अर्थसंवेदनचिन्ता के प्रसंग में प्रमाणवार्तिक 2/370 पर अपने भाष्य में दिग्नागकृत द्विरूपता की सिद्धि से संबद्ध श्लोक की प्रथम पंक्ति को उद्धृत कर यह व्याख्या करते हैं कि रूपादि विषय में जो ज्ञान है वह अर्थस्वभाववाला होता है और विषयज्ञान में जो ज्ञान होता है वह तदर्थानुरूप ज्ञानाभास और स्वाभास दोनों रूपों वाला होता है, अन्यथा, विषयज्ञान और विषयज्ञानज्ञान में अभेद हो जायेगा। प्रज्ञाकर के इस कथन में दो शब्द महत्त्वपूर्ण हैं— (1) विषयज्ञान, (2) विषयज्ञानज्ञान। दोनों ही ज्ञानों में अर्थाभास और स्वाभास रूपी द्विरूपता होती है और विषयज्ञान विषयज्ञानज्ञान का विषय बनता है। इसका अर्थ हुआ कि विषयज्ञानज्ञान में होने वाला अर्थाभास विषयज्ञान में होने वाले स्वाभास और अर्थाभास के परस्पर सम्बन्ध के

अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इससे फलित होता है कि विषयज्ञान में होने वाले स्वाभास और अर्थाभास का जो संबंध है, और इसका विषयज्ञानज्ञान में होने वाले स्वाभास के साथ जो संबंध है वही विषयज्ञानज्ञान कहा जाता है। इस प्रकार, हम विषयज्ञान से विषयज्ञानज्ञान को विलग कर सकते हैं। इसी प्रकार, प्रज्ञाकर ने जो यह कहा है 'यदि, ज्ञान केवल स्वाभास या केवल अर्थाभास रूप हो, द्विरूप न हो, तो विषयज्ञान और विषयज्ञानज्ञान एक हो जायेंगे, इसकी भी व्याख्या की जा सकती है। तात्पर्य यह है कि यदि ज्ञान केवल अर्थाकार वाला हो, तो, विषयज्ञान बराबर होगा विषयज्ञान के अर्थाभास के और विषयज्ञानज्ञान बराबर होगा विषयज्ञानज्ञान में होने वाले अर्थाभास के। चूँकि, विषयज्ञानज्ञान विषयज्ञान को अपना विषय बनाता है, फलतः, विषयज्ञान में होने वाला अर्थाभास और विषयज्ञानज्ञान में होने वाला अर्थाभास दोनों समान हो जायेंगे और परिणामस्वरूप विषयज्ञान और विषयज्ञानज्ञान दोनों एक हो जायेंगे। पुनश्च, यदि, ज्ञान केवल स्वाभासरूप हो, तो विषयज्ञान और विषयज्ञानज्ञान में होने वाला स्वाभास का एक ही अर्थ होगा और साथ ही विषयज्ञानज्ञान और उसमें होने वाला स्वाभास दोनों एकार्थक होंगे; तो भी, चूँकि, ज्ञान जो अर्थ के आकार को अपने अन्तर्गत धारण नहीं करता, सभी कालों में वैसा ही बना रहता है, अतः, विषयज्ञान में होने वाला स्वाभास और विषयज्ञानज्ञान में होने वाला स्वाभास एकार्थक होंगे। परिणाम यह होगा कि विषयज्ञान और विषयज्ञानज्ञान में कोई विशिष्टता नहीं रहेगी।

उपर्युक्त कारण से ही आचार्य धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्तिक में, लिखते हैं कि 'यदि प्रथम अर्थज्ञान अर्थाकार रहित होने से अनुभव रूप ही है, तो, इसको विषय करने वाला द्वितीयज्ञान भी एकअनुभव रूप में ही व्यवस्थित रहेगा, तब परामर्शचित्त से इसमें कोई भेद नहीं रहेगा और विषय और ज्ञान के ग्राहक रूप से उसकी भेदव्यवस्था नहीं होगी, अर्थात्, ज्ञान का ग्राहक जो तृतीय ज्ञान है उससे द्वितीय ज्ञान का कोई भेद न रहने के कारण विषयज्ञान और विषयज्ञानज्ञान में भेदव्यवस्था नहीं होगी। वे पुनः लिखते हैं कि 'चूँकि बुद्धि के निराकार होने में यह दोष है, इसलिए अर्थसंसर्ग वाली द्वितीय बुद्धि सामने नीलादिरूप से भासमान अर्थबुद्धि को अपना विषय बनाती है। इसी प्रकार हम चतुर्थ, पंचम और उनके बाद होने वाले ज्ञानों को, अपने पूर्ववर्ती ज्ञानों से, तभी विलग कर सकते हैं, जब यह स्वीकार किया जाय कि ज्ञान द्विरूप होता है।'⁶⁸

ज्ञान के आकार-प्रचय का सिद्धान्त

द्वितीय, तृतीय, चतुर्थादि ज्ञान का निर्माण 'आकार-प्रचय' के द्वारा होता है,

अर्थात्, प्रथम, द्वितीय इत्यादि में एक-एक आकार को जोड़ने से होता है। आचार्य धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक में स्मृति-चिन्ता के प्रसंग में इसे बतलाते हुए लिखते हैं कि, स्मृति विषयाकार हो और अनुभव या ज्ञान अनाकार हो, ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि, स्मरणज्ञान के द्वारा अनुभवज्ञान अर्थाकार और अनुभवाकार सहित ही स्मरण किया जाता है। स्मरणज्ञान, अनुभवज्ञान तथा विषयाकारतया अनुभवाकार इन उभयधर्मों को विषय बनाता है और अनुभवाकार से उसमें विषयाकार का विशेष है। पुनश्च, यदि, अनुभवज्ञान दो आकारों से रहित होता, तो, उसको ग्रहण करने वाले स्मरणज्ञान में वह दो आकार वाला कैसे प्रतीत होता? इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि उत्तर-उत्तर ज्ञान अपने पूर्व-पूर्व ज्ञान से एक-एक आकार से अधिक प्रतीत होता है।⁶⁹ आचार्य प्रज्ञाकर अपने भाष्य में स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि उत्तरवर्ती ज्ञान और फिर इसका उत्तरवर्तीज्ञान अपने से पहले वाले ज्ञान से एक-एक आकार से अधिक होता है, किसी अन्य तरह से नहीं; अर्थात्, पहले के ज्ञान के द्वारा नीलका ग्रहण हुआ था, फिर उसके बाद के ज्ञान के द्वारा नीलज्ञान का ग्रहण, फिर उसके बाद वाले ज्ञान से नीलज्ञानज्ञान का ग्रहण और फिर उसके बाद वाले से नीलज्ञानज्ञान के ज्ञान का ग्रहण होता है, ऐसा निश्चित हुआ।⁷⁰

आचार्य कुमारिल चूँकि यह मानते हैं कि ज्ञानों में भिन्नता विषय में भिन्नता के कारण होती है (= ग्राह्यभेदनिबन्धनः संवित्तिभेदः) अतः, वे 'आकार-प्रचय' के सिद्धान्त को स्वीकार करने की आवश्यकता को नहीं मानते। किन्तु, बौद्धों का कहना है कि सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं। ज्ञान द्वारा ज्ञात वस्तु द्वितीय क्षण में ज्ञान के उत्पन्न होने के पहले ही विनष्ट हो जाती है। अतएव, जो लोग यह मानते हैं कि बाह्य वस्तु निराकार ज्ञान में उपस्थापित या प्रतिरूपित होती है उनके अनुसार पूर्वज्ञान का आकार तत्पश्चात्भावी ज्ञान में कभी भी उद्भासित नहीं होगा। किन्तु उपर्युक्त तथ्य हमारे अनुभव के विपरीत है। एम० हतोरी कहते हैं कि, जब यह स्वीकार कर लिया गया है कि ज्ञान द्विरूप है, तो, पश्चात्भावीज्ञानों की संरचना को हम गणित के सूत्रों से अभिव्यक्त कर सकते हैं।⁷¹ अतः, यह स्पष्ट है कि विषयज्ञान में अर्थाभास, विषयज्ञानज्ञान और तत्पश्चात्भावी अन्य ज्ञानों में, आभासित होता है।

'आकारप्रचय' की समस्या 'विषयान्तरसंचार' के प्रसंग में भी आती है, जिसकी प्राप्ति हमें धर्मकीर्ति तथा शांतरक्षित के ग्रंथों में भी होती है और उसके द्वारा बौद्ध स्वसंवेदन की भी सिद्धि करते हैं। आचार्य धर्मकीर्ति इससे संबंधित बहस को विकसित करते हुए बतलाते हैं कि यह ध्यान में रखते हुए कि हम एक अर्थ या विषय से दूसरे विषय पर ज्ञान के संचरण को स्वीकार करते हैं, ज्ञान की संतति एक निश्चित बिन्दु

पर आकर अपश्य ही समाप्त होनी चाहिए। यदि, यह स्थिति है, तो, ज्ञान की संतति में जो अंतिम है वह अन्य ज्ञान के द्वारा ज्ञात नहीं हो पाता है। धर्मकीर्ति का यह कहना है कि यह निष्कर्ष मान्य नहीं हो सकता। चूँकि, सभी ज्ञान एक ही प्रकृति वाले हैं, अतः, अंतिम ज्ञान को भी अवश्य ही ज्ञात होना चाहिए, जिससे कि इसका स्मरण हो सके, स्मृति में प्रत्याह्वान हो सके। यदि, विरोधी यह आग्रह करें कि अंतिम ज्ञान अन्य ज्ञान के द्वारा ज्ञात नहीं होता है, तो, उसे यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि कोई भी ज्ञान अन्य ज्ञान के द्वारा ज्ञात नहीं होता है। परिणाम यह होगा कि उसे ज्ञान के स्मरण होने के तथ्य को भी अस्वीकार करना चाहिए। यदि, विरोधी यह कहे कि अंतिम ज्ञान अपने द्वारा ही ज्ञात होता है, तो, वह स्वसंवेदन को स्वीकार कर लेगा। उनके ही शब्दों में — 'विषयान्तरसंचरण काल में विषयान्तरसंचार काल से पूर्व जो अन्तिम ज्ञान है यदि, उसका अनुभव नहीं होता है, तो, परानुभूत ज्ञान की तरह सभी अर्थों और ज्ञानों की अननुभूति का प्रसंग उपस्थित होगा। जिस प्रकार, अन्य पुरुष द्वारा अनुभूत अर्थ और ज्ञान का अनुभव दूसरे पुरुष द्वारा नहीं होता, उसी प्रकार, अन्तिम ज्ञान के अभाव में पूर्ववर्ती अर्थ और ज्ञान का भी अनुभव नहीं होगा।'⁷² यदि, कहा जाय कि जो आत्मानुभूत है वह प्रत्यक्ष है, परानुभूत नहीं, तो, अन्त्यज्ञान के अनुभव में अर्थज्ञान का अनुभव नहीं होगा और अर्थज्ञान के अनुभव के अभाव में अर्थ का भी अनुभव नहीं होगा।⁷³ पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि जैसे, चक्षुरादि के अनुभव के अभाव में भी रूपादि का अनुभव हो जाता है, उसी प्रकार, ज्ञानानुभव के अभाव में भी अर्थज्ञान हो जायेगा। आचार्य धर्मकीर्ति इसका खण्डन करते हुए बतलाते हैं कि अर्थ का दर्शन होने पर भी अर्थदर्शन के कारण चक्षुरादि के दर्शन न होने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि, कारणदर्शनपूर्वक, कार्यदर्शन नहीं होता है। अभिव्यक्ति या उपलब्धि से अर्थ को व्यक्त करने वाले ज्ञान की असिद्धि मानना ठीक नहीं है। यदि, उपलब्धि की असिद्धि होने पर भी वस्तु को ज्ञात माना जाता है, तो, सम्पूर्ण जगत ज्ञात हो जायेगा। किन्तु, वस्तु तथ्य यह है कि सत्ता मात्र से किसी अर्थ की प्रतीति होने की बात नहीं कही जाती, अपितु, प्रतिपत्ति के संयोग से अर्थ के प्रतीत होने को कहा जाता है। यह भी ध्यानीय है कि मात्र ज्ञान की सत्ता से भी अर्थ की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि, ऐसा न होने पर परचित्त ज्ञान से भी संवेदन का प्रसंग उपस्थित होगा। अतः, बौद्धों का कहना है कि ज्ञान के अनुभव से अर्थप्रतीति की बात कहनी चाहिए। ज्ञान का अन्य ज्ञान से संवेदन मानना उपपन्न नहीं है। अतः, सिद्ध हुआ कि उसे स्वभावतः स्वयंप्रकाश मानना चाहिए।⁷⁴

स्मृति के द्वारा स्वसंवेदन की सिद्धि

आचार्य दिग्नाग ने प्रमाणसमुच्चय में (1/11) द्विरूपता की सिद्धि स्मृति के आधार पर भी की जिसे हम पहले भी देख चुके हैं और यह भी देख चुके हैं कि ज्ञान की द्विरूपता से स्वसंवेदन भी सिद्ध होता है। वहाँ जो तर्क दिग्नाग प्रस्तुत करते हैं उससे वे प्रधानतया यह सिद्ध करना चाहते हैं कि ज्ञान अर्थाकार को अपने में ही धारण करता है। स्मृति की व्याख्या के प्रसंग में धर्मकीर्ति और अन्य बौद्ध भूतकालीन ज्ञान की स्मृति द्वारा यह प्रमाणित करते हैं कि अर्थाकार के साथ ही साथ ज्ञान का स्वाकार भी होता है। पूर्व अनुभव के संस्कार द्वारा स्मृति उत्पन्न होती है। स्वचेतन ज्ञान के द्वारा बाह्य पदार्थ का ज्ञान होता है, ऐसा मानने वाले निराकारज्ञानवादी 'मुझे स्मरण है कि मुझे इस वस्तु का स्मरण हुआ था' इस आकार वाले भूतकालीन ज्ञान की स्मृति की व्याख्या नहीं कर सकते। कारण यह है कि उनके अनुसार, चूँकि ज्ञान का पूर्व अनुभव नहीं हुआ है, अतः वह स्मृति का उदय करने में समर्थ संस्कार को नहीं छोड़ सका होगा। केवल यह स्वीकार करके ही भूतकालीन ज्ञान की स्मृति का विश्लेषण संभव है कि ज्ञान स्वसंवित्त्वात्मक या स्वयंप्रकाश होता है।⁷⁵

स्वसंवेदन का विरोध करने वाले बाह्यार्थवादी इस बात को नहीं मानते। उदाहरणार्थ, कुमारिल के लिए स्मृति केवल वस्तु या विषय की होती है, ज्ञान की नहीं। भूतकालीन ज्ञान का अर्थापत्ति के द्वारा वस्तु की स्मृति से, मात्र अनुमान किया जाता है। आचार्य कुमारिल 'शून्यवाद' नामक प्रकरण में दिग्नाग के तर्कों पर प्रहार करते हैं और कहते हैं कि प्रथम, द्वितीय, तृतीय इत्यादि क्रम से ज्ञान की अनंत संतति के स्मरण होने की बात साधारण व्यक्ति के अनुभव के विपरीत है। वे अपने 'ज्ञाततावाद' के द्वारा स्मृति का विश्लेषण करते हुए बतलाते हैं कि वस्तु का ज्ञान होने के तत्क्षण बाद ही अर्थापत्ति के माध्यम से ज्ञातता के द्वारा ज्ञान का अनुमान किया जाता है कि यदि, कोई ज्ञान नहीं रहा होता, तो, 'ज्ञातता' नहीं हो सकी होती। इस प्रकार कुमारिल के अनुसार विषयज्ञान 'ज्ञातता' के द्वारा ज्ञात होता है। अर्थात्, विषयज्ञान पर 'ज्ञातता' उत्पन्न होती है। इसके अनन्तर अर्थापत्ति के माध्यम से, इस 'ज्ञातता' के द्वारा विषयज्ञानज्ञान का अनुमान किया जाता है। उनके अनुसार जब तक, ज्ञाता ज्ञान को ग्रहण करने का प्रयास करता है, तब तक, कुछ विशेष संख्या में ज्ञान, प्रत्येक अपने से पहले आने वाले ज्ञान का ज्ञान रखते हुए उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार, जितने ज्ञान ज्ञात हो चुके रहते हैं उनका बाद में स्मरण किया जा सकता है, किन्तु, अनन्त संतति का नहीं।⁷⁶ कुमारिल बौद्धों के इस मत से भी असहमति प्रकट करते हैं कि वस्तु के स्मरण के समान ही ज्ञान का भी स्मरण होता है। उनके अनुसार जिसका भी स्मरण

होता है वह सर्वदा वस्तु ही होती है, किसी ज्ञान का स्मरण नहीं होता। वस्तु के स्मरण से, अर्थापत्ति के द्वारा पहले के ज्ञान का अनुमान किया जाता है कि यदि, यह ज्ञान पहले ज्ञात हुआ नहीं रहता, तो, इसका कोई स्मरण भी नहीं रहता। इस प्रक्रिया के द्वारा ही भूतकालीन ज्ञान का स्मृति में आटवान हो पाता है।⁷⁷

नैयायिकों के परसंवेदनवाद की आलोचना करते हुए धर्मकीर्ति बतलाते हैं कि नीलादि विषयज्ञान का अनुभव ज्ञानान्तर से मानने पर ज्ञानान्तर में भी जो स्मृति देखी जाती है वह स्वसंवेदन को बिना माने नहीं हो सकती, क्योंकि, ज्ञान के ज्ञान का वेदन अन्य तृतीय ज्ञान से मानने पर यह प्रश्न होगा कि उसका वेदन किससे होता है? यदि, स्ववेदन से ही उसका वेदन होता है, तो, पूर्व ज्ञानों का वेदन भी स्वसंवेदन से हो जाएगा, फलतः, अन्य के द्वारा वेदन मानना व्यर्थ है। यदि, नैयायिक यह मानें कि तृतीय ज्ञान का वेदन भी अन्य के द्वारा होता है, तो, एक अनंतश्रृंखला को कौन उत्पन्न करता है? अर्थ, इन्द्रियादि का अर्थज्ञान मात्र को उत्पन्न करने में सामर्थ्य होता है। अतः, वह ज्ञानमाला को नहीं उत्पन्न कर सकता है। यदि, यह माना जाय कि वही पूर्वग्राह्यबुद्धि स्वग्राहक बुद्धि को उत्पन्न करती है और यह भी स्वग्राहक बुद्धि को और इस तरह प्रबंध की परम्परा चालू रहती है, तो, ऐसा मानने से बुद्धि का विषयान्तर में संचार नहीं होगा, अर्थात्, बुद्धि ज्ञान को ही ग्रहण करेगी, ज्ञान से अन्य अर्थ को नहीं।⁷⁸ पूर्वपक्ष से यह कहा जा सकता है कि प्रत्यासन्न अर्थ के द्वारा शक्ति का प्रतिबंध हो जाने के कारण पूर्व बुद्धि अर्थग्राहक बुद्धि को ही उत्पन्न करती है, स्वग्राहक बुद्धि को नहीं। आचार्य धर्मकीर्ति पूर्वपक्ष का खण्डन कर उत्तर में यह कहते हैं कि बुद्धि का स्वभाव स्वग्राहक बुद्धि को उत्पन्न करने का है। अपने ज्ञान को उत्पन्न करने में चक्षु, मनस्कार आदि की अपेक्षा रखने के कारण अर्थ बहिरंग है। ऐसा बहिरंग अर्थ स्वग्राहकज्ञान को उत्पन्न करने में प्रवृत्त बुद्धि को कैसे रोक सकता है, जिससे बुद्धि का विषयान्तर में संचार हो? पुनश्च, बाह्य अर्थ सन्निहित होकर भी ज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ बुद्धि का प्रतिघात करने में समर्थ नहीं है, अन्यथा, अर्थ की सन्निधि में अर्थज्ञान की ही उत्पत्ति होगी और ज्ञान के ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होगी और फलतः, कोई भी व्यक्ति ज्ञान का अनुभव नहीं कर सकेगा। इसके अतिरिक्त, धर्मकीर्ति के अनुसार कोई भी अवस्था ऐसी नहीं है जहाँ अर्थ सन्निहित हो और उसमें ज्ञान का ज्ञान तो उत्पन्न हो, किन्तु अर्थज्ञान न उत्पन्न हो। अगर, ऐसी अवस्था का अभाव माना जाय, तो, ज्ञान का अनुभव नहीं होगा और अनुभव के अभाव में स्मृति भी नहीं होगी, क्योंकि, ज्ञान के कारण का मूल बुद्धि का अनुभव है, अतः, ज्ञान के अनुभव के अभाव में स्मरण नहीं हो सकता। अतः, स्वसंवेदन सिद्ध है।⁷⁹

न्याय-वैशेषिकादि के अभिमत को और खण्डित करते हुए धर्मकीर्ति बतलाते हैं कि प्रत्यक्ष के विषयभूत अर्थ में ज्ञान का संचार हो भी जाय, किन्तु, अतीत एवं अनागत विकल्पों का विषयभूत अर्थसंचार कैसे होगा? जिन अतीतादि अर्थ को विषय करने वाले विकल्पों में अर्थ की सन्निधि नहीं है, वहाँ विषयान्तर में संचार का कारण अर्थ के न होने से, अतीतादि अर्थ का चिन्तन ही समाप्त हो जायेगा। विपक्ष कह सकता है कि पूर्वज्ञानों के स्वग्राहक ज्ञान की जननशक्ति का क्षय हो जाने के कारण ज्ञानग्राहकज्ञान की उत्पत्ति न होने से ज्ञान का विषयान्तर में संचार हो जाता है। इस पर धर्मकीर्ति का कहना है कि पूर्वज्ञान की शक्ति का क्षय हो जाने पर अर्थग्राहक बुद्धि की उत्पत्ति कैसे होगी? यदि, पूर्व बुद्धि अशक्त होने से स्वग्राहक बुद्धि उत्पन्न करने में असमर्थ है, तो, वह अर्थज्ञान को भी उत्पन्न नहीं कर सकती। विपक्षी कह सकता है कि आप विज्ञानवादी यह मानते हैं कि 'आलयविज्ञान' से छः प्रवृत्ति विज्ञान उत्पन्न होते हैं। फलतः, अन्य अर्थ में आसक्ति से पूर्वज्ञान में वैगुण्य होने पर भी आलयविज्ञान के अनन्तर प्रवृत्तिविज्ञान उत्पन्न हो जायेंगे, क्योंकि, आलयविज्ञान की शक्ति अव्याहत है। इस आशंका पर धर्मकीर्ति का उत्तर है कि यह सत्य है कि 'आलयविज्ञान' से एक साथ छः विजातीय विज्ञानों की उत्पत्ति हो जाती है, किन्तु, स्वविषय में आसक्त पटु चित्त के द्वारा 'आलयविज्ञान' में विषयान्तर ज्ञान को उत्पन्न करने के प्रति वैगुण्य उत्पन्न कर देने के कारण उस 'आलयविज्ञान' से विषयान्तरग्राह्य ज्ञान की उत्पत्ति संभव नहीं है। यह भी ध्यानीय है कि 'आलयविज्ञान' के होने मात्र से प्रवृत्तिविज्ञान उत्पन्न नहीं होते, अपितु, वे मनस्कार, सादगुण्य की अपेक्षा रखते हैं। तात्पर्य यह है कि मनस्कार की अनुकूलता की अपेक्षा से ही 'आलयविज्ञान' से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि इन ज्ञानों को भी पूर्वज्ञान की अपेक्षा होती है। यदि, उत्तरज्ञानों की उत्पत्ति में वैगुण्यरहित पूर्वज्ञानों की अपेक्षा न हो, तो, 'आलयविज्ञान' से इन्द्रियज्ञानों की तरह विकल्प ज्ञान भी एक साथ उत्पन्न होने लगेंगे।⁸⁰

न्याय-वैशेषिकों का कहना है कि मन नित्य, एक और अणुपरिणामवाला है। जब, वह इन्द्रिय से सम्बद्ध रहता है, तब उसकी इन्द्रियान्तर में गति नहीं होती है। इसी कारण उस समय विषयान्तरजन्य ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है। किन्तु, उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि, किसी अवस्था विशेष में अनेक विषयों का सन्निपात होने पर चक्षुरादि ज्ञानों का एक साथ उदय देखा जाता है। वैशेषिक पक्ष में एक दोष यह भी है कि आत्मा और मन के संयोगमात्र से जन्य विषयनिरपेक्ष सुखादिज्ञानों की उत्पत्ति एक साथ हो जायेगी, क्योंकि, इन्द्रिय और मन का संयोगविशेष उनका नियामक नहीं है, फलतः, रूपादिज्ञानों की तरह सुखादि ज्ञानों में इन्द्रिय और मन के संयोग विशेष से प्रतिनियम नहीं बतलाया जा सकता। पुनश्च, यह भी प्रश्न है कि

नित्यमन एक साथ सभी ज्ञानों को उत्पन्न करने में समर्थ है अथवा नहीं? यदि समर्थ है, तो एक साथ सभी ज्ञानों को उत्पन्न कर देगा और यदि, असमर्थ है, तो क्रम से भी उन्हें उत्पन्न नहीं कर सकेगा। यदि, पूर्वपक्ष से यह माना जाय कि पूर्व बुद्धि से संस्कार उत्पन्न होता है, तो, हमें यह इष्ट है, क्योंकि, बुद्धिरूप वासनासंज्ञक संस्कार का पूर्वबुद्धि से जन्म हम मानते हैं।⁸¹

पूर्वपक्ष का कहना है कि ज्ञान की दो शक्तियाँ हैं— (क) जनन शक्ति और (ख) ग्राह्यता शक्ति। इनमें से ग्राह्यता शक्ति की हानि होने से जननशक्ति मात्र शेष रह जाती है। उत्तर में धर्मकीर्ति कहते हैं कि ज्ञानरूप कार्य को उत्पन्न करना जिनका स्वभाव है ऐसे पूर्वज्ञान में ग्राह्यता शक्ति की हानि नहीं हो सकती, क्योंकि, ग्राह्यता लक्षण उनमें विद्यमान है। ग्राह्यलक्षणइन्द्रियज्ञान के उपलब्ध होने पर ग्राह्यता का अन्य कोई साक्षात्जनन नहीं है। उत्तरोत्तर ज्ञान का जो साक्षात् जनन है वही तद्ग्राह्यत्व है। अतः, जनन का सत्त्व होने पर ग्राह्यत्व की हानि नहीं है। दृश्यमान रूपादि, जो ग्राहक बुद्धि के उपकारक होते हैं वे साक्षात्जनन से अन्य किसी प्रकार से उपकारक नहीं होते। अतः, रूपादि में साक्षात् जनकत्व को छोड़कर अन्य कोई ग्राह्यत्व का नियम नहीं है। साक्षात् जनकत्वलक्षणवाला ग्राह्यत्व बुद्धि में भी है। उत्तरबुद्धि की जनक होने से उसमें ग्राह्यत्व सिद्ध है। रूपादि में कारणत्व होने पर भी देशादि का अविप्रकर्ष और चक्षुरादि के उपयोग की अपेक्षा से बुद्धिग्राह्यता होती है। चित्त में तो देशादि के विप्रकर्ष का अभाव होने से और चक्षुरादि में उपयोग का अभाव होने से ग्राह्यज्ञान में ग्राहकज्ञान के प्रति उपादानकारणता और अनुभवात्मता ये दोनों हैं और ये ग्राह्य के लक्षण हैं, अर्थात्, स्वसंवेदन स्वभाव होने पर उत्तरबुद्धि के प्रति उपादान कारणता ही उत्तरबुद्धि के द्वारा ग्राह्यता है।⁸² उपर्युक्त सारी विवेचना के आधार पर हम कह सकते हैं कि जहाँ तक प्रथम ज्ञान का उत्तरवर्तीज्ञान में प्रत्याह्वान होता है यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि प्रथम ज्ञान उत्तरवर्ती ज्ञान से किसी रूप में ज्ञात हो जाता है। यदि कोई यह मानता है कि एक ज्ञान दूसरे ज्ञान द्वारा ज्ञात होता है, तो, उससे यह अनिवार्यतः फलित होता है कि द्वितीय ज्ञान तृतीय ज्ञान द्वारा तथा तृतीय ज्ञान चतुर्थज्ञान द्वारा ज्ञात होता है और इस प्रकार की परम्परा चलती रहती है, क्योंकि, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थादि भी बाद में प्रत्याहूत होते हैं। इस प्रकार, नैयायिक अपरिहार्यरूपेण इस निष्कर्ष की ओर ले जाये जाते हैं कि वस्तु के मात्र एक ही ज्ञान से ज्ञान की एक अनंत धारा प्रवाहित होती है।⁸³

धर्मकीर्ति द्वारा स्वसंवेदन की सिद्धि

‘स्वसंवेदन विचार’ का श्रीगणेश करते हुए धर्मकीर्ति घोषित करते हैं कि—

इस प्रसंग में दिग्नाग की ही भांति वे यह घोषित करते हैं कि ज्ञानों में द्वैरूप्य की सिद्धि कर देने से प्रायः ज्ञान में स्वसंवेदन सिद्ध है। वे मानते हैं कि द्विरूपज्ञान की उत्पत्तिकाल में ज्ञान के स्वरूपभूत आकार का संवेदन देखा जाता है। उनका कहना है कि ज्ञान प्रकाश का नाम है और ज्ञानप्रकाश ही अर्थ-प्रकाश है। स्व-परकाल में यदि उसका होना न माना जाय, तो फिर, किसी का भी प्रकाश नहीं होगा। यदि, बुद्धि का ग्राह्य किसी अन्य बुद्धि को माना जाय, तो वह रूपादि बुद्धि की तरह बहिर्मुखावभासिनी होगी, किन्तु अन्य के द्वारा गृह्यमाण अन्य वस्तु अबहिर्भाव रूप से नहीं जानी जा सकती। बुद्धि की प्रतीति तो, सदा अन्तर्भावेन होती है। यह स्थिति तो स्वसंवेदनता में ही बन सकती है। यदि, बुद्धि दूसरी बुद्धि की ग्राहक हो, तो नीलादि की तरह स्मर्यमाण होकर और अतीत स्वबुद्धि की तरह बाह्यरूप से उसे प्रतिभासित होना चाहिये। स्वसंवेदनता के अभाव में यह तात्पर्य निकलेगा कि जिस ज्ञान का जो विषयाकार है वह ज्ञान स्वाकार समर्पक विषय को नहीं जानता है, क्योंकि, विषयरूप आत्मा के अवेदन में विषय का भी अवेदन है और ज्ञान के परोक्ष होने से अर्थ भी परोक्ष सिद्ध होगा। कारण यह है कि अर्थ स्वरूप बुद्धि के वेदन के अतिरिक्त अर्थ की और कौन सी संविति है? स्वसंवेदन के अभाव में ताद्रूप्य (= विषयसारूप्य) मात्र मानने पर यमलकादि जैसों का परस्पर में संवेदन प्राप्त होगा। यदि कहा जाय कि सदृश होने से ही अनुभव नहीं होता है, किन्तु स्वरूपबुद्धि अर्थ का वेदन कहलाती है, तो, ऐसा मानने पर सारूप्यवेदन का लक्षण नहीं हो पाता। अनुभवरूपता ही वेदन का लक्षण है।⁸⁵

बुद्धि में स्वभावभूत विषयाकार की संविति होती है। उस विषयाकार संविति का बहिरर्थों में आरोपरूप भ्रान्ति के कारण नीलादि के अनुभव का व्यवहार लोक में होता है, न कि ज्ञान से भिन्न अर्थ का साक्षात् अनुभव होने से अर्थ के अनुभव का व्यवहार होता है। यहाँ दो विकल्प संभव हैं— बुद्धि नीलादिरूप है या अनीलादिरूप। यदि, परमार्थतः बुद्धि नीलादिरूप है तो, स्वरूप से अदृश्य बाह्य अर्थ की सत्ता में क्या प्रमाण है? दो आकारों का वेदन तो होता नहीं है, जिससे एक बाह्य का हो और दूसरा ज्ञान का हो; और यदि बुद्धि अनीलादिरूप है, तो, अर्थाकार से रहित अनुभव नील का ग्राहक कैसे हो सकता है? जब ज्ञान में अपरोक्षत्व-सारूप्यनिबन्धन नहीं है, तब स्वयं ही प्रकाशरूप से उत्पन्न होने के कारण उसमें संवेदनात्मत्व सिद्ध है। इसलिए अर्थ के द्वारा ज्ञान में क्या आता है जिससे वह उसका वेदन कहलाता है? ज्ञान को अपने

प्रकाश में अर्थ की अपेक्षा नहीं है और न वह अपने से अतिरिक्त किसी को जानता है। तब, उसके द्वारा अर्थवेदन कैसे कहा जाता है? ज्ञान यदि, अर्थाकार होता है, तो, (क) सर्वात्मना होता है, या (ख) एकदेश से होता है? (क) सर्वात्मना साम्य मानने पर जड़त्वादि के द्वारा भी साम्य होने से अज्ञानत्व का प्रसंग आ जायेगा और दो जड़ों में ग्राह्य-ग्राहकभाव हो नहीं सकता। (ख) किसी एक अंश (देश) से भी साम्य नहीं है। नीलत्वादि एकदेश से साम्य मानने पर सभी ज्ञानों से सभी अर्थों का वेदन हो जायेगा; अथवा सभी नीलज्ञान सभी नीलों का वेदन हो जायेगा। पुनश्च, जिस प्रकार ज्ञान, के नीलादिरूप होने से नीलादि का अनुभव माना गया है, उसी प्रकार, अनुभव रूप होने से अर्थ को विषय करने वाले पूर्वज्ञान का अनुभव उत्तरज्ञान को होगा। अनुभव अनुभूत है, ऐसा, अर्थ की तरह, अनुभव में निश्चय नहीं होता है। इसलिए, अनुभव का ग्राह्य अनुभव है, ऐसा दोष नहीं है। ऐसा मानने पर आचार्य कहते हैं कि केवल अनुभव में नहीं, किन्तु अर्थ में भी अनुभूतत्व का निश्चय सर्वदा नहीं होता है। धारावाही अर्थज्ञान के होने पर अर्थों में प्रतिक्षण अनुभूत निश्चय नहीं होता है। इसलिए, अर्थ भी अनुभूत नहीं होगा। अनुभव में अनुभूत निश्चय की सत्ता का कारण सारूप्य और तदुत्पाद होने पर अनुभूत निश्चय क्यों नहीं होता है? अर्थ में भी अनुभूत निश्चय का कारण सारूप्य और तदुत्पत्ति ही है और यह अनुभव में भी प्रमाण है।^{१०}

स्वसंवेदन न मानने पर दो विकल्प हो सकते हैं— (क) सितादि के दृश्यमान होने पर सितादि की अभिव्यक्ति रूप जो अन्तःप्रकाशमान संवेदन प्रतिपत्ता को स्पष्ट प्रतिभासित होता है वह सितादि की अभिव्यक्ति का पररूप है, (ख) उसका आत्मभूत है। पररूप मानने पर जो संवेदन प्रकाशित होता है वह सितादिव्यक्तिरूप नहीं है, इस प्रकार शुक्लादिव्यक्ति के अप्रकाशरूप होने पर सित व्यक्त कैसे हो सकता है? व्यक्ति (= अभिव्यक्ति) ज्ञानरूप होती है और यदि, वह अव्यक्त है, तो, अर्थ व्यक्त कैसे हो सकता है? इस स्थिति में सकलजगत् अव्यक्त हो जायेगा। इसके अतिरिक्त, व्यक्ति की दूसरे व्यक्ति से व्यक्ति मानने पर उसकी भी अन्य व्यक्ति से व्यक्ति होगी, फलतः, अनवस्थादोष प्रसक्त होगा। 'आचार्य प्रज्ञाकर' इसीलिए, लिखते हैं— "तस्मात्तत्स्वरूपमेव प्रतीयमानमभिव्यक्तियुक्तमेव प्रतीयते; अन्यथाभिव्यक्तमेतदिति न स्यात्प्रतीतिः"। पुनश्च, 'दृष्टोऽयमर्थः' जब ऐसा कहा जाता है, तो, वहाँ दृष्टि विशेषण है और अर्थ विशेष्य है। यदि, ज्ञान अस्वसंविदित हो, तो, प्रतिपत्ता ऐसी दृष्टि से अज्ञात सम्बन्ध वाले अर्थ को विशिष्ट नहीं कर सकता। दृष्टि के साथ अर्थ का अज्ञातसम्बन्ध इसलिए है, क्योंकि, अर्थ और ज्ञान दोनों में से एक के दर्शनकाल में दूसरे का दर्शन नहीं है और 'यह दृष्ट है' ऐसा निश्चय तब हो सकता है, जब संसृष्ट अर्थ और ज्ञान दोनों की उपलब्धि हो। विरोधी कहते हैं कि अर्थाकार आत्मवेदन से 'दृष्टोऽर्थः' ऐसा व्यवसाय नहीं होता,

अपित् संवेदनान्तर से होता है, अतः जिस अर्थ का अर्थाकार (= स्वरूप) ज्ञान अन्यज्ञान से जाना जाता है, उस अर्थ में 'दृष्टोऽर्थः' यह व्यवहार होता है। धर्मकीर्ति का इस पर कहना है कि ज्ञान का अर्थ के साथ सारूप्य सिद्ध होने पर स्वयंसंवेदीज्ञान सिद्ध हो जाता है। यदि, ज्ञानकाल में स्पष्टवेद्यमान अर्थाकार ज्ञान की आत्मा है, तो ज्ञान भी, अर्थाकार की भाँति, स्वभाव से अपरोक्ष है। इस प्रकार, वह अन्य के द्वारा वेद्य नहीं है। पुनश्च, यदि ज्ञान अपने स्वरूप को नहीं जानता, तो, वह पररूप (= बाह्यार्थ) का वेदक कैसे हो सकता है, क्योंकि, अर्थाकार के वेदन के बिना अर्थ का वेदन युक्त नहीं है। सारूप्यमात्र से अर्थ की संविति नहीं हो सकती, किन्तु, किसी ज्ञाता ने ज्ञान से पहले अर्थ को देखा नहीं है, तब, वह द्रष्टा होने के साथ अदृष्ट अर्थ के सारूप्य का निश्चय कैसे करेगा? जो वादी सारूप्य स्वसंवेदन नहीं मानता उसके यहाँ अर्थ और ज्ञान दोनों का ही दर्शन नहीं हो सकता। सारूप्य के अभाव में अर्थ का तथा स्वसंविति के अभाव में ज्ञान का संवेदन नहीं हो सकेगा, फलस्वरूप, समस्त जगत अन्धे और गूँगे के समान हो जायेगा, क्योंकि, अर्थ और ज्ञान के व्यवहार का कारण प्रतीति है और उनकी प्रतीति ही नहीं होती है, तो उनका व्यवहार कैसे होगा? यदि, सितादि की अभिव्यक्ति रूप स्फुटसंवेदन को बुद्धि का स्वरूप माना जाय, तो अपरोक्ष होने से वह स्वयं ही प्रकाशित होती है, ऐसा मानना पड़ेगा, क्योंकि, बुद्धि के परोक्ष होने पर अर्थ अप्रकाशित ही रहेगा। चूँकि, अर्थ प्रकाशित होता है, अतः, बुद्धि भी अपरोक्षस्वभाव है। इस प्रकार, स्वसंवेदन की सिद्धि होती है।⁸⁷

मीमांसकों के अभिमत को निरस्त करते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं कि जैमिनीय अर्थदर्शन की अन्यथानुपपत्ति से बुद्धि की व्यवस्था करते हैं। किन्तु, बुद्धि की परोक्षता में अर्थदर्शन ही असंगत है। अतः, बुद्धि के बिना अनुपपद्यमान अर्थदर्शन बुद्धि की कल्पना करने में समर्थ नहीं है। आचार्य कहते हैं कि आश्रय (इन्द्रियादि), आलम्बन (सुखादि) और अभ्यासभेद से सुख, दुःख, अभिलाषादि भेदवाले नाना संविदित आकार उत्पन्न होते हैं और बोधस्वभाव होने से वे बुद्धियाँ ही हैं। सुखादि ज्ञान से अभिन्नहेतुक हैं, अतः, वे प्रत्यक्ष हैं; सुखादि से भिन्न अन्य कोई बुद्धि का स्वरूप उपलब्ध नहीं होता है, जो ज्ञान हो। यदि, यह माना जाय कि सुखादि से उत्पन्न और सुखादि के प्रतिभासवाली बुद्धि सुखादि को भोक्तरूप से जानती है, अन्य बुद्धि नहीं, तो, भोक्तृसंतानवर्ती सुखादि का आलम्बन करने वाली पुरुषान्तर की बुद्धि में भी आलम्बनीय सुखादि की अपेक्षा ये दोनों (तज्जत्व और तत्प्रतिभासित्व) धर्म अवश्य हैं। अतः, पुरुषान्तर भी भोक्ता हो जायेगा। यदि, पूर्वपक्ष से यह कहा जाय कि पुरुषान्तर की बुद्धि भोक्ता के सुखादि से उत्पन्न नहीं होती है और न सुखादि के प्रतिभासवाली है, तो वह बुद्धि विषयरहित प्राप्त होगी, और ग्राह्य पररूप के अभाव में भी प्रकाशमान

होकर स्वप्रकाशरूप ही सिद्ध होगी। पूर्वपक्ष यह कह सकता है कि पुरुषान्तर की बुद्धि के द्वारा भोक्ता का सुख विशेष से गृहीत नहीं होता है, किन्तु, सामान्य मात्र का ग्रहण होता है। इस कारण, न तो पुरुषान्तर भोक्ता हो सकता है और न उसकी बुद्धि निरालम्बन। धर्मकीर्ति का उत्तर है कि भोक्ता के सुखादिविशेष का ग्रहण न होने पर उसमें समवाय सम्बन्ध से रहने वाला सामान्य भी गृहीत नहीं होता है। 'सामान्य वस्तु भी नहीं है, अतः, स्पष्टप्रकाशमान जो अर्थावभास है वह बुद्धिरूप ही है। अर्थावभास और ज्ञान में तादात्म्य होने से ज्ञान का प्रत्यक्षत्व और स्वसंवित्ति सिद्ध हो जाती है। पुनश्च, एक ही वस्तु को विषय करने वाले स्व और परसंतानवर्ती ज्ञानों में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्षरूप भेद कैसे होगा, क्योंकि, एक ही सुख को विषय करने के कारण दोनों को ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष होना चाहिए। यदि माना जाय कि शुभ-अशुभादि रूप अदृष्ट अथवा एकार्थसमवाय आदि निमित्त से स्वसंतानवर्ती सुखादिग्राहकसंवित्ति का नियम मानने से अन्य में भोक्तृता की प्राप्ति नहीं होगी, तो, इससे इतना ही सिद्ध होगा कि अदृष्ट से अथवा एकार्थसमवाय से नियमित सुखादि को अन्य ग्रहण नहीं करता है। किन्तु, स्वरूप का प्रतिभास होने पर भोक्तृत्व का प्रतिषेध नहीं हो सकता। आत्मा में समवाय होने मात्र से सुखादि का भोग नहीं होता है, किन्तु, उपलब्ध से सुखादि का भोग होता है और उपलब्ध पर को भी है, अतः, वह भी भोक्ता हो जायेगा। साथ ही, स्वरूप प्रतिभास एक प्रकार का होने से व्यक्ताव्यक्त रूप से ग्रहणभेद भी निराकृत हो जाता है।¹⁰⁰ सधारणजन और योगी में भेद मानते हुए आचार्य धर्मकीर्ति घोषित करते हैं कि प्रत्येक ज्ञान का आलम्बन और वेदन भिन्न होता है। अर्थसारूप्य उसका आलम्बन होता है और परनिरपेक्ष आत्मा उसका वेदन। अतः, ज्ञान की स्वसंवेदनता आवश्यक है, अन्यथा, प्रज्ञाकर के शब्दों में, 'सुखादिविभागासम्भवः' (सुखादि विभाग असंभव है)।¹⁰¹ बौद्ध ज्ञान को स्वसंवेदनता को अपरोक्ष मानते हैं, क्योंकि यदि, ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता है, तो किस लिंग से उसका ज्ञान होगा? लिंग या तो इन्द्रिय, विषय, अनन्तरबुद्धि अथवा मनस्कार होगा। इन्द्रिय लिंग नहीं हो सकता, क्योंकि, उसमें व्यभिचार पाया जाता है। अर्थ भी लिंग नहीं हो सकता, क्योंकि अर्थ का भी ज्ञान के साथ व्यभिचार पाया जाता है। बुद्धि और मनस्कार बोधस्वभाव होने से ज्ञान हैं, अतः, ज्ञान होने के पहले वे लिंग सिद्ध नहीं हो सकते, और जो असिद्ध है, वह लिंग नहीं हो सकता। सत्ता मात्र से लिंग होना मानने पर अतिप्रसंगदोष होगा। व्यक्ति अर्थ का ही स्वभावविशेष है, वह ज्ञान नहीं है और अर्थ में ही कोई विशेष है और इससे बुद्धि का अनुमान होता है, इन मान्यताओं का निरास करते हुए धर्मकीर्ति बतलाते हैं कि अनुमातापुरुष के आत्मभूत, ज्ञान-निरपेक्ष मात्र, अर्थधर्म से बुद्धि की अनुमिति संभव नहीं है, क्योंकि, ऐसा मानने पर सभी को स्वबुद्धि की अनुमिति का प्रसंग उपस्थित

होगा। यदि, यह नाना जाय कि कोई आत्मधर्म ही बुद्धि का गमक होता है, तो स्वबुद्धि से अन्य आत्मधर्म कौन हो सकता है; अर्थात् स्वबुद्धि ही आत्मधर्म है। आचार्य धर्मकीर्ति यह भी बतलाते हैं कि जो प्रत्यक्षाधिगत है वही हेतु होता है, जो अप्रतीत है, वह हेतु नहीं होता। आप विरोधी बुद्धि में प्रत्यक्षता मानते नहीं और बुद्धि से अतिरिक्त अन्य कोई आत्मधर्म भी प्रत्यक्ष नहीं है, अतः, बुद्धि का अनुमान नहीं हो सकता। हमारे विरोधी का यह भी प्रश्न है कि बुद्धि और आत्मधर्म का कारण एक है या भिन्न? यदि दोनों का कारण एक है, तो आत्मधर्म में बुद्धि से भेद कैसे होगा? अभिन्न हेतुक होने से दोनों में अभिन्नता ही होगी। यदि, आत्मधर्म का हेतु बुद्धि से भिन्न है, तो, भिन्न हेतुजन्य आत्मधर्म बुद्धि के अनुमान में व्यभिचारी होगा।⁹⁰

मीमांसकों के अभिमत (ज्ञानपरोक्षतावाद) की और आलोचना करते हुए धर्मकीर्ति बतलाते हैं कि रूप, रसादि पाँच विषय तथा चक्षुरादि पाँच इन्द्रियों और ज्ञान को छोड़कर बुद्धि का अन्य कोई कार्य उपलब्ध नहीं होता है। इनमें से, मीमांसकों के अनुसार, ज्ञान के अतिरिक्त इन्द्रिय भी अप्रत्यक्ष है, क्योंकि, ज्ञानान्यथानुपपत्ति से इन्द्रिय की व्यवस्था होती है। बुद्धि के अप्रत्यक्ष होने से रूपादि पाँच विषयों में एक का भी दर्शन नहीं होता है। ज्ञान के बिना रूपादि का सत्त्व संभव नहीं है। यदि, रूपबुद्धि से रूपादि की उत्पत्ति संभव होती, तो, रूपादि रूपबुद्धि का लिंग हो सकता था। जिसका बुद्धि के साथ अविनाभाव सिद्ध न हो उसे लिंग मानना अलौकिक बात है। अविनाभावरहित लिंग अदृष्ट अर्थ का प्रकाशक कैसे हो सकता है? उसी लिंग से ज्ञान में अन्वय की सिद्धि के लिए अनुमान से पहले उसका निश्चय मानने पर अन्वयसाधक अनुमान की भी सिद्धि अन्य अनुमानसाध्य दृष्टान्तान्तर से होगी। इस प्रकार, अनवस्था होगी और एक के असिद्ध होने पर सभी की असिद्धि का प्रसंग आयेगा। अतः, बुद्धि से अर्थ की सिद्धि होती है, किन्तु, अर्थ से बुद्धि की सिद्धि किसी भी प्रकार नहीं होती है। बुद्धि के असिद्ध होने पर अर्थ स्वयं ही असिद्ध है, तब वह लिंग कैसे हो सकता है? इसके अतिरिक्त, मीमांसकों के, यहाँ जो परचित्त का अनुमान इष्ट है, वह भी नहीं बनेगा, क्योंकि, अपने में चेष्टा आदि के साथ बुद्धि का सम्बन्ध न देखे जाने के कारण, चेष्टा आदि के द्वारा परचित्त का अनुमान कैसे होगा? पुनश्च, बुद्ध्यन्तर भी अप्रत्यक्ष है। तब उसके द्वारा बुद्धि प्रकाशित कैसे हो सकती है? जब लिंग और लिंगी दोनों अप्रकाशरूप होने से समान हैं, तब उनमें व्यङ्ग्य-व्यञ्जकता कैसे हो सकती है? इसके अतिरिक्त ज्ञान से विषय की व्यक्ति कैसे होगी? हमारे पक्ष में तो प्रकाशरूप ज्ञान में विषय का सारूप्य होने से ज्ञान से अर्थ प्रकाशित होता है, ऐसा कहा जाता है; और वह विषयरूप प्रकाश स्वयं ही प्रकाशित होता है, अन्य के द्वारा वह प्रकाशित नहीं

होता। पूर्वपक्ष से यह कहा जा सकता है कि बुद्ध्यन्तरमरूप उत्पन्न प्रकाशमान बुद्धि बुद्धि की व्यंजक होती है। धर्मकीर्ति इस पर कहते हैं कि व्यंजिका बुद्धि में संक्रान्त सारूप्य-प्रकाश द्वारा बुद्धि का वेदन मानने पर व्यंजिकाबुद्धि स्ववेदक ही सिद्ध होती है, क्योंकि, पूर्वबुद्धि की सरूपबुद्धि के स्वप्रकाश होने पर पूर्वबुद्धि प्रकाशित होगी। यदि, व्यंजिकाबुद्धि स्वप्रकाश न हो, तो, अप्रकाशस्वभाव होने से बुद्धि के साथ समान धर्म वाला विषय भी बुद्धि का व्यंजक हो जायेगा तथा समानधर्मवाले ज्ञान और विषय में परस्पर में व्यंजकता हो जायेगी। इसीलिए, हम बौद्ध यह मानते हैं कि ज्ञान स्वयं प्रकाश रूप उत्पन्न होकर प्रकाशित होता है। धर्मकीर्ति कहते हैं कि सारूप्य होने पर भी सरूपबुद्धि के द्वारा पूर्वबुद्धि प्रकाश्य नहीं मानी गयी है, क्योंकि, जो स्वयंप्रकाशस्वभाव है, उसका पर से प्रकाश नहीं होता, किन्तु, प्रकाशस्वभाव होने से स्वयं प्रकाशित होता है।⁹¹

पूर्वपक्ष से यह प्रश्न उठाया जाता है कि अप्रकाशरूप अर्थ का प्रकाश कैसे होता है? धर्मकीर्ति का उत्तर है कि अर्थसारूप्य-संक्रान्ति के द्वारा ज्ञानरूप से प्रकाशित होता है, न कि साक्षात् स्वरूप से। जैसे, प्रकाशस्वरूप दो दीपों में प्रकाश्य-प्रकाशकभाव नहीं है, उसी प्रकार दो बुद्धिओं में भी समझना चाहिए और जैसे प्रकाश और अप्रकाशस्वभाव दीप और घट में एक प्रकाशक है और दूसरा प्रकाश्य, उसी प्रकार, ज्ञान और अर्थ में भी समझना चाहिए। अतः, लोक में जो व्यंग्य-व्यंजक के भेद से व्यवहार होता है वह अप्रकाश और प्रकाशस्वभाव के आश्रय से होता है। चूँकि, विषयमात्र से, अथवा इन्द्रियमात्र से 'यह दृष्ट है' ऐसा निश्चय नहीं होता है और उन दोनों के अतिरिक्त ज्ञान से 'यह दृष्ट है' ऐसा निश्चय होता है, अतः, ज्ञान को अपरोक्ष मानना चाहिए। अतः, मीमांसकों का बुद्धिपरोक्षतावाद ठीक नहीं है।⁹²

स्वसंवित्ति की सिद्धि के लिए अन्य उपपत्ति

अतीतज्ञान की स्मृति होने से भी स्वसंवित्ति सिद्ध होती है। प्रतीत की ही स्मृति होती है, अप्रतीत की नहीं। यदि, ज्ञान की प्रतीति अन्य ज्ञान से मानी जाय, स्वसंवेदन से नहीं तो दीर्घ आदि स्वरों का ग्रहण नहीं हो सकता है। एक क्षणस्थायी ज्ञान अनेकक्षणों में बनने वाली दीर्घ आदि मात्राओं का ग्राहक नहीं हो सकता है। क्षणिकज्ञान तो अकारादि एक-एक मात्रा को ही क्रमशः ग्रहण करेगा, उनके संचयरूप दीर्घादि मात्रा को नहीं। एक-एक ज्ञान एक-एक मात्रा को क्रमशः ग्रहण करता है और प्रथम आदि ज्ञान उत्तरज्ञानों से अन्तरित हो जाता है, तब दीर्घादि मात्रा का ग्रहण किसके द्वारा होगा? पुनश्च, अनेकमात्राओं के काल में एक ही बुद्धि की स्थिति मानने

पर सब मात्राओं का एक साथ आभास होने से दीर्घादि वर्ण अक्रम और अदीर्घ हो जायेंगे। वस्तुव्यवस्था का कारण प्रतीति है। एक काल में जोर से उच्चारण किया गया एक मात्रा वाला वर्ण दीर्घ नहीं होता है। अवयव क्रम से उत्पन्न होने वाले क्रमवाले वर्ण दीर्घादि बुद्धि को उत्पन्न नहीं कर सकते हैं, क्योंकि, स्व-स्वकालस्थायी और परस्पर में सम्बन्धरहित वर्ण क्रमरहित दीर्घबुद्धि को कैसे उत्पन्न कर सकते हैं? ज्ञेय के क्रम वाला होने पर ज्ञान भी वैसा ही मानना युक्तिसंगत है। यदि, माना जाय कि क्रम से उत्पन्न वर्णों के अवयवों के अन्तिम अवयव की उत्पत्तिपर्यन्त अनुवृत्ति होती है और ऐसा होने से क्रमग्रहण और सर्वग्रहण बन जाता है, तथा दीर्घादि का ग्रहण भी सिद्ध हो जाता है। मनोरथनन्दि कहते हैं कि उस स्थिति में अन्तिम वर्णावयवपर्यन्त क्रम से उत्पन्न पूर्व-पूर्व वर्णावयवों की स्थिति मानने पर प्रथम वर्णावयव के बाद पूर्वोत्पन्न की अनुवृत्ति होने पर और नवीन की उत्पत्ति होने पर वर्धमान ध्वनि होनी चाहिए। किन्तु, ऐसा नहीं होता है। अवयवों के क्रम से ग्रहण होने पर दीर्घबुद्धि की उत्पत्ति होती है। पूर्वपक्ष से कहा जाता है कि क्रम से उत्पन्न अवयवों का अन्तिम अवयव काल में ग्रहण होने से वर्धमान ध्वनि नहीं होती है, क्योंकि, अन्तिम अवयव के पहले किसी का ग्रहण नहीं होता है। धर्मकीर्ति का उत्तर है कि अन्तिमवर्ण की निष्पत्तिकाल में पूर्व उत्पन्न अवयवों का अक्रम से ग्रहण करने पर उनकी ग्राहक बुद्धि क्रमवाली नहीं होगी और इसलिए, दीर्घग्रहण भी नहीं होगा। एक काल में अनेक पुरुषों द्वारा अनेक अकारादि के उच्चारण करने पर दीर्घबुद्धि नहीं होती है। पूर्वपक्षी पुनः कहता है कि एक-एक बुद्धि एक साथ उत्पन्न होकर क्रम से अवयवों को ग्रहण करती है और अन्तिम अवयव के ग्रहणकाल में दीर्घ की ग्राहक होती है। बौद्धों का उत्तर है कि एक अवयव के ग्रहण के बाद पूर्वगृहीत विषय के न रहने से अवयवग्राहक बुद्धि की स्थिति नहीं हो सकती है। यदि विषय के न रहने पर भी अविनश्वर स्वभाव होने से बुद्धि की स्थिति स्वीकार की जाय, तो, अवयवग्रहण के अनन्तर भी अविनश्वर स्वभाव की समानता के कारण उसका नाश नहीं होना चाहिए। एक साथ उत्पन्न बुद्धि के चिरकाल तक स्थित रहने में अविनाश प्रसंग का जो दोष है वह एक साथ उत्पन्न अक्रमवर्णों की क्रमग्राही विज्ञानों की उत्पत्तिकालपर्यन्त स्थिति मानने पर भी होता है। यदि, एक साथ उत्पन्न होकर भी अविनश्वर स्वभाव होने से कुछ काल तक अनुवर्तन होता है, तो, उस स्वभाव का नाश न होने से चिरकाल तक भी अनुवर्तन होना चाहिए। एक साथ किये गये तात्वादिव्यापाररूप यत्न से वर्णों की उत्पत्ति हो जाने से उत्तरोत्तर यत्न व्यर्थ हो जाएगा।⁹⁹

सावयववादी मीमांसक कहते हैं कि अनेक बुद्धिओं के द्वारा अनेक वर्णों का

ग्रहण करने पर अन्तिम अवयव को ग्रहण करने वाली जो अन्तिम बुद्धि है वह दूसरी बुद्धि के द्वारा अनुभव में आती है और उसके द्वारा दीर्घादिबुद्धि संभव हो जायेगी। धर्मकीर्ति का कहना है कि अनेक अवयवों को ग्रहण करने वाली पूर्व बुद्धियों का किसी अन्य बुद्धि से ग्रहण नहीं होता और न स्वसंवेदन से ही उनका वेदन होता है। जो बुद्धि अनुभव में आती है वह दीर्घादिवर्ण की ग्राहक नहीं है। इसलिए, दीर्घ की स्मृति नहीं होगी। वर्णों के अवयव-ग्राहक बुद्धियों की स्वग्राहक बुद्धियों के द्वारा पृथक्-पृथक् संवित्ति मानने पर दीर्घादिवर्णबुद्धि में निरन्तर प्रतिभासता नहीं होगी, क्योंकि, बुद्धिग्राहक बुद्धियों के द्वारा अवयव-ग्राहक बुद्धियों में व्यवधान हो जायेगा। स्वग्राहक बुद्धियों के द्वारा व्यवधान होने पर भी लघुवृत्ति होने से बुद्धियों में अव्यवधान का अध्यवसान नहीं माना जा सकता क्योंकि, 2-135 द्वारा इसका निराकरण कर दिया गया है। जैसे, अवयवग्राहकबुद्धियों में लघुवृत्ति है, उसी प्रकार, अवयवग्राही बुद्धिकाल में तदभाव होने पर भी लघुवृत्ति है। इसलिए, बुद्धि के अवच्छेद की तरह वर्णों का विच्छेद मानना चाहिए। यदि, विभिन्न सुनने वाले को भी लघुवृत्ति होने से अविच्छिन्न का विभ्रम होता है, तो, दो ह्रस्वों के उच्चारण करने पर भी लघुवृत्ति होने से अविच्छिन्न विभ्रम हो जायेगा और इस प्रकार दीर्घबुद्धि का प्रसंग प्राप्त होगा।⁹⁴

वर्णों के अवयवों का विच्छिन्न दर्शन होने पर भी अविच्छिन्न का आरोप करना ठीक नहीं है, क्योंकि, यह विभ्रम या तो अक्षजन्य होगा या मानस होगा। अक्षजन्य मानने पर रूपादिग्राही समस्त इन्द्रिय ज्ञान वितथ हो जायेंगे। पुनश्च, एक बुद्धि का दूसरी बुद्धि से ग्रहण होने पर अविच्छिन्न प्रतिभास नहीं होता है। बुद्धि क्षणिक है, इसलिए, क्षणिक होने से बुद्धि क्रम से वर्णों को जानती है तथा क्रम से ग्रहण करने वाली बुद्धि स्वग्राहक बुद्धि से अन्तरित हो जाती है। तब, अविच्छिन्न ग्रह कैसे संगत है? रूपादिवर्ण में जो बुद्धि होती है वह उसकी ग्राहक अन्य बुद्धि से अन्तरित हो जाने से विच्छिन्न होकर भी किसी निमित्त से अविच्छिन्न प्रतीत होती है। इस प्रकार, सर्व इन्द्रिय-ज्ञान वितथ हो जायेंगे।⁹⁵ सदृश अपर-अपर उत्पद्यमान पदार्थों में 'यह वही है' ऐसी जो एकत्वयोजना है वह पदार्थों में परस्पर में भेद के अलक्षण (अदर्शन) से भ्रान्तियुक्त स्मरण रूप विकल्पज्ञान है। किन्तु, इन्द्रियविभ्रमरूप जो ज्ञान होता है वह निर्विकल्पक ही है। अलातादि के शीघ्र भ्रमण से चक्रादि के आकार का जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह इन्द्रिय-विभ्रम निर्विकल्पक ही है, सविकल्पक नहीं। बुद्धियों में एक-एक बुद्धि को उत्पन्न करने की शक्ति रूप नियम के कारण ग्राह्य बुद्धि के साथ उसकी ग्राहक बुद्धि नहीं होती है। अतः, विच्छिन्न रूप से अर्थ का दर्शन होता है। इस पर आचार्य का उत्तर है कि युगपत् ज्ञानों का अनुत्पाद किस हेतु से माना गया है? यदि विरोधी कहे कि एक साथ दो उत्पन्न बुद्धियों को न देखे जाने से युगपत् ज्ञानों

की अनुत्पत्ति होती है, तो हम बौद्धों का उत्तर है कि यदि, अदर्शन प्रमाण है, तो, विच्छेद का भी अदर्शन है, अतः, उसे भी मान लेना चाहिए।⁹⁶ प्रश्न है— 'अस्थानमेतत् यत् द्वे चित्ते युगपत् सम्प्रतिपद्येयाताम्' ऐसा भगवान ने कैसे कहा? धर्मकीर्ति का उत्तर है कि उक्त कथन से यही तात्पर्य निकलता है कि समानजातीय एक ज्ञान को उत्पन्न करने में सामर्थ्य नियम होता है। विकल्प बुद्धि और इन्द्रिय-जन्य बुद्धि एक समय में समान जातीय एकबुद्धि को ही उत्पन्न कर सकती है, विजातीय बुद्धि को नहीं। इसलिये, असमानजातीय ग्राह्य और ग्राहक दो बुद्धियाँ एक साथ भी उत्पन्न हो सकती हैं।⁹⁷ समानजातीय बुद्धियाँ एक साथ नहीं होती हैं। इस प्रकार, स्फोट का निरास करके भी धर्मकीर्ति स्वसंवेदन की सिद्धि करते हैं।

उपर्युक्त सारी विवेचना में विज्ञानवादियों का यह अभिमत स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान का स्वयंप्रकाश होना एक अनिवार्य वस्तुतथ्य है, ऐसी अपरिहार्यता है कि उसको नकारने पर अर्थसंवेदन भी असंभव हो जायेगा और परिणाम यह होगा कि अन्ततः कुछ भी नहीं जाना जायेगा। ज्ञान या चेतना यदि स्वचेतन न हो, तो वह अपने स्वरूप से ही च्युत हो जायेगी। बुद्धि या चेतना अर्थप्रकाशक होती है, स्वप्रकाशक नहीं, क्योंकि, किसी अंगुली को स्वयं अपने को छूना अथवा असिधारा का अपने को काटना असंभव है, ऐसा जो यथार्थवादियों का आग्रह है, वह उनका पूर्वाग्रह है। भला वह दूसरे को कैसे जानेगा, जो स्वयं को जानने में असमर्थ है। प्रकाशशक्ति वाला होते हुए ज्ञान या चेतना बहिरर्थ तक ही क्यों सीमित होगी? यह दुराग्रह है कि प्रकाशशक्ति को एक जगह उस क्रिया वाला माना जाय, किन्तु अन्यत्र उसको उस क्रिया वाला न माना जाय। पुनश्च, भेदवादी, होने से ज्ञानपरोक्षवादी ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की पृथक्ता और वास्तविकता को अन्य पर भी आरोपित करना चाहता है और यह भूल जाता है कि 'स्वप्न' का उदाहरण तथा सहोपलम्भनियम ऐसा तथ्य है, जहाँ चेतना ही ग्राहक भी होती है और ग्राह्य भी, द्रष्टा भी और दृश्य भी, ज्ञाता भी और ज्ञेय भी। ज्ञानपरोक्षवादी, विशेषतः शाश्वतवादी, यह भूल जाते हैं कि विज्ञानवादी क्षणभंगवादी होते हुए भी 'अद्वैतवादी' हैं। चेतना यहाँ वेदान्त का स्थाणु, विभु एवं अविकार्य तथा अर्थक्रियारहित आत्मा नहीं, अपितु क्षणिक है, फलतः, ज्ञान का कोई क्षण, अपने पूर्ववर्ती को जानने में अशक्त है, क्योंकि, चेतना या ज्ञान में पूर्ववर्ती का नाश हो चुका रहता है। अतः, ज्ञान को पर द्वारा अपने ज्ञात होने की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए, चाहे वह ज्ञान का अव्यवहित दूसरा ही क्षण क्यों न हो। ज्ञान की स्वसंवेदनता को न मानने का अर्थ होगा कि ज्ञान जानने की वह स्थिति है जो जानने से अनभिज्ञ है। ज्ञान अज्ञान रूप या चेतना अचेतन रूप नहीं हो सकती। चेतना को अचेतन या अस्वचेतन मानना यह

कहने के बराबर है कि अचेतन चेतना भी होती है। यह असंभव एवं विरोधात्मक स्थिति है। विषय या वस्तु चेतना का ही अपना आकार है जिसको लेकर ज्ञान उत्पन्न होता है। ध्यानीय है कि सम्पूर्ण विषयों को विज्ञानाकार में परिणत कर योगाचार मत उनके पारस्परिक भेदों को सर्वथा मिटाता नहीं। वस्तुतः, विषय मानसिक क्रियाओं से अभिन्न होने के कारण स्वयं एक दूसरे से भिन्न है। ज्ञान वस्तुनिष्ठता को अपने साथ लिए हुए प्रक्षिप्त होता है, अतः, ज्ञान की स्वसंवेदनता निःसंदिग्ध तथ्य है। चित्राद्वैत की व्याख्या तथा साकारता के प्रसंग में हम प्रज्ञाकर और ज्ञानश्री के अभिमत को देख चुके हैं⁹⁸ कि स्वयंसंवेदन ही उनके लिए एकमेव प्रमाण है, पारमार्थिकदृष्टि से।⁹⁹ अतः, स्वसंवेदन केवल व्यावहारिक ज्ञान का स्वरूप ही नहीं है, उसकी पारमार्थिक स्थिति भी है। शून्यवादी जब स्वसंवेदन का खण्डन करते हैं, तो, उनके खण्डन में ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान की त्रिपुटी का भेद पूर्वमान्य रहता है।¹⁰⁰ फलतः, वह खण्डन पारमार्थिक अखण्डनीय अद्वैत-संवेदन बिन्दु पर प्रयुक्त नहीं होता।

अतः, आचार्य रत्नकीर्ति के शब्दों में इस विवेचना को हम समाप्त करते हैं—

ग्राह्यं न तस्य ग्रहणं न तेन, ज्ञानान्तरग्राह्यतयापि शून्यः।

तथापि च ज्ञानमयः प्रकाशः, प्रत्यक्षपक्षस्तु तवाविरासीत्॥

रत्नकीर्तिनिबन्धावली, पृ० 144

(ग) सालम्बनता और निरालम्बनता

विज्ञानवादी प्रमाणमीमांसा केवल विज्ञान की साकारता और स्वसंवेदनता की सिद्धि से पूरी नहीं होती, क्योंकि, यदि विज्ञान ही तत्त्व है, तो, फिर भूतादि जैसे बाह्यार्थ का भी निराकरण तत्त्वमीमांसा के धरातल पर और उसके आलम्बन होने का निराकरण प्रमाणमीमांसा के धरातल पर करना होगा। आचार्य वसुबन्धु ने 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि'¹⁰¹ में और स्थिरमति ने अपने भाष्य में तत्त्वमीमांसा के धरातल पर बाह्यार्थ की सत्ता का निषेध किया है, जो अत्यन्त सुज्ञात है।¹⁰² तदनन्तर आचार्य दिग्नाग ने प्रमाणमीमांसा के धरातल पर भी इसका विवेचन किया और 'आलम्बनपरीक्षा' नामक अपने ग्रन्थ में यह प्रतिपादित किया कि बाह्यार्थ ज्ञान का आलम्बन नहीं होता। ज्ञान का आलम्बन होता है, किन्तु, वह बाह्यार्थ जड़ पदार्थ नहीं, अपितु स्वयं विज्ञान ही है। अतः, ज्ञान की सालम्बनता के प्रसंग में वस्तुवादी धारणा के विरोध में उन्होंने ज्ञान की निरालम्बनता का प्रतिपादन करते हुए घोषित किया कि 'प्रत्यय होने के कारण, सभी प्रत्यय निरालम्बन होते हैं, जैसे कि 'स्वप्न प्रत्यय—'निरालम्बनाः सर्वे प्रत्ययाः, प्रत्ययत्वात्, स्वप्नप्रत्ययवत्।' इस विज्ञानवादीधारणा की बड़ी तीखी प्रतिक्रिया

वस्तुवादी तथा शांकरवेदान्त में भी हुई।¹⁰³ इस विवाद के विविध आयाम हैं और बहुत विस्तार भी है, तथापि यहाँ पर हम प्रमुख रूप से 'धर्मकीर्ति की 'अर्थसंवेदनचिन्ता' एवं कुमारिल के वस्तुवादी पक्ष को प्रस्तुत करेंगे, क्योंकि, इस शास्त्रार्थ के मूल में दोनों पक्षों के यही आचार्य हैं, जिनके दृष्टिकोणों को बाद में विकसित किया गया।¹⁰⁴ हम अपनी विवेचना में पहले विज्ञानवादियों के सामान्य पक्ष को प्रस्तुत कर प्रमाणवार्तिक की 'अर्थसंवेदनचिन्ता' के सारांश को प्रस्तुत करेंगे और निरालंबनता पर कुमारिल द्वारा उठाये गये आक्षेपों में से, जो प्रमुख हैं उनको प्रस्तुत कर उस पर प्रज्ञाकर के उत्तर को देखेंगे।

विज्ञानवादी बौद्ध तार्किकों का पक्ष है कि ज्ञान में बाह्यार्थ नहीं, अपितु साकार विज्ञान ही ज्ञात होता है और जो ज्ञात होता है केवल उसी के सत्तावान होने की बात कही जा सकती है।¹⁰⁵ ज्ञान के प्रसंग में वस्तुतथ्य यह है कि उसका आलंबन साकारविज्ञान होता है और वह स्वयंप्रकाश होता है। फलतः यदि, विज्ञान साकार है, और इसे हम सिद्ध कर चुके हैं, क्योंकि, वह साकार ही प्रतीत होता है, तो, किसी बाह्यार्थ को मानने का कोई आधार नहीं रहेगा। यदि, जो आकारवान है उसे बाह्यार्थ माना जाय, विज्ञान नहीं, तो, अन्य प्रकार से इसकी संवेद्यता के संभव न होने के कारण हमें संवेदक के रूप में किसी अन्य का स्वीकार करना पड़ेगा और ऐसा करने में हम संवेद्य अर्थ के ऊपर एक ऐसे ग्राहक को स्वीकार करेंगे जो निराकार होगा और ज्ञेय विषय उससे सर्वथा अन्य होगा।¹⁰⁶ यदि, इससे बचने के लिए ग्राहक को ग्राह्यविषय में ही माना जाय, तो, हमारे मध्य केवल नाम का अन्तर रहेगा। यद्यपि, हमारे मत में विज्ञान का वास्तविक लक्षण 'प्रकृतितः विशुद्ध होना' है, तथापि इस अनादि संसार में पूर्वविज्ञानजन्य विविध वासनाओं का सञ्चय हम पाते हैं और इनके द्वारा ग्राह्य और ग्राहक के लक्षण से रंजित होकर विज्ञान नीलादि विविध आकारों में अवभासित होता है तथा ऐसा प्रतीत होता है कि मानो विज्ञान बिल्कुल अलग चीज है। ऐसी स्थिति में विज्ञान को किसी बाह्यार्थ की अपेक्षा नहीं रह जाती। विज्ञान और इसकी क्षमता की पारस्परिक कारणता अनादि है।¹⁰⁷

मीमांसक, विषयज्ञान, होने के पूर्व भी विज्ञान की उपस्थिति मानते हैं। विज्ञानवादियों का कहना है कि ऐसी स्थिति में विषय के पूर्व भी हमें ज्ञान का ग्रहण होगा और यदि बाधक के न होने पर भी इस प्रकार के ग्रहण को नकारा गया, तो, सभी कालों में, अर्थात् विषय का ग्रहण होने के बाद भी, इसके ग्रहण को उतने ही तर्कसंगत रूप में नकारा जा सकेगा। कारण यह है कि तब प्रश्न यह उठेगा कि वह कौन-सी बात है जो कि विषय का ग्रहण होने के बाद ही विज्ञान को प्राप्त होगी जो

कि पहले विज्ञान के पास नहीं थी और जिसके साथ इसका ग्रहण वस्तुतः कभी नहीं हुआ था, अपितु बाद में ग्रहीत होने के रूप में इसका ज्ञान होता है।¹⁰⁸ पुनश्च, चूँकि विज्ञान और ग्राह्याकार के मध्य में कोई विभेद नहीं है और क्योंकि, साकारविषय ही ग्रहणीय है, अतएव, केवल विज्ञान, न कि कोई बाह्य अर्थ, ही ऐसा है जिसका ग्रहण उस आकार को धारण करने वाले के रूप में हो सकता है। इसके अतिरिक्त यह पक्ष भी उचित नहीं कि प्रारम्भ में निराकार प्रत्यय का ग्रहण होता है और बाद में आकारयुक्त विषय का ग्रहण होता है, क्योंकि, इस प्रकार का दावा विशुद्ध विज्ञान और साकारविज्ञान के मध्य विभेद की पहचान हो जाने के बाद ही किया जा सकता है; किन्तु, विज्ञान का ग्रहण होने के पूर्व विषय का कोई भी ग्रहण नहीं हो सकता। विज्ञानवादियों का कहना है कि विषय के आकार का ग्रहण, विज्ञान पर आरोपित होने या प्रतिबिम्बित होने के रूप में भी, नहीं हो सकता, क्योंकि, ऐसे आकार का विज्ञान में प्रवेश अशक्य है। ज्ञान कभी भी निराकार दृष्ट नहीं होता और न तो विज्ञान के रहने पर आकारयुक्त बाह्य अर्थ का प्रत्यय ही रहता है, अतएव, इस मामले में प्रतिबिम्ब जैसी कोई कल्पना नहीं हो सकती। पुनश्च, शब्द, रस, गन्ध, आदि के विषय में किस तरह का प्रतिबिम्ब हो सकता है, और वस्तुविषयक आकार की धारणा भी कैसे हो सकती है, जबकि इसका स्पष्टरूप से ग्रहण विज्ञान से सम्बद्ध होने के रूप में होता है।¹⁰⁹

विज्ञानवादियों का कहना है कि बाह्य जगत् में अलग-अलग रूप में तथा मनुष्यों के भीतर अवस्थित होने के कारण विज्ञान और अर्थ के बीच कोई भी पारस्परिक सन्निकर्ष या सम्पर्क नहीं हो सकता। यदि, इस सन्निकर्ष को सर्वगत माना जाय, तो, रसादि का चक्षु द्वारा दर्शन होने लगेगा। यह भी नहीं मान्य हो सकता कि ज्ञेय के रूप में विषय के आकारोपलम्भन के पूर्व विषयता किस तरह की होगी। पुनश्च, सन्निकर्ष स्वतः निराकार होता है, अतः, उसके द्वारा ज्ञानवैविध्य और उसके आकार का उद्भव कैसे हो सकता है? स्मृति और स्वप्नादिबोध में हम विज्ञानवादी मात्र वासना को ही हेतु मानते हैं, अतएव, वासना का ही हेतुत्व जाग्रतज्ञान के लिए भी उपपन्न है। इस प्रकार, अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार के अनुमान के द्वारा हमें यह ज्ञात होता है कि आकार ज्ञान से सम्बन्धित है। आपके पक्ष में ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं है जो प्रदर्शित करे कि बाह्यार्थ की ज्ञान से स्वतन्त्र सत्ता है, जबकि हमारे पक्ष में ऐसा दृष्टान्त है, जो विज्ञान की निरालंबनता को प्रदर्शित करता है। अतएव, ज्ञान की निराकारता को मान भी लेने पर 'सम्प्रयोग या संसर्ग-सिद्धान्त' वासना के ही संदर्भ में उपपन्न हो सकता है।¹¹⁰ पुनश्च, हम में एक वस्तु के प्रसंग में दीर्घ, ह्रस्वादि की बुद्धि होती है, और एक तथा उसी अर्थ, जैसे घट के विषय में हमें घटत्व, पार्थिव द्रव्य

तथा प्रत्येक की गति होती है। ये सब बुद्धियाँ ग्रहक पुरुषों में युगपत् होती हैं। यह कभी संभव नहीं हो सकेगा, यदि, वस्तुतः घट जैसे किसी एक अर्थ का अस्तित्व हो, क्योंकि एक और उसी अर्थ में विरुद्ध आकार संभव नहीं है। किन्तु, जहाँ तक प्रत्ययों का प्रश्न है, वे प्रत्येक उदाहरणों में भिन्न-भिन्न होते हैं और ऐसा होने से वासना की शक्ति में विविधताओं के साथ समायोजनीय हैं, अतः, बाह्यार्थ के अस्तित्व को नहीं माना जा सकता और चूँकि बुद्धि अनारोपिताकारा है, अतः, वह अपने में ही पर्यवसित है। अतः, बाह्यार्थ ज्ञान का आलम्बन नहीं होता।¹¹¹

अर्थसंवेदनचिन्ता

आचार्य धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक के प्रत्यक्ष परिच्छेद में (320 श्लोक से 353 तक) अर्थसंवेदन चिन्ता के प्रसंग में सौत्रान्तिकों के बाह्यार्थवाद का खण्डन कर विज्ञानवादी प्रमाणमीमांसा का प्रतिपादन किया है और विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि के प्रसंग में प्रमाण-प्रमाणफल व्यवस्था की विवेचना की है जिसे हम देख चुके हैं।¹¹² सौत्रान्तिकों के अर्थसंवेदन के खण्डन को प्रारम्भ करते हुए वे कहते हैं कि यदि, अनुभवसिद्ध नीलादिआकार से प्रतिनियत (अथवा प्रतिसंताननियत) वेदन ही अर्थसंवेदित है, तो, हमारा प्रश्न है कि प्रतिनियत अनुभूयमान वेदन को किस कारण से 'अर्थ का वेदन' कहा जाता है? स्वप्रकाशक होने से उसे स्ववेदन कहना ही युक्त है, अर्थवेदन नहीं, क्योंकि, अर्थ सर्वदा परोक्ष होता है। पुनश्च, यदि अर्थसारूप्य (= ताद्रूप्य) होने से ज्ञान को अर्थ का वेदन कहा जाता है, तो हमारा कहना है कि वह अर्थसारूप्य व्यभिचारी है, क्योंकि, द्विचन्द्रज्ञान और केशोण्डुकज्ञानादि में जो आकार है, वह अर्थ के बिना भी होता है। सौत्रान्तिक ऐसा कह सकते हैं कि अनुभाव्य के अभाव में ज्ञान के प्रत्यात्मवेद्य अनुभव की कर्म में व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि, कर्मरहित कोई क्रिया नहीं होती। आचार्य धर्मकीर्ति का कहना है कि 'यह इसके द्वारा अनुभव किया जाता है', ऐसा जो व्यवहारीजन कहते हैं, उसी का हम यहाँ विचार कर रहे हैं। पुनश्च, अर्थसारूप्य को अनुभव का कारण कहना संभव नहीं, क्योंकि परस्पर में भिन्न अणु स्थूलाभासज्ञान को किस रूप से साकार बनाते हैं? अणु का अस्थूल रूप ज्ञानारूढ नहीं है, और जो स्थूलरूप ज्ञानारूढ है वह अणुओं में नहीं है, अतः, ज्ञान में अर्थरूपता नहीं है। यदि, अर्थरूपता मान भी ली जाय, तो द्विचन्द्रादि ज्ञान में वह व्यभिचारवती है। अतः, अर्थरूपता अर्थसंवेदन को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है।¹¹³ सौत्रान्तिकों का कहना है कि केवल अर्थसारूप्य से अर्थ का संवेदन नहीं होता, किन्तु सारूप्य और तदुत्पत्ति के द्वारा अर्थसंवेदन होता है। आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं कि यदि तत्सारूप्य और तदुत्पत्ति संवेद्य का लक्षण हो, तो समान अर्थवाला समनन्तरविज्ञान उत्तरज्ञान के द्वारा संवेद्य

होना चाहिए, क्योंकि, वहाँ पर तत्सारूप्य और तदुत्पत्ति है। सौत्रान्तिक इस पर कहता है कि 'यह देखा गया, अथवा सुना गया' जहाँ ऐसी अध्यवसाय बुद्धि होती है, उसका अनुभव होता है, अन्य का नहीं। समनन्तरप्रत्यय में दृष्ट, श्रुत आदि अध्यवसाय न होने से वह ग्राह्य नहीं है। आचार्य, पुनः इस उत्तर में भी अनुपपत्ति दिखलाते हुए कहते हैं कि दृश्य और दर्शन में उसी प्रत्यासत्ति का हमलोग विचार कर रहे हैं, जिस प्रत्यासत्ति से उस बाह्य का वह ज्ञान 'दर्शन' माना गया है। उस दृश्य और दर्शन में सम्बन्ध के कारण द्रष्टा पुरुष को 'यह देखा गया, अथवा सुना गया' ऐसा अर्थनिश्चय होता है, और तत्सारूप्य तथा तदुत्पत्तिलक्षणप्रत्यासत्ति समनन्तरप्रत्यय में भी समान है, अतः, उक्त प्रत्यासत्तिकारणक दृष्ट, श्रुत आदि अध्यवसाय भी वहाँ होना चाहिए। इससे आचार्य धर्मकीर्ति यह सिद्ध करते हैं कि ज्ञान का वेद्यरहित जो नीलादिरूप अनुभव है, वह आत्मानुभव है, वह अनुभव अन्य किसी बाह्य का अनुभव नहीं है। उस ज्ञान का जो प्रत्यक्षप्रतिवेद्यत्व है वह भी उसकी अपरोक्ष अनुभवरूपता ही है। जिस प्रकार, स्वरूप से अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञान का ग्राह्य नहीं है, उसी प्रकार, अन्य कोई ग्राहक भी नहीं है। अन्य की अपेक्षा से ग्राह्यग्राहकभाव होता है, और अन्य कोई है नहीं। अतः, अपरोक्ष रूप से उत्पन्नज्ञान स्वयंप्रकाशित होता है, अन्य से प्रकाशित नहीं होता।¹⁴

प्रश्न है कि नीलादि अनुभव का फिर क्या कारण है? आचार्य धर्मकीर्ति का उत्तर है नीलादिरूप ज्ञान का स्वभाव है और अनुभव भी है। अतः, यद्यपि वह अनुभव स्वरूपानुभव से अन्य कुछ नहीं है, तथापि नीलादि का अनुभव होने से नीलादिरूप अनुभव कहा जाता है। जिस प्रकार, प्रकाश प्रकाशात्मक होने से परनिरपेक्ष होकर प्रकाश करता हुआ प्रकाशक माना जाता है, उसी प्रकार, परनिरपेक्ष और प्रकाशरूप से उत्पन्न बुद्धि उपचार से आत्मवेदन कही जाती है। चूँकि, बुद्धि के वेद्यरूप अन्य अर्थ को मानने पर वेद्याकार और वेदकाकार दुर्घट हैं, अतः, वास्तव में बुद्धि अवेद्याकार और अवेदकाकार (= वेद्य-वेदक द्वय-शून्य) है, उसमें ग्राह्य और ग्राहक का आकार नहीं है। किन्तु, जिनकी ग्राह्य और ग्राहक वासना का प्रहाण नहीं हुआ है उनके द्वारा भ्रान्तदर्शन के अनुरोध से ग्राह्याकार और ग्राहकाकार में विभक्त लक्षण वाली के रूप में मालूम (ज्ञान) पड़ती है। इसी कारण, बाह्य में नीलादि ग्राह्य है, आन्तरसंवेदन ग्राहक है, ऐसी भ्रमवाली ग्राह्यग्राहक की व्यवस्था की जाती है, जैसे कि केशादिज्ञान। अतः, जब भ्रान्ति के वश से ग्राह्यग्राहकभेद वाली व्यवस्था की जाती है, तो उसमें पारमार्थिक ग्राह्यग्राहकभाव संभव नहीं है। भ्रान्ति के वश से वस्तु की व्यवस्था नहीं हो सकती, अन्यथा केश, द्विचन्द्र आदि में भी वस्तुत्व का प्रसंग आ जायगा।¹⁵

आचार्य धर्मकीर्ति इसी प्रसंग में बाह्यपदार्थ का भी निराकरण करते हैं।

बाह्यार्थवादियों का आग्रह है कि बाह्य अर्थ का ज्ञान से अनुभव होता है, ऐसा मानने में क्या दोष है, जिसके चलते विज्ञानवादी अर्थसंवेदन को प्रमाणफल न मानकर स्वसंवेदन के लिए आग्रह कर रहे हैं? आचार्य का कहना है कि यदि अर्थ का (= बाह्य अर्थ का) अनुभव होता, तो दोष का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुतः ज्ञान में हमें बाह्य का अनुभव ही नहीं होता, फलतः, ज्ञान में बाह्य अर्थ का अनुभव होता है, इसका कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। हाँ इसमें संदेह नहीं कि साकारविज्ञान नील-पीतादि आकारविशेषयुक्त है। किन्तु, विचारणीय बात यह है कि वह बुद्धि (ज्ञान) बाह्य अर्थ से उत्पन्न होती है या वासना के प्रतिनियम से। बुद्धिमात्र का वेदन हो ले, किन्तु, बुद्धिव्यतिरिक्त किसी अर्थ की उपलब्धि हमें ज्ञान में नहीं होती। पुनश्च, ज्ञानरूप विशेषण से रहित नीलादि का ग्रहण नहीं होता और ज्ञान का ग्रहण होने पर नीलादि का ग्रहण होता है, अर्थात्, नीलज्ञान और नील का एकसाथ ही वेदन होता है। इसीलिए, नीलाकार ज्ञान की सिद्धि होती है। नीलादि, जिसे वस्तुवादी बाह्य कहते हैं, वस्तुतः ज्ञान के साथ ही उपलब्ध होता है, अतः, ज्ञान से अभिन्नस्वभाव वाला है। अतः, सिद्ध हुआ कि नीलादिरूप ज्ञान तो है, किन्तु केवल नीलादि अर्थ नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष में, नीलादि अर्थ को सिद्ध करने का सामर्थ्य नहीं है। बाह्यार्थवादियों का आग्रह है कि आलोकादि निमित्तान्तरों के होने पर भी, गजादि आकार वाले ज्ञान में देश, कालादि का प्रतिनियम देखा जाता है, इस कारण अर्थ की सिद्धि होती है। विज्ञानवादियों का कहना है कि कोई ज्ञान किसी गजादि आकारवाले ज्ञान की अन्तर्वासना का प्रबोधक होता है। अतः, प्रबोधक के कारण गजादि आकारवाले ज्ञान की व्यवस्था होती है, बाह्यार्थ की अपेक्षा से उसकी व्यवस्था नहीं होती। अन्तर्वासना समनन्तरप्रत्यय के अन्तरवर्ती तथा नियत ज्ञान को उत्पन्न करने की योग्यता वाली होती है। वासना का सामर्थ्य स्वप्नादि में देखा गया है, किन्तु बाह्यार्थ का नहीं, क्योंकि वह नित्यपरोक्ष होता है। ज्ञान प्रतिभासमान है और बाह्य का प्रतिभास होता ही नहीं है, मात्र इससे हमारे अभीष्ट की सिद्धि हो जाती है। चूँकि, बाह्यार्थ का अनुभव नहीं होता है, अद्वैतरूप ज्ञान अविद्या के वश से द्विरूप (बोध रूप और नीलादिरूप) अनुभव में आता है और दो रूप वाला ज्ञान अनुभव में आता है, तो अनुभव के अनुसार कालान्तर में वैसा स्मरण भी किया जाता है और जब अन्यथा संवेदन नहीं होता, तो उभयाकार का संवेदन ही फल है।¹¹⁶ पुनश्च, अनुभव के अनुसार ही बाह्य अर्थ का स्वरूप निश्चित किया जाता है। अर्थ की अपेक्षा से उसका स्वरूप निश्चित नहीं होता, क्योंकि दो पुरुषों द्वारा एक ही अर्थ को इष्ट और अनिष्ट रूप से ग्रहण करने के कारण अर्थ में अनेकात्मत्व के दोष का प्रसंग आ जाता है।¹¹⁷

प्रश्न है कि यदि बाह्य नहीं है तो किसका संवेदन होता है? यदि, अन्य कोई गति न होने से स्वरूप का संवेदन होता है, तो बाह्य का ही संवेदन क्यों नहीं माना जाय? आचार्य धर्मकीर्ति का उत्तर है कि अर्थ को अनेकात्मक स्वीकार करने पर भी दो पुरुषों को भेदपूर्वक अनुभव नहीं होना चाहिए; अर्थात् एक को इष्ट रूप से और दूसरे को अनिष्ट रूप से अनुभव नहीं होना चाहिए, क्योंकि वस्तु के दो आकार वाली होने से उसकी वैसी प्रतीति प्राप्त है। अदृष्ट द्वारा एक आकार का मानकर द्वितीय आकार की प्रतीति मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, ऐसा मानने से अर्थ के अनुसार प्रतीति प्राप्त नहीं होगी, किन्तु अदृष्ट के वश से इष्टाकार या अनिष्टाकार प्रतीति प्राप्त होगी। ऐसी स्थिति में अनेकात्मक अर्थ को एक रूप से दिखाने वाला अदृष्ट अर्थ का दर्शक कैसे हो सकता है? अर्थ का दर्शक वही होता है जो उसके स्वरूप को बतलावे। अर्थ एकाकार है नहीं। इसलिए एकाकार की प्रतीति अर्थ की प्रतीति नहीं कहला सकती। प्रश्न उठता है कि इन्द्रियबुद्धि यथावस्थित वस्तु को ग्रहण करती है, उसके अनन्तर होने वाली इष्ट और अनिष्ट प्रतिभास वाली कल्पना अयथार्थ होती है। इस कारण अर्थ में अनेकात्मत्व के दोष का प्रसंग आता है। आचार्य इसके उत्तर में कहते हैं कि बाह्य प्रमेय मानने पर भी स्वानुभव को फल मानना युक्त है, क्योंकि ज्ञान का जैसा स्वभाव होता है वैसा ही अर्थ का निश्चय होता है। इसलिए, बाह्य अर्थों के सद्भाव में भी ज्ञान में जो अर्थाकारता है, वही प्रमाण है, ग्राहकाकार नहीं, क्योंकि स्वसंवेदन परार्थ की व्यवस्था नहीं करता है। इसका भी कारण यह है कि अर्थाकार के बिना वह सर्वत्र समान होता है और सर्वत्र समान होने से प्रतिनियत अर्थ को नहीं जान सकता; क्योंकि ज्ञान में इष्ट या अनिष्ट रूप से अर्थ का जो आकार निविष्ट है उस आकार का स्वसंवेदन से वैसा ही निश्चय होता है। इसलिए, अर्थाकार प्रमाण है और उसी आत्मसंवित्ति का नाम अर्थसंवित्ति है, क्योंकि स्वसंवेदन से बाह्य अर्थ का दर्शन नहीं होता है, किन्तु बुद्ध्याकार का ही वेदन होता है, और बुद्ध्याकार का वेदन ही अर्थ का वेदन है। चूँकि, अर्थसारूप्य के कारण अर्थ की अधिगति की व्यवस्था होती है, इसलिए, बुद्धिनिविष्ट अर्थ (= अर्थाकार) प्रमाण है और उसका फल अधिगति है। क्योंकि ज्ञान में अर्थ जिस रूप से निविष्ट होता है उसी रूप से स्वसंवित्ति प्रतिभासित होती है, इसलिए अर्थ की अधिगति के तादात्म्य (= स्वसंवित्तिरूप) होने से स्वसंवेदन भी अर्थसंवेदन माना गया है, अर्थात् स्वसंवेदन ही उपचार से अर्थसंवेदन कहा जाता है। इस प्रकार इन दोनों में तादात्म्य है। प्रश्न है कि यदि अर्थसंवेदन फल है तो स्वसंवेदन को फल क्यों कहा गया है? उत्तर है कि जब अर्थसंवेदन के स्वभाव पर विचार करते हैं तब स्वसंवेदन को फल कहा गया है, क्योंकि अर्थसंवेदन स्वसंवेदनरूप ही है, क्योंकि स्वाकार प्रतीति के अतिरिक्त अर्थ की अन्य प्रतीति नहीं है। विरोधी का

प्रश्न है कि यदि, अर्थ के अनुसार अनुभव नहीं होता है, तो, अपनी वाग्मना के प्रबोधक का अनुसरण-अनुवर्तन करने वाले ज्ञान का अर्थ बाह्य है यह कैसे? आचार्य धर्मकीर्ति उत्तर में कहते हैं कि इष्ट या अनिष्ट रूप से अवभासमानज्ञान का हेतु अर्थ भी इष्ट या अनिष्ट रूप है। इस प्रकार, सौत्रान्तिकमत में अर्थ में प्रमेयता मानी गयी है।¹¹⁸

आचार्य कुमारिल का निरालम्बनता पर आक्षेप

आचार्य कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्तिक में शून्यवाद प्रकरण में विज्ञानवाद का खण्डन करने के साथ ही 'निरालम्बननिराकरण' नामक एक अलग परिच्छेद ही लिखा है और प्रज्ञाकर ने अपने अलंकारभाष्य (पृ० 367-387) में कुमारिल भट्ट के 'निरालम्बन निराकरणपरिच्छेद' के 76 श्लोकों (32-107 तक) को उद्धृत कर उनका आनुपूर्वी ढंग से खण्डन किया है। यहाँ हम उस समय के गंभीर शास्त्रार्थ की तार्किक शैली का एक संक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत करने जा रहे हैं जिससे इस समस्या का स्वरूप उस धरातल पर भी स्पष्ट हो जाय।

(क) निरालम्बनता को सिद्ध करने के लिए बौद्धों ने जो मौलिक अनुमान दिया था, उसका आकार था— 'प्रत्ययाः निरालम्बनाः, प्रत्ययत्वात्, स्वप्नप्रत्ययवत्'।¹¹⁹ कुमारिल का कहना है कि स्वप्नप्रत्यय (ज्ञान) को निरालम्बन कहना या उसके विषय का निषेध करना उचित है, क्योंकि वह समीचीन ज्ञान नहीं दुष्टज्ञान है। दुष्ट ज्ञान को निरालम्बन कहना या उसके विषयरूप आलम्बन का प्रतिषेध करना सभी को अगोचर है, किन्तु सभी ज्ञानों के विषयमात्र का निषेध करना संभव नहीं, क्योंकि समीचीनज्ञान का विषय अपनी परिधि में बौद्धसम्मत पक्ष, साध्य और हेतु आदि सामग्री को समेट सकता है। उसका अभाव हो जाने पर साध्यसाधन का प्रयोग ही संभव नहीं हो सकेगा। निरालम्बनता क्या है और किन धर्मों में किस हेतु के द्वारा सिद्ध की जाती है, यह सब कुछ अस्त-व्यस्त हो जायेगा। पक्ष के दो भाग किये गये हैं। निरालम्बनता विशेषण और प्रत्यय विशेष्य है। इन दोनों की विषयरूपेण सिद्धि न होने पर विशेष्यासिद्धि, विशेषणासिद्धि, उभयासिद्धि आदि अनुमान के दोष प्रसक्त होते हैं।¹²⁰ आचार्य कुमारिल भट्ट 'न्यायप्रवेश' में निरूपित दोषों की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

“अप्रसिद्धोभयत्वं वा बाध्यमन्यतरस्य वा।” श्लो० वा० निरालम्बन निराकरण परि० 35। अर्थात्, या तो अप्रसिद्ध विशेषणविशेष्योभयकत्व यह पक्ष का दोष अथवा विशेषणविशेष्य में दिग्नाग द्वारा चर्चित अन्यतराप्रसिद्ध का उद्भावन किया जा सकता है। इतना ही नहीं, दिग्नाग द्वारा चर्चित स्ववचनविरोध का दोष भी प्रसक्त होगा, क्योंकि विशेषण और विशेष्य का वक्ता और श्रोता को जो ज्ञान होगा वह भी

निरालम्बन है। विशेषण और विशेष्य दोनों ही उसके विषय सिद्ध नहीं होते। इसके अतिरिक्त, विशेषण और विशेष्य का भेद भी नहीं हो सकेंगा, क्योंकि, उनका भेदकज्ञान निरालम्बन है। विषयशून्यज्ञान विषय का भेदक नहीं होता। इस प्रकार, बौद्धप्रतिज्ञा असिद्ध होकर रह जाती है।¹²¹

इसी प्रकार, निरालम्बनता की असिद्धि होने पर उसके भेदाभेद के प्रश्न भी अनुपपन्न हो जाते हैं, क्योंकि निरालम्बनता यदि कोई वस्तु नहीं, तो, उसका बोध मीमांसकों को क्यों कर बौद्ध करा सकेंगे? केवल इतना ही नहीं, आप बौद्ध भी उसे कैसे समझ सकेंगे? कोई वस्तु ही बुद्धि (= ज्ञान) के माध्यम से प्रतिफलित होती है, अवस्तु नहीं। यदि, बौद्ध यह कहें कि निरालम्बनता की कल्पना करके हम समझ लेंगे और समझा देंगे, तब, यह प्रश्न उठता है कि असत् वस्तु की कल्पना क्यों करोगे, क्योंकि कल्पना भी खपुष्प जैसे असत् पदार्थों की नहीं हो सकती। यदि, हो सकती है, तब, उसे सत् मानना होगा, क्योंकि, बौद्ध अर्थक्रियाकारी वस्तु को सत् मानते हैं। जिस वस्तु ने अपना ज्ञान उत्पन्न कर दिया, वह अर्थक्रियाकारी होगी। यदि, विषयाभाव निरालम्बनता है, तब, अभाव का ज्ञान क्यों कर होगा, क्योंकि, अभाव अपने ज्ञान में प्रतियोगी के ज्ञान की अपेक्षा रखता है? और यदि, उसका ज्ञान होता है, तो, वह अभाव न होकर वस्तु बन जायेगी।¹²²

(ख) आचार्य कुमारिल 'प्रत्यय' शब्द के प्रसंग में भी बौद्ध पक्ष की आलोचना करते हैं। यह सुज्ञात है कि 'प्रत्यय' शब्द 'प्रति' पूर्वक 'इण्' धातु से पचाद्यच् (पा० ३/१/१३४) सूत्र के द्वारा 'अच्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है। आचार्य कुमारिल पूछते हैं कि आपका 'प्रत्यय' शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त किया गया है? क्या कर्त्ता, कर्म, करण आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है अथवा भाव में। भावादि अर्थों में 'प्रत्यय' शब्द को प्रयुक्त मानने पर विरोध उपस्थित होता है, क्योंकि, लोक में प्रतीति शब्द एक ऐसे ज्ञान के लिए प्रयुक्त है जो घट, पट आदि पदार्थों का ज्ञापक है और सालम्बन होती है। उसमें निरालम्बनता की सिद्धि करने पर हेतु 'विरुद्ध' हो जाता है। कर्म में 'प्रतीयते इति प्रत्ययः' इस व्युत्पत्ति के द्वारा घट, पट आदि पदार्थों का वाचक प्रत्यय शब्द होता है। पटादि पदार्थ विज्ञानात्मक न होने के कारण निरालम्बन होते ही हैं। अतः, हेतु सिद्धसाधनदोष से आक्रान्त हो जाता है। 'प्रत्येति प्रतीयते अनेन वा' इस प्रकार कर्त्ता और करण में प्रत्यय का विधान मानने पर विशेष्य और विशेषणवाचक शब्द भी प्रत्यय की वाच्यकक्षा में आ जाते हैं। उनमें निरालम्बनता का अर्थ वाच्यार्थाभाव होगा, जिसका फल यह होगा कि न पक्ष की सिद्धि होगी न साध्य की। करण एक प्रकार का निमित्तकारण होता है जो प्रतीति का जनक माना जाता है। घटादि पदार्थों का इन्द्रिय

से सन्निकर्ष होने पर घटादि का ज्ञान होता है। ऐसा प्रत्यय, कदापि, निरालम्बन नहीं हो सकता; सालम्बनतावाचक शब्द के द्वारा उसकी उपस्थिति बताकर उसमें निरालम्बनता की सिद्धि करना स्ववचनव्याघात है।¹²³

(ग) पुनश्च, यदि प्रत्यय शब्द को लोकप्रसिद्धार्थ में रूढ़ माना जाता है, तो उस अवस्था में 'बाह्यवस्तु की विज्ञेयता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि लोकप्रसिद्धि में प्रत्यय शब्द इस प्रकार का माना जाता है। पुनश्च, उपर्युक्त अर्थ में 'प्रत्यय' शब्द को स्वीकार करने पर बौद्धों के लिए स्ववचनविरोधादि दोषों का प्रसक्त होना स्वभाविक है, क्योंकि उस स्थिति में आपका तर्क ऐसा हो जाता है जिसका 'विशेष्य' (उद्देश्य) अप्रसिद्ध रहता है। हम मीमांसकों के विषय में यह दोष तभी लागू होगा जब आप अपने पक्षपद के लिए ऐसे प्रत्यय को रखें जो सत्य बाह्यार्थ को ग्रहण करता है। आचार्य कुमारिल यह भी इंगित करते हैं कि चाहे बौद्ध 'प्रत्यय' शब्द को 'पक्ष पद' बनाकर आत्मा का धर्म मानें, अथवा उसके स्वतन्त्रत्व की कल्पना करें, प्रत्येक स्थिति में आपके तर्क में 'विशेष्याप्रसिद्धि (= उद्देश्य के अज्ञात रहने का) दोष रहेगा। इसके अतिरिक्त, 'प्रत्ययमात्रता' जैसी कोई चीज नहीं होती, क्योंकि जिसका विषय न हो ऐसी प्रत्ययमात्रता का निरूपण नहीं हो सकता। आचार्य कुमारिल कहते हैं कि जिस प्रकार अन्यदर्शनों में शब्दार्थमात्ररूपेण निरूपण संभव है, वह बात आप पर प्रयुक्त नहीं हो सकती, क्योंकि, आप शब्द और अर्थ के बीच कोई भेद स्वीकार नहीं करते हैं।¹²⁴

दूसरी बात यह भी है कि यदि सर्वथा निरालम्बनता की सिद्धि अभीष्ट हो तब विशेषणाप्रसिद्धि अनिवार्य है, क्योंकि, सर्वथा निरालम्बनता का कोई दृष्टान्त संभव नहीं। इस प्रकार दृष्टान्त की अनुपस्थिति का भी दोष आयेगा। सर्वथा निरालम्बनता को साध्य न बनाकर यदि कथंचित् निरालम्बनता की सिद्धि अभीष्ट हो, तब बौद्ध पक्ष में सिद्धसाधनदोष होगा, क्योंकि, रूपज्ञान रसादि का आलम्बन न करने के कारण निरालम्बन कहा जा सकता है। यदि, आप बौद्ध कहें कि रसज्ञान रसाकार है, अतः उस आकार को विषय नहीं करने पर उसे निरालम्बन कहा जा सकता है, तो यह कहना अत्यन्त विरुद्ध है, क्योंकि, प्रत्येक ज्ञान में स्वाकारविषयता बौद्धों को स्वीकार है। यदि, बौद्धों का यह पक्ष हो कि बाह्य आलम्बन रहित ज्ञान को निरालम्बन कहा जाता है, तब, भी रसज्ञानादिज्ञानों में सिद्धसाधनता होती है, क्योंकि 'स्तम्भ' ऐसी ही प्रतीति होती है, 'बाह्यः स्तम्भ' इस रूप में नहीं। द्विचन्द्रादि ज्ञान का विषय दोचन्द्र उपलब्ध नहीं, अतः, वह ज्ञान निरालम्बन है ऐसा कहना भी संभव नहीं, क्योंकि प्रत्येक प्रत्यक्षज्ञान इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष पाकर उत्पन्न होता है। चक्षु का एक चन्द्र के साथ सम्बन्ध होने पर यह ज्ञान उत्पन्न हुआ है, अतः, उसका आलम्बन चन्द्र है।

चन्द्र का सद्भाव होने के कारण वह ज्ञान भी सालम्बन है, निरालम्बन नहीं। आप बौद्धों के मत में द्विचन्द्र ग्राहक इन्द्रिय का सद्भाव न होने के कारण वह ज्ञान निरालम्बन है, अतः, सालम्बनता का निषेध हो सकता है, किन्तु, वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। जैसे, शुक्ति का ग्राहक चक्षु ही रजत का ग्राहक माना जाता है, वैसे ही, एक चन्द्र का ग्राहक चक्षु ही द्विचन्द्र का ग्राहक माना जाता है। अतः, वहाँ भी इन्द्रिय का सद्भाव होने के कारण सालम्बनता निश्चित है, अतः, सालम्बनता का निषेध नहीं किया जा सकता है। बाह्य पदार्थ के अप्रसिद्ध होने के कारण बाह्यविषयत्वारूप सालम्बनता का निषेध यदि किया जाता है, तब भी, बाह्यविषयत्वाभाव रूप विशेषण अप्रसिद्ध होने के कारण आपके अनुमान का पक्ष अगृहीत तथा अप्रसिद्ध ही रह जाता है। बाह्य आलम्बनशून्यता रूप विशेषण का विशेषणीभूत बाह्यत्व अप्रसिद्ध होने के कारण अप्रसिद्ध विशेषणविशेषता होती है जिसकी किसी दोष में गिनती नहीं की गयी, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जैसे विशेषण स्वरूपतः अप्रसिद्ध होता है, वैसे ही अपने विशेषण की अप्रसिद्धि के कारण भी अप्रसिद्ध होता है। अतः, यह दोष भी अप्रसिद्धविशेषणता के ही अन्तर्गत है। आशय यह है कि वाक्य के घटकीभूत प्रत्येक पद का अर्थ प्रसिद्ध होने पर ही वाक्यार्थ की अगति हुआ करती है। यदि, कोई पद अप्रसिद्धार्थक प्रयुक्त होता है, तब, बाह्यार्थ का ज्ञान संभव नहीं होगा, भले ही वह पदार्थ विशेष्य हो, विशेषण हो, अथवा विशेषण का विशेषण हो।¹²⁵

(घ) आचार्य कुमारिल का कहना है कि 'ज्ञान का विज्ञानव्यतिरिक्त और कोई आलम्बन नहीं होता', इस कथन से या तो आलम्बन पदार्थ का निषेध माना जाय, अथवा उसका पर्युदास। यदि, निरालम्बनता शब्द से आलम्बन पदार्थ का पर्युदास माना जाता है, तब, आलम्बन से भिन्न आलम्बन के समान ही बाह्यपदार्थ की सिद्धि हो जाने के कारण सिद्धसाधन का दोष हो जाता है। पुनश्च, यदि ज्ञान से बिल्कुल भिन्न आलम्बन के संदर्भ को दृष्टि में रखकर आप निरालम्बनता की बात करते हैं, तो भी आपके पक्ष में वही दोष होगा और यदि, निरालम्बनता को ज्ञान से केवल आंशिक रूप से भिन्न आलम्बन की दृष्टि से स्वीकार करते हैं, तो आपका निष्कर्ष आपके पक्ष को बाधित कर देगा। इसके अतिरिक्त, यदि, बौद्ध ज्ञेय विषय और ज्ञान के साथ अभेद मानें, तो वह आपलोगों द्वारा मान्य ज्ञान तथा ज्ञातविषय के मध्य शक्तिभेद के सिद्धान्त के विरोध में जायगा। यदि, बौद्ध ज्ञान की उत्पत्ति के क्षेत्र में ज्ञान के निरालम्बन होने की बात को सिद्ध करना चाहते हों, तो चूँकि वह दृष्टतथ्य है, अतः, हम भी उत्पत्ति के क्षण में ज्ञान को बाह्यग्राह्य से विवर्जित रूप में स्वीकार करते हैं। किन्तु आप बौद्ध किसी भी समय में इसके सम्यक्त्व को स्वीकार नहीं करते

और मानते हैं कि मृगतृष्णाबु को बुद्ध के तरह इसका भी अपन में प्रयोजन है।¹²⁶

पुनश्च, जहाँ पर मध्य में चैत्य (स्तूप) को रखकर उसके चारों ओर धार्मिक गण वन्दना करते हुए प्रतीत होते हैं, वहाँ सभी व्यक्तियों के चाक्षुष ज्ञानों का एक मात्र आलम्बन चैत्य होता है। उसी की वन्दना लोग अपना धर्म समझकर किया करते हैं। यदि उनके ज्ञान निरालम्बन हैं, तो 'चैत्य' उनका विषय कैसे होगा और उसकी वन्दना धर्म कैसे कहलायेगी? यदि, 'प्रत्यय' शब्द को पक्ष बनाकर निरालम्बनता की सिद्धि की जाती है, तब भी, पक्षाप्रसिद्धिदोष दूर नहीं होता, क्योंकि अर्थ, शब्द का, आलम्बन माना जाता है। अतः, शब्द भी निरालम्बन नहीं होता। यदि ज्ञानोत्पादनसामर्थ्य का शब्द में निषेध किया जाता है, तो वह भी संगत नहीं हो सकता, क्योंकि यदि शब्द ज्ञानोत्पादन का सामर्थ्य नहीं रखता, तो आचार्यों के उपदेश और सभी प्रकार के शास्त्र व्यर्थ हो जाते हैं। इसी प्रकार, प्राश्निक (= मध्यस्थ) आदि, प्रतिवादी, पक्ष, साध्य, दृष्टान्त आदि सामग्री के होने पर ही शास्त्र-चर्चा में साधन प्रयोग किये जाते हैं। शब्दों और ज्ञानों के निरालम्बन होने पर यह समस्त परिपाटी ही विघटित हो जाती है।¹²⁷

(ङ) पुनश्च, धर्म से धर्मबुद्धि का भेद आपके उपदेशक बुद्ध भी 'रान्धर्म' आदि सूत्रों में स्वीकार करते हैं। अतः, यदि आप उसे नकारते हैं तो बुद्ध के वचन को बाधित करते हैं। उसके अतिरिक्त बाह्यार्थ की सत्यता को पूरी तरह नकारने पर आगमविरोध भी होगा। आपका पक्ष लोकविरुद्ध भी है, क्योंकि, लोग बुद्धि से वस्तु को अलग मानते हैं। यदि, आप सभी साधन बुद्धि को मिथ्या समझते हैं, तो सर्वव्यापी अभाव हो जायेगा और आपके तर्क में 'लघुपद (पक्षपद) की न्यूनता' का भी दोष लगाया जा सकता है। यदि, इन दोषों से बचने के लिए आप प्रत्ययों की सालम्बनता को स्वीकार करें, तो आपके तर्क में अनेकान्तिकता का दोष प्रसक्त होगा। आचार्य कुमारिल यह भी इंगित करते हैं, कि 'स्वप्नबुद्धि के मिथ्यात्व की बुद्धि भी मिथ्या है, तो स्वप्नादिज्ञान कभी भी मिथ्या नहीं होंगे, परिणामतः बौद्धों ने हमारे खिलाफ जिस तर्क को प्रस्तुत किया है, उसमें यह 'दृष्टान्त' नहीं बन सकेगा। पुनश्च, आपके पक्ष में बद्ध एवं मुक्त आदि की व्यवस्था में कोई विभेद नहीं हो सकेगा, फलतः, मोक्ष के लिए आपका प्रयत्न निष्फल हो जायेगा।¹²⁸

प्रज्ञाकर का उत्तर - आचार्य प्रज्ञाकर का कहना है कि जिस वस्तु की कल्पना स्वरूपतः नहीं हो सकती उसकी पररूपव्यावृत्ति या अपोहरूपेण कल्पना हुआ करती है। जैसे, शशशृंगादि की कल्पना गोशृंगादि में शशीयशृगभिन्नत्वरूपेण हुआ करती है, इसी तरह जाग्रत और स्वप्नप्रपञ्च भी कल्पित हैं। केवल स्वप्नपदार्थ ही

दुष्टज्ञानगृहोत् नही हांते, अपितु जाग्रतकाल के पदार्थ भी वैसे ही हैं।¹³⁰ स्मरणीय है कि आचार्य कुमारिल भट्ट की आस्था जिस वेदान्त दर्शन पर है, वह वेदान्त दर्शन आमूलचूल मिथ्याज्ञान के धरातल पर जाग्रत प्रपंच का अंकुरित होना मानता है। पहले और बाद के भी वेदान्ताचार्यों में यह बात सर्वविदित है। उदाहरणार्थ, आचार्य शंकर शारीरिकभाष्य की भूमिका में ही कहते हैं— “मिथ्याज्ञाननिमित्तः अहमिदंभेदमिति प्रवर्तते नैषर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।”¹³⁰ आचार्य शंकर के बहुत पूर्व श्रुतियों, उपनिषदों एवं ‘माण्डूक्यकारिका’ में मिथ्याज्ञान के धरातल पर जगत्प्रपंच के अंकुरित होने की बात कही गयी है।¹³¹ हाँ, आचार्य शंकर ने तर्कपाद में दिग्नाग की ‘आलम्बनपरीक्षा’ की कारिका “यदन्तर्ज्ञेय रूपं तदबर्हिवत् अवभासते” की कटु आलोचना की है। इस प्रकरण के अन्त में, समीक्षा करते समय, इस प्रश्न पर हम विचार करेंगे।

शबरस्वामी ने कहा कि स्वप्नज्ञान निद्रादोष से ग्रस्त है, किन्तु जाग्रत ज्ञान निर्दुष्ट और सुनिश्चित है। किन्तु, वे तथा उनके अनुयायी अन्य मीमांसक भूल जाते हैं कि स्वप्न के समय भी स्वप्नद्रष्टा पुरुष को वैसे ही निश्चय रहता है कि मैं नील आदि पदार्थों को निश्चित रूप से सत्य देख रहा हूँ। जाग्रतप्रपंच स्वप्न के समान ही वासनोद्भूत है। इस दृष्टि से जाग्रत और स्वप्न में भेद नहीं होता। वासना अनादि है, अतः सर्वप्रत्ययाः निरालम्बनाः प्रत्ययत्वात्, स्वप्नप्रत्ययवत्’ यह अनुमान सर्वथा निर्दुष्ट एवं अपने साध्य की सिद्धि में पूर्णतया सक्षम है।¹³²

‘ख’ के अन्तर्गत ऊपर विवेचित कुमारिल की आपत्तियों का निरसन करते हुए प्रज्ञाकर कहते हैं कि यदि, प्रतीति प्रत्यय जिस प्रकार भावार्थक माना जाता है, तब, लोकप्रसिद्ध प्रतीति शब्द सामने आता है। वह अपने से भिन्न वस्तु को विषय करता है, ऐसा कहना संगत नहीं; जैसे कि, ‘शब्दो नित्यः’ इस प्रयोग में घट, पटादि शब्दों के साथ शब्दात्मक शब्द का भी अन्तर्भाव हो जाता है। शब्दात्मक शब्द अपने से भिन्न किसी को विषय न करके केवल स्वरूपपरक या स्वरूप का परिचायक होता है। इसी प्रकार, प्रतीति शब्द भी स्वसंवेदनार्थ का अवद्योतक होने के कारण अपने स्वरूप को ही विषय करता है, अपने से भिन्न को नहीं। स्वरूप ही प्रत्याय्य है और प्रतीति का साधन भी। इस प्रकार का ‘प्रत्यय’ शब्द मानने पर कुमारिल द्वारा उल्लिखित विरोध की गंध भी प्रतीत नहीं होती।¹³³ पुनश्च, साकारता और स्वसंवेदनता के प्रसंग में यह प्रतिपादित किया जा चुका है और धर्मकीर्ति ने यह स्पष्टतया निरूपित किया है कि नीलादि स्वरूपतः अवभासित होते हैं, उससे भिन्न कर्मता नाम की वस्तु नहीं मानी जाती। पुनश्च, नीलादिपदार्थों को कर्मव्युत्पन्न प्रत्यय शब्द से अभिधान करने पर सिद्धसाधनता दोष का जो उद्भावन किया गया है वह भी उचित नहीं प्रतीत होता,

क्योंकि, उसका भी आलम्बन वैसे ही प्रतीयमान है, जैसे घटादि ज्ञानों का। उस आलम्बन का निषेध करना हमारे इस अनुमान का उद्देश्य है।¹³⁴ यहाँ दृष्टव्य है कि विज्ञानवाद घटादि पदार्थों को भी विज्ञानस्वरूप ही मानता है, अतः, लोकप्रसिद्ध सालम्बनता उनमें भी मानी जाती है। इस प्रकार, प्रत्याय्य और प्रत्यायक का वास्तविक भेद न होने पर भी काल्पनिक भेद को लेकर प्रत्याय्य-प्रत्यायकभाव जब बन जाता है, तब 'स्ववचनविरोध' नामक दोष भी कैसे होगा? यहाँ पर आचार्य कुमारिलभट्ट के श्लोक में ही थोड़ा-सा परिवर्तन करके ही समुचित उत्तर देने का कौशल प्रज्ञाकर ने दिखलाया है। वे लिखते हैं—

प्रत्याय्येन हि भिन्नेन बिना कर्त्रादिसम्भवः।

प्रत्यये तन्निमित्ते च बाधः स्ववचनात्कथं॥

अलंकार श्लोक, 756, पृ. 369

'ग' के अन्तर्गत उल्लिखित आपत्तियों का निराकरण करते हुए आचार्य प्रज्ञाकर कहते हैं कि रुद्धि लोकप्रसिद्धि का नाम है। 'अश्वकर्णादि' शब्द वनस्पति में रुद्ध होते हैं, किन्तु उस वनस्पति का न अश्व से कोई सम्बन्ध होता है, न अश्व के कर्णों से। इसी प्रकार, स्वप्न के शब्द भी किसी न किसी काल्पनिक अर्थ में प्रसिद्ध होने के कारण रुद्ध माने जाते हैं। ऐसी स्थिति में, 'प्रत्यय' शब्द भी निरालम्बन अर्थ में रुद्ध क्यों नहीं हो सकता? पुनश्च, निरालम्बनता के लिए सर्वथा और कथंचित् के विकल्प नहीं उठाये जा सकते, क्योंकि विज्ञान से भिन्न जब कोई वस्तु ही नहीं है, तब न पूर्णरूपेण सालम्बनता होती है और न कथंचित्। बाह्यता का निषेध वैसे ही हो जाता है, जैसे शुक्ति में रजतादि का। निषेध के लिए वस्तु की प्राप्ति चाहिए। प्राप्ति वस्तुतः हो अथवा आरोपतः, प्राप्ति प्राप्ति ही है। अतः, आरोपित रजतादि के समान आरोपित बाह्यता का निषेध क्यों नहीं हो सकता? इस प्रसंग को और स्पष्ट करते हुए आचार्य प्रज्ञाकर बतलाते हैं कि द्विचन्द्रादिज्ञान एकचन्द्र को विषय न करके दो चन्द्रों को विषय किया करते हैं। दो चन्द्रों का अभाव होने के कारण द्विचन्द्रज्ञान निरालम्बनता का दृष्टान्त माना जाता है। इसके अतिरिक्त, मीमांसकों को समझना चाहिए कि अर्थ और इन्द्रियों का सम्बन्ध स्वप्न में भी होता है, अपने धरातल पर। वैसे सम्बन्ध सर्वत्र सुलभ है। अतः, ज्ञान की उत्पत्ति अपने स्वरूप का अवगाहन करती हुई सर्वत्र प्रकट हो सकती है। स्वरूप से भिन्न वस्तु का आलम्बन न करने के कारण निरालम्बनता सुस्थिर है।¹³⁵

'घ' में निरूपित आक्षेपों के उत्तर में प्रज्ञाकर कहते हैं कि कुमारिल शब्दमूलक आक्षेपों को उठाते हुए यह भूल जाते हैं कि बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान को ही प्रमाण

मानते हैं, शब्द को नहीं। शब्द मनुष्यों के संकेत मात्र हैं, केवल वैसे ही संकेत हैं, जैसे कि पशुओं और पक्षियों के शब्द उनके अपने संकेत होते हैं। प्रज्ञाकर व्यंग करते हुए कहते हैं कि पशु और पक्षियों के शब्द किस अर्थ के बोधक होते हैं, इसका ज्ञान मीमांसकों को ही होगा। अतः, शब्द स्मारक मात्र हैं। जिस प्रकार धूम अग्नि का स्मारक है, वैसे ही शब्द भी किसी अर्थ का स्मारक माना जाता है। यहाँ प्रज्ञाकराचार्य यह इंगित करते हैं कि हम धर्माधर्म की व्यवस्था या प्रथा का निषेध नहीं करते, अपितु यह बतलाना चाह रहे हैं कि उसकी परमार्थता नहीं है। स्मरणीय है कि बाद में अद्वैतवेदान्त में भी, विशेषतया दृष्टिसृष्टिवाद में भी, स्वप्न के दृष्टान्त को सामने रखकर सभी प्रकार की विषयव्यवस्था की गयी है।¹³⁶

‘ड’ में निर्दिष्ट आक्षेपों का भी प्रज्ञाकर ने विस्तार से उत्तर दिया है। इसी प्रसंग में उन्होंने, कुमारिलभट्ट द्वारा निरालम्बन निराकरण परिच्छेद के प्रथम चार श्लोकों में वैदिकों को निरालम्बन के निराकरण में बद्धपरिकर होने का जो उपदेश दिया है तथा प्रमाणत्वाप्रमाणत्व, धर्माधर्म, बन्धमोक्ष आदि की व्यवस्था का जो भय दिखलाया है, उसे प्रज्ञाकर ने अकारण बतलाया है, क्योंकि सांवृतिक रूप से लौकिक व्यवस्थाएँ अपने स्थान पर जैसी की तैसी हैं, उनका निरास निरालम्बनवादी नहीं करते हैं। निरालम्बनवादियों का केवल इतना ही कहना है कि जैसे स्वप्न में एक पदार्थ अन्य पदार्थों के संस्कारों को उदबुद्ध करता जाता है, संस्कार जाग्रत होकर वैसे ही वैसे अपने पदार्थों का अवभास कराते जाते हैं। यह सार्वत्रिकनिधम धर्माधर्म से लेकर बुद्ध एवं उनके उपदेशों तक समानरूप से प्रयुक्त होता है। धर्म इष्टसाधन पदार्थ को कहा जाता है, उसमें प्रवृत्ति स्वाभाविक है। यह अवश्य देखना होगा कि वहाँ प्रवृत्त होने वाला पुरुष ज्ञानी है, अथवा अज्ञानी। ज्ञानी की प्रवृत्ति कभी संभव नहीं है, क्योंकि सदैव अतत्त्वदर्शी ही अपने रागद्वेष के आधार पर प्रवृत्त हुआ करता है। आचार्य प्रज्ञाकर लिखते भी हैं— “तस्मादतत्त्वेपि नृणां तत्त्वबुद्ध्या प्रवर्तनं।”¹³⁷ वे यह भी बतलाते हैं कि क्षणिकत्व योगचारदर्शन में विज्ञान का अपना स्वरूप ही है और वह साध्य है, अतः, उनके शब्दों में— “ततो विज्ञानात्मसालम्बनता दृष्टान्तेन तथाभूतसालम्बनतैव भेदवत्।”¹³⁸ प्रत्यक्ष अथवा अनुमान क्षणिकत्वादि का ही वेदन है, अतः, क्षणिकत्वादि से अन्य के द्वारा अनुमान की सालम्बनतया स्थिति नहीं होती। यह भी स्मरणीय है कि मात्र अविशंकादिता के चलते सालम्बनता नहीं होती। अतः, प्रज्ञाकर यह घोषणा करते हैं— “तस्मात्स्वसम्वेदनमन्तरेण वेदनमेव न सिध्यतीति सकलमनालम्बनमेव वेदनम्।”¹³⁹

बुद्धोपदेश तत्त्वदर्शियों के लिए नहीं है, क्योंकि बुद्ध ने न तो तात्त्विकदृष्टि से उपदेश किया और न तात्त्विक रूप से उसका ग्रहण किया जाता है। अतः, अद्वैतवादी

होने से प्रज्ञाकर भी नागाजुनादे की भांति (नागाजुन सम्प्रदाय के लोग अपने को 'अद्वयपथ' पर विद्यमान रहने वाला कहते हैं— 'अस्तिनास्तिद्वयनिरासेन तु वयं निर्वाणपुरगामिनो अद्वयपथं विद्योतयामः'—चन्द्रकीर्ति) यही बात सारांश के रूप में कहते हैं—

बद्धमुक्तादि भेदोऽपि नैवास्ति परमार्थतः।

अलंकार श्लोक 902, पृ० 382

समीक्षा — 'आलम्बन परीक्षा' में दिग्नाग ने दो शर्तों का उल्लेख किया है जिनकी पूर्ति आलम्बन द्वारा अवश्य होनी चाहिए। प्रथमतः, अर्थ को किसी ज्ञान का कारण अवश्य होना चाहिए और द्वितीयतः, ज्ञान में जो आभासित हो रहा है उसी आकार को इसे अवश्य धारण करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि एक ओर ज्ञान को अवश्य ही अर्थ से उत्पन्न हुआ होना चाहिए और दूसरी ओर विषय के साथ आकारगत सारूप्य वाला होना चाहिए। प्रथम शर्त की पूर्ति हेतु अर्थ को द्रव्यसत् होना चाहिए, क्योंकि, जो सत् नहीं है वह ज्ञानोत्पत्ति में समर्थ नहीं होता। द्वितीय शर्त को पूरा करने के लिए अर्थ को स्थूल आकार वाला होना चाहिए। इन दो शर्तों के आधार पर दिग्नाग यथार्थवादियों के आलम्बनविषयक अभिमत की परीक्षा करते हैं और बतलाते हैं कि एक परमाणु किसी ज्ञान का कारण हो सकता है, किन्तु, यह उस स्थूलाकार को धारण नहीं करता जो कि ज्ञान में आभासित आकार का संवादी हो। संचित परमाणु या परमाणु संघात स्थूलाकार वाला हो सकता है, किन्तु, यह ज्ञान का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि यह संवृत्तिस्त है। अतः दिग्नाग सभी प्रकार के यथार्थवादियों के अभिमत को अस्वीकार करते हैं। यही कारण है कि 'वादविधि' के प्रत्यक्षलक्षण की परीक्षा के समय वे 'ततोऽर्थाद्विज्ञानं' में दोष बतलाते हैं और 'अर्थ के आलम्बन होने का निषेध करते हैं, चाहे यह रूपादिविज्ञान को उत्पन्न करने वाले के अर्थ में लिया जाय, अथवा वर्णादि के परमाणु के अर्थ में।

आचार्य शंकर अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य (2/2/28) में दिग्नाग के अभिमत की, उनके 'आलम्बनपरीक्षा' के आधार पर, आलोचना करते हैं। उनका कहना है कि बाह्यार्थ का हमें अनुभव होता है, अतः, उसकी सत्ता को अस्वीकार नहीं करना चाहिए। बौद्ध जिस 'सहोपलम्भनियम' पर गर्व करते हैं वह मात्र इतना ही दर्शाता है कि आन्तरविज्ञान और बाह्य अर्थ का एक साथ उपलब्ध होता है। यह सिद्ध नहीं होता कि आन्तरविज्ञान तथा बाह्य अर्थ एक हैं। बाह्य अर्थ विज्ञानाश्रित हैं, किन्तु विज्ञानस्वरूप नहीं, विज्ञानग्राह्य हैं, विज्ञानांश नहीं! अनुभव करते हुए भी बाह्यार्थों की सत्ता को न मानना अनर्गलप्रलाप है। 'नीलविज्ञान' और 'पीतविज्ञान' में 'नील' और 'पीत' भिन्न हैं,

किन्तु विज्ञान वही है। अतः, अर्थों के अनेक होते हुए भी विज्ञान एक रहता है। अतः, विज्ञान और बहिरर्थ में भेद स्पष्ट है। आचार्य शंकर दिग्नाग के 'बहिर्वत्' तथा धर्मकीर्ति के 'भेदवानिव' पर आपत्ति उठाते हुए बतलाते हैं कि 'वत्' एवं 'इव' शब्द ही प्रमाणित करता है कि बाह्यार्थ है, अन्यथा 'बहिर्वत्' कहने की क्या उपयोगिता है? कोई यह नहीं कहता कि विष्णुमित्र बन्ध्यापुत्रवत् अवभासित होता है। अतः, वे कहते हैं— "बहिरेवावभासत इति युक्तमभ्युपगन्तुं, न तु बहिर्वदवभासत इति।"¹⁴⁰ इस प्रकार, मनोवैज्ञानिक वस्तुवाद उन्हें अभीष्ट है और व्यवहारदशा में वे आन्तरज्ञाता और बाह्यज्ञेय, विषयी और विषय, ग्राहक विज्ञान और ग्राह्य पदार्थ की पृथक् सत्ता के प्रबलपोषक हैं। इसी प्रकार, विज्ञानवादियों द्वारा स्वप्नावस्था एवं जाग्रतावस्था को समान मानने का भी शंकराचार्य खण्डन करते हैं और दोनों में यह भेद बतलाते हैं कि स्वप्न में अनुभूत वस्तुओं का जाग्रतावस्था में बाध हो जाता है, जबकि जाग्रतावस्था में उपलब्ध पदार्थों का व्यवहारदशा में बाध नहीं होता। पुनश्च, स्वप्न व्यक्तिगत है, जीवाश्रित है एवं उसकी स्मृति होती है, जबकि जाग्रतावस्था समष्टिगत है, ईश्वराश्रित है और उसकी साक्षात् उपलब्धि होती है। अतः, वे घोषित करते हैं 'न शक्यते वक्तुं मिथ्या जागरितोपलब्धिरूपलब्धित्वात् स्वप्नोपलब्धिवत् इत्युभयोरन्तरं स्वयमनुभवता।'¹⁴¹

शंकराचार्य की विज्ञानवादकृत उपर्युक्त आलोचना पर डाक्टर शर्मा अपना यह अभिमत अभिव्यक्त करते हैं कि वह दिग्नाग से प्रारंभ स्वतन्त्रविज्ञानवाद पर तो प्रयुक्त होती है, किन्तु, असंग-वसुबन्धु के विज्ञानवाद पर नहीं।¹⁴² परन्तु, हम जानते हैं कि दिग्नाग-सहित सभी युक्त्यनुयायीविज्ञानवादी विज्ञप्तिमात्रतावादी हैं¹⁴³ और विज्ञप्तिमात्रता के प्रसंग में भी प्रमाणफलव्यवस्था करते हैं। इस तथ्य का आश्रय लेकर कुछ विद्वान यह अभिमत व्यक्त करते हैं कि आचार्य शंकर की आलोचना असंग-वसुबन्धु के विज्ञानवाद पर भी प्रयुक्त होती है।¹⁴⁴ यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि विज्ञानवादी अथवा प्रत्ययवादी होते हुए भी, दिग्नाग-सम्प्रदाय एवं शांकरवेदान्त में तत्त्व के स्वरूप में अत्यन्त विभेद है। बौद्ध अद्वैतवाद, क्षणभंगवाद, अनात्मवाद, अविभुवाद तथा अर्थक्रिया को तत्त्व का लक्षण मानता है, जबकि अद्वैतवेदान्त का ब्रह्म या आत्मा स्थाणु, विभु, अविकार्य, नित्य एवं अपरिणामी है। अन्य आस्तिकों की भाँति वेदान्त यह मानता है कि ज्ञान तत्त्वाधिगम का साधन है, जबकि बौद्धों के लिए ज्ञानमीमांसा को तत्त्वमीमांसा का अनुगामी होना चाहिए। अतः, बौद्धों के लिए प्रमाण तत्त्व की ज्ञानात्मक स्वीकृति है। पुनश्च, वेदान्त ज्ञान की 'परिच्छेदकता' की बात करता है और मानता है कि कोई भी ज्ञान बिना आलंबन के नहीं होता। इसे 'ज्ञान की वस्तुतन्त्रता' कहते हैं। ज्ञानमीमांसा के धरातल पर वेदान्त के लिए प्रामाण्य का प्रत्यय ज्ञान की अवधारणा

में ही निहित है। यही कारण है कि स्वतःप्रामाण्यवाद और उसके फलितार्थ के रूप में वेदान्त यह मानता है कि वस्तु का उसके ज्ञान से अतिरिक्त उसके स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए कोई अन्य गारण्टी नहीं है। स्पष्ट है कि ज्ञान को वस्तुतन्त्र मानते हुए भी इस तरह की बात करना एक कमजोरी है जो इस बात की सूचक है कि वेदान्त के लिए तात्त्विक-सिद्धान्त ज्ञान-सिद्धान्त पर निर्भर है।¹⁴⁵ यही बात निरालम्बनता का निराकरण करने वाले मीमांसादर्शन पर भी प्रयुक्त होती है।

विषयता को विज्ञप्ति से भिन्न मानने, 'इदम्' की सत्ता को वस्तुस्वत् मानने एवं 'यत्किञ्चित्' को कल्पित न मानने आदि के कारण आचार्य शंकर को विषयनिष्ठप्रत्ययवादी और ऐसा न मानने के कारण दिग्नाग के सम्प्रदाय को विषयीनिष्ठ प्रत्ययवादी मानकर कुछ विद्वान् दिग्नाग-सम्प्रदाय को खण्डित करने हेतु एक सहूलियत की स्थिति पैदा कर लेते हैं। किसी सिद्धान्त का अपना लक्षण रचकर उसे एक दोष मानने की स्वतंत्रता किसी को है, परन्तु इससे किसी सिद्धान्त को असिद्ध करने वाला साधक प्रमाण नहीं मिल जाता। दिग्नाग सम्प्रदाय उत्पन्न हो रहे ज्ञान की व्याख्या में अपने को प्रयुक्त करता है। तत्त्वमीमांसा के धरातल पर ज्ञान तत्त्व की ज्ञानात्मक अभिव्यक्ति है। आत्मा जैसे किसी विचित्र चेतनस्रोत से वह प्रादुर्भूत नहीं होता, क्योंकि आत्मा जैसी कोई सत्ता नहीं होती। बौद्धों का पक्ष है कि यदि, ज्ञान किसी वास्तविक आत्मा पर निर्भर होता, तो इससे मान का मेयानुसारी होना ही सिद्ध होता है। बौद्धों के लिए सत्य 'स्वलक्षण' रूप है। यह उनका प्रस्थान बिन्दु है। इसे ही ज्ञानश्रीमित्र 'अद्वैतबिन्दु' कहते हैं। अतः, जब तक 'अद्वैतबिन्दु' विज्ञान में कोई अनुपपत्ति नहीं दिखायी जाती, विज्ञानवाद खण्डित नहीं होता। ज्ञानमीमांसा के धरातल पर तो बौद्ध व्याख्या सबसे अधिक संतोष जनक लगती है, इसे हम पहले अनेक प्रसंगों में देख चुके हैं।

विज्ञानवादी ज्ञानमीमांसा के लिए ज्ञान की स्वसंवेदनता प्राणस्वरूप है, क्योंकि इसकी सिद्धि हो जाने पर यह भी प्रदर्शित हो जाता है कि 'ज्ञान से ज्ञेय का कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता और न तो ज्ञान और ज्ञेय के बीच किसी प्रकार का व्यापार या क्रिया बन सकती है'। पुनश्च, जैसा पण्डित जगन्नाथ उपाध्याय जी बतलाते भी हैं "ज्ञान यदि ज्ञेय को प्रकाशित करता है, तो यह बताना होगा कि क्या उसने ज्ञेय को उत्पन्न किया है, अथवा उसने ज्ञेय में कोई ऐसी विशेषता या अतिशय उत्पन्न कर दिया है जो उसमें उसके पहले नहीं था? यदि, ज्ञेय ज्ञान को नियंत्रित करता है, तब भी उपर्युक्त प्रश्न का समाधान करना होगा। इसका समाधान न होने की स्थिति में बाह्यार्थवादी अपने अनुकूल ग्राह्य-ग्राहक की द्वैतवादी व्यवस्था नहीं बना सकता।"¹⁴⁶ न्याय-वैशेषिक, मीमांसा, जैन आदि बाह्यार्थवस्तुवादी यह मानते हैं कि

ग्राह्यता की दृष्टि से ज्ञान घट, पट आदि बाह्यार्थवस्तुओं से भिन्न नहीं है। बाह्यार्थवादियों को डर था कि यदि, वे स्वसंवेदन को स्वीकार कर लेते हैं, तो, ज्ञान को स्वसंवेदनता रूप कुक्षि में संपूर्ण ज्ञेयजगत् समाहित हो जायगा और परिणाम यह होगा कि "एक ओर ज्ञानातिरिक्तजगत् का अनस्तित्व सिद्ध होकर विज्ञान का अद्वैतत्व सिद्ध होगा तथा दूसरी ओर बाह्य वस्तुवाद के अभाव में उनकी दृष्टि में सारी धार्मिक और सामाजिक व्यवस्थायें समाप्त हो जायेंगी।"¹⁴⁷

स्वसंवेदनत्व के आधार पर बाह्यवस्तुवाद को तिरस्कृत करके भी विज्ञानवादी किस प्रकार, अपनी व्यवस्था में भलीभाँति ग्राह्य-ग्राहकभाव का निर्वाह करते हैं, यह हम देख चुके हैं। वस्तुतः, ग्राह्य-ग्राहकभाव की व्यवस्था हेतु विज्ञानवादियों ने जिन सिद्धान्तों का आविष्कार किया उनमें साकारता-निराकारता का सिद्धान्त भी एक था। यद्यपि, कोई भी विज्ञानवादी बाह्यार्थ सत्तावादी नहीं है, तथापि उनमें ज्ञान में आभासित आकार सत्य है या मिथ्या अथवा कोई अन्य प्रकार की स्थिति, इसको लेकर विवाद था और इस प्रश्न के समाधान में अनेक सिद्धान्तों का विकास हुआ¹⁴⁸ जिनकी अतिसंक्षिप्त सूचना ज्ञानश्रीमित्र द्वारा प्रदान की गयी है और जिनमें तीन मतों की विवेचना इन्द्रियप्रत्यक्ष के विभिन्न सिद्धान्तों के प्रसंग में हम कर आये हैं। विज्ञानवादियों के समक्ष मूल समस्या यह खड़ी हुई थी कि विज्ञान का अस्तित्व कैसा माना जाय कि न तो उसमें वस्तुवाद की असंगतियाँ हों और साथ ही उसके द्वारा सर्वनास्तित्ववाद की भी व्याख्या हो जाय। ऐसी स्थिति में विज्ञानवाद को दो काम संपादित करना पड़ा— (1) बाह्यवस्तु की सत्ता प्रतिपादित करना और (2) सभी धर्मों के नास्तित्व की भी व्याख्या करना। इसी प्रसंग में आचार्य धर्मकीर्ति की इस घोषणा का औचित्य समझा जा सकता है कि 'सभी स्थितियों में विज्ञानवादी नैयायिकों का सिद्धान्त विज्ञप्तिमात्रता ही रहेगा। यद्यपि, हमने कहा है कि धर्मकीर्ति आदि ने सौत्रान्तिकों के बाह्यार्थ का आलम्बन लेकर भी ज्ञान की द्विरूपता सिद्ध की है, किन्तु एतदर्थ बाह्य को मानना उनके लिए कोई अपरिहार्यता नहीं है, क्योंकि इसकी सिद्धि हेतु 'सहोपलम्भनियम' पर्याप्त है।

पाद-टिप्पणी

प्रथम अध्याय

1. तत्त्वसं० का० 35
2. हे०बि०टी०, प्रस्ता० पृ० 14
3. वही, पृ० 15-3
4. MDPN p. 97 में कृष्णनाथ जी का लेख एवं वै०सू० भूमिका, पृ० 11.14
5. वै०सू०, प्रस्तावना, पृ० 22-25
6. दीघनि० पोद्धपादसुत्त 89; तैविज्यसुत्त 1.13; अंगुत्तरनिकाय-वेरंजकसुत्त 1-2.1, सीहसुत्त 8. 1-2-2; मज्झिमनिका० अस्सलायनसुत्त 25-3 आदि।
7. Buddhist Psychology, Rhys Davids तथा Buddhist Psychology of Perception, by Sharathchand, Ceylone आदि नाम इसके प्रमाण हैं।
8. अर्थशास्त्र-विष्णुगुप्त देखें।
9. Early Buddhist Theory of Knowledge, by K. N. Jayatilake.
10. वादविधि के प्रत्यक्षलक्षण की दिग्भागाकृत आलोचना से स्पष्ट है।
11. सेम्पादार्जे द्वारा तिब्बती से संस्कृत में पुनरुद्धार कर प्रकाशित।
12. MDPN, p. 51-64, मेरा लेख एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री हेतु द्रष्टव्य, Absolutist stand point in logic, लेखक 'सत्कारी मुकर्जी, नव नालन्दा महाविहार रिसर्च पब्लिकेशन, प्रथम जिल्द, पृ० 1.175
13. वै०सू०, देखें
14. हे०बि०टी०, प्रस्तावना, पृ० xvii
15. वही, xvii
16. वही, पृ० xvii
17. वादविधि एवं वादविधान तिब्बती में ही उपलब्ध
18. वसुबन्धु एक या दो; द्रष्टव्य, पी०एस० जैनी का लेख, बी०एस०ओ०ए०एस०, भा० xxi.1 1958 पी०पी० 48-53
19. अय्यारस्वामी शास्त्री 'सत्यसिद्धिशास्त्रम्' पर प्रस्तावना, पृ० xxiv में 10पी बिन्दु एवं 'गौतम बुद्ध' अंग्रेजी ग्रन्थ, पृ० 211.15 में 'हरिवर्मन्स थियोरी ऑफ कॉग्निशन' नामक उनका लेख।
20. इस ग्रन्थ के लेखक 'विमलकीर्ति' हैं, ऐसी संभावना, पी०एस० जैनी महोदय ने व्यक्त की है। देखें, अभिधर्म दीप० अंग्रेजी प्रस्तावना, पृ० 133-35
21. अमि०दी०, पृ० 47
22. वही, पृ० 29, पाद टि० 4 एवं पृ० 32
23. वही, पृ० 31
24. वही, पृ० 32
25. वही, पृ० 33
26. Buddhist Doctrine of Universal Flux, p.71
27. अमि०दी०, पृ० 33, टिप्प० 2
28. वही, पृ० 33, टिप्प० 1

29. वही, पृ० 33
30. वही, पृ० 47, पं० 10
31. वही, प्रस्ता०, पृ० 78
32. वही, पृ० 47
33. वही, पृ० 47-48
34. वही, प्रस्ता० पृ० 79-80
35. वही, पृ० 80
36. स्फुटा० अभि०को०व्या०, पृ० 179
37. अभि०दी०, पृ० 107, टिप्प० 2
38. कथाव० 22-8
39. स्फुटा०, पृ० 191.197; अभि०दी०, पृ० 114
40. Buddhist Logic, Vol. II, P. 40; Central Conception of Buddhism, p. 56
41. समसामयिक पाश्चात्य दर्शन में भी ऐसा विवाद है, जिसके चलते वस्तुवाद के विविध प्रकार हैं।
42. अभि०दी०, प्रस्ता०, पृ० 118
43. अभि०दी०, पृ० 263 तथा प्रस्ता०, पृ० 120
44. वही, पृ० 271-72 तथा प्रस्ता०, पृ० 121-22
45. वही, पृ० 277
46. वही, पृ० 279
47. अभि०को०भा०, 5-27 एवं अभि०दी०, पृ० 279
48. अभि०दी०, प्रस्ता०, पृ० 126
49. अभि०दी० कारिका-321
50. तत्त्वसं० का० 1806 एवं उस पर पंजिका
51. अभि०को०, 1-35 तथा हे०वि०टी०, पृ० 355
52. सत्यसिद्धिशास्त्रम् 48वा प्रकरण।
53. भगवान् बुद्ध के 2500वें जन्मोत्सव पर 'गौतम बुद्ध' नाम से प्रकाशित ग्रन्थ में अध्यासवामी का लेख, पृ० 212
54. वही, पृ० 212.13
55. वही, पृ० 213
56. वही, पृ० 213.14
57. वही, पृ० 214
58. वही, पृ० 214। यशोमित्र अज्ञात स्रोत से यह उद्धरण देते हैं- "एवं हि विज्ञानकारणं पठ्यते। चक्षुरिन्द्रियमनुपहतं भवति। विषय आभासगतो भाति। ततश्च मनसि कारः प्रत्युपस्थितो भवतीति।" वही, पृ० 214 में उद्धृत।
59. सत्यसिद्धिशास्त्रम्, प्रस्ता०, पृ० 6 तथा पृ० 215 "तत्र यत् संज्ञानुस्मरणविकल्पापोढं तत् प्रत्यक्षमुच्यते।"
60. प्र०वा०भा०, पर राहुल जी की प्रस्तावना, पृ० 'त'

द्वितीय अध्याय

1. प्र०वा० 1-3 प्रथम पं०; धर्म० प्र०, पृ० 17; तर्कभा० पृ० 6-7
2. तत्त्वसं० 3095; ल० स्ववृ० 1/3, सि०वि०वृ०, 1/3, न्याय०वि०टी०टी०, पृ० 8, प्र०क०भा०, पृ० 14.18 एवं न्यायकु०च०, पृ० 25-32
3. "अदुष्टं विद्या"। वैशेषिक सूत्र- 9/2/12
4. न्या०भा०, पृ० 18; न्या०वा०, पृ० 5; न्या०मं०, पृ० 25, द्रष्टव्य है कि चात्स्यायन अपने भाष्य 1/1/3 में ज्ञान को प्रमाण स्वीकार करते हैं। अथस्तम्भ भी इस बात को मानते हैं। न्या०मं०, पृ० 62, नव्यन्याय में भी यह बात प्रत्यक्ष लक्षण में स्वीकार की गयी है। यह भी द्रष्टव्य है कि जयन्त, वाचस्पति एवं बाद के नैयायिक मानते हैं कि प्रमाण बोध और अबोध स्वभाव वाला भी हो सकता है। न्या०मं०, पृ० 12, प्रथम भाग एवं "तदेव ज्ञानमज्ञानं वा उपलब्धि हेतुः प्रमाणम्।" न्या०वा०वा०टी०, पृ० 16
5. "स्वसंवेति : फलं वात्र तद्रूपोद्भवनिश्चयः। विषयाभासतैवास्य प्रमाणं तेन मीयते।। प्र०सं०-1/9
6. तत्त्व सं० का० 13,
7. शून्यवादियों के आक्षेपों से बचने के लिए विज्ञानवादी निषेधात्मक लक्षण का सहारा लेते हैं। निषेधात्मक लक्षण देने के पीछे क्या कारण थे, एतदर्थ देखें- Indian Logic, by K K Dikshita, p.12.15
8. प्र०वा०भा०, पृ० 30- "तत्र पारमार्थिकप्रमाणलक्षणमतत्। पूर्वं तु सांख्यवहारिकस्य।"
9. धर्म० प्र०, पृ० 19;
10. प्र०वा०वृ०, पृ० 14;
11. प्र०वा० 1/3;
12. प्र०वा०भा०, पृ० 3-4
13. वही, पृ० 5;
14. वही,
15. वही,
16. वही, पृ० 21-22;
17. प्र०वा०भा०, पृ० 25;
18. प्र०वा०वृ०, पृ० 3-4;
19. धर्म० प्र०, पृ० 17.18;
20. वही, पृ० 18;
21. वही, पृ० 17;
22. वही, पृ० 17;
23. वही, पृ० 17. "तदयमर्थः- अत्रिसंवादकं प्रवृत्तिविषयवस्तुप्रापकं सम्यग्ज्ञानमिति।
24. वही, पृ० 18
25. वही, पृ० 18
26. वही, पृ० 18
27. वही, पृ० 18
28. वही, पृ० 19

29. वही, पृ० 19
30. वही, पृ० 19-20
31. वही, पृ० 20
32. वही, पृ० 20
33. वही, पृ० 20
34. वही, पृ० 20-21
35. वही, पृ० 20
36. वही, पृ० 20
37. वही, पृ० 21
38. वही, पृ० 21
39. वही, पृ० 21
40. धर्मो० प्र०, पृ० 21
41. धर्मो० प्र०, पृ० 21
42. वही, पृ० 22
43. वही, पृ० 22
44. वही, पृ० 22-23
45. न्यायबिन्दु टीका, संपादक श्री निवास शास्त्री, पृ० 15.16
46. धर्मो० प्र०, पृ० 23, धर्मोत्तर की टीका
47. वही, पृ० 24, दुर्वेक का प्रदीप
48. वही, पृ० 25, धर्मोत्तर की टीका
49. वही, पृ० 25, धर्मोत्तर की टीका
50. वही, पृ० 25, दुर्वेक का प्रदीप
51. वही, पृ० 26
52. वही, पृ० 26
53. वही, पृ० 26
54. वही, पृ० 26, धर्मोत्तर की टीका एवं दुर्वेक का प्रदीप।
55. वही, पृ० 26, धर्मोत्तर की टीका।
56. वही, पृ० 27, दुर्वेक का प्रदीप
57. वही, पृ० 27
58. वही, पृ० 27
59. वही, पृ० 28, धर्मोत्तर की टीका।
60. वही, पृ० 29, धर्मोत्तर की टीका।
61. वही, पृ० 28, दुर्वेक का प्रदीप।
62. वही, पृ० 30, धर्मोत्तर की टीका।
63. धर्मो० प्र०, पृ० 31-32 धर्मोत्तर की टीका।
64. न्यायबि० टी० विनीतदेवकृत, पृ० 5, गृणालकान्ति गंगोपाध्याय, द्वारा तिब्बती से संस्कृत में अनूदित, अंग्रेजी अनुवाद के लिए देखें, इसी ग्रन्थ का पृ० 85-86; Buddhist logic, Vol. 2, p.11 टिप्प 1.

65. धर्मो० प्र० पृ० 32-33 दुर्वैक का प्रदीप।
66. वही, पृ० 34, धर्मोत्तर की टीका एवं दुर्वैक का प्रदीप।
67. स्फुटार्थाभिधर्मकोशव्याख्या, 1.10, पृ० 29
68. धर्मो० प्र०, पृ० 25 धर्मोत्तर की टीका
69. प्र०वा०भा०, पृ० 23
70. न्या०बि० 1-20
71. न्या०बि० 1-20 पर टीका करते हुए धर्मोत्तराचार्य लिखते हैं— "यस्माद् विषयाद्विज्ञानं उदेति तद्विषयसदृशं तद भवति। यथा नीलादुत्पद्यमानं नीलसदृशम्।" आचार्य मनोरथनन्दि भी लिखते हैं— 'अर्थः सारूप्यसंक्रान्तैस्तद्रूपेण ज्ञानरूपेण प्रकाशते।। 2-482 पर वृत्ति। आचार्य वाचस्पति भी 'भामती' में लिखते हैं— 'न विवृत्तसत्तैव तद्वेदना युक्ता, तस्या सर्वत्राविशेषात्। तां तु सारूप्यमाविशत् स्वरूप्यतत्त्वदघटयेत्, पृ० 542। न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका में भी आचार्य वाचस्पतिमिश्र लिखते हैं— 'स एव विषयो य आकारमस्यामर्पयति।' पृ० 388-4
72. हेतुभावादृते नान्या ग्राह्यता नाम काचन।
तत्र बुद्धिर्यदाकारा तस्यास्तद ग्राह्यमुच्यते।। प्र०वा० 2-224
73. न्या०बि० 1-21
74. न्या०बि० टीका टिप्पणी, पृ० 42
75. धर्मोत्तर प्रदीप, पृ० 81, 82 एवं 83
76. न्या० बि० 1-21 पर धर्मोत्तर की टीका
77. धर्मो० प्र०, पृ० 82, पंक्ति 23-28
78. यह 'सादृश्य' क्या है इसको लेकर दार्शनिकों में मतवैभिन्न्य है। न्याय-वैशेषिक मानते हैं कि सामान्य आदि का अनेक पदार्थों में होना ही सादृश्य है" देखिये न्या० ली०, पृ० 76। सामान्य से भिन्न होते हुए भी सादृश्य कोई अलग पदार्थ नहीं है। सांख्य के अनुसार, शुक्लत्वादि जो समानधर्म हैं वही, सादृश्य या सारूप्य है। मीमांसक सादृश्य को सामान्य से भिन्न मानते हैं और इसे एक पृथक् पदार्थ स्वीकार करते हैं। परन्तु, बौद्धों के लिए सादृश्य एक 'कल्पना' है, मानसिककल्पना है जिसका बाह्यजगत् में अस्तित्व नहीं होता। अतः, इसे अन्यव्यावृत्ति रूप में ही समझा जा सकता है।
79. प्र०वा० 2-368-70
80. प्र० समु० 1.11, प्र० वा० 2-370; प्र० वा० भाष्य, पृ० 403; विशेषतया द्रष्टव्य, एम० हतोरि का ग्रन्थ 'दिग्नाग ऑन परसेप्शन', पृ० 108.110, पाद टिप्पणी, 1-69, 1-70, 1-71
81. प्र०वा०भा०, पृ० 30
82. प्र०वा० वृत्ति, पृ० 14
83. वही, पृ० 14.15
84. प्र०वा०भा०, पृ० 30
85. वही, पृ० 30
86. वही, पृ० 31
87. वही, पृ० 31
88. 'प्रमाणं सव्यग्ज्ञानमपूर्वगोचरम्' बौद्ध तर्कभाषा, पृ० 1
89. वही, पृ० 2-6

90. वही, पृ० 2-4
91. वही, पृ० 4-5
92. वही, पृ० 5-7
93. न्या० बि० पृ० 4, गोविन्दचन्द्र पाण्डेय कृत अनुवाद एवं व्याख्या।
94. जिससे कार्य उत्पन्न हो उसे जनककारण और जिससे कार्य का ज्ञान हो उसे ज्ञापककारण कहते हैं।
95. प्रामाण्य के पक्ष में न्याय का पक्ष वैशेषिकों को भी मान्य है। भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों के प्रमाण विषयक अभिमत के लिए द्रष्टव्य 'खण्डनखण्डखाद्य', प्रमाणपक्ष, पृ० 41-72 स्वामी गुरुशरणानन्द जी कृत अद्वैतवेदान्त भी स्वतः प्रामाण्यवाद को मानता है, और प्रामाण्य के विषय में मीमांसकों से इनका मतैक्य है। अद्वैतवेदान्त में अबाधितत्व ज्ञान की सत्यता का लक्षण है— 'बाधित विषयत्वेन हि भ्रमत्वं, न तु व्यधिकरणप्रकारत्वेन, तस्यापि विषयबाधप्रयोज्यत्वात्' अद्वैतसिद्धि, पृ० 340। अद्वैतवेदान्त में प्रमा का एक लक्षण यह है कि उसे सत्य होना चाहिए और प्रमा की सत्यता इस बात में निहित है कि उसमें अबाधितार्थविषयकत्व हो (वेदान्त परिभाषा, पृ० 19)। सत्य ज्ञान की दूसरी विशेषता है कि यह अनधिगत रहता है। अतएव, 'अनधिगताबाधितार्थविषयक ज्ञान ही प्रमा है'। यही कारण है कि वेदान्त मत की संसक्तता सिद्धान्त से तुलना की जाती है। वेदान्ती भी संवादिता सिद्धान्त की आलोचना में कहता है कि यह सिद्धान्त अपनी सिद्धि साक्षात् रूप में नहीं कर सकता। संवादिता को सिद्ध करने का एकमात्र तरीका है अनुभवों के सामंजस्य के तथ्य के आधार पर ज्ञान और सत्यता में वास्तविक मेल या संगति का अनुमान करना। किन्तु, इस प्रक्रिया से हमें उस ज्ञान का उस समय विशेष तक अबाधित होना ही ज्ञात होता है; यह ज्ञान नहीं होता कि यह दोष (मिथ्यात्व) से पूरी तरह मुक्त है। इस विषय में विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य वेदान्त परिभाषा। पुनश्च, अद्वैतवेदान्त के प्रमाणविषयक अभिमत के लिए देखें 'खण्डनखण्डखाद्य, प्रमाणपक्ष, पृ० 68-72।
96. "तदुभयमुत्पत्तौ परत एव, ज्ञप्तौ तु स्वतः परतश्चेति"; प्रमाणनयतत्त्वालोक 1-21
97. "उत्पत्तौ परतः ज्ञप्तौ च परतः" और भी देखें — न्यायमं, पृ० 160" तस्माद् प्रामाण्यमपि परोक्षमित्यतो द्वयमपि परत इत्येव एव पक्षः श्रेयान्"।
98. "स्वतः सर्व प्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते।" मीमां० श्लो० 2-47
"दोषतश्चाप्रमाणत्वे स्वतः प्रामाण्यवादिनाम्।" वही, पृ० 49
99. "स्वरूपस्य स्वतो गतिः, प्रामाण्यं व्यवहारेण....."। प्र०वा० 1/6
सर्वचित्तवैचानां आत्मसंवेदनं स्वसंवेदनम्" न्या० बि० 1.11
100. प्र०वा० 1-7 पर मनोरथनन्दि की वृत्ति।
101. "नहि बौद्धेरेषां चतुर्णामेकतमोऽपि पक्षोऽभीष्टः, अनियमपक्षस्येष्टत्वात्"। तत्त्वसं 3122 पर पंजिका।
102. "तत्त्वसं०, 2960 तथा उस पर पंजिका।
103. स्पष्ट है, यहाँ पर धर्मकीर्ति सौत्रान्तिक अभिमत को स्पष्ट कर रहे हैं। आचार्य प्रज्ञाकर भी 'प्रमाणं' अविस्वादिज्ञानं अर्थक्रियारिधिति' पर अपने भाष्य में इसी अभिमत का समर्थन करते हैं, देखें, अलंकारभाष्य, पृ० 4

'प्रामाण्य व्यवहारेण' की व्याख्या करने का भी न इसी बात को स्पष्ट करने हैं कि ज्ञान का स्वरूपसंवेदन और ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय दो विलग बातें हैं। प्रामाण्य की चर्चा व्यावहारिक दृष्टि पर की जाती है, पारमार्थिक दृष्टि से नहीं। परमार्थतः तो एकमात्र 'स्वसंवेदनप्रत्यक्ष' ही प्रमाण है। 'नहि ज्ञानस्वरूपमेव प्रामाण्यं' प्राप्तरूपसम्बन्धेन तत्त्वव्यवस्थापनात् । 'कथं न हि प्रामाण्यमप्रमाणतो निवृत्तं व्यवस्थाप्यते?' 'प्रामाण्यं व्यवहारेण ।', साध्यव्यवहारिक प्रामाण्य प्रतिपादयता परमार्थत एकमेव स्वसंवेदन प्रत्यक्षमित्युक्तं भवति।' अलंकारभाष्य, पृ० 25

104.'according to Nyāya - Vaiśeṣika and Buddhist logicians both the validity and invalidity of a piece of knowledge are extrinsic.' Indian Logic, by K.K. Dikshita, p.29.
105. ध्यानीय है कि यह स्थिति प्रामाण्य और अप्रामाण्य की झप्पि के विषय में है, उत्पत्ति के विषय में नहीं। प्रदीपकार दुर्गेक मिश्र का भी यही मत है। देखें, इसी ग्रन्थ का पृष्ठ 28
106. जिन चार पक्षों को आचार्य कमलशील ने, (तत्त्वसंग्रह, 2810 पर पंजिका में) प्रस्तुत किया है उनका अवलम्बन मीमांसक लेते हैं। मीमांसक प्रथम तीन को गलत ठहरा कर स्वतःप्रामाण्य रूप अपने चतुर्थ पक्ष की वैधता को प्रस्थापित करते हैं, अतः चार पक्ष की बात को मीमांसकों के अभिमत को प्रस्तुत करने के रूप में ही समझा जाना चाहिए।
107. तत्त्वसं० 2810 पर पंजिका।
108. स्याद्वादमंजरी, पृ० 176.177।
109. जैनों के प्रामाण्य विषयक मत की विस्तारपूर्वक विवेचना के लिए द्रष्टव्य जैन न्याय, कैलाशचन्द्र शास्त्री कृत, पृ० 102.109; नागिन, जे० साह कृत— Akalaṅka's criticism of Dharmakṛti's Philosophy, पृ० 187, 197, न्याय० कु०, पृ० 197-204; प्रमेयक० मा०, पृ० 149-176
110. तत्त्वसं० 2810-11 पर पंजिका।
111. तत्त्वसं० 2810-11 पर पंजिका।
112. तत्त्वसं० 2810-11 पर पंजिका।
113. तत्त्वसं० 2815
114. तत्त्वसं० 2816-21 पंजिका सहित।
115. वही, 2822 पर पंजिका।
116. वही, 2823-25
117. वही, 2826-28
118. वही, 2829-32
119. वही, 2835
120. वही, 2841 पर पंजिका।
121. तत्त्वसं० 2897
122. वही 2899
123. वही 2927 पर पंजिका
124. वही, 2934-35
125. वही, 2940
126. वही 2944 पर पंजिका

127. तत्त्व सं० 2950-51 पर पंजिका। व्यानीय है कि ऊपर की आलोचना में कमलशील ने 'हेतुदोष' को ही बतलाया है, 'प्रतिज्ञादोष' को नहीं— 'एले च प्रतिज्ञादोषोदभावनमुखेन हेतोरव्याप्तिप्रकाशनाद् हेतुदोषा एव द्रष्टव्याः, न तु प्रतिज्ञादोषाः।' तत्त्वसं० पंजिका, पृ० 941
128. वही, 2958-61 पर पंजिका
129. वही, 2962-64 पर पंजिका।
130. वही, 2966-67 पर पंजिका।
131. तत्त्वसं० 2974 पर पंजिका।
132. वही, 2975
133. वही, 2975
134. वही, 2980-81 पर पंजिका।
135. वही, 2983-85
136. वही, 2986
137. वही, 2986-89 पर पंजिका।
138. वही, 2968 पर पंजिका।
139. तत्त्वसंग्रह पंजिका, पृ० 944
140. वही, पृ० 944-45
141. वही, 2968 पर पंजिका
142. तत्त्वसंग्रहपंजिका, पृ० 946, पंक्ति 13.19
143. वही, पृ० 946-47
144. वही, पृ० 947, पंक्ति 12.14
145. तत्त्वसं० 3099
146. "अतएव पक्षद्युष्टयोपन्यासोऽप्ययुक्तः, पंचमस्याप्यनियमपक्षस्य सम्भवात्।" तत्त्वसं० 3122 पर पंजिका।
147. द्रष्टव्य, न्या० कु०, पृ० 197-204 तथा प्रमेयक० मा० पृ० 149.176
148. प्रमाणमीमांसा, पृ० 6, इस स्थल की तुलना हम तत्त्वसं० 2944 पर कमलशील की पंजिका से करें, तो हमारी बात समर्थित हो जाती है। धर्मोपदीप० पृ० 19 भी देखें। दुर्वैक मिश्र के विवेचन से हेमचन्द्र के विवेचन का शाब्दिकदृष्टि से भी इतना अधिक साम्य है कि वह हमारे अभिमत को निःसंदिग्धरूप से सिद्ध कर देता है।
149. पृहती, पृ० 50-51
150. वही, शालिकनाथ की टीका, पृ० 5। "विज्ञानद्वयं चैतत्, इदमिति प्रत्यक्षं रजतमिति स्मरणम्, अन्यथा रजतावगत्यसंभवात्। नहि तदिन्द्रियजं, तेन सम्प्रयोगाभावात्। असंयुक्ते चेन्द्रियं विज्ञानं न जनयति, अंधस्यानुत्पादात्। उत्पन्नानि तावच्छ्रुतिकादिषु रजतादिज्ञानानि स्मृतिरूपतया, ।
151. Critical Survey of Indian Philosophy, p. 231
152. संवादिता सिद्धान्त के छः रूप हमें पाश्चात्य जगत् में मिलते हैं— (1) यथार्थवाद का प्राचीन मत जिसे लोकसम्मत अथवा लोकप्रिय यथार्थवाद कहा जाता है, (2) नव्य—यथार्थवाद द्वारा उपर्युक्त मत का संशोधित स्वरूप जो 'चेतना की वस्तु' (Content of knowledge) और बाह्यवस्तु (Object of knowledge) में संख्यात्मक एकता (Numerical identity) अथवा

- संरचनात्मक एकता (Structural identity) को स्वीकार करता है। इनमें से कुछ लोग 'चेतना के सर्च लाइट, दृष्टिकोण' (Search light view of consciousness) को मानते हैं और सत्य के प्रतिनिधिक स्वरूप की बात करते हैं। (3) लोक आदि का प्रतिनिधिनात्मक वास्तवादी सिद्धान्त, (4) समीक्षात्मक यथार्थवादी सिद्धान्त (5) डब्ल्यू.टी. स्टेस का संवादिताविषयक ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त (6) बी. रसेल का संवादिता विषयक तार्किक सिद्धान्त।
153. देखें, सतीश चन्द्र चटर्जी का ग्रन्थ 'The problems of Philosophy', p. 191.192
154. न्यायकुसुमांजलि, पृ० 218 तस्माद्यथाद्वेषरागाभावाविनाभावेऽपि रागद्वेषयोरनुविधाननियमात्, प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयत्नो रागद्वेषकारणत्वं, न तु निवृत्तिप्रयत्नो द्वेषहेतुकः प्रवृत्तिप्रयत्नस्तु सत्यपि रागानुविधाने द्वेषभाव हेतुक इति विभागो युज्यते, विशेषभावात्, तथा प्रकृतेऽपि।
155. श्लो० वा०, चोदनासूत्र, 47-53
156. पश्चात्त्य दर्शन के सहजज्ञानवादियों, जिनसे ज्ञान के स्वतःप्रामाण्य विषयक मान्यता में कुमारिल सहमत हैं, पर प्रयुक्त आलोचना उन पर भी लागू होगी। सहजज्ञानवादियों के मत की आलोचना करते हुए डा० चटर्जी लिखते हैं— The intuitionist theory seems to make a confusion between psychological belief and logical certainty.. 'The problems of philosophy, p.154.
157. न्या०बि० सूत्र 1/1
158. प्र०वा० भाष्य, पृ० 4, यद्यर्थक्रियाधिगमे पूर्वकं प्रमाणं, सोप्यर्थक्रियाधिगमः प्रमाणमप्रमाणम्वा। अप्रमाणेनार्थक्रियाधिगमभावात् प्रमाणं न तत्, तत्तस्ततोप्यर्थक्रियाधिगमः परान्वेषणीय इत्यनवस्था।"
159. पश्चात्त्य ज्ञानमीमांसा में Coherence theory को तार्किक अनुभववाद तथा निरपेक्ष प्रत्ययवाद के दार्शनिक मानते हैं।
160. व्यवहारिकतावादी सिद्धान्त पर विस्तार के लिए देखें, 'The problem of Philosophy'. पृ० 166.178; सतीशचन्द्र चटर्जी कृत
161. प्रमाणवार्तिक, भाष्य, पृ० 444
162. न्यायदर्शन, भाग-1, (बंगाली में) लेखक फणिभूषण तर्कवागीश।
163. न्यायदर्शन, चतुर्ग्रन्थिका, पृ० 53
- भासर्वज्ञ भी लिखते हैं— "यथा पर्वतादिप्रदेशेष्वप्यवचनादग्निं प्रतिपद्य प्रवर्तमानस्तमेव धूमं दृष्ट्वा प्रतिपद्यते। ततोऽतिप्रत्यासन्नः तमवाग्निं प्रत्यक्षेण प्रतिपद्यते। तथा आप्तोपदेशादात्मस्वरूपं प्रतिपद्य इच्छादिलिङ्गेनापि प्रतिपद्यते, पुनः समाधिबलेन प्रत्यक्षेण, इतिसंप्लवसिद्धिः।" न्यायभूषण, पृ० 82
164. न्या०वा०, पृ० 5 तथा बु० लॉ, भाग 2, पृ० 308 परिशिष्ट 2
165. वही, पृ० 5, "स्यान्मतं, यदि संकीर्णान् प्रमाणानि नन्वेकेन प्रमाणेनाधिगतेऽर्थे द्वितीयं व्यर्थमापाद्येत्। न च सर्वस्मिन्नर्थे संप्लवोऽस्तीति अतो न वैयर्थ्यम्।
166. श्लोक वा० 2/13.14
- 'द्रव्यक्रियागुणादीनां धर्मत्वं स्थापयिष्यते।
तेषामैन्द्रियकत्वेऽपि न तादृष्येण धर्मता।।
श्रेयः साधनता ह्येषां नित्यवेदात् प्रतीयते।
तादृष्येण च धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रिय गोचरः।।
167. श्लो० वा० अनुमानप्रकरण में औत्पत्तिक सू०, 60। द्रष्टव्य, न्यायमंजरी, पृ० 84 पंक्ति 1-2,

भाग-1 मैसूर प्रकाशन।

168. न्यायमंजरी, पृ० 84, प्रथम भाग, मैसूर प्रकाशन।
169. वही, पृ० 86, पंक्ति 1-3
170. वही, पृ० 86, श्लोक 88-90
171. वही, पृ० 86, श्लोक 91
172. वही, पृ० 87
173. वही, पृ० 87, श्लोक 92-93
174. "तथाहि— दर्शनसमनन्तरोत्पत्त्यवाप्तदर्शनच्छायाऽनुरज्यमानवपुषो विकल्पा प्रत्यक्षायन्ते। तदुल्लिखितकाल्पनिकतदितरपरावृत्तस्वभावसामान्याकार प्रविष्टोऽयमनुमानव्यवहारः पारम्पर्येण मणिप्रभामणिबुद्धिवत् तन्मूल इति तत्प्राप्तयेऽवकल्पते, न पुनः प्रत्यक्षैकसमधिगम्यं वस्तुस्पृशतीति कुतः संप्लव कुतो वाऽनवस्था?" वही, पृ० 88
175. वही, पृ० 88-89
176. वही, पृ० 89-90
177. वही, पृ० 91
178. वही, पृ० 91-92
179. वही, पृ० 93
180. न्यायभूषण, पृ० 83
181. अवयविन् के प्रसंग में बौद्ध एवं न्याय के शास्त्रार्थ के लिए द्रष्टव्य, डाक्टर धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री का ग्रन्थ 'Critique of Indian Realism, आचार्य 'जयन्त भट्ट' भी 'न्यायमंजरी' में लिखते हैं कि बौद्ध प्रामाण्यसंप्लव इसलिए नहीं मानते, क्योंकि वे 'सामान्य' का खण्डन करना चाहते हैं।" द्रष्टव्य, 'न्यायमंजरी', पृ० 91। यद्यपि जात्यादिविषयनिषेधमनोरथैः संप्लवपराकरणमध्यवसितं।"
182. न्यायवतारवृत्ति, पर पण्डित दलसुख भाई मालवणिया की पादटिप्पणी, पृ० 215 तथा नागिन० जे० साह का 'Akalanika's Criticism of Dharmakīrti's Philosophy, पृ० 198, 199
183. 'संभावनामात्रेणलिंगोपन्यासः। न हि निश्चायकत्वेन तदुपन्यस्यते।। बृहदारण्यकोपनिषद् पर शांकरभाष्य पर आनन्दज्ञान की टीका।
184. प्र० वा० 2/3
185. प्रमाणमीमांसा में वात्स्यायन ने चार घटक बतलाये थे, प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमिति। बौद्ध केवल तीन ही घटक मानते हैं और प्रमाण तथा प्रमाण-फल में अभेद को स्वीकार करते हैं। नैयायिक, मीमांसकादि प्रमा और करण में भेद मानते हैं। उदाहरणार्थ, तर्कभाषा, पृ० 6 में बतलाया गया है कि यद्धत छिदा का करण परशु है और छिदा फल, जो कि परशु से भिन्न है, तदवत प्रमाण-फल को प्रमाण से भिन्न होना चाहिए। निर्विकल्पकज्ञान में चक्षुरादि इन्द्रियाँ करण हैं और 'इदंकिंचितरूप' जो ज्ञान होता है वह फल है। सविकल्पर ज्ञान में भी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष करण और ज्ञान फल हुआ करता है। प्रमाण और प्रमाण-फल के विषय में देखें, न्या०बि०टी० पृ० 39। जैसे प्रत्यक्ष के विषय में मतभेद दार्शनिकों में है वैसी ही स्थिति प्रमाण-फल के विषय में भी है। इसी का निरूपण इस प्रकरण में हुआ है।
186. प्र०स० 1/8.10 तथा द्वादशारण्यचक्र में भोट परिशिष्ट, पृ० 107.110। सौत्रान्तिक, जैसा हम आगे देखेंगे, अर्थसंवेदन अथवा अर्थाधिगम को प्रमाण मानते हैं और प्रमेय को बाह्य अर्थ।

अतः ग्राहकाकार = स्वभास को प्रमाण मानने पर सौत्रान्तिकों के सिद्धान्त का उत्प्लंघन हो जाता, क्योंकि बाह्य अर्थ ग्राहकाकार का प्रमेय नहीं होता। अतएव, सौत्रान्तिकों की इस सैद्धान्तिक सीमा के अन्तर्गत दिग्नाग यह समझते हैं कि चूँकि बाह्य अर्थ का ज्ञान विषयाकारता के माध्यम से होता है और चूँकि इसकी स्वसंवेदित होती है, अतएव, विषयाकारता को प्रमाण के रूप में मानना चाहिए। दिग्नाग टिप्पणी करते हैं कि सौत्रान्तिक सिद्धान्त के औचित्य प्रतिपादन में स्वसंवेदित्यात्मक ज्ञान के मूलप्रकृति की उपेक्षा की गयी है। देखें दिग्नाग ऑन परसेप्शन : टिप्प० 1/64

धर्मकीर्ति भी लिखते हैं— “विद्यमानेऽपि बाह्येऽर्थे यथानुभव एव सः। निश्चितात्मा स्वरूपेण नानेकात्म्यदोषतः।। देखें प्र०वा० 2/341 “तस्मात्प्रमेये बाह्येऽपि युक्तं स्वानुभवः फलम्, प्र०वा० 2/346 प्रथम पंक्ति।

प्रज्ञाकर गुप्त भी लिखते हैं— “अपि च, बाह्यमर्थमभ्युपगच्छतामपि स्वसंवेदनमेव फलम् “प्र०वा० भा०, पृ० 392, पृ० 393 पंक्ति 27-30 भी देखें। किन्तु कमलशील विषयाधिगम को प्रमाणफल बतलाते हैं— “बाह्येऽर्थे प्रमेये विषयाधिगमः प्रमाणफलम्, सारूप्यं तु प्रमाणम्। स्वसंवेदित्वापि सत्यां यथाकारमस्य प्रथनात्” पृ० 487 तत्त्वसंग्रह, पं० भाग-1

187. प्र०स० 1/8 “सव्यापारप्रतीतत्वात् प्रमाणं फलमेव सत्” द्वादशारण्यचक्र के अन्तर्गत, भोट परिशिष्ट, पृ० 107 एवं वही की पादटिप्पणी 6-8;

188. वही 1/9, पृ० 108,

189. वही 1/10 पृ० 110;

190. वही, 1/8 पर स्ववृत्ति, पृ० 107, 108 एवं पृ० 108 में पादटिप्पणी 1-4

191. प्र०वा० 2/339-40 तथा उस पर वृत्ति और प्रज्ञाकर का भाष्य।

192. प्र०स० 1/9 पर स्ववृत्ति, पृ० 108, 109 तथा पादटिप्पणी 11, 13

193. वही, पृ० 109 तथा पादटिप्पणी 6-8

194. दिग्नाग ऑन परसेप्शन, पृ० 39, कारिका 3, और उस पर स्ववृत्ति। मुनि जम्बुविजयजी ने वै० सू० पर परिशिष्ट, पृ० 211 में इसका संस्कृत रूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है— “ज्ञानस्य च प्रमाणत्वेऽर्थान्तरफलवादिनो निश्चितेऽर्थे फलाभावः।”

195. वही, पृ० 39 तथा पादटिप्पणी 3/40-41, पृ० 129

196. वही, पृ० 39; का 3 तथा उस पर स्ववृत्ति। दिग्नाग के समान ही आचार्य धर्मकीर्ति प्र०वा० 2/314 में कहते हैं— नेष्टो विषयभेदोऽपि क्रियासाधनयोर्द्वयोः।” प्र०वा०भा० पृ० 347, “न खलु पलाशे परश्वादिकरणप्रवर्तनम्। न्यग्रोधे छिद्रा निवर्तते एकार्थतायां पूर्ववत्प्रसंगः।”

197. वही, पृ० 40 तथा पादटिप्पणी 3/44-45, पृ० 130-131

198. वही, पृ० 40, तथा पादटिप्पणी 3/46-47, पृ० 131

199. वही, पृ० 40-41 का० 4 तथा उस पर वृत्ति

200. वही, पृ० 41 का० 4 पर स्ववृत्ति; पाद टिप्पणी 3/49-50

201. वही, पृ० 41 का० 4 तथा उस पर स्ववृत्ति। पादटिप्प० 3/51-53

202. दिग्नाग ऑन परसेप्शन, पृ० 166-67, पाद टि० 6/23

203. न्या०भा० 1/1/1 पर प्रस्तावना में प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति में भेद कर 1/1/3 में, यह विश्लेषित करने के बाद कि प्रत्यक्ष प्रमाण प्रत्येक इन्द्रियों की स्वविषय पर वृत्ति है, वे कहते हैं कि वृत्ति के सन्निकर्ष अथवा ज्ञान होने के तदनुकूल प्रमिति हानोपादानोपेक्षाबुद्धि-रूप होती है।

204. न्या०वा०ता०नी० में वाचस्पति मिश्र की साक्षात् रूप से इस समस्या पर कोई टिप्पणी नहीं है, परन्तु मीमांसाग्रन्थ^१ विधिविवेक की 'न्यायकणिका' नामक अपनी टीका में वे इसकी विवेचना करते हैं, इस तथ्य से उपर्युक्त अभिमत की पुष्टि होती है।
205. श्लो० वा० 1/63 "प्रदर्शनार्थमित्येके केचिन्नानार्थवादिनः। समुदायाददच्छिद्य भवदासेन कल्पितात्। और भी देखें 'दिग्नाग ऑन परसेप्शन', पृ० 66 का० 5-6 तथा पादटिप्प० 6/23, पृ० 166
206. दिग्नाग ऑन परसेप्शन, पृ० 66, का० 6 और उस पर स्ववृत्ति। किन्तु मीमांसासूत्र 1/1/4, "सत्सम्प्रयोगे पुरषस्तेन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्" को शबरस्वामिन् तथा कुमारिल प्रत्यक्षलक्षण को प्रदान करने वाला नहीं मानते; देखें श्लो० वा० 4/10-11। किन्तु दिग्नाग सूत्र को प्रत्यक्ष का लक्षण प्रदान करने वाला मानते हैं।
207. धर्मो० प्र० पृ० 79, 1/19 पर धर्मोत्तर की टीका
208. धर्मो० प्र० पृ० 82 पर धर्मोत्तर की टीका, पंक्ति 7-9
209. वही, पृ० 83 पंक्ति 20-22
210. वही, पृ० 84 पंक्ति 22-23
211. वही, पृ० 83, पंक्ति 2-4;
212. वही, पृ० 83
213. वही, पृ० 83, पंक्ति 28-29; "यतो यस्मान्नीलसदृशमनुभूयेति वास्तवं रूपमनूदितम्। न तु नीलसदृशमनुभवामीति निश्चयोऽस्ति। अपितु नीलमेवानुभवामीति....."
214. वही, पृ० 84
215. प्र०स० 1-9 पर स्ववृत्ति "द्वयभासं हि ज्ञानमुत्पद्यते— स्वाभासं विषयभासं च। तस्योभयभासस्य यत् स्वसंवेदनं तत्फलम्" व्याख्यानयचक्रान्तर्गत, भोटपरिशिष्ट, पृ० 108, इसी पृष्ठ पर पाद टिप्पणी 5-9 भी देखें। ज्ञान की द्विवरूपता को दिग्नाग 1/11 "विषयज्ञानतज्ज्ञानविशेषात् द्विरूपता" में सिद्ध करते हैं। द्रष्टव्य, प्र०वा०भा०, पृ० 403 तथा दिग्नाग ऑन परसेप्शन, टिप्प० 1/70-71;
216. धर्मो० प्र०, पृ० 84, पंक्ति 1-4
217. धर्मो० प्र०, पृ० 84, पंक्ति 5-6
218. धर्मो० प्र०, पृ० 84, पंक्ति 6-7
219. धर्मो० प्र०, पृ० 85, पर धर्मोत्तर की टीका, पंक्ति 1-2। यहाँ द्रष्टव्य है कि विकल्प द्वारा अध्यवसाय करने के समय तक प्रत्यक्षगृहीत नीलक्षण बना नहीं रहता। इसलिए धर्मोत्तराचार्य ने प्रत्यक्ष के दो विषय बतलाये हैं— ग्राह्य एवं अध्यवसेय।
220. धर्मो० प्र०, पृ० 85-86, पर धर्मोत्तर की टीका— "यद्येवमध्यवसायसहितमेव... प्रत्यक्षं केवलमेव प्रमाणमिति।" यहाँ श्वेदरवात्स्की टिप्पणी करते हैं— "इस उपसंहार वाले अंश से यह भ्रम सहजरूप में हो सकता है कि प्रत्यक्ष की प्रक्रिया और फल विषयक विवेचन यहाँ इन्द्रियप्रत्यक्ष और तत्पृष्ठभावी विकल्प के सम्बन्ध को प्रकट करता है। परन्तु ऐसी बात नहीं है। इस विवेचना का आशय यह प्रदर्शित करना है कि स्वसंवेदन आत्मा का धर्म नहीं है, अपितु प्रत्येक ज्ञान को सहज रूप से होता है।" बु०ला०, भाग-2, पृ० 46। किन्तु उपर्युक्त कथन किस आधार पर श्वेदरवात्स्की महोदय करते हैं, यह समझ में नहीं आता। इसी प्रकार, इसी पृष्ठ पर वे लिखते हैं कि "वस्तुवादियों के विरोध में वे (बौद्ध) यह मानते हैं कि हमें

बाह्य अर्थ का ज्ञान नहीं होता, हमारे प्रत्याग या प्रतिमूर्ति का निर्माण बाह्य अर्थों द्वारा नहीं किया जाता, अपितु बाह्य अर्थ ही हमारे प्रत्ययों से निर्मित होते हैं।" यहाँ भी श्वेदबात्सकी महोदय विज्ञानवादी मत का आरोपण सौत्रान्तिक मत पर कर दे रहे हैं जिसकी, न्यायबिन्दु टीका में, कहीं प्राप्ति नहीं होती।

221. धर्मो० प्र०, पृ० 86 "एवमभिधाने चायमस्याशयो बौद्धव्यः। स्यात्खलु विकल्पस्यापि प्रामाण्यं यद्यसौ स्वव्यापारयुक्त एव प्रत्यक्षस्य साहाय्यं भजते। न चायं तथा व्याप्रियते। स्वीकृतप्रत्यक्षव्यापारस्यैव प्रवृत्तिदर्शनात्। स च दर्शनलक्षणो व्यापारः प्रत्यक्षेणैव सम्पादित इति कथमयमपि पिष्टपेषणकारी प्रामाण्यं प्रतिलभेत।

222. प्र०वा० 1-5;

223. धर्मो० प्र०, पृ० 80, पंक्ति 17-24

224. धर्मो० प्र०, पृ० 80, पंक्ति 26-30

225. प्र०सं० 1-8.10 द्वादशारनयचक्र, भोटपरिशिष्ट, पृ० 110; श्लोक 1.10 न्यायमं० में भी उद्धृत है।

यदाभासं प्रमेयं तत् प्रमाणफलते पुनः।

ग्राहकाकार संवित्ती त्रयं नातः पृथक्कृतम्॥

धर्मकीर्ति गीप्र० वा० 2-354 में कहते हैं—

अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासित दर्शनैः।

ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते॥

226. प्र० वा० 2-354-357 एवं वृत्ति

227. प्र० वा० 2-358-360 वृत्ति के साथ

228. प्र० वा० 2-361-62 तथा उस पर वृत्ति

229. प्र० वा० 2-364-65

230. वही, 2-366

231. वही, 2-367 पर वृत्ति।

232. वही, 2-367 पर वृत्ति।

233. श्लो० वा० 4-74-75 "विषयैकत्वमिच्छंस्तु यः प्रमाणफलं वदेत्। साध्यसाधनयोर्भेदो लौकिकस्तेन बाधितः। छेदनेखदिरप्राप्ते पलाशेन छिदा यथा। तथैव परशेर्लोके छिदया सह नैकता। उपर्युक्त दो श्लोक तत्त्वसंग्रह, पृ० 488, में भी उद्धृत हैं।

234. प्र० सं० 1-9 पर स्ववृत्ति "द्वादशारनयचक्र में भोटपरिशिष्ट, पृ० 108, 109; विशाला० पृ० 35; प्र० वा० 2-320-337 तथा उस मनोरथ नन्दि की वृत्ति एवं प्रज्ञाकर गुप्त का भाष्य। इस बात की पुष्टि श्लो० वा० (भाग-1) पृ० 237 से भी होती है— "यदि तूच्यते, द्विरूपमेकमेव ज्ञानं स्वसंवित्त्या विषयाकारेण च। तदत्रस्वसंवित्तिः फलं विषयाकारः प्रमाणम्..।" श्लो० वा० वृ० पृ० 139 में भी "येऽपि सौत्रान्तिकपक्षमेव व्याचक्षते— बाह्यार्थः प्रमेयम्, विज्ञानस्य विषयाकारता प्रमाणं स्वसंवित्तिः फलमिति।" धर्मकीर्ति के पक्ष के लिए विशेषतया द्रष्टव्य, प्र० वा० 2-339-41, 346 तथा उस पर भाष्य एवं वृत्ति। प्र०वा० भा०, पृ० 392 पंक्ति 13; प्र०वा० वृ० पृ० 221।

235. देखें, इसी अध्याय में टिप्पणी, 225 के अन्तर्गत उद्धृत अंश। दिग्नाग के प्रमाण और फल में तादात्म्य के सिद्धान्त को असिद्ध करने के लिए कुमारिल इसी दृष्टान्त को, उसके

- कलितार्थ को संशोधित कर उद्धृत करते हैं और कहते हैं कि 'यदि फल को ही (वृक्ष के काटने को ही) काटने की क्रिया का करण (= परशु) मान जाये, तो हम इस बेतुके निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि पलाशवृक्ष के काटने की क्रिया खदिरवृक्ष पर प्रयुक्त परशु के द्वारा संपादित हो सकती है।
236. न्यायभेद टीका पृ० 40, पं० 4-5, शा०भा०, पृ० 9, श्लो० वा० 4, 60 तथा श्लो० वा० वृ० पृ० 133 आदि में प्रमाण का, मीमांसकों का, लक्षण सुलभ है। वैसे श्लो० वा० का चतुर्थ अध्याय द्रष्टव्य है।
237. The Prabhākara School of P rvaṃ mams , by Ganga Nath Jha
238. टी०ए०वी०, पृ० 56, पंक्ति 12.14
239. न्यायमंजरी, प्रथम भाग, पृ० 185, पंक्ति 1-6 मैसूर से 1969 में, वरदाचार्य महोदय द्वारा संपादित होकर प्रकाशित।
240. वही, पृ० 185, पंक्ति 6-7
241. वही, पृ० 185.186
242. वही, पृ० 186
243. वही, पृ० 186.187
244. वही, पृ० 187, पंक्ति 5-8
245. वही, पृ० 187 पंक्ति 9.16:
246. वही, पृ० 188 पंक्ति 1.11
247. प्र०वा० 2/311; प्र० वा० भा० पृ० 344; सांख्यमत की आलोचना के लिए द्रष्टव्य, प्र०वा०भा०, पृ० 340-42 : मीमांसमत की आलोचना, प्र०वा०भा० पृ० 344, 346; न्यायमत के लिए, पृ० 347-48; साकारज्ञान ही प्रमाण है, द्रष्टव्य, प्र० वा० भा०, पृ० 343-345; 346-348।
248. प्र०वा० 2-305 पर मनोरथनन्दि की वृत्ति, पृ० 191
249. प्र०वा० 2/305 तथा 2/319 पर मनोरथ नन्दि की वृत्ति— 'तथाहि — परशुकिन्दयोः कार्यकारणभावविशेषः क्रियाकरणभावः, अधिगतिज्ञानात्मभूतविशेषयोऽस्तु व्यवस्थाप्य— व्यवस्थापकभाव एषितव्यः, उभयोरपि ज्ञानस्वरूपात्मत्वात्। तत्र कारणमज्ञातमपि स्वकार्य निर्वर्तयतीति कार्यदर्शनाच्च तदव्यवस्था युक्तैव। व्यवस्थापकस्तु नानुपलक्षितो व्यवस्थाप्यव्यवस्थायां क्षमते। "..." पृ० 191
- "नहि तत्रापि कार्यकारणवस्तुद्वयव्यतिरिक्ता क्रियास्ति। द्विधाभूतां काष्ठमेवातद्वयावृत्त्या भेदान्तरप्रतिक्षेपेण छिदेत्युच्यते। तत्कारणेषु च पुरुषकरपरश्वादिषु सामग्र्यन्तरवर्तिनः कराच्छिदायाः अनुत्पत्तेः परशोरसाधारणं सहकारित्वमुपदर्शयितुमतद्वयावृत्त्या करणव्यपदेशः, न तु क्रियाकरणत्वमन्यदेव कार्यकरणाभ्याम्। अधिगमाकारयोस्तु व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावः..." पृ० 195-196
250. तत्त्वसं 1345 और उस पर पंजिका
251. तत्त्व सं० 1346.1348 और उस पर पंजिका।
252. प्र०वा० भा० पृ० 366, "निर्व्यापाराः सर्वधर्माः"। तत्त्वसं० पंजिका में यह कथन बहुधा प्राप्त होता है" तत्त्वसं०, पं० पृ० 452, 488, "नैवतु कश्चित् कचिद्योजयति, निर्व्यापारत्वात् सर्वधर्माणाम्।" बौद्धन्याय, भाग 2, पृ० 39, टिप्पणी।

- “अनिच्छा सख्ये संख्यारा” (संयुक्त नि० १०-६-६) इस बुद्धवचन का ही ‘सर्वक्षणिकम्’ के रूप में सौत्रान्तिकों और युक्त्यनुयायी विज्ञानवादियों ने विकास किया।
253. “यदन्तर्ज्ञेयरूपं तु बहिर्वदवभासते। सोऽर्थः, आलम्बन परीक्षा, का० ६, तथा तत्त्वसं० पं० में उद्धृत। बाह्यार्थ के निराकरण के लिए देखें, प्र० वा ‘अर्थसंवेदन चिन्ता, तथा 2/339-40; 346-47 और तत्त्वसंग्रह का ‘बाह्यार्थपरीक्षा’ प्रकरण, पंजिका सहित।
254. ‘द एनलिसिस ऑफ माइण्ड’, पृ० 16
255. वही, पृ० 17.19, पृ० 20 में वे लिखते हैं— ‘I have been in the past a realist, and I remain a realist as regards sensation, but not as regards memory or thought.’
256. न्यायकन्दली, पृ० 191, पंक्ति 3
257. Buddhist Logic, vol. II, P. 42. Foot note, II, The fact that a distinct perception is at once ‘obtaining and bestowing’ distinctness without being causally related has been misunderstood and has given to opponents an opportunity of easy triumph.’ यशोविजय की ‘स्याद्वादमंजरी’, पृ० 120 में आलोचना इसका उदाहरण है।
258. श्लो० वा० 4-79 “प्रमाणे विषयाकारे भिन्नार्थत्वान्न युज्यते।।”

तृतीय अध्याय

1. “प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणे, लक्षणद्वयम्। प्रमेय, तत्र संक्षाने न प्रमाणान्तरं न च।” प्र०सं० १/२ “तत्र प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणे द्वे एव, तस्माद् लक्षणद्वयं प्रमेयम्, न हि स्वसामान्यलक्षणाभ्यामन्यत् प्रमेयमस्ति। प्र०सं०वृ०। द्वादशारसनयचक्र, मोटपर्सिष्ट, पृ० 199-200
2. प्र०वा०वृ०, 2/1
3. वही
4. वही
5. वही
6. वही
7. प्र०वा० 2/1 एवं 2
8. प्र०वा० 2/3. “अर्थक्रियासमर्थयत् तदत्र परमार्थसत्। अन्यत् संवृतिसत् प्रोक्तं, ते स्वसामान्यलक्षणे।
9. प्र०वा०भा०, पृ० 169 — “प्रतिपत्तिभेदश्च प्रमाणभेदः। स एव च विषयभेदः।”
10. वही, पृ० 169
11. वही, पृ० 169
12. प्र०वा० 2/2 की विवेचना
13. वही 2/2 पर वृत्ति एवं भाष्य
14. प्र०वा० 2/2 — विषयाविषयत्वतः पर वृत्ति एवं भाष्य
15. प्र०वा०भा०, पृ० 170, पंक्ति 20-22
16. प्र०वा० 2/2 — शब्दस्यान्यनिमित्तानां,” पर वृत्ति एवं भाष्य।
17. प्र०वा०भा०, पृ० 170, पंक्ति 25-27.
18. वही, पृ० 170 पंक्ति 28 से पृ० 171, पंक्ति 6 तक
19. वही, पृ० 171, पंक्ति 11-14
20. वही, पृ० 171, पंक्ति 19-24

21. वही, पृ० 171
22. वही, पृ० 172, अलंकार श्लोक 26-27
23. वही, पृ० 172, अलंकारश्लोक 28-30
24. वही, पृ० 172
25. वही, पृ० 172, पंक्ति 24-29
26. वही, पृ० 173, पंक्ति 1 से अलंकार श्लोक 36 तक
27. प्र०वा०, स्वामी योगीन्द्रानन्दकृत हिन्दी व्याख्या, पृ० 419
28. वही, पृ० 174, पंक्ति 6-14
29. वही, पृ० 174, पंक्ति 15-20
30. वही, पृ० 174
31. वही, पृ० 175-182
32. यह न्यायानुसारी विज्ञानवादियों का अभ्युपगम है।
33. द्रष्टव्य, प्र०वा०भा० पृ० 183-186 एवं प्र०वा०वृ०, पृ० 100-101
34. प्र०वा० 2/4 पर वृ०, पृ० 100-101
35. वही, पृ० 100
36. वही, पृ० 101
37. प्र०वा०भा०, पृ० 184, पंक्ति 28-31
38. वही, पृ० 183-184
39. वही, पृ० 184, पंक्ति 12-14
40. वही, पृ० 185 "सत्यं चेत् संवृत्तिः केयं मिथ्या चेत् सत्यता कुतः।
41. वही, पृ० 185, पंक्ति 2-5;
42. वही, पंक्ति 11-14
43. वही, पृ० 185-186; उदघोतकराचार्य ने प्रमाणसंग्रह के प्रसंग में स्वपक्ष की सिद्धि के लिए यही बात कही थी। प्रज्ञाकर उसी का खण्डन कर रहे हैं।
44. प्र०वा०भा० पृ० 186 "तस्मान्न परमार्थतः किंचिदस्तीत्यस्तु यथा तथा सम्बृत्या एतावताऽपि प्रमाणाप्रमाणव्यवस्थितिर्न काचिन्नः क्षतिः। अभिप्रेत एव भवत्यक्षौऽस्माकमिति, न वस्तुतत्त्वमतिक्रम्य वर्तितुं शक्यम्।
45. प्र०वा० 2/5-7
46. प्र०वा० 2/8-9 पर वृत्ति
47. वही,
48. वही 2/10 पर वृत्ति
49. प्र०वा० 2/53-54 एवं भाष्य, पृ० 212
50. प्र० वा० 2/54 प्रथम पंक्ति पर भाष्य, पृ० 213
51. प्र० वा० 2/54
52. प्र० वा० 2/54 की प्रथम, पंक्ति पर भाष्य, पृ० 213
53. वही, पृ० 213 एवं प्र०वा०वृ०
54. प्र० वा० 2/54 की द्वितीय पंक्ति पर भाष्य, पृ० 213
55. वही, पृ० 213-214; पृ० 213 पंक्ति 22 से पृ० 214 पंक्ति 9 तक

56. प्र० वा० 2/54 पर प्रज्ञाकरभाष्य पृ० 214, पंक्ति 10 स पंक्ति 21 तक - अथ पदार्थानुपलम्भ एवोपलम्भानुपलम्भः... ततः उपलम्भः सत्तोच्यते॥
57. प्र० वा० 2/54 पर प्रज्ञाकर का भाष्य, पृ० 214-15
58. देखें, प्रमाणवार्तिक, 255-84, पर भाष्य और वृत्ति भी। इस पर न्यायबिन्दुटीका में धर्मोत्तर एवं उस पर अपने प्रदीप में दुर्वैक मिश्र ने भी विचार किया है। बाद के किए गये विचारों एवं सम्पूर्ण एतदविषयक बौद्ध विचार का सारांश मोक्षाकर गुप्त की 'बौद्ध तर्कभाषा' में सुलभ है। द्वितीय अध्याय में प्रमाण के स्वरूप की विवेचना के प्रसंग में हमने उस प्रसंग में इस पर संक्षेप में विचार किया है।
59. प्र० वा० 2/55
60. वही, 2/55 भाष्य
61. प्र०वा०भा०, पृ० 215-16
62. वही, पृ० 216
63. वही, पृ० 217
64. प्र०वा०, पृ० 218, पंक्ति 4-5
65. वही, पृ० 218
66. प्र०वा० 2-57
67. प्र०वा० 2-57 पर भाष्य एवं वृत्ति
68. प्र०वा०भा०, पृ० 220
69. वही, पृ० 220
70. वही, पृ० 220, पंक्ति 27-28
71. वही, पृ० 221
72. प्र०वा०, 2-59, 60
73. प्र०वा०भा०, पृ० 221
74. वही, पृ० 222
75. वही, पृ० 222
76. प्र०वा० 2-61
77. प्र०वा०भा०, पृ० 223
78. प्र०वा० 2-62
79. प्र०वा०वृ०, पृ० 120
80. प्र०वा०भा०, पृ० 223
81. प्र०वा० 2-63
82. वही 2-64
83. प्र०वा०वृ०, पृ० 120
84. प्र०वा०भा०, पृ० 223
85. प्र०वा० 2-65
86. वही, 2-66
87. वही, द्वितीय पंक्ति का उत्तरार्द्ध
88. वही, 2-67-69 : स्वामी योगीन्द्रानन्द की हिन्दी व्याख्या भी देखें।

89. प्र०वा०, 2-69 द्वितीय पंक्ति का उत्तरार्द्ध तथा 2/70-72 पर वृत्ति एवं भाष्य।
90. प्र०वा०, 2-73-75 तथा उस पर वृत्ति एवं भाष्य।
91. प्र०वा०, 2-76-77 पर स्वामी योगीन्द्रानन्द की हिन्दी टीका।
92. वही, 2-78
93. प्र०वा०, 2-79,
94. वही, प्र०वा०वृ०, पृ० 125
95. प्र०वा०आ०, पृ० 228
96. प्र०वा०, 2/80
97. वही, 2/80 पर वृत्ति
98. प्र०वा० 2/81
99. प्र०वा०भा०, पृ० 228
100. प्र०वा०, 2/82 तथा उस पर वृत्ति
101. प्र०वा० 2/83 तथा उस पर वृत्ति
102. प्र०वा०भा०, पृ० 229
103. प्र०वा० 2/84 तथा उस पर वृत्ति
104. प्र०वा०भा०, पृ० 229-30
105. रत्नकीर्तिनिबन्धावली- 'प्रमाणान्तर्भावप्रकरणम्', पृ० 97
106. मोक्षकरगुप्त कृत बौद्ध तर्कभाषा, पृ० 10-12
107. रत्नकीर्तिनिबन्धावली, 'प्रमाणान्तर्भावप्रकरणम्', पृ० 102, 'अतो यदेतस्य प्रामाण्यप्रसिद्धयर्थं वाचस्पतिप्रभृतीनां वलितं तदप्राप्तावसरमेव। एवं प्रत्ययोदितमपि भट्टाभिमतं शाब्दं प्रामाण्यं व्यस्तमिति बोधव्यम्। तस्मात् स्थितमेतत् न शाब्दं बहिरर्थं प्रमाणमस्तीति। बुद्ध्याकारे तु तत्कार्यप्रसूतत्वात्तदनुमानमेवेति।'।
108. रत्नकीर्तिनिबन्धावली, प्रमाणान्तर्भावप्रकरणम्, पृ० 102
109. वही, पृ० 103
110. वही, पृ० 103
111. वही, पृ० 103-104
112. रत्नकीर्तिनिबन्धावली, पृ० 104
113. वही, पृ० 104 पंक्ति 14-16
114. वही, पृ० 104-105
115. मोक्षकरगुप्त कृत बौद्ध तर्कभाषा, पृ० 18-19
116. Buddhist Logic, Vol. I, p. 72-74

चतुर्थ अध्याय

1. "प्रमाणमात्राप्रतिक्षेपे प्रत्यक्षं तावदादौ गणनीयम्, तन्मूलत्वादपरप्रमाणोपपत्तेः।" रत्नकीर्ति-निबन्धावली, पृ० 96: प्रमाणान्तर्भावप्रकरणम्।"
2. Buddhist Logic, Vol. I, p. 175-76
3. "प्रत्यक्षं अपरोक्षम्, अनभ्यूहितम्, अनभ्यूध्यम् अग्नान्तं प्रत्यक्षम्" योगाचारभूमि-श्रुतिमयीभूमि-10। अभिधर्मसमुच्चय, पृ० 105 में यह इस रूप में है -- "प्रत्यक्षं स्वसत्प्रकाशाभ्रान्तोऽर्थः"।

4. देखें न्यायपरिचय, प्रथम भाग, पृ० 206" अपने पुनर्गमन "ततोऽर्थाद्विज्ञानं प्रत्यक्षम्" इति, 1/1/4 पर वार्तिक एवं पृ० 250 भी देखें वाचस्पति की टीका, द्वा० न० च० वृ०, पृ० 94 में भी" इदानीं वसुबन्धोः स्व गुरोः, "ततोऽर्थाद्विज्ञानं प्रत्यक्षम्" इति ब्रुवती, । किन्तु, प्र०वा०भा० में प्रज्ञाकर" ततोर्थाज्ज्ञानं (मूल में 'ततोर्थाज्ञानं' है जो गलत है) प्रत्यक्षमिति तु लक्षणमेव (पृ० 339 पंक्ति 14) ऐसा लिखते हैं।
5. देखें "द्वादशारनयचक्रम्, में भोट परिशिष्ट, पृ० 114-115" ततोऽर्थाद्विज्ञानं प्रत्यक्षमिति येन, इत्ययमप्यर्थोऽत्र अभिमतः" विशाला०, पृ० 39-40
6. देखें- प्रमाणसमुच्चय, प्रत्यक्षखण्ड, श्लोक 13-16 पर दिग्नाग की वृत्ति एवं जिनेन्द्रबुद्धि की विशाला०, द्वादशारनयचक्रम् के अन्तर्गत 'भोट परिशिष्टे प्रमाणसमुच्चयः' पृ० 113-119: इसके अतिरिक्त देखें 'Dignāga on perception, p. 32-35
7. प्र०स० 1-3 "प्रत्यक्षं कल्पनापोदं, नामजात्यादियोजना।।" द्वादशार नयचक्रम् के अन्तर्गत 'भोट परिशिष्टे प्रमाणसमुच्चयः' पृ० 101। डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण" 'प्रत्यक्षं कल्पनापोदं नामजात्याद्यसंयुतम्' 'को स्तरीय पाठ मानकर लक्षण की व्याख्या करते हैं। परन्तु, नाम, जाति, आदि कल्पना का लक्षण है। डा० सतीशचन्द्र के लिए देखें 'History of Indian Logic, P. 277, Foot Note & 1; 1921 प्रकाशन
8. असंग के लक्षण को दुव्वी महोदय न्यायसूत्र से उधार लिया गया बतलाते हैं। देखें, Buddhist logic, P. 155, पादटिप्पणी, 4; 'It might have been a simple borrowing from NS, 1.1.4.'
9. Buddhist Logic, Vol. I, p. 155.
10. दिग्नाग प्रत्यक्ष का निषेधरूप में लक्षण देते हैं जब कि लक्षण को भावात्मक होना चाहिए। इसका कारण यह है कि बौद्ध यह मानते हैं कि स्वलक्षण अथवा वस्तु का जो स्वरूप (essence) है उसे हम कभी अभिव्यक्त नहीं कर सकते, हम केवल उसके सम्बन्धों को जानते हैं। बौद्धों के लिए हमारे विकल्पात्मक ज्ञान तथा भाषा की, सभी अभिधेय वस्तुओं तथा नामों की विशेषता यह है कि वे सापेक्ष एवं द्वन्द्वात्मक (dialectical) होते हैं। प्रत्येक शब्द अथवा प्रत्येक विकल्प अपने अनुयोगी विकल्प की अपेक्षा रखता है, वे अन्योन्यापेक्ष रूप हैं, और यही एक मात्र परिभाषा है जो दी जा सकती है। अतः सारे लक्षण अपेक्षायश होते हैं। देखें, वही, पृ० 146-147
11. त०स०प०, पृ० 369, पंक्ति 23-25; 'द्वादशार नयचक्रम्' में भोट परिशिष्ट, पृ० 102, पंक्ति 1-2, 'Dignāga on Perception, p.25 एवं पादटिप्पणी 1-27 पृ० 83-85
12. "द्वादशास्त्र नयचक्रम्" में भोटपरिशिष्ट, पृ० 102 एवं पाद टिप्पणी
13. न्यायमजरी, 'जयन्तामट्ट कृत, पृ० 240' 'पंच चैते कल्पना भवन्ति' - जाति कल्पना, गुणकल्पना, क्रियाकल्पना नामकल्पना, द्रव्यकल्पना चेति"।
14. वही, पृ० 240, "जातिजातिमत्तौर्भेदो न कश्चित्परमार्थतः ! भेदारोपणरूपा च जायते जातिकल्पना।।
15. वही, पृ० 240, श्लो० 76
16. वही, पृ० 241 पंक्ति 1-4
17. वही, पृ० 241-242 श्लोक 80, 81
एवमेताः प्रवर्तन्ते वासनामात्रनिर्मिताः।
कल्पितालोकभेदादिप्रपञ्चा पञ्चकल्पनाः।। 80।।

- एवं च पश्यता तासां प्रामाण्यामोदमन्दताम् ।
मिक्षुणा लक्षणग्रन्थे तदपोढपदं कृतम् ॥
18. तत्त्वसं० पृ०, पृ० 451.
 19. वही, श्लोक 1220 पर पंजिका ।
 20. वही, पृ० 452-53
 21. वही, श्लोक 1223 पर पंजिका
 22. वही, 1223 पर पंजिका ।
 23. वही, 1224 पर पंजिका ।
 24. वही, 1225 पर पंजिका
 25. वही, 1225 पर पंजिका
 26. वही, 1225 पर पंजिका
 27. वही, 1226-27
 28. वही, 'जात्यादियोजना येऽपि कल्पनां समुपाश्रिताः । तैरभ्युपेया नियतं प्रतीतिरभिलापिनी ॥ (1229)
'न केवलमस्माभिरियमभिलापिनी प्रतीतिः कल्पनाऽभ्युपगता, परैरप्यवश्यमभ्युपगन्तव्याः अन्यथा जगदव्यवहार्यमेव स्यादिति'..... ।
 29. वही, 1230 एवं 1233 पर पंजिका ।
 30. वही, 1234-1235 पंजिका
 31. वही, 1236 पर पंजिका : 'न्यायमुखग्रन्थस्तर्हि कथं नेयः? इत्याह — एवमित्यादि । तत्रायं न्यायमुखग्रन्थः— "यत ज्ञानार्थरूपादौ विशेषणामिधायकामेदोपचारेणाविकल्पकं तदक्षमसं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षम्" इति ।
 32. वही, 1236 पर पंजिका ।
 33. वही, 1236 पर पंजिका ।
 34. वही, 1237 पंजिका सहित ।
 35. The Buddhist Philosophy of Universal Flux, P. 284', Dignāga, lays himself open to the charge of looseness of expression or confusion of thought or perhaps both by resorting to this tortuous formulation.
 36. न्यायबिन्दु 1-4
 37. प्र०वा०मा०, पृ० 245
 38. विनीतदेव कृत— 'न्यायबिन्दु टीका' पृ० 7-8.
 39. देखें धर्मो० प्र०, पृ० 47 तथा आगे के अंश ।
न्या० बि०टी० टि०, पृ० 21. "अभिलाप्यत अनेनेति करणसाधनेनेतद्वर्शयति । वाचकेऽभिलापशब्देनेष्टे न तु वाच्यं सामान्यादि । तेन विनीतदेव व्याख्या दूषिता ।
 40. वही०, पृ० 47-48
 41. वही, पृ० 48, "एकस्मिन् ज्ञाने विशेष्यविशेषणत्वेनाकारप्रतिभास एवानयोर्वाच्यवाचकत्वग्रहणमिति भावः" ।
 42. न्या० बि०टी० टि०, पृ० 21, "अभिलाप्यत इत्यभिलापः वाच्यः सामान्यादिरित्येवंरूपा । एवमेवेदमाश्रयेण यमन्यथा योग्यग्रहणेन शब्दसंसर्गयोग्यो न कथितः स्यादितिः यद्येवं धर्मोत्तर

समाख्याने जात्यादेर्नाभ्यस्य संसारिणावो न प्रदर्शितः स्यात्। सत्यं, अनेन न प्रतिपादितः।
विषयचिन्ताया सामान्यादेर्विषयभावकथनेन सामर्थ्यात्कथितं भवतीत्यविरोधः।”

43. धर्मो० प्र०, पृ० 48
44. वही, पृ० 49
45. वही, पृ० 49
46. श्वेदरवात्की महोदय, “ग्राह्यो ह्यर्थो” का अनुवाद “An object apprehended (by acquaintance) करते हैं और टिप्पणी में ‘ग्राह्य अर्थ का अध्यवसेय अर्थ से भेद दिखलाना धर्मोत्तर का अभिप्राय है’ ऐसा संकेत देते हैं। देखें— Buddhist Logic, Vol. II, p. 21 पादटिप्पणी 2
47. वही, पृ० 50-51
48. न्यायबिन्दुटीका, पृ० 23 “उपरतरुदितोऽपगतुरुदितः एतद्वर्शयति बालस्यापि पूर्वापरपरामर्शरूपं प्रवृत्तिरिति। यच्च पूर्वापरपरामर्शः तदनियतप्रतिभासं पूर्वापरयोरारोपित्वादिति..।”
49. धर्मो० प्र०, पृ० 51. “यदसन्निहितविधयं ज्ञानं तदर्थसन्निधिनिरपेक्षम्, यथाऽतीतानागतविषयोऽस्मदादिविकल्पः”
50. न्यायबिन्दु टीका० श्री निवासशास्त्री द्वारा सम्पादित, पृ० 47
51. धर्मो० प्र० पृ० 51
52. वही, पृ० 51
53. बौद्धतर्कभाषा, पृ० 19-21
54. प्र०वा० 2/123 से 2/144 तक, कल्पनोपोद्धत्व की सिद्धि; 2/145-149 तथा 2/154-173 तक जात्यादियोजना का निरास। 2/174-190 तक शब्दकल्पना का निराकरण।
55. प्र०वा० 2/123
56. प्र० वा० 2/124
57. प्र०वा० वृ०, 2/125
58. Buddhist Logic, Vol. I. P. 150-151; फ्रेन्च दार्शनिक, वर्गसों के मत को उद्धृत कर धर्मकीर्ति के साथ तुलना करते हुए वे लिखते हैं— ‘This experiment of Dharmakīrti offers a remarkable coincidence with the one proposed by M. H. Bergson.’ I am going, says the French philosopher, to close my eyes, stop my ears, extinguish one the sensations.... All my perception vanish, the material universe sinks in to silence.... I can even, it may be, blot out and forget my recollections of my present reduced to its extremest poverty, that is to say, of the actual state of my body.’ This consciousness, ‘reduced to its extremest poverty’ is evidently nothing but Dharmakīrti’s moment of pure sensation, the present moment. Bergson address it as a proof that the idea of a nought is a pseudoridea. The Buddhists refer to it exactly for the same purpose. But it is at the same time a proof that there is a minimum limit of empirical reality and empirical cognition, and this is just pure sensation.’ P.151
59. प्र०वा० 2/126-128
60. प्र०वा०भा०, पृ० 246, “न खलु तदिव तस्य विकल्प उपजायते निर्विकल्पकमेतदिति। अन्यथा विकल्पप्रत्यक्षवादिनोपि यावत् सविकल्पकमेतदिति न जायते निश्चयस्तावत् कुतः सविकल्पकत्ववहारः।”

61. वही, पृ० 246 पंक्ति 9-11
 62. वही, पृ० 246 पंक्ति 12-15 "पंक्ति 13-14 में" ममासीदित्यव्यवहारात् ।" के स्थान "ममासीदित्यव्यवहारात्" पाठ होना चाहिए।
 63. वही, पृ० 246, पंक्ति 15-16
 64. वही, पृ० 246
 65. वही, पृ० 246 पंक्ति 18-23
 66. वही, पृ० 246 पंक्ति 24-26 तथा 29-31
 67. वही, पृ० 246 पंक्ति 31-32
 68. प्र०वा०भा०, पृ० 246; अलंकार श्लोक 2/300
 69. प्र०वा०भा०, पृ० 247 पंक्ति 1
 70. वही, पृ० 247, पं० 2-4
 71. तत्त्व सं० (पंजिका-सहित) - 1242
 72. वही, पृ० 458, 1243-1244
 73. वही, पृ० 458; 1245
 74. प्र०वा०वृ०, 2/129-130
 75. प्र०वा० 2/131-132
 76. वही, 2/132 पर मनोरथनन्दि की वृत्ति तथा धर्मो० प्र०, पृ० 52 "श्रोतज्ञानं तर्हि शब्दस्वलक्षणग्राहि शब्दस्वलक्षणं च किंचिदवाच्यं किंचिदवाचकम् इत्यभिलाषसंसर्ग- योग्यप्रतिभासं स्यात्। तथा च सविकल्पकं स्यात्।
 77. धर्मो०प्र० पृ० 52-53, दुर्वैक मिश्र का प्रदीप भी देखें।
तरपुतमपौ घः/ (पा० 1-1-22)- आशय यह है कि तरप और तमप (लघुतरः, लघुतमः इत्यादि में प्रयुक्त) प्रत्ययों की 'घ' संज्ञा होती है। इस स्थल से सम्बद्ध न्या०बि०टी०टि० का यह पाठ 'यदा घटशब्दः शब्दशब्दो वा शब्देन प्रतिपद्यते', पृ० 24 अस्पष्ट है।
 78. धर्मो० पृ० 53-54
 79. प्र०वा० 2/133 एवं वृत्ति
 80. प्र०वा० भा०, पृ० 249, पंक्ति 10-13
 81. वही०, पृ० 249, पंक्ति 13-17
 82. वही, पृ० 249, पंक्ति 17-21
 83. वही, पृ० 249, पंक्ति 21-25
 84. प्र०वा० 2/134-135 एवं प्र०वा०वृ०
 85. प्र०वा० 2/136-137
 86. प्र०वा० भा०, पृ० 250, "यथा सुरभिकमनीयकामिनीवक्त्रसर्वास्वादनम्मधुरगीतिमाकर्णयतः। तत्र पंचभिरेकैकस्य व्यवधानं चेत्ततः। तत्र तादृशस्य सुतरां लाघवस्याभावोऽथ च सकृद्ग्रहावभासस्तथा वर्णानामपि स्याद्।
 87. प्र०वा० 2/138-140 और वृत्ति
 88. प्र०वा० 2/141-142
 89. प्र०वा० 2/143-144
- (क) हेतु बि०, पृ० 53 (ख) वही, पृ० 53-54 (ग) वही, पृ० 54

90. तत्त्वसंग (पञ्चिका) - प्रत्यक्ष के कल्याणोदय के लिए देखें 1242-1246, वर्तनी, जला, ताल आदि के दृष्टान्त के लिए देखें, 1249-1252
91. वही, 1253-1255
92. वही, 1256-1257
93. वही, 1258-1259
94. वही, 1260-1263
95. मनोरथनन्दि के आधार पर 'जात्यादि कल्पना का निराकरण' यह शीर्षक और इसी प्रकरण की टिप्पणी 97 के ठीक बाद 'जात्यादिसम्बन्ध कल्पना का निराकरण' ऐसा शीर्षक दिया गया है। वे लिखते हैं- "तदेवं जात्यादिकल्पना तत्सम्बन्धकल्पना च नास्तीत्युक्तम्" पृ० 153 पंक्ति 14
96. प्र०वा० 2/145, 146 वृत्ति सहित
97. प्र०वा० एवं वृत्ति 2/147-148 एवं 149 प्रथमपंक्ति
98. प्र०वा० 2/163-173
99. प्र०वा० 2/163 वृत्ति सहित।
100. वही, 2/164 वृत्ति सहित।
101. वही, 2/165
102. वही, 2/166 वृत्ति सहित।
103. वही, 2/167 वृत्ति सहित।
104. वही, 2/169 वृत्ति सहित।
105. वही, 2/170-171, वृत्ति के साथ।
106. वही, 2/171 वृत्ति के साथ।
107. वही, 2/173
108. प्र०वा० 2/174
109. प्र०वा०भा०, पृ० 266 पंक्ति 26 से, पृ० 267 पंक्ति 1 तक।
110. प्र०वा०भा०, पृ० 267 पंक्ति 1-6
111. वही, पृ० 267
112. वही, पृ० 267
113. वही, पृ० 267
114. प्र०वा० 2/175
115. प्र०वा०भा० पृ० 267 "न खलु विकल्पयन्नेव रूपादिकमीक्षते येन स्मरणसहिकारिता भवेदिन्द्रियस्य। नहि यः सहकारी यस्य तमन्तरेण स्वकार्यकरणे सामर्थ्यन्तस्य क्षित्यादिविरह इव बीजस्याङ्कुरकरणे।"
116. वही, पृ० 267 पंक्ति 29 एवं 31
117. वही, पृ० 267 पंक्ति 32-34 तथा पृ० 268 पंक्ति 1-3
118. प्र०वा०भा०, पृ० 268, पंक्ति 3-4, एवं "तस्मात् सङ्केतकालोपशब्दाग्रहणमन्यविकल्पने परिस्फुटमेवेति, तज्जा कल्पनापि नास्त्येव।" पृ० 269
119. वही, पृ० 269 पंक्ति 9-10 : अनुमान भी प्रमाण हैं, 'इस प्रसंग में इस पर विस्तार से विचार किया गया है।

120. वही, पृ० 269, 2/175 पर भाष्य
121. वही, पृ० 269
122. वही, पृ० 269
123. प्र०वा० 2/176-178 वृत्ति सहित।
124. प्र०वा०भा०, पृ० 269, 2/176 पर भाष्य।
125. प्र०वा०भा०, पृ० 269-270
126. प्र०वा०भा०, पृ० 270, पंक्ति 1-4
127. प्र०वा०भा०, पृ० 270, पंक्ति 6-10
128. प्र०वा० एवं वृत्ति 2, 179-180
129. प्र०वा०भा०, पृ० 271; पंक्ति 9-12
130. वही, पृ० 272, पंक्ति 12-13 एवं अलंकार श्लोक 2/333
131. प्र०वा०भा०, पृ० 271, पंक्ति 15-16
132. वही, पृ० 271 पंक्ति 16-21
133. वही, पृ० 271 पंक्ति 21-25
134. वही, पृ० 271 पंक्ति 25-32 और अलंकारश्लोक 2/335 का पूर्वांश
135. प्र०वा० 2/181-182 वृत्ति के साथ।
136. प्र०वा०भा०, पृ० 273, प्रथम पंक्ति
137. प्र०वा० 2-183-84 वृत्ति सहित
138. प्र०वा०भा०, पृ० 273
139. वही, पृ० 273
140. वही, पृ० 273 "अथ चक्षुरादिकारणप्रतिबद्धप्रतिभासपदार्थसमानाधिकरणता न भवत्येव चक्षुरादिकमन्तरेणेति मतिः"।
141. प्र०वा०भा०, पृ० 273, पंक्ति 15-18
142. प्र०वा०भा०, पृ० 273 पंक्ति 18-28
143. वही, पृ० 273-74 एवं अलंकार श्लोक 2/342
144. वही, पृ० 274
145. प्र०वा० 2-185
146. प्र०वा०भा०, पृ० 274 पंक्ति 20-22 "बाह्यान्पेक्षसमयस्मरणबलादेव योजना। बाह्यान्पेक्षं समयान्तपेक्षमिन्द्रगमिज्ञानं। न तत्र कल्पनाकारणत्वात् कल्पनात्वं। न हि कारणमन्तरेण कार्योदयः।।
147. वही, पृ० 274
148. वही, पृ० 274, पंक्ति 26-28
149. वही, पृ० 274 पंक्ति 30-33
150. प्र०वा० 2-186 मनोरथनन्दि वृत्ति सहित।
151. प्र०वा० 2-187 वृत्तिसहित
152. प्र०वा०भा०, पृ० 275, पंक्ति 3-6
153. प्र०वा० वृत्ति सहित, 2/188-89
154. प्र०वा०भा०, पृ० 276 "यदि स्मृतिसहायचक्षुरादिना तद्रूपतोल्लिख्यते तदभावे तत्प्रत्ययो न

स्यात्। न भवत्येवेदमित्युल्लेख इति चेत्। न, इदमित्युल्लेखाभावेऽपि तद्रूपावभासनात्। सतापि तेन विशेषान्तरस्याभावात् कस्तत्रोपयोगः। प्रवर्तनमुपयोगश्चेत्। विनापि तेन प्रवर्तनमिति प्रतिपादयिष्यामः। मानसं च तत् प्रत्यक्षमिति प्रतिपादयिष्यते।

155. वही, पृ० 276-77
156. वही, पृ० 277 अथ पूर्वस्मादन्यस्वरूपग्रहणन्तथा सति प्रत्ययान्तरमेवैतन्मानसप्रत्यक्षरूपं। प्र०वा०, 2-190
157. प्र०वा०, वृ० 2-190
158. प्र०वा०भा०, पृ० 277, 2-190 पर भाष्य।
159. वही, पृ० 277 : प्र०वा० 2-190 पर भाष्य,
160. न्यायदर्शनम्: प्रथमोभागः, 1-1-4 पर उद्धोतकर का भाष्य, पृ० 207-208
161. तत्त्वसं (पंजिका) 1238-41
162. वही, 1285-1287 तथा श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्ष०सू० 112-113, 120
163. वही, 1288-1291. तथा श्लोक वा०प्र०सू० 125-27
164. तत्त्वसं० पंजिका, पृ० 472 में उद्धृत श्लोकवा० प्र०सू० 254
165. तत्त्वसंग्रह, (पंजिका सहित), 1292-1297
166. वही, 1298-1304
167. प्र०वा० 3-71 : तत्त्वसं० 1303-1304 की पंजिका में कमलशील ने भी कुमारिल के आक्षेप पर अपने उत्तर को पुष्ट करने के लिए इसे उद्धृत किया है।
"व्यक्तयो नानुयन्त्यन्यदनुयायि न भासते।
ज्ञानादव्यतिरिक्तं वा कथमर्थान्तरं ब्रजेत्॥ प्र०वा० 3-71
168. तत्त्वसं० (पंजिका सहित), पृ० 477;
169. वही, पृ० 477 : 1306 पर पंजिका "विकल्पद्वारेणाविकल्पकमपि निश्चयहेतुत्वेन सकलव्यवहाराङ्गं भवति" तथा पूरा पृष्ठ।
170. वही, पृ० 477-478
171. वही, पृ० 478
172. वही, पृ० 478-479 तत्त्वसं० (पंजिका) 1306-1307 भाविर्विक्त चार्वाक दर्शन के आचार्य हैं।
173. वही, पृ० 479
174. वही
175. वही
176. Buddhist Philosophy of Universal Flux, P. 287। न्याय-वैशेषिक और बौद्ध दर्शन के मध्य प्रत्यक्ष को लेकर हुए शास्त्रार्थ के लिए देखें, इस अध्याय का अन्तिम से पहले का प्रकरण।
177. देखें, 2-174 पर मनोरथनन्दि की वृत्ति एवं प्रज्ञाकर का भाष्य। धर्मकीर्ति के पक्ष को स्पष्ट करते हुए जयन्तभट्ट भी स्वतः लिखते हैं- "स हि निर्विकल्पकेनैव सर्वात्मा परिचिन्तः" पृ० 239 और भी देखें, पृ० 240, पंक्ति 1-4
178. The Buddhist Philosophy of Universal Flux, P.289 जयन्तभट्ट द्वारा कल्पना के निराकरण के लिए द्रष्टव्य, न्यायमंजरी, पृ० 243-257
179. वही, पृ० 281
180. वही, पृ० 281

181. The Buddhist Philosophy of Universal Flux, P.280
"There is no point in the argument that the relation of the staff is predicated and not the staff itself, as the relation and the relatum are not different."
182. वही, पृ० 282, "Moreover, language does not always conform to the experience of man and to make a contention, usage is not psychologically correct."
183. वा०प० 1-1 "अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।" तत्त्व० पृ० 85 में उद्धृत।
"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिवज्ञानं सर्वं शब्देन वर्तते। तत्त्व सं० पंजिका, पृ० 86 में उद्धृत : वा०प० 1-124" और भी देखें "इतिकर्तव्यता लोके सर्वाशब्दव्याप्राया। यां पूर्वाहितसंस्कारो बालोऽपि प्रतिपद्यते। (वा० प० 1-121)"
184. वही, 1-124 "वायूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती। न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी।।
185. वही, 1-125 पर टीका "योऽपि प्रथमनिपाती बाह्येष्वर्थेषु प्रकाशो विशेषनिमित्तापरिग्रहेऽपि वस्तुमात्रमिदं तदिति प्रत्यवभासयन्ति वाग्रूपतायांच सत्यामुत्पन्नोऽपि प्रकाशो विशेषवाग्रूपमस्वीकुर्वन् प्रकाशक्रियासाधनतायां न व्यवतिष्ठते।।
186. तत्त्वसं० (पंजिका) 'शब्दब्रह्मपरीक्षाः स्फोटवादियों के विस्तृत निराकरण के लिए देखें।
187. वही, 1245
188. देखें— The Buddhist Philosophy of Universal Flux, p.295
189. सुमति का उल्लेख दिगम्बर सुमति के रूप में आचार्य कमलशील ने किया है— "नन्वित्यादिना प्रथमे हेतौ सुमतेर्दिगम्बरस्य मतेनासिद्धतामाशङ्कते।।" तत्त्वसंग्रह 1264 पर पंजिका, स्पष्ट है कि ये जैन आचार्य हैं।
190. तत्त्वसंग्रह, पंजिका सहित : 1264-1268
191. वही, 1269, "विशिष्टविषयो बोधः कल्पना नेति साहराम्। न विशेषणसम्बन्धादृते वैशिष्ट्यसम्भवः।।
192. Akalanika's Criticism of Dharmakīrti's Philosophy, P. 246-247
अकलंकद्वारा, धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष विषयक विचार की आलोचना के लिए द्रष्टव्य, ऊपर उद्धृतग्रन्थ, पृ० 218-228
193. तत्त्वसंग्रह, पंजिका सहित - 1270-1274
194. वही, 1277-1283
195. इस स्थल की पूरी विवेचना डाक्टर नागिन०जे० शाह ने अने ग्रन्थ 'Akalanika's Criticism of Dharmakīrti's Philosophy' में किया है, देखें Chapter VI अकलंक की आलोचनाओं पर उनकी टिप्पणी के लिए देखें, पृ० 247 "All the arguments that Akalanika has advanced against Dharmakīrti's theory of perception are no doubt intelligent, logical, illuminating and most of them are novel.... But Dharmakīrti's theory of perception stands unrefuted so long as the fundamental metaphysical doctrine of momentarism remains unshaken."
196. धर्मोत्तर प्रदीप, प्रस्तावना, पृ० 48, संपादक प० दलसुखभाई मालवणिया
197. धर्मोत्तर प्रदीप : प्रस्तावना, पृ० 49-50 मूल पाठ परिशिष्ट में देखें।
198. न्यायविन्दु टीका टिप्पणी: प्रो० श्वेत्बास्की संपादन, पृ० 19
199. वही, पृ० 19

200. धर्मोत्तर प्रदीप, प्रथम संस्करण, पृ० 42: विशेष विवेचना के लिये देखें, प्र० पृ० 42: विशेष विवेचना के लिये देखें, पृ० 44-45 एवं 46। "न योगाचार नये लक्षणमिदम्, किन्तु सौत्रान्तिकनय एव। न च सर्वं विज्ञानवादे योजयितुं शक्यम्। "तस्य विषयः स्वलक्षणम्" इत्यादेशक्ययोजनत्वात्, पृ० 44 : केवलं यद्यभ्रान्तग्रहणं व्यवच्छेदार्थमेव तदानुमानव्यवच्छेदार्थमेव युज्यते। न तु द्विचन्द्रादिज्ञाननिरासार्थम्। पृ० 45।। और भी देखें पृ० 45 तथा 48
201. धर्मोत्तर प्र०, पृ० 42
202. वही, पृ० 42 : सन्निवेशविशिष्टस्यैव वर्णस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थक्रियायामुपयोग- दर्शनात्. " इस कथन से दिग्नाग सम्प्रदाय की दृष्टि से बाह्य वस्तु के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। बौद्ध मत में वस्तु अवयविन् रूप नहीं। रूप आदि जो वर्ण, या हीनयान सम्प्रदाय के धर्मनामकतत्त्व हैं, वे जब सन्निवेश के कारण जलाहरण आदि अर्थक्रिया में समर्थ होते हैं, तो वही घट आदि वस्तु कहलाती है।" आचार्य वाचस्पति मिश्र भी बौद्ध दर्शन का निम्नांकित उद्धरण देकर ऐसा ही निरूपण करते हैं.. " घटइत्यपि च रूपादय एवैकार्थक्रियाकारिणस्तथा व्यपदिश्यन्ते (न्या० वा० ता० पृ० 226)। विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य- 'The Conception of External Object in the School of Dignāga' Darshana International, April, 1965, by Shrinivas Shastri-
203. वही, पृ० 43
204. वही, पृ० 43
205. तत्र... चालोकसंज्ञकमाकाशदेशः..। वही, पृ० 128 और इस पर देखें दुर्वेक मिश्र की टीका, "सौत्रान्तिकानामालोकतमः स्वभाव एवाकाश इति। तन्मत्या आलोकसंज्ञक- मित्युक्तम्।" वही, पृ० 127, पंक्ति 19-20
206. वही, पृ० 199 : "तत्रालोके गतिधर्मा क्रमेण निवर्तनीयः" न्यायबिन्दु पर धर्मोत्तर की टीका। देखें, वही, पृ० 200, धर्मोत्तर की टीका तथा दुर्वेक का प्रदीप।"
207. वही, पृ० 43
208. वही, पृ० 43
209. वही, पृ० 43
210. वही, पृ० 43
211. वही, पृ० 43
212. वही, पृ० 43
213. वही, पृ० 43-44
214. वही, पृ० 44
215. वही, पृ० 44
216. बौद्धतर्कभाषा, पृ० 42
217. धर्मोत्तर 44-45
218. धर्मोत्तर कल्पनापोड शब्द को भी मतभेदों के निराकरण के लिए प्रयुक्त किया गया बतलाते हैं। यद्यपि उन्होंने इस स्थल पर विप्रतिपत्ति का उल्लेख नहीं किया है तथापि न्यायबिन्दुटीकाटिप्पणी एवं धर्मोत्तरप्रदीप से स्पष्ट है कि सविकल्पकज्ञान के निराकरण के लिए कल्पनापोड का ग्रहण किया गया है। किन्तु प्रश्न यह है कि सविकल्पकज्ञान भी वस्तु की अर्थक्रिया में समर्थ रूपके विपरीत होता है, अतः भ्रान्त है, फलतः "अग्रान्त" पद से उसका निराकरण हो जाता

- है, तो फिर कल्पनापोढ शब्द की क्या आवश्यकता? इस आशंका के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि व्यावहारिक दृष्टि से प्रत्यक्षपृष्ठभावी सविकल्पकज्ञान अभ्रान्त ही है, जैसा कि दुर्वेक मिश्र लिखते भी हैं— 'व्यावहारिकलोकाध्यवसायेनाभ्रान्तस्य' — धर्मो० प्र०, पृ० 46
219. 'स्वप्रतिभास' का तात्पर्य है— अपने द्वारा ग्राह्य : क्योंकि बौद्ध दर्शन में अर्थ का वस्तुतः ग्रहण नहीं होता, अपितु व्यावहारिक दृष्टि से ही कहा जाता है। इसी कारण दुर्वेक मिश्र ने स्वप्रतिभास की व्याख्या 'स्यस्य प्रतिभास इव प्रतिभासः। शक्तिद्वययोगात्तथारोप्यमाणं रूपम्', पृ० 72 धर्मो० प्र० के रूप में किया है। प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही प्रमाणों के 'ग्राह्य और अध्यवसेय' ये दो विषय होते हैं।
220. धर्मो० प्र०, पृ० 55
221. वही, पृ० 55
222. वही, पृ० 55
- 'इन्द्रियगतस्य तिमिरादेरिन्द्रियविकारत्वेन सम्मतस्याप्युपादानं दृष्टान्तार्थम्।
तेनायमर्थः — यथेन्द्रियगतं तिमिरादीन्द्रियं विकुर्वद् विभ्रमहेतुः, तथा अन्यैरपि तद्विकुर्वद्भिरेव विभ्रमहेतुभिर्भाव्यमिति।'
223. प्र० वा० भा०, पृष्ठ 352, पंक्ति 25, 26
224. देखें 'द्ववादशारनयचक्रम्' में भोट परिशिष्ट, पृ० 107-108
225. Diagnāḡa on Perception, P.95-96 : पाद टिप्पणी 1-53
226. प्र० वा० भा०, पृष्ठ 332 । 2/288 पर भाष्य।
227. प्र० वा० 2/289
228. प्र० वा० 2/290 धर्मकीर्ति का आशय यह है कि 'अनेक रूपादि का एकार्थकारित्व रूप जलधारणादि को बतलाने के लिए 'घट' ऐसा शब्द निवेश (= संकेत) होता है। वह संकेत जिसका कारण है वह कल्पना संकेताश्रयकल्पना कहलाती है। जहाँ दृष्टमान मरीचि से अन्य स्मृत अर्थ जैसे जलादि का आरोप किया जाता है वह अन्यार्थसमारोपकल्पना है। ये दोनों कल्पनाएँ प्रत्यक्ष के बाद होती हैं, इस कारण इनमें कोई प्रत्यक्ष की आशंका कर सकता है— वही, मनोरथनन्दि वृत्ति।
229. प्र० वा० 2/291-292 तथा वृत्ति
230. प्र० वा० भाष्य, पृ० 333-334
231. प्र० वा० भा०, पृष्ठ 334-335/ प्र० वा० भा० 2/292 पर भाष्य का अन्तिम पैरा 2/293 पर भाष्य।
232. प्र० वा० भा०, पृष्ठ 335, प्र० वा० 2/293 पर भाष्य।
मनोरथनन्दि भी कहते हैं कि आचार्य दिग्नाग ने 'सतैमिर' शब्द का प्रयोग यह बतलाने के लिए किया है कि प्रत्येक कल्पनारहित ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु कल्पनारहित ज्ञान यदि 'अतैमिर' है, तो प्रत्यक्ष है और यदि 'सतैमिर' है, तो प्रत्यक्षाभास है; क्योंकि 'कल्पनापोढ' पद के द्वारा विशेष रूप में प्रत्यक्षाभास का विधान किया गया है। 'सतैमिर' पद प्रत्यक्षलक्षण के एक देश 'अभ्रान्तत्व' का उपलक्षण है। 'सतैमिर' पद से यह भी अर्थ निकलता है कि जिन-जिन कारणों से इन्द्रियजन्यज्ञान में विकार होता है वे सगस्त उपघातजन्य ज्ञान प्रत्यक्षाभास हैं। सतैमिर में 'तिमिर' पद उपघात का उपलक्षण है अर्थात् 'तिमिर' पद द्वारा उन समस्त कारणों का ग्रहण किया गया है, जिनके द्वारा इन्द्रियजन्य ज्ञान का उपघात होता

- हैं। 'सतैमिरज्ञान' चक्षुरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्षाभास का उदाहरण है। किसी भी इन्द्रियजन्य ज्ञान में यदि किसी कारण से कोई विकार आ गया है तो उस ज्ञान को प्रत्यक्षाभास समझना चाहिए— प्र० वा० वृत्ति, 2-293
233. मानसं तदपीत्येकं तेषां ग्रन्थो विरुध्यते; नीलद्विचन्द्रादिधियां हेतुरक्षायपीत्ययम्॥ प्र० वा० 2/294
234. प्र० वा० भा०, पृष्ठ 335-336
235. प्र० वा० भा०, पृष्ठ 336; 2/295 पर भाष्य
236. वही, पृ० 336
237. देखें, प्र० वा० भा०, पृष्ठ 336
238. प्र० वा० भा०, पृष्ठ 336
239. प्र० वा० 2/297-298
240. प्र० वा० भा०, पृष्ठ 337; 2/297-298 पर भाष्य
241. प्र० वा० 2/299-300 वृत्ति सहित
242. तत्त्वसं 1323 पंजिका संहित
243. वही, 1314 पंजिका संहित
244. वही, 1315
245. वही, 1316-1319
246. वही, 1327-1328
247. वही, 1320-1322
248. एतेनाभ्रान्तविशेषणोपदानेन निरधिष्ठाने केशादिज्ञाने भ्रान्तत्वमप्रत्यक्षतया व्याख्यातम्— न्यायकणिका, पृ० 192
249. यदि निर्विकल्पकं ज्ञानं प्रत्यक्षं, तदा द्विचदादिज्ञानमपि प्रत्यक्षं प्राप्तम्, तस्य चाविकल्पकत्वमक्षजत्वात्। तथा स्वप्नज्ञानमपि स्पष्टत्वान्निर्विकल्पकं गमनप्राप्त्यादि— प्रतिभासनिमित्तत्वादविसंवाद्यपि तत्, अतः प्रत्यक्षं प्राप्तम्, तदव्यवच्छेदार्थं धर्मकीर्तिः "प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्" इत्येवं लक्षणं वकारः। इन्द्रियविकारे च विकारात् तन्निबन्धत्वाच्चाश्रयस्थितेः, सर्पादिभ्रान्तिवन्मनोभ्रान्तेरक्षविकृतावपि निवृत्तिप्रसंगात्। तस्मादिन्द्रियजमप्येतद् भ्रान्तेरप्रत्यक्षमिति = भासर्वज्ञ—न्यायभूषण, पृ० 177
250. The Buddhist philosophy of Universal Flux, P. 278-281
251. प्र० वा० भा०, पृष्ठ 252, सर्वैकविकल्पका एव। सर्व एवाभ्रान्ताः प्रत्यया अविकल्पका एव। अभ्रान्तत्वश्चाचार्येणापवादद्वारेण प्रतिपादितम्।
252. वही, पृ० 252
253. वही, पृ० 252-253
254. धर्मो० प्र०, पृ० 42-44
255. एकार्थार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम्। कोऽन्यो न भागः दृष्टः स्याद् यः प्रमाणैः परीक्ष्यते। प्र० वा० 3/43 स्वार्थानुमान परिच्छेद। बौद्ध भारती प्रकाशन
एको हि अर्थात्मा। सः प्रत्यक्षः। असिद्धे धर्मिणि साधनासम्भवात्। यथा अनित्यत्वे साध्ये शब्दः। तस्य प्रत्यक्षेणैव सर्वाकारसिद्धिः, तदन्यस्य असिद्धस्य अभावात्। भावे वा तत्स्वभावत्वम्। न हि यो यदेकयोगक्षेपो न भवति, स तत्स्वभावोऽयुक्तः। तन्मात्रनिबन्धनत्वादभेदव्यवहारस्य। अन्यथा अभावप्रसंगादित्युक्तम्। प्र० वा० स्वार्थानुमान परिच्छेद, पृ० 17" हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रकाशन।

256. वही, पृ० 17
 257. वही, पृ० 17
 258. वही, पृ० 20
 259. न व्यवसायत्मकं प्रत्यक्षं भवितुर्महति। अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासं हि तत्। न चेन्द्रियार्थाभ्यां लब्धजन्म विज्ञानमर्थावभासं शक्यमभिलापेन योजयितुम्। न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति, अर्थात्मनो वा, तथा सत्यव्युत्पन्नस्यापि व्युत्पन्नवद् व्यवहारः स्यादित्युक्तम्। न चाभिलापोऽर्थसंस्पर्शो संवेदनधर्मः, अर्थेषु तन्निर्जनात्। न्यायदर्शनम्, प्रथम भाग, पृ० 226; 1-1-4 पर तात्पर्यटीका।
 260. वही, पृ० 226-227 : 1/1/4 पर टीका
 261. वही, पृ० 227 : तन्न, पिण्डविवेकेनजात्यादिरविकल्पकेनाग्रहणात्।
 262. वही, पृ० 227-28
 263. वही, पृ० 228
 264. वही, पृ० 228, "अर्थोपयोगेऽपि पुनः स्मार्त शब्दानुयोजनम्। अक्षधीर्यद्यपेक्षेत सोऽर्थो व्यवहितो भवेत्।।"
 यह श्लोक 'न्यायविनिश्चय' का है। शेरबात्स्की महोदय ने इस तथ्य का पता लगाया है।
 देखें— Critique of Indian Realism by D.N. Shastri, P. 539
 265. वही, पृ० 228, "न च यदेवालोचनमजीजनदिन्द्रियं तदेव स्मरणसहकारी विकल्पप्रत्ययमाधत्ते।"
 266. वही, पृ० 228-229
 267. वही, पृ० 229, "तदेवं नामजातिगुणकर्मकल्पनाः प्रत्यक्षत्वेन परास्ताः। द्रव्यकल्पनापि, दण्डीति।"
 विशेषण विशेष्यं च सम्बन्धं लौकिकीं स्थितिम्। गृहीत्वा संकलयेतत् तथा प्रत्येति नान्यथा (प्र० वा० 2-145)
 न चैतावन्तं व्यापारकलापं विचारकनिवर्तनीयमिन्द्रियज्ञानं सहते, तस्य सन्निहितविषयबलेनोत्पत्तेर विचारकत्वात्।
 शेरबात्स्की महोदय "लौकिकी स्थितिम्" का अर्थ foundation of our empirical knowledge – Buddhist Logic, Vol. II P.275 करते हैं; जबकि धर्मन्द्र नाथ शास्त्री महोदय इसका अर्थ 'environment of the object' (Critique of Indian Realism, P.448) करते हैं। किन्तु आचार्य प्रज्ञाकर इसे अपारमार्थिक स्थिति के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं, और 'योजना' के प्रसंग में विश्लेषित करते हैं (प्र० वा० भा०, पृ० 253-254)। अतः श्लोक का अर्थ हुआ— "जब कोई चीज किसी विशेषण से युक्त होने के रूप में गृह्यमाण होती है, तो, जैसे, 'यह दण्डी है' इत्यादि की तरह लोकव्यवस्था में (= संसार की सर्वसाधारण व्यवस्था में = In the ordinary course of world behaviour) विशेषण-विशेष्य और इनमें सम्बन्ध जिस प्रकार प्रतीत हुआ है, उन सब का संकलन करके (विकल्पबुद्धि द्वारा) वस्तु गृहीत होती है— 'किञ्चित्केनचिद्विशिष्टं गृह्यमाणं विशेषणविशेष्यतत्सम्बन्धलोकव्यवस्थाप्रतीतो तत्संकलनेन गृह्यते दण्ड्यादिवत्'— न्यायभूषण, पृ० 179, पंक्ति 21-22)
 268. वही, पृ० 229
 269. वही, पृ० 229-230: 1/1/4 पर तात्पर्य टीका
 270. वही, पृ० 230
 271. वही, पृ० 230, पंक्ति 11-17

272. वही, पृ० 230, पंक्ति 19-22
 'स्यादेतत् । अतीतावस्था नेन्द्रियगोचरस्तस्य वर्तमानार्थे नियमात् । न च वर्तमानोऽर्थः स्मरणगोचरः स्मरणस्यानुभवजनितसंस्कारोद्बोधजन्मनः पूर्वानुभवगोचरं प्रतिनियमात् । तस्मात् भिन्नविषयतया नेन्द्रियसहकारिता स्मरणस्य । न हि रूपविषयाः सहस्रमपि नयनप्रदीपादयः शब्दविषयस्य श्रवसः सहकारितामापद्यन्त इति ।'
273. वही, पृ० 230, पंक्ति 23-25
274. वही, पृ० 230-231
275. वही, पृ० 231, पंक्ति 3-8
276. वही, पृ० 231, पंक्ति 10-13
277. वही, पृ० 232, पंक्ति 7-9
278. वही, पृ० 232, पंक्ति 19-21
279. वही, पृ० 232, पंक्ति 21-24
280. वही, पृ० 233, पंक्ति 13-17
281. वही, पृ० 233-234
282. भासर्वज्ञ कृत - न्यायभूषण, पृ० 182
283. वही, पृ० 182, अर्थापयोगेपीत्यादि । तत्र यदि स्मृत्यपेक्षित्वेऽर्थस्य क्षणिकत्वेन व्यवधानमुच्यते, तन्नः क्षणिकत्वासिद्धत्वात् । क्षणिकत्वादिनापि सहकारिवैलक्षण्यादेकसंतानस्य विलक्षणकार्यात्पादकत्वमभ्युपगतमेव । ततश्च यथैक एवाग्निसन्तानः कस्यचिदेकस्य मूर्त्तसन्तानस्याश्मसन्तानस्य वा सहकारिभेदानुरोधेन रूपाद्याकारविशेषं प्रति व्यवहितत्वेन कारणत्वमिष्यते (मूल में, 'व्यवहितत्वेनाकारणत्वमिष्यते' है, जो गलत है) तथार्थसन्तानस्येन्द्रियसन्तानस्य च निर्विकल्पकं ज्ञानं जनयित्वा पश्चाल्लब्धसहकारिविशेषस्य गौरित्याद्याकारजनकत्वं भविष्यतीति कथं व्यवधानं?"
284. वही, पृ० 183
285. वही, पृ० 184
286. वही, पृ० 185; "यदप्युक्तम्- विचारकत्वे चेन्द्रियमनोज्ञानयोरभेदप्रसंगादित्यादि, तदप्युक्तम्; निर्विकल्पकत्वाद्यविशेषवदसंभवात् । यथा त्वन्मते चतुर्विधानां प्रत्यक्षाणां निर्विकल्पकत्वान्नान्तत्वाविशेषेपि अवान्तरधर्मभेदोऽस्ति विषयभेदः कारणभेदश्चास्ति, तथा विचारकत्वाविशेषेपीन्द्रियमनोज्ञानयोरभेद एव । नाप्यतीतानागतवस्तुभेदग्रहणादिप्रसंग इति ।।
287. वही, पृ० 185
288. Critique of Indian Realism, P. 457
289. न्यायभूषण, पृ० 184 : पादटिप्पणी 285 में उद्धृत अंश तथा उसके बाद का पूरा पृष्ठ 184
290. Critique of Indian Realism, p. 458
291. देखें- Critique of Indian Realism, P. 459 'Even then the fact that perceptive knowledge is preceded by memory suggests a sort of alien element in the unitary perception'

292. न्यायक० पृ० 80, पंक्ति 19 "यद्यपि प्रत्यक्षमिन्द्रियसंस्कारावसमर्था तथाऽपि सहताभ्यामिदमेक कार्यं प्रत्यभिज्ञास्वभावं प्रभावयिष्यते।"
293. न्यायक०, पृ० 226, "अपिचेन्द्रियसन्निकर्षादुपलभ्यमाने भूतले अभावज्ञानमपि भवति अघटं भूतलमिति, तत्र भूतलस्येवाभावस्यापि प्रत्यक्षता किं नेष्यते?"
294. न्यायमंजरी, पृ० 133, मैसूर प्रकाशन
295. न्यायक०, पृ० 226: भाववदभावोऽपि इन्द्रियग्रहणयोग्य एव, कार्यदर्शनादेव चास्येन्द्रिय सम्बन्धोऽपिकाश्चित् कल्पयिष्यते।
296. न्याय कुसुमांजलि, पृ० 441, 444, 463 "या हि साक्षात्कारिणी प्रतीतिः सेन्द्रियकरणिका, यथा रूपादि प्रतीतिः। तथेह भूतले घटो नास्तीत्यपि।" "अन्यत्रानपेक्षणेन्द्रियव्यापारान्तर- भावित्वाच्च।।" "अज्ञातकरणत्वाच्च। यदज्ञायमानकरणजं ज्ञानं तत्साक्षादिन्द्रियजम् यथा रूपप्रत्यक्षम्। तथा चेह भूतले घटो नास्तीति ज्ञानमिति। यथा वा स्मरणमज्ञायमानकरणजं साक्षान्मनोजन्म।।"
297. वही, पृ० 465
298. वही, 472, "अन्यथा सर्वविकल्पानां प्रत्यक्षत्वायदत्तो जलांजलिः स्यात्।
299. हेतुचिन्तु, पृ० 64, पंक्ति 23 से पृ० 65
300. वही, पृ० 65
301. वही, पृ० 65-66
302. वही, पृ० 66-67
303. वही, पृ० 67-68
304. न्यायचतुर्ग्रन्थिका, पृ० 211 : 1/1/4 पर वाचस्पति मिश्र की टीका
305. न्या०वा०ता०टी०, पृ० 54, "यद्यत्राभविष्यद् घटो भूतलमिवाद्रक्ष्यते, तेन सह तुल्यदर्शनयोग्यत्वात्, न च दृश्यते तस्मान्नास्तीति, तेन तर्केणानुज्ञायमानं (प्रत्यक्ष) घटामावशिष्टभूतले प्रवर्तते केवलमेवेदं भूतलं नेह घट इति"
306. न्यायमंजरी, पृ० 41, प्रथम भाग, "चक्षुर्जनितज्ञानविषयत्वाच्चाक्षुषत्वं न रूपवत्त्वेन" चौखंभा प्रकाशन।
307. वही, पृ० 41, "प्राप्यकारित्वमपि इन्द्रियाणां वस्त्वभिप्रायमेवोच्यते, तस्मादवस्तुत्वादभावस्य तेन सन्निकर्षमलभमानमपि नयनमुपजन्यति तद्विषयमवगमम्।"
308. न्यायकुसुमा०, पृ० 47, काशी संस्कृत सीरीज, 1957
309. वही, पृ० 48
310. Indian logic, by K. K. Dikshit, P.167-188; अनुपलब्धि के प्रसंग में सविस्तार विवेचन दीक्षित जी ने इस ग्रन्थ में किया है- देखें इसी ग्रन्थ के पृ० 135-168
311. Indian Logic by K.K. Dikshit, P.168

पंचम अध्याय

(क) इन्द्रिय प्रत्यक्ष

- वैभाषिकों का अभिमत है कि आँख ही रूप को देखती है- "चक्षुः पश्यति रूपाणि"। आचार्य दुर्वेक मिश्र धर्मो० प्र० पृ० 56 में "यैरिन्द्रियमेव द्रष्टुं कल्पितं" धर्मोत्तर के इस अंश पर टीका करते हुए वे लिखते हैं- "यैः स्वयूथैर्वैभाषिकैः। यदि ज्ञानं द्रष्टुं स्यात्, तस्याप्रतिघत्वात्

व्यवहितमांषे गृहणीयात्। ततः चक्षुः पश्यते रूपाणि इत्यादिवादिभिरिन्द्रियमेव द्रष्टुं कल्पितम्।
दुर्वैक मिश्र आगे बतलाते हैं कि 'इन्द्रियज्ञान का अर्थ है इन्द्रिय का ज्ञान, अर्थात् इन्द्रियाश्रित ज्ञान' ऐसा कहते हुए यह दिखलाया गया है कि इन्द्रिय का द्रष्टृत्व नहीं होता। इस प्रकार दैर्भाषिकों के पक्ष से उठायी गयी विप्रतिपत्ति निराकृत हो जाती है।

वैभाषिकों ने उपर्युक्त पक्ष में इस दोष की भी उद्भावना की थी कि यदि इन्द्रियविज्ञान में ही द्रष्टृत्व माना जाय, तब तो इन्द्रियविज्ञान को व्यवहित को भी जानना चाहिए, क्योंकि ज्ञान अप्रतिघ होता है। दुर्वैक मिश्र उत्तर देते हैं— "न ज्ञानं गत्वा गत्वार्थं गृहणाति। न चायोग्यदेशस्थोऽर्थस्तत्त्वरूपकोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां विज्ञातः। इन्द्रियज्ञानं प्रत्यक्षमिन्द्रियादि-सामग्रीजन्यज्ञानं प्रत्यक्षम्, एकस्य जनकत्वविरोधात्। नाज्ञानमित्यर्थात्" धर्मो० प्र०, पृ० 57। आशय यह है कि इन्द्रिय ज्ञान का ही रूप में सामर्थ्य है, चक्षु का नहीं और ज्ञान उस वस्तु को नहीं देखता जो व्यवहित होती है, क्योंकि वह ज्ञान योग्य देश में स्थित वस्तु से उत्पन्न हुआ करता है, व्यवहित वस्तु से नहीं — यह बात अनुभव से ज्ञात होती है। इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष है का आशय है इन्द्रियादि सामग्रीजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है, क्योंकि 'एक' से उत्पत्ति मानने में विरोध है, और इन्द्रियज्ञान अज्ञान भी नहीं है।

आचार्य दुर्वैक यह भी प्रदर्शित करते हैं कि किस प्रकार उपर्युक्त कथन से मीमांसकों के मत का भी निरास हो जाता है। देखें, धर्मो० प्र० पृ० 57।

2. प्र० वा० 2/192 इसी पर मनोरथनन्दि की वृत्ति एवं प्रज्ञाकर का भाष्य भी देखें। बौद्धों के लिए, सामान्यतया, विज्ञान अपनी उत्पत्ति के लिए इन्द्रिय और विषय पर अवलम्बित है— देखें, संयुक्त निकाय II, 72, तथा IV, 33, 67, 86: "चक्खुम च पटित्त्वरूपे च उप्पज्जति चक्खु विष्णानम्, आलम्बन परी० में उद्धृत। अभिधर्म को० भा० में वसुबन्धु पूछते हैं 'इन्द्रिय के नाम पर ही, वस्तु के नाम पर नहीं, क्यों विज्ञान को चक्षुर्विज्ञान कहा जाता है' अभि० को० भा० पृ० 126। वे उत्तर देते हैं— (1) 'इन्द्रिय के पटु या मन्द होने के अनुकूल ही ज्ञान स्पष्ट एवं मलिन या क्षीण होता है, अतएव इन्द्रिय को ही विज्ञान का आश्रय मानना चाहिए। (2) इन्द्रिय विज्ञान का असाधारण हेतु है। उदाहरणार्थ, जब किसी को चक्षुर्विज्ञान होता है तो, उसका एकान्तकारण उस व्यक्ति की चक्षुरिन्द्रिय को ही मानना चाहिए, क्योंकि, चक्षु के अतिरिक्त विषय, रूप आदि जो अन्य घटक हैं वे अन्य व्यक्तियों में भी चक्षुर्विज्ञान के कारण होते हैं और साथ ही साथ विषय, एवं रूपादि उस व्यक्ति तथा अन्य व्यक्तियों के मनोविज्ञान के कारण हैं। अतः, इन्द्रिय के नाम पर ही विज्ञान को अभिहित किया जाता है— "तद्विकारविकारित्वादाश्रयाश्चक्षुरादयः। अतोऽसाधारणत्वाच्च विज्ञानं तैर्निरुच्यते। अभि०, को० 1/45। स्पष्ट है कि दिग्नाग, धर्मकीर्ति आदि विज्ञान को इन्द्रिय के नाम से अभिहित करने के लिए वसुबन्धु के 'असाधारण हेतुत्व' का उल्लेख कर रहे हैं। न्याय मु० में भी दिग्नाग ने कहा है— 'असाधारणकारणत्वात् अक्षं अर्थं प्रतिवर्तत इति प्रत्यक्षम्। विशेष विवरण के लिए देखें— Dignāga on Perception, पृ० 86-87 पादटिप्पणी 1/31, 32 एवं 33
3. प्र० वा० 2/193
आचार्य प्रज्ञाकर भी कहते हैं— "साक्षात्करणमिन्द्रियव्यपदेशादेव प्रतीयते नान्यतः। विषयव्यपदेशेन सविषयता नाम स्यात्, न साक्षात्कारिताकथनं", पृ० 279
4. प्र० सं० 1/4. असाधारणहेतुत्वादक्षैस्तद् व्यपदिश्यते।

- तस्यानेकार्थजन्यत्वात् स्वार्थं सामान्यगोचरम् ।।
5. प्र०वा० 2/195-196 - मनोरथनन्दि वृत्ति सहित
 6. प्र०वा० 2/197-198 - मनोरथनन्दि वृत्ति सहित
 7. वही, 2/198-203, मनोरथनन्दि वृत्ति सहित।
 8. वही, 2/204, पर मनोरथनन्दि की वृत्ति।
 9. प्र०वा०भा०, पृ० 282
 10. प्र०वा०भा०, पृ० 282-283
 11. वही, पृ० 283-284
 12. ग्राह्यग्राहकसमसंख्याकवाद और चित्राद्वैतवाद की विवेचना, इसी अध्याय में आगे की जायेगी।
 13. प्र०वा० 2/205
 14. प्र०वा०भा०, पृ० 284
 15. प्र०वा०भा०, पृ० 284
 16. प्र०वा०भा०, पृ० 285
 17. प्र०वा०, 2/206
 18. प्र०वा०, वृत्ति सहित 2/206
 19. प्र०वा० 2/223-227 वृत्ति सहित।
 20. प्र०वा० 2/228-229 वृत्ति सहित।
 21. प्र०वा० 2/231-235 वृत्ति सहित।
 22. प्र०वा०भा०, पृ० 302 प्र० वा० 2/235 पर व्याख्या।
 23. प्र०वा० 2/236-238, वृत्ति सहित।
 24. प्र०सं० 1.19. "यदि च स्यात् तदा पश्येदप्युन्मील्य निमीलनात् ।
न सुखादि प्रमेयं वा मनो वास्तीन्द्रियान्तरम् ।।
और भी देखें- Dignāga on Perception, p.38&39 तथा पाद टिप्पणी 3-33, 3/34-35
 25. देखें- Indian Psychology, Perception, Chapter I, P. 1-30; The Six ways of Knowing. p. 39-46
 26. अभिधर्म को० 1/44 "चक्षुःश्रोत मनो प्राप्त विषयं त्रयमन्यथा । त्रिभिर्घ्राणादिभिस्तुल्यं ... ग्रहणं मतम् ।।" अप्राप्यर्थ मनश्चक्षुः श्रोतं च त्रीण्यतोऽन्यथा ।। अभि० दी०, पृ० 45
 27. प्र०सं० 1/17-18 "सान्तरग्रहणं न स्यात् प्राप्तो ज्ञानेऽधिकस्य च । अधिष्ठानाद् बहिर्निर्गमः.....
"। देखें द्वादशारनयचक्र, भोट परिशिष्ट, पृ० 120 में उद्धृत। वही देखें पाद टिप्पणी 1 और 2
 28. 'इन्द्रियाँ भौतिक हैं, देखें, न्या०सू० 1/1/12। सांख्य एव बौद्धमत का उल्लेख न्या०सू० में भी हुआ है, देखें न्या०सू० 3/1/29 "महदणुग्रहणात्", तथा 3/1/39. अप्राप्यग्रहणं कायाग्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः"। ये विरोधी सांख्य और बौद्ध हैं, ऐसा Ruben महोदय Die, Nyāyasūtra, p.11, n. 188, p.201, n.194 मानते हैं। युक्तिदी, p. 123 भी देखें। देखने का सामर्थ्य किसका धर्म माना जाय, भौतिक इन्द्रिय का अथवा psychical विज्ञान का इसको लेकर बौद्धों में भी विवाद था। प्रथम मत की प्राप्ति न्याय सू० 3/1/59 में तथा द्वितीय की न्याय सू० 3/1/40 में होती है। अतः इस प्रसंग में दिग्नाग अपने पूर्ववर्ती सांख्य और बौद्ध दार्शनिकों के ही तर्कों को दुहरा रहे हैं। उनकी अपनी मौलिकता यहाँ नहीं है।

29. देखें— Dignāga on Perception, p. 65-66 एवं पादटिप्पणी 6/19-21, पृ० 165-166
30. प्र०सं० 1/18 "अधिष्ठानाद् बहिर्नाक्षम्" न, शक्तिविषयेक्षणे"
31. द्वादशशरानयचक्र, भोटपरिशिष्ट, पृ० 120; पादटिप्पणी 1 एवं 2, पाद टिप्पणी 1 में न्या०वा०ता०टी० को एवं, पादटिप्पणी, 2 तत्त्वार्थ रा० को उद्धृत किया गया है और, ये दोनों अंश प्रमाणसमुच्चयवृत्ति के आशय को अभिव्यक्त करते हैं। अतः, उन्हीं के आधार पर यहाँ दिग्नाग का मत प्रस्तुत किया गया है। M. Hattori, Dignāga on Perception, p. 38, में ऐसा ही करते हैं। "यथोक्तं दिग्नागेन" सान्तरग्रहणं न स्यात् प्राप्तौ ज्ञानेऽधिकस्य च।" बहिरवर्तित्वादिन्द्रियस्य उपपन्नं सान्तरग्रहणमिति चेत्, अत उक्तम्— 'अधिष्ठानाद् बहिर्नाक्षम्', किन्तु अधिष्ठानदेश एवेन्द्रियम्। कुतः, तच्चिकित्सादियोगतः। सत्यपि च बहिर्भावे च शक्तिविषये क्षणे। यदि च स्यात् तदा पश्येदप्युन्मील्य निमीलनात्। यदि च स्यात्, उन्मील्य निमीलितनयनोऽपि रूपं पश्येत्, उन्मीलनादस्ति बहिरिन्द्रियमिति।" न्या०वा०ता०टी० 1/1/4, पृ० 118। "किं च, यदि प्राप्यकारि चक्षुः स्यात् सान्तराधिकग्रहणं न प्राप्नोति न हीन्द्रियनिरन्तरे विषये गन्धादौ सान्तरग्रहणं दृष्टम्, नाप्यधिकग्रहणम्। अथ मतम् बहिरधिष्ठानाद् वृत्तिरिन्द्रियस्य, अत उपपन्नं सान्तराधिकग्रहणमिति तदयुक्तम्, यस्माद् न बहिरधिष्ठानादिन्द्रियम्, तत्र चिकित्सादिदर्शनात्। अन्यथा अधिष्ठानपिधानेऽपिग्रहणप्रसंगः। मनस्स्वाबहिर्भावात्। मनसाधिष्ठितं हीन्द्रियं स्वविषये व्याप्रियते। न च मनो बहिरधिष्ठानादस्ति। तदभावादग्रहणप्रसंगः। अनुवृत्तौ च सम्भवाभावात् विप्रकीर्णं चक्षुरस्मिन्मूहं कथमणुमनोऽधिष्ठास्यति" — तत्त्वार्थरा० 1/19, पृ० 68।
32. न्यायदर्शनम् (न्यायचतुर्ग्रन्थिका), पृ० 201-202
33. वही, पृ० 216
34. The Buddhist Philosophy of Universal Flux, P. 306&310; 'Shāntarakṣita was perhaps the first Buddhist philosopher, who took up the defence of Dignāga and gave crushing replies to Uddyotakara's animadversions.' P.306.
35. वही, पृ० 308-309
36. वही, पृ० 310
37. वही, पृ० 310
38. इन्द्रियविज्ञान के प्रसंग में बौद्धों में तीन सिद्धान्त थे, इसकी सूचना सर्वप्रथम श्रद्धेय पण्डित, जगन्नाथ उपाध्यायजी के सरस्वती सुधमा पत्रिका में छपे "ज्ञानस्य निराकारत्वेऽद्वैतवादि-बाह्यार्थसत्त्ववादिनोर्विशेषः" निबन्ध से मिली। 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि प्रकरणद्वयम्' ग्रन्थ की भूमिका में भी इन सिद्धान्तों पर विचार हुआ है। मैंने वहाँ प्रयुक्त शब्दों को एवं सिद्धान्तों के भावार्थ को वहाँ से ग्रहण किया है, अतः उनके प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। विस्तार तथा अन्य विवेचना के लिए मैंने प्रज्ञाकरभाष्य तथा ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलि को आधार बनाकर सिद्धान्तों को स्पष्ट रूप में रखने का प्रयास किया है। इस प्रसंग में 'नानाद्वैतवाद' या चित्राद्वैतवाद का सिद्धान्त, प्रज्ञाकर के भाष्य एवं ज्ञानश्रीमित्र के 'साकारसिद्धिशस्त्रम्' के चित्राद्वैत नामक चतुर्थ परिच्छेद पर अवलम्बित है।
39. प्र०वा० 2/204 "वैश्वरूप्याद् धियामेव भावानां विश्वरूपता।"
40. प्र०वा० 2/204 द्वितीय पंक्ति।
41. प्र०वा० 2/205-206 वृत्ति सहित।

42. विज्ञप्तिमात्रासिद्धिप्रकरणद्वयम्, प्रस्तावना, पृ० 45
43. प्र०वा० 2/208
44. वही, 2/208 पर वृत्ति एवं प्रज्ञाकर का भाष्य।
45. चित्राद्वैतवाद साकार विज्ञानवाद का विकसित रूप है। बौद्धदर्शन के संस्कृत ग्रन्थों में इस स्थल की विवेचना, प्रज्ञाकरभाष्य, पृ० 286, 289-296 में हुई है। ज्ञानश्रीमित्र ने साकारसिद्धिशास्त्रम् नामक निबन्ध में "चित्राद्वैतनामक" चौथा परिच्छेद ही लिखा है और रत्नकीर्ति ने भी 'चित्राद्वैतप्रकाशवाद' नामक एक निबन्ध लिखा है। न्यायदर्शन में, विशेषकर भासवर्ज प्रज्ञाकर के एतदविषयक विचार की व्याख्या कर उसका निराकरण करते हैं— पृ० 112-119 न्यायभूषणम्। अकलंक और उनके बाद के प्रसिद्ध जैन न्यायग्रन्थों में भी प्रज्ञाकर द्वारा विकसित किये गये इस साकारविज्ञानवाद की विवेचना एवं समीक्षा हुई है, देखें अकलंक के अतिरिक्त, विद्यानन्द की 'अष्टसहस्री एवं प्रभाघनद्र का प्रमेयकमलमार्तण्ड' और 'न्यायकुमुदचन्द्र'। ज्ञानश्रीमित्र एवं रत्नकीर्ति के मत के खण्डन के लिए देखें उदयनाचार्य का 'आत्मतत्त्वविवेक'। ज्ञान की साकारता-निराकारता को लेकर जो विवाद दिग्नाग से उठा वह अपने को किस प्रकार विकसित किया और उसकी परिणति किस प्रकार अद्वैतवाद में हुई यह शोध-प्रबन्ध के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साथ ही कठिन विषय है।
46. "अद्वैतबिन्दु" नामक निबन्ध देखें 'ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली' में
47. विज्ञप्तिमात्रासिद्धिप्रकरणद्वयम्, प्रस्तावना, पृ० 46 एवं प्र०वा० 2/207
48. प्र०वा० 2/210-218
49. प्र०वा०भा०, पृ० 286 पंक्ति 27 से, पृ० 287 पंक्ति 2 तक।
50. प्र०वा०भा०, पृ० 287 : पंक्ति 12 में "परमार्थत इति व्यवस्था" के स्थान पर "परमार्थत इति व्यवस्था" पाठ होगा।
51. वही, पृ० 288 : प्र०वा० 2/212 पर भाष्य
52. वही, पृ० 288 : प्र०वा० 2/212 पर भाष्य
53. प्र०वा० 2/220 वृत्ति सहित।
54. वही, 2/221 प्रथम पंक्ति, वृत्ति सहित
55. वही, 2/222, वृत्ति सहित
56. प्र०वा०भा०, पृ० 290 पंक्ति 2-10 तथा 12-14 पंक्ति 2 में — "न त्वनुभूतमासीदितिभवति" के स्थान पर "न त्वनुभूतमासीदिति भवति" पाठ होना चाहिए।
57. वही, पृ० 290 पंक्ति 14 से पृ० 291 पंक्ति 4 तक
58. वही, पृ० 291, अलंकारश्लोक 2/385
59. वही, पृ० 291, अलंकारश्लोक 2/388
60. वही, पृ० 291, पंक्ति 31-33 एवं अलंकार श्लोक 2/389
61. वही, पृ० 292, अलंकार श्लोक 2/390-392
62. वही, पृ० 292, पंक्ति 4 एवं अलंकार श्लोक 2/393-396 और पंक्ति 9
63. वही, पृ० 292, पंक्ति 10, 11, 14-17
64. वही, पृ० 292, पंक्ति 19-31
65. वही, पृ० 293, पंक्ति 21-24 एवं पृ० 294 पंक्ति 2 "तस्मादेकैव चित्रावभासिनी बुद्धिरिति स्थितं"।

66. वही, पृ० 294 पंक्ति 5-7, 13-17 एवं अलंकार श्लोक 2/416-417
67. वही, पृ० 294, अलंकार श्लोक 2/418 से अलंकार श्लोक 420 तक
68. वही, पृ० 295, पंक्ति 24 तथा 27-32
69. ज्ञानश्री० नि०, साकारसिद्धिशास्त्रम्, चित्राद्वैतपरिच्छेद, पृ० 444, "ततः तत्त्वतो द्वयोरप्यनुपपन्नत्वे एकत्वं फलापेक्षया व्यवहियते नान्यत्"।
70. वही, पृ० 443, "न प्रमाणप्रतिक्षिप्ते हेतुभिस्त्राणसम्भयः। स्वसवित्या च यत् सिद्धनत्त्वतः सिद्धमेव तत्। न स्ववित्तिं विनाकृत्य प्रमाणैर्जीवितुक्षमम्। दिश्वेनेव प्रमापाये शास्त्रे निर्णीतमेव तत्॥
71. वही, पृ० 443-444
72. वही, पृ० 444
73. वही, पृ० 444, "एकानेकविरहेऽपि सत्त्वमित्याश्चर्यार्थश्च चित्रशब्दः। एको भगवानिति संवृतौ वा, ...। न चैवमनेकव्यवहारेणोपयोगः। यथा हि स भगवानाश्रयणीयो मया, मयापि च तथैव भाव्यमित्येकत्वाध्यवसायिनी प्रवृत्तिरूपयोगवती, तथा नानेकत्वेन किञ्चित् फलमाकलयामः। पृथक्धर्मिणी वदचिद् व्यापृतेरसिद्धेः। ततः तत्त्वतः द्वयोरप्यनुपपन्नत्वे एकत्वं फलापेक्षया व्यवहियते नान्यत्, यथा अनित्यत्वं प्रशमानुकूलत्वेन।
74. वही, पृ० 444-445, "नन्वेतदपि नीलान्तरालवलयपर्यन्तं सजातीयेतरज्ञानचक्रं चित्रमेकमेव व्यवहियतेभवतां तत्कथमुच्यते- "यावदेव बहिरध्यवसायस्तावदेव पृथगेतदिदं च। तन्मतिस्तु सकलेति स एव ज्ञानपाणिचरणादि रसौहि॥" न खलु मनोविवर्तान विहाय करादिमात्रं चैत्रः। ततो विवर्तान्तरवच्चैत्रवाच्यतायामन्तर्भावादेकव्यवहारः केवलं विज्ञप्तिमात्रतापरामर्शः। तत्रापि, भगवत्सीव गोचरभागव्यवस्थान्तरमुक्तं स्मर्तव्यम्॥"
75. वही, पृ० 445
76. वही, पृ० 447 तथा 449
77. वही, पृ० 449 तथा 450
78. वही, पृ० 451
79. वही, पृ० 452 एवं 460
80. वही, पृ० 460
81. वही, पृ० 460
82. वही, पृ० 460 "तयोः कल्पनाकृत एव भेदोऽत्र तु प्रतिभास कृत इति चेत्?
83. वही, पृ० 461
84. वही, पृ० 461
85. वही, पृ० 462
86. वही, पृ० 462, "तदेवमेकत्वोपाधिचित्राद्वैतवादो वार्तिककारस्य मुख्य उपलक्ष्यते। भाष्यकारस्य तूभयव्यावृत्तिविशेषणः। तत्त्वतस्तु उभयोराप्येक एवाभिप्रायः। अभिव्यक्तिरीतिभेदात् तु मुख्येतरव्यवस्था।
- अनालोच्य तत्तच्चित्रां चित्राद्वैतव्यवस्थितिम्। भाष्यापदेशादाचार्यदूषण कस्य भूषणम्॥ यदि चाचार्यस्यान्योऽभिप्रायो भाष्यकारस्याप्यक्षरव्याख्येयमभिप्रायस्त्वन्य इति नाशक्यमिति धिक् प्रकाश एव स्खलनम्॥"

(ख) मानसप्रत्यक्ष

87. देखें जितारी का ग्रन्थ हेतु त०, पृ० 21
88. प्र०स० 1-6 प्रथम पंक्ति
89. 'द्वाद० नयचक्रम्-भोटपरिशिष्ट'-पृ० 105 पादटिप्पणी 2 = 'मानसं' चेत्यादि। च शब्दः समुच्चयार्थः। अर्थशब्दोऽयं ज्ञेयपर्यायः। रागादीनां स्वं रागादिस्वम्। स्वशब्दोऽयमात्मवाचकः। अर्थश्च रागादि स्वं च, तत्संवित्तिरर्थरागादिस्वसंवित्तिः। संवेदयते ज्ञायतेऽनयेति संवित्तिः। संवित्ति, 'प्रत्येकमभिसम्बध्यते। अविकल्पिका सा मानसं प्रत्यक्षम्।
90. वही, पृ० 104, पादटिप्पणी, 3 : "समुदायविकारषट्पञ्चाशच्च..."
91. प्र०वा०भा०, पृ० 303 : "मानसमप्यर्थरागादिस्वरूपसम्बन्धेनमकल्पकत्वात् प्रत्यक्षं, अनुभवाकारप्रवृत्तेः।
92. देखें Dignāga on Perception, by M. Hattori, P. 27, कारिका 1-6 प्रथम पंक्ति पर पाद टिप्पणी 1.45, पृ० 92-93 भी देखें। बोध एवं संवित्ति को श्वेत्वात्की महोदय feeling के अर्थ में लेते हैं और अर्थसंवित्ति का अर्थ 'Feeling regarding an object' करते हैं। देखें Buddhist Logic, Vol. 2.
93. प्र०वा०भा०, पृ० 270, "पुरोवृत्तेनिश्चायकः। न ह्यत्र परोक्षविषयता निश्चयस्य। इदं च प्रत्यक्षं सन्निहितार्थत्वात् तदसत्। मानसप्रत्यक्षमेतदिति प्रतिपादयिष्यामः।
94. वही, पृ० 305: "अत्रापि मूलाचार्यवचनमिच्छते।" रागद्वे भगो हरुखादुःखादिभु स्वसंवेदनमिन्द्रियानपेक्षत्वान्मानसं प्रत्यक्षमिति।"
95. वही, पृ० 308, "अथापि प्रतिभासमान एव प्रबन्धेन सुखादाविदं सुखादीति यदा विज्ञानमधिभुवित्तरूपमुपजायते तदा कस्मान्न सविकल्पकता। अत्र मानसं प्रत्यक्षमर्थ इवेति वर्णितं, तथाहि अर्थरूपे सुखादौ न यदेदमिति वर्तते। स्वरूपग्रहसाक्षत्वे सर्वन्तन्मानसम्मतं।" 474 अलं० श्लोक।
96. वही, पृ० 305
97. वही, पृ० 305, "नन्वाकारद्वयमेवेदं कथन्तर्ह्येकत्वाध्यवसायः (मूल में) कत्वाध्यावसाय पाठ है, जो कि गलत है। तैमिरिकद्वयद्विचन्द्रन्यायेनेत्यदोषः।
98. M. Hattori महोदय के अनुसार मानसप्रत्यक्ष का द्विविध भेद दिग्नाग मानते थे और धर्मकीर्ति ने बाद में इसे विकसित कर मानसप्रत्यक्ष और स्वसंवेदनप्रत्यक्ष के रूप में विवेचित किया, तथापि हतौरी कहीं पर यह नहीं बतलाते कि दिग्नाग स्वसंवेदनप्रत्यक्ष को एक प्रकार मानते थे या नहीं। देखें, पृ० 27 और पादटिप्पणी 1-45, पृ० 92-93
99. देखें- "The Buddhist Philosophy of Universal Flux: P.311 '.... And the rather complex definition of Manovijñāna in the Nyāyabindu was evidently framed to meet the criticism of Kumārila'
100. न्या०वि०टी०टि०, पृ० 26-27, "तत्परेः कुमारिलादिभिर्लक्षणमज्ञानमिद्विधितम्। तन्मनोज्ञानं यदेन्द्रियविज्ञानविषये प्रवर्तते तदा गृहीतग्राहितयाप्रमाणम्, अथान्यविषये प्रवर्तते। व्यवहिते प्रत्यक्षं भवत्किं तन्मनोविज्ञानमिन्द्रियसव्यपेशं स्यान्निरपेक्षं वा। इन्द्रिय सव्यपेक्षत्वे सतीन्द्रिय विज्ञानमेव। निरपेक्षत्वे वानिन्द्रियस्यापि मनोविज्ञानं प्रत्यक्षं स्यादित्यन्धबधिराद्यमावाच्योद्य कृतम्।
101. प्र०वा०भाष्य, पृ० 303; वृत्ति भी देखें।

102. वही, पृ० 305, प्र०वा० 2-239 वही प्रमाण पंक्ति पर प्रस्तावक का भाष्य। पूर्वविश्लेषणार्थ मानसस्याप्रमाणता। 2-239 इसी पर मनोरथनन्दि की वृत्ति भी देखें।
103. वही, पृ० 305
104. वही, पृ० 304, प्र०वा० 2-240 पर भाष्य।
क्षणिकत्वादतीतस्य दर्शनस्य न सम्भवः।
अक्षणिकत्वेऽपि वाच्यं स्यात्प्रत्यक्षं सविशेषणम्॥ 2-240॥
105. प्र०वा०भा०, पृ० 304/प्र०वा० 2-241, इसी पर वृत्ति भी देखें।
106. वही, पृ० 304
107. प्र०वा० 2-239. "अदृष्टग्रहणेऽस्मादेरपि स्यादर्थदर्शनम्" पर भाष्य एव मनोरथनन्दि की वृत्ति।
108. न्यायविन्दु 1/9
109. प्र०वा०भा०, पृ० 305, पंक्ति 1-3
110. वही, पृ० 305 "इदमित्यादि यज्ज्ञानमभ्यासात् पुरतः स्थिते। साक्षात्करणस्तत्तु प्रत्यक्षम्मानसम्मतं। अलंकार श्लोक 443।
111. वही, पृ० 305: इदमिति पुरोवर्तिनि साक्षात्करणाकारेण प्रवर्तमानं मानसम्प्रत्यक्षं। अथ चक्षुर्योपासादुपजायमानां चक्षुषमेव। न, रूपप्रतिभासमात्रे चक्षुष उपयोगोऽभिनिवेशे तु पूर्वाभ्यासस्य तेन चक्षुषोत्र व्यापाराभावात्। मनसः पूर्वाभ्यासलक्षणादुत्पत्तेर्मानसं प्रत्यक्षमेतत्।
112. वही, पृ० 305, पंक्ति 8-12
113. वही, पृ० 305, पंक्ति 12
114. वही, पृ० 305, पंक्ति 13-15
115. वही, पृ० 305 पंक्ति 16-21: "सत्यं, लुप्तमेवैतन्नालुप्तोत्तानेन (मूल में 'लुप्तमेवैतन्नालुप्तोत्तानेन' पाठ है जाँ कि गलत है) किञ्चित्। ऐन्द्रियस्यैव सुखासुखस्योत्पत्तिरिति विरुध्यत इति चेत्। अत्रापि मूलाचार्यवचनम्विरुध्यते—' रागद्वेषमोहसुखदुःखादिषु स्वसंवेदनमिन्द्रियानपेक्षत्वान्मानस प्रत्यक्षमिति।' इयन्तर्हि धर्मकीर्तरीर्त्तारायात्, ऐन्द्रियस्यैव सुखासुखस्येति। सुखादिशब्देन न सुखहेतुरादिकमेवाच्यते कदु मिष्टमप्रतिभात्यविकल्पयन्तोपीन्द्रियज्ञानं इति यावत्। मानसमेव वाऽविकल्पकत्वसाधर्म्यात् तथोच्यते इत्यविरोधः।
116. वही, पृ० 305 पंक्ति 21-25
117. वही, पृ० 305, पंक्ति 26 एवं अलंकार भाष्य श्लोक 2/444
118. वही, पृ० 305, पंक्ति 28-29
119. वही, पृ० 305
120. वही, पृ० 306 पंक्ति 2-4
121. वही, पृ० 306 पंक्ति 5-6
122. वही, पृ० 306 पंक्ति 6-9 एवं 15-19: पुनश्च, प्र०वा० 2/245-46 पर वृत्ति भी देखें।
123. प्र०वा०, 2/247, वृत्ति संहित।
124. प्र०वा०, भा० पृ० 306 पंक्ति 22-27
125. वही, पृ० 306, पंक्ति 27-29
126. वही, पृ० 306, पंक्ति 29-30 : तथा अलंकार श्लोक 2/445-448
127. वही, पृ० 307, अलंकार श्लोक 2/449-452
128. प्र०वा०भा०, पृ० 307 पंक्ति 13

129. प्र०वा०भा०, पृ० 308 - मूल पाद के लिए देखें इसी अध्याय की पादटिप्पणी 95
यहाँ यदि विपक्षियों की ओर से आग्रह किया जाय कि मानसप्रत्यक्ष और स्वसंवेदनप्रत्यक्ष दोनों में ही सुखादि विषय बनते हैं और ऐसी स्थिति में 'असांकर्य' का बौद्धसिद्धान्त समाप्त हो जायेगा, तो प्रज्ञाकर की ओर से यह समाधान और उत्तर दिया जा सकता है कि जिस प्रकार वस्तुतः एक ही मेय 'स्वलक्षण' की प्रतीति के प्रकारभेद (= स्व, पर रूपतया प्रतीति के प्रकार भेद) से दो मेय अतः दो प्रमाण की व्यवस्था असांकर्य के आधार पर भी की जाती है, उसी प्रकार सुखादि की प्रतीति का प्रकार भेद जब मानस एवं स्वसंवेदन में स्पष्ट है, तब असांकर्य सिद्धान्त के उल्लंघन का दोष नहीं लग सकता। हाँ, प्रज्ञाकर का विश्लेषण अन्य कारणों से स्वीकार्य नहीं हो सकता, जिसकी विवेचना इसी अध्याय में की गयी है।
130. वही, पृ० 277
131. देखें, धर्मो प्र० 59, पंक्ति 5-7
132. समन्तरप्रत्यय की विवेचना के लिए देखें - The Buddhist Philosophy of Universal Flux, P.317
133. धर्मोप्र० पृ० 60 पंक्ति 3-10
134. वही, पृ० 60, पंक्ति 11-27
135. वही, पृ० 60 पंक्ति 28-32
136. वही, पृ० 61
137. वही, पृ० 61, पंक्ति 14-20
138. वही, पृ० 62
139. वही, पृ० 62-63
140. वही, पृ० 62, पंक्ति 15-17
141. वही, पृ० 62, पंक्ति 17-19
142. वही, पृ० 62
143. वही, पृ० 62
144. वही, पृ० 62 : पंक्ति 23-28
145. वही, पृ० 63
146. वही, पृ० 63
147. वही, पृ० 63, पंक्ति 15-20
148. वही, पृ० 63, पंक्ति 20-22
149. वही, पृ० 63, पंक्ति 22-29
150. Dignāga on Perception, p.94
151. धर्मो० प्र०, पृ० 62
152. वही, पृ० 62-63
153. प्र०वा०भा०, पृ० 304, प्र०वा० 2-242 परमाख्य।
154. प्र०वा०भा०, पृ० 304
155. तत्त्वसं (पंजिका) 3381-3389
156. धर्मो० प्र०, पृ० 59 पंक्ति 2-3। देखें- Dignāga on Perception, p. 94, पादटिप्पणी 1-46; न्यायबिन्दु टी०टी०, पृ० 29 भी देखें "न मानसप्रत्यक्षेणस्मद्विधानामर्थक्रियावाप्तिर्मवति, अपितु योगिनो बीतरागादेः।

157. न्यायश्रिन्तु टी० टी०, पृ० 30 एवं Buddhist Logic, Vol II, p 313
158. धर्मो० प्र० पृ० 62-63; न्यायवि० टी०टी०, पृ० 30-31
159. न्या० बि० टी० टी०, पृ० 31
160. "शान्तभद्रस्त्वाह-यद्यपि प्रत्यक्षतः तस्मात् भेदो न लक्ष्यते कार्यतो लक्ष्यत एव। कार्यं हि नीलादिविकल्परूप स्मरणापरव्यपदेशं न कारणमन्तरेण कादाचित्कत्वात्। न चाक्षज्ञानमेव तस्य कारणं संतानभेदात् प्रसिद्धसन्तानान्तरतज्ज्ञानवत्। ततोऽन्यदेवाक्षज्ञानात्तत्कारणं तदेव च मानसं प्रत्यक्षमिति"। 'न्यायविनिश्चय विवरण' प्रस्तावना, प्रथम भाग, पृ० 526 एवं सिद्धिवि० टी०, पृ० 129 पादटिप्पणी 1, शान्तभद्र के लिए देखें, धर्मो०प्र० प्रस्तावना, पृ० 52
161. सिद्धिवि० टी० पृ० 129, पंक्ति 6-8
162. Buddhist Logic, Vol. II, p. 321-335: 'Therefore, in our opinion, the view of the great scholar Dharmottara is the only right one', p. 331.
163. वही, 325, 'Now it is wrong to impute to (the author) of the *Alamkāra* (Prajñākaragupta) the alternation-theory. Not in a single Tibetan translation of the commentary and sub-commentary on this work can it be found.'
164. वही, पृ० 327, पादटिप्पणी 7 : Three elements का अर्थ है 'Sensation of the outer sense, mental sensation and self-consciousness.
165. वही, पृ० 327-330
166. सिद्धिविनि०टी०, पृ० 129, पंक्ति 18-23
167. वही, पृ० 130 पंक्ति 1-4
168. वही, पृ० 130 पंक्ति 5-11 और 16-17
यहाँ अनन्तदीर्घाचार्य प्रज्ञाकर के इस अंश की ओर संकेत कर रहे हैं- "यदि कालकलाव्यापिवस्तुग्रहणमक्षतः। सर्वकालकलालम्बे ग्रहः स्यान्मरणावधेः"।। प्र०वा०भा० पृ० 592 : अलंकारश्लोक 4-406।।
169. वही, पृ० 130, पंक्ति 17-18 "अथ क्वचित् कार्यकारणभाव एव नेष्यते, नैवम; इन्द्रियज्ञानाऽभावात् तत्प्रभवं मानसाध्यक्षं न स्यात्।
170. वही, पृ० 130 पंक्ति 24 से पृष्ठ 131 पंक्ति 1 तक
171. बुद्धिष्ट लौजिक, भाग 2, पृ० 321 में उद्धृत।
172. वही, पृ० 321 में उद्धृत
173. वही, पृ० 322
174. न्यायभूषण, पृ० 181-182
175. वही, पृ० 182: "यदप्युक्तम्" इदमित्येव कृत्वा प्रवर्तते तेन प्रवर्तकत्वात् प्रमाणमिति, तदप्ययुक्तम्; यतो नेदमित्येव कृत्वा प्रवर्तते, किन्त्वभीष्टनिश्चयादेव जातमात्रस्यापि प्रवृत्तिरिति वक्ष्यामः।
176. विभिन्न भारतीय दर्शन सम्प्रदायों में 'मनस्' को इन्द्रिय मानने के लिए जो कलह था, उसके लिए देखें- 'Indian Psychology; Perception, by Judunath Sinha, p. 16-18; मनस् को इन्द्रिय मानने अथवा न मानने के प्रसंग में वेदान्त के अभिमत के लिए देखें- The Six ways of knowing, by Dr. D.M. Datta, P.46-60.
इसी ग्रन्थ में लेखक ने न्याय-वैशेषिक के साथ वेदान्त के तद्विषयक शास्त्रार्थ की विह्वलापूर्ण विवेचना एवं समीक्षा की है और वेदान्त मत को सम्पुष्ट किया है। साथ ही प्रत्यक्ष में

अन्तःकरण की वृत्ति की भी विवेचना के लिए देखें- वही पृ० 61-72।

उद्धृत अंश के लिए देखें- 'Six ways of knowing' p. 58, Lines 4-16

177. देखें- Buddhist Logic, Vol. II, P. 326.
 178. Buddhist Logic, Vol. I, P. 161 & 162 : 177-178.
 179. The Buddhist philosophy of Universal Flux, P. 313-315.

(ग) स्वसंवेदन प्रत्यक्ष

180. स्वसंवेदित प्रमाण फल है, इसका विवेचन हमने 'प्रमाण और प्रमाणफल' के अर्न्तगत किया है। स्वसंवेदन का विचार तात्त्विक धरातल पर भी हुआ है और उसकी सिद्धि के लिए बौद्धों ने जो तर्क दिये हैं उसकी विवेचना हमने अलग से की है।
181. न्या०बि० 1/10.
 182. प्र०वा०भा०, पृ० 307 और, प्र०वा०, पृ० 175
 183. प्र०वा०भा०, पृ० 307 : प्र०वा० 2/249 पर भाष्य, पंक्ति 20-28
 184. प्र०वा०भा०, पृ० 307
 185. वही, पृ० 308
 186. वही, पृ० 308, अलंकार श्लोक 2/465-473
 187. 'चित्राद्वैत' का प्रज्ञाकर एवं ज्ञानश्रीमित्र के अनुसार पहले ही विवेचन हो चुका है। ज्ञान की स्वसंवेदनता विज्ञानवादियों को इष्ट है और इसको लेकर बौद्धों का अन्य मतों से काफी शास्त्रार्थ हुआ है और माध्यमिकों का भी इस विषय में विज्ञानवादियों से शास्त्रार्थ हुआ है। चन्द्रकीर्ति एवं प्रज्ञाकरमति ने ज्ञान की स्वसंवेदनता का बड़े विस्तार से खण्डन किया है।
188. प्र०वा० 2/251
 189. प्र०वा०भा०, पृ० 309 पंक्ति 25-35
 190. प्र०वा० 2/252-253
 191. प्र०वा०भा० पृ० 310, : 2/253 पर भाष्य, पंक्ति 13, 15-17
 192. वही, पृ० 310 पंक्ति 17-31
 193. प्र०वा०भा०, पृ० 310, पंक्ति 24-35
 194. प्र०वा० 2/254
 195. प्र०वा०भा०, पृ० 311
 196. प्र०वा०भा०, पृ० 311, पंक्ति 8 में 'धर्मोदुत्पत्तिरपि त्वविगुणमनस्कारादेरेव' के स्थान पर 'धर्मोदुत्पत्तिरपि त्वविगुणमनस्कारादेव' पाठ होना चाहिए।
 197. वही, पृ० 311, पंक्ति 10-11
 198. वही, पृ० 311, पंक्ति 15 में "तस्यैवाभ्यासस्य सकलत्वायोगात्।" के स्थान पर "तस्यैवाभ्यासस्याकलत्वायोगात्" "पाठ मैंने इस आधार पर स्वीकार किया है कि इसके आगे प्रज्ञाकर स्वतः 'जड़त्वादेवाकलत्वमिति चेत्' कहकर 'आकलत्व' का प्रसंग उपस्थित करते हैं, जिससे इंगित होता है कि प्रकरण "आकलत्व" का ही है। अलंकार श्लोक 480 में "संतानतिशयादेव" के स्थान पर संतानातिशयादेव" पाठ होगा।
 199. वही, पृ० 311, पंक्ति 21-25

200. वही, पृ० 311, पंक्ति 26-29
201. वही, पृ० 311, पंक्ति 31-32 एवं अलंकार श्लोक 482
202. वही, पृ० 312, पंक्ति 1-9
203. वही, पृ० 312, पंक्ति 10-15
204. वही, पृ० 312, पंक्ति 15-19
205. वही, पृ० 312
206. वही, पृ० 312, पंक्ति 20-33
207. वही, पृ० 313, पंक्ति 1-5; एवं 8-9 "तस्माद् भावनाबलादुपजायमानाः प्रज्ञादिवत् समवेदनस्वभावा एवेति स्थितं।"
208. वही, पृ० 313 'प्र०वा० 2-251 पर भाष्य
209. वही, पृ० 313, पंक्ति 13-16
210. वही, पृ० 313, पंक्ति 17-23
211. वही, पृ० 313, पंक्ति 24-27
212. वही, पं 27-28
213. वही, पंक्ति 28
214. वही, पृ० 313 पंक्ति 28 एवं पृ० 314 पंक्ति 1-5
215. वही, पृ० 314, पंक्ति 6-12
216. वही, पंक्ति 14-15
217. वही, पृ० 414, अलंकारश्लोक 493 एवं पंक्ति 17-18
218. वही, पृ० 314, पंक्ति 19-27
219. प्र०वा० 2/255
220. प्र०वा० 2/256
221. प्र०वा०भा०, पृ० 315
222. वही, पृ० 315 "एकलोलीभावेन प्रतिपत्तेरिति चेत्"।
223. वही, पृ० 315 : पंक्ति 10-12
224. वही, पृ० 315. "न, बाह्यार्थाभावप्रसंगात्, वासनोपधानस्य संभवात्। तस्मात् यद् यथा प्रतीयते तत् तथैवोपगन्तव्यं।..... ततो बाह्यार्थः स्वरूपेण ग्राह्यतया प्रतीयमानस्तथावस्थाप्यते प्रतीतिमात्रानुबन्धित्वात् स्थापनायाः। सुखादिकन्तु न ग्राह्यतया वेद्यते ततः स्वसंवेदनं॥
225. वही, पृ० 315, पंक्ति 20-25
226. वही, पंक्ति 25-29
227. वही, पंक्ति 30-33
228. वही, पृ० 315 अंतिम पंक्ति और पृ० 316 पंक्ति 1-3
229. वही, पृ० 316, पंक्ति 4-6
230. वही, अलंकार श्लोक, 2/498
231. वही, अलंकार श्लोक 2/499 एवं पंक्ति 10
232. वही, पंक्ति 11-12 एवं अलंकारश्लोक 2/500
233. वही, पृ० 316 पंक्ति 16-17, "न त्वप्रकाशं स्वयंग्रहणन्नाम", आशय यह है कि जो अप्रकाश रूप होता है उसको स्वयं प्रकाश या स्वसंवेदन नहीं कहते।"

234. वही, पृ० 316, पंक्ति 17-19
 235. वही, पृ० 316, पंक्ति 19-26
 236. प्र०वा० 2/257
 237. वही, 2/258
 238. वही, 2/259
 239. वही, 2/260
 240. वही, 2/261, मनोरथनन्दि वृत्ति भी देखें।
 241. वही, 2/262
 242. वही, 2/263
 243. वही, 2/264-265
 244. वही, 2/266, मनोरथनन्दि वृत्ति सहित
 245. प्र०वा०भा०, पृ० 319 पंक्ति 15-17
 246. वही, पंक्ति 20-28;
 247. वही, पंक्ति 29-32 और पृ० 320 पंक्ति 1-4
 248. वही, पृ० 320 पंक्ति 5-7
 249. प्र०वा० 2/267 पर मनोरथनन्दि-वृत्ति
 250. प्र०वा० 2/268 मनोरथनन्दि वृत्ति सहित
 251. वही, 2/269, मनोरथनन्दि-वृत्ति सहित
 252. प्र०वा०भा०, पृ० 322 पंक्ति 13-20
 253. वही, पंक्ति 21-23
 254. वही, पंक्ति 27-31
 255. वही, पृ० 322 पंक्ति 32-33 एवं पृ० 323 पंक्ति 1-2;
 256. प्र०वा० 2/270
 257. प्र०वा० 2/271
 258. प्र०वा०भा०, पृ० 323; प्र०वा० 2/271 पर भाष्य।
 259. प्र०वा० 2/272 वृत्ति सहित।
 260. प्र०वा० 2/273 वृत्ति सहित।
 261. प्र०वा० 2/274 वृत्ति सहित।
 262. प्र०वा० 2/274 - "तस्मात् त आन्तरा एव; सम्बेद्यत्वाच्च चेतनाः।
 संवेदनं न यद्रूपन्न हि तत् तस्य वेदनम्॥"
 263. प्र०वा०भा०, पृ० 324 पंक्ति 19-24
 264. वही, पृ० 324, पंक्ति 24-28
 265. "ननु भावनाधीनतायामपि न संवेदनरूपता सुखादीनामतत्त्वभावेनानुभवेन वेदनात्"।
 प्र०वा०भा०, पृ० 324; और प्र०वा० 2/275 द्वितीय पंक्ति।
 266. प्र०वा०भा०, पृ० 325, प्र०वा० 2/275 पर भाष्य।
 267. वही, पंक्ति 13-14
 268. वही, पंक्ति 15-20; पंक्ति 16 में, "नामाभेदेनेदानीन्तनावस्थायाम्प्रतीयन्ते" के स्थान पर
 "नामाभेदेनेदानीन्तनावस्थायाम्प्रतीयन्ते" पाठ होना चाहिए।

269. प्र०वा० २/२७६
 270. वही, २/२७७
 271. वही, २/२७८
 272. वही, २/२७९
 273. प्र०वा० २/२८० मनोरथ नन्दि की वृत्ति के साथ।
 274. प्र०वा०भा०, पृ० ३२६, पंक्ति १६-१७ तथा १९
 275. धर्मोप्र०, पृ० ६४,
 276. धर्मोप्र० पृ०, ६५
 277. जित्तारि प्रत्यक्ष के प्रकारों में मानसप्रत्यक्ष का नामोल्लेख नहीं करते। वे प्रत्यक्ष के प्रकारों का उल्लेख करते हुए लिखते हैं— 'तत्र प्रत्यक्षं त्रिविधम्। व्यावहारिकमिन्द्रियज्ञानं, सर्वचित्तयैतानामात्मसंवेदनं स्वसंवेदनं, भूतार्थभावनास्फुटप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति।' हेतुतत्त्वोपदेश, पृ० २१
 278. बौद्ध तर्कभाषा, पृ० १५
 279. Buddhist logic, Vol. 1, P.163
 280. वही, पृ० १६७-१६८
 281. The Buddhist Philosophy of Universal Flux, P.232

योगि प्रत्यक्ष

282. "यथा सोम्यैकेन मृतपिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यादवाद्यामभ्रं विकारो नामधेयम्। छान्दो० ६/१/४
 283. दीर्घनिकाय २/८१
 284. योगभाष्य, पृ० ८
 285. "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य", तत्त्वार्थसूत्र १/३०
 "एकोभावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः॥"
 286. सांख्यकारिका, ६४ एवं ६८
 287. प्र०वा०भा०, पृ० ६०६, पंक्ति २९, "अस्माकं त्वद्वैतवादिनां न परमार्थतः कार्यकारणभावः"
 288. प्र०सं० १/६ पर "स्ववृत्ति।
 289. धर्मोप्र०, पृ० ६७
 290. वही, पृ० ६७
 291. वही, पृ० ६७-६८
 292. प्र०वा० २/२८२
 293. धर्मोप्र०, पृ० ६८-६९
 294. न्या० बि०टी०टि०, पृ० ३३
 295. धर्मोप्र०, पृ० ६९-७०
 296. न्या० बि०टी०टि०, पृ० ३४-३५
 297. धर्मोप्र०, पृ० ६९-७०
 298. वही, पृ० ७०
 299. वही, पृ० ७०

300. श्रौतन्त्राग, भाग 2, पृ० 30, टिप्प० 2
 301. न्या०वि०टी०, पृ० 11
 302. वही, पृ० 11;
 303. वही, पृ० 11
 304. प्र०वा०भा०, पृ० 326, प्र०वा० 2/281 पर भाष्य
 305. वही, पृ० 326; 2/281-82 पर भाष्य।
 306. वही, पृ० 327
 307. वही, पृ० 327; 2/283 पर भाष्य।
 308. वही, पृ० 327, पंक्ति 15-17
 309. वही, पृ० 327 पंक्ति, 19-22
 310. वही, पृ० 327
 311. वही, पृ० 327; 2/286 पर भाष्य।
 312. वही, पृ० 328, पंक्ति 11-15
 313. वही, पृ० 328-29 अलंकार श्लोक 549 तक।
 314. वही, पृ० 329, श्लोक 550 से 568
 315. वही, पृ० 329, पंक्ति 28-29
 तत्त्वसंग्रह-पंजिका में इसका रूप इस प्रकार दिया गया है— मा भिक्षवः पुद्गलः पुद्गलं
 प्रमिणोतु, पुद्गले वा प्रमणिमुद्गृह्णातु, क्षम्यते—हि भिक्षवः पुद्गलः पुद्गलं प्रमिण्वन्। अहं वा
 पुद्गलं प्रमिणुयाम्, यो वा स्यान्मादृशः।" पृ० 16
 316. वही, पृ० 329-330
 317. प्रशस्तपाद एवं जयन्त प्रातिभज्ञान का विवेचन करते हैं। देखें, प्रश०भा० पृ० 258 तथा
 न्यायमं०, पृ० 106-107; न्या०कं०, पृ० 258; योगभा० 3/33, 36, 37। आर्षज्ञान, योगसू०
 3/25; योगभा० 3/36; योगका 3/35 एवं Indian Epistemology of Perception, P.
 125&148
 318. Fragments from Dignāga, P. 61 तथा न्या०वा० तात्पर्यटीका, पृ० 39
 319. तत्त्वसं०, द्वितीयभाग, अन्तिम अध्याय।
 320. वही, 3396-3400, 3401-3410
 321. वही, 3427
 322. वही, 3368
 323. Indian Psychology, Perception, P. 339-40

छठा अध्याय

1. धर्मो० प्र० पृ० 44
2. वही, पृ० 70
3. दिग्नाग आन परसेप्शन, पृ० 79-80, पाद टि० 1/14
4. प्र०सं० 1/2 और उस पर स्ववृत्ति
5. प्र०वा० 2/224
6. धर्मो०प्र०, पृ० 7

7. वही, पृ० 71
8. न्या०बि०टी०टि०, पृ० 36
9. धर्म० प्र० पृ० 71
10. हेतु बि०टी०, पृ० 24
11. धर्म० प्र०, पृ० 71
12. वही, पृ० 72
13. वही, पृ० 72 एवं न्या०वा०ता, पृ० 488, पक्ति 15
14. वही, पृ० 72
15. वही, पृ० 72
16. वही, पृ० 72-73
17. वही, पृ० 73
18. वही, पृ० 73
19. वही, पृ० 73
20. न्या०बि० 1/13
21. धर्म० प्र०, पृ० 74
22. प्र०वा० 2/3
23. धर्म० प्र०, पृ० 74
24. प्र०वा० 2/50 पर मनोरथनन्दि की वृत्ति।
25. धर्म० प्र०, पृ० 74 तथा न्या०बि०टी० टि०, पृ० 36
26. न्या०बि०टी०, पृ० 12 विनीतदेव कृत
27. वही, पृ० 12
28. न्या०बि०टी०टि०, पृ० 37
29. धर्म० प्र०, पृ० 74
30. वही, पृ० 74
31. हेतु बि०टी०, आ० पृ० 25 एवं धर्म० प्र० पृ० 75
32. धर्म० प्र०, पृ० 75
33. वही, पृ० 75 धर्मोत्तर की टीका
34. वही, पृ० 75-76; न्या०बि०टी०टि०, पृ० 37; बौ०न्या०, भाग-2, पृ० 33, टि० 1
35. धर्म० प्र०, पृ० 76
36. वही, पृ० 76, न्या०बि०टी०टि०, पृ० 37-38
37. धर्म० प्र०, पृ० 75-76
38. तर्कभाषा, पृ० 35, मोक्षाकर गुप्त की
39. प्र०वा०, वृ० 2/51
40. हेतु०बि०, पृ० 3
41. विशति, का० 11, और वृत्ति; त्रिशिका० 1 और भाष्य; आलम्बनपरीक्षा, का०, 1-5
42. दिग्नाग ऑन परसेप्शन, टिप्प० 1/38, पृ० 89
43. अभि०को०मा० 1/10 तथा प्र०वा०भा०/पृ० 280, "आयतनस्वलक्षणमप्रत्येते स्वलक्षणविषया न द्रव्यस्वलक्षणप्रति।

44. चिरूति, पृ० 174, "यच्च वसुवन्धुनोक्तं आयतनस्वलक्षणं चक्षुर्द्रष्टृत्वादि तत्प्रति ज्ञानानिस्वलक्षणविषयानि, न द्रव्यस्वलक्षणं प्रत्येकपरमाणुम्।" प्रमाणसमुच्चय टीका, 21 में भी यह उद्धृत है। देखें दिग्नाग ऑन परसेप्शन, टिप्प० 1/39
45. प्र०वा० 2/194-230
46. दिग्नाग ऑन परसेप्शन, टिप्प० 2/17, पृ० 118
47. वही, पृ० 181
48. न्यायक०, पृ० 189, क्रिटिक्यू ऑफ इण्डियन् रियलिज्म, पृ० 440 में उद्धृत।
49. शास्त्रदी, पृ० 126-127; न्यायमं०, पृ० 198; विशेष विवरण के लिए वेदान्त परिभाषा, पृ० 55-56, 102, 103; Indian epistemology of Perception, p. 189-201
50. तत्त्वसंग्रह पंजिका, पृ० 383
51. Critical survey of Indian Philosophy, p.194
52. श्लोक वा० तत्त्वसंग्रह 1285 में उद्धृत
53. वही० 1286 में उद्धृत
54. तत्त्वसं० पं०, पृ० 287
55. श्लो० वा० 4/141
56. आलम्बन परीक्षा, 1-5
57. द्वादशारनयचक्र में, भोट-परिशिष्ट, पृ० 104
58. द्वादशारनयचक्र, पृ० 86-93
59. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग 1, पृ० 414-416
60. वही, पृ० 415-416
61. बौद्ध न्याय, भाग-2, पृ० 35-36
62. क्रिटिक्यू ऑफ इण्डियन् रियलिज्म, पृ० 154, 181-182
63. धर्मो, प्र० पृ० 44

सप्तम अध्याय

1. यद्यपि, साकार एवं निराकार शब्द का प्रयोग उपनिषदों में एवं उसका अनुगमन करने वाले अन्य ग्रन्थों में, ब्रह्म के प्रसंग में हुआ है, तथापि ज्ञान की समस्या के प्रसंग में नहीं। इस प्रसंग में इसका विवेचन करने का श्रेय युक्त्यनुयायीविज्ञानवादियों को ही जाता है। ज्ञानश्री मित्र कहते हैं— "जीयान् मुनीन्द्रमतवार्तिकभाष्यकारः, साकारसिद्धिनयनाटक सूत्रधारः। ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलि, साकारसिद्धिशास्त्रम्, प्रस्तावना श्लोक।
2. प्रथम दृष्टि से विश्लेषण एवं विवाद बाह्यार्थ वस्तुवादियों एवं विज्ञानवादियों के मध्य का विवाद है। यह यथार्थवाद (realism) एवं विज्ञानवाद (Idealism) का विवाद है। पहली दृष्टि से निराकारता का अर्थ है, ज्ञान में आकार वस्तु से आता है। सभी विज्ञानवादी इसके विरोधी हैं। दूसरी दृष्टि से निराकारता का अर्थ है मिथ्याकारवाद, जबकि साकारता का अर्थ है सत्याकारवाद।
3. वैभाषिक निराकारवादी हैं, देखें, न्यायमंजरी, जयन्तभट्टकृत, पृ० 14 (काशी संस्करण) एवं न्यायमंजरीग्रन्थिभंग, पृ० 8, "सहभाविज्ञानेन गृह्यत इति निराकारवादिनां वैभाषिकाणां दर्शनम्" भट्टश्रीचक्रधर प्रणीत— L.D. Series, 35 अहमदाबाद, संपादक N.J. Shah 1972

मदन्त शुभगुप्त को सौत्रान्तिक मत का आचार्य माना जाता है। Frauwallner के अनुसार इनका काल 720-780ई० तथा Nakamura के अनुसार 650-750ई० है। इनके पाँच ग्रन्थ हैं— (1) अन्यापोह सिद्धि (2) सर्वज्ञसिद्धि (3) नैरात्म्य सिद्धि (4) ईश्वरभंग तथा (5) बाह्यार्थसिद्धि कारिका— देखें Encyclopedia of Indina Philosophy, Vol. 1 मोतीलाल, बनारसीदास, प्रकाशन। सौत्रान्तिक साकारवादी हैं, किन्तु शुभगुप्त इसमें अपवाद हैं। इनके निराकारज्ञानवाद का उल्लेख, तत्त्वसंग्रह पंजिकामें, पृ० 692-697 तक हुआ है। देखें तत्त्वसंग्रह (पंजिकासहित) द्वितीय भाग : बौद्ध भारती प्रकाशन।

4. आचार्य धर्मोत्तर के मत का खण्डन ज्ञानश्रीमित्र करते हैं, और उनको निराकार ज्ञानवादी मानते हैं। तिब्बती विद्वान भी ऐसा ही मानते हैं, किन्तु वे ग्रन्थ संस्कृत में उपलब्ध नहीं हैं। तिब्बती में निराकार विज्ञानवाद पर गंभीर साहित्य है। विज्ञानवाद निराकार एवं साकारवाद में विभाजित था और कई मुद्दों पर उनमें स्वयूथफल था। इसकी सूचना हमें कमलशील अपनी तत्त्वसंग्रहपंजिका में देते हैं। भगवान्बुद्ध के सर्वदर्शित्व का खण्डन मीमांसक आचार्य सामट-यज्ञाट ने किया था (तत्त्वसंग्रह, श्लो० 3249), जिसका उत्तर शांतरक्षित ने श्लोक 3626 में दिया है। इस पर अपनी पंजिका में आचार्य कमलशील लिखते हैं— “अत्र केचित् स्वयूथ्या एव विज्ञानवादिमतमुपोद्वलयन्तश्चोदयन्ति”..। आचार्य कमलशील ‘निराकार विज्ञानवादि’ एवं ‘साकारज्ञानवादि’ इन दो पदों का प्रयोग करते हैं— “यदि तावन्निराकारविज्ञानवादिमतमाश्रित्य चोदयते, तदा सर्वमसंगतम्”, पृ० 1123. “अथ साकारज्ञानवादपक्षे चोदयते, तत्राप्यविरोध एवं” 1125. पृ० 1123 से 1125 तक निराकारज्ञानपक्ष की दृष्टि से एवं 1125-26 तक साकारज्ञान पक्ष की दृष्टि से उन्होंने भगवान् बुद्ध के सर्वदर्शित्व का खण्डन किया है। पुनश्च, सौत्रान्तिक एवं योगाचार मत को ‘जयन्तभट्ट’ भी साकारवादी मानते हैं। वे दिग्माग के प्रमाणसमुच्चय की कारिका के अंश को भी दृष्टान्त के रूप में उद्धृत करते हैं— “यथोक्तम्, सत्यापारमिवाभातीति”, न्यायमंजरी, पृ० 16/देखें, न्यायमंजरी ग्रन्थिभंग, पृ० 9 भी
5. प्रमाणवास्तिकालंकार, प्रज्ञाकरकृत, पृ० 416
6. वही, पृ० 441
7. देखें, पादटिप्पणी 3, ऊपर
8. तत्त्वसंग्रह, पंजिका सहित, पृ० 691
9. वही, पृ० 692
10. वही, पृ० 692
11. वही, पृ० 693
12. वही, पृ० 694
13. वही, पृ० 695-96
14. वही, पृ० 697
15. वही, पृ० 697
16. ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धा०, पृ० 367
17. वही, पृ० 370
18. वही, पृ० 370
19. वही, पृ० 375-76

20. वही, पृ० 377
21. वही, पृ० 380
22. वही, पृ० 383
23. वही, पृ० 383
24. वही, पृ० 384
25. वही, पृ० 385
26. वही, पृ० 385
27. प्रज्ञाकरभाष्य, पृ० 416 (2-398 पर भाष्य) अलंकार श्लो० 1063 भी देखें। पुनश्च, "परमार्थत एकत्वमेव। स एव ग्राहकाकारस्तदेव च नीलमद्यापि तदव्यतिरेकेणास्त इति संतानभेदमभ्युपगम्य ग्राह्यग्राहकयोर्भेदः साध्यते बोधरूपनीलाकारयोर्वा। ततो वस्तुनि न भेदोऽपि तु सामान्येन संताने। यदि च निराकारं विज्ञानं तदा तदेव शुद्धं सर्वदा भवेत् न पटुमन्दाविलादि रूपं।
28. वही, पृ० 441. "प्रज्ञा नाम झटित्येव विशुद्धार्थावभासनं। तथानुमानमन्यस्य प्रज्ञात्वानुपपत्तिः। भाष्यालंकार, श्लो० 2/1128
29. वही, पृ० 353. "नीलरूपत्वान्नीलानुभवः न तु नीलस्यापरोनुभवः। शुद्धस्यानुभवस्याभावात्। यो हि यदव्यतिरिक्तः स तद्रूपेणैव व्यवहारविषयः। तथा हि यदि शुद्धः स्यात्तथैवाध्यवसीयते। व्यतिरेकः स्वरूपेऽपि दृश्यते न ततस्तथा।। अलंकार श्लो० 2-628
30. वही, पृ० 417. "यदि निराकारमिज्ञानं तदार्थ एव ग्राह्यः प्रतिभाति चैकाकार एव ततः प्रतिभासस्य भेदो न स्यात्। नार्थस्य नानाकारतेति प्रतिपादितम्।
31. वही, पृ० 416. "यदि च निराकारं भवेद्विज्ञानतदाकारोऽन्य एव तदा ग्राहकाकारः पृथगेव गृह्येत कदाचित्।
32. वही, पृ० 426. "यदि साकारता ज्ञानस्य न भवेत्, कथन्तदाकारता स्मृतेः। तथाहि, विज्ञानं स्मरणप्रत्ययेनालग्न्यमानन्नाकारव्यतिरिक्तमालम्ब्यते अतियोगयोगिनापि।" और भी देखें- पृ० 388-89 सौत्रान्तिक साकारज्ञानवाद का खण्डन; 2/334-35 पर भाष्य भी। पृ० 406 तथा 2/380-87, 400 पर भाष्य/स्मृति के प्रसंग में साकारता की सिद्धि, पृ० 433, 512 तथा पृ० 455 स्वसंवेदन के प्रसंग में साकारता की व्याख्या।
33. तत्त्वसंग्रह (पंजिका सहित), पृ० 692, द्वितीय भाग,
34. वही, पृ० 692-693
35. वही, पृ० 693-94
36. वही, पृ० 695
37. वही, पृ० 696
38. वही, पृ० 697
39. ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलि, पृष्ठ-367
40. वही, पृ० 370
41. वही, पृ० 371
42. वही, पृ० 371
43. वही, पृ० 380-83
44. वही, पृ० 383
45. वही, पृ० 383-84
46. वही, पृ० 384-85

47. वही, पृ० 385
48. वही, पृ० 385-86
49. 'यद् यथा भासते ज्ञानं तत्तथैवानुभूयते' प्र०वा० 2-221 - देखिए इस पर ज्ञानश्रीमित्र की व्याख्या - 'साकारसिद्धिशास्त्रम्-चित्राद्वैतपरिच्छेदः।
पुनश्च, देखें, प्र०वा० कारिका, 2-224 :- हेतुभावाद ऋते नान्या ग्राह्यता नाम काचन। तत्र बुद्धिर्वादाकारा तस्यास्तद् ग्राह्यमुच्यते।।
50. इस प्रसंग में साकारविज्ञानवादियों में तीन सम्प्रदाय हैं- (1) ग्राह्यग्राहकसमसंख्याकवादी, (2) अर्द्धाण्डाकारवादी (3) नानाद्वैतवादी। शुभगुप्त भी, निराकारवादी होते हुए भी, ग्राह्यग्राहकसमसंख्याकवादी लगते हैं; देखें तत्त्व०प०, पृ० 697
51. प्रमाणवार्तिकभाष्यालंकार, चित्रैकत्वविचार, पृ० 282, श्लोक 2/204 तथा पृ० 285, श्लोक 2/207 से पृ० 303, श्लोक 2/238
52. "पण्डितजगन्नाथ उपाध्याय का 'सरस्वती सुषमा' नामक पत्रिका में निबन्ध 'ज्ञानस्य निराकारत्वेऽद्वैतवादिबाह्यार्थसत्त्ववादिनेर्विशेषः'। पृ० 207-208
53. अद्वैतवेदान्त का साकारवाद-वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाणचैतन्य है। मेययोग से यह प्रमाण विषयाकार वाला होता है। जिस प्रकार प्रकाशक आलोक प्रकाश्य घटादि की आकारवृत्ता को प्राप्त होता है, उसी प्रकार बुद्धि भी सभी अर्थों का प्रकाशक होने के कारण अर्थ के आकारवाली होती है। आचार्य सुरेश्वर कहते हैं- 'मातुर्मानाभिनिष्पत्तिर्निष्पन्नं मेयमेति तत्। मेयाभिसंगतं तच्च मेयाभूत्वं प्रपद्यते।। वेदान्तपरिभाषाकार भी कहते हैं- 'तैजसमन्तःकरणचक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते, स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते। ज्ञान का मेयामत्वापत्ति ही उसकी साकारता है, यह इससे स्पष्ट होता है।
54. प्र०वा०भा०, पृ० 144
55. तत्त्वसं०, 2011
56. वही, 1999
57. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, त्रिशिका, का० 1 एवं 20
58. न्या०भा०, 1/1/4
59. वही, पृ० 2/1/18
60. न्या०वा०ता०टी०, पृ० 371, पंक्ति 5-7
61. श्लो०वा० शून्यवाद 184-187
62. टी०ए०भी०, पृ० 56 पंक्ति 19-21
63. द्वादशार नयचक्र में भोट परिशिष्ट, पृ० 110-11
64. वही, पृ० 111
65. वही, पृ० 112 'स्यादेतत्- रूपादिवद् ज्ञानस्यापि ज्ञानान्तरेणानुभव इति'
66. वही, पृ० 112
67. वही, पृ० 112, कारिका 1/12
68. प्र०वा०, 2/385-86
69. वही, पृ० 2/378-79
70. प्र०वा०भा०, पृ० 407 पंक्ति 7-9

71. दिग्भाग और परस्परान, टिप्पण 1/71 पृ० 110
72. प्र०वा० 2/539
73. वही, 2/540
74. वही, 2/540-41
75. श्लो०वा०, शून्यवाद, का० 114
76. श्लोक० वा०, शून्यवाद, का० 119, 189-196 तथा श्लो०वा०काशी०, भाग 2, पृ० 162
77. वही, का० 192 तथा श्लो० वा० काशी०, भाग 2, पृ० 168
78. प्र०वा० 2/513-15
79. वही, 2/515-18
80. वही, 2/519-523
81. वही, 2/524-27
82. वही, 2/528-31
83. वही, 2/513-514
84. वही, 2/423
85. वही, 2/426-30
86. वही, 2/432-38
87. वही, 2/439-47
88. वही, 2/448-55, वृत्ति एवं भाष्य भी
89. प्र०वा०भा०, पृ० 441
90. वही, 2/463-70
91. वही, 2/471-82
92. वही, 2/483-84
93. वही, 2/485-490
94. वही, 2/491-493
95. वही, 2/494-497
96. वही, 2/498-501, 502
97. वही, 2/502 पर मनोरथनन्दिवृत्ति एवं भाष्य।
98. इन्द्रियज्ञान का अन्तिम भाग
99. इस प्रबन्ध के पंचम अध्याय, में इन्द्रियप्रत्यक्ष खण्ड में चित्राद्वैतवाद एवं रत्नकीर्तिनिबन्धावलि में 'चित्राद्वैतप्रकाशवाद' नामक निबन्ध, पृ० 129-144
100. ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली में अद्वैतबिन्दु प्रकरण।
101. विज्ञप्ति मात्रतासिद्धि-विश्लेषिका,
102. वही, त्रिशिका पर भाष्य, देखें बौद्ध दर्शन और वेदान्त, डा० चन्द्रधर शर्मा, कृत, पृ० 83-89।
Yogācāra Idealism, अशोक कुमार चटर्जी का ग्रन्थ, पृ० 81-95
103. ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य, तर्कपाद में विज्ञानवाद की आलोचना
104. प्रज्ञाकर के अभिमत का विकास हम ज्ञानश्रीमित्र के 'अद्वैतबिन्दु' प्रकरण तथा 'साकारसिद्धि शास्त्रम्' तथा रत्नकीर्ति के 'चित्राद्वैतप्रकाशवाद' में पाते हैं। यथार्थवाद का विस्तारवाद में वाचस्पति, श्रीधर, भास्वरज एवं उदयनाचार्य में पाते हैं।

105. श्लोक० वा० शून्यवाद, का० 7
106. वही, का० 8, 11-12
107. वही, का० 13, 15-17
108. वही, का० 25-26
109. वही, का० 32-34, 36, 38-39
110. वही, का० 40, 44, 45, 50-54
111. वही, का० 59-62
112. देखें, द्वितीय अध्याय का अन्तिम भाग।
113. प्र०वा० 2/320-22
114. वही, 2/322-27
115. वही, 2/328-32
116. वही, 2/333-37
117. वही, 2/341
118. वही, 2/342-350, 352
119. प्र०वा०भा०, पृ० 387
120. श्लो० वा० निरालम्बननिराकरण- परिच्छेद, का० 32-34
121. वही, का० 36-37
122. वही, का० 38-40
123. वही, का० 41-44
124. वही, का० 45-47
125. वही, का० 48-59
126. वही, का० 60-64
127. वही, का० 65-71
128. वही, का० 72-82
129. प्र०वा०भा०, पृ० 367
130. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, पृ० 15 स्वामी योगीन्द्रानन्द संपादित, भाग-1
131. श्रुति कहती है- ('अनृतेन च संमूढा, नीहारेण प्रवृत्ता'। योगवा० में भी कहा गया है- बुद्धानामस्मदादीनां च किंचिन्नाम जायते" 6/3/146/18", "जगन्नाम्ना न चोत्पन्नं न चारितं न च दृश्यते" 3/7/40। "समस्तं कल्पनामात्रसिद्धं" 6/उ०210-11। माण्डूक्यकारिका में भी कहा गया है- 'कल्पिता एव च सर्वे' 2/14 तथा 1/11 भी देखें।
132. प्र०वा०भा०, पृ० 367। शबर स्वामी लिखते हैं- "सनिद्रस्य मनसो दौर्बल्यान्निद्राविध्यभावस्य हेतुः" शाबरभाष्य, पृ० 30।" जाग्रतो बुद्धि सुपरिनिश्चिता" वही, पृ० 29
133. वही, पृ० 368
134. वही, पृ० 369
135. वही, पृ० 369-70, 72, 73
136. वही, पृ० 378-79
137. वही, पृ० 381, अलंकारश्लोक 880 का पूर्वार्द्ध
138. वही, पृ० 381 पंक्ति 19
139. वही, पृ० 382 पंक्ति, 7

140. ब्रह्मसूत्र 2/28 पर शंकरभाष्य
 141. वही, 2/29 पर भाष्य
 142. बौद्ध दर्शन और वेदान्त, पृ० 193
 143. तत्त्वसंग्रह, का० 2084
 144. बौद्ध विज्ञानवाद, चिन्तन एवं योगदान, पृ० 89 प्रो० संगमलाल पाण्डेय का लेख
 145. इण्डियन स्टडीज इन फिलॉसोफी, पृ० 32, डाक्टर, राम चन्द्र पाण्डेय
 146. बौद्ध विज्ञानवाद, चिन्तन एवं योगदान, पण्डित जगन्नाथ उपाध्याय जी का निबंध, पृ० 70-71
 147. वही, पृ० 70
 148. ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलि, अद्वैतविन्दु प्रकरण, पृ० 354
 ग्राह्य-ग्राहकभाग भागिव जगत्येकं मनोभासते,
 भिन्नं वाद्वयमात्मवेदनमिदं शीतादि शातादि च।
 शातादिः परमोऽथवेह निहितं नीलाद्यविद्यावशात्,
 चित्राकारकमेकमेव यदि वा नाकारमेवाथवा॥
 अर्थात् (1) "एक ही मन ग्राह्य और ग्राहक के रूप में विभक्त हो तत्त्वों को भासित करता है। (2) दो भिन्न मन आत्मतया स्ववेदन और इदन्तया बाह्यवेदन करते हैं। (3) अथवा सुखादि की वेदना मन का स्वरूपभूत एवं यथार्थ है, किन्तु अज्ञानवश उसके साथ नीलादि भासित होते हैं। (4) मन एक है किन्तु वह चित्राकार है जो विचित्र जगत् को ग्रहण करता है। (5) चित्त सदा निराकार है, आरोपण के बल वह अलीक आकारों को देखता है। देखें, "बौद्ध विज्ञानवाद, चिन्तन और योगदान, पृ० 71

ग्रन्थ सूची

- (1) अकलंकग्रन्थत्रय; अकलंक कृत, जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद 1939
- (2) अभिधर्मकोशभाष्य; वसुबन्धु, काशी प्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना 1967
- (3) अभिधम्मत्थसंग्रहो - अनिरुद्ध, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1967
- (4) अभिधर्मदीप - विभाषाप्रभावृत्तिसहित; काशी प्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना 1977
- (5) आत्मतत्त्वविवेक, उदयन, चौखम्भा, संस्कृत सिरोज, बनारस 1940
- (6) आलंबनपरीक्षा - दिग्नाग, अडयार लाइब्रेरी, मद्रास, अय्यास्वामी शास्त्री द्वारा संपादित 1942
- (7) तर्कभाषा - मोक्षाकर गुप्त, प्राच्य प्रकाशन, वाराणसी 1969
- (8) तर्कभाषा - केशवमिश्र, - बद्रीनाथ शुक्ल संपादित, वाराणसी, प्रकाशन
- (9) तत्त्वसंग्रह - शांतरक्षित, बड़ौदा 1926
- (10) तत्त्वसंग्रह - शांतरक्षित, बौद्धभारती ग्रन्थमाला, वाराणसी 1968
- (11) तत्त्वसंग्रहपंजिका - कमलशील, बौद्ध भारती ग्रन्थमाला, वाराणसी 1968
- (12) तात्पर्यनिबन्धनटिप्पण, अप्रकाशित, धर्मोत्तर प्रदीप में उद्धृत
- (13) त्रिस्वभावनिर्देश - वसुबन्धु, विश्वभारती, शान्ति निकेतन, 1939
- (14) द्वादशशानयचक्रम्, - मल्लवादि, श्री आत्मानन्द जैन ग्रन्थमाला, भावनगर, 1966
- (15) धर्मोत्तरप्रदीप - दुर्वेक मिश्र का० प्र० जा० रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना 1955
- (16) न्यायकणिका - वाचस्पतिमिश्र, मेडिकल हाल, काशी 1907
- (17) न्यायकन्दली - श्रीधर, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1963
- (18) न्यायकुमुदचन्द्र - प्रभाचन्द्र, माणिक्यचन्द्र, दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मुंबई
- (19) न्यायकुसुमांजलि, उदयन, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
- (20) न्यायदर्शनम् (चतुर्ग्रन्थिका) - दरभंगा प्रकाशन, न्यायभाष्य, वार्त्तिक, तात्पर्यटीका एवं परिशुद्धिसहित
- (21) न्यायप्रवेश - शंकरस्वामिन्, गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज, बड़ौदा
- (22) न्यायबिन्दुटीका - विनीतदेव, इण्डियन स्टडीज, कलकत्ता, से 1971 में प्रकाशित
- (23) न्यायबिन्दुटीकाटिप्पणी - विब्लोथिका इण्डिका, सेन्ट पीटर्सबर्ग, 1909
- (24) न्यायभूषण - मासर्वज्ञ, षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी 1968
- (25) न्यायवार्त्तिक - तात्पर्यटीका, वाचस्पति मिश्र, चौ० सं० सीरीज, बनारस, 1982 वि०
- (26) न्यायावतारवार्त्तिक - सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, मुंबई

- (27) न्यायमंजरी (प्रथम भाग) जयन्तमह, ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मैसूर 1969
- (28) न्यायमंजरीग्रन्थिभंग - चक्रधर, एल0 डी0 इन्स्टीट्यूट आफ इण्डोलाजी, अहमदाबाद 1972
- (29) प्रमाणपरीक्षा - विद्यानन्द, वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी, 1977
- (30) प्रमाणवार्तिक - धर्मकीर्ति, बिहार उड़ीसा रिसर्च जरनल, पटना, 1937
- (31) प्रमाणवार्तिकवृत्ति - मनोरथनन्दि; बौद्धभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1968
- (32) प्रमाणवार्तिक - मनोरथनन्दिवृत्ति - मनोरथनन्दी - बिहार उड़ीसा रिसर्च जरनल पटना, 1937
- (33) प्रमाणवार्तिक - (स्ववृत्ति) कर्मगोमी टीका सहित - किताब महल प्रयाग 1943
- (34) प्रमाणवार्तिक - (स्वार्थानुमान परिच्छेद, स्ववृत्तिसहित) - धर्मकीर्ति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, नेपाल राज्य संस्कृत सीरीज, 1959
- (35) प्रमाणवार्तिकभाष्य - प्रज्ञाकर, काशी प्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पटना 1953
- (36) प्रमाणसमुच्चय, दिग्नाग - मैसूर यूनिवर्सिटी 1930, तिब्बती से प्रत्यक्ष परिच्छेद मात्र का अध्यास्वामी शास्त्री द्वारा संस्कृत रूप।
- (37) प्रमेयकमलमार्तण्ड - प्रभाचन्द्र, मिर्णयसागर प्रेस, बंबई, 1941
- (38) वैदल्यसूत्र - नागार्जुन, सेम्पा दोर्जे द्वारा तिब्बती से संस्कृत में पुनरुद्धार, तिब्बती-हिन्दी केन्द्र वाराणसी, 1974
- (39) महायानसूत्रालंकार - असंग, सिल्वाँ लेवी द्वारा प्रकाशित 1907
- (40) मानमेयोदयः - नारायण, षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठानम्, वाराणसी 1978
- (41) मध्यमकशास्त्र - नागार्जुन, -
- (42) रत्नकीर्तिनिबन्धावलि - रत्नकीर्ति, के0 पी0 जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना, 1975
- (43) वादन्याय - धर्मकीर्ति, बौद्ध भारती प्रकाशन, वाराणसी
- (44) विग्रहव्यावर्तनी - नागार्जुन
- (45) विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (प्रकरण द्वयम्) - वसुबन्धु, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी 1972
- (46) वेदान्तपरिभाषा - धर्मराजध्वरिन्द्र - नर्मदापुरम्, 1967
- (47) शांकरभाष्यम् (भामती सहित) - षड्दर्शन प्रकाशनप्रतिष्ठानम्, वाराणसी, प्रथम भाग, 1982
- (48) श्लोकवार्तिक - कुमारिल भट्ट - बौद्धभारती ग्रन्थमाला, वाराणसी
- (49) सत्यसिद्धशास्त्र - हरिवर्मन्, एन0 अय्यास्वामी शास्त्री द्वारा तिब्बती ने संस्कृत में

- पुनरुद्धार गा० ओ० सीरीज, बड़ौदा, 1975
- (50) सिद्धिविनिश्चयटीका — अनन्तवीर्य, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी 1959
- (51) हेतुत्वोपदेश — जितारि, तिब्बती से संस्कृत में पुनरुद्धार
- (52) हेतुबिन्दु — धर्मकीर्ति — गा० ओ० सीरीज, बड़ौदा, 1949
- (53) हेतुबिन्दुटीका — अर्चट, गा० ओ० सीरीज, बड़ौदा, 1949
- (54) हेतुबिन्दुटीकाअलोक, दुर्वेक मिश्र — गा० ओ० सीरीज, बड़ौदा — 1949
- (55) ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलि — ज्ञानश्रीमित्र, के० पी० जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पटना

हिन्दी के ग्रन्थ

- (56) अभिधर्मकोश — भाग 1 एवं 2 आचार्य नरेन्द्रदेव, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद
- (57) खण्डनखण्डखाद्य, प्रमा पक्ष — स्वामी गुरुशरणानन्द, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1997
- (58) जैन न्याय — कैलाशचन्द्र, शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1966
- (59) न्यायबिन्दु (हिन्दी) — गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर, 1972
- (60) न्यायबिन्दुटीका — श्री निवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, सुभाषबाजार, मेरठ 1975
- (61) न्यायावतारवार्तिक टिप्पणी — दलसुख भाई मालवाणियाँ
- (62) प्रमाणमीमांसा — प्रस्तावना, सुखलाल संधवी
- (63) प्रमाणवार्तिकभाष्यालंकार, हिन्दी व्याख्यासहित, स्वामी योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शन प्रकाशन, वाराणसी, 1991
- (64) बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन — भरतसिंह, उपाध्याय, बंगाल हिन्दी मण्डल, कलकत्ता, सं० — 2011
- (65) बौद्ध दर्शन और वेदान्त — चन्द्रधर शर्मा, स्टुडेंट फ्रेंड्स, वाराणसी
- (66) बौद्ध न्याय (प्रथम भाग) — अनुवादक — रामकुमार राय, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी।
- (67) बौद्धधर्म का उद्भव एवं विकास — गोविन्द चन्द्र पाण्डेय
- (68) बौद्ध-धर्मदर्शन — आचार्य नरेन्द्र देव, बिहार राष्ट्रभाषा, परिषद 4 पटना।
- (69) बौद्धप्रस्थान — पण्डित राम शंकर त्रिपाठी — केन्द्रीय तिब्बती संस्थान, सारनाथ, वाराणसी।
- (70) बौद्ध विज्ञानवाद, चिंतन एवं योगदान — उच्चतिब्बती शोध संस्थान, वाराणसी, 1983
- (71) भारतीय तत्त्वविद्या — सुखलाल संधवी, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, 1960

- (72) भारतीय दर्शन (दो भाग) - सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
- (73) भारतीय दर्शन का इतिहास (प्रथम भाग) - सुरेन्द्र नाथ दासगुप्त
- (74) भारतीय दर्शन की भूमिका - एम० हिरियन्ना
- (75) भारतीय संस्कृति और साधना - (दो भाग - गोपीनाथ कविराज, राष्ट्रभाषा, पटना)
- (76) मनन और चिंतन - सुखलाल संधवी

अंग्रेजी के ग्रन्थ

77. Akalañka's Criticism of Dharmakīrti's Philosophy - Nagin. J. Shah; L.D. Institute of Indology, Ahmedabad - 1987
78. An Introduction to Philosophical Analysis - John Hospers, Allied Publishers Private Limited, 1971
79. A History of Indian Logic - S.C., Vidyabhusana, Calcutta University, 1921
80. A.R. Wadia, Commorative Vol. (Essays, 1, 4, 8, 9, 10, 13 & 17), 1954.
81. A theory of Perception - George Pitcher, Princeton University Press, 1971.
82. Buddhist Logic vol., I & II - Th Stcherbatsky, Dover Publication, New York, 1962
83. Buddhist Psychology - S.A.F. Rhys Davids, Maniram Manoharlal Publishers Pvt. Delhi, 1975.
84. Central Conception of Buddhism - Th. Stcherbatsky.
85. Central Philosophy of Buddhism - T.R.V. Murti, Allen & Unwin Ltd, London, 1955.
86. Critique of Indian Realism - D.N. Shastri, Bhartiya Vidya Prakashan, Varanasi & Delhi, 1976.
87. Critical Survey of Indian Philosophy - C.D. Sharm, Motilal Banarasidass, Delhi.
88. Dignaga on Perception - M. Hattori, Harvard Oriental Series, Vol 47, 1968.
89. Early Buddhist Theory of Knowledge - K.N. Joyetillake, Allen & Unwin Ltd., 1961.
90. Early Monistic Buddhism - N. Dutta, Firma K.L. Mukhopadhey, Calcutta, 1971
91. Encyclopedia of Indian Philosophy - Motilala Banarasidass, Vol. 1 & 2.
92. Foundations of Empirical Knowledge - A.J. Aiyar.
93. Fundamental Problems of Indian Philosophy - Kunharaja
94. History of Buddhism, Two Parts, Buston, Translated by Dr. E. Obemillor (Heidelberg, 1931)
95. History of Buddhism in cyclone - Rahul Sankrityayan.
96. History of Buddhist Thought - S.J. Thomas
97. Indian Buddhism - A. K. Warder, Motilal Banarasidass 1970
98. Indian Epistemology - Jwala Prasad

99. Indian Epistemology of Perception – Jodunath Sinha, Sinha Publishing House Calcutta, 1969
100. Indian logic – K.K. Dikhit, Research Institute of Prakrit, Vaishali, Bihar, 1975
101. Indian Logic in the early Schools – H. N. Randle, Oxford University, 1930
102. Indian Philosophy, Vol. I & II – S. Radhakrishnan
103. Indian Psychology – Perception, Jodunath Sinha, London 1934
104. Indian Realism – Jodunath Sinha, Motilal Banarasidass, 1972.
105. Indian Studies in Philosophy – R.C. Pandey, Motilal Banarasidass 1977.
106. Indian Philosophical Studies – M. Hiriyanna, Kavyalaya Publisher, Mysore 1957.
107. Knowledge and Reality – Kaisa Puhakka, Motilala Banarasidass, 1975
108. Nava Nalanda Mahavihar Research Pub, Vol. I Ed. by S. Mukherjee, 1957
109. Nyāya Manjarī – Eng. translation by A.V. Bhattacharya, Motilala Banarasidass 1957
110. Nyāya Theory of Knowledge – S.C. Chatterji, Calcutta University.
111. Mādhyamika Dialectic and the Philosophy of Nāgārjuna – The Dalailama Tibetan Indology Studies vol. 1, Sarnath, 1977.
112. Outline of Indian Philosophy – A.K. Warder, Motilal Banarasidass, Delhi 1971.
113. Perception – H.H. Price; Methuen & co. Ltd., London 1932
114. Philosophy, an Introduction – A.J. Bahm, Asia Publishing House.
115. Readings on Yogacāra Buddhism – A.K. Chatterjee, B.H.U. 1971
116. Sarvāstivāda – Nathmal Tatia, Nalanda, 1960
117. Six ways of Knowing – D.M. Datta, Calcutta University 1972
118. The Analysis of Mind – B. Russel Allen & Unwin Ltd, London, 1949
119. The Buddhist Philosophy of Universal Flux – S. Mukherjee, Calcutta University.
120. The Conception of Buddhist Niravṇa – Stcherbatsky, Motilal Banarasidass, Varanasi 1977.
121. The Essentials of Buddhism – Take Kusu, Honolulu, 1956
122. The Philosophy of perception – Ed. by C.J. Warnock, Oxford University 1977.
123. The Prabhākara School of Pūravamīmāṃsā-Ganganath Jha, Motilal Banarasidass, Delhi, Reprint, 1978.
124. The Problem of Knowledge in Yogācāra Buddhism – C.L. Tripathi Bharat-Bharati, Varanasi 1972.
125. The Problem of Philosophy – S.C. Chatterjee, Calcutta University, 1964.
126. The Yogācāra Idealism – A.K. Chatterjee, Banaras Hindu University, Varanasi, 1962.

नोट :

पृ० ए

v/20

vi/12

vii/25

2/29

7/28

9/2

14/3

14/18

19/7

20/23

34/3

38/15

48/15

54/25

62/17

79/11

81/8

89/2

89/2

90/2

101

104

104

114

155

162

175

शुद्धि पत्र

483

नोट :- षष्ठम् अध्याय को षष्ठ अध्याय तथा सप्तम् अध्याय को सप्तम अध्याय के रूप में पढ़ें।

पृ० एवं पं०	अशुद्ध रूप	शुद्ध रूप	पृ० एवं पं०	अशुद्ध रूप	शुद्ध रूप
v/20	अस्पष्ट	नमन	180/अंतिम	मे	में
vi/12	प्रमाणफल	प्रमाणफल	185/30	निश्चययात्मक	निश्चयात्मक
vii/25	अवसर	अवसर पर	201/17	जिनमें उनमें	जिसमें उसमें
2/29	सें	से	206/9	परंपरया	परंपरया
7/28	जगत	जगत्	208/9	प्रत्यक्ष	प्रत्यक्ष
9/2	सौत्रान्तिको	सौत्रान्तिकों	211/1	इन्द्रिय	इन्द्रिय
14/3	नव्यवैभाषिको	नव्यवैभाषिकों	227/27	के साथ,	के साथ
14/18	ग्राहक	ग्राहक	227/28	चक्षु द्वारा	×
19/7	रत्नकीर्ति	रत्नकीर्ति	227/28, 29	प्रत्याभिज्ञाज्ञान	प्रत्यभिज्ञाज्ञान
20/23	अध्याय	अध्याय	248/30	धार्मीधर्मभाव	धर्मीधर्मभाव
34/अंतिम	उपदानोपादेयकृ०	उपादानोपादेयकृ०	268/27	से, ही,	से ही,
38/15	धर्मात्तर	धर्मोत्तर	305/अंतिम	अस्पष्ट	निराकरण
48/15	विशयक	विषयक	309/8	सुखादि	सुखादि
54/29	क्योंकि	क्योंकि	309/11	विज्ञान	विज्ञान
62/12	अकिंचितकर	अकिंचित्कर	311/19	सकात	सकता
79/12	लिखतें	लिखते	313/16	प्रकार	प्रकार
81/8	उदाहरणार्थ	उदाहरणार्थ	323/11	अस्पष्ट	प्रमाणभेद
89/20	विज्ञानवाद	विज्ञानवाद	325/25	जानेंगे, कि	जानेंगे कि
89/28	मे	में	325/27	ऐसा	ऐसा
90/28	को	को	343/7	इरासे	इससे
101/25	है, कि	है कि	365/24	का	×
104/18	के रहने पर	के न रहने पर	365/25	कि,	कि
104/19, 20	होने पर	होने पर भी	365/29	भीमांसा,	भीमांसा
114/17	आश्रय के	आश्रय से	366/13	व्यावहारिक	व्यावहारिक
158/18	कि,	कि	366/18	बहुत्ववादी	बहुत्ववादी
162/7	शीघ्रवृत्ति	शीघ्रवृत्ति	369/6	नित्यस्वरूपवाली	नित्यस्वरूपवाली
175/29	शब्दशंकेत	शब्दसंकेत	372/14	युक्ति	युक्ति

374/24	देशवितान	देशवितान	449/195.3	Akalanka	Akalanka
376/15	ज्ञानश्रीमिश्र	ज्ञानश्रीमित्र	451/224	द्वादशशरनयचक्रम	द्वादशशरनयचक्रम
386/3	जडरूपेभ्यो	जडरूपेभ्यो	457/28.4	Nyāyasūtra	Nyāyasūtra
387/2	नैयायिकों	नैयायिकों	458/29	Dignāga	Dignāga
395/30	धर्मकीर्ति	धर्मकीर्ति	459/42	विज्ञप्तिमात्रतासिद्धप्रकरण	विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिप्रकरण
398/12	जगत	जगत्	460/73.3	किंचित	किंचित्
408/22	कि	कि	461/99	Manovijnāna	Manovijnāna
414/28	रत्तम्	रत्तम्	461/100.3	सव्यपेशं	सव्यपेशं
415/7	बाह्यविषयत्वरूप	बाह्यविषयत्वरूप	464/163	Prajñā kara gupta	Prajñākaragupta
पृ० एवं टि० वा पं०	अशुद्ध रूप	शुद्ध रूप	464/168.4	4.406	406
429/95.3	कृत	कृत ।	464/176.5	वैशेषिक	वैशेषिक
430/189.3	Dharmakīrti's	Dharmakīrti's	465/182	प्र०वा० पृ० 175	प्र०वा०पृ०, पृ० 175
432/3	वास्तवादी	वास्तववादी	472/3	नैरात्म्य सिद्धि	नैरात्म्यसिद्धि
432/165	संकीर्णरन्	संकीर्णरन्	472/4	बाह्यार्थसिद्धि कारिका	बाह्यार्थसिद्धिकारिका
433/185.6	इदंविधिचिह्नरूप	इदंविधिचिह्नरूप	472/6	तत्त्वसंग्रह पंजिकामें	तत्त्वसंग्रहपंजिका में
434/6	ज्ञान के	ज्ञान की	472/4.1	निराकार ज्ञानवादी	निराकारज्ञानवादी
434/13	बाह्योऽर्थ	बाह्योऽर्थ	475/102	yogācāra	yogācāra
435/215.3	द्विरूपता	द्विरूपता	477/148.6	रूप	रूप
436/221	बौद्धव्यः	बौद्धव्यः	479/46	धर्मराजध्वरिन्द्र	धर्मराजाध्वरीन्द्र
437/237	Pūrvamāmsā	Pūrvamāmsā	480/54	हेतुबिन्दुटीकाअलोक	हेतुबिन्दुटीकाआलोक
437/249.7	तत्कारणेषु	तत्कारणेषु	480/71	सुखलाला	सुखलाल
438/1.3	प्रमेयमस्ति	प्रमेयमस्ति	481/77	1987	1967
440/88	योगीन्द्रानन्द	योगीन्द्रानन्द	481/87	C.D. Sharm	C.D. Sharma
441/95	प्र०वा०आ०	प्र०वा०आ०	482/100	K.K. Dik hit	K.K. Dikshit
442/7.5	Foot Note & 1	Foot Note 1	482/109	Nyāya Manjari	Nyāya Manjari
444/60.3	सविकल्पकत्वव्यवहारः	सविकल्पकत्वव्यवहारः	482/120	Nirvana	Nirvāṇa
445/77.2	तरप	तरप्	482/123	Pūrvamāmsā	Pūrvamāmsā
449/195.2,4,6	Dharmakīrti's	Dharmakīrti's			

लेखक-परिचय

नाम : हरि शंकर सिंह

जन्म : 11 मार्च 1938

जन्म-स्थान : ग्रा०-पिपराही, पो० कछवा, जिला मिर्जापुर (उ.प्र.)।

शैक्षिक योग्यता : 1959 में, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से, दर्शनशास्त्र में,
एम.ए. प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण।

- 1960 से दिसम्बर 1962 तक भारतीय दर्शन, धर्म, संस्कृति एवं सभ्यता विभाग में 'गायकवाड फेलो' एवं एम.ए.के छात्रों का अध्यापन।
- 1963 जनवरी से 1963 अप्रिल तक गोरखपुर विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में अध्यापन।
- दिसम्बर 1963 से भागलपुर विश्वविद्यालय के लिए चयन एवं आर.डी. एण्ड डी.जे. कॉलेज में व्याख्याता।
- अप्रिल 1983 से वहीं पर रीडर।
- मई 1985 में भागलपुर विश्वविद्यालय से पी.एच.डी. की उपाधि
- मई 1985 से वहीं पर प्रोफेसर।
- सत्र 1986 से दिसम्बर 1997 तक वहीं पर स्नातकोत्तर विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष।
- 31 दिसम्बर 1997 को सेवा-निवृत्त।
- फरवरी 1998 से, जून 2005 तक 'बिहार योग भारती' (डीम्ड यूनिवर्सिटी) में योगदर्शन विभाग में प्रोफेसर।
- एक दर्जन से अधिक 'लेखों' का प्रकाशन हो चुका है।